श्रीरामकी झाँकी



रामः शस्त्रभृतामहम् (१० । ३१)

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

दशमोऽध्यायः

अध्यायका नाम

इस अध्यायमें प्रधानरूपसे भगवान्‌की विभूतियोंका ही वर्णन है, इसलिये इस अध्यायका नाम 'विभूतियोग' रक्खा गया है।

अध्यायका संक्षेप

इस अध्यायके पहले श्लोकमें भगवान्‌ने पुनः परम श्रेष्ठ उपदेश प्रदान करनेकी प्रतिज्ञा करके उसे सुननेके लिये अर्जुनसे अनुरोध किया है। दूसरे और तीसरे श्लोकोंमें 'योग' शब्दवाच्य अपने प्रभावका वर्णन करके उसके जाननेका फल बतलाया है। चौथेसे छठेतक विभूतियों-का संक्षेपमें वर्णन करके सातवें श्लोकमें अपनी विभूति और योगको तत्त्वसे जाननेका फल बतलाया है। आठवें और नवें श्लोकोंमें अपने बुद्धिमान् अनन्य प्रेमी भक्तोंके भजनका प्रकार बतलाकर दसवें और ग्यारहवें श्लोकोंमें उसके फलका वर्णन किया है। तदनन्तर बारहवेंसे पंद्रहवें श्लोकतक अर्जुनने भगवान्‌की स्तुति करके सोलहवेंसे अठारहवेंतक विभूतियोंका और योगशक्तिका पुनः विस्तारपूर्वक वर्णन करनेके लिये भगवान्‌से प्रार्थना की है। उन्नीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने अपनी विभूतियोंके विस्तारको अनन्त बतलाकर प्रधान-प्रधान विभूतियोंका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा करके बीसवेंसे उन्चालीसवें श्लोकतक विभूतियोंका वर्णन किया है। चालीसवें श्लोकमें अपनी दिव्य विभूतियोंके विस्तारको अनन्त बतलाकर इस प्रकरणकी समाप्ति की है। तदनन्तर इकतालीसवें और बियालीसवें श्लोकोंमें 'योग' शब्दवाच्य अपने प्रभावका वर्णन करके अध्यायका उपसंहार किया है।

सम्बन्ध—सातवें अध्यायसे लेकर नवें अध्यायतक विज्ञानसहित ज्ञानका जो वर्णन किया गया, उसके बहुत गम्भीर हो जानेके कारण अब पुनः उसी विषयको दूसरे प्रकारसे भलीभाँति समझानेके लिये दसवें अध्यायका आरम्भ किया गया है। यहाँ पहले श्लोकमें भगवान् पूर्वोक्त विषयका ही पुनः वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं—

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया॥ १॥

श्रीभगवान् बोले—हे महाबाहो! फिर भी मेरे परम रहस्य और प्रभावयुक्त वचनको सुन, जिसे मैं तुझ अतिशय प्रेम रखनेवालेके लिये हितकी इच्छासे कहूँगा॥ १॥

प्रश्न—'भूयः' और 'एव' पदका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'भूयः' पदका अर्थ 'पुनः' या 'फिर' होता है और 'एव' पद यहाँ 'अपि'के अर्थमें आया है। इनका प्रयोग करके भगवान् यह भाव दिखला रहे हैं

कि सातवेंसे नवें अध्यायतक मैंने जिस विषयका प्रतिपादन किया है, उसी विषयको अब प्रकारान्तरसे फिर कह रहा हूँ ?

प्रश्न—'परम वचन' का क्या भाव है ? और उसे पुनः सुननेके लिये कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जो उपदेश परम पुरुष परमात्माके परम गोपनीय गुण, प्रभाव और तत्त्वका रहस्य खोलनेवाला हो और जिससे उन परमेश्वरकी प्राप्ति हो, उसे 'परम वचन' कहते हैं । अतएव इस अध्यायमें भगवान्‌ने अपने गुण, प्रभाव और तत्त्वका रहस्य समझानेके लिये जो उपदेश दिया है, वही 'परम वचन' है । और उसे फिरसे सुननेके लिये कहकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि मेरी भक्तिका तत्त्व अत्यन्त ही गहन है; अतः उसे बार-बार सुनना परम आवश्यक समझकर, बड़ी सावधानीके साथ, श्रद्धा और प्रेमपूर्वक सुनना चाहिये ।

प्रश्न—'प्रीयमाणाय' विशेषणका और 'हितकाम्यया' पदका प्रयोग करके भगवान्‌ने क्या भाव दिखलाया है ?

उत्तर—'प्रीयमाणाय' विशेषणका प्रयोग करके भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि हे अर्जुन ! तुम्हारा मुझमें अतिशय प्रेम है, मेरे वचनोंको तुम अमृततुल्य समझकर अत्यन्त श्रद्धा और प्रेमके साथ सुनते हो; इसीलिये मैं किसी प्रकारका संकोच न करके बिना पूछे भी तुम्हारे सामने अपने परम गोपनीय गुण, प्रभाव और तत्त्वका रहस्य बार-बार खोल रहा हूँ । यह तुम्हारे प्रेमका ही फल है । तथा 'हितकाम्यया' पदके प्रयोगसे यह भाव दिखलाया है कि तुम्हारे प्रेमने मेरे स्वभावमें तुम्हारी हितकामना भर रक्खी है; इसलिये मैं जो कुछ भी कह रहा हूँ, स्वाभाविक ही वे ही बातें कह रहा हूँ, जो केवल तुम्हारे हित-ही-हितसे भरी हैं ।

सम्बन्ध—पहले श्लोकमें भगवान्‌ने जिस विषयपर कहनेकी प्रतिज्ञा की है, उसका वर्णन आरम्भ करते हुए वे पहले पाँच श्लोकोंमें योगशब्दवाच्य प्रभावसहित अपनी विभूतिका संक्षिप्त वर्णन करते हैं—

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥ २ ॥

मेरी उत्पत्तिको अर्थात् लीलासे प्रकट होनेको न देवतालोग जानते हैं और न महर्षिजन ही जानते हैं, क्योंकि मैं सब प्रकारसे देवताओंका और महर्षियोंका भी आदिकारण हूँ ॥२॥

प्रश्न—यहाँ 'प्रभवम्' पदका क्या अर्थ है और उसे समस्त देवसमुदाय और महर्षिजन भी नहीं जानते, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—भगवान्‌का अपने अतुलनीय प्रभावसे जगत्‌का सृजन, पालन और संहार करनेके लिये ब्रह्मा, विष्णु और रुद्रके रूपमें; दुष्टोंके विनाश, भक्तोंके परित्राण, धर्मके संस्थापन तथा नाना प्रकारकी चित्र-विचित्र लीलाओंके द्वारा जगत्‌के प्राणियोंके उद्धारके लिये श्रीराम, श्रीकृष्ण, मत्स्य, कच्छप आदि दिव्य अवतारोंके रूपमें; भक्तोंको दर्शन देकर उन्हें कृतार्थ करनेके लिये उनके इच्छानुरूप नाना रूपोंमें तथा लीलावैचित्र्यकी अनन्त धारा प्रवाहित करनेके लिये समस्त विश्वके रूपमें जो प्रकट होना है—उसीका वाचक यहाँ 'प्रभवम्' पद है । उसे देवसमुदाय और महर्षिलोग

नहीं जानते, इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि मैं किस-किस समय किन-किन रूपोंमें किन-किन हेतुओंसे किस प्रकार प्रकट होता हूँ—इसके रहस्यको साधारण मनुष्योंकी तो बात ही क्या है, अतीन्द्रिय विषयोंको समझनेमें समर्थ देवता और महर्षिलोग भी यथार्थरूपसे नहीं जानते।

प्रश्न—यहाँ 'सुरगणाः' पद किनका वाचक है और 'महर्षयः' से किन-किन महर्षियोंको समझना चाहिये।

उत्तर—'सुरगणाः' पद एकादश रुद्र, आठ वसु, बारह आदित्य, प्रजापति, उन्चास मरुद्गण, अश्विनीकुमार और इन्द्र आदि जितने भी शास्त्रीय देवताओंके समुदाय हैं—उन सबका वाचक है। तथा 'महर्षयः' पदसे यहाँ सप्त महर्षियोंको समझना चाहिये।

प्रश्न—देवताओंका और महर्षियोंका मैं सब प्रकारसे आदि हूँ, इस कथनका यहाँ क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि जिन देवता और महर्षियोंसे इस सारे जगत्‌की उत्पत्ति हुई है, वे सब मुझसे ही उत्पन्न हुए हैं; उनका निमित्त और उपादान कारण मैं ही हूँ और उनमें जो विद्या, बुद्धि, शक्ति, तेज आदि प्रभाव हैं—वे सब भी उन्हें मुझसे ही मिलते हैं।

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ ३॥

जो मुझको अजन्मा अर्थात् वास्तवमें जन्मरहित, अनादि और लोकोंका महान् ईश्वर तत्त्वसे जानता है, वह मनुष्योंमें ज्ञानवान् पुरुष सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है॥ ३॥

प्रश्न—भगवान्‌को अजन्मा, अनादि और लोकोंका महेश्वर जानना क्या है?

उत्तर—भगवान् अपनी योगमायासे नाना रूपोंमें प्रकट होते हुए भी अजन्मा हैं (४।६), अन्य जीवोंकी भाँति उनका जन्म नहीं होता, वे अपने भक्तोंको सुख देने और धर्मकी स्थापना करनेके लिये केवल जन्मधारणकी लीला किया करते हैं—इस बातको श्रद्धा और विश्वासके साथ ठीक-ठीक समझ लेना तथा इसमें जरा भी सन्देह न करना—यही 'भगवान्‌को अजन्मा जानना' है। तथा भगवान् ही सबके आदि अर्थात् महाकारण हैं, उनका आदि कोई नहीं है; वे नित्य हैं तथा सदासे हैं, अन्य पदार्थोंकी भाँति उनका किसी कालविशेषसे आरम्भ नहीं हुआ है—इस बातको श्रद्धा और विश्वासके साथ ठीक-ठीक समझ लेना, 'भगवान्‌को अनादि जानना' है। एवं जितने भी ईश्वरकोटिमें गिने जानेवाले इन्द्र, वरुण, यम, प्रजापति आदि लोकपाल हैं—भगवान् उन सबके महान् ईश्वर हैं; वे ही सबके नियन्ता, प्रेरक, कर्त्ता, हर्त्ता, सब प्रकारसे सबका भरण-पोषण और संरक्षण करनेवाले सर्वशक्तिमान् परमेश्वर हैं—इस बातको श्रद्धापूर्वक संशयरहित ठीक-ठीक समझ लेना, 'भगवान्‌को लोकोंका महान् ईश्वर जानना' है।

प्रश्न—ऐसे पुरुषको 'मनुष्योंमें असम्मूढ' बतलाकर जो यह कहा गया है कि 'वह सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है', इसका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—भगवान्‌को उपर्युक्त प्रकारसे अजन्मा,

अनादि और लोकमहेश्वर जाननेका फल दिखलानेके लिये ऐसा कहा गया है । अभिप्राय यह है कि जगत्के सब मनुष्योंमें जो पुरुष उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्के प्रभावको ठीक-ठीक जानता है, वही वास्तवमें भगवान्को जानता है । और जो भगवान्को जानता है, वही 'असम्मूढ' है; शेष तो सब सम्मूढ ही हैं । और जो भगवान्के तत्त्वको भलीभाँति समझ लेता है, वह स्वाभाविक ही अपने मनुष्य-जीवनके अमूल्य समयको सब प्रकारसे निरन्तर भगवान्के भजनमें ही लगाता है (१५।१९), विषयी लोगोंकी भाँति भोगोंको सुखके हेतु समझकर उनमें फँसा नहीं रहता । इसलिये वह इस जन्म और पूर्वजन्मोंके सब प्रकारके पापोंसे सर्वथा मुक्त होकर सहज ही परमात्माको प्राप्त हो जाता है ।

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥ ४ ॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥ ५ ॥

निश्चय करनेकी शक्ति, यथार्थ ज्ञान, असम्मूढता, क्षमा, सत्य, इन्द्रियोंका वशमें करना, मनका निग्रह तथा सुख-दुःख, उत्पत्ति-प्रलय और भय-अभय तथा अहिंसा, समता, सन्तोष, तप, दान, कीर्ति और अपकीर्ति—ऐसे ये प्राणियोंके नाना प्रकारके भाव मुझसे ही होते हैं ॥ ४-५ ॥

प्रश्न—'बुद्धि', 'ज्ञान' और 'असम्मोह'—ये तीनों शब्द भिन्न-भिन्न किन भावोंके वाचक हैं ?

उत्तर—कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, ग्राह्य-अग्राह्य और भले-बुरे आदिका निर्णय करके निश्चय करनेवाली जो वृत्ति है, उसे 'बुद्धि' कहते हैं ।

किसी भी पदार्थको यथार्थ जान लेना ज्ञान है; यहाँ 'ज्ञान' शब्द साधारण ज्ञानसे लेकर भगवान्के स्वरूपज्ञानतक सभी प्रकारके ज्ञानका वाचक है ।

भोगासक्त मनुष्योंको नित्य और सुखप्रद प्रतीत होनेवाले समस्त सांसारिक भोगोंको अनित्य, क्षणिक और दुःखमूलक समझकर उनमें मोहित न होना—यही 'असम्मोह' है ।

प्रश्न—'क्षमा' और 'सत्य' किसके वाचक हैं ?

उत्तर—बुरा चाहना, बुरा करना, धनादि हर लेना, अपमान करना, आघात पहुँचाना, कड़ी जबान कहना या गाली देना, निन्दा या चुगली करना, आग लगाना, विष देना, मार डालना और प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षमें क्षति पहुँचाना आदि जितने भी अपराध हैं, इनमेंसे एक या अधिक किसी प्रकारका भी अपराध करनेवाला कोई भी प्राणी क्यों न हो, अपनेमें बदला लेनेका पूरा सामर्थ्य रहनेपर भी उससे उस अपराधका किसी प्रकार भी बदला लेनेकी इच्छाका सर्वथा त्याग कर देना और उस अपराधके कारण उसे इस लोक या परलोकमें कोई भी दण्ड न मिले—ऐसी इच्छा होना 'क्षमा' है ।

इन्द्रिय और अन्तःकरणद्वारा जो बात जिस रूपमें देखी, सुनी और अनुभव की गयी हो, ठीक उसी रूपमें दूसरेको समझानेके उद्देश्यसे यथासम्भव प्रिय शब्दोंमें उसको प्रकट करना 'सत्य' है ।

प्रश्न–'दम' और 'शम' शब्द किसके वाचक हैं ?

उत्तर–विषयोंकी ओर दौड़नेवाली इन्द्रियोंको अपने अधीन बनाकर उन्हें मनमानी न करने देने तथा विषयोंके रससे हटा लेनेको 'दम' कहते हैं; और मनको भलीभाँति संयत करके उसे अपने अधीन बना लेनेको 'शम' कहते हैं ।

प्रश्न–'सुख' और 'दु:ख' का क्या अर्थ है ?

उत्तर–प्रिय (अनुकूल) वस्तुके संयोगसे और अप्रिय (प्रतिकूल) के वियोगसे होनेवाले सब प्रकारके सुखोंका वाचक यहाँ 'सुख' है । इसी प्रकार प्रियके वियोगसे और अप्रियके संयोगसे होनेवाले आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक*—सब प्रकारके दु:खोंका वाचक यहाँ 'दु:ख' शब्द है ।

प्रश्न–'भव' और 'अभाव' तथा 'भय' और 'अभय' शब्दोंका क्या अर्थ है ?

उत्तर–सर्गकालमें समस्त चराचर जगत्का उत्पन्न होना 'भव' है, प्रलयकालमें उसका लीन हो जाना 'अभाव' है । किसी प्रकारकी हानि या मृत्युके कारणको देखकर अन्त:करणमें उत्पन्न होनेवाले भावका नाम 'भय' है और सर्वत्र एक परमेश्वरको व्याप्त समझ लेनेसे अथवा अन्य किसी कारणसे भयका जो सर्वथा अभाव हो जाना है वह 'अभय' है ।

प्रश्न–'अहिंसा', 'समता' और 'तुष्टि' की परिभाषा क्या है ?

उत्तर–किसी भी प्राणीको किसी भी समय किसी भी प्रकारसे मन, वाणी या शरीरके द्वारा जरा भी कष्ट न पहुँचानेके भावको 'अहिंसा' कहते हैं ।

सुख-दु:ख, लाभ-हानि, जय-पराजय, निन्दा-स्तुति, मान-अपमान, मित्र-शत्रु आदि जितने भी विषमताके हेतु माने जाते हैं, उन सबमें निरन्तर समबुद्धि रहनेके भावको 'समता' कहते हैं ।

जो कुछ भी प्राप्त हो जाय, उसे प्रारब्धका भोग या भगवान्का विधान समझकर सदा सन्तुष्ट रहनेके भावको 'तुष्टि' कहते हैं ।

प्रश्न–तप, दान, यश और अयश–इन चारोंका अलग-अलग अर्थ क्या है ?

उत्तर–स्वधर्म-पालनके लिये कष्ट सहन करना 'तप' है, अपने स्वत्वको दूसरोंके हितके लिये वितरण करना 'दान' है, जगत्में कीर्ति होना 'यश' है और अपकीर्तिका नाम 'अयश' है ।

प्रश्न–'प्राणियोंके नाना प्रकारके भाव मुझसे ही होते हैं' इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर–इस कथनसे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि विभिन्न प्राणियोंके उनकी प्रकृतिके अनुसार उपर्युक्त प्रकारके जितने भी विभिन्न भाव होते हैं, वे सब मुझसे ही होते हैं, अर्थात् वे सब मेरी ही सहायता, शक्ति और सत्तासे होते हैं ।

प्रश्न–यहाँ इन दो श्लोकोंमें सुख, भव, अभय और यश—इन चार ही भावोंके विरोधी भाव, दु:ख, अभाव, भय और अपयशका वर्णन किया गया है; क्षमा, सत्य, दम और अहिंसा आदि भावोंके विरोधी भावोंका वर्णन क्यों नहीं किया गया ?

उत्तर–दु:ख, अभाव, भय और अपयश आदि भाव जीवोंको प्रारब्धका भोग करानेके लिये उत्पन्न होते हैं; इसलिये इन सबका उद्भव कर्मफलदाता

* मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि प्राणियोंके निमित्तसे प्राप्त होनेवाले कष्टोंको 'आधिभौतिक', अनावृष्टि, अतिवृष्टि, भूकम्प, वज्रपात और अकाल आदि दैवीप्रकोपसे होनेवाले कष्टोंको 'आधिदैविक' और शरीर, इन्द्रिय तथा अन्त:करणमें किसी प्रकारके रोग, शोक, चिन्ता, भय आदिके कारण होनेवाले कष्टोंको 'आध्यात्मिक' दु:ख कहते हैं ।

और जगत्‌के नियन्त्रणकर्ता भगवान्‌से होना ठीक ही है। परन्तु क्षमा, सत्य, दम और अहिंसा आदिके विरोधी क्रोध, असत्य, इन्द्रियोंका दासत्व और हिंसा आदि दुर्गुण और दुराचार—जो नये अशुभ कर्म हैं—भगवान्‌से नहीं उत्पन्न होते। वरं गीतामें ही दूसरे स्थानोंमें इन दुर्गुण-दुराचारोंकी उत्पत्तिका मूल कारण—अज्ञानजनित 'काम' बतलाया गया है (३।३७) और इन्हें मूलसहित त्याग कर देनेकी प्रेरणा की गयी है। इसलिये सत्य आदि सद्‌गुण और सदाचारोंके विरोधी भावोंका वर्णन यहाँ नहीं किया गया है।

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः॥ ६॥

सात महर्षिजन, चार उनसे भी पूर्वमें होनेवाले सनकादि तथा स्वायम्भुव आदि चौदह मनु—ये मुझमें भाववाले सब-के-सब मेरे संकल्पसे उत्पन्न हुए हैं, जिनकी संसारमें यह सम्पूर्ण प्रजा है॥६॥

प्रश्न—सप्त महर्षियोंके क्या लक्षण हैं? और वे कौन-कौन हैं?

उत्तर—सप्तर्षियोंके लक्षण बतलाते हुए कहा गया है—

एतान् भावानधीयाना ये चैत ऋषयो मताः।
सप्तैते सप्तभिश्चैव गुणैः सप्तर्षयः स्मृताः॥
दीर्घायुषो मन्त्रकृत ईश्वरा दिव्यचक्षुषः।
वृद्धाः प्रत्यक्षधर्माणो गोत्रप्रवर्तकाश्च ये॥
(वायुपुराण ६१। ९३-९४)

'तथा देवर्षियों*के इन (उपर्युक्त) भावोंका जो अध्ययन (स्मरण) करनेवाले हैं, वे ऋषि माने गये हैं; इन ऋषियोंमें जो दीर्घायु, मन्त्रकर्ता, ऐश्वर्यवान्, दिव्य-दृष्टियुक्त, गुण-विद्या और आयुमें वृद्ध, धर्मका प्रत्यक्ष (साक्षात्कार) करनेवाले और गोत्र चलानेवाले हैं—ऐसे सातों गुणोंसे युक्त सात ऋषियोंको ही सप्तर्षि कहते हैं।' इन्हींसे प्रजाका विस्तार होता है और धर्मकी व्यवस्था चलती है।†

ये सप्तर्षि प्रत्येक मन्वन्तरमें भिन्न-भिन्न होते हैं। यहाँ जिन सप्तर्षियोंका वर्णन है, उनको भगवान्‌ने 'महर्षि' कहा है और उन्हें संकल्पसे उत्पन्न बतलाया है। इसलिये यहाँ उन्हींका लक्ष्य है जो ऋषियोंसे भी उच्चस्तरके हैं। ऐसे सप्तर्षियोंका उल्लेख महाभारत-शान्तिपर्वमें मिलता है; इनके लिये साक्षात् परम पुरुष परमेश्वरने देवताओंसहित ब्रह्माजीसे कहा है—

---

* देवर्षियोंके लक्षण इसी अध्यायके १२-१३वें श्लोकोंकी टीकामें देखिये।

† ये सप्तर्षि प्रवृत्तिमार्गी होते हैं, इनके विचारोंका और जीवनका वर्णन इस प्रकार है—

षट्कर्माभिरता नित्यं शालिनो गृहमेधिनः। तुल्यैर्व्यवहरन्ति स्म अदृष्टैः कर्महेतुभिः॥
अग्राम्यैर्वर्तयन्ति स्म रसैश्चैव स्वयंकृतैः। कुटुम्बिनः ऋद्धिमन्तो बाह्यान्तरनिवासिनः॥
कृतादिषु युगाख्येषु सर्वेष्वेव पुनः पुनः। वर्णाश्रमव्यवस्थानं क्रियते प्रथमं तु वै॥
(वायुपुराण ६१। ९५—९७)

ये महर्षि पढ़ना-पढ़ाना, यज्ञ करना-कराना, दान देना-लेना—इन छः कर्मोंको सदा करनेवाले, ब्रह्मचारियोंको पढ़ानेके लिये घरोंमें गुरुकुल रखनेवाले तथा प्रजाकी उत्पत्तिके लिये ही स्त्री और अग्निका ग्रहण करनेवाले होते हैं। कर्मजन्य अदृष्टकी दृष्टिसे (अर्थात् वर्ण आदिमें) जो समान हैं, उन्हींके साथ ये व्यवहार करते हैं और अपने ही द्वारा रचित अनिन्द्य भोग्यपदार्थोंसे निर्वाह करते हैं। ये बाल-बच्चेवाले, गो-धन आदि सम्पत्तिवाले तथा लोकोंके बाहर तथा भीतर निवास करनेवाले हैं। सत्य आदि सभी युगोंके आरम्भमें पहले-पहल ये ही सब महर्षिगण बार-बार वर्णाश्रमधर्मकी व्यवस्था किया करते हैं।

मरीचिरङ्गिराश्चात्रिः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।
वसिष्ठ इति सप्तैते मानसा निर्मिता हि ते ॥
एते वेदविदो मुख्या वेदाचार्याश्च कल्पिताः ।
प्रवृत्तिधर्मिणश्चैव प्राजापत्ये च कल्पिताः ॥
(महा० शान्ति० ३४० । ६९-७०)

'मरीचि, अङ्गिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ—ये सातों महर्षि तुम्हारे (ब्रह्माजीके) द्वारा ही अपने मनसे रचे हुए हैं। ये सातों वेदके ज्ञाता हैं, इनको मैंने मुख्य वेदाचार्य बनाया है। ये प्रवृत्तिमार्ग-का संचालन करनेवाले हैं और (मेरेहीद्वारा) प्रजापतिके कर्ममें नियुक्त किये गये हैं।'

इस कल्पके सर्वप्रथम स्वायम्भुव मन्वन्तरके सप्त यही हैं (हरिवंश० ७ । ८, ९)। अतएव यहाँ सप्तर्षियोंसे इन्हींका ग्रहण करना चाहिये।*

* ये सातों ही अत्यन्त तेजस्वी, तपस्वी और बुद्धिमान् प्रजापति हैं। प्रजाकी उत्पत्ति करनेवाले होनेके कारण इनको 'सप्त ब्रह्मा' कहा गया है (महाभारत, शान्तिपर्व २०८ । ३-४-५)। इनका संक्षिप्त चरित्र इस प्रकार है—

(१) मरीचि—ये भगवान्‌के अंशांशावतार माने जाते हैं। इनके कई पत्नियाँ हैं, जिनमें प्रधान दक्षप्रजापतिकी पुत्री सम्भूति और धर्मनामक ब्राह्मणकी कन्या धर्मव्रता हैं। इनकी सन्ततिका बड़ा विस्तार है। महर्षि कश्यप इन्हींके पुत्र हैं। ब्रह्माजीने इनको पद्मपुराणका कुछ अंश सुनाया था। प्रायः सभी पुराणोंमें, महाभारतमें और वेदोंमें भी इनके प्रसंगमें बहुत कुछ कहा गया है। ब्रह्माजीने सबसे पहले ब्रह्मपुराण इन्हींको दिया था। ये सदा-सर्वदा सृष्टिकी उत्पत्ति और उसके पालनके कार्यमें लगे रहते हैं। इनकी विस्तृत कथा वायुपुराण, स्कन्दपुराण, अग्निपुराण, पद्मपुराण, मार्कण्डेयपुराण, विष्णुपुराण और महाभारत आदिमें है।

(२) अङ्गिरा—ये बड़े ही तेजस्वी महर्षि हैं। इनके कई पत्नियाँ हैं, जिनमें प्रधानतया तीन हैं; उनमेंसे मरीचिकी कन्या सुरूपासे बृहस्पतिका, कर्दम ऋषिकी कन्या स्वराट्से गौतम-वामदेवादि पाँच पुत्रोंका और मनुकी पुत्री पथ्यासे धिष्णु आदि तीन पुत्रोंका जन्म हुआ (वायुपुराण अ० ६५) तथा अग्निकी कन्या आत्रेयीसे आङ्गिरसनामक पुत्रोंकी उत्पत्ति हुई (ब्रह्मपुराण)। किसी-किसी ग्रन्थमें माना गया है कि बृहस्पतिका जन्म इनकी शुभानामक पत्नीसे हुआ था। (महाभारत)

(३) अत्रि—ये दक्षिण दिशाकी ओर रहते हैं। प्रसिद्ध पतिव्रता अनसूयाजी इन्हींकी धर्मपत्नी हैं। अनसूयाजी भगवान् कपिलदेवकी बहिन और कर्दम-देवहूतिकी कन्या हैं। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने वनवासके समय इनका आतिथ्य स्वीकार किया था। अनसूयाजीने जगज्जननी सीताजीको भाँति-भाँतिके गहने-कपड़े और सतीधर्मका महान् उपदेश दिया था।

ब्रह्मवादियोंमें श्रेष्ठ महर्षि अत्रिको जब ब्रह्माजीने प्रजाविस्तारके लिये आज्ञा दी, तब अत्रिजी अपनी पत्नी अनसूयाजी-सहित ऋक्षनामक पर्वतपर जाकर तप करने लगे। ये दोनों भगवान्‌के बड़े ही भक्त हैं। इन्होंने घोर तप किया और तपके फलस्वरूप चाहा भगवान्‌का प्रत्यक्ष दर्शन! ये जगत्पति भगवान्‌के शरणापन्न होकर उनका अखण्ड चिन्तन करने लगे। इनके मस्तकसे योगाग्नि निकलने लगी, जिससे तीनों लोक जलने लगे। तब इनके तपसे प्रसन्न होकर ब्रह्मा, विष्णु और शङ्कर—तीनों इन्हें वर देनेके लिये प्रकट हुए। भगवान्‌के तीनों स्वरूपोंके दर्शन करके मुनि अपनी पत्नीसहित कृतार्थ हो गये और गद्गद होकर भगवान्‌की स्तुति करने लगे। भगवान्‌ने इन्हें वर माँगनेको कहा। ब्रह्माजीकी सृष्टि रचनेकी आज्ञा थी, इसलिये अत्रिने कहा—'मैंने पुत्रके लिये भगवान्‌की आराधना की थी और उनके दर्शन चाहे थे, आप तीनों पधार गये। आपकी तो कोई कल्पना भी नहीं कर सकता। मुझपर यह कृपा कैसे हुई, आप ही बतलाइये।' अत्रिके वचन सुनकर तीनों मुसकुरा दिये और बोले—'ब्रह्मन्! तुम्हारा संकल्प सत्य है। तुम जिनका ध्यान करते हो, हम तीनों वे ही हैं—एकके ही तीन स्वरूप हैं। हम तीनोंके अंशसे तुम्हारे तीन पुत्र होंगे। तुम तो कृतार्थरूप हो ही।' इतना कहकर भगवान्‌के तीनों स्वरूप अन्तर्धान हो गये। तीनोंने उनके यहाँ अवतार धारण किया। भगवान् विष्णुके अंशसे दत्तात्रेय, ब्रह्माके अंशसे चन्द्रमा और शिवजीके अंशसे दुर्वासाजी हुए। भक्तिका यही प्रताप है। जिनकी ध्यानमें भी कल्पना नहीं हो सकती, वे ही बच्चे बनकर गोदमें खेलने लगे (वाल्मीकीय रामायण, वनकाण्ड और श्रीमद्भागवत, स्कन्ध ४)।

प्रश्न—यहाँ सप्त महर्षियोंसे इस वर्तमान मन्वन्तरके विश्वामित्र, जमदग्नि, भरद्वाज, गौतम, अत्रि, वसिष्ठ और कश्यप—इन सातोंको मान लिया जाय तो क्या आपत्ति है ?

उत्तर—इन विश्वामित्र आदि सप्त महर्षियोंमें अत्रि और वसिष्ठके अतिरिक्त अन्य पाँच न तो भगवान्‌के ही और न ब्रह्माके ही मानस पुत्र हैं । अतएव यहाँ इनको न मानकर उन्हींको मानना ठीक है ।

(४) **पुलस्त्य**—ये बड़े ही धर्मपरायण, तपस्वी और तेजस्वी हैं । योगविद्याके बहुत बड़े आचार्य और पारदर्शी हैं । पराशरजी जब राक्षसोंका नाश करनेके लिये एक बड़ा यज्ञ कर रहे थे, तब वसिष्ठकी सलाहसे पुलस्त्यने उनसे यज्ञ बंद करनेके लिये कहा । पराशरजीने पुलस्त्यकी बात मानकर यज्ञ रोक दिया । इससे प्रसन्न होकर महर्षि पुलस्त्यने ऐसा आशीर्वाद दिया, जिससे पराशरको समस्त शास्त्रोंका ज्ञान हो गया ।

इनकी सन्ध्या, प्रतीची, प्रीति और हविर्भू नामक पत्नियाँ हैं—जिनसे कई पुत्र हुए । दत्तोलि अथवा अगस्त्य और प्रसिद्ध ऋषि निदाघ इन्हींके पुत्र हैं । विश्रवा भी इन्हींके पुत्र हैं—जिनसे कुबेर, रावण, कुम्भकर्ण और विभीषणका जन्म हुआ था । पुराणोंमें और महाभारतमें जगह-जगह इनकी चर्चा आयी है । इनकी कथा विष्णुपुराण, ब्रह्मवैवर्तपुराण, कूर्मपुराण, श्रीमद्भागवत, वायुपुराण और महाभारत-उद्योगपर्वमें विस्तारसे है ।

(५) **पुलह**—ये बड़े ऐश्वर्यवान् और ज्ञानी महर्षि हैं । इन्होंने महर्षि सनन्दनसे ईश्वरीय ज्ञानकी शिक्षा प्राप्त की थी और वह ज्ञान गौतमको सिखाया था । इनके दक्षप्रजापतिकी कन्या क्षमा और कर्दम ऋषिकी पुत्री गतिसे अनेकों सन्तान हुईं (कूर्मपुराण, विष्णुपुराण, श्रीमद्भागवत) ।

(६) **क्रतु**—ये भी बड़े ही तेजस्वी महर्षि हैं । इन्होंने कर्दम ऋषिकी कन्या क्रिया और दक्षपुत्री सन्नतिसे विवाह किया था । इनके साठ हजार वालखिल्य नामक ऋषियोंने जन्म लिया । ये ऋषि भगवान् सूर्यके रथके सामने उनकी ओर मुँह करके स्तुति करते हुए चलते हैं । पुराणोंमें इनकी कथाएँ कई जगह आयी हैं ।

(श्रीमद्भागवत, चतुर्थस्कन्ध; विष्णुपुराण, प्रथम अंश)

(७) **वसिष्ठ**—महर्षि वसिष्ठका तप, तेज, क्षमा और धर्म विश्वविदित हैं । इनकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें पुराणोंमें कई प्रकारके वर्णन मिलते हैं, जो कल्पभेदकी दृष्टिसे सभी ठीक हैं । वसिष्ठजीकी पत्नीका नाम अरुन्धती है । ये बड़ी ही साध्वी और पतिव्रताओंमें अग्रगण्य हैं । वसिष्ठ सूर्यवंशके कुलपुरोहित थे । मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामके दर्शन और सत्संगके लोभसे ही इन्होंने सूर्यवंशी राजाओंकी पुरोहिती स्वीकार की और सूर्यवंशके हितके लिये ये लगातार चेष्टा करते रहे । भगवान् श्रीरामको शिष्यरूपमें पाकर इन्होंने अपने जीवनको कृतकृत्य समझा ।

कहा जाता है कि 'तपस्या बड़ी है या सत्संग ?' इस विषयपर एक बार विश्वामित्रजीसे इनका मतभेद हो गया । वसिष्ठजी कहते थे कि सत्संग बड़ा है और विश्वामित्रजी तपको बड़ा बतलाते थे । अन्तमें दोनों पञ्चायत करानेके लिये शेषजीके पास पहुँचे । इनके विवादके कारणको सुनकर शेषभगवान्‌ने कहा कि 'भगवन् ! आप देख रहे हैं, मेरे सिरपर सारी पृथ्वीका भार है । आप दोनोंमें कोई महात्मा थोड़ी देरके लिये इस भारको उठा लें तो मैं सोच-समझकर आपका झगड़ा निपटा दूँ ।' विश्वामित्रजीको अपने तपका बड़ा भरोसा था; उन्होंने दस हजार वर्षकी तपस्याका फल देकर पृथ्वीको उठाना चाहा, परन्तु उठा न सके । पृथ्वी काँपने लगी । तब वसिष्ठजीने अपने सत्संगका आधे क्षणका फल देकर पृथ्वीको सहज ही उठा लिया और बहुत देरतक उसे लिये खड़े रहे । विश्वामित्रजीने शेषभगवान्‌से पूछा कि 'इतनी देर हो गयी, आपने निर्णय क्यों नहीं सुनाया ?' तब उन्होंने हँसकर कहा 'ऋषिवर ! निर्णय तो अपने आप ही हो गया । जब आधे क्षणके सत्संगकी भी बराबरी दस हजार वर्षके तपसे नहीं हो सकती, तब आप ही सोच लीजिये कि दोनोंमें कौन बड़ा है ।' सत्संगकी महिमा जानकर दोनों ही ऋषि प्रसन्न होकर लौट आये ।

वसिष्ठजी वसुसम्पन्न अर्थात् अणिमादि सिद्धियोंसे युक्त और गृहवासियोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं, इसीलिये इनका नाम 'वसिष्ठ' पड़ा था । काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि शत्रु इनके आश्रमके समीप भी नहीं आ सकते थे । सौ पुत्रोंका संहार

प्रश्न—'चत्वारः पूर्वे' से किनको लेना चाहिये ?

उत्तर—सबसे पहले होनेवाले सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार—इन चारोंको लेना चाहिये। ये भी भगवान्‌के ही स्वरूप हैं और ब्रह्माजीके तप करनेपर स्वेच्छासे प्रकट हुए हैं। ब्रह्माजीने स्वयं कहा है—

तप्तं तपो विविधलोकसिसृक्षया मे
आदौ सनात्स्वतपसः स चतुःसनोऽभूत्।
प्राक्कल्पसंप्लवविनष्टमिहात्मतत्त्वं
सम्यग् जगाद मुनयो यदचक्षतात्मन्॥
(श्रीमद्भा० २।७।५)

'मैंने विविध प्रकारके लोकोंको उत्पन्न करनेकी इच्छासे जो सबसे पहले तप किया, उस मेरी अखण्डित तपस्यासे ही भगवान् स्वयं सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार—इन चार 'सन' नामवाले रूपोंमें प्रकट हुए और पूर्वकल्पमें प्रलयकालके समय जो आत्मतत्त्वके ज्ञानका प्रचार इस संसारमें नष्ट हो गया था, उसका इन्होंने भलीभाँति उपदेश किया, जिससे उन मुनियोंने अपने हृदयमें आत्मतत्त्वका साक्षात्कार किया।'

प्रश्न—इसी श्लोकमें आगे कहा है—'जिनकी सब लोकोंमें यह प्रजा है', परन्तु 'चत्वारः पूर्वे' का अर्थ सनकादि महर्षि मान लेनेसे इसमें विरोध आता है; क्योंकि सनकादिकी तो कोई प्रजा नहीं है ?

उत्तर—सनकादि सबको ज्ञान प्रदान करनेवाले निवृत्तिधर्मके प्रवर्तक आचार्य हैं। अतएव उनकी शिक्षा ग्रहण करनेवाले सभी लोग शिष्यके सम्बन्धसे उनकी प्रजा ही माने जा सकते हैं। अतएव इसमें कोई विरोध नहीं है।

प्रश्न—'मनवः' पद किनका वाचक है ?

उत्तर—ब्रह्माके एक दिनमें चौदह मनु होते हैं। प्रत्येक मनुके अधिकारकालको 'मन्वन्तर' कहते हैं। इकहत्तर चतुर्युगीसे कुछ अधिक कालका एक मन्वन्तर होता है। मानवी वर्षगणनाके हिसाबसे एक मन्वन्तर तीस करोड़ सड़सठ लाख बीस हजार वर्षसे और दिव्य-वर्षगणनाके हिसाबसे आठ लाख बावन हजार वर्षसे कुछ अधिक कालका होता है (विष्णुपुराण १।३)।* प्रत्येक मन्वन्तरमें धर्मकी व्यवस्था और लोकरक्षणके लिये भिन्न-भिन्न सप्तर्षि होते हैं। एक

करनेवाले विश्वामित्रके प्रति, अपनेमें पूरा सामर्थ्य होनेपर भी क्रोध न करके इन्होंने उनका जरा भी अनिष्ट नहीं किया। महादेवजीने प्रसन्न होकर वसिष्ठजीको ब्राह्मणोंका आधिपत्य प्रदान किया था। सनातनधर्मके मर्मको यथार्थरूपसे जाननेवालोंमें वसिष्ठजीका नाम सर्वप्रथम लिया जानेयोग्य है। इनके जीवनकी विस्तृत घटनाएँ रामायण, महाभारत, देवीभागवत, विष्णुपुराण, मत्स्यपुराण, वायुपुराण, शिवपुराण, लिङ्गपुराण आदि ग्रन्थोंमें हैं।

* सूर्यसिद्धान्तमें मन्वन्तर आदिका जो वर्णन है, उसके अनुसार इस प्रकार समझना चाहिये—

सौरमानसे ४३,२०,००० वर्षकी अथवा देवमानसे १२,००० वर्षकी एक चतुर्युगी होती है। इसीको महायुग कहते हैं। ऐसे इकहत्तर युगोंका एक मन्वन्तर होता है। प्रत्येक मन्वन्तरके अन्तमें सत्ययुगके मानकी अर्थात् १७,२८,००० वर्षकी सन्ध्या होती है। मन्वन्तर बीतनेपर जब सन्ध्या होती है, तब सारी पृथ्वी जलमें डूब जाती है। प्रत्येक कल्पमें (ब्रह्माके एक दिनमें) चौदह मन्वन्तर अपनी-अपनी सन्ध्याओंके मानके सहित होते हैं। इसके सिवा कल्पके आरम्भकालमें भी एक सत्ययुगके मानकालकी सन्ध्या होती है। इस प्रकार एक कल्पके चौदह मनुओंमें ७१ चतुर्युगीके अतिरिक्त सत्ययुगके मानकी १५ सन्ध्याएँ होती हैं। ७१ महायुगोंके मानसे १४ मनुओंमें ९९४ महायुग होते हैं और सत्ययुगके मानकी १५ सन्ध्याओंका काल पूरा ६ महायुगोंके समान हो जाता है। दोनोंका योग मिलानेपर पूरे एक हजार महायुग या दिव्ययुग बीत जाते हैं।

मन्वन्तरके बीत जानेपर जब मनु बदल जाते हैं, तब उन्हींके साथ सप्तर्षि, देवता, इन्द्र और मनुपुत्र भी बदल जाते हैं। वर्तमान कल्पके मनुओंके नाम ये हैं—स्वायम्भुव, स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष, वैवस्वत, सावर्णि, दक्षसावर्णि, ब्रह्मसावर्णि, धर्मसावर्णि, रुद्रसावर्णि, देवसावर्णि और इन्द्रसावर्णि।* चौदह मनुओंका एक कल्प बीत जानेपर सब मनु भी बदल जाते हैं।

प्रश्न—इन सप्त महर्षि आदिके साथ 'मद्भावा:' विशेषण देनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—ये सभी भगवान्‌में श्रद्धा और प्रेम रखनेवाले हैं, यही भाव दिखलानेके लिये इनके लिये 'मद्भावा:' यह विशेषण दिया गया है।

प्रश्न—सप्तर्षियोंकी और सनकादिकी उत्पत्ति तो ब्रह्माजीके मनसे ही मानी गयी है। यहाँ भगवान्‌ने उनको अपने मनसे उत्पन्न कैसे कहा?

उत्तर—इनकी जो ब्रह्माजीसे उत्पत्ति होती है, वह वस्तुत: भगवान्‌से ही होती है; क्योंकि स्वयं भगवान् ही जगत्‌की रचनाके लिये ब्रह्माका रूप धारण करते हैं। अतएव ब्रह्माके मनसे उत्पन्न होनेवालोंको भगवान् 'अपने मनसे उत्पन्न होनेवाले' कहें तो इसमें भी कोई विरोधकी बात नहीं है।

सम्बन्ध—इस प्रकार पाँच श्लोकोंद्वारा जो भगवान्‌के योग (प्रभाव) का और उनकी विभूतियोंका वर्णन किया गया, उसे जाननेका फल अगले श्लोकमें बतलाया जाता है—

इस हिसाबसे निम्नलिखित अंकोंके द्वारा इसको समझिये—

	सौरमान या मानव वर्ष	देवमान या दिव्य वर्ष
एक चतुर्युगी (महायुग या दिव्ययुग)	४३,२०,०००	१२,०००
इकहत्तर चतुर्युगी	३०,६७,२०,०००	८,५२,०००
कल्पकी सन्धि	१७,२८,०००	४,८००
मन्वन्तरकी चौदह सन्ध्या	२,४१,९२,०००	६७,२००
सन्धिसहित एक मन्वन्तर	३०,८४,४८,०००	८,५६,८००
चौदह सन्ध्यासहित चौदह मन्वन्तर	४,३१,८२,७२,०००	१,१९,९५,२००
कल्पकी सन्धिसहित चौदह मन्वन्तर या एक कल्प	४,३२,००,००,०००	१,२०,००,०००

ब्रह्माजीका दिन ही कल्प है, इतनी ही बड़ी उनकी रात्रि है। इस अहोरात्रके मानसे ब्रह्माजीकी परमायु एक सौ वर्ष है। इसे 'पर' कहते हैं। इस समय ब्रह्माजी अपनी आयुका आधा भाग अर्थात् एक परार्द्ध बिताकर दूसरे परार्द्धमें चल रहे हैं। यह उनके ५१ वें वर्षका प्रथम दिन या कल्प है। वर्तमान कल्पके आरम्भसे अबतक स्वायम्भुव आदि छः मन्वन्तर अपनी-अपनी सन्ध्याओंसहित बीत चुके हैं, कल्पकी सन्ध्यासमेत सात सन्ध्याएँ बीत चुकी हैं। वर्तमान सातवें वैवस्वत मन्वन्तरके २७ चतुर्युग बीत चुके हैं। इस समय अट्ठाईसवें चतुर्युगके कलियुगका सन्ध्याकाल चल रहा है। (सूर्यसिद्धान्त, मध्यमाधिकार, श्लोक १५ से २४ देखिये)।

इस १९९६ वि० तक कलियुगके ५,०४० वर्ष बीते हैं। कलियुगके आरम्भमें ३६,००० वर्ष सन्ध्याकालका मान होता है। इस हिसाबसे अभी कलियुगकी सन्ध्याके ही ३०,९६० सौर वर्ष बीतने बाकी हैं।

* श्रीमद्भागवतके आठवें स्कन्धके पहले, पाँचवें और तेरहवें अध्यायमें इनका विस्तारसे वर्णन पढ़ना चाहिये। विभिन्न पुराणोंमें इनके नामभेद मिलते हैं। यहाँ ये नाम श्रीमद्भागवतके अनुसार दिये गये हैं।

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥ ७ ॥

जो पुरुष मेरी इस परमैश्वर्यरूप विभूतिको और योगशक्तिको तत्त्वसे जानता है, वह निश्चल भक्तियोगके द्वारा मुझमें ही स्थित होता है—इसमें कुछ भी संशय नहीं है ॥ ७ ॥

प्रश्न—यहाँ 'एताम्' विशेषणके सहित 'विभूतिम्' पद किसका वाचक है और 'योगम्' पदसे क्या कहा गया है तथा इन दोनोंको तत्त्वसे जानना क्या है ?

उत्तर—पिछले तीनों श्लोकोंमें भगवान्‌ने जिन बुद्धि आदि भावोंको और महर्षि आदिको अपनेसे उत्पन्न बतलाया है तथा सातवें अध्यायमें 'जलमें मैं रस हूँ' (७ । ८) एवं ९वें अध्यायमें 'क्रतु मैं हूँ', 'यज्ञ मैं हूँ' (९ । १६) इत्यादि वाक्योंसे जिन-जिन पदार्थोंका, भावोंका और देवता आदिका वर्णन किया है—उन सबका वाचक यहाँ 'एताम्' विशेषणके सहित 'विभूतिम्' पद है ।

भगवान्‌की जो अलौकिक शक्ति है, जिसे देवता और महर्षिगण भी पूर्णरूपसे नहीं जानते (१०।२, ३); जिसके कारण स्वयं सात्त्विक, राजस और तामस भावोंके अभिन्ननिमित्तोपादान कारण होनेपर भी भगवान् सदा उनसे न्यारे बने रहते हैं और यह कहा जाता है कि 'न तो वे भाव भगवान्‌में हैं और न भगवान् ही उनमें हैं' (७ । १२); जिस शक्तिसे सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और संहार आदि समस्त कर्म करते हुए भगवान् सम्पूर्ण जगत्‌को नियममें चलाते हैं; जिसके कारण वे समस्त लोकोंके महान् ईश्वर, समस्त भूतोंके सुहृद्, समस्त यज्ञादिके भोक्ता, सर्वाधार और सर्वशक्तिमान् हैं; जिस शक्तिसे भगवान् इस समस्त जगत्‌को अपने एक अंशमें धारण किये हुए हैं (१० । ४२) और युग-युगमें अपने इच्छानुसार विभिन्न कार्योंके लिये अनेक रूप धारण करते हैं तथा सब कुछ करते हुए भी समस्त कर्मोंसे, सम्पूर्ण जगत्‌से एवं जन्मादि समस्त विकारोंसे सर्वथा निर्लेप रहते हैं और नवम अध्यायके पाँचवें श्लोकमें जिसको 'ऐश्वर योग' कहा गया है—उस अद्भुत शक्ति (प्रभाव) का वाचक यहाँ 'योगम्' पद है । इस प्रकार समस्त जगत् भगवान्‌की ही रचना है और सब उन्हींके एक अंशमें स्थित हैं । इसलिये जगत्‌में जो भी वस्तु शक्तिसम्पन्न प्रतीत हो, जहाँ भी कुछ विशेषता दिखलायी दे, उसे—अथवा समस्त जगत्‌को ही भगवान्‌की विभूति अर्थात् उन्हींका स्वरूप समझना एवं उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्‌को समस्त जगत्‌के कर्त्ता-हर्त्ता, सर्वशक्तिमान्, सर्वेश्वर, सर्वाधार, परम दयालु, सबके सुहृद् और सर्वान्तर्यामी मानना—यही 'भगवान्‌की विभूति और योगको तत्त्वसे जानना' है ।

प्रश्न—'अविकम्पेन' विशेषणके सहित 'योगेन' पद किसका वाचक है और उसके द्वारा भगवान्‌में स्थित होना क्या है ?

उत्तर—भगवान्‌की जो अनन्यभक्ति है (११ । ५५), जिसे 'अव्यभिचारिणी भक्ति' (१३ । १०) और 'अव्यभिचारी भक्तियोग' (१४ । २६) भी कहते हैं; सातवें अध्यायके पहले श्लोकमें जिसे 'योग'के नामसे पुकारा गया है और नवम अध्यायके १३वें, १४वें तथा ३४वें तथा इसी अध्यायके ९वें श्लोकोंमें जिसका स्वरूप बतलाया गया है—उस 'अविचल भक्तियोग' का वाचक यहाँ 'अविकम्पेन' विशेषणके सहित 'योगेन' पद है और उसके द्वारा भगवान्‌को प्राप्त हो जाना ही 'उनसे युक्त हो जाना अर्थात् उनमें स्थित हो जाना' है ।

सम्बन्ध—अविचल भक्तियोगके द्वारा भगवान्‌की प्राप्ति बतलायी गयी, अब दो श्लोकोंमें उस भक्तियोगके स्वरूपका वर्णन करते हैं—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥ ८ ॥

मैं वासुदेव ही सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्तिका कारण हूँ और मुझसे ही सब जगत् चेष्टा करता है—इस प्रकार समझकर श्रद्धा और भक्तिसे युक्त बुद्धिमान् भक्तजन मुझ परमेश्वरको ही निरन्तर भजते हैं ॥ ८ ॥

प्रश्न—भगवान्‌को सम्पूर्ण जगत्‌का प्रभव समझना क्या है ?

उत्तर—सम्पूर्ण जगत् भगवान्‌से ही उत्पन्न है, अतः भगवान् ही समस्त जगत्‌के उपादान और निमित्त कारण हैं; इसलिये भगवान् ही सर्वोत्तम हैं, यह समझना भगवान्‌को समस्त जगत्‌का प्रभव समझना है।

प्रश्न—सम्पूर्ण जगत् भगवान्‌से ही चेष्टा करता है, यह समझना क्या है ?

उत्तर—भगवान्‌के ही योगबलसे यह सृष्टिचक्र चल रहा है; उन्हींकी शासन-शक्तिसे सूर्य, चन्द्रमा, तारागण और पृथ्वी आदि नियमपूर्वक घूम रहे हैं; उन्हींके शासनसे समस्त प्राणी अपने-अपने कर्मानुसार अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म धारण करके अपने-अपने कर्मोंका फल भोग रहे हैं—इस प्रकारसे भगवान्‌को सबका नियन्ता और प्रवर्तक समझना ही 'सम्पूर्ण जगत् भगवान्‌से चेष्टा करता है', यह समझना है।

प्रश्न—'भावसमन्विताः' विशेषणके सहित 'बुधाः' पद कैसे भक्तोंका वाचक है ?

उत्तर—जो भगवान्‌के अनन्यप्रेमसे युक्त हैं, भगवान्‌में जिनकी अटल श्रद्धा और अनन्यभक्ति है, जो भगवान्‌के गुण और प्रभावको भलीभाँति जानते हैं—भगवान्‌के उन बुद्धिमान् भक्तोंका वाचक 'भावसमन्विताः' विशेषणके सहित 'बुधाः' पद है।

प्रश्न—उपर्युक्त प्रकारसे समझकर भगवान्‌को भजना क्या है ?

उत्तर—उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्‌को सम्पूर्ण जगत्‌का कर्ता, हर्ता और प्रवर्तक समझकर अगले श्लोकमें कहे हुए प्रकारसे अतिशय श्रद्धा और प्रेमपूर्वक मन, बुद्धि और समस्त इन्द्रियोंद्वारा निरन्तर भगवान्‌का स्मरण और सेवन करना ही भगवान्‌को भजना है।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ ९ ॥

निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर सन्तुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं ॥ ९ ॥

प्रश्न—'मच्चित्ता:' का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—भगवान्‌को ही अपना परम प्रेमी, परम सुहृद्, परम आत्मीय, परम गति और परम प्रिय समझनेके कारण जिनका चित्त अनन्यभावसे भगवान्‌में लगा हुआ है (८ । १४; ९ । २२); भगवान्‌के सिवा किसी भी वस्तुमें जिनकी प्रीति, आसक्ति या रमणीयता-बुद्धि नहीं है; जो सदा-सर्वदा ही भगवान्‌के नाम, गुण, प्रभाव, लीला और स्वरूपका चिन्तन करते रहते हैं और जो शास्त्रविधिके अनुसार कर्म करते हुए उठते-बैठते, सोते-जागते, चलते-फिरते, खाते-पीते, व्यवहारकालमें और ध्यानकालमें कभी क्षणमात्र भी भगवान्‌को नहीं भूलते,—ऐसे नित्य-निरन्तर चिन्तन करनेवाले भक्तोंके लिये ही यहाँ भगवान्‌ने 'मच्चित्ता:' विशेषणका प्रयोग किया है ।

प्रश्न—'मद्गतप्राणा:' का क्या भाव है ?

उत्तर—जिनका जीवन और इन्द्रियोंकी समस्त चेष्टाएँ केवल भगवान्‌के ही लिये हैं; जिनको क्षणमात्रका भी भगवान्‌का वियोग असह्य है; जो भगवान्‌के लिये ही प्राण धारण करते हैं; खाना-पीना, चलना-फिरना, सोना-जागना आदि जितनी भी चेष्टाएँ हैं, उन सबमें जिनका अपना कुछ भी प्रयोजन नहीं रह गया है—जो सब कुछ भगवान्‌के लिये ही करते हैं, उनके लिये भगवान्‌ने—'मद्गतप्राणा:' का प्रयोग किया है।

प्रश्न—'परस्परं बोधयन्त:' का क्या भाव है ?

उत्तर—भगवान्‌में श्रद्धा-भक्ति रखनेवाले प्रेमी भक्तोंका जो अपने-अपने अनुभवके अनुसार भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, लीला, माहात्म्य और रहस्यको परस्पर नाना प्रकारकी युक्तियोंसे समझानेकी चेष्टा करना है,—यही परस्पर भगवान्‌का बोध कराना है ।

प्रश्न—भगवान्‌का कथन करना क्या है ?

उत्तर—श्रद्धा-भक्तिपूर्वक भगवान्‌के नाम, गुण, प्रभाव, लीला और स्वरूपका कीर्तन और गायन करना तथा कथा-व्याख्यानादिद्वारा लोगोंमें प्रचार करना और उनकी स्तुति करना आदि सब भगवान्‌का कथन करना है ।

प्रश्न—उपर्युक्त प्रकारसे सब कुछ करते हुए नित्य सन्तुष्ट रहना क्या है ?

उत्तर—प्रत्येक क्रिया करते हुए निरन्तर परम आनन्दका अनुभव करना ही 'नित्य सन्तुष्ट रहना' है । इस प्रकार सन्तुष्ट रहनेवाले भक्तकी शान्ति, आनन्द और सन्तोषका कारण केवल भगवान्‌के नाम, गुण, प्रभाव, लीला और स्वरूप आदिका श्रवण, मनन और कीर्तन तथा पठन-पाठन आदि ही होता है । सांसारिक वस्तुओंसे उसके आनन्द और सन्तोषका कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता ।

प्रश्न—उपर्युक्त प्रकारसे सब कुछ करते हुए भगवान्‌में निरन्तर रमण करना क्या है ?

उत्तर—भगवान्‌के नाम, गुण, प्रभाव, लीला, स्वरूप, तत्त्व और रहस्यका यथायोग्य श्रवण, मनन और कीर्तन करते हुए एवं उनकी रुचि, आज्ञा और संकेतके अनुसार केवल उनमें प्रेम होनेके लिये ही प्रत्येक क्रिया करते हुए, मनके द्वारा उनको सदा-सर्वदा प्रत्यक्षवत् अपने पास समझकर निरन्तर प्रेमपूर्वक उनके दर्शन, स्पर्श और उनके साथ वार्तालाप आदि क्रीडा करते रहना—यही भगवान्‌में निरन्तर रमण करना है ।

सम्बन्ध—उपर्युक्त प्रकारसे भजन करनेवाले भक्तोंके प्रति भगवान् क्या करते हैं, अगले दो श्लोकोंमें यह बतलाते हैं—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥१०॥

उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं ॥ १० ॥

प्रश्न—'तेषाम्' पद किनका वाचक है ?

उत्तर—पूर्वके दो श्लोकोंमें 'बुधाः' और 'मच्चित्ताः' आदि पदोंसे जिन भक्तोंका वर्णन किया गया है, उन्हीं निष्काम अनन्यप्रेमी भक्तोंका वाचक यहाँ 'तेषाम्' पद है ।

प्रश्न—'सततयुक्तानाम्'का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—पूर्वश्लोकमें 'मच्चित्ताः', 'मद्गतप्राणाः', 'परस्परं मां बोधयन्तः' और 'कथयन्तः'से जो बातें कही गयी हैं, उन सबका समाहार 'सततयुक्तानाम्' पदमें किया गया है ।

प्रश्न—'प्रीतिपूर्वकं भजताम्'का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—पूर्वश्लोकमें 'नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च' में जो बात कही गयी है, उसका समाहार यहाँ 'प्रीतिपूर्वकं भजताम्'में किया गया है । अभिप्राय यह है कि पूर्वश्लोकमें भगवान्‌के जिन भक्तोंका वर्णन हुआ है, वे भोगोंकी कामनाके लिये भगवान्‌को भजनेवाले नहीं हैं, किन्तु किसी प्रकारका भी फल न चाहकर केवल निष्काम अनन्यप्रेमभावसे ही भगवान्‌का भजन करनेवाले हैं ।*

प्रश्न—ऐसे भक्तोंको भगवान् जो बुद्धियोग प्रदान करते हैं—वह क्या है और उससे भगवान्‌को प्राप्त हो जाना क्या है ?

उत्तर—भगवान्‌का जो भक्तोंके अन्तःकरणमें अपने प्रभाव और महत्त्वादिके रहस्यसहित निर्गुण-निराकार तत्त्वको तथा लीला, रहस्य, महत्त्व और प्रभाव आदिके सहित सगुण निराकार और साकार तत्त्वको यथार्थरूपसे समझनेकी शक्ति प्रदान करना है—वही 'बुद्धियोगका प्रदान करना' है । इसीको भगवान्‌ने सातवें और नवें अध्यायमें विज्ञानसहित ज्ञान कहा है और इस बुद्धियोगके द्वारा भगवान्‌को प्रत्यक्ष कर लेना ही भगवान्‌को प्राप्त हो जाना है ।

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥११॥

और हे अर्जुन ! उनके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये उनके अन्तःकरणमें स्थित हुआ मैं स्वयं ही अज्ञानसे उत्पन्न हुए अन्धकारको प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूप दीपकके द्वारा नष्ट कर देता हूँ ॥ ११ ॥

---

* न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् । न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्क्षे ॥

(श्रीमद्भा० ६ । ११ । २५)

'हे सर्वसद्गुणयुक्त ! आपको त्याग कर न तो मैं स्वर्गमें सबसे ऊँचे लोकका निवास चाहता हूँ, न ब्रह्माका पद चाहता हूँ, न समस्त पृथ्वीका राज्य, न पातालोकका आधिपत्य, न योगकी सिद्धि—अधिक क्या, मुक्ति भी नहीं चाहता ।

प्रश्न—उन भक्तोंपर अनुग्रह करनेके लिये मैं स्वयं ही उनके अज्ञानजनित अन्धकारका नाश कर देता हूँ, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि अपने भक्तोंपर अनुग्रह करनेके लिये मैं स्वयं ही उनके अज्ञानजनित अन्धकारका नाश कर देता हूँ, इसके लिये उनको कोई दूसरा साधन नहीं करना पड़ता ।

प्रश्न—'अज्ञानजम्' विशेषणके सहित 'तमः' पद किसका वाचक है और उसे मैं आत्मभावमें स्थित हुआ नाश करता हूँ, भगवान्‌के इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—अनादिसिद्ध अज्ञानसे उत्पन्न जो आवरण-शक्ति है—जिसके कारण मनुष्य भगवान्‌के गुण, प्रभाव और स्वरूपको यथार्थ नहीं जानता—उसका वाचक यहाँ 'अज्ञानजम्' विशेषणके सहित 'तमः' पद है । 'उसे मैं भक्तोंके आत्मभावमें स्थित हुआ नाश करता हूँ' इस कथनसे भगवान्‌ने भक्तिकी महिमा और अपनेमें विषमताके दोषका अभाव दिखलाया है । भगवान्‌के कथनका अभिप्राय यह है कि मैं सबके हृदयदेशमें अन्तर्यामीरूपसे सदा-सर्वदा स्थित रहता हूँ, तो भी लोग मुझे अपनेमें स्थित नहीं मानते; इसी कारण मैं उनका अज्ञानजनित अन्धकार नाश नहीं कर सकता ! परन्तु मेरे प्रेमी भक्त पूर्वश्लोकमें कहे हुए प्रकारसे निरन्तर मुझे अपने हृदयमें प्रत्यक्षकी भाँति स्थित देखते हैं, इस कारण उनके अज्ञानजनित अन्धकारका मैं सहज ही नाश कर देता हूँ । अतः इसमें मेरी विषमता नहीं है ।

प्रश्न—'भास्वता' विशेषणके सहित 'ज्ञानदीपेन' पद किसका वाचक है और उसके द्वारा 'अज्ञानजनित अन्धकारका नाश करना' क्या है ?

उत्तर—पूर्वश्लोकमें जिसे बुद्धियोग कहा गया है; जिसके द्वारा प्रभाव और महिमा आदिके सहित निर्गुण-निराकार तत्त्वका तथा लीला, रहस्य, महत्त्व और प्रभाव आदिके सहित सगुण-निराकार और साकार तत्त्वका स्वरूप भलीभाँति जाना जाता है; जिसे सातवें और नवें अध्यायमें विज्ञानसहित ज्ञानके नामसे कहा है—ऐसे संशय, विपर्यय आदि दोषोंसे रहित 'दिव्य बोध'का वाचक यहाँ 'भास्वता' विशेषणके सहित 'ज्ञानदीपेन' पद है । उसके द्वारा भक्तोंके अन्तःकरणमें भगवत्-तत्त्वज्ञानके प्रतिबन्धक आवरण-दोषका सर्वथा अभाव कर देना ही 'अज्ञानजनित अन्धकारका नाश करना' है ।

प्रश्न—इस ज्ञानदीप (बुद्धियोग) के द्वारा पहले अज्ञानका नाश होता है या भगवान्‌की प्राप्ति होती है ?

उत्तर—'ज्ञानदीप' के द्वारा यद्यपि अज्ञानका नाश और भगवान्‌की प्राप्ति—दोनों एक ही साथ हो जाते हैं, तथापि यदि पूर्वापरका विभाग किया जाय तो यही समझना चाहिये कि पहले अज्ञानका नाश होता है और फिर उसी क्षण भगवान्‌की प्राप्ति भी हो जाती है ।

सम्बन्ध—सातवें अध्यायके पहले श्लोकमें अपने समग्ररूपका ज्ञान करानेवाले जिस विषयको सुननेके लिये भगवान्‌ने अर्जुनको आज्ञा दी थी तथा दूसरे श्लोकमें जिस विज्ञानसहित ज्ञानको पूर्णतया कहनेकी प्रतिज्ञा की थी—उसका वर्णन भगवान्‌ने सातवें अध्यायमें किया । उसके बाद आठवें अध्यायमें अर्जुनके सात प्रश्नोंका उत्तर देते हुए भी भगवान्‌ने उसी विषयका स्पष्टीकरण किया; किन्तु वहाँ कहनेकी शैली दूसरी रही, इसलिये नवम अध्यायके आरम्भमें पुनः विज्ञानसहित ज्ञानका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा करके उसी

विषयको अङ्ग-प्रत्यङ्गोंसहित भलीभाँति समझाया। तदनन्तर दूसरे शब्दोंमें पुनः उसका स्पष्टीकरण करनेके लिये दसवें अध्यायके पहले श्लोकमें उसी विषयको पुनः कहनेकी प्रतिज्ञा की और पाँच श्लोकोंद्वारा अपनी योगशक्ति और विभूतियोंका वर्णन करके सातवें श्लोकमें उनके जाननेका फल अविचल भक्तियोगके द्वारा अपनेको प्राप्त होना बतलाया। फिर आठवें और नवें श्लोकोंमें भक्तियोगके द्वारा भगवान्‌के भजनमें लगे हुए भक्तोंके भाव और आचरणका वर्णन किया और दसवें तथा ग्यारहवेंमें उसका फल अज्ञानजनित अन्धकारका नाश और भगवान्‌की प्राप्ति करा देनेवाले बुद्धियोगकी प्राप्ति बतलाकर उस विषयका उपसंहार कर दिया। इसपर भगवान्‌की विभूति और योगको तत्त्वसे जानना भगवत्प्राप्तिमें परम सहायक है, यह बात समझकर अब सात श्लोकोंमें अर्जुन पहले भगवान्‌की स्तुति करके भगवान्‌से उनकी योगशक्ति और विभूतियोंका विस्तारसहित वर्णन करनेके लिये प्रार्थना करते हैं—

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥१२॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे॥१३॥

अर्जुन बोले—आप परम ब्रह्म, परम धाम और परम पवित्र हैं; क्योंकि आपको सब ऋषिगण सनातन दिव्य पुरुष एवं देवोंका भी आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापी कहते हैं। वैसे ही देवर्षि नारद तथा ऋषि असित और देवल तथा महर्षि व्यास भी कहते हैं और स्वयं आप भी मेरे प्रति कहते हैं॥१२-१३॥

प्रश्न—'आप 'परम ब्रह्म', 'परम धाम' और 'परम पवित्र' हैं'—अर्जुनके इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इस कथनसे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि जिस निर्गुण परमात्माको 'परम ब्रह्म' कहते हैं और जिस सगुण परमेश्वरको 'परम धाम' कहते हैं—वे दोनों आपके ही स्वरूप हैं। आपके नाम, गुण, प्रभाव, लीला और स्वरूपोंके श्रवण, मनन और कीर्तन आदि सबको सर्वथा परम पवित्र करनेवाले हैं; इसलिये आप 'परम पवित्र' हैं।

प्रश्न—'सर्वे' विशेषणके सहित 'ऋषयः' पद किन ऋषियोंका वाचक है एवं वे आपको 'सनातन दिव्य पुरुष', 'आदिदेव', 'विभु' और 'अजन्मा' कहते हैं—इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'सर्वे' विशेषणके सहित 'ऋषयः'* पद

* ऋषीत्येष गतौ धातुः श्रुतौ सत्ये तपस्यथ। एतत् सन्नियतं यस्मिन् ब्रह्मणा स ऋषिः स्मृतः॥
गत्यर्थादृषतेर्धातोर्नामनिर्वृत्तिरादितः। यस्मादेष स्वयम्भूतस्तस्माच्च ऋषिता स्मृता॥
(वायुपुराण ५९। ७९, ८१)

यहाँ वेदार्थके जाननेवाले मार्कण्डेय, अङ्गिरा आदि समस्त ऋषियोंका वाचक है और अपनी मान्यताके समर्थनमें अर्जुन उनके कथनका प्रमाण दे रहे हैं। अभिप्राय यह है कि वे लोग आपको सनातन—नित्य एकरस रहनेवाले, क्षयविनाशरहित, दिव्य—स्वतःप्रकाश और ज्ञानस्वरूप, सबके आदिदेव तथा अजन्मा—उत्पत्तिरूप विकारसे रहित और सर्वव्यापी बतलाते हैं। अतः आप 'परम ब्रह्म', 'परम धाम' और 'परम पवित्र' हैं—इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।*

प्रश्न—देवर्षिके क्या लक्षण हैं और ऐसे देवर्षि कौन-कौन हैं ?

उत्तर—देवर्षिके लक्षण ये हैं—

देवलोकप्रतिष्ठाश्च ज्ञेया देवर्षयः शुभाः ॥
देवर्षयस्तथान्ये च तेषां वक्ष्यामि लक्षणम्।
भूतभव्यभवज्ज्ञानं सत्याभिव्याहृतं तथा ॥
सम्बुद्धास्तु स्वयं ये तु सम्बद्धा ये च वै स्वयम्।
तपसेह प्रसिद्धा ये गर्भे यैश्च प्रणोदितम् ॥
मन्त्रव्याहारिणो ये च ऐश्वर्यात् सर्वगाश्च ये।
इत्येते ऋषिभिर्युक्ता देवद्विजनृपास्तु ये ॥

(वायुपुराण, अ० ६१। ८८, ९०, ९१, ९२)

'जिनका देवलोकमें निवास है, उन्हें शुभ देवर्षि समझना चाहिये। इनके सिवा वैसे ही जो दूसरे और भी देवर्षि हैं, उनके लक्षण कहता हूँ। भूत, भविष्यत् और वर्तमानका ज्ञान होना तथा सब प्रकारसे सत्य बोलना—देवर्षिका लक्षण है। जो स्वयं भलीभाँति ज्ञानको प्राप्त हैं तथा जो स्वयं अपनी इच्छासे ही संसारसे सम्बद्ध हैं, जो अपनी तपस्याके कारण इस संसारमें विख्यात हैं, जिन्होंने (प्रह्लादादिको) गर्भमें ही उपदेश दिया है, जो मन्त्रोंके वक्ता हैं और जो ऐश्वर्य (सिद्धियों) के बलसे सर्वत्र सब लोकोंमें बिना किसी बाधाके जा-आ सकते हैं

''ऋष्' धातु गमन (ज्ञान), श्रवण, सत्य और तप—इन अर्थोंमें प्रयुक्त होता है। ये सब बातें जिसके अंदर एक साथ निश्चित रूपसे हों, उसीका नाम ब्रह्माने 'ऋषि' रक्खा है। गत्यर्थक 'ऋष्' धातुसे ही 'ऋषि' शब्दकी निष्पत्ति हुई है और आदिकालमें चूँकि यह ऋषिवर्ग स्वयं उत्पन्न होता है, इसीलिये इसकी 'ऋषि' संज्ञा है।'

* परम सत्यवादी धर्ममूर्ति पितामह भीष्मजीने दुर्योधनको भगवान् श्रीकृष्णका प्रभाव बतलाते हुए कहा है—

'भगवान् वासुदेव सब देवताओंके देवता और सबसे श्रेष्ठ हैं; ये ही धर्म हैं, धर्मज्ञ हैं, वरद हैं, सब कामनाओंको पूर्ण करनेवाले हैं और ये ही कर्ता, कर्म और स्वयंप्रभु हैं। भूत, भविष्यत्, वर्तमान, सन्ध्या, दिशाएँ, आकाश और सब नियमोंको इन्हीं जनार्दनने रचा है। इन महात्मा अविनाशी प्रभुने ऋषि, तप और जगत्‌की सृष्टि करनेवाले प्रजापतिको रचा। सब प्राणियोंके अग्रज संकर्षणको भी इन्होंने ही रचा। लोक जिनको 'अनन्त' कहते हैं और जिन्होंने पहाड़ोंसमेत सारी पृथ्वीको धारण कर रक्खा है, वे शेषनाग भी इन्हींसे उत्पन्न हैं; वे ही वाराह, नृसिंह और वामनका अवतार धारण करनेवाले हैं; ये ही सबके माता-पिता हैं, इनसे श्रेष्ठ और कोई भी नहीं है; ये ही केशव परम तेजरूप हैं और सब लोगोंके पितामह हैं, मुनिगण इन्हें हृषीकेश कहते हैं; ये ही आचार्य, पितर और गुरु हैं। ये श्रीकृष्ण जिसपर प्रसन्न होते हैं, उसे अक्षय लोककी प्राप्ति होती है। भय प्राप्त होनेपर जो इन भगवान् केशवके शरण जाता है और इनकी स्तुति करता है, वह मनुष्य परम सुखको प्राप्त होता है।'

ये च कृष्णं प्रपद्यन्ते ते न मुह्यन्ति मानवाः।
भये महति मग्नांश्च पाति नित्यं जनार्दनः ॥

(महा० भीष्म० ६७। २४)

'जो लोग भगवान् श्रीकृष्णकी शरणमें चले जाते हैं, वे कभी मोहको नहीं प्राप्त होते। महान् भय (संकट) में डूबे हुए लोगोंकी भी भगवान् जनार्दन नित्य रक्षा करते हैं।'

और जो सदा ऋषियोंसे घिरे रहते हैं, वे देवता, ब्राह्मण और राजा—ये सभी देवर्षि हैं ।'

देवर्षि अनेकों हैं, जिनमेंसे कुछके नाम ये हैं—

देवर्षी धर्मपुत्रौ तु नरनारायणावुभौ ।
बालखिल्याः क्रतोः पुत्राः कर्दमः पुलहस्य तु ॥
पर्वतो नारदश्चैव कश्यपस्यात्मजावुभौ ।
ऋषन्ति देवान् यस्मात्ते तस्माद्देवर्षयः स्मृताः ॥
(वायुपुराण, अ० ६१ । ८३, ८४, ८५)

'धर्मके दोनों पुत्र नर और नारायण, क्रतुके पुत्र बालखिल्य ऋषि, पुलहके पुत्र कर्दम, पर्वत और नारद तथा कश्यपके दोनों ब्रह्मवादी पुत्र असित और वत्सर—ये चूँकि देवताओंको अधीन रख सकते हैं, इसलिये इन्हें 'देवर्षि' कहते हैं ।'

प्रश्न—देवर्षि नारद, असित, देवल और व्यास कौन हैं ? अर्जुनने खास तौरसे इन्हींके नाम क्यों गिनाये और इन्होंने भगवान् श्रीकृष्णकी महिमामें क्या कहा था ?

उत्तर—देवर्षि नारद, असित, देवल और व्यास—ये चारों ही भगवान्‌के यथार्थ तत्त्वके जाननेवाले उनके महान् प्रेमी भक्त और परम ज्ञानी महर्षि हैं ।* ये अपने कालके बहुत ही सम्मान्य तथा महान्

---

* नारद कई हुए हैं, परन्तु ये देवर्षि नारद एक ही हैं । इनको भगवान्‌का 'मन' कहा गया है । ये परम तत्त्वज्ञ, परम प्रेमी और ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी हैं । भक्तिके तो ये प्रधान आचार्य हैं । संसारपर इनका अमित उपकार है । प्रह्लाद, ध्रुव, अम्बरीष आदि महान् भक्तोंको इन्हींने भक्तिमार्गमें प्रवृत्त किया और श्रीमद्भागवत तथा वाल्मीकीय रामायण-जैसे दो अनूठे ग्रन्थ भी संसारको इन्हींकी कृपासे प्राप्त हुए । शुकदेव-जैसे महान् ज्ञानीको भी इन्होंने उपदेश दिया ।

ये पूर्वजन्ममें दासीपुत्र थे । इनकी माता महर्षियोंके जूँठे बरतन माँजा करती थीं । जब ये पाँच ही वर्षके थे, इनकी माताकी अकस्मात् मृत्यु हो गयी। तब ये सब प्रकारके सांसारिक बन्धनोंसे मुक्त होकर जंगलकी ओर निकल पड़े । वहाँ जाकर ये एक वृक्षके नीचे बैठकर भगवान्‌के स्वरूपका ध्यान करने लगे । ध्यान करते-करते इनकी वृत्तियाँ एकाग्र हो गयीं और इनके हृदयमें भगवान् प्रकट हो गये । परन्तु थोड़ी देरके लिये इन्हें अपने मनमोहन रूपकी झलक दिखलाकर भगवान् तुरंत अन्तर्धान हो गये । अब तो ये बहुत छटपटाये और मनको पुनः स्थिर करके भगवान्‌का ध्यान करने लगे । किन्तु भगवान्‌का वह रूप उन्हें फिर न दीख पड़ा । इतनेहीमें आकाशवाणी हुई कि 'हे दासीपुत्र ! इस जन्ममें फिर तुम्हें मेरा दर्शन न होगा । इस शरीरको त्यागकर मेरे पार्षदरूपमें तुम मुझे पुनः प्राप्त करोगे ।' भगवान्‌के इन वाक्योंको सुनकर इन्हें बड़ी सान्त्वना हुई और ये मृत्युकी बाट जोहते हुए निःसंग होकर पृथ्वीपर विचरने लगे । समय आनेपर इन्होंने अपने पाञ्चभौतिक शरीरको त्याग दिया और फिर दूसरे कल्पमें ये दिव्य विग्रह धारणकर ब्रह्माजीके मानसपुत्रके रूपमें पुनः अवतीर्ण हुए और तबसे ये अखण्ड ब्रह्मचर्यव्रतको धारणकर वीणा बजाते हुए भगवान्‌के गुणोंको गाते रहते हैं (श्रीमद्भागवत, स्कन्ध १ अ० ६) ।

महाभारत सभापर्वके पाँचवें अध्यायमें कहा है—

'देवर्षि नारदजी वेद और उपनिषदोंके मर्मज्ञ, देवगणोंसे पूजित, इतिहास-पुराणोंके विशेषज्ञ, अतीत कल्पोंकी बातोंको जाननेवाले, न्याय और धर्मके तत्त्वज्ञ, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, आयुर्वेदादिके जाननेवालोंमें श्रेष्ठ, परस्पर-विरुद्ध विविध विधिवाक्योंकी एकवाक्यता करनेमें प्रवीण, प्रभावशाली वक्ता, नीतिज्ञ, मेधावी, स्मरणशील, ज्ञानी, कवि, भले-बुरेको पृथक्-पृथक् पहचाननेमें चतुर, समस्त प्रमाणोंद्वारा वस्तुतत्त्वका निर्णय करनेमें समर्थ, न्यायके वाक्योंके गुण-दोषोंको जाननेवाले, बृहस्पतिजी-जैसे विद्वानोंकी शङ्काओंका समाधान करनेमें समर्थ, धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके तत्त्वको यथार्थरूपमें जाननेवाले, सारे ब्रह्माण्डमें और त्रिलोकीमें इधर-उधर ऊपर-नीचे जो कुछ होता है—सबको योगबलसे प्रत्यक्ष देखनेवाले, सांख्य और योगके विभागको जाननेवाले, देव-दैत्योंको वैराग्यका उपदेश करनेमें चतुर, सन्धि-विग्रहके तत्त्वको जाननेवाले, कर्तव्य-अकर्तव्यका विभाग करनेमें दक्ष, षाड्गुण्य-प्रयोगके विषयमें अनुपम, सकलशास्त्रोंमें प्रवीण,

सत्यवादी महापुरुष माने जाते हैं, इसीसे इनके नाम खास तौरपर गिनाये गये हैं और भगवान्‌की महिमा तो ये नित्य ही गाया करते हैं। इनके जीवनका प्रधान कार्य है—भगवान्‌की महिमाका ही विस्तार करना। महाभारतमें भी इनके तथा अन्यान्य ऋषि-महर्षियोंके भगवान्‌की महिमा गानेके कई प्रसङ्ग आये हैं। भगवान् श्रीकृष्णके सम्बन्धमें किस ऋषिने क्या कहा था, इसका संक्षेपसे भीष्मपर्वमें ही पितामह भीष्मने वर्णन किया है।*

युद्धविद्यामें निपुण, संगीत-विशारद और भगवान्‌के भक्त, विद्या और गुणोंके भण्डार, सदाचारके आधार, सबके हितकारी और सर्वत्र गतिवाले हैं।' उपनिषद्, पुराण और इतिहास इनकी पवित्र गाथाओंसे भरे हैं।

× × × ×

महर्षि असित और देवल पिता-पुत्र हैं। इनके सम्बन्धमें कूर्मपुराणमें वर्णन मिलता है—

एतानुत्पाद्य पुत्रांस्तु प्रजासन्तानकारणात्। कश्यपः पुत्रकामस्तु चचार सुमहत्तपः॥
तस्यैवं तपतोऽत्यर्थं प्रादुर्भूतौ सुताविमौ। वत्सरश्चासितश्चैव तावुभौ ब्रह्मवादिनौ॥
असितस्यैकपर्णायां ब्रह्मिष्ठः समपद्यत। नाम्ना वै देवलः पुत्रो योगाचार्यो महातपाः॥

(कूर्मपुराण, अध्याय १९। १, २, ५)

'कश्यप मुनि प्रजाविस्तारके हेतुसे इन पुत्रोंको उत्पन्न करके फिर पुत्र-प्राप्तिकी कामनासे महान् तप करने लगे। उनके इस प्रकार उग्र तप करनेसे ये 'वत्सर' और 'असित' नामके दो पुत्र हुए। वे दोनों ही ब्रह्मवादी (ब्रह्मवेत्ता एवं ब्रह्मका उपदेश करनेवाले) थे। 'असित' के उनकी पत्नी एकपर्णाके गर्भसे महातपस्वी योगाचार्य 'देवल' नामके वेदनिष्णात पुत्र उत्पन्न हुए।'

ये दोनों ऋग्वेदके मन्त्रद्रष्टा ऋषि हैं। देवल ऋषिने भगवान् शिवकी आराधना करके सिद्धि प्राप्त की थी। ये दोनों बड़े ही प्रवीण और प्राचीन महर्षि हैं। प्रत्यूषनामक वसुके भी देवल ऋषिनामक पुत्र थे (हरिवंश ३। ४४)।

× × × ×

श्रीवेदव्यासजी भगवान्‌के अंशावतार माने जाते हैं। इनका जन्म द्वीपमें हुआ था, इससे इनका 'द्वैपायन' नाम पड़ा; शरीर श्यामवर्ण है, इससे ये 'कृष्णद्वैपायन' कहलाये और वेदोंके विभाग करनेसे लोग इन्हें 'वेदव्यास' कहने लगे। ये महामुनि पराशरजीके पुत्र हैं। इनकी माताका नाम सत्यवती था। ये जन्मते ही तप करनेके लिये वनमें चले गये थे। ये भगवत्तत्त्वके पूर्ण ज्ञाता और अद्वितीय महाकवि हैं। ये ज्ञानके असीम और अगाध समुद्र हैं, विद्वत्ताकी पराकाष्ठा और कवित्वकी सीमा हैं। व्यासके हृदय और वाणीका विकास ही समस्त जगत्‌के ज्ञानका प्रकाश एवं अवलम्बन है।

ब्रह्मसूत्रकी रचना भगवान् व्यासने ही की। महाभारत-सदृश अलौकिक ग्रन्थका प्रणयन भगवान् व्यासने किया। अठारह पुराण और अनेक उपपुराण भगवान् व्यासने बनाये। भारतका इतिहास इस बातका साक्षी है। आज सारा संसार व्यासके ज्ञान-प्रसादसे अपने-अपने कर्तव्यका मार्ग खोज रहा है।

प्रत्येक द्वापरयुगमें वेदोंका विभाग करनेवाले भिन्न-भिन्न व्यास होते हैं। इसी वैवस्वत मन्वन्तरके ये पराशरपुत्र श्रीकृष्णद्वैपायन २८वें वेदव्यास हैं। इन्होंने अपने प्रधान शिष्य पैलको ऋग्वेद, वैशम्पायनको यजुर्वेद, जैमिनिको सामवेद और सुमन्तुको अथर्ववेद पढ़ाया। एवं सूतजातीय महान् बुद्धिमान् रोमहर्षण महामुनिको इतिहास और पुराण पढ़ाये।

* देवर्षि नारदने कहा—'भगवान् श्रीकृष्ण समस्त लोकोंको उत्पन्न करनेवाले और समस्त भावोंको जाननेवाले हैं तथा साध्योंके और देवताओंके ईश्वरोंके भी ईश्वर हैं।'

मार्कण्डेय मुनिने कहा—'श्रीकृष्ण यज्ञोंके यज्ञ, तपोंके तप और भूत-भविष्यत्-वर्तमानरूप हैं।'

भृगुने कहा—'ये देवताओंके देवता और परम पुरातन विष्णु हैं।'

व्यासने कहा—'ये इन्द्रको इन्द्रत्व देनेवाले, देवताओंके परम देवता हैं।'

अङ्गिराने कहा—'ये सब प्राणियोंकी रचना करनेवाले हैं।'

सनत्कुमार आदिने कहा—'इनके मस्तकसे आकाश और भुजाओंसे पृथ्वी व्याप्त है, तीनों लोक इनके पेटमें

प्रश्न—आप स्वयं भी मुझसे कह रहे हैं—इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इस कथनसे अर्जुन यह भाव दिखलाते हैं कि केवल उपर्युक्त ऋषिलोग ही कहते हैं, यह बात नहीं है; स्वयं आप भी मुझसे अपने अतुलनीय प्रभावकी बातें इस समय भी कह रहे हैं (४ । ६ से ९ तक; ५ । २९; ७ । ७से १२तक; ९ । ४से ११ और १६ से १९ तक; तथा १० । २,३,८) । अतः मैं जो आपको साक्षात् परमेश्वर समझता हूँ, यह ठीक ही है ।

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।
न हि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥ १४ ॥

हे केशव ! जो कुछ भी मेरे प्रति आप कहते हैं, इस सबको मैं सत्य मानता हूँ । हे भगवन् ! आपके लीलामय स्वरूपको न तो दानव जानते हैं और न देवता ही ॥ १४ ॥

प्रश्न—यहाँ 'केशव' सम्बोधनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—ब्रह्मा, विष्णु और महेश—इन तीनों शक्तियोंको क्रमशः 'क', 'अ' और 'ईश' (केश) कहते हैं और ये तीनों शक्तियाँ जिसकी हों, उसे 'केशव' कहते हैं । अतः

हैं; ये सनातन पुरुष हैं; तपसे अन्तःकरणकी शुद्धि होनेपर ही साधक इन्हें जान सकते हैं । आत्मदर्शनसे तृप्त ऋषिगणोंमें भी ये परमोत्तम माने जाते हैं और युद्धसे पीठ न दिखानेवाले उदार राजर्षियोंके भी ये ही परम गति हैं ।' (महा० भीष्म० अ० ६८)

महाभारत, वनपर्वके १२वें अध्यायमें भक्तिमती द्रौपदीका वचन है—

असित और देवल ऋषिने कहा है—'श्रीकृष्ण ही प्रजाकी पूर्व सृष्टिमें प्रजापति और सब लोकोंके एकमात्र रचयिता हैं ।'

परशुरामजीने कहा है—'ये ही विष्णु हैं, इन्हें कोई जीत नहीं सकता; ये ही यज्ञ हैं, यज्ञ करनेवाले हैं और यज्ञके द्वारा यजनीय हैं ।'

नारदजीने कहा है—'ये साध्यदेवोंके और समस्त कल्याणोंके ईश्वरोंके भी ईश्वर हैं ।'

'जैसे बालक अपने इच्छानुसार खिलौनोंसे खेला करता है, वैसे ही श्रीकृष्ण भी ब्रह्मा, शिव और इन्द्रादि देवताओं-को लेकर खेला करते हैं ।'

इसके अतिरिक्त महाभारतमें भगवान् व्यासने कहा है—'सौराष्ट्रदेशमें द्वारिका नामकी एक पवित्र नगरी है, उसमें साक्षात् पुराणपुरुषोत्तम मधुसूदन भगवान् विराजते हैं । वे स्वयं सनातनधर्मकी मूर्ति हैं । वेदज्ञ ब्राह्मण और आत्मज्ञानी पुरुष महात्मा श्रीकृष्णको साक्षात् 'सनातनधर्म' बतलाते हैं । भगवान् गोविन्द पवित्रोंमें परम पवित्र, पुण्योंमें परम पुण्य और मङ्गलोंके परम मङ्गल हैं । वे कमलनयन भगवान् श्रीकृष्ण तीनों लोकोंमें सनातन देवोंके देव हैं । वे ही मधुसूदन अक्षर, क्षर, क्षेत्रज्ञ, परमेश्वर और अचिन्त्यमूर्ति हैं ।' (महा० वन० ८८ । २४ से २७)

श्रीमद्भागवतमें देवर्षि नारदने धर्मराज युधिष्ठिरसे कहा है—'हे राजन् ! मनुष्योंमें तुमलोग बड़े ही भाग्यवान् हो, क्योंकि लोकोंको पवित्र करनेवाले मुनिगण तुम्हारे महलोंमें पधारते हैं और मानवचिह्नधारी साक्षात् परब्रह्म गूढ़रूपसे यहाँ विराजते हैं । अहा ! महात्मालोग जिस कैवल्य निर्वाण-सुखके अनुभवको खोजा करते हैं, ये श्रीकृष्ण वही परम ब्रह्म हैं । ये तुम्हारे प्रिय, सुहृद्, मामाके लड़के, पूज्य, पथप्रदर्शक एवं गुरु हैं; तब बताओ, तुम्हारे समान भाग्यशाली और कौन है ?' (श्रीमद्भा० ७ । १५ । ७५-७६)

यहाँ अर्जुन श्रीकृष्णको केशव कहकर यह भाव दिखलाते हैं कि आप समस्त जगत्‌की उत्पत्ति, पालन और संहार आदि करनेवाले साक्षात् परमेश्वर हैं, इसमें मुझे कुछ भी सन्देह नहीं है।

प्रश्न—यहाँ 'एतत्' और 'यत्' पद भगवान्‌के किस कथनका संकेत करते हैं और उस सबको सत्य मानना क्या है?

उत्तर—सातवें अध्यायके आरम्भसे लेकर इस अध्यायके ग्यारहवें श्लोकतक भगवान्‌ने जो अपने गुण, प्रभाव, स्वरूप, महिमा और ऐश्वर्य आदिकी बातें कही हैं, जिनसे श्रीकृष्णका अपनेको साक्षात् परमेश्वर स्वीकार करना सिद्ध होता है—उन समस्त वचनोंका सङ्केत करनेवाले 'एतत्' और 'यत्' पद हैं; तथा भगवान् श्रीकृष्णको समस्त जगत्‌के हर्त्ता, कर्त्ता, सर्वाधार, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान्, सबके आदि, सबके नियन्ता, सर्वान्तर्यामी, देवोंके भी देव, सच्चिदानन्दघन, साक्षात् पूर्णब्रह्म परमात्मा समझना और उनके उपदेश-को सत्य मानना तथा उसमें किञ्चिन्मात्र भी सन्देह न करना उन सब वचनोंको सत्य मानना है।

प्रश्न—'भगवन्' सम्बोधनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—विष्णुपुराणमें कहा है—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥
(६।५।७४)

'सम्पूर्ण ऐश्वर्य, सम्पूर्ण धर्म, सम्पूर्ण यश, सम्पूर्ण श्री, सम्पूर्ण ज्ञान और सम्पूर्ण वैराग्य—इन छहोंका नाम 'भग' है। ये सब जिसमें हों, उसे भगवान् कहते हैं। वहीं यह भी कहा है—

उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम्।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति॥
(६।५।७८)

'उत्पत्ति और प्रलयको, भूतोंके आने और जानेको तथा विद्या और अविद्याको जो जानता है, उसे ही 'भगवान्' कहना चाहिये।' अतएव यहाँ अर्जुन श्रीकृष्णको 'भगवन्' सम्बोधन देकर यह भाव दिखलाते हैं कि आप सर्वैश्वर्यसम्पन्न और सर्वज्ञ, साक्षात् परमेश्वर हैं—इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।

प्रश्न—यहाँ 'व्यक्तिम्' पद किसका वाचक है तथा उसे देवता और दानव नहीं जानते—इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करनेके लिये, धर्मकी स्थापना और भक्तोंको दर्शन देकर उनका उद्धार करनेके लिये, देवताओंका संरक्षण और राक्षसोंका संहार करनेके लिये एवं अन्यान्य कारणोंसे जो भगवान् भिन्न-भिन्न लीलामय स्वरूप धारण करते हैं, उन सबका वाचक यहाँ 'व्यक्तिम्' पद है। उनको देवता और दानव नहीं जानते—यह कहकर अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि मायासे नाना रूप धारण करनेकी शक्ति रखनेवाले दानवलोग तथा इन्द्रियातीत विषयोंका प्रत्यक्ष करनेवाले देवतालोग भी आपके उन दिव्य लीलामय रूपोंको, उनके धारण करनेकी दिव्य शक्ति और युक्तिको, उनके निमित्तको और उनकी लीलाओंके रहस्यको नहीं जान सकते; फिर साधारण मनुष्योंकी तो बात ही क्या है?

स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते॥ १५॥

हे भूतोंको उत्पन्न करनेवाले ! हे भूतोंके ईश्वर ! हे देवोंके देव ! हे जगत्के स्वामी ! हे पुरुषोत्तम ! आप स्वयं ही अपनेसे अपनेको जानते हैं ॥ १५ ॥

प्रश्न—'भूतभावन', 'भूतेश', 'देवदेव', 'जगत्पते' और 'पुरुषोत्तम'—इन पाँच सम्बोधनोंका क्या अर्थ है और यहाँ एक ही साथ पाँच सम्बोधनोंके प्रयोगका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जो समस्त प्राणियोंको उत्पन्न करता है, उसे 'भूतभावन' कहते हैं; जो समस्त प्राणियोंको नियममें चलानेवाला, सबका शासक हो—उसे 'भूतेश' कहते हैं; जो देवोंका भी पूजनीय देव हो, उसे 'देवदेव' कहते हैं; समस्त जगत्के पालन करनेवाले स्वामीको 'जगत्पति' कहते हैं तथा जो क्षर और अक्षर दोनोंसे उत्तम हो, उसे 'पुरुषोत्तम' कहते हैं। यहाँ अर्जुनने इन पाँचों सम्बोधनोंका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया है कि आप समस्त जगत्को उत्पन्न करनेवाले, सबके नियन्ता, सबके पूजनीय, सबका पालन-पोषण करनेवाले तथा 'अपरा' और 'परा' प्रकृतिनामक जो क्षर और अक्षर पुरुष हैं, उनसे उत्तम साक्षात् पुरुषोत्तम भगवान् हैं।

प्रश्न—आप स्वयं ही अपनेसे अपनेको जानते हैं, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इस कथनसे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आप समस्त जगत्के आदि हैं; आपके गुण, प्रभाव, लीला, माहात्म्य और रूप आदि अपरिमित हैं—इस कारण आपके गुण, प्रभाव, लीला, माहात्म्य और स्वरूप आदिको कोई भी दूसरा पुरुष पूर्णतया नहीं जान सकता; स्वयं आप ही अपने प्रभाव आदिको जानते हैं। और आपका यह जानना भी उस प्रकारका नहीं है, जिस प्रकार मनुष्य अपनी बुद्धिशक्तिके द्वारा शास्त्रादिकी सहायतासे अपनेसे भिन्न किसी दूसरी वस्तुके स्वरूपको जानते हैं। आप स्वयं ज्ञानस्वरूप हैं, अतः अपनेही-द्वारा अपनेको जानते हैं। आपमें ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयका कोई भेद नहीं है।

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि॥ १६॥

इसलिये आप ही उन अपनी दिव्य विभूतियोंको सम्पूर्णतासे कहनेमें समर्थ हैं, जिन विभूतियोंके द्वारा आप इन सब लोकोंको व्याप्त करके स्थित हैं ॥ १६ ॥

प्रश्न—'दिव्याः' विशेषणके सहित 'आत्मविभूतयः' पद किन विभूतियोंका वाचक है और उनको आप ही पूर्णतया कहनेके लिये योग्य हैं—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—समस्त लोकोंमें जो पदार्थ तेज, बल, विद्या, ऐश्वर्य, गुण और शक्तिसे सम्पन्न हैं, उन सबका वाचक यहाँ 'दिव्याः' विशेषणके सहित 'आत्मविभूतयः' पद है। तथा उनको पूर्णतया आप ही कहनेके लिये योग्य हैं, इस कथनका यह अभिप्राय है कि वे सब विभूतियाँ आपकी हैं—इसलिये, एवं आपके सिवा दूसरा कोई उनको पूर्णतया जानता ही नहीं—इसलिये भी, आपके अतिरिक्त दूसरा कोई भी व्यक्ति उनका पूर्णतया वर्णन नहीं कर सकता; अतएव कृपया आप ही उनका वर्णन कीजिये।

प्रश्न—जिन विभूतियोंद्वारा आप इन समस्त लोकोंको व्याप्त किये हुए स्थित हैं—इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इस कथनसे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि मैं केवल इसी लोकमें स्थित आपकी दिव्य विभूतियोंका वर्णन नहीं सुनना चाहता; मैं आपकी उन समस्त विभिन्न विभूतियोंका पूरा वर्णन सुनना चाहता हूँ, जिनसे विभिन्न रूपोंमें आप समस्त लोकोंमें परिपूर्ण हो रहे हैं।

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया॥ १७॥

हे योगेश्वर! मैं किस प्रकार निरन्तर चिन्तन करता हुआ आपको जानूँ और हे भगवन्! आप किन-किन भावोंमें मेरेद्वारा चिन्तन करने योग्य हैं॥ १७॥

प्रश्न—इस श्लोकमें अर्जुनके प्रश्नका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—अर्जुनने इसमें भगवान्से दो बातें पूछी हैं—(१) श्रद्धा और प्रेमके साथ निरन्तर आपका चिन्तन करता रहूँ और गुण, प्रभाव तथा तत्त्वके सहित आपको भलीभाँति जान सकूँ—ऐसा कोई उपाय बतलाइये। (२) जड-चेतन जितने भी चराचर पदार्थ हैं, उनमें मैं किन-किनको आपका स्वरूप समझकर उनमें चित्त लगाऊँ—इसकी व्याख्या कीजिये। अभिप्राय यह है कि किन-किन पदार्थोंमें किस प्रकारसे निरन्तर चिन्तन करके सहज ही भगवान्के गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यको समझा जा सकता है—इसके सम्बन्धमें अर्जुन पूछ रहे हैं।

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्॥ १८॥

हे जनार्दन! अपनी योगशक्तिको और विभूतिको फिर भी विस्तारपूर्वक कहिये, क्योंकि आपके अमृतमय वचनोंको सुनते हुए मेरी तृप्ति नहीं होती अर्थात् सुननेकी उत्कण्ठा बनी ही रहती है॥ १८॥

प्रश्न—यहाँ 'जनार्दन' सम्बोधनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—सभी मनुष्य अपनी-अपनी इच्छित वस्तुओंके लिये जिससे याचना करें, उसे 'जनार्दन' कहते हैं। यहाँ अर्जुन भगवान्को जनार्दन नामसे पुकारकर यह भाव दिखलाते हैं कि आपसे सभी मनुष्य अपनी इष्ट-वस्तुओंको चाहते हैं और आप सबको सब कुछ देनेमें समर्थ हैं; अतएव मैं भी आपसे जो कुछ प्रार्थना करता हूँ, कृपा करके उसे भी पूर्ण कीजिये।

प्रश्न—यहाँ 'योगम्' और 'विभूतिम्' पद किनके वाचक हैं ? तथा उन दोनोंको फिरसे विस्तारपूर्वक कहनेके लिये प्रार्थना करनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जिस अपनी ईश्वरीय भक्तिके द्वारा भगवान् स्वयं इस जगत्के रूपमें प्रकट होकर अनेक रूपोंमें विस्तृत होते हैं, उसका नाम 'योग' है और उन विभिन्न रूपोंके विस्तारका नाम 'विभूति' है। इसी अध्यायके ७वें श्लोकमें भगवान्ने इन दोनों शब्दोंका प्रयोग किया है, वहाँ इनका अर्थ, विस्तारपूर्वक लिखा जा चुका है। उस श्लोकमें इन दोनोंको तत्त्वसे जाननेका फल अविचल भक्तियोगके द्वारा भगवान्को प्राप्त होना बतलाया गया है। अतएव अर्जुन इन 'विभूति' और 'योग' दोनोंका रहस्य भलीभाँति जाननेकी इच्छासे बार-बार विस्तारपूर्वक वर्णन करनेके लिये भगवान्से प्रार्थना करते हैं।

प्रश्न—यहाँ अर्जुनके इस कथनका क्या अभिप्राय है कि 'आपके अमृतमय वचनोंको सुनते-सुनते मेरी तृप्ति ही नहीं होती ?'

उत्तर—इससे अर्जुन यह भाव दिखलाते हैं कि आपके वचनोंमें ऐसी माधुरी भरी है, उनसे आनन्दकी वह सुधाधारा बह रही है, जिसका पान करते-करते मन कभी अघाता ही नहीं। इस दिव्य अमृतका जितना ही पान किया जाता है, उतनी ही उसकी प्यास बढ़ती जा रही है। मन करता है कि यह अमीरस निरन्तर ही पीता रहूँ। अतएव भगवन्! यह मत सोचिये कि 'अमुक बात तो कही जा चुकी है, अथवा बहुत कुछ कहा जा चुका है, अब और क्या कहें।' बस, दया करके यह दिव्य अमृत बरसाते ही रहिये!

सम्बन्ध—अर्जुनके द्वारा योग और विभूतियोंका विस्तारपूर्वक पूर्णरूपसे वर्णन करनेके लिये प्रार्थना की जानेपर भगवान् पहले अपने विस्तारकी अनन्तता बतलाकर प्रधानतासे अपनी विभूतियोंका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं—

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे॥ १९॥

श्रीभगवान् बोले—हे कुरुश्रेष्ठ! अब मैं जो मेरी दिव्य विभूतियाँ हैं, उनको तेरे लिये प्रधानतासे कहूँगा; क्योंकि मेरे विस्तारका अन्त नहीं है॥ १९॥

प्रश्न—'कुरुश्रेष्ठ' सम्बोधनका क्या भाव है?

उत्तर—अर्जुनको 'कुरुश्रेष्ठ' नामसे सम्बोधित करके भगवान् यह भाव दिखलाते हैं कि तुम कुरुकुलमें सर्वश्रेष्ठ हो, इसलिये मेरी विभूतियोंका वर्णन सुननेके अधिकारी हो।

प्रश्न—'दिव्याः' विशेषणके सहित 'आत्मविभूतयः' पदका क्या अर्थ है और उन सबको अब प्रधानतासे कहूँगा—इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—जब सारा जगत् भगवान्का स्वरूप है, तब साधारणतया तो सभी वस्तुएँ उन्हींकी विभूति हैं; परन्तु वे दिव्य विभूति नहीं हैं। दिव्य विभूति उन्हीं वस्तुओं या प्राणियोंको समझना चाहिये, जिनमें भगवान्के तेज, बल, विद्या, ऐश्वर्य, कान्ति और शक्तिका विशेष विकास हो। भगवान् यहाँ ऐसी ही विभूतियोंके लिये कहते हैं कि मेरी ऐसी विभूतियाँ अनन्त हैं, अतएव सबका तो पूरा वर्णन हो ही नहीं सकता। उनमेंसे जो प्रधान-प्रधान हैं, यहाँ मैं उन्हींका वर्णन करूँगा।

प्रश्न—मेरे विस्तारका अन्त नहीं है—इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इससे भगवान् अर्जुनके १८ वें श्लोकमें कही हुई उस बातका उत्तर दे रहे हैं, जिसमें अर्जुनने विस्तारपूर्वक (पूर्णरूपसे) विभूतियोंका वर्णन करनेके लिये प्रार्थना की थी। भगवान् कहते हैं कि मेरी सारी विभूतियोंका तो वर्णन हो ही नहीं सकता; मेरी जो प्रधान-प्रधान विभूतियाँ हैं, उनका भी पूरा वर्णन सम्भव नहीं है।*

* विश्वमें अनन्त पदार्थों, भावों और विभिन्नजातीय प्राणियोंका विस्तार है। इन सबका यथाविधि नियन्त्रण और सञ्चालन करनेके लिये जगत्स्रष्टा भगवान्के अटल नियमके द्वारा विभिन्नजातीय पदार्थों, भावों और जीवोंके विभिन्न समष्टि विभाग कर दिये गये हैं और उन सबका ठीक नियमानुसार सृजन, पालन तथा संहारका कार्य चलता रहे—इसके लिये

सम्बन्ध—अब अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार भगवान् २० वेंसे ३९ वें श्लोकतक पहले अपनी विभूतियोंका वर्णन करते हैं—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥२०॥

हे अर्जुन ! मैं सब भूतोंके हृदयमें स्थित सबका आत्मा हूँ तथा सम्पूर्ण भूतोंका आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूँ ॥ २० ॥

प्रश्न—'गुडाकेश' सम्बोधनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'गुडाका' निद्राको कहते हैं, उसके स्वामीको 'गुडाकेश' कहते हैं। भगवान् अर्जुनको 'गुडाकेश' नामसे सम्बोधित करके यह भाव दिखलाते हैं कि तुम निद्रापर विजय प्राप्त कर चुके हो। अतएव इस समय आलस्य और निद्राका सर्वथा त्याग करके सावधानीके साथ मेरा उपदेश सुनो।

प्रश्न—'सर्वभूताशयस्थितः' विशेषणके सहित 'आत्मा' पद किसका वाचक है और वह 'आत्मा' मैं हूँ, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—समस्त प्राणियोंके हृदयमें स्थित जो 'चेतन' है, जिसको 'परा प्रकृति' और 'क्षेत्रज्ञ' भी कहते हैं (७।५; १३।१), उसीका वाचक यहाँ 'सर्वभूताशयस्थितः' विशेषणके सहित 'आत्मा' पद है। वह

प्रत्येक समष्टि-विभागके अधिकारी नियुक्त हैं। रुद्र, वसु, आदित्य, साध्य, विश्वेदेव, मरुत्, पितृदेव, मनु और सप्तर्षि आदि इन्हीं अधिकारियोंकी विभिन्न संज्ञाएँ हैं। इनके मूर्त और अमूर्त दोनों ही रूप माने गये हैं। ये सभी भगवान्की विभूतियाँ हैं।

सर्वे च देवा मनवः समस्ताः सप्तर्षयो ये मनुसूनवश्च । इन्द्रश्च योऽयं त्रिदशेशभूतो विष्णोरशेषास्तु विभूतयस्ताः ॥

(श्रीविष्णुपुराण ३ । १ । ४६)

'सभी देवता, समस्त मनु, सप्तर्षि तथा जो मनुके पुत्र और ये देवताओंके अधिपति इन्द्र हैं—ये सभी भगवान् विष्णुकी ही विभूतियाँ हैं।'

इनके अतिरिक्त, सृष्टि-सञ्चालनार्थ प्रजाके समष्टि-विभागोंमेंसे यथायोग्य निर्वाचन कर लिया जाता है। इस सारे निर्वाचनमें प्रधानतया उन्हींको लिया जाता है, जिनमें भगवान्के तेज, शक्ति, विद्या, ज्ञान और बलका विशेष विकास हो। इसीलिये भगवान्ने इन सबको भी अपनी विभूति बतलाया है।

वायुपुराणके ७०वें अध्यायमें वर्णन आता है कि 'महर्षि कश्यपके द्वारा जब प्रजाकी सृष्टि हो गयी, तब प्रजापतिने विभिन्नजातीय प्रजाओंमेंसे जो सबसे श्रेष्ठ और तेजस्वी थे, उनको चुनकर उन-उन जातियोंकी प्रजाका नियन्त्रण करनेके लिये उन्हें उनका राजा बना दिया। चन्द्रमाको नक्षत्र-ग्रह आदिका, बृहस्पतिको आङ्गिरसोंका, शुक्राचार्यको भार्गवोंका, विष्णुको आदित्योंका, पावकको वसुओंका, दक्षको प्रजापतियोंका, प्रह्लादको दैत्योंका, इन्द्रको मरुतोंका, नारायणको साध्योंका, शङ्करको रुद्रोंका, वरुणको जलोंका, कुबेरको यक्ष-राक्षसादिका, शूलपाणिको भूत-पिशाचोंका, सागरको नदियोंका, चित्ररथको गन्धर्वोंका, उच्चैःश्रवाको घोड़ोंका, सिंहको पशुओंका, साँड़को चौपायोंका, गरुडको पक्षियोंका, शेषको डसनेवालोंका, वासुकिको नागोंका, तक्षकको दूसरी जातिके सर्पों और नागोंका, हिमवान्को पर्वतोंका, विप्रचित्तिको दानवोंका, वैवस्वतको पितरोंका, पर्जन्यको सागर, नदी और मेघोंका, कामदेवको अप्सराओंका, संवत्सरको ऋतु और मासादिका, सुधामाको पूर्वका, केतुमान्को पश्चिमका और वैवस्वत मनुको सब मनुष्योंका राजा बनाया। इन्हीं सब अधिकारियोंद्वारा समस्त जगत्का सञ्चालन और पालन हो रहा है।' यहाँ इस अध्यायमें जो विभूतिवर्णन है, वह बहुत अंशमें इसीसे मिलता-जुलता है।

भगवान्‌का ही अंश होनेके कारण (१५ । ७) वस्तुतः भगवत्स्वरूप ही है (१३ । २) । इसीलिये भगवान्‌ने कहा है कि वह 'आत्मा मैं हूँ' ।

प्रश्न—'भूतानाम्' पद किसका वाचक है और उनका आदि, मध्य और अन्त मैं हूँ—इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—चराचर समस्त देहधारी प्राणियोंका वाचक यहाँ 'भूतानाम्' पद है । समस्त प्राणियोंका सृजन, पालन और संहार भगवान्‌से ही होता है । सब प्राणी भगवान्‌से ही उत्पन्न होते हैं, उन्हींमें स्थित हैं और प्रलयकालमें भी उन्हींमें लीन होते हैं; भगवान् ही सबके मूल कारण और आधार हैं—यही भाव दिखलानेके लिये भगवान्‌ने अपनेको उन सबका आदि, मध्य और अन्त बतलाया है ।

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥२१॥

मैं अदितिके बारह पुत्रोंमें विष्णु और ज्योतियोंमें किरणोंवाला सूर्य हूँ तथा मैं उनचास वायुदेवताओंका तेज* और नक्षत्रोंका अधिपति चन्द्रमा हूँ ॥ २१ ॥

प्रश्न—यहाँ 'आदित्य' शब्द किनका वाचक है और उनमें 'विष्णु' मैं हूँ—इस कथनका क्या अभिप्राय है,

उत्तर—अदितिके धाता, मित्र, अर्यमा, इन्द्र, वरुण, अंश, भग, विवस्वान्, पूषा, सविता, त्वष्टा और विष्णु नामक बारह पुत्रोंको द्वादश आदित्य कहते हैं ।† इनमें जो विष्णु हैं, वे इन सबके राजा हैं; अतएव वे अन्य सबसे श्रेष्ठ हैं । इसीलिये भगवान्‌ने विष्णुको अपना स्वरूप बतलाया है ।

प्रश्न—ज्योतियोंमें किरणोंवाला सूर्य मैं हूँ—इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—सूर्य, चन्द्रमा, तारे, बिजली और अग्नि आदि जितने भी प्रकाशमान पदार्थ हैं—उन सबमें सूर्य प्रधान हैं; इसलिये भगवान्‌ने समस्त ज्योतियोंमें सूर्यको अपना स्वरूप बतलाया है ।

प्रश्न—'वायुदेवताओंका 'मरीचि' शब्दवाच्य तेज मैं हूँ' इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

---

* उनचास मरुतोंके नाम ये हैं—सत्त्वज्योति, आदित्य, सत्यज्योति, तिर्यग्ज्योति, सज्योति, ज्योतिष्मान्, हरित, ऋतजित्, सत्यजित्, सुषेण, सेनजित्, सत्यमित्र, अभिमित्र, हरिमित्र, कृत, सत्य, ध्रुव, धर्ता, विधर्ता, विधारय, ध्वान्त, धुनि, उग्र, भीम, अभियु, साक्षिप, ईदृक्, अन्यादृक्, यादृक्, प्रतिकृत्, ऋक्, समिति, संरम्भ, ईदृक्ष, पुरुष, अन्यादृक्ष, चेतस, समिता, समिदृक्ष, प्रतिदृक्ष, मरुति, सरत, देव, दिश, यजुः, अनुदृक्, साम, मानुष और विश् (वायुपुराण, ६७ । १२३ से १३०) । गरुडपुराण तथा अन्यान्य पुराणोंमें कुछ नामभेद पाये जाते हैं । परन्तु 'मरीचि' नाम कहीं भी नहीं मिला है । इसीलिये 'मरीचि' को मरुत् न मानकर समस्त मरुद्गणोंका तेज या किरणें माना गया है ।

दक्षकन्या मरुत्वतीसे उत्पन्न पुत्रोंको भी मरुद्गण कहते हैं (हरिवंश) । भिन्न-भिन्न मन्वन्तरोंमें भिन्न-भिन्न नामोंसे तथा विभिन्न प्रकारसे इनके उत्पत्तिके वर्णन पुराणोंमें मिलते हैं ।

† धाता मित्रोऽर्यमा शक्रो वरुणस्त्वंश एव च । भगो विवस्वान् पूषा च सविता दशमस्तथा ॥
एकादशस्तथा त्वष्टा द्वादशो विष्णुरुच्यते । जघन्यजस्तु सर्वेषामादित्यानां गुणाधिकः ॥
(महा० आदि० ६५ । १५-१६)

उत्तर—दितिपुत्र उन्चास मरुद्गण दिति देवीके भगवद्-ध्यानरूप व्रतके तेजसे उत्पन्न हैं। उस तेजके ही कारण इनका गर्भमें विनाश नहीं हो सका था।* इसलिये उनके इस तेजको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है।

प्रश्न—'नक्षत्रोंका अधिपति चन्द्रमा मैं हूँ' इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—अश्विनी, भरणी और कृत्तिका आदि जो सत्ताईस नक्षत्र हैं, उन सबके स्वामी और सम्पूर्ण तारा-मण्डलके तथा ग्रहोंके राजा होनेसे चन्द्रमा भगवान्की प्रधान विभूति हैं। इसलिये यहाँ उनको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है।

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना॥२२॥

मैं वेदोंमें सामवेद हूँ, देवोंमें इन्द्र हूँ, इन्द्रियोंमें मन हूँ और भूतप्राणियोंकी चेतना अर्थात् जीवनी शक्ति हूँ॥२२॥

प्रश्न—'वेदोंमें सामवेद मैं हूँ' इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—ऋक्, यजुः, साम और अथर्व—इन चारों वेदोंमें सामवेद अत्यन्त मधुर संगीतमय तथा परमेश्वरकी अत्यन्त रमणीय स्तुतियोंसे युक्त है; अतः वेदोंमें उसकी प्रधानता है। इसलिये भगवान्ने उसको अपना स्वरूप बतलाया है।

प्रश्न—'देवोंमें मैं इन्द्र हूँ' इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, वायु आदि जितने भी देवता हैं, उन सबके शासक और राजा होनेके कारण इन्द्र सबमें प्रधान हैं। अतः उनको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है।

प्रश्न—'इन्द्रियोंमें मैं मन हूँ' इस कथनका क्या अभिप्राय है?

---

* कश्यपजीकी पत्नी दितिके बहुत-से पुत्रोंके नष्ट हो जानेपर उसने अपने पति कश्यपजीको अपनी सेवासे प्रसन्न किया। उसकी सम्यक् आराधनासे सन्तुष्ट हो तपस्वियोंमें श्रेष्ठ कश्यपजीने उसे वर देकर सन्तुष्ट किया। उस समय उसने इन्द्रके वध करनेमें समर्थ एक अति तेजस्वी पुत्रका वर माँगा। मुनिश्रेष्ठ कश्यपजीने उसे अभीष्ट वर दिया और उस अति उग्र वरको देते हुए वे उससे बोले—'यदि तुम नित्य भगवान्के ध्यानमें तत्पर रहकर अपने गर्भको पवित्रता और संयमके साथ सौ वर्षतक धारण कर सकोगी तो तुम्हारा पुत्र इन्द्रको मारनेवाला होगा।' उस गर्भको अपने वधका कारण जान देवराज इन्द्र भी विनयपूर्वक दितिकी सेवा करनेके लिये आ गये। उसकी पवित्रतामें कभी बाधा हो तो हम कुछ कर सकें, इसी प्रतीक्षामें इन्द्र वहाँ हर समय उपस्थित रहने लगे। अन्तमें सौ वर्षमें जब कुछ दिन ही कम रहे थे तब एक दिन दिति बिना ही चरण-शुद्धि किये अपने बिछौनेपर लेट गयी। उसी समय निद्राने उसे घेर लिया। तब इन्द्र मौका पाकर हाथमें वज्र लेकर उसकी कोखमें प्रवेश कर गये और उन्होंने उस महागर्भके सात टुकड़े कर डाले। इस प्रकार वज्रसे पीडित होनेसे वह गर्भ जोर-जोरसे रोने लगा। इन्द्रने उससे पुनः-पुनः कहा कि 'मत रो'। किन्तु जब वह गर्भ सात भागोंमें विभक्त होकर भी न मरा तो इन्द्रने अत्यन्त कुपित हो फिर एक-एकके सात-सात टुकड़े कर डाले। इस प्रकार एकसे उन्चास होकर भी वे जीवित ही रहे। तब इन्द्रने जान लिया ये मरेंगे नहीं। वे ही अति वेगवान् मरुत् नामक देवता हुए। इन्द्रने जो उनसे कहा था कि 'मा रोदीः' (मत रो), इसलिये वे मरुत् कहलाये (विष्णुपुराण, प्रथम अंश, अध्याय २१)। प्रत्येक मन्वन्तरके अन्तमें अट्ठाईस मरुत् अपना काम पूरा करके अनामय ब्रह्मलोकको प्राप्त हो जाते हैं। तब दूसरे अट्ठाईस अपने तपोबलसे उनके स्थानोंकी पूर्ति करते हैं। (हरिवंश ७। ४०, ४१)

उत्तर—चक्षु, श्रोत्र, त्वचा, रसना, घ्राण, वाक्, हाथ, पैर, उपस्थ और गुदा तथा मन—इन ग्यारह इन्द्रियोंमें मन अन्य दसों इन्द्रियोंका स्वामी, प्रेरक, उन सबसे सूक्ष्म और श्रेष्ठ होनेके कारण सबमें प्रधान है। इसलिये उसको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है।

प्रश्न—'भूतप्राणियोंकी चेतना मैं हूँ' इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—समस्त प्राणियोंमें जो चेतन-शक्ति है, जिसके कारण उनको दुःख-सुखका अनुभव होता एवं निर्जीव जड पदार्थोंसे उनकी विलक्षणता सिद्ध होती है, सातवें अध्यायके नवें श्लोकमें जिसे 'जीवन' कहा गया है, जिसके बिना प्राणी जीवित नहीं रह सकते और तेरहवें अध्यायके छठे श्लोकमें जिसकी गणना क्षेत्रके विकारोंमें की गयी है, उस प्राणशक्तिका नाम 'चेतना' है। यह प्राणियोंके अस्तित्वकी रक्षा करनेवाली प्रधान शक्ति है, इसलिये इसको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है।

रुद्राणां शङ्करश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम्॥२३॥

मैं एकादश रुद्रोंमें शङ्कर हूँ और यक्ष तथा राक्षसोंमें धनका स्वामी कुबेर हूँ। मैं आठ वसुओंमें अग्नि हूँ और शिखरवाले पर्वतोंमें सुमेरु पर्वत हूँ॥२३॥

प्रश्न—एकादश रुद्र कौन हैं और उनमें शङ्करको अपना रूप बतलानेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—हर, बहुरूप, त्र्यम्बक, अपराजित, वृषाकपि, शम्भु, कपर्दी, रैवत, मृगव्याध, शर्व और कपाली*—ये ग्यारह रुद्र कहलाते हैं। इनमें शम्भु अर्थात् शङ्कर सबके अधीश्वर (राजा) हैं, तथा कल्याणप्रदाता और कल्याणस्वरूप हैं। इसलिये उन्हें भगवान्‌ने अपना स्वरूप कहा है।

प्रश्न—यक्ष-राक्षसोंमें धनपति कुबेरको अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—कुबेर† यक्ष-राक्षसोंके राजा तथा उनमें श्रेष्ठ हैं और धनाध्यक्षके पदपर आरूढ़ प्रसिद्ध लोकपाल हैं, इसलिये भगवान्‌ने उनको अपना स्वरूप बतलाया है।

प्रश्न—आठ वसु कौन-से हैं और उनमें पावक (अग्नि) को अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है?

---

* हरश्च बहुरूपश्च त्र्यम्बकश्चापराजितः। वृषाकपिश्च शम्भुश्च कपर्दी रैवतस्तथा॥
मृगव्याधश्च शर्वश्च कपाली च विशांपते। एकादशैते कथिता रुद्रास्त्रिभुवनेश्वराः॥
(हरिवंश १। ३। ५१, ५२)

† ये पुलस्त्य ऋषिके पौत्र हैं और विश्रवाके औरस पुत्र हैं। भरद्वाजकन्या देववर्णिनीके गर्भसे इनका जन्म हुआ था। इनके दीर्घकालतक कठोर तप करनेपर ब्रह्माजीने प्रसन्न होकर इनसे वर माँगनेको कहा। तब इन्होंने विश्वके धनरक्षक होनेकी इच्छा प्रकट की। इसपर ब्रह्माजीने कहा कि 'मैं भी चौथे लोकपालकी नियुक्ति करना चाहता हूँ; अतएव इन्द्र, यम और वरुणकी भाँति तुम भी इस पदको ग्रहण करो।' उन्होंने ही इनको पुष्पकविमान दिया। तबसे ये ही धनाध्यक्ष हैं। इनकी विमाता कैकसीसे रावण-कुम्भकर्णादिका जन्म हुआ था (वा० रा० उत्तरकाण्ड स० ३)। नलकूबर और मणिग्रीव, जो नारद मुनिके शापसे जुड़े हुए अर्जुनके वृक्ष हो गये थे और जिनका भगवान् श्रीकृष्णने उद्धार किया था, कुबेरके ही पुत्र थे। (श्रीमद्भागवत १०। १०)

उत्तर—धर, ध्रुव, सोम, अहः, अनिल, अनल, प्रत्यूष और प्रभास—इन आठोंको वसु कहते हैं।* इनमें अनल (अग्नि) वसुओंके राजा हैं और देवताओंको हवि पहुँचानेवाले हैं। इसके अतिरिक्त वे भगवान्‌के मुख भी माने जाते हैं। इसीलिये अग्नि (पावक) को भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है।

प्रश्न—शिखरवालोंमें मेरु मैं हूँ, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—सुमेरु पर्वत, नक्षत्र और द्वीपोंका केन्द्र तथा सुवर्ण और रत्नोंका भण्डार माना जाता है; उसके शिखर अन्य पर्वतोंकी अपेक्षा ऊँचे हैं। इस प्रकार शिखरवाले पर्वतोंमें प्रधान होनेसे सुमेरुको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है।

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥२४॥

पुरोहितोंमें उनके मुखिया बृहस्पति मुझको जान। हे पार्थ ! मैं सेनापतियोंमें स्कन्द और जलाशयोंमें समुद्र हूँ ॥२४॥

प्रश्न—बृहस्पतिको अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—बृहस्पति † देवराज इन्द्रके गुरु, देवताओंके कुलपुरोहित और विद्या-बुद्धिमें सर्वश्रेष्ठ हैं तथा संसारके समस्त पुरोहितोंमें मुख्य और आङ्गिरसोंके राजा माने गये हैं। इसलिये भगवान्‌ने उनको अपना स्वरूप कहा है।

प्रश्न—स्कन्द कौन हैं और सेनापतियोंमें इनको भगवान्‌ने अपना स्वरूप क्यों बतलाया ?

उत्तर—स्कन्दका दूसरा नाम कार्तिकेय है। इनके छः मुख और बारह हाथ हैं। ये महादेवजीके पुत्र ‡ और देवताओंके सेनापति हैं। संसारके समस्त सेनापतियोंमें ये प्रधान हैं, इसीलिये भगवान्‌ने इनको अपना स्वरूप बतलाया है।

प्रश्न—जलाशयोंमें समुद्रको अपना स्वरूप बतलानेका क्या भाव है ?

उत्तर—पृथ्वीमें जितने भी जलाशय हैं, उन सबमें समुद्र § बड़ा और सबका राजा माना जाता है; अतः समुद्रकी प्रधानता है। इसलिये समस्त जलाशयोंमें समुद्रको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है।

---

* धरो ध्रुवश्च सोमश्च अहश्चैवानिलोऽनलः। प्रत्यूषश्च प्रभासश्च वसवोऽष्टौ प्रकीर्तिताः ॥ (महा० आदि० ६६।१८)

† ये महर्षि अङ्गिराके बड़े ही प्रतापी पुत्र हैं। स्वारोचिष मन्वन्तरमें बृहस्पति सप्तर्षियोंमें प्रधान थे (हरिवंश ७।१२, मत्स्यपुराण ९।८)। ये बड़े भारी विद्वान् हैं। वामन-अवतारमें भगवान्‌ने साङ्गोपाङ्ग वेद, षट्शास्त्र, स्मृति, आगम आदि सब इन्हींसे सीखे थे (बृहद्धर्मपुराण मध्य० १६।६९ से ७३)। इन्हींके पुत्र कचने शुक्राचार्यके यहाँ रहकर सञ्जीवनी विद्या सीखी थी। ये देवराज इन्द्रके पुरोहितका काम करते हैं। इन्होंने समय-समयपर इन्द्रको जो दिव्य उपदेश दिये हैं, उनका मनन करनेसे मनुष्यका कल्याण हो सकता है। महाभारत शान्ति और अनुशासनपर्वमें इनके उपदेशोंकी कथाएँ पढ़नी चाहिये।

‡ कहीं-कहीं इन्हें अग्निके तेजसे तथा दक्षकन्या स्वाहाके द्वारा उत्पन्न माना गया है (महाभारत वनपर्व २२३)। इनके सम्बन्धमें महाभारत और पुराणोंमें बड़ी ही विचित्र-विचित्र कथाएँ मिलती हैं।

§ ‘समुद्र’ से यहाँ ‘समष्टि समुद्र’ समझना चाहिये।

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥२५॥

मैं महर्षियोंमें भृगु और शब्दोंमें एक अक्षर अर्थात् ओङ्कार हूँ । सब प्रकारके यज्ञोंमें जपयज्ञ और स्थिर रहनेवालोंमें हिमालय पहाड़ हूँ ॥२५॥

प्रश्न—महर्षि कौन-कौन हैं ? और उनके क्या लक्षण हैं ?

उत्तर—महर्षि बहुत-से हैं, उनके लक्षण और उनमेंसे प्रधान दसके नाम ये हैं ।

ईश्वराः स्वयमुद्भूता मानसा ब्रह्मणः सुताः ।
यस्मान्न हन्यते मानैर्महान् परिगतः पुरः ॥
यस्मादृषन्ति ये धीरा महान्तं सर्वतो गुणैः ।
तस्मान्महर्षयः प्रोक्ता बुद्धेः परमदर्शिनः ॥
भृगुर्मरीचिरत्रिश्च अङ्गिराः पुलहः क्रतुः ।
मनुर्दक्षो वसिष्ठश्च पुलस्त्यश्चेति ते दश ॥
ब्रह्मणो मानसा ह्येत उद्भूताः स्वयमीश्वराः ।
प्रवर्तत ऋषेर्यस्मान् महांस्तस्मान्महर्षयः ॥
(वायुपुराण ५९ । ८२-८३, ८९-९०)

'ब्रह्माके ये मानस पुत्र ऐश्वर्यवान् (सिद्धियोंसे सम्पन्न) एवं स्वयं उत्पन्न हैं । परिमाणसे जिसका हनन न हो (अर्थात् जो अपरिमेय हो) और जो सर्वत्र व्याप्त होते हुए भी सामने (प्रत्यक्ष) हो, वही महान् है । जो बुद्धिके पार पहुँचे हुए (भगवत्प्राप्त) विज्ञजन गुणोंके द्वारा उस महान् (परमेश्वर) का सब ओरसे अवलम्बन करते हैं, वे इसी कारण ('महान्तम् ऋषन्ति इति महर्षयः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार) महर्षि कहलाते हैं । भृगु, मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलह, क्रतु, मनु, दक्ष, वसिष्ठ और पुलस्त्य—ये दस महर्षि हैं । ये सब ब्रह्माके मनसे स्वयं उत्पन्न हुए हैं और ऐश्वर्यवान् हैं । चूँकि ऋषि (ब्रह्माजी) से इन ऋषियोंके रूपमें स्वयं महान् (परमेश्वर) ही प्रकट हुए, इसलिये ये महर्षि कहलाये ।'

प्रश्न—महर्षियोंमें 'भृगु' को अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—महर्षियोंमें भृगुजी* मुख्य हैं । ये भगवान्के भक्त, ज्ञानी और बड़े तेजस्वी हैं; इसीलिये इनको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है ।

प्रश्न—'गिराम्' पदका क्या अर्थ है, 'एकम् अक्षरम्' से क्या लेना चाहिये और उसे भगवान्का रूप बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—किसी अर्थका बोध करानेवाले शब्दको 'गीः' (वाणी) कहते हैं और ओङ्कार (प्रणव) को 'एक अक्षर' कहते हैं (८ । १३) । जितने भी अर्थ-बोधक शब्द हैं, उन सबमें प्रणवकी प्रधानता है; क्योंकि

* ब्रह्माजीके मानसपुत्रोंमें भृगु एक प्रधान हैं । स्वायम्भुव और चाक्षुष आदि कई मन्वन्तरोंमें ये सप्तर्षियोंमें रह चुके हैं । इनके वंशजोंमें बहुत-से ऋषि, मन्त्रप्रणेता और गोत्रप्रवर्तक हुए हैं । महर्षियोंमें इनका बड़ा भारी प्रभाव है । इन्होंने दक्षकन्या ख्यातिसे विवाह किया था । उनसे धाता-विधाता नामके दो पुत्र और श्री नामकी एक कन्या हुई थी । यही श्री भगवान् नारायणकी पत्नी हुई । च्यवन ऋषि भी इन्हींके पुत्र थे । इनके ज्योतिष्मान्, सुकृति, हविष्मान्, तपोधृति, निरुत्सुक और अतिबाहु नामक पुत्र विभिन्न मन्वन्तरोंमें सप्तर्षियोंमें प्रधान रह चुके हैं । ये महान् मन्त्रप्रणेता महर्षि हैं । विष्णु-भगवान्के वक्षःस्थलपर लात मारकर इन्होंने ही उनकी सात्त्विक क्षमाकी परीक्षा ली थी । आज भी विष्णुभगवान् इस भृगुलताके चिह्नको अपने हृदयपर धारण किये हुए हैं । भृगु, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, अङ्गिरा, मरीचि, दक्ष, अत्रि और वसिष्ठ—ये प्रजा-सृष्टि करनेवाले होनेसे, 'नौ ब्रह्मा' माने गये हैं । प्रायः सभी पुराणोंमें भृगुजीकी चर्चा भरी है (इनकी कथा-का विस्तार हरिवंश, मत्स्यपुराण, शिवपुराण, ब्रह्माण्डपुराण, देवीभागवत, मार्कण्डेयपुराण, पद्मपुराण, वायुपुराण, महाभारत और श्रीमद्भागवतमें है) ।

'प्रणव' भगवान्‌का नाम है (१७ । २३)। प्रणवके जपसे भगवान्‌की प्राप्ति होती है । नाम और नामीमें अभेद माना गया है । इसलिये भगवान्‌ने 'प्रणव' को अपना स्वरूप बतलाया है ।

प्रश्न—समस्त यज्ञोंमें जपयज्ञको अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जपयज्ञमें हिंसाका सर्वथा अभाव है और जपयज्ञ भगवान्‌का प्रत्यक्ष करानेवाला है । मनुस्मृतिमें भी जपयज्ञकी बहुत प्रशंसा की गयी है ।* इसलिये समस्त यज्ञोंमें जपयज्ञकी प्रधानता है, यह भाव दिखलानेके लिये भगवान्‌ने जपयज्ञको अपना स्वरूप बतलाया है ।

प्रश्न—स्थावरोंमें हिमालयको अपना स्वरूप बतलानेका क्या भाव है ?

उत्तर—स्थिर रहनेवालोंको स्थावर कहते हैं । जितने भी पहाड़ हैं, सब अचल होनेके कारण स्थावर हैं । उनमें हिमालय सर्वोत्तम है । वह परम पवित्र तपोभूमि है और मुक्तिमें सहायक है । भगवान् नर-नारायण वहीं तपस्या कर चुके हैं । साथ ही, हिमालय सब पर्वतोंका राजा भी है । इसीलिये उसको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है ।

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥२६॥

मैं सब वृक्षोंमें पीपलका वृक्ष, देवर्षियोंमें नारद मुनि, गन्धर्वोंमें चित्ररथ और सिद्धोंमें कपिल मुनि हूँ ॥ २६ ॥

प्रश्न—वृक्षोंमें पीपलके वृक्षको अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—पीपलका वृक्ष† समस्त वनस्पतियोंमें राजा और पूजनीय माना गया है । इसलिये भगवान्‌ने उसको अपना स्वरूप बतलाया ।

प्रश्न—देवर्षि किनको कहते हैं, और उनमें नारदको अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—देवर्षिके लक्षण १२वें, १३वें श्लोकोंकी टीकामें दिये गये हैं; उन्हें वहाँ पढ़ना चाहिये । ऐसे देवर्षियोंमें नारदजी सबसे श्रेष्ठ हैं । साथ ही वे भगवान्‌के परम

---

* विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः । उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः ॥
ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञसमन्विताः । सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥ (मनु० २ । ८५-८६)
'विधि-यज्ञसे जपयज्ञ दसगुना, उपांशुजप सौगुना और मानसजप हजारगुना श्रेष्ठ कहा गया है । विधियज्ञसहित जो चार पाकयज्ञ हैं, वे सब जपयज्ञकी सोलहवीं कलाके बराबर भी नहीं हैं ।'

† पुराणोंमें अश्वत्थका बड़ा माहात्म्य मिलता है । स्कन्दपुराणमें है—

मूले विष्णुः स्थितो नित्यं स्कन्धे केशव एव च ।
नारायणस्तु शाखासु पत्रेषु भगवान् हरिः ॥
फलेऽच्युतो न सन्देहः सर्वदेवैः समन्वितः ॥
स एव विष्णुर्द्रुम एव मूर्तो महात्मभिः सेवितपुण्यमूलः ।
यस्याश्रयः पापसहस्रहन्ता भवेन्नृणां कामदुघो गुणाढ्यः ॥
(स्क० नागर० २४७ । ४१, ४२, ४४)

'पीपलकी जड़में विष्णु, तनेमें केशव, शाखाओंमें नारायण, पत्तोंमें भगवान् हरि और फलमें सब देवताओंसे युक्त अच्युत सदा निवास करते हैं—इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है । यह वृक्ष मूर्तिमान् विष्णुस्वरूप है; महात्मा पुरुष इस वृक्षके पुण्यमय मूलकी सेवा करते हैं । इसका गुणोंसे युक्त और कामनादायक आश्रय मनुष्योंके हजारों पापोंका नाश करनेवाला है ।'

इसके अतिरिक्त वैद्यक-ग्रन्थोंमें भी अश्वत्थकी बड़ी महिमा है—इसके पत्ते, फल, छाल सभी रोगनाशक हैं । रक्त-विकार, कफ, वात, पित्त, दाह, वमन, शोथ, अरुचि, विषदोष, खाँसी, विषम ज्वर, हिचकी, उरःक्षत, नासारोग, विसर्प, कृमि, कुष्ठ, त्वचा-व्रण, अग्निदग्धव्रण, बागी आदि अनेक रोगोंमें इसका उपयोग होता है ।

अनन्य भक्त, महान् ज्ञानी और निपुण मन्त्रद्रष्टा हैं। इसीलिये नारदजीको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है। नारदजीके सम्बन्धमें भी १२वें, १३वें श्लोककी टीका देखनी चाहिये।

प्रश्न—चित्ररथ गन्धर्वको अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—गन्धर्व एक देवयोनिविशेष है; ये देवलोकमें गान, वाद्य और नाट्याभिनय किया करते हैं। स्वर्गमें ये सबसे सुन्दर और अत्यन्त रूपवान् माने जाते हैं। 'गुह्यक लोक' से ऊपर और 'विद्याधर-लोक' से नीचे इनका 'गन्धर्वलोक' है। देवता और पितरोंकी भाँति गन्धर्व भी दो प्रकारके होते हैं—मर्त्य और दिव्य। जो मनुष्य मरकर पुण्यबलसे गन्धर्व-लोकको प्राप्त होते हैं, वे 'मर्त्य' हैं और जो कल्पके आरम्भसे ही गन्धर्व हैं, उन्हें 'दिव्य' कहते हैं। दिव्य गन्धर्वोंकी दो श्रेणियाँ हैं—'मौनेय' और 'प्राधेय'। महर्षि कश्यपकी दो पत्नियोंके नाम थे—मुनि और प्राधा। इन्हींसे अधिकांश अप्सराओं और गन्धर्वोंकी उत्पत्ति हुई। भीमसेन, उग्रसेन, सुपर्ण, वरुण, गोपति, धृतराष्ट्र, सूर्यवर्चा, सत्यवाक्, अर्कपर्ण, प्रयुत, भीम, चित्ररथ, शालिशिरा, पर्जन्य, कलि और नारद—ये सोलह देव-गन्धर्व 'मुनि' से उत्पन्न होनेके कारण 'मौनेय' कहलाये। और सिद्ध, पूर्ण, बर्हि, पूर्णायु, ब्रह्मचारी, रतिगुण, सुपर्ण, विश्वावसु, सुचन्द्र, भानु, अतिबाहु, हाहा, हूहू और तुम्बुरु—ये चौदह 'प्राधा' से उत्पन्न होनेके कारण 'प्राधेय' कहलाये (महाभारत, आदिपर्व अ० ६५)। इनमें हाहा, हूहू, विश्वावसु, तुम्बुरु और चित्ररथ आदि प्रधान हैं। और इनमें भी चित्ररथ सबके अधिपति माने जाते हैं। चित्ररथ दिव्य संगीत-विद्याके पारदर्शी और अत्यन्त ही निपुण हैं। इसीसे भगवान्‌ने इनको अपना स्वरूप बतलाया है। (इनकी कथाएँ अग्निपुराण, मार्कण्डेयपुराण, महाभारत-आदिपर्व, वायुपुराण, कालिकापुराण आदिमें हैं।)

प्रश्न—सिद्ध किसको कहते हैं और उन सबमें कपिल मुनिको अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—जो सर्व प्रकारकी स्थूल और सूक्ष्म जगत्‌की सिद्धियोंको प्राप्त हों तथा धर्म, ज्ञान, ऐश्वर्य और वैराग्य आदि श्रेष्ठ गुणोंसे पूर्णतया सम्पन्न हों—उनको सिद्ध कहते हैं। ऐसे हजारों सिद्ध हैं, जिनमें भगवान् कपिल सर्वप्रधान हैं। भगवान् कपिल साक्षात् ईश्वरके अवतार हैं। महायोगी कर्दममुनिकी पत्नी देवहूतिको ज्ञान प्रदान करनेके लिये इन्होंने उन्हींके गर्भसे अवतार लिया था। इनके प्राकट्यके समय स्वयं ब्रह्माजीने आश्रममें आकर श्रीदेवहूतिजीसे कहा था—

अयं सिद्धगणाधीशः सांख्याचार्यैः सुसम्मतः।
लोके कपिल इत्याख्यां गन्ता ते कीर्तिवर्धनः॥

(श्रीमद्भा० ३। २४। १९)

'ये सिद्धगणोंके अधीश्वर और सांख्यके आचार्योंद्वारा पूजित होकर तुम्हारी कीर्तिको बढ़ावेंगे और लोकमें 'कपिल' नामसे प्रसिद्ध होंगे।'

ये स्वभावसे ही नित्य ज्ञान, ऐश्वर्य, धर्म और वैराग्य आदि गुणोंसे सम्पन्न हैं। इनकी बराबरी करनेवाला भी दूसरा कोई सिद्ध नहीं है, फिर इनसे बढ़कर तो कोई हो ही कैसे सकता है? इसीलिये भगवान्‌ने समस्त सिद्धोंमें कपिल मुनिको अपना स्वरूप बतलाया है।

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम्॥२७॥

घोड़ोंमें अमृतके साथ उत्पन्न होनेवाला उच्चैःश्रवा नामक घोड़ा, श्रेष्ठ हाथियोंमें ऐरावत नामक हाथी और मनुष्योंमें राजा मुझको जान ॥ २७ ॥

प्रश्न—घोड़ोंमें उच्चैःश्रवा घोड़ेको अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—उच्चैःश्रवाकी उत्पत्ति अमृतके लिये समुद्रका मथन करते समय अमृतके साथ हुई थी । अतः यह चौदह रत्नोंमें गिना जाता है और समस्त घोड़ोंका राजा समझा जाता है । इसीलिये इसको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है ।

प्रश्न—गजेन्द्रोंमें ऐरावत नामक हाथीको अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—बहुत-से हाथियोंमें जो श्रेष्ठ हो, उसे गजेन्द्र कहते हैं । ऐसे गजेन्द्रोंमें भी ऐरावत हाथी, जो इन्द्रका वाहन है, सर्वश्रेष्ठ और 'गज' जातिका राजा माना गया है । इसकी उत्पत्ति भी उच्चैःश्रवा घोड़ेकी भाँति समुद्रमन्थनसे ही हुई थी । इसलिये इसको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है ।

प्रश्न—मनुष्योंमें राजाको अपना स्वरूप कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—शास्त्रोक्त लक्षणोंसे युक्त धर्मपरायण राजा अपनी प्रजाको पापोंसे हटाकर धर्ममें प्रवृत्त करता है और सबकी रक्षा करता है, इस कारण अन्य मनुष्योंसे राजा श्रेष्ठ माना गया है । ऐसे राजामें भगवान्‌की शक्ति साधारण मनुष्योंकी अपेक्षा अधिक रहती है । इसीलिये भगवान्‌ने राजाको अपना स्वरूप कहा है ।

प्रश्न—साधारण राजाओंको न लेकर यहाँ यदि प्रत्येक मन्वन्तरमें होनेवाले मनुओंको लें, जो अपने-अपने समयके मनुष्योंके अधिपति होते हैं, तो क्या आपत्ति है ? इस मन्वन्तरके लिये प्रजापतिने वैवस्वत मनुको मनुष्योंका अधिपति बनाया था, यह कथा प्रसिद्ध है ।

मनुष्याणामधिपतिं चक्रे वैवस्वतं मनुम् ।
(वायुपुराण ७० । १८)

उत्तर—कोई आपत्ति नहीं है । वैवस्वत मनुको 'नराधिप' माना जा सकता है ।

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥ २८ ॥

मैं शस्त्रोंमें वज्र और गौओंमें कामधेनु हूँ । शास्त्रोक्त रीतिसे सन्तानकी उत्पत्तिका हेतु कामदेव हूँ, और सर्पोंमें सर्पराज वासुकि हूँ ॥ २८ ॥

प्रश्न—शस्त्रोंमें वज्रको अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जितने भी शस्त्र हैं, उन सबमें वज्र अत्यन्त श्रेष्ठ है; क्योंकि वज्रमें दधीचि ऋषिके तपका तथा साक्षात् भगवान्‌का तेज विराजमान है और उसे अमोघ माना गया है (श्रीमद्भा० ६ । ११ । १९-२०) इसलिये वज्रको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है ।

प्रश्न—दूध देनेवाली गायोंमें कामधेनुको अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—कामधेनु समस्त गौओंमें श्रेष्ठ दिव्य गौ है,

यह देवता तथा मनुष्य सभीकी समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाली है और इसकी उत्पत्ति भी समुद्रमन्थनसे हुई है; इसलिये भगवान्ने इसको अपना स्वरूप बतलाया है।

प्रश्न—कन्दर्पके साथ 'प्रजनः' विशेषण देनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'कन्दर्प' शब्द कामदेवका वाचक है। इसके साथ 'प्रजनः' विशेषण देकर भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि जो धर्मानुकूल सन्तानोत्पत्तिके लिये उपयोगी है, वही 'काम' मेरी विभूति है। यही भाव सातवें अध्यायके ११वें श्लोकमें भी—कामके साथ 'धर्माविरुद्धः' विशेषण देकर दिखलाया गया है। अभिप्राय यह है कि इन्द्रियाराम मनुष्योंके द्वारा विषय-सुखके लिये उपभोगमें आनेवाला काम निकृष्ट है, वह धर्मानुकूल नहीं है; परन्तु शास्त्रविधिके अनुसार सन्तानकी उत्पत्तिके लिये इन्द्रियजयी पुरुषोंके द्वारा प्रयुक्त होनेवाला काम ही धर्मानुकूल होनेसे श्रेष्ठ है। अतः उसको भगवान्की विभूतियोंमें गिना गया है।

प्रश्न—सर्पोंमें वासुकिको अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—वासुकि समस्त सर्पोंके राजा और भगवान्के भक्त होनेके कारण सर्पोंमें श्रेष्ठ माने गये हैं, इसलिये उनको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है।

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम्॥२९॥

मैं नागोंमें शेषनाग, जलचरोंमें और जलदेवताओंमें उनका अधिपति वरुण देवता हूँ और पितरोंमें अर्यमा नामक पितरोंका ईश्वर तथा शासन करनेवालोंमें यमराज मैं हूँ॥ २९॥

प्रश्न—नागोंमें शेषनागको अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—शेषनाग समस्त नागोंके राजा और हजार फणोंसे युक्त हैं, तथा भगवान्की शय्या बनकर और नित्य उनकी सेवामें लगे रहकर उन्हें सुख पहुँचानेवाले, उनके परम अनन्य भक्त और बहुत बार भगवान्के साथ-साथ अवतार लेकर उनकी लीलामें सम्मिलित रहनेवाले हैं तथा इनकी उत्पत्ति भी भगवान्से ही मानी गयी है।* इसलिये भगवान्ने उनको अपना स्वरूप बतलाया है।

प्रश्न—जलचरोंमें और जलदेवताओंमें वरुणको अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—वरुण समस्त जलचरोंके और जलदेवताओंके अधिपति, लोकपाल, देवता और भगवान्के भक्त होनेके कारण सबमें श्रेष्ठ माने गये हैं। इसलिये उनको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है।

प्रश्न—पितरोंमें अर्यमाको अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—कव्यवाह, अनल, सोम, यम, अर्यमा

---

* शेषं चाकल्पयद्देवमनन्तं विश्वरूपिणम्।
यो धारयति भूतानि धरां चेमां सपर्वताम्॥ (महा० भीष्म० ६७। १३)

'इन परमदेवने विश्वरूप अनन्त नामक देवस्वरूप शेषनागको उत्पन्न किया, जो पर्वतोंके सहित इस सारी पृथ्वीको तथा भूतमात्रको धारण किये हुए हैं।'

प्रश्न—नियमन करनेवालोंमें यमको अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—मर्त्य और देव-जगत्‌में, जितने भी नियमन करनेवाले अधिकारी हैं, यमराज उन सबमें बढ़कर हैं। इनके सभी दण्ड न्याय और धर्मसे युक्त, हितपूर्ण और पापनाशक होते हैं। ये भगवान्‌के ज्ञानी भक्त और लोकपाल भी हैं। इसीलिये भगवान्‌ने इनको अपना स्वरूप बतलाया है।†

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम्॥३०॥

मैं दैत्योंमें प्रह्लाद और गणना करनेवाले ज्योतिषियोंका समय हूँ तथा पशुओंमें मृगराज सिंह और पक्षियोंमें मैं गरुड हूँ॥३०॥

---

* कव्यवाहोऽनलः सोमो यमश्चैवार्यमा तथा।
अग्निष्वात्ता बर्हिषदस्त्रयश्चान्त्या ह्यमूर्तयः॥ (शिवपुराण, धर्म० ६३। २)

कहीं-कहीं इनके नाम इस प्रकार मिलते हैं—सुकाल, आङ्गिरस, सुस्वधा, सोमपा, वैराज, अग्निष्वात्त और बर्हिषद् (हरिवंश, पू० अ० १८)। मन्वन्तरभेदसे नामोंका यह भेद सम्भव है।

† यमराजके दरबारमें न किसीके साथ किसी भी कारणसे कोई पक्षपात ही होता है और न किसी प्रकारकी सिफारिश, रिश्वत या खुशामद ही चलती है। इनके नियम इतने कठोर हैं कि उनमें जरा भी रियायतके लिये गुंजाइश नहीं है। इसीलिये ये 'नियमन करनेवालोंमें सबसे बढ़कर' माने जाते हैं। इन्द्र, अग्नि, निर्ऋति, वरुण, वायु, कुबेर, ईशान, ब्रह्मा, अनन्त और यम—ये दस दिक्पाल हैं (बृहद्धर्मपुराण, उ० ९)। ये समष्टिजगत्‌की सब दिशाओंके संरक्षक हैं।

कहते हैं कि पुण्यात्मा जीवको ये यमराज स्वाभाविक ही सौम्यमूर्ति दीखते हैं और पापियोंको अत्यन्त लाल नेत्र, विकराल दाढ़, बिजली-सी लपलपाती हुई जीभ और ऊपरको उठे हुए भयानक बालोंसे युक्त अत्यन्त भयानक काली आकृति-वाले तथा हाथमें कालदण्ड उठाये हुए दिखलायी देते हैं (स्कन्दपुराण, काशीखण्ड पू० ८। ५५, ५६)।

ये परम ज्ञानी हैं। नचिकेताको इन्होंने आत्मतत्त्वका ज्ञान दिया था। कठोपनिषद्, महाभारत-अनुशासनपर्व और वाराहपुराणमें नचिकेताकी कथा मिलती है। साथ ही ये बड़े ही भगवद्भक्त हैं। श्रीमद्भागवत, छठे स्कन्धके तीसरे अध्यायमें विष्णुपुराण, तृतीय अंशके सातवें अध्यायमें और स्कन्दपुराण काशीखण्ड पूर्वार्धके आठवें अध्यायमें इन्होंने अपने दूतोंके सामने जो भगवान्‌की और भगवन्नामकी महिमा गायी है, वह अवश्य ही पढ़ने योग्य है।

परन्तु इनको भी छकानेवाले पुरुष कभी-कभी हो जाते हैं। स्कन्दपुराणमें कथा आती है कि कीर्तिमान् नामक एक चक्रवर्ती भक्त राजा थे। उनके सदुपदेशसे समस्त प्रजा सदाचार और भक्तिसे पूर्ण हो गयी। उनके पुण्यफलसे इनके यहाँ जो पहलेके जीव थे, उन सबकी सद्गति होने लगी और वर्तमानमें मरनेवाले सब लोग परम गतिको प्राप्त होने लगे। इससे नये जीवोंका इनके यहाँ जाना ही बंद हो गया। इस प्रकार यमलोक सूना हो गया! तब इन्होंने जाकर ब्रह्माजीसे कहा, उन्होंने इनको विष्णुभगवान्‌के पास भेजा। भगवान् विष्णुने कहा, 'जबतक ये धर्मात्मा भक्त कीर्तिमान् राजा जीवित हैं, तबतक तो ऐसा ही होगा; परन्तु संसारमें ऐसा सदा चलता नहीं (स्कन्दपुराण, विष्णु० वै० ११। १२। १३)!'

प्रश्न—दैत्योंमें प्रह्लादको अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—दितिके वंशजोंको दैत्य कहते हैं । उन सबमें प्रह्लाद उत्तम माने गये हैं; क्योंकि वे सर्वसद्गुण-सम्पन्न, परम धर्मात्मा और भगवान्‌के परम श्रद्धालु, निष्काम, अनन्यप्रेमी भक्त हैं तथा दैत्योंके राजा हैं । इसलिये भगवान्‌ने उनको अपना स्वरूप बतलाया है ।

प्रश्न—यहाँ 'काल' शब्द किसका वाचक है ? और उसे अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—यहाँ 'काल' शब्द समयका वाचक है । यह गणितविद्याके जाननेवालोंकी गणनाका आधार है । इसलिये कालको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है ।

प्रश्न—सिंह तो हिंसक पशु है, इसकी गणना भगवान्‌ने अपनी विभूतियोंमें कैसे की ?

उत्तर—सिंह सब पशुओंका राजा माना गया है । वह सबसे बलवान्, तेजस्वी, शूरवीर और साहसी होता है । इसलिये भगवान्‌ने सिंहको अपनी विभूतियोंमें गिना है ।

प्रश्न—पक्षियोंमें गरुड़को अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—विनताके पुत्र गरुड़जी पक्षियोंके राजा और उन सबसे बड़े होनेके कारण पक्षियोंमें श्रेष्ठ माने गये हैं । साथ ही ये भगवान्‌के वाहन, उनके परम भक्त और अत्यन्त पराक्रमी हैं । इसलिये गरुड़को भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है ।

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥३१॥

मैं पवित्र करनेवालोंमें वायु और शस्त्रधारियोंमें श्रीराम हूँ तथा मछलियोंमें मगर हूँ और नदियोंमें श्रीभागीरथी गङ्गाजी हूँ ॥३१॥

प्रश्न—'पवताम्' पदका अर्थ यदि वेगवान् मान लिया जाय तो क्या आपत्ति है ?

उत्तर—यद्यपि व्याकरणकी दृष्टिसे 'वेगवान्' अर्थ नहीं बनता । परन्तु टीकाकारोंने यह अर्थ भी माना है । इसलिये कोई मानें तो मान भी सकते हैं । वायु वेगवानोंमें (तीव्र गतिसे चलनेवालोंमें) भी सर्वश्रेष्ठ माना गया है और पवित्र करनेवालोंमें भी । अतः दोनों प्रकारसे ही वायुकी श्रेष्ठता है ।

प्रश्न—यहाँ 'राम' शब्द किसका वाचक है और उसको अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'राम' शब्द दशरथपुत्र भगवान् श्रीरामचन्द्रजी-का वाचक है । उनको अपना स्वरूप बतलाकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि भिन्न-भिन्न युगोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारकी लीला करनेके लिये मैं ही भिन्न-भिन्न रूप धारण करता हूँ । श्रीराममें और मुझमें कोई अन्तर नहीं है, स्वयं मैं ही रामरूपमें अवतीर्ण होता हूँ ।

प्रश्न—मछलियोंमें मगरको अपनी विभूति बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जितने प्रकारकी मछलियाँ होती हैं, उन सबमें मगर बहुत बड़ा और बलवान् होता है;

श्रीगङ्गाजी



स्रोतसामस्मि जाह्नवी (१०।३१)

इसी विशेषताके कारण मछलियोंमें मगरको भगवान्‌ने अपनी विभूति बतलाया है।

प्रश्न—नदियोंमें जाह्नवी (गङ्गा) को अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जाह्नवी अर्थात् श्रीभागीरथी गङ्गाजी समस्त नदियोंमें परम श्रेष्ठ हैं; ये श्रीभगवान्‌के चरणोदकसे उत्पन्न, परम पवित्र हैं।* पुराण और इतिहासोंमें इनका बड़ा भारी माहात्म्य बतलाया गया है।

इसके अतिरिक्त यह बात भी है कि एक बार भगवान् विष्णु स्वयं ही द्रवरूप होकर बहने लगे थे और ब्रह्माजीके कमण्डलुमें जाकर गङ्गारूप हो गये थे। इस प्रकार साक्षात् ब्रह्मद्रव होनेके कारण भी गङ्गाजीका अत्यन्त माहात्म्य है।† इसीलिये भगवान्‌ने गङ्गाको अपना स्वरूप बतलाया है।

---

* धातुः कमण्डलुजलं तदुरुक्रमस्य पादावनेजनपवित्रतया नरेन्द्र।
स्वर्धुन्यभून्नभसि सा पतती निमार्ष्टि लोकत्रयं भगवतो विशदेव कीर्तिः॥

(श्रीमद्भा० ८। २१। ४)

'हे राजन्! वह ब्रह्माजीके कमण्डलुका जल, भगवान्‌के चरणोंको धोनेसे पवित्रतम होकर स्वर्ग-गङ्गा (मन्दाकिनी) हो गया। वह गङ्गा भगवान्‌की धवल कीर्तिके समान आकाशसे पृथ्वीपर गिरकर अबतक तीनों लोकोंको पवित्र कर रही है।'

न ह्येतत्परमाश्चर्यं स्वर्धुन्या यदिहोदितम्।
अनन्तचरणाम्भोजप्रसूताया भवच्छिदः॥
सन्निवेश्य मनो यस्मिञ्छ्रद्धया मुनयोऽमलाः।
त्रैगुण्यं दुस्त्यजं हित्वा सद्यो यातास्तदात्मताम्॥ (श्रीमद्भा० ९। ९। १४-१५)

'जिन अनन्त भगवान्‌के चरण-कमलोंमें श्रद्धापूर्वक भलीभाँति चित्तको लगाकर निर्मलहृदय मुनिगण तुरंत ही दुस्त्यज त्रिगुणोंके प्रपञ्चको त्याग कर उनके स्वरूप बन गये हैं, उन्हीं चरण-कमलोंसे उत्पन्न हुई, भव-बन्धनको काटनेवाली भगवती गङ्गाजीका जो माहात्म्य यहाँ बतलाया गया है, इसमें कोई बड़े आश्चर्यकी बात नहीं है।'

† जगज्जननी महेश्वरी दक्षकन्या सतीके देह-त्याग करनेपर जब भगवान् शिव तप करने लगे, तब देवताओंने जगन्माताकी स्तुति की। महेश्वरी प्रकट हुईं। देवताओंने पुनः शङ्करजीको वरण करनेके लिये उनसे प्रार्थना की। देवीने कहा—'मैं दो रूपोंमें सुमेरुकन्या मेनकाके गर्भसे शैलराज हिमालयके घर प्रकट होऊँगी!' तदनन्तर वे पहले गङ्गारूपमें प्रकट हुईं। देवता उनकी स्तुति करते हुए उन्हें देवलोकमें ले गये। वहाँ वे मूर्तिमती हो शङ्करजीके साथ दिव्य कैलासधामको पधार गयीं और ब्रह्माजीकी प्रार्थनापर अन्तर्धानांशसे अर्थात् निराकाररूपसे उनके कमण्डलुमें स्थित हो गयीं (अन्तर्धानांशभागेन स्थिता ब्रह्मकमण्डलौ)। ब्रह्माजी कमण्डलुमें उन्हें ब्रह्मलोक ले गये। तदनन्तर एक बार भगवान् शङ्करजी गङ्गाजीसहित वैकुण्ठमें पधारे। वहाँ भगवान् विष्णुके अनुरोध करनेपर उन्होंने गान किया। वे जो रागिनी गाते, वही मूर्तिमती होकर प्रकट हो जाती। वे 'श्री' रागिनी गाने लगे, तब वह भी प्रकट हो गयीं। उस रागिनीसे मुग्ध होकर रसमय भगवान् नारायण स्वयं रसरूप होकर बह गये। ब्रह्माजीने सोचा—ब्रह्मसे उत्पन्न संगीत ब्रह्ममय है और स्वयं ब्रह्म हरि भी इस समय द्रवीभूत हो गये हैं 'अतएव ब्रह्ममयी गङ्गाजी इन्हें संवरण कर लें।' यह विचारकर उन्होंने ब्रह्मद्रवसे कमण्डलुका स्पर्श कराया। स्पर्श होते ही सारा जल गङ्गाजीमें मिल गया और निराकारा गङ्गाजी जलमयी हो गयीं। ब्रह्माजी फिर ब्रह्मलोकमें चले गये। इसके बाद जब भगवान् विष्णुने वामन-अवतारमें अपने सात्त्विक पादसे समस्त द्युलोकको नाप लिया, तब ब्रह्माजीने कमण्डलुके उसी जलसे भगवच्चरणको स्नान कराया। कमण्डलुका जल प्रदान करते ही वह चरण वहीं स्थिर हो गया और भगवान्‌के अन्तर्धान होनेपर भी उनका दिव्यचरण वहीं स्वर्ग-गङ्गाके साथ रह गया। उसीसे उत्पन्न गङ्गाजीको महान् तप करके भगीरथजी अपने पूर्वपुरुषोंका उद्धार करनेके लिये इस लोकमें लाये। यहाँ भी श्रीशङ्करजीने ही उनको मस्तकमें धारण किया। गङ्गाजीके माहात्म्यकी यह बड़ी ही सुन्दर, उपदेशप्रद और विचित्र कथा बृहद्धर्मपुराण मध्य खण्डके १२वें अध्यायसे २८वें अध्यायतक पढ़नी चाहिये।

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥३२॥

हे अर्जुन ! सृष्टियोंका आदि और अन्त तथा मध्य भी मैं ही हूँ। मैं विद्याओंमें अध्यात्मविद्या अर्थात् ब्रह्मविद्या और परस्पर विवाद करनेवालोंका तत्त्वनिर्णयके लिये किया जानेवाला वाद हूँ ॥ ३२ ॥

प्रश्न—२०वें श्लोकमें भगवान्‌ने अपनेको भूतोंका आदि, मध्य और अन्त बतलाया है; यहाँ फिर सर्गोंका आदि, मध्य और अन्त बतलाते हैं । इसमें क्या पुनरुक्तिका दोष नहीं आता ?

उत्तर—पुनरुक्तिका दोष नहीं है; क्योंकि वहाँ 'भूत' शब्द चेतन प्राणियोंका वाचक है और यहाँ 'सर्ग' शब्द जड-चेतन समस्त वस्तुओं और समस्त लोकोंके सहित सम्पूर्ण सृष्टिका वाचक है ।

प्रश्न—समस्त विद्याओंमें अध्यात्मविद्याको अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—अध्यात्मविद्या या ब्रह्मविद्या उस विद्याको कहते हैं जिसका आत्मासे सम्बन्ध है, जो आत्मतत्त्वका प्रकाश करती है और जिसके प्रभावसे अनायास ही ब्रह्मका साक्षात्कार हो जाता है। संसारमें ज्ञात या अज्ञात जितनी भी विद्याएँ हैं, सभी इस ब्रह्मविद्यासे निकृष्ट हैं; क्योंकि उनसे अज्ञानका बन्धन टूटता नहीं, बल्कि और भी दृढ़ होता है। परन्तु इस ब्रह्मविद्यासे अज्ञानकी गाँठ सदाके लिये खुल जाती है और परमात्माके स्वरूपका यथार्थ साक्षात्कार हो जाता है। इसीसे यह सबसे श्रेष्ठ है और इसीलिये भगवान्‌ने इसको अपना स्वरूप बतलाया है ।

प्रश्न—'वाद' को विभूतियोंमें बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—शास्त्रार्थके तीन स्वरूप होते हैं—जल्प, वितण्डा और वाद। उचित-अनुचितका विचार छोड़कर अपने पक्षके मण्डन और दूसरेके पक्षका खण्डन करनेके लिये जो विवाद किया जाता है, उसे 'जल्प' कहते हैं; केवल दूसरे पक्षका खण्डन करनेके लिये किये जानेवाले विवादको 'वितण्डा' कहते हैं और जो तत्त्वनिर्णयके उद्देश्यसे शुद्ध नीयतसे किया जाता है, उसे 'वाद' कहते हैं। 'जल्प' और 'वितण्डा'से द्वेष, क्रोध, हिंसा और अभिमानादि दोषोंकी उत्पत्ति होती है; और 'वाद'से सत्यके निर्णयमें और कल्याण-साधनमें सहायता प्राप्त होती है। 'जल्प' और 'वितण्डा' त्याज्य हैं तथा 'वाद' आवश्यकता होनेपर ग्राह्य है। इसी विशेषताके कारण भगवान्‌ने 'वाद' को अपनी विभूति बतलाया है।

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ॥३३॥

मैं अक्षरोंमें अकार हूँ और समासोंमें द्वन्द्वनामक समास हूँ । अक्षय काल अर्थात् कालका भी महाकाल तथा सब ओर मुखवाला-विराट्स्वरूप सबका धारण-पोषण करनेवाला भी मैं ही हूँ ॥ ३३ ॥

प्रश्न—अक्षरोंमें अकारको अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—स्वर और व्यञ्जन आदि जितने भी अक्षर हैं, उन सबमें अकार सबका आदि है और

वही सबमें व्याप्त है । श्रुतिमें भी कहा है—

'अकारो वै सर्वा वाक्' (ऐ० ब्रा० पू० ३ । ६)।

'समस्त वाणी अकार है ।' इन कारणोंसे अकार सब वर्णोंमें श्रेष्ठ है । इसीलिये भगवान्‌ने उसको अपना स्वरूप बतलाया है ।

प्रश्न—सब प्रकारके समासोंमें द्वन्द्व-समासको अपनी विभूति बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—द्वन्द्व-समासमें दोनों पदोंके अर्थकी प्रधानता* होनेके कारण, वह अन्य समासोंसे श्रेष्ठ है; इसलिये भगवान्‌ने उसको अपनी विभूतियोंमें गिना है ।

प्रश्न—तीसवें श्लोकमें जिस 'काल' को भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है, उसमें और इस श्लोकमें बतलाये हुए 'काल' में क्या भेद है ?

उत्तर—तीसवें श्लोकमें जिस 'काल' का वर्णन है, वह कल्प, युग, वर्ष, अयन, मास, दिन, घड़ी और क्षण आदिके नामसे कहे जानेवाले 'समय' का वाचक है । वह प्रकृतिका कार्य है, महाप्रलयमें वह नहीं रहता; इसीलिये वह 'अक्षय' नहीं है । और इस श्लोकमें जिस 'काल' का वर्णन है, वह सनातन, शाश्वत, अनादि, अनन्त और नित्य परब्रह्म परमात्माका साक्षात् स्वरूप है । इसीलिये इसके साथ 'अक्षय' विशेषण दिया गया है । अतएव तीसवें श्लोकमें वर्णित 'काल' से इसमें बहुत अन्तर है । वह प्रकृतिका कार्य है और यह प्रकृतिसे सर्वथा अतीत है ।†

प्रश्न—सब ओर मुखवाला धाता अर्थात् सबका धारण-पोषण करनेवाला मैं हूँ, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

---

* संस्कृत-व्याकरणके अनुसार समास चार हैं—१-अव्ययीभाव, २-तत्पुरुष, ३-बहुव्रीहि और ४-द्वन्द्व । कर्मधारय और द्विगु—ये दोनों तत्पुरुषके ही अन्तर्गत हैं । अव्ययीभाव समासके पूर्व और उत्तर, इन दो पदोंमेंसे पूर्व पदके अर्थकी प्रधानता होती है । जैसे अधिहरि—यहाँ अव्ययीभाव समास है; इसका अर्थ है—हरौ अर्थात् हरिमें; सप्तमी विभक्ति ही 'अधि' शब्दका अर्थ है और यही व्यक्त करना यहाँ अभीष्ट है । तत्पुरुष समासमें उत्तरपदके अर्थकी प्रधानता होती है; जैसे—'सीतापतिं वन्दे' इस वाक्यके अन्तर्गत 'सीतापति' शब्दमें तत्पुरुष समास है । इस वाक्यका अर्थ है—सीताके पति श्रीरामचन्द्रजीको प्रणाम करता हूँ । यहाँ सीता और पति—इन दो पदोंमेंसे 'पति' पदके अर्थकी ही प्रधानता है; क्योंकि 'सीतापति' शब्दसे 'श्रीराम' का ही बोध होता है । बहुव्रीहि समासमें अन्य पदके अर्थकी प्रधानता होती है; जैसे 'पीताम्बरः' यहाँ बहुव्रीहि समास है । इसका अर्थ है—जिसके पीले वस्त्र हों, वह व्यक्ति । यहाँ पूर्वपद है 'पीत' और उत्तरपद है 'अम्बर'; इनमेंसे किसी भी पदके अर्थकी प्रधानता नहीं है, इनके द्वारा जो 'अन्य व्यक्ति' (भगवान्) रूप अर्थ व्यक्त होता है उसकी प्रधानता है । द्वन्द्व समासमें दोनों ही पदोंके अर्थकी प्रधानता रहती है—जैसे 'रामलक्ष्मणौ पश्य'-राम और लक्ष्मणको देखो । यहाँ राम और लक्ष्मण दोनोंको ही देखना व्यक्त होता है; अतः दोनों पदोंके अर्थकी प्रधानता है ।

† कालके तीन भेद हैं—

१-'समय' वाचक काल ।

२-'प्रकृति'रूप काल । महाप्रलयके बाद जितने समयतक प्रकृतिकी साम्यावस्था रहती है, वही प्रकृतिरूपी काल है ।

३-नित्य शाश्वत विज्ञानानन्दघन परमात्मा ।

समयवाचक स्थूल कालकी अपेक्षा तो बुद्धिकी समझमें न आनेवाला प्रकृतिरूप काल सूक्ष्म और पर है; और इस प्रकृतिरूप कालसे भी परमात्मारूपी काल अत्यन्त सूक्ष्म, परातिपर और परम श्रेष्ठ है । वस्तुतः परमात्मा देश-कालसे सर्वथा रहित हैं; परन्तु जहाँ प्रकृति और उसके कार्यरूप संसारका वर्णन किया जाता है, वहाँ सबको सत्ता-स्फूर्ति देनेवाले होनेके कारण उन सबके अधिष्ठानरूप विज्ञानानन्दघन परमात्मा ही वास्तविक 'काल' हैं । ये ही 'अक्षय' काल हैं ।

उत्तर—इस कथनसे भगवान्‌ने विराट्‌के साथ अपनी एकता दिखलायी है। अभिप्राय यह है कि जो सबका धारण-पोषण करनेवाला सर्वव्यापी विश्वरूप परमेश्वर है, वह मैं ही हूँ; मुझसे भिन्न वह कोई दूसरा तत्त्व नहीं है।

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥३४॥

मैं सबका नाश करनेवाला मृत्यु और भविष्यमें होनेवालोंका उत्पत्तिस्थान हूँ; तथा स्त्रियोंमें कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा हूँ ॥ ३४ ॥

प्रश्न—सबका नाश करनेवाले मृत्युको अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—भगवान् ही मृत्युरूप होकर सबका संहार करते हैं। इसलिये यहाँ भगवान्‌ने मृत्युको अपना स्वरूप बतलाया है। नवम अध्यायके १९वें श्लोकमें भी कहा है कि 'मृत्यु और अमृत मैं ही हूँ।'

प्रश्न—अपनेको भविष्यमें होनेवालोंका उत्पत्तिस्थान बतलानेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—जिस प्रकार मृत्युरूप होकर भगवान् सबका नाश करते हैं अर्थात् उनका शरीरसे वियोग कराते हैं, उसी प्रकार भगवान् ही उनका पुनः दूसरे शरीरोंसे सम्बन्ध कराके उन्हें उत्पन्न करते हैं— यही भाव दिखलानेके लिये भगवान्‌ने अपनेको भविष्यमें होनेवालों-का उत्पत्तिस्थान बतलाया है।

प्रश्न—कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा—ये सातों कौन हैं और इनको अपनी विभूति बतलानेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—स्वायम्भुव मनुकी कन्या प्रसूति प्रजापति दक्षको ब्याही थीं, उनसे चौबीस कन्याएँ हुईं। कीर्ति, मेधा, धृति, स्मृति और क्षमा उन्हींमेंसे हैं। इनमें कीर्ति, मेधा और धृतिका विवाह धर्मसे हुआ; स्मृतिका अङ्गिरासे और क्षमा महर्षि पुलहको ब्याही गयीं। महर्षि भृगुकी कन्याका नाम श्री है, जो दक्षकन्या ख्यातिके गर्भसे उत्पन्न हुई थीं। इनका पाणिग्रहण भगवान् नारायणने किया। और वाक् ब्रह्माजीकी कन्या थीं। इन सातोंके नाम जिन गुणोंका निर्देश करते हैं—ये सातों उन विभिन्न गुणोंकी अधिष्ठातृदेवता हैं, तथा संसारकी समस्त स्त्रियोंमें श्रेष्ठ मानी गयी हैं। इसीलिये भगवान्‌ने इनको अपनी विभूति बतलाया है।

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥३५॥

तथा गायन करनेयोग्य श्रुतियोंमें मैं बृहत्साम और छन्दोंमें गायत्री छन्द हूँ। तथा महीनोंमें मार्गशीर्ष और ऋतुओंमें वसन्त मैं हूँ ॥३५॥

प्रश्न—सामवेदको तो भगवान्‌ने पहले ही अपना स्वरूप बतला दिया है (१०।२२), फिर यहाँ 'बृहत्साम' को अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—सामवेदके 'रथन्तर' आदि सामोंमें 'बृहत् साम'*

* सामवेदमें 'बृहत्साम' एक गीतिविशेष है। इसके द्वारा परमेश्वरकी इन्द्ररूपमें स्तुति की गयी है। 'अतिरात्र' यागमें यही पृष्ठस्तोत्र है।

('बृहत्'नामक साम) प्रधान होनेके कारण सबमें श्रेष्ठ है, इसी कारण यहाँ 'बृहत् साम' को अपना स्वरूप बतलाया है।

प्रश्न—छन्दोंमें गायत्री छन्दको अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—वेदोंकी जितनी भी छन्दोबद्ध ऋचाएँ हैं, उन सबमें गायत्रीकी ही प्रधानता है। श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराण आदि शास्त्रोंमें जगह-जगह गायत्रीकी महिमा भरी है।* गायत्रीकी इस श्रेष्ठताके कारण ही भगवान्‌ने उसको अपना स्वरूप बतलाया है।

प्रश्न—महीनोंमें मार्गशीर्षको अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—महाभारतकालमें महीनोंकी गणना मार्गशीर्षसे ही आरम्भ होती थी (महा० अनुशासन० अ० १०६ और १०९)। अतः यह सब मासोंमें प्रथम मास है। तथा इस मासमें किये हुए व्रत-उपवासोंका शास्त्रोंमें महान् फल

---

* गायत्रीकी महिमाका निम्नाङ्कित वचनोंद्वारा किञ्चित् दिग्दर्शन कराया जाता है—

'गायत्री छन्दसां मातेति।' (नारायणोपनिषद् ३४)

'गायत्री समस्त वेदोंकी माता हैं।'

सर्ववेदसारभूता गायत्र्यास्तु समर्चना।
ब्रह्मादयोऽपि सन्ध्यायां तां ध्यायन्ति जपन्ति च॥ (देवीभागवत, ११। १६। १५)

'गायत्रीकी उपासना समस्त वेदोंकी सारभूत है, ब्रह्मा आदि देवता भी सन्ध्याकालमें गायत्रीका ध्यान और जप करते हैं।'

गायत्र्युपासना नित्या सर्ववेदैः समीरिता।
यया विना त्वधःपातो ब्राह्मणस्यास्ति सर्वथा॥ (देवीभागवत, १२। ८। ८९)

'गायत्रीकी उपासनाको समस्त वेदोंने नित्य (अनिवार्य) कहा है। इस गायत्रीकी उपासनाके बिना ब्राह्मणका तो सब तरहसे अधःपतन है ही।'

अभीष्टं लोकमाप्नोति प्राप्नुयात् काममीप्सितम्।
गायत्री वेदजननी गायत्री पापनाशिनी॥
गायत्र्याः परमं नास्ति दिवि चेह च पावनम्।
हस्तत्राणप्रदा देवी पततां नरकार्णवे॥ (शङ्खस्मृति, १२। २४-२५)

'(गायत्रीकी उपासना करनेवाला द्विज) अपने अभीष्ट लोकको पा जाता है, मनोवाञ्छित भोग प्राप्त कर लेता है। गायत्री समस्त वेदोंकी जननी और सम्पूर्ण पापोंको नष्ट करनेवाली हैं। स्वर्गलोकमें तथा पृथ्वीपर गायत्रीसे बढ़कर पवित्र करनेवाली दूसरी कोई वस्तु नहीं है। गायत्री देवी नरक-समुद्रमें गिरनेवालोंको हाथका सहारा देकर बचा लेनेवाली हैं।'

गायत्र्यास्तु परं नास्ति शोधनं पापकर्मणाम्।
महाव्याहृतिसंयुक्तां प्रणवेन च संजपेत्॥ (संवर्तस्मृति, श्लो० २१८)

'गायत्रीसे बढ़कर पापकर्मोंका शोधक (प्रायश्चित्त) दूसरा कुछ भी नहीं है। प्रणव (ॐकार) सहित तीन महाव्याहृतियोंसे युक्त गायत्री-मन्त्रका जप करना चाहिये।'

नास्ति गङ्गासमं तीर्थं न देवः केशवात्परः।
गायत्र्यास्तु परं जप्यं न भूतं न भविष्यति॥ (बृह० यो० याज्ञ० १०। १०)

'गङ्गाजीके समान तीर्थ नहीं है, श्रीविष्णुभगवान्‌से बढ़कर देवता नहीं है और गायत्रीसे बढ़कर जपनेयोग्य मन्त्र न हुआ, न होगा।'

बतलाया गया है ।* नये अन्नकी इष्टि (यज्ञ) का भी इसी महीनेमें विधान है । वाल्मीकीय रामायणमें इसे संवत्सर-का भूषण बतलाया गया है । इस प्रकार अन्यान्य मासोंकी अपेक्षा इसमें कई विशेषताएँ हैं, इसीलिये भगवान्‌ने इसको अपना स्वरूप बतलाया है ।

प्रश्न—ऋतुओंमें वसन्त ऋतुको अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—वसन्त सब ऋतुओंमें श्रेष्ठ और सबका राजा है । इसमें बिना ही जलके सब वनस्पतियाँ हरी-भरी और नवीन पत्रों तथा पुष्पोंसे समन्वित हो जाती हैं । इसमें न अधिक गरमी रहती है और न सरदी । इस ऋतुमें प्रायः सभी प्राणियोंको आनन्द होता है । इसीलिये भगवान्‌ने इसको अपना स्वरूप बतलाया है ।

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥ ३६ ॥

मैं छल करनेवालोंमें जूआ और प्रभावशाली पुरुषोंका प्रभाव हूँ । मैं जीतनेवालोंका विजय हूँ, निश्चय करनेवालोंका निश्चय और सात्त्विक पुरुषोंका सात्त्विक भाव हूँ ॥ ३६ ॥

प्रश्न—द्यूत अर्थात् जूआ तो बहुत बुरी चीज है और शास्त्रोंमें इसका बड़ा निषेध है, इसको भगवान्‌ने अपना स्वरूप क्यों बतलाया ? और यदि भगवान्‌का ही स्वरूप है, तो फिर इसके खेलनेमें क्या आपत्ति है ?

उत्तर—संसारमें उत्तम, मध्यम और नीच—जितने भी जीव और पदार्थ हैं, सभीमें भगवान् व्याप्त हैं और भगवान्‌की ही सत्ता-स्फूर्तिसे सब चेष्टा करते हैं । ऐसा एक भी पदार्थ नहीं है जो भगवान्‌की सत्ता—शक्तिसे रहित हो । ऐसे सब प्रकारके सात्त्विक, राजस और तामस जीवों एवं पदार्थोंमें जो विशेष गुण, विशेष प्रभाव और विशेष चमत्कारसे युक्त है, उसीमें भगवान्‌की सत्ता और शक्तिका विशेष विकास है । इसी दृष्टिसे यहाँ भगवान्‌ने बहुत ही संक्षेपमें देवता, दैत्य, मनुष्य, पशु, पक्षी और सर्प आदि चेतन; तथा वज्र, इन्द्रिय, मन, समुद्र आदि जड पदार्थोंके साथ-साथ जय, निश्चय, तेज, नीति, ज्ञान आदि भावोंका भी वर्णन किया है । थोड़ेमें सबका वर्णन हो जाय, इसीसे प्रधान-प्रधान समष्टि-विभागोंके नाम बतलाये हैं । इसी वर्णनमें छलप्रधान होनेके कारण जूएको छल करनेवालोंमें मुख्य मानकर इसे विभूति बतलाया गया है, परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि जूआ खेला जाय ।

भगवान्‌ने तो महान् क्रूर और हिंसक सिंह और मगरको, सहज ही विनाश करनेवाले अग्निको तथा सर्वसंहारकारी मृत्युको भी अपना स्वरूप बतलाया है । उसका अभिप्राय यह थोड़े ही है कि कोई भी मनुष्य जाकर सिंह या मगरके साथ खेले, आगमें कूद पड़े अथवा जान-बूझकर मृत्युके मुँहमें घुस जाय । इनके करनेमें जो आपत्ति है वही आपत्ति जूआ खेलनेमें है ।

प्रश्न—'प्रभाव', 'विजय', 'निश्चय' और 'सात्त्विक भाव' को अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—ये चारों ही गुण भगवत्प्राप्तिमें सहायक हैं, इसलिये भगवान्‌ने इनको अपना स्वरूप बतलाया है ।

---

* शुक्ले मार्गशिरे पक्षे योषिद्भर्तुरनुज्ञया ।
आरभेत व्रतमिदं सार्वकामिकमादितः ॥ (श्रीमद्भा० ६ । १९ । २)

'पहले-पहल मार्गशीर्षके शुक्लपक्षमें स्त्री अपने पतिकी आज्ञासे सब कामनाओंके देनेवाले इस पुंसवन-व्रतका आरम्भ करे ।'

इन चारोंको अपना स्वरूप बतलाकर भगवान्‌ने यह भाव भी दिखलाया है कि तेजस्वी प्राणियोंमें जो तेज या प्रभाव है, वह वास्तवमें मेरा ही है। जो मनुष्य उसे अपनी शक्ति समझकर अभिमान करता है, वह भूल करता है। इसी प्रकार विजय प्राप्त करनेवालोंका विजय, निश्चय करनेवालोंका निश्चय और सात्त्विक पुरुषोंका सात्त्विक भाव—ये सब गुण भी मेरे ही हैं। इनके निमित्तसे अभिमान करना भी बड़ी भारी मूर्खता है।* इसके अतिरिक्त इस कथनमें यह भाव भी है कि जिन-जिनमें उपर्युक्त गुण हों, उनमें भगवान्‌के तेजकी अधिकता समझकर उनको श्रेष्ठ मानना चाहिये।

* केन उपनिषद्‌में एक गाथा है—एक समय स्वर्गके देवताओंने परमात्माके प्रतापसे असुरोंपर विजय प्राप्त की। देवोंकी कीर्ति और महिमा सब तरफ छा गयी। विजयोन्मत्त देवता भगवान्‌को भूलकर कहने लगे कि 'हमारी ही जय हुई है। हमने अपने पराक्रम और बुद्धिबलसे दैत्योंका दलन किया है, इसीलिये लोग हमारी पूजा करते हैं और हमारे विजयगीत गाते हैं।' देवताओंके अभिमानका नाश कर उनका उपकार करनेके लिये परमात्मा ब्रह्मने अपनी लीलासे एक ऐसा अद्भुत रूप प्रकट किया, जिसे देखकर देवताओंकी बुद्धि चक्कर खा गयी। देवताओंने इस यक्षरूपधारी अद्भुत पुरुषका पता लगानेके लिये अपने अगुआ अग्निदेवसे कहा कि 'हे जातवेदस्! हम सबमें आप सर्वापेक्षया अधिक तेजस्वी हैं, आप इनका पता लगाइये कि ये यक्षरूपधारी वास्तवमें कौन हैं?' अग्निने कहा—'ठीक है, मैं पता लगाकर आता हूँ।' यों कहकर अग्नि वहाँ गये, परन्तु उसके समीप पहुँचते ही तेजसे ऐसे चकरा गये कि बोलनेतकका साहस न हुआ। अन्तमें उस यक्षरूपी ब्रह्मने अग्निसे पूछा कि 'तू कौन है?' अग्निने कहा—'मेरा नाम प्रसिद्ध है, मुझे अग्नि कहते हैं और जातवेदस् भी कहते हैं।' ब्रह्मने फिर पूछा—'यह सब तो ठीक है; परन्तु हे अग्निदेव! तुझमें किस प्रकारका सामर्थ्य है, तू क्या कर सकता है?' अग्निने कहा—'हे यक्ष! इस पृथ्वी और अन्तरिक्षमें जो कुछ भी स्थावर-जङ्गम पदार्थ हैं, उन सबको मैं जलाकर भस्म कर सकता हूँ।'

ब्रह्मने उसके सामने एक सूखे घासका तिनका डालकर कहा कि 'इस तृणको तू जला दे!' अग्निदेवता अपने पूरे वेगसे तृणको जलानेके लिये सर्वप्रकारसे यत्न करने लगे, परन्तु तृणको नहीं जला सके। लज्जासे उनका मस्तक नीचा हो गया और अन्तमें यक्षसे बिना कुछ कहे ही अग्निदेवता अपना-सा मुँह लिये देवताओंके पास लौट आये और बोले कि 'मैं तो इस बातका पता नहीं लगा सका कि यह यक्ष कौन है।'

इसके बाद वायुदेव यक्षके पास गये; परन्तु उनकी भी अग्निकी-सी दशा हो गयी, वे बोल नहीं सके। यक्षने पूछा—'तू कौन है?' वायुने कहा—'मैं वायु हूँ, मेरा नाम और गुण प्रसिद्ध है—मैं गमनक्रिया करनेवाला और पृथ्वीकी गन्धको वहन करनेवाला हूँ। अन्तरिक्षमें गमन करनेवाला होनेके कारण मुझे मातरिश्वा भी कहते हैं।' यक्षने कहा—'तुझमें क्या सामर्थ्य है?' वायुने कहा—'इस पृथ्वी और अन्तरिक्षमें जो कुछ भी पदार्थ हैं, उन सबको मैं ग्रहण कर सकता हूँ (उड़ा ले सकता हूँ)।' ब्रह्मने वायुके सम्मुख भी वही सूखा तिनका रख दिया और कहा—'इस तिनकेको उड़ा दे।' वायुने अपना सारा बल लगा दिया, परन्तु तिनका हिलातक नहीं। यह देखकर वायुदेव बड़े लज्जित हुए और तुरंत ही देवताओंके पास आकर उन्होंने कहा—'हे देवगण! पता नहीं, यह यक्ष कौन है; मैं तो कुछ भी नहीं जान सका।'

अब इन्द्र यक्षके समीप गये। देवराजको अभिमानमें भरा देखकर यक्षरूपी ब्रह्म वहाँसे अन्तर्धान हो गये, इन्द्रका अभिमान चूर्ण करनेके लिये उनसे बाततक नहीं की। इन्द्र लज्जित तो हो गये, परन्तु उन्होंने हिम्मत नहीं हारी और ध्यान करने लगे। इतनेमें उन्होंने देखा कि अन्तरिक्षमें अत्यन्त शोभायुक्त और सब प्रकारके उत्तमोत्तम अलङ्कारोंसे विभूषित हिमवान्‌की कन्या भगवती पार्वती उमा खड़ी हैं। पार्वतीके दर्शन कर इन्द्रको हर्ष हुआ और उन्होंने सोचा कि पार्वती नित्य बोधस्वरूप भगवान् शिवके पास रहती हैं, अतएव इन्हें यक्षका पता अवश्य ही मालूम होगा। इन्द्रने विनयभावसे उनसे पूछा—

'माता अभी जो यक्ष हमें दर्शन देकर अन्तर्धान हो गये, वे कौन थे?' उमाने कहा—'वे यक्ष प्रसिद्ध ब्रह्म थे। हे इन्द्र! इन ब्रह्मने ही असुरोंको पराजित किया है, तुमलोग तो केवल निमित्तमात्र हो; ब्रह्मके विजयसे ही तुमलोगोंकी

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥३७॥

वृष्णिवंशियोंमें वासुदेव अर्थात् मैं स्वयं तेरा सखा, पाण्डवोंमें धनञ्जय अर्थात् तू, मुनियोंमें वेदव्यास और कवियोंमें शुक्राचार्य कवि भी मैं ही हूँ ॥३७॥

प्रश्न—वृष्णिवंशियोंमें वासुदेव मैं हूँ, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इस कथनसे भगवान्ने अवतार और अवतारीकी एकता दिखलायी है । कहनेका भाव यह है कि मैं अजन्मा, अविनाशी, सब भूतोंका महेश्वर, सर्वशक्तिमान्, पूर्णब्रह्म पुरुषोत्तम ही यहाँ वसुदेवके पुत्रके रूपमें लीलासे प्रकट हुआ हूँ (४।६)। अतएव जो मनुष्य मुझे साधारण मनुष्य समझते हैं, वे भारी भूल करते हैं ।

प्रश्न—पाण्डवोंमें अर्जुनको अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है, क्योंकि पाँचों पाण्डवोंमें तो धर्मराज युधिष्ठिर ही सबसे बड़े तथा भगवान्के भक्त और धर्मात्मा थे ?

उत्तर—निस्सन्देह युधिष्ठिर पाण्डवोंमें सबसे बड़े, धर्मात्मा और भगवान्के परम भक्त थे, तो भी अर्जुन ही सब पाण्डवोंमें श्रेष्ठ माने गये हैं । इसका कारण यह है कि नर-नारायण-अवतारमें अर्जुन नररूपसे भगवान्के साथ रह चुके हैं । इसके अतिरिक्त वे भगवान्के परम प्रिय सखा और उनके अनन्यप्रेमी भक्त हैं । इसलिये अर्जुनको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है ।*

प्रश्न—मुनियोंमें व्यासको अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—भगवान्के स्वरूपका और वेदादि शास्त्रोंका मनन करनेवालोंको 'मुनि' कहते हैं । भगवान् वेदव्यास समस्त वेदोंका भलीभाँति चिन्तन करके उनका विभाग करनेवाले, महाभारत, पुराण आदि अनेक शास्त्रोंके रचयिता, भगवान्के अंशावतार और सर्वसद्गुणसम्पन्न हैं । अतएव मुनिमण्डलमें उनकी प्रधानता होनेके कारण भगवान्ने उन्हें अपना स्वरूप बतलाया है ।

महिमा बढ़ी है और इसीसे तुम्हारी पूजा भी होती है । तुम जो अपनी विजय और अपनी महिमा मानते हो, यह सब तुम्हारा मिथ्या अभिमान है; इसे त्याग करो और यह समझो कि जो कुछ होता है सो केवल उस ब्रह्मकी सत्तासे ही होता है ।'

उमाके वचनोंसे इन्द्रकी आँखें खुल गयीं, अभिमान जाता रहा । ब्रह्मकी महती शक्तिका परिचय पाकर इन्द्र लौटे और उन्होंने अग्नि और वायुको भी ब्रह्मका उपदेश दिया । अग्नि और वायुने भी ब्रह्मको जान लिया । इसीसे ये तीन देवता सबसे श्रेष्ठ हुए । इनमें भी इन्द्र सबसे श्रेष्ठ माने गये । कारण, उन्होंने ब्रह्मको सबसे पहले जाना था ।

* भगवान्ने स्वयं कहा है—

नरस्त्वमसि दुर्द्धर्ष हरिर्नारायणो ह्यहम् । काले लोकमिमं प्राप्तौ नरनारायणावृषी ॥
अनन्यः पार्थ मत्तस्त्वं त्वत्तश्चाहं तथैव च । नावयोरन्तरं शक्यं वेदितुं भरतर्षभ ॥

(महा० वन० १२ । ४६-४७)

'हे दुर्द्धर्ष अर्जुन ! तू भगवान् नर है और मैं स्वयं हरि नारायण हूँ । हम दोनों एक समय नर और नारायण ऋषि होकर इस लोकमें आये थे । इसलिये हे अर्जुन ! तू मुझसे अलग नहीं है और उसी प्रकार मैं तुझसे अलग नहीं हूँ । हे भरतश्रेष्ठ ! हम दोनोंमें कुछ भी अन्तर है, यह किसीके जाननेमें नहीं आ सकता ।'

प्रश्न—कवियोंमें शुक्राचार्यको अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जो पण्डित और बुद्धिमान् हो, उसे कवि कहते हैं। शुक्राचार्यजी भार्गवोंके अधिपति, सब विद्याओंके विशारद संजीवनी विद्याके जाननेवाले और कवियोंमें प्रधान हैं; इसलिये इनको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है।*

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम्॥३८॥

मैं दमन करनेवालोंका दण्ड अर्थात् दमन करनेकी शक्ति हूँ, जीतनेकी इच्छावालोंकी नीति हूँ, गुप्त रखनेयोग्य भावोंका रक्षक मौन हूँ, और ज्ञानवानोंका तत्त्वज्ञान मैं ही हूँ॥ ३८॥

प्रश्न—दमन करनेवालोंके दण्डको अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है।

उत्तर—दण्ड (दमन करनेकी शक्ति) धर्मका त्याग करके अधर्ममें प्रवृत्त उच्छृङ्खल मनुष्योंको पापाचारसे रोककर सत्कर्ममें प्रवृत्त करता है। मनुष्योंके मन और इन्द्रिय आदि भी इस दमन-शक्तिके द्वारा ही वशमें होकर भगवान्की प्राप्तिमें सहायक बन सकते हैं। दमन-शक्तिसे समस्त प्राणी अपने-अपने अधिकारका पालन करते हैं। इसलिये जो भी देवता और शासक आदि न्यायपूर्वक दमन करनेवाले हैं, उन सबकी उस दमन-शक्तिको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है।

प्रश्न—विजय चाहनेवालोंकी नीतिको अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'नीति' शब्द यहाँ न्यायका वाचक है। न्यायसे ही मनुष्यकी सच्ची विजय होती है। जिस राज्यमें नीति नहीं रहती, अनीतिका बर्ताव होने लगता है, वह राज्य भी शीघ्र नष्ट हो जाता है। अतएव नीति अर्थात् न्याय विजयका प्रधान उपाय है। इसलिये विजय चाहनेवालोंकी नीतिको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है।

प्रश्न—मौनको अपना स्वरूप बतलानेका क्या भाव है ?

उत्तर—जितने भी गुप्त रखनेयोग्य भाव हैं, वे मौनसे (न बोलनेसे) ही गुप्त रह सकते हैं। बोलना बंद किये बिना उनका गुप्त रक्खा जाना कठिन है। इस प्रकार गोपनीय भावोंमें मौनकी प्रधानता होनेसे मौनको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है।

प्रश्न—यहाँ 'ज्ञानवताम्' पद किन ज्ञानियोंका वाचक है ? और उनके ज्ञानको अपना स्वरूप बतलानेका क्या भाव है ?

---

* महर्षि भृगुके च्यवन आदि सात पुत्रोंमें शुक्र प्रधान हैं। इन्होंने भगवान् शङ्करकी आराधना करके सञ्जीवनी विद्या और जरा-मरणरहित वज्रके समान दृढ़ शरीर प्राप्त किया था। भगवान् शङ्करके प्रसादसे ही योगविद्यामें निपुण होकर इन्होंने योगाचार्यकी पदवी प्राप्त की थी। ये दैत्योंके पुरोहित हैं। 'काव्य', 'कवि' और 'उशना' इन्हींके नामान्तर हैं। पितरोंकी मानसी कन्या गोसे इनका विवाह हुआ था। षण्ड-अमर्क नामक दो पुत्र, जो प्रह्लादके गुरु थे, इन्हींसे उत्पन्न हुए थे। ये अनेकों अत्यन्त गुप्त और दुर्लभ मन्त्रोंके ज्ञाता, अनेकों विद्याओंके पारदर्शी, महान् बुद्धिमान् और परम नीतिनिपुण हैं। इनकी 'शुक्रनीति' प्रसिद्ध है। बृहस्पतिपुत्र कचने इन्हींसे सञ्जीवनी विद्या सीखी थी। इनकी महाभारत, श्रीमद्भागवत, वायुपुराण, ब्रह्मपुराण, मत्स्यपुराण, स्कन्दपुराण और कालिकापुराण आदिमें बड़ी ही विचित्र और शिक्षाप्रद कथाएँ हैं।

उत्तर—'ज्ञानवताम्' पद परब्रह्म परमात्माके स्वरूपका साक्षात् कर लेनेवाले यथार्थ ज्ञानियोंका वाचक है । उनका ज्ञान ही सर्वोत्तम ज्ञान है । इसलिये उसको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है । तेरहवें अध्यायके १७ वें श्लोकमें भी भगवान्‌ने अपनेको ज्ञानस्वरूप बतलाया है ।

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥३९॥

और हे अर्जुन ! जो सब भूतोंकी उत्पत्तिका कारण है, वह भी मैं ही हूँ । क्योंकि ऐसा चर और अचर कोई भी भूत नहीं है, जो मुझसे रहित हो ॥ ३९ ॥

प्रश्न—समस्त चराचर प्राणियोंका बीज क्या है ? और उसे अपना स्वरूप बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—भगवान् ही समस्त चराचर भूतप्राणियोंके परम आधार हैं और उन्हींसे सबकी उत्पत्ति होती है । अतएव वे ही सबके बीज या महान् कारण हैं । इसीसे सातवें अध्यायके १०वें श्लोकमें उन्हें सब भूतोंका 'सनातन बीज' और नवम अध्यायके १८वें श्लोकमें 'अविनाशी बीज' बतलाया गया है और इसीलिये भगवान्‌ने उसको यहाँ अपना स्वरूप बतलाया है ।

प्रश्न—ऐसा कोई भी चर या अचर प्राणी नहीं है, जो मुझसे रहित हो—इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने अपनी सर्वव्यापकता और सर्वरूपता दिखलायी है । अभिप्राय यह है कि चर या अचर जितने भी प्राणी हैं, उन सबमें मैं व्याप्त हूँ; कोई भी प्राणी मुझसे रहित नहीं है । अतएव समस्त प्राणियोंको मेरा स्वरूप समझकर और मुझे उनमें व्याप्त समझकर जहाँ भी तुम्हारा मन जाय, वहीं तुम मेरा चिन्तन करते रहो । इस प्रकार अर्जुनके उस प्रश्नका कि 'आपको किन-किन भावोंमें चिन्तन करना चाहिये ?' (१० । १७) उत्तर भी इसमें समाप्त हो जाता है ।

सम्बन्ध—१९ वें श्लोकमें भगवान्‌ने अपनी दिव्य विभूतियोंको अनन्त बतलाकर प्रधानतासे उनका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा की थी, उसके अनुसार श्लोक २०वेंसे ३९वेंतक उनका वर्णन किया । अब उनका उपसंहार करते हुए पुनः अपनी दिव्य विभूतियोंकी अनन्तता दिखलाते हैं—

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥४०॥

हे परंतप ! मेरी दिव्य विभूतियोंका अन्त नहीं है, मैंने अपनी विभूतियोंका यह विस्तार तो तेरे लिये एकदेशसे अर्थात् संक्षेपसे कहा है ॥ ४० ॥

प्रश्न—मेरी दिव्य विभूतियोंका अन्त नहीं है, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि मेरी साधारण विभूतियोंकी तो बात ही क्या है; जो दिव्य विभूतियाँ हैं, उनकी भी सीमा नहीं है । जैसे जल और पृथ्वीके परमाणुओंकी गणना नहीं की जा सकती, उसी प्रकार मेरी विभूतियोंकी भी गणना नहीं हो सकती । वे इतनी हैं कि न तो कोई भी उन्हें

जान सकता है और न उनका वर्णन ही कर सकता है। अनन्त ब्रह्माण्डोंमें मेरी अनन्त विभूतियाँ हैं, उनका कोई भी पार नहीं पा सकता !

प्रश्न—यह विभूतियोंका विस्तार मैंने एकदेशसे अर्थात् संक्षेपसे कहा है, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि मैंने अपनी दिव्य विभूतियोंका जो कुछ भी विस्तार तुम्हें बतलाया है, वह उन दिव्य विभूतियोंके एकदेश (अंशमात्र) का ही वर्णन है और पूरा वर्णन तो अत्यन्त ही कठिन है। अतएव अब मैं इस वर्णनका यहीं उपसंहार करता हूँ।

सम्बन्ध—अठारहवें श्लोकमें अर्जुनने भगवान्‌से उनकी विभूति और योगशक्तिका वर्णन करनेकी प्रार्थना की थी, उसके अनुसार भगवान् अपनी दिव्य विभूतियोंका वर्णन समाप्त करके अब संक्षेपमें अपनी योगशक्तिका वर्णन करते हैं—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥ ४१ ॥

जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको तू मेरे तेजके अंशकी ही अभिव्यक्ति जान ॥ ४१ ॥

प्रश्न—'यत् यत्' तथा 'विभूतिमत्', 'श्रीमत्' और 'ऊर्जितम्' विशेषणोंके सहित 'सत्त्वम्' पद किसका वाचक है और उसको भगवान्‌के तेजके अंशकी अभिव्यक्ति समझना क्या है ?

उत्तर—जो भी प्राणी या कोई जड वस्तु ऐश्वर्य-सम्पन्न, शोभा और कान्ति आदि गुणोंसे सम्पन्न एवं बल, तेज, पराक्रम या अन्य किसी प्रकारकी शक्तिसे युक्त हैं, उन सबका वाचक यहाँ उपर्युक्त विशेषणोंसहित 'सत्त्वम्' पद है। और जिसमें उपर्युक्त ऐश्वर्य, शोभा, शक्ति, बल और तेज आदि सब-के-सब या उनमेंसे कोई एक भी प्रतीत होता हो, उस प्रत्येक प्राणी और प्रत्येक वस्तुको भगवान्‌के तेजका अंश समझना ही उसको भगवान्‌के तेजके अंशकी अभिव्यक्ति समझना है।

अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार बिजलीकी शक्तिसे कहीं रोशनी हो रही है, कहीं पंखे चल रहे हैं, कहीं जल निकल रहा है, कहीं रेडियोमें दूर-दूरके गाने सुनायी पड़ रहे हैं—इस प्रकार भिन्न-भिन्न अनेकों स्थानोंमें और भी बहुत कार्य हो रहे हैं। परन्तु यह निश्चय है कि जहाँ-जहाँ ये कार्य होते हैं, वहाँ-वहाँ बिजलीका ही प्रभाव कार्य कर रहा है, वस्तुतः वह बिजलीके ही अंशकी अभिव्यक्ति है। उसी प्रकार जिस प्राणी या वस्तुमें जो भी किसी तरहकी विशेषता दिखलायी पड़ती है, उसमें भगवान्‌के ही तेजके अंशकी अभिव्यक्ति समझनी चाहिये।

सम्बन्ध—इस प्रकार मुख्य-मुख्य वस्तुओंमें अपनी योगशक्तिरूपी तेजके अंशकी अभिव्यक्तिका वर्णन करके अब भगवान् यह बतला रहे हैं कि समस्त जगत् मेरी योगशक्तिके एक अंशसे ही धारण किया हुआ है—

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥ ४२ ॥

अथवा हे अर्जुन ! इस बहुत जाननेसे तेरा क्या प्रयोजन है । मैं इस सम्पूर्ण जगत्‌को अपनी योगशक्तिके एक अंशमात्रसे धारण करके स्थित हूँ ॥ ४२ ॥

प्रश्न—यहाँ 'अथवा' शब्दके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—'अथवा' शब्द पक्षान्तरका बोधक है । २०वेंसे ३९ वें श्लोकतक भगवान्‌ने अपनी प्रधान-प्रधान विभूतियोंका वर्णन करके और ४१ वें श्लोकमें अपने तेजकी अभिव्यक्तिके स्थानोंको बतलाकर जो बात समझायी है, उससे भी भिन्न अपने विशेष प्रभावकी बात अब कहते हैं—यही भाव दिखलानेके लिये यहाँ 'अथवा' शब्दका प्रयोग किया गया है ।

प्रश्न—इस बहुत जाननेसे तेरा क्या प्रयोजन है ? इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि तुम्हारे पूछनेपर मैंने प्रधान-प्रधान विभूतियोंका वर्णन तो कर दिया, किन्तु इतना ही जानना यथेष्ट नहीं है । सार बात यह है जो मैं अब तुम्हें बतला रहा हूँ, इसको तुम अच्छी प्रकार समझ लो; फिर सब कुछ अपने-आप ही समझमें आ जायगा, उसके बाद तुम्हारे लिये कुछ भी जानना शेष नहीं रहेगा ।

प्रश्न—'इदम्' और 'कृत्स्नम्' विशेषणोंके सहित 'जगत्' पद किसका वाचक है ? और उसको भगवान्‌की योगशक्तिके एक अंशसे धारण किया हुआ बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—यहाँ 'इदम्' और 'कृत्स्नम्' विशेषणोंके सहित 'जगत्' पद मन, इन्द्रिय और शरीरसहित समस्त चराचर प्राणी तथा भोगसामग्री, भोगस्थान और समस्त लोकोंके सहित ब्रह्माण्डका वाचक है। ऐसे अनन्त ब्रह्माण्ड भगवान्‌के किसी एक अंशमें उन्हींकी योगशक्तिसे धारण किये हुए हैं, यही भाव दिखलानेके लिये भगवान्‌ने जगत्‌के सम्पूर्ण विस्तारको अपनी योगशक्तिके एक अंशसे धारण किया हुआ बतलाया है ।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥



श्रीभगवान्



तत्कैशोरं तच्च वक्त्रारविन्दं तत्कारुण्यं ते च लीलाकटाक्षाः ।
तत्सौन्दर्यं सा च मन्दस्मितश्रीः सत्यं सत्यं दुर्लभं दैवतेषु ॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

एकादशोऽध्यायः

अध्यायका नाम

इस अध्यायमें अर्जुनके प्रार्थना करनेपर भगवान्ने उनको अपने विश्वरूपके दर्शन करवाये हैं। अध्यायके अधिकांशमें केवल विश्वरूपका और उसके स्तवनका ही प्रकरण है, इसलिये इस अध्यायका नाम 'विश्वरूपदर्शनयोग' रक्खा गया है।

अध्यायका संक्षेप

इस अध्यायमें पहलेसे चौथे श्लोकतक अर्जुनने भगवान्की और उनके उपदेशकी प्रशंसा करके विश्वरूपके दर्शन करानेके लिये भगवान्से प्रार्थना की है। पाँचवेंसे आठवें श्लोकतक भगवान्ने अपने अंदर देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि समस्त चराचर प्राणियों तथा अनेकों आश्चर्यप्रद दृश्योंसहित सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको देखनेकी आज्ञा देकर अन्तमें दिव्यदृष्टि प्रदान करनेकी बात कही है। नवें श्लोकमें सञ्जयने भगवान्के द्वारा अर्जुनको विश्वरूप दिखलानेकी बात कहकर, दसवेंसे तेरहवें श्लोकतक अर्जुनको कैसा रूप दिखलायी दिया——इसका वर्णन किया है। चौदहवें श्लोकमें उस रूपको देखकर अर्जुनके विस्मित और हर्षित होकर श्रद्धाके साथ भगवान्को प्रणाम करनेकी बात कही है। तदनन्तर पंद्रहवेंसे इकतीसवें श्लोकतक अर्जुनने विश्वरूपका स्तवन और उसमें दिखलायी देनेवाले दृश्योंका वर्णन करके अन्तमें भगवान्से अपना वास्तविक परिचय देनेके लिये प्रार्थना की है। बत्तीसवेंसे चौंतीसवें श्लोकतक भगवान्ने अपनेको लोकोंको नाश करनेवाला 'काल' तथा भीष्म-द्रोणादि समस्त वीरोंको पहले ही अपनेद्वारा मारे हुए बतलाकर अर्जुनको उत्साहित करते हुए युद्ध करनेकी आज्ञा दी है। इसके बाद पैंतीसवेंसे छियालीसवें श्लोकतक भगवान्के वचन सुनकर आश्चर्य और भयमें निमग्न अर्जुनके भगवान्की स्तुति, उनको नमस्कार, उनसे क्षमा-याचना और दिव्य चतुर्भुजरूपका दर्शन करानेके लिये प्रार्थना करनेका वर्णन है। सैंतालीसवें और अड़तालीसवें श्लोकोंमें भगवान्ने अपने विश्वरूपकी महिमा और दुर्लभता बतलाकर उन्चासवें श्लोकमें उन्हें आश्वासन देते हुए चतुर्भुज रूप देखनेकी आज्ञा दी है। पचासवें श्लोकमें चतुर्भुज रूपके दर्शन कराकर फिर मनुष्यरूप होनेका सञ्जयने वर्णन किया है। इक्यावनवें श्लोकमें अर्जुनने सौम्य मानवरूप देखकर सचेत और प्रकृतिगत होनेकी बात कही है। तदनन्तर बावनवें और तिरपनवें श्लोकोंमें भगवान्ने अपने चतुर्भुज रूपके दर्शनको दुर्लभ बतलाकर चौवनवें श्लोकमें अनन्य भक्तिके द्वारा उस रूपका दर्शन, ज्ञान और प्राप्त होना सुलभ बतलाया है। फिर पचपनवें श्लोकमें अनन्यभक्तिका स्वरूप और उसका फल बतलाकर अध्यायका उपसंहार किया है।

सम्बन्ध——दसवें अध्यायके सातवें श्लोकतक भगवान्ने अपनी विभूति तथा योगशक्तिको और उसके जाननेके माहात्म्यका संक्षेपमें वर्णन करके ग्यारहवें श्लोकतक भक्तियोग और उसके फलका निरूपण किया। इसपर बारहवेंसे अठारहवें श्लोकतक अर्जुनने भगवान्की स्तुति करके उनसे दिव्य विभूतियोंका और योगशक्तिका

श्रीभगवान्



तत्कैशोरं तच्च वक्त्रारविन्दं तत्कारुण्यं ते च लीलाकटाक्षाः ।
तत्सौन्दर्यं सा च मन्दस्मितश्रीः सत्यं सत्यं दुर्लभं दैवतेषु ॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

एकादशोऽध्यायः

अध्यायका नाम

इस अध्यायमें अर्जुनके प्रार्थना करनेपर भगवान्‌ने उनको अपने विश्वरूपके दर्शन करवाये हैं। अध्यायके अधिकांशमें केवल विश्वरूपका और उसके स्तवनका ही प्रकरण है, इसलिये इस अध्यायका नाम 'विश्वरूपदर्शनयोग' रक्खा गया है।

अध्यायका संक्षेप

इस अध्यायमें पहलेसे चौथे श्लोकतक अर्जुनने भगवान्‌की और उनके उपदेशकी प्रशंसा करके विश्वरूपके दर्शन करानेके लिये भगवान्‌से प्रार्थना की है। पाँचवेंसे आठवें श्लोकतक भगवान्‌ने अपने अंदर देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि समस्त चराचर प्राणियों तथा अनेकों आश्चर्यप्रद दृश्योंसहित सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको देखनेकी आज्ञा देकर अन्तमें दिव्यदृष्टि प्रदान करनेकी बात कही है। नवें श्लोकमें सञ्जयने भगवान्‌के द्वारा अर्जुनको विश्वरूप दिखलानेकी बात कहकर, दसवेंसे तेरहवें श्लोकतक अर्जुनको कैसा रूप दिखलायी दिया—इसका वर्णन किया है। चौदहवें श्लोकमें उस रूपको देखकर अर्जुनके विस्मित और हर्षित होकर श्रद्धाके साथ भगवान्‌को प्रणाम करनेकी बात कही है। तदनन्तर पंद्रहवेंसे इकतीसवें श्लोकतक अर्जुनने विश्वरूपका स्तवन और उसमें दिखलायी देनेवाले दृश्योंका वर्णन करके अन्तमें भगवान्‌से अपना वास्तविक परिचय देनेके लिये प्रार्थना की है। बत्तीसवेंसे चौंतीसवें श्लोकतक भगवान्‌ने अपनेको लोकोंको नाश करनेवाला 'काल' तथा भीष्म-द्रोणादि समस्त वीरोंको पहले ही अपनेद्वारा मारे हुए बतलाकर अर्जुनको उत्साहित करते हुए युद्ध करनेकी आज्ञा दी है। इसके बाद पैंतीसवेंसे छियालीसवें श्लोकतक भगवान्‌के वचन सुनकर आश्चर्य और भयमें निमग्न अर्जुनके भगवान्‌की स्तुति, उनको नमस्कार, उनसे क्षमा-याचना और दिव्य चतुर्भुजरूपका दर्शन करानेके लिये प्रार्थना करनेका वर्णन है। सैंतालीसवें और अड़तालीसवें श्लोकोंमें भगवान्‌ने अपने विश्वरूपकी महिमा और दुर्लभता बतलाकर उन्चासवें श्लोकमें उन्हें आश्वासन देते हुए चतुर्भुज रूप देखनेकी आज्ञा दी है। पचासवें श्लोकमें चतुर्भुज रूपके दर्शन कराकर फिर मनुष्यरूप होनेका सञ्जयने वर्णन किया है। इक्यावनवें श्लोकमें अर्जुनने सौम्य मानवरूप देखकर सचेत और प्रकृतिगत होनेकी बात कही है। तदनन्तर बावनवें और तिरपनवें श्लोकोंमें भगवान्‌ने अपने चतुर्भुज रूपके दर्शनको दुर्लभ बतलाकर चौवनवें श्लोकमें अनन्य भक्तिके द्वारा उस रूपका दर्शन, ज्ञान और प्राप्त होना सुलभ बतलाया है। फिर पचपनवें श्लोकमें अनन्यभक्तिका स्वरूप और उसका फल बतलाकर अध्यायका उपसंहार किया है।

सम्बन्ध—दसवें अध्यायके सातवें श्लोकतक भगवान्‌ने अपनी विभूति तथा योगशक्तिका और उनके जाननेके माहात्म्यका संक्षेपमें वर्णन करके ग्यारहवें श्लोकतक भक्तियोग और उसके फलका निरूपण किया। इसपर बारहवेंसे अठारहवें श्लोकतक अर्जुनने भगवान्‌की स्तुति करके उनसे दिव्य विभूतियोंका और योगशक्तिका

विस्तृत वर्णन करनेके लिये प्रार्थना की। तब भगवान्‌ने चालीसवें श्लोकतक अपनी विभूतियोंका वर्णन समाप्त करके अन्तमें योगशक्तिका प्रभाव बतलाते हुए समस्त ब्रह्माण्डको अपने एक अंशमें धारण किया हुआ कहकर अध्यायका उपसंहार किया। इस प्रसंगको सुनकर अर्जुनके मनमें उस महान् स्वरूपके (जिसके एक अंशमें समस्त विश्व स्थित है) प्रत्यक्ष देखनेकी इच्छा उत्पन्न हो गयी। इसीलिये इस ग्यारहवें अध्यायके आरम्भमें पहले चार श्लोकोंमें भगवान्‌की और उनके उपदेशकी प्रशंसा करते हुए अर्जुन उनसे विश्वरूपके दर्शन करानेके लिये प्रार्थना करते हैं—

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम॥ १॥

अर्जुन बोले—मुझपर अनुग्रह करनेके लिये आपने जो परम गोपनीय अध्यात्मविषयक वचन अर्थात् उपदेश कहा, उससे मेरा यह अज्ञान नष्ट हो गया है॥ १॥

प्रश्न—'मदनुग्रहाय' पदके प्रयोगका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—दसवें अध्यायके प्रारम्भमें प्रेम-समुद्र भगवान्‌ने 'अर्जुन! तुम्हारा मुझमें अत्यन्त प्रेम है, इसीसे मैं ये सब बातें तुम्हारे हितके लिये कह रहा हूँ' ऐसा कहकर अपना जो अलौकिक प्रभाव सुनाया, उसे सुनकर अर्जुनके हृदयमें कृतज्ञता, सुख और प्रेमकी तरंगें उछलने लगीं। उन्होंने सोचा, 'अहा! मुझ तुच्छपर कितनी कृपा है इन सर्वलोकमहेश्वर भगवान्‌की जो ये मुझ क्षुद्रको अपना प्रेमी मान रहे हैं और मेरे सामने अपने महत्त्वकी कैसी-कैसी गोपनीय बातें खुले शब्दोंमें प्रकट करते ही जा रहे हैं।' अब तो उन्हें महर्षियोंकी कही हुई बातोंका स्मरण हो आया और उन्होंने परम विश्वासके साथ भगवान्‌का गुणगान करते हुए पुनः योगशक्ति और विभूतियोंका विस्तार सुनानेके लिये प्रेमभरी प्रार्थना की—भगवान्‌ने प्रार्थना सुनी और अपनी विभूतियों तथा योगका संक्षिप्त वर्णन सुनाया। अर्जुनके हृदयपर भगवत्कृपाकी मुहर लग गयी। वे भगवत्कृपाके अपूर्व दर्शन कर आनन्दमुग्ध हो गये!

साधकको जबतक अपने पुरुषार्थ, साधन या अपनी योग्यताका स्मरण होता है तबतक वह भगवत्-कृपाके परम लाभसे वञ्चित-सा ही रहता है। भगवत्-कृपाके प्रभावसे वह सहज ही साधनके उच्च स्तरपर नहीं चढ़ सकता। परन्तु जब उसे भगवत्कृपासे ही भगवत्कृपाका भान होता है और वह प्रत्यक्षवत् यह समझ जाता है कि जो कुछ हो रहा है, सब भगवान्‌के अनुग्रहसे ही हो रहा है, तब उसका हृदय कृतज्ञतासे भर जाता है और वह पुकार उठता है 'ओहो, भगवन्! मैं किसी भी योग्य नहीं हूँ। मैं तो सर्वथा अनधिकारी हूँ। यह सब तो आपके अनुग्रहकी ही लीला है।' ऐसे ही कृतज्ञतापूर्ण हृदयसे अर्जुन कह रहे हैं कि भगवन्! आपने जो कुछ भी महत्त्व और प्रभावकी बातें सुनायी हैं, मैं इसका पात्र नहीं हूँ। आपने अनुग्रह करनेके लिये ही यह परम गोपनीय अपना

रहस्य मुझको सुनाया है। 'मदनुग्रहाय' पदके प्रयोगका यही अभिप्राय है।

प्रश्न 'परमम्', 'गुह्यम्', 'अध्यात्मसंज्ञितम्'—इन तीन विशेषणोंके सहित 'वचः' पद भगवान्‌के कौन-से उपदेशका सूचक है तथा इन विशेषणोंका क्या भाव है?

उत्तर—दसवें अध्यायके पहले श्लोकमें जिन परम वचनोंको भगवान्‌ने पुनः कहनेकी प्रतिज्ञा की है और उस प्रतिज्ञाके अनुसार ११ वें श्लोकतक जो भगवान्‌का उपदेश है एवं उसके बाद अर्जुनके पूछनेपर पुनः २० वेंसे ४२वें श्लोकतक भगवान्‌ने जो अपनी विभूतियोंका और योगशक्तिका परिचय दिया है तथा सातवेंसे नवें अध्यायतक विज्ञानसहित ज्ञानके कहनेकी प्रतिज्ञा करके भगवान्‌ने जो अपने गुण, प्रभाव, ऐश्वर्य और स्वरूपका तत्त्व और रहस्य समझाया है—उस सभी उपदेशका वाचक यहाँ 'परमम्', 'गुह्यम्' और 'अध्यात्मसंज्ञितम्'—इन तीनों विशेषणोंके सहित 'वचः' पद है।

जिन-जिन प्रकरणोंमें भगवान्‌ने अपने गुण, प्रभाव और तत्त्वका निरूपण करके अर्जुनको अपनी शरणमें आनेके लिये प्रेरणा की है और स्पष्टरूपसे यह बतलाया है कि मैं श्रीकृष्ण जो तुम्हारे सामने विराजित हूँ, वही समस्त जगत्‌का कर्त्ता, हर्त्ता, निर्गुण, सगुण, निराकार, साकार, मायातीत, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार परमेश्वर हूँ। उन प्रकरणोंको भगवान्‌ने स्वयं 'परम गुह्य' बतलाया है। अतएव यहाँ उन्हीं विशेषणोंका अनुवाद करके अर्जुन यह भाव दिखलाते हैं कि आपका यह उपदेश अवश्य ही परम गोपनीय है। और उस उपदेशमें भगवान्‌ने अपने स्वरूपको भलीभाँति प्रकट किया है, यही भाव दिखलानेके लिये उसके साथ 'परमम्', 'गुह्यम्' एवं 'अध्यात्मसंज्ञितम्' विशेषण दिये गये हैं।

प्रश्न—यहाँ 'अयम्' विशेषणके सहित 'मोहः' पद अर्जुनके किस मोहका वाचक है और उपर्युक्त उपदेशके द्वारा उसका नाश हो जाना क्या है?

उत्तर—अर्जुन जो भगवान्‌के गुण, प्रभाव, ऐश्वर्य और स्वरूपको पूर्णरूपसे नहीं जानते थे—यही उनका मोह था। अब उपर्युक्त उपदेशके द्वारा भगवान्‌के गुण, प्रभाव, ऐश्वर्य और स्वरूपको किसी अंशमें समझकर वे जो यह जान गये हैं कि श्रीकृष्ण ही साक्षात् परमेश्वर हैं—यही उनके मोहका नष्ट होना है।

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम्॥ २॥

क्योंकि हे कमलनेत्र! मैंने आपसे भूतोंकी उत्पत्ति और प्रलय विस्तारपूर्वक सुने हैं तथा आपकी अविनाशी महिमा भी सुनी है॥२॥

प्रश्न—भूतोंकी उत्पत्ति और प्रलय मैंने आपसे विस्तारपूर्वक सुने हैं, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आपसे ही समस्त चराचर प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है, आप ही उनका पालन करते हैं और वे सब आपमें ही लीन होते हैं—यह बात मैंने आपके मुखसे सातवें अध्यायसे लेकर दसवें अध्यायतक विस्तारके साथ बार-बार सुनी है।

प्रश्न—तथा आपकी अविनाशी महिमा भी सुनी है, इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि केवल भूतोंकी उत्पत्ति और प्रलयकी ही बात आपसे सुनी हो, ऐसी बात नहीं है; आपकी जो अविनाशी महिमा है, अर्थात् आप समस्त विश्वका सृजन, पालन और संहार आदि करते हुए भी वास्तवमें अकर्ता हैं, सबका नियमन करते हुए भी उदासीन हैं, सर्वव्यापी होते हुए भी उन-उन वस्तुओंके गुण-दोषसे सर्वथा निर्लिप्त हैं, शुभाशुभ कर्मोंका सुख-दुःखरूप फल देते हुए भी निर्दयता और विषमताके दोषसे रहित हैं, प्रकृति, काल और समस्त लोकपालोंके रूपमें प्रकट होकर भी सबका नियमन करनेवाले सर्वशक्तिमान् भगवान् हैं—इस प्रकारके माहात्म्यको भी उन-उन प्रकरणोंमें बार-बार सुना है।

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥ ३ ॥

हे परमेश्वर ! आप अपनेको जैसा कहते हैं, यह ठीक ऐसा ही है; परन्तु हे पुरुषोत्तम ! आपके ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेजसे युक्त ऐश्वर-रूपको मैं प्रत्यक्ष देखना चाहता हूँ ॥३॥

प्रश्न—'परमेश्वर' और 'पुरुषोत्तम'—इन दोनों सम्बोधनोंका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'परमेश्वर' सम्बोधनसे अर्जुन यह भाव दिखलाते हैं कि आप ईश्वरोंके भी महान् ईश्वर हैं और सर्वसमर्थ हैं; अतएव मैं आपके जिस ऐश्वर-स्वरूपके दर्शन करना चाहता हूँ, उसके दर्शन आप सहज ही करा सकते हैं। तथा 'पुरुषोत्तम' सम्बोधनसे यह भाव दिखलाते हैं कि आप क्षर और अक्षर दोनोंसे उत्तम साक्षात् भगवान् हैं। अतएव मुझपर दया करके मेरी इच्छा पूर्ण कीजिये।

प्रश्न—आप अपनेको जैसा कहते हैं, यह ठीक ऐसा ही है—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इस कथनसे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि अपने गुण, प्रभाव, तत्त्व और ऐश्वर्यका वर्णन करते हुए आपने अपने विषयमें जो कुछ कहा है—वह पूर्णरूपसे यथार्थ है, उसमें मुझे किञ्चिन्मात्र भी शङ्का नहीं है।

प्रश्न—'ऐश्वरम्' विशेषणके सहित 'रूपम्' पद किस रूपका वाचक है और उसे देखना चाहता हूँ—इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—असीम और अनन्त ज्ञान, शक्ति, बल, वीर्य और तेज आदि ईश्वरीय गुण और प्रभाव जिसमें प्रत्यक्ष दिखलायी देते हों तथा सारा विश्व जिसके एक अंशमें हो, ऐसे रूपका वाचक यहाँ 'ऐश्वरम्' विशेषणके सहित 'रूपम्' पद है। और 'उसे मैं देखना चाहता हूँ' इस कथनसे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि ऐसा अद्भुत रूप मैंने कभी नहीं देखा; आपके मुखसे उसका वर्णन सुनकर (१० । ४२) उसे देखनेकी मेरे मनमें अत्यन्त उत्कट इच्छा उत्पन्न हो गयी है, उस रूपके दर्शन करके मैं कृतकृत्य हो जाऊँगा—मैं ऐसा मानता हूँ।

प्रश्न—यदि अर्जुनको भगवान्‌के कथनमें पूर्ण विश्वास था, किसी तरहकी शङ्का थी ही नहीं, तो फिर उन्होंने वैसा रूप देखनेकी इच्छा ही प्रकट क्यों की ?

उत्तर—जैसे किसी सत्यवादीके पास पारस, चिन्तामणि या अन्य कोई अद्भुत वस्तु हो और उसके बतलानेपर

सुननेवाले मनुष्यको यह पूर्ण विश्वास भी हो जाय कि इनके पास अमुक वस्तु अवश्य है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है; तथापि वह अद्भुत वस्तु पहले कभी देखी हुई न होनेके कारण यदि उसके मनमें उसे देखनेकी उत्कट इच्छा हो जाय और वह उसे प्रकट कर दे तो इससे विश्वासमें कमी होनेकी कौन-सी बात है ? इसी प्रकार, भगवान्‌के उस अलौकिक स्वरूपको अर्जुनने पहले कभी नहीं देखा था, इसलिये उसे देखनेकी उनके मनमें इच्छा जाग्रत् हो गयी और उसको उन्होंने प्रकट कर दिया तो इसमें उनका विश्वास कम था—यह नहीं समझा जा सकता। विश्वास था तभी तो देखनेकी इच्छा प्रकट की।

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्॥ ४॥

हे प्रभो! यदि मेरेद्वारा आपका वह रूप देखा जाना शक्य है—ऐसा आप मानते हैं, तो हे योगेश्वर! उस अविनाशी स्वरूपका मुझे दर्शन कराइये॥ ४॥

प्रश्न—'प्रभो' और 'योगेश्वर'—इन दो सम्बोधनोंका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'प्रभो' सम्बोधनसे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आप सबकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय तथा अन्तर्यामीरूपसे शासन करनेवाले होनेके कारण सर्वसमर्थ हैं। इसलिये यद्यपि मैं आपके उस रूपके दर्शनका सुयोग्य अधिकारी नहीं हूँ, तथापि आप कृपापूर्वक अपने सामर्थ्यसे मुझे सुयोग्य अधिकारी बना सकते हैं। तथा 'योगेश्वर' विशेषण देकर यह भाव दिखलाया है कि आप सम्पूर्ण योगोंके स्वामी हैं। अतएव यदि आप चाहें तो मुझको अपना वह रूप अनायास ही दिखला सकते हैं। जब साधारण योगी भी अनेक प्रकारसे अपना ऐश्वर्य दिखला सकता है, तब आपकी तो बात ही क्या है ?

प्रश्न—'यदि मेरेद्वारा आपका वह रूप देखा जा सकता है—ऐसा आप मानते हैं, तो वह मुझे दिखलाइये' इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इस कथनसे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आपका जो प्रभाव मैं आपके श्रीमुखसे सुन चुका हूँ, वह वस्तुतः वैसा ही है। इसमें जरा भी सन्देह नहीं है। और यह भी ठीक है कि आपने यदि उस स्वरूपके दर्शन मुझको नहीं कराये तो उससे यह सिद्ध नहीं हो जायगा कि दर्शन करानेका आप योगेश्वरेश्वरमें सामर्थ्य नहीं है और न किसी भी अंशमें मेरा विश्वास ही कम होगा। परन्तु इतना अवश्य है कि मेरे मनमें आपके उस रूपके दर्शनकी लालसा अत्यन्त प्रबल है। आप अन्तर्यामी हैं, देख लें—जान लें कि मेरी वह लालसा सच्ची और उत्कट है या नहीं। यदि आप उस लालसाको सच्ची पावें तो फिर प्रभो! मैं उस स्वरूपके दर्शनका अधिकारी हो जाता हूँ। क्योंकि आप तो भक्त-वाञ्छाकल्पतरु हैं, उसके मनकी इच्छा ही देखते हैं, अन्य योग्यताको नहीं देखते। और वैसी हालतमें आपको कृपा करके अपने उस स्वरूपके दर्शन मुझको कराने ही चाहिये।

सम्बन्ध—परम श्रद्धालु और परम प्रेमी अर्जुनके इस प्रकार प्रार्थना करनेपर तीन श्लोकोंमें भगवान् अपने विश्वरूपका वर्णन करते हुए उसे देखनेके लिये अर्जुनको आज्ञा देते हैं—

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥ ५ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे पार्थ ! अब तू मेरे सैकड़ों-हजारों नाना प्रकारके और नाना वर्ण तथा नाना आकृतिवाले अलौकिक रूपोंको देख ॥ ५ ॥

प्रश्न—यहाँ 'शतशः' और 'सहस्रशः' इन संख्या-वाचक दो पदोंके प्रयोग करनेका क्या भाव है ?

उत्तर—इनका प्रयोग करके भगवान्ने अपने रूपोंकी असंख्यता प्रकट की है। भगवान्के कथनका अभिप्राय यह है कि मेरे इस विश्वरूपमें एक ही जगह तुम असंख्य रूपोंको देखो ।

प्रश्न—'नानाविधानि'का क्या भाव है ?

उत्तर—'नानाविधानि' पद बहुत-से भेदोंका बोधक है। इसका प्रयोग करके भगवान्ने विश्वरूपमें दीखनेवाले रूपोंके जातिगत भेदकी अनेकता प्रकट की है—अर्थात् देव, मनुष्य और तिर्यक् आदि समस्त चराचर जीवोंके नाना भेदोंको अपनेमें देखनेके लिये कहा है ।

प्रश्न—'नानावर्णाकृतीनि'का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'वर्ण' शब्द लाल, पीले, काले आदि विभिन्न रंगोंका और 'आकृति' शब्द अङ्गोंकी बनावटका वाचक है । जिन रूपोंके वर्ण और उनके अङ्गोंकी बनावट पृथक्-पृथक् अनेकों प्रकारकी हों, उनको 'नानावर्णाकृति' कहते हैं। उन्हींके लिये 'नानावर्णाकृतीनि'का प्रयोग हुआ है। अतएव इस पदका प्रयोग करके भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि इन रूपोंके वर्ण और उनके अङ्गोंकी बनावट भी नाना प्रकारकी है, यह भी तुम देखो ।

प्रश्न—'दिव्यानि'का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—अलौकिक और आश्चर्यजनक वस्तुको दिव्य कहते हैं। 'दिव्यानि' पदका प्रयोग करके भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि मेरे शरीरमें दीखनेवाले ये भिन्न-भिन्न प्रकारके असंख्य रूप सब-के-सब दिव्य हैं—मेरी अद्भुत योगशक्तिके द्वारा रचित होनेसे अलौकिक और आश्चर्यजनक हैं ।

पश्यादित्यान् वसून् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥ ६ ॥

हे भरतवंशी अर्जुन ! मुझमें आदित्योंको अर्थात् अदितिके द्वादश पुत्रोंको, आठ वसुओंको, एकादश रुद्रोंको, दोनों अश्विनीकुमारोंको और उनचास मरुद्गणोंको देख। तथा और भी बहुत-से पहले न देखे हुए आश्चर्यमय रूपोंको देख ॥ ६ ॥

प्रश्न—आदित्यों, वसुओं, रुद्रों, अश्विनीकुमारों और मरुद्गणोंको देखनेके लिये कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—उपर्युक्त सभी शब्द प्रधान-प्रधान देवताओंके वाचक हैं। इनका नाम लेकर भगवान्ने सभी देवताओंको

अपने विराट् रूपमें देखनेके लिये अर्जुनको आज्ञा दी है। इनमेंसे आदित्य और मरुद्गणोंकी व्याख्या दसवें अध्यायके २१ वें श्लोकमें तथा वसु और रुद्रोंकी २३ वेंमें की जा चुकी है। इसलिये यहाँ उसका विस्तार नहीं किया गया है। अश्विनीकुमार दोनों भाई देव-वैद्य हैं।*

प्रश्न—'अदृष्टपूर्वाणि' और 'बहूनि' इन दोनों विशेषणोंके सहित 'आश्चर्याणि' पदका क्या अर्थ है और उनको देखनेके लिये कहनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—जो दृश्य पहले कभी देखे हुए न हों, उन्हें 'अदृष्टपूर्व' कहते हैं। जो अद्भुत अर्थात् देखने-मात्रसे आश्चर्य उत्पन्न करनेवाले हों, उन्हें 'आश्चर्य' (आश्चर्यजनक) कहते हैं। 'बहूनि' विशेषण अधिक संख्याका बोधक है। ऐसे बहुत-से, पहले किसीके द्वारा भी न देखे हुए आश्चर्यजनक रूपोंको देखनेके लिये कहकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि जिन वस्तुओंको तुमने या अन्य किसीने आजतक कभी नहीं देखा है, उन सबको भी तुम मेरे इस विराट् रूपमें देखो।

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि॥ ७॥

हे अर्जुन! अब इस मेरे शरीरमें एक जगह स्थित चराचरसहित सम्पूर्ण जगत्‌को देख तथा और भी जो कुछ देखना चाहता हो सो देख॥ ७॥

प्रश्न—'गुडाकेश' सम्बोधनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—यहाँ अर्जुनको 'गुडाकेश' नामसे सम्बोधित करके भगवान् यह भाव दिखलाते हैं कि तुम निद्राके स्वामी हो, अतः सावधान होकर मेरे रूपको भलीभाँति देखो ताकि किसी प्रकारका संशय या भ्रम न रह जाय।

प्रश्न—'अद्य' पदका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'अद्य' पद यहाँ 'अब' का वाचक है। इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि तुमने मेरे जिस रूपके दर्शन करनेकी इच्छा प्रकट की है, उसे दिखलानेमें जरा भी विलम्ब नहीं कर रहा हूँ, इच्छा प्रकट करते ही मैं अभी दिखला रहा हूँ।

प्रश्न—'सचराचरम्' और 'कृत्स्नम्' विशेषणोंके सहित 'जगत्' पद किसका वाचक है तथा 'इह' और 'एकस्थम्' पदका प्रयोग करके भगवान्‌ने अपने कौन-से शरीरमें और किस जगह समस्त जगत्‌को देखनेके लिये कहा है?

उत्तर—पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग और देव, मनुष्य आदि चलने-फिरनेवाले प्राणियोंको 'चर' कहते हैं; तथा पहाड़, वृक्ष आदि एक जगह स्थिर रहनेवालोंको 'अचर' कहते हैं। ऐसे समस्त प्राणियोंके तथा उनके शरीर, इन्द्रिय, भोगस्थान और भोगसामग्रियोंके सहित समस्त ब्रह्माण्डका वाचक यहाँ 'कृत्स्नम्' और 'सचराचरम्' इन दोनों विशेषणोंके सहित 'जगत्'

* ये दोनों सूर्यकी पत्नी संज्ञासे उत्पन्न माने जाते हैं (विष्णुपुराण, ३।२।७; अग्निपुराण, २७३।४)। कहीं इनको कश्यपके, औरस पुत्र और अदितिके गर्भसे उत्पन्न (वा० रामायण, अरण्य० १४।१४) तथा कहीं ब्रह्माके कानोंसे उत्पन्न भी माना गया है (वायुपुराण ६५।५७)। कल्पभेदसे सभी वर्णन यथार्थ हैं। इन्होंने दध्यङ् मुनिसे ज्ञान प्राप्त किया था। (ऋग्वेद, १।१७।११६।१२; देवी-भागवत ७।३६) राजा शर्यातिकी पुत्री एवं च्यवनमुनिकी पत्नी सुकन्यापर प्रसन्न होकर इन्होंने वृद्ध और अन्ध च्यवनको नेत्र और नवयौवन प्रदान किया था (देवीभागवत ७।४-५)। महाभारत, पुराण और रामायणमें इनकी कथाएँ अनेक जगह आती हैं।

पद है। 'इह' पद 'देहे' का विशेषण है। इसके साथ 'एकस्थम्' पदका प्रयोग करके भगवान्ने अर्जुनको यह भाव दिखलाया है कि मेरा यह शरीर जो कि सारथीके रूपमें तुम्हारे सामने रथपर विराजित है, इसी शरीरके एक अंशमें तुम समस्त जगत्को स्थित देखो। अर्जुनको भगवान्ने दसवें अध्यायके अन्तिम श्लोकमें जो यह बात कही थी कि मैं इस समस्त जगत्को एक अंशमें धारण किये स्थित हूँ, उसी बातको यहाँ उन्हें प्रत्यक्ष दिखला रहे हैं।

प्रश्न—और भी जो कुछ तू देखना चाहता है, सो देख—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इस कथनसे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि इस वर्तमान सम्पूर्ण जगत्को मेरे शरीरके एक अंशमें स्थित देखनेके अतिरिक्त और भी मेरे गुण, प्रभाव आदिके द्योतक कोई दृश्य, अपने और दूसरोंके जय-पराजयके दृश्य अथवा जो कुछ भी भूत, भविष्य और वर्तमानकी घटनाएँ देखनेकी तुम्हारी इच्छा हो, उन सबको तुम इस समय मेरे शरीरमें प्रत्यक्ष देख सकते हो।

सम्बन्ध—इस प्रकार तीन श्लोकोंमें बार-बार अपना अद्भुत रूप देखनेके लिये आज्ञा देनेपर भी जब अर्जुन भगवान्के रूपको नहीं देख सके तब उसके न देख सकनेके कारणको जाननेवाले अन्तर्यामी भगवान् अर्जुनको दिव्यदृष्टि देनेकी इच्छा करके कहने लगे—

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्॥ ८॥

परन्तु मुझको तू इन अपने प्राकृत नेत्रोंद्वारा देखनेमें निःसन्देह समर्थ नहीं है; इसीसे मैं तुझे दिव्य अर्थात् अलौकिक चक्षु देता हूँ; उससे तू मेरी ईश्वरीय योगशक्तिको देख॥ ८॥

प्रश्न—यहाँ 'तु' पदके साथ-साथ यह कहनेका क्या अभिप्राय है कि तू मुझे इन अपने (साधारण) नेत्रोंद्वारा नहीं देख सकता ?

उत्तर—इससे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि तुम मेरे अद्भुत योगशक्तिसे युक्त दिव्य स्वरूपके दर्शन करना चाहते हो, यह तो बड़े आनन्दकी बात है और मैं भी तुम्हें अपना वह रूप दिखलानेके लिये तैयार हूँ। परन्तु भाई! इन साधारण नेत्रोंद्वारा मेरा वह अलौकिक रूप देखा नहीं जा सकता, उसको देखनेके लिये जिस शक्तिकी आवश्यकता है, वह तुम्हारे पास नहीं है।

प्रश्न—भगवान्ने जो अर्जुनको दिव्य दृष्टि दी थी, वह दिव्य दृष्टि क्या थी ?

उत्तर—भगवान्ने अर्जुनको विश्वरूपका दर्शन करनेके लिये अपने योगबलसे एक प्रकारकी योगशक्ति प्रदान की थी, जिसके प्रभावसे अर्जुनमें अलौकिक सामर्थ्यका प्रादुर्भाव हो गया और उस दिव्य रूपको देख सकनेकी योग्यता प्राप्त हो गयी। इसी योगशक्तिका नाम दिव्य दृष्टि है। ऐसी ही दिव्य दृष्टि श्रीवेदव्यासजीने सञ्जयको भी दी थी।

प्रश्न—यदि यह मान लिया जाय कि भगवान्ने अर्जुनको ऐसा ज्ञान दिया कि जिससे अर्जुन इस समस्त विश्वको भगवान्का स्वरूप मानने लगे और उस ज्ञानका नाम ही यहाँ दिव्य दृष्टि है, तो क्या हानि है ?

उत्तर—यहाँके प्रसङ्गको पढ़कर यह नहीं माना जा सकता कि ज्ञानके द्वारा अर्जुनका इस दृश्य जगत्‌को भगवद्रूप समझ लेना ही 'विश्वरूपदर्शन' था और वह ज्ञान ही 'दिव्य दृष्टि' थी। समस्त विश्वको ज्ञानके द्वारा भगवान्‌के एक अंशमें देखनेके लिये तो अर्जुनको दसवें अध्यायके अन्तमें ही कहा जा चुका था और उसको उन्होंने स्वीकार भी कर लिया था। इस प्रकार स्वीकार कर लेनेके बाद भी अर्जुन जब भगवान्‌से बल, वीर्य, शक्ति और तेजसे युक्त उनके ईश्वरीय स्वरूपको प्रत्यक्ष देखनेकी इच्छा करते हैं और भगवान् भी अपने श्रीकृष्णरूपके अंदर ही एक ही जगह समस्त विश्वको दिखला रहे हैं, तब यह कैसे माना जा सकता है कि वह ज्ञानद्वारा समझा जानेवाला रूप था?

इसके अतिरिक्त भगवान्‌ने जो विश्वरूपका वर्णन किया है, उससे भी यह सिद्ध होता है कि अर्जुन भगवान्‌के जिस रूपमें समस्त ब्रह्माण्डके दृश्य और भविष्यमें होनेवाली युद्धसम्बन्धी घटनाओंको और उनके परिणामको देख रहे थे, वह रूप उनके सामने था; इससे यही मानना पड़ता है कि जिस विश्वमें अर्जुन अपनेको खड़े देख रहे थे, वह विश्व भगवान्‌के शरीरमें दिखलायी देनेवाले विश्वसे भिन्न था। ऐसा न होता तो उस विराट् रूपके द्वारा दृश्य जगत्‌के स्वर्गलोकसे लेकर पृथ्वीतकके आकाशको और सब दिशाओंको व्याप्त देखना सम्भव ही न था। भगवान्‌के उस भयानक रूपको देखकर अर्जुनको आश्चर्य, मोह, भय, सन्ताप और दिग्भ्रमादि भी हो रहे थे; इससे भी यही बात सिद्ध होती है कि भगवान्‌ने उपदेश देकर ज्ञानके द्वारा इस दृश्य जगत्‌को अपना स्वरूप समझा दिया हो, ऐसी बात नहीं थी। ऐसा होता तो अर्जुनको भय, सन्ताप, मोह और दिग्भ्रमादि होनेका कोई कारण नहीं रह जाता।

प्रश्न—यह मान लिया जाय तो क्या आपत्ति है कि जैसे आजकल रेडियो आदि यन्त्रोंद्वारा दूर देशके शब्द सुने तथा दृश्य देखे जा सकते हैं, वैसे ही भगवान्‌ने उन्हें कोई ऐसा यन्त्र दे दिया हो जिससे वे एक ही जगह खड़े समस्त विश्वको बिना किसी बाधाके देख सके हों और उस यन्त्रको ही दिव्य दृष्टि कहा गया हो?

उत्तर—रेडियो आदि यन्त्रोंद्वारा एक कालमें एक जगह दूर देशके वे ही शब्द और दृश्य सुने और देखे जा सकते हैं, जो एकदेशीय हों और उस समय वर्तमान हों। उनसे एक ही यन्त्रसे एक ही कालमें एक ही जगह सब देशोंकी घटनाएँ नहीं देखी-सुनी जा सकतीं। न उनसे लोगोंके मनकी बातें प्रत्यक्ष देखी जा सकती हैं और न भविष्यमें होनेवाली घटनाओंके दृश्य ही। इसके अतिरिक्त यहाँके प्रसङ्गमें ऐसी कोई बात नहीं है जिससे यह सिद्ध हो सके कि अर्जुनने किसी यन्त्रद्वारा भगवान्‌के विश्वरूपको देखा था। अतएव ऐसा मानना सर्वथा युक्तिविरुद्ध है। हाँ, रेडियो आदि यन्त्रोंके आविष्कारसे आजकलके अविश्वासी लोगोंको किसी सीमातक समझाया जा सकता है कि जब रेडियो आदि भौतिक यन्त्रोंद्वारा दूर देशकी घटनाएँ सुनी-देखी जा सकती हैं, तब भगवान्‌की प्रदान की हुई योगशक्तिद्वारा उनके विश्वरूपका देखा जाना कौन बड़ी बात है? अवश्य ही यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिये कि यह भगवान्‌का कोई ऐसा मायामय मनोयोग नहीं था जिसके प्रभावसे अर्जुन बिना ही हुए ऐसी घटनाओंको स्वप्नके दृश्योंकी भाँति देख रहे थे। अर्जुन जिस स्वरूपको देख रहे थे, वह प्रत्यक्ष सत्य था और उसके देखनेका एकमात्र साधन था—भगवत्कृपासे मिली हुई योगशक्तिरूप दिव्य दृष्टि!

प्रश्न—'ऐश्वरम्' विशेषणके सहित 'योगम्' पद किसका वाचक है और उसे देखनेके लिये कहनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—अर्जुनको जिस रूपके दर्शन हो रहे थे, वह दिव्य था। भगवान्‌ने अपनी अद्भुत योगशक्तिसे ही प्रकट करके उसे अर्जुनको दिखलाया था। अतः उसके देखनेसे ही भगवान्‌की अद्भुत योगशक्तिके दर्शन आप ही हो जाते हैं। इसीलिये यहाँ 'ऐश्वरम्' विशेषणके सहित 'योगम्' पद भगवान्‌की अद्भुत योगशक्तिके सहित उसके द्वारा प्रकट किये हुए भगवान्‌के विराट् स्वरूपका वाचक है; और उसे देखनेके लिये कहकर भगवान्‌ने अर्जुनको सावधान किया है।

सम्बन्ध—अर्जुनको दिव्य दृष्टि देकर भगवान्‌ने जिस प्रकारका अपना दिव्य विराट् स्वरूप दिखलाया था, अब पाँच श्लोकोंद्वारा सञ्जय उसका वर्णन करते हैं—

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम्॥ ९॥

सञ्जय बोले—हे राजन्! महायोगेश्वर और सब पापोंके नाश करनेवाले भगवान्‌ने इस प्रकार कहकर उसके पश्चात् अर्जुनको परम ऐश्वर्ययुक्त दिव्य स्वरूप दिखलाया॥ ९॥

प्रश्न—यहाँ सञ्जयने भगवान्‌के लिये 'महायोगेश्वरः' और 'हरिः' इन दो विशेषणोंका प्रयोग करके क्या भाव दिखलाया है?

उत्तर—योगेश्वरोंमें भी जो महान् हैं उनको 'महायोगेश्वर' तथा सब पापों और दुःखोंके हरण करनेवालेको 'हरि' कहते हैं। इन दोनों विशेषणोंका प्रयोग करके सञ्जयने भगवान्‌की अद्भुत शक्ति-सामर्थ्यकी ओर लक्ष्य खींचते हुए धृतराष्ट्रको सावधान किया है। उनके कथनका भाव यह है कि श्रीकृष्ण कोई साधारण मनुष्य नहीं हैं, वे समस्त योगेश्वरोंके भी महान् ईश्वर और सब पापों तथा दुःखोंके नाश करनेवाले साक्षात् परमेश्वर हैं। उन्होंने अर्जुनको अपना जो दिव्य विश्वरूप दिखलाया था, जिसका वर्णन करके मैं अभी आपको सुनाऊँगा, वह रूप बड़े-से-बड़े योगी भी नहीं दिखला सकते; उसे तो एकमात्र स्वयं परमेश्वर ही दिखला सकते हैं।

प्रश्न—'रूपम्'के साथ 'परमम्' और 'ऐश्वरम्' इन दोनों विशेषणोंके प्रयोगका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—जो पदार्थ शुद्ध, श्रेष्ठ और अलौकिक हो, उसे 'परम' कहते हैं और जिसमें ईश्वरके गुण, प्रभाव एवं तेज दिखलायी देते हों तथा जो ईश्वरकी दिव्य योगशक्तिसे सम्पन्न हो, उसे 'ऐश्वर' कहते हैं। भगवान्‌ने अपना जो विराट् स्वरूप अर्जुनको दिखलाया था, वह अलौकिक, दिव्य, सर्वश्रेष्ठ और तेजोमय था, साधारण जगत्‌की भाँति पाञ्चभौतिक पदार्थोंसे बना हुआ नहीं था; भगवान्‌ने अपने परमप्रिय भक्त अर्जुनपर अनुग्रह करके अपना अद्भुत प्रभाव उसको समझानेके लिये ही अपनी अद्भुत योगशक्तिके द्वारा उस रूपको प्रकट करके दिखलाया था। इन्हीं भावोंको प्रकट करनेके लिये सञ्जयने 'रूपम्' पदके साथ इन दोनों विशेषणोंका प्रयोग किया है।

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥१०॥
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥११॥

अनेक मुख और नेत्रोंसे युक्त, अनेक अद्भुत दर्शनोंवाले, बहुत-से दिव्य भूषणोंसे युक्त और बहुत-से दिव्य शस्त्रोंको हाथोंमें उठाये हुए, दिव्य माला और वस्त्रोंको धारण किये हुए और दिव्य गन्धका सारे शरीरमें लेप किये हुए, सब प्रकारके आश्चर्योंसे युक्त, सीमारहित और सब ओर मुख किये हुए विराट्स्वरूप परमदेव परमेश्वरको अर्जुनने देखा ॥ १०-११ ॥

प्रश्न—'अनेकवक्त्रनयनम्'का क्या अर्थ है ?

उत्तर—जिसके नाना प्रकारके असंख्य मुख और आँखें हो, उस रूपको 'अनेकवक्त्रनयन' कहते हैं। अर्जुनने भगवान्‌का जो रूप देखा, उसके प्रधान नेत्र तो चन्द्रमा और सूर्य बतलाये गये हैं (११ । १९); परन्तु उसके अंदर दिखलायी देनेवाले असंख्य प्राणियोंके विभिन्न मुख और नेत्र थे, इसीसे भगवान्‌को अनेक मुखों और नयनोंसे युक्त बतलाया गया है।

प्रश्न—'अनेकाद्भुतदर्शनम्' का क्या अर्थ है ?

उत्तर—जो दृश्य पहले कभी न देखे हुए हों, जिनका ढंग विचित्र और आश्चर्यजनक हो, उनको 'अद्भुत दर्शन' कहते हैं। जिस रूपमें ऐसे असंख्य अद्भुत दर्शन हों, उसे 'अनेकाद्भुतदर्शन' कहते हैं। भगवान्‌के उस विराट् रूपमें अर्जुनने ऐसे असंख्य अलौकिक विचित्र दृश्य देखे थे, इसी कारण उनके लिये यह विशेषण दिया गया है।

प्रश्न—'अनेकदिव्याभरणम्' का क्या अर्थ है ?

उत्तर—आभरण गहनोंको कहते हैं। जो गहने लौकिक गहनोंसे विलक्षण, तेजोमय और अलौकिक हों—उन्हें 'दिव्य' कहते हैं। तथा जो रूप ऐसे असंख्य दिव्य आभूषणोंसे विभूषित हो, उसे 'अनेकदिव्याभरण' कहते हैं। भगवान्‌का जो रूप अर्जुनने देखा था, वह नाना प्रकारके असंख्य तेजोमय दिव्य आभूषणोंसे युक्त था; इस कारण भगवान्‌के साथ यह विशेषण दिया गया है।

प्रश्न—'दिव्यानेकोद्यतायुधम्' का क्या अर्थ है ?

उत्तर—जिनसे युद्ध किया जाय, उन शस्त्रोंका नाम 'आयुध' है। और जो आयुध अलौकिक तथा तेजोमय हों उनको 'दिव्य' कहते हैं—जैसे भगवान् विष्णुके चक्र, गदा और धनुष आदि हैं। इस प्रकारके असंख्य दिव्य शस्त्र भगवान्‌ने अपने हाथोंमें उठा रक्खे थे, इसलिये उन्हें 'दिव्यानेकोद्यतायुध' कहा है।

प्रश्न—'दिव्यमाल्याम्बरधरम्' का क्या अर्थ है ?

उत्तर—जिसने बहुत उत्तम तेजोमय अलौकिक मालाएँ और वस्त्रोंको धारण कर रक्खा हो, उसे 'दिव्य-माल्याम्बरधर' कहते हैं। विश्वरूप भगवान्‌ने अपने गलेमें बहुत-सी सुन्दर-सुन्दर तेजोमय अलौकिक मालाएँ धारण कर रक्खी थीं तथा वे अनेक प्रकारके बहुत ही उत्तम तेजोमय अलौकिक वस्त्रोंसे सुसज्जित थे, इसलिये उनके साथ यह विशेषण दिया गया है।

प्रश्न—'दिव्यगन्धानुलेपनम्' का क्या अर्थ है ?

उत्तर—चन्दन आदि जो लौकिक गन्ध हैं, उनसे

विलक्षण अलौकिक गन्धको 'दिव्य गन्ध' कहते हैं। ऐसे दिव्य गन्धका अनुभव प्राकृत इन्द्रियोंसे न होकर दिव्य इन्द्रियोंद्वारा ही किया जा सकता है; जिसके समस्त अङ्गोंमें इस प्रकारका अत्यन्त मनोहर दिव्य गन्ध लगा हो, उसको 'दिव्यगन्धानुलेपन' कहते हैं।

प्रश्न—'सर्वाश्चर्यमयम्' का क्या अर्थ है ?

उत्तर—भगवान्‌के उस विराट्‌रूपमें उपर्युक्त प्रकारसे मुख, नेत्र, आभूषण, शस्त्र, माला, वस्त्र और गन्ध आदि सभी आश्चर्यजनक थे; इसलिये उन्हें 'सर्वाश्चर्यमय' कहा गया है।

प्रश्न—'अनन्तम्' का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जिसका कहीं अन्त, या किसी ओर भी ओर-छोर न हो, उसे 'अनन्त' कहते हैं। अर्जुनने भगवान्‌के जिस विश्वरूपके दर्शन किये, वह इतना लंबा-चौड़ा था जिसका कहीं भी अन्त न था; इसलिये उसको 'अनन्त' कहा है।

प्रश्न—'विश्वतोमुखम्' का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जिसके मुख सब दिशाओंमें हों, उसे 'विश्वतोमुख' कहते हैं। भगवान्‌के विराट्‌रूपमें दिखलायी देनेवाले असंख्य मुख समस्त विश्वमें व्याप्त थे, इसलिये उन्हें 'विश्वतोमुख' कहा है।

प्रश्न—'देवम्' पदका क्या अर्थ है और इसके प्रयोगका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जो प्रकाशमय और पूज्य हों, उन्हें देव कहते हैं। यहाँ 'देवम्' पदका प्रयोग करके सञ्जयने यह भाव दिखलाया है कि परम तेजोमय भगवान् श्रीकृष्णको अर्जुनने उपर्युक्त विशेषणोंसे युक्त देखा।

सम्बन्ध—उपर्युक्त विराट्‌स्वरूप परमदेव परमेश्वरका प्रकाश कैसा था, अब उसका वर्णन किया जाता है—

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥१२॥

आकाशमें हजार सूर्योंके एक साथ उदय होनेसे उत्पन्न जो प्रकाश हो, वह भी उस विश्वरूप परमात्माके प्रकाशके सदृश कदाचित् ही हो ॥ १२ ॥

प्रश्न—भगवान्‌के प्रकाशके साथ हजार सूर्योंके प्रकाशकी उपमा देनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इस उपमाके द्वारा विराट्‌स्वरूप भगवान्‌के दिव्य प्रकाशको निरुपम बतलाया गया है। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार हजारों तारे एक साथ उदय होकर भी सूर्यकी समानता नहीं कर सकते, उसी प्रकार हजार सूर्य यदि एक साथ आकाशमें उदय हो जायँ तो उनका प्रकाश भी उस विराट्‌स्वरूप भगवान्‌के प्रकाशकी समानता नहीं कर सकता। इसका कारण यह है कि सूर्योंका प्रकाश अनित्य, भौतिक और सीमित है; परन्तु विराट्‌स्वरूप भगवान्‌का प्रकाश नित्य, दिव्य, अलौकिक और अपरिमित है।

सम्बन्ध—भगवान्‌के उस प्रकाशमय अद्भुत स्वरूपमें अर्जुनने सारे विश्वको किस प्रकार देखा, अब यह बतलाया जाता है—

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥१३॥

पाण्डुपुत्र अर्जुनने उस समय अनेक प्रकारसे विभक्त अर्थात् पृथक्-पृथक् सम्पूर्ण जगत्को देवोंके देव श्रीकृष्णभगवान्के उस शरीरमें एक जगह स्थित देखा ॥ १३ ॥

प्रश्न—यहाँ 'तदा' पद किस समयका वाचक है ?

उत्तर—जिस समय भगवान्‌ने अर्जुनको दिव्य दृष्टि देकर अपनी असाधारण योगशक्तिके सहित विराट् रूप देखनेके लिये आज्ञा दी (११ । ८), उसी समयका वाचक यहाँ 'तदा' पद है ।

प्रश्न—'जगत्' पदके साथ 'अनेकधा प्रविभक्तम्' और 'कृत्स्नम्' विशेषण देकर क्या भाव दिखलाया गया है ?

उत्तर—इन विशेषणोंका प्रयोग करके यहाँ यह भाव दिखलाया गया है कि देवता-मनुष्य, पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग और वृक्ष आदि भोक्तृवर्ग, पृथ्वी, अन्तरिक्ष, स्वर्ग और पाताल आदि भोग्यस्थान एवं उनके भोगनेयोग्य असंख्य सामग्रियोंके भेदसे विभिन्न—इस समस्त ब्रह्माण्डको अर्जुनने भगवान्‌के शरीरमें देखा; अर्थात् इसके किसी एक अंशको देखा हो या इसके समस्त भेदोंको विभिन्नभावसे पृथक्-पृथक् न देखकर मिले-जुले हुए देखा हो—ऐसी बात नहीं है, समस्त विस्तारको ज्यों-का-त्यों पृथक्-पृथक् देखा ।

प्रश्न—'एकस्थम्' के प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—दसवें अध्यायके अन्तमें भगवान्‌ने जो यह बात कही थी कि इस सम्पूर्ण जगत्को मैं एक अंशमें धारण किये हुए स्थित हूँ, उसीको यहाँ अर्जुनने प्रत्यक्ष देखा । इसी बातको स्पष्ट करनेके लिये 'एकस्थम्' (अर्थात् एक जगह स्थित) पदका प्रयोग किया गया है ।

प्रश्न—'तत्र' पद किसका विशेषण है और इसके प्रयोगका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'तत्र' पद पूर्वके वर्णनसे सम्बन्ध रखता है और यहाँ यह देवोंके देव भगवान्‌के शरीरका विशेषण है । इसका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया गया है कि देवताओंके भी देवता, सर्वश्रेष्ठ, ब्रह्मादि देवताओंके भी पूज्य भगवान् श्रीकृष्णके उपर्युक्त रूपमें पाण्डुपुत्र अर्जुनने समस्त जगत्को उनके एक अंशमें स्थित देखा ।

सम्बन्ध—इस प्रकार अर्जुनद्वारा भगवान्‌के विराट् रूपके देखे जानेके पश्चात् क्या हुआ, इस जिज्ञासापर कहते हैं—

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥१४॥

उसके अनन्तर वह आश्चर्यसे चकित और पुलकितशरीर अर्जुन प्रकाशमय विश्वरूप परमात्माको श्रद्धा-भक्तिसहित सिरसे प्रणाम करके हाथ जोड़कर बोला— ॥ १४ ॥

प्रश्न—'ततः' पदका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'ततः' पद 'तत्पश्चात्' का वाचक है । इसका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया गया है कि अर्जुनने जब भगवान्‌के उपर्युक्त अद्भुत प्रभावशाली रूपके दर्शन किये, तब उनमें इस प्रकारका परिवर्तन हो गया ।

प्रश्न—'धनञ्जयः' के साथ 'विस्मयाविष्टः' और 'हृष्टरोमा' इन दो विशेषणोंके प्रयोगका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—बहुत-से राजाओंपर विजय प्राप्त करके अर्जुनने धनसंग्रह किया था, इसलिये उनका एक नाम 'धनञ्जय' हो गया था । यहाँ उस 'धनञ्जयः' पदके

साथ-साथ 'विस्मयाविष्ट:' और 'हृष्टरोमा' इन दोनों विशेषणोंका प्रयोग करके अर्जुनके हर्ष और आश्चर्यकी अधिकता दिखलायी गयी है । अभिप्राय यह है कि भगवान्‌के उस रूपको देखकर अर्जुनको इतना महान् हर्ष और आश्चर्य हुआ, जिसके कारण उसी क्षण उनका समस्त शरीर पुलकित हो गया ! उन्होंने इससे पूर्व भगवान्‌का ऐसा ऐश्वर्यपूर्ण स्वरूप कभी नहीं देखा था; इसलिये इस अलौकिक रूपको देखते ही उनके हृदय-पटपर सहसा भगवान्‌के अपरिमित प्रभावका कुछ अंश अङ्कित हो गया, भगवान्‌का कुछ प्रभाव उनके समझमें आया । इससे उनके हर्ष और आश्चर्यकी सीमा न रही ।

प्रश्न—'देवम्' पद किसका वाचक है तथा 'शिरसा प्रणम्य' और 'कृताञ्जलि:' का क्या भाव है ?

उत्तर—यहाँ 'देवम्' पद भगवान्‌के तेजोमय विराट् स्वरूपका वाचक है । और 'शिरसा प्रणम्य' तथा 'कृताञ्जलि:' इन दोनों पदोंका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया गया है कि अर्जुनने जब भगवान्‌का ऐसा अनन्त आश्चर्यमय दृश्योंसे युक्त, परम प्रकाशमय और असीम ऐश्वर्यसमन्वित महान् स्वरूप देखा तब उससे वे इतने प्रभावित हुए कि उनके मनमें जो पूर्वजीवनकी मित्रताका एक भाव था, वह सहसा विलुप्त-सा हो गया; भगवान्‌की महिमाके सामने वे अपनेको अत्यन्त तुच्छ समझने लगे । भगवान्‌के प्रति उनके हृदयमें अत्यन्त पूज्यभाव जाग्रत् हो गया और उस पूज्य-भावके प्रवाहने बिजलीकी तरह गति उत्पन्न करके उनके मस्तकको उसी क्षण भगवान्‌के चरणोंमें टिका दिया और वे हाथ जोड़कर बड़े ही विनम्रभावसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक भगवान्‌का स्तवन करने लगे ।

सम्बन्ध—उपर्युक्त प्रकारसे हर्ष और आश्चर्यसे चकित अर्जुन अब भगवान्‌के विश्वरूपमें दीख पड़नेवाले दृश्योंका वर्णन करते हुए उस विश्वरूपका स्तवन करते हैं—

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥१५॥

अर्जुन बोले—हे देव ! मैं आपके शरीरमें सम्पूर्ण देवोंको तथा अनेक भूतोंके समुदायोंको, कमलके आसनपर विराजित ब्रह्माको, महादेवको और सम्पूर्ण ऋषियोंको तथा दिव्य सर्पोंको देखता हूँ ॥ १५ ॥

प्रश्न—यहाँ 'देव' सम्बोधनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—भगवान्‌के तेजोमय अद्भुत रूपको देखकर अर्जुनका भगवान्‌में जो श्रद्धा-भक्तियुक्त अत्यन्त पूज्य-भाव हो गया था, उसीको दिखलानेके लिये यहाँ 'देव' सम्बोधनका प्रयोग किया गया है ।

प्रश्न—'तव देहे' का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इन दोनों पदोंका प्रयोग करके अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आपका जो शरीर मेरे सामने उपस्थित है, उसीके अंदर मैं इन सबको देख रहा हूँ ।

प्रश्न—जब अर्जुनने यह बात कह दी कि मैं आपके शरीरमें समस्त चराचर प्राणियोंके विभिन्न समुदायोंको देख रहा हूँ, तब फिर समस्त देवोंको देख रहा हूँ—यह कहनेकी क्या आवश्यकता रह गयी ?

उत्तर—जगत्‌के समस्त प्राणियोंमें देवता सबसे श्रेष्ठ

माने जाते हैं, इसीलिये उनका नाम अलग लिया है।

प्रश्न—ब्रह्मा और शिव तो देवोंके अंदर आ ही गये, फिर उनके नाम अलग क्यों लिये गये और ब्रह्माके साथ 'कमलासनस्थम्' विशेषण क्यों दिया गया?

उत्तर—ब्रह्मा और शिव देवोंके भी देव हैं तथा ईश्वरकोटिमें हैं, इसलिये उनके नाम अलग लिये गये हैं। एवं ब्रह्माके साथ 'कमलासनस्थम्' विशेषण देकर अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि मैं भगवान् विष्णुकी नाभिसे निकले हुए कमलपर विराजित ब्रह्माको देख रहा हूँ अर्थात् उन्हींके साथ आपके विष्णुरूपको भी आपके शरीरमें देख रहा हूँ।

प्रश्न—समस्त ऋषियोंको और दिव्य सर्पोंको अलग बतलानेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—मनुष्यलोकके अंदर सब प्राणियोंमें ऋषियोंको और पाताललोकमें वासुकि आदि दिव्य सर्पोंको श्रेष्ठ माना गया है। इसीलिये उनको अलग बतलाया है।

यहाँ स्वर्ग, मर्त्य और पाताल तीनों लोकोंके प्रधान-प्रधान व्यक्तियोंके समुदायकी गणना करके अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि मैं त्रिभुवनात्मक समस्त विश्वको आपके शरीरमें देख रहा हूँ।

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥१६॥

हे सम्पूर्ण विश्वके स्वामिन्! आपको अनेक भुजा, पेट, मुख और नेत्रोंसे युक्त तथा सब ओरसे अनन्त रूपोंवाला देखता हूँ। हे विश्वरूप! मैं आपके न अन्तको देखता हूँ न मध्यको और न आदिको ही ॥१६॥

प्रश्न—'विश्वेश्वर' और 'विश्वरूप' इन दोनों सम्बोधनों का क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इन दोनों सम्बोधनोंका प्रयोग करके अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आप ही इस समस्त विश्वके कर्ता-हर्ता और सबको अपने-अपने कार्योंमें नियुक्त करनेवाले सबके अधीश्वर हैं और यह समस्त विश्व वस्तुतः आपका ही स्वरूप है, आप ही इसके निमित्त और उपादान कारण हैं।

प्रश्न—'अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रम्' का क्या अर्थ है?

उत्तर—इससे अर्जुनने यह दिखलाया है कि आपको इस समय मैं जिस रूपमें देख रहा हूँ, उसके भुजा, पेट, मुख और नेत्र असंख्य हैं; उनकी कोई किसी भी प्रकारसे गणना नहीं कर सकता।

प्रश्न—'सर्वतः अनन्तरूपम्' का क्या भाव है?

उत्तर—इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आपको इस समय मैं सब ओरसे अनेक प्रकारके पृथक्-पृथक् अगणित रूपोंसे युक्त देख रहा हूँ, अर्थात् आपके इस एक ही शरीरमें मुझे बहुत-से भिन्नभिन्न रूप चारों-ओर फैले हुए दीख रहे हैं।

प्रश्न—आपके आदि, मध्य और अन्तको नहीं देख रहा हूँ—इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इस कथनसे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आपके इस विराट्रूपका मैं कहीं भी आदि और अन्त नहीं देख रहा हूँ, अर्थात् मुझे यह नहीं मालूम हो रहा है कि यह कहाँसे कहाँतक फैला हुआ है। और इस प्रकार आदि-अन्तका पता न लगनेके कारण मैं यह भी नहीं समझ रहा हूँ कि इसका बीच कहाँ है;

इसलिये मैं आपके मध्यको भी नहीं देख रहा हूँ। मुझे तो आगे-पीछे, दाहिने-बायें और ऊपर-नीचे—सब ओरसे आप सीमारहित दिखलायी पड़ रहे हैं। किसी ओरसे भी आपकी कोई सीमा नहीं दीखती।

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्॥१७॥

आपको मैं मुकुटयुक्त, गदायुक्त और चक्रयुक्त तथा सब ओरसे प्रकाशमान तेजके पुञ्ज, प्रज्वलित अग्नि और सूर्यके सदृश ज्योतियुक्त, कठिनतासे देखे जानेयोग्य और सब ओरसे अप्रमेयस्वरूप देखता हूँ॥१७॥

प्रश्न—'किरीटिनम्', 'गदिनम्' और 'चक्रिणम्'का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जिसके सिरपर किरीट अर्थात् अत्यन्त शोभा और तेजसे युक्त मुकुट विराजित हो, उसे 'किरीटी' कहते हैं; जिसके हाथमें 'गदा' हो, उसे 'गदी' कहते हैं और जिसके पास 'चक्र' हो उसे 'चक्री' कहते हैं। इन तीनों पदोंका प्रयोग करके अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि मैं आपके इस अद्भुत रूपमें भी आपको महान् तेजोमय मुकुट धारण किये तथा हाथमें गदा और चक्र लिये हुए ही देख रहा हूँ।

प्रश्न—'सर्वतः दीप्तिमन्तम्' और 'तेजोराशिम्' का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जिसका दिव्य प्रकाश ऊपर-नीचे, बाहर-भीतर एवं सब दिशाओंमें फैला हुआ हो—उसे 'सर्वतो दीप्तिमान्' कहते हैं। तथा प्रकाशके समूहको 'तेजोराशि' कहते हैं। इन दोनों पदोंका प्रयोग करके अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आपका यह विराट्रूप मुझको मूर्तिमान् तेजपुञ्ज तथा सब ओरसे परम प्रकाशयुक्त दिखलायी दे रहा है।

प्रश्न—'सर्वतो दीप्तिमन्तम्' और 'तेजोराशिम्' यह विशेषण दे चुकनेके बाद उसी भावके द्योतक 'दीप्तानलार्कद्युतिम्' पदके प्रयोगकी क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—भगवान्का वह विराट् रूप परम प्रकाशयुक्त और मूर्तिमान् तेजपुञ्ज कैसे था, अग्नि और सूर्यकी उपमा देकर इसी बातका ठीक-ठीक अनुमान करा देनेके लिये 'दीप्तानलार्कद्युतिम्' पदका प्रयोग किया गया है। अर्जुन इससे यह भाव दिखला रहे हैं कि जैसे प्रज्वलित अग्नि और प्रकाशपुञ्ज सूर्य प्रकाशमान तेजकी राशि हैं, वैसे ही आपका यह विराट्स्वरूप उनसे भी असंख्यगुना अधिक प्रकाशमान तेजपुञ्ज है। अर्थात् अग्नि और सूर्यका वह तेज तो किसी एक ही देशमें दिखलायी पड़ता है, परन्तु आपका तो यह विराट् शरीर सभी ओरसे उनसे भी अनन्तगुना अधिक तेजोमय दीख रहा है।

प्रश्न—'दुर्निरीक्ष्यम्' का क्या भाव है ? और यदि भगवान्का वह रूप दुर्निरीक्ष्य था, तो अर्जुन कैसे उसको देख रहे थे ?

उत्तर—अत्यन्त अद्भुत प्रकाशसे युक्त होनेके कारण प्राकृत नेत्र उस रूपके सामने खुले नहीं रह सकते, अतएव सर्वसाधारणके लिये उसको 'दुर्निरीक्ष्य' बतलाया गया है। अर्जुनको तो भगवान्ने उस रूपको देखनेके लिये ही दिव्य दृष्टि दी थी और उसीके द्वारा वे उसको देख रहे थे। इस कारण दूसरोंके लिये दुर्निरीक्ष्य होनेपर भी उनके लिये वैसी बात नहीं थी।

प्रश्न—'समन्तात् अप्रमेयम्' का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जो मापा न जा सके या किसी भी उपायसे जिसकी सीमा न जानी जा सके, वह 'अप्रमेय' है। जो सब ओरसे अप्रमेय है, उसे 'समन्तात् अप्रमेय' कहते हैं। इसका प्रयोग करके अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आपके गुण, प्रभाव, शक्ति और स्वरूपको कोई भी प्राणी किसी भी उपायसे पूर्णतया नहीं जान सकता।

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥१८॥

आप ही जानने योग्य परम अक्षर अर्थात् परब्रह्म परमात्मा हैं, आप ही इस जगत्‌के परम आश्रय हैं, आप ही अनादि धर्मके रक्षक हैं और आप ही अविनाशी सनातन पुरुष हैं। ऐसा मेरा मत है ॥१८॥

प्रश्न—'वेदितव्यम्' और 'परमम्' विशेषणके सहित 'अक्षरम्' पद किसका वाचक है और इससे क्या बात कही गयी है?

उत्तर—जिस परमतत्त्वको मुमुक्षु पुरुष जाननेकी इच्छा करते हैं, जिसके जाननेके लिये जिज्ञासु साधक नाना प्रकारके साधन करते हैं, आठवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें जिस परम अक्षरको ब्रह्म बतलाया गया है—उसी परम तत्त्वस्वरूप सच्चिदानन्दघन निर्गुण निराकार परब्रह्म परमात्माका वाचक यहाँ 'वेदितव्यम्' और 'परमम्' विशेषणोंके सहित 'अक्षरम्' पद है; और इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आपका विराट् रूप देखकर मुझे यह दृढ़ निश्चय हो गया कि वह परब्रह्म परमात्मा निर्गुण ब्रह्म भी आप ही हैं।

प्रश्न—'निधानम्' पदका क्या अर्थ है और भगवान्‌को इस जगत्‌का परम निधान बतलानेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—जिस स्थानमें कोई वस्तु रक्खी जाय, वह उस वस्तुका निधान अथवा आधार (आश्रय) कहलाता है। यहाँ अर्जुनने भगवान्‌को इस जगत्‌का निधान कहकर यह भाव दिखलाया है कि कारण और कार्यके सहित यह सम्पूर्ण जगत् आपमें ही स्थित है, आपने ही इसे धारण कर रक्खा है; अतएव आप ही इसके आश्रय हैं।

प्रश्न—'शाश्वतधर्म' किसका वाचक है और भगवान्‌को उसके 'गोप्ता' बतलानेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—जो सदासे चला आता हो और सदा रहनेवाला हो, उस सनातन (वैदिक) धर्मको 'शाश्वतधर्म' कहते हैं। भगवान् बार-बार अवतार लेकर उसी धर्मकी रक्षा करते हैं, इसलिये भगवान्‌को अर्जुनने 'शाश्वतधर्मगोप्ता' कहा है।

प्रश्न—'अव्यय' और 'सनातन' विशेषणोंके सहित 'पुरुष' शब्दके प्रयोगका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—जिसका कभी नाश न हो, उसे 'अव्यय' कहते हैं; तथा जो सदासे हो और सदा एकरस बना रहे, उसे 'सनातन' कहते हैं। इन दोनों विशेषणोंके सहित 'पुरुष' शब्दका प्रयोग करके अर्जुनने यह बतलाया है कि जिनका कभी नाश नहीं होता—ऐसे समस्त जगत्‌के हर्ता, कर्ता, सर्वशक्तिमान्, सम्पूर्ण विकारोंसे रहित, सनातन परम पुरुष साक्षात् परमेश्वर आप ही हैं।

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥१९॥

आपको आदि, अन्त और मध्यसे रहित, अनन्त सामर्थ्यसे युक्त, अनन्त भुजावाले, चन्द्र-सूर्यरू नेत्रोंवाले, प्रज्वलित अग्निरूप मुखवाले और अपने तेजसे इस जगत्को संतप्त करते हु देखता हूँ ॥१९॥

प्रश्न—१६वें श्लोकमें अर्जुनने यह कहा था कि मैं आपके आदि, मध्य और अन्तको नहीं देख रहा हूँ; फिर यहाँ इस कथनसे कि 'मैं आपको आदि, मध्य और अन्तसे रहित देख रहा हूँ' पुनरुक्तिका-सा दोष प्रतीत होता है। अतः इसका क्या भाव है ?

उत्तर—वहाँ अर्जुनने भगवान्के विराट् रूपको असीम बतलाया है और यहाँ उसे उत्पत्ति आदि छः विकारोंसे रहित नित्य बतलाया है। इसलिये पुनरुक्तिका दोष नहीं है। इसका अर्थ इस प्रकार समझना चाहिये कि 'आदि'शब्द उत्पत्तिका, 'मध्य' उत्पत्ति और विनाशके बीचमें होनेवाले स्थिति, वृद्धि, क्षय और परिणाम—इन चारों भावविकारोंका और 'अन्त' शब्द विनाशरूप विकारका वाचक है। ये तीनों जिसमें न हों, उसे 'अनादिमध्यान्त' कहते हैं। अतएव यहाँ अर्जुनके इस कथनका यह भाव है कि मैं आपको उत्पत्ति आदि छः भावविकारोंसे सर्वथा रहित देख रहा हूँ।

प्रश्न—'अनन्तवीर्यम्' का क्या भाव है ?

उत्तर—'वीर्य' शब्द सामर्थ्य, बल, तेज और शक्ति आदिका वाचक है। जिसके वीर्यका अन्त न हो, उसे 'अनन्तवीर्य' कहते हैं। यहाँ अर्जुनने भगवान्को 'अनन्तवीर्य' कहकर यह भाव दिखलाया है कि आपके बल, वीर्य, सामर्थ्य और तेजकी कोई भी सीमा नहीं है।

प्रश्न—'अनन्तबाहुम्'का क्या भाव है ?

उत्तर—जिसकी भुजाओंका पार न हो, उसे 'अनन्तबाहु' कहते हैं। इससे अर्जुनने यह भ दिखलाया है कि आपके इस विराट् रूपमें मैं जिस ओ देखता हूँ, उसी ओर मुझे अगणित भुजाएँ दिखला दे रही हैं।

प्रश्न—'शशिसूर्यनेत्रम्'का क्या अर्थ है ?

उत्तर—इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि चन्द्रमा और सूर्यको मैं आपके दोनों नेत्रोंके स्थान देख रहा हूँ। अभिप्राय यह है कि आपके इ विराट्स्वरूपमें मुझे सब ओर आपके असंख्य मु दिखलायी दे रहे हैं; उनमें जो आपका प्रधान मुख है उस मुखपर नेत्रोंके स्थानमें मैं चन्द्रमा और सूर्य देख रहा हूँ।

प्रश्न—'दीप्तहुताशवक्त्रम्'का क्या भाव है ?

उत्तर—'हुताश' अग्निका नाम है तथा प्रज्वलि अग्निको 'दीप्तहुताश' कहते हैं; और जिसका मुख उ प्रज्वलित अग्निके सदृश प्रकाशमान और तेजपूर्ण हो उसे 'दीप्तहुताशवक्त्र' कहते हैं। इससे अर्जुनने य भाव दिखलाया है कि आपके प्रधान मुखको मैं स ओरसे प्रज्वलित अग्निकी भाँति तेज और प्रकाशसे यु देख रहा हूँ।

प्रश्न—'स्वतेजसा इदं विश्वं तपन्तम्' का क अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे अर्जुनने यह बतलाया है कि मु ऐसा दिखलायी दे रहा है, मानो आप अपने तेजसे इ सारे विश्वको—जिसमें मैं खड़ा हूँ—जला रहे हैं।

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥२०॥

हे महात्मन् ! यह स्वर्ग और पृथ्वीके बीचका सम्पूर्ण आकाश तथा सब दिशाएँ एक आपसे ही परिपूर्ण हैं; तथा आपके इस अलौकिक और भयङ्कर रूपको देखकर तीनों लोक अति व्यथाको प्राप्त हो रहे हैं ॥ २० ॥

प्रश्न—इस श्लोकका क्या तात्पर्य है ?

उत्तर—'महात्मन्' सम्बोधनसे भगवान्‌को समस्त विश्वके महान् आत्मा बतलाकर अर्जुन यह कह रहे हैं कि आपका यह विराट् रूप इतना विस्तृत है कि स्वर्ग और पृथ्वीके बीचका यह सम्पूर्ण आकाश और सभी दिशाएँ उससे व्याप्त हो रही हैं। ऐसा कोई स्थान मुझे नहीं दीखता, जहाँ आपका यह स्वरूप न हो। साथ ही मैं यह देख रहा हूँ कि आपका यह अद्भुत और अत्यन्त उग्र रूप इतना भयानक है कि स्वर्ग, मर्त्य और अन्तरिक्ष—इन तीनों लोकोंके जीव इसे देखकर भयके मारे अत्यन्त ही त्रस्त—पीडित हो रहे हैं। उनकी दशा अत्यन्त ही शोचनीय हो गयी है !

अमी हि त्वां सुरसङ्घा विशन्ति केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसङ्घाः स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥२१॥

वे ही सब देवताओंके समूह आपमें प्रवेश करते हैं और कुछ भयभीत होकर हाथ जोड़े आपके नाम और गुणोंका उच्चारण करते हैं तथा महर्षि और सिद्धोंके समुदाय 'कल्याण हो' ऐसा कहकर उत्तम-उत्तम स्तोत्रोंद्वारा आपकी स्तुति करते हैं ॥ २१ ॥

प्रश्न—'सुरसङ्घाः'के साथ 'अमी' विशेषण देकर 'वे सब आपमें प्रवेश कर रहे हैं' यह कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'सुरसङ्घाः' पदके साथ परोक्षवाची 'अमी' विशेषण देकर अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि मैं जब स्वर्गलोक गया था, तब वहाँ जिन-जिन देवसमुदायोंको मैंने देखा था—मैं आज देख रहा हूँ कि वे ही आपके इस विराट् रूपमें प्रवेश कर रहे हैं।

प्रश्न—कितने ही भयभीत होकर हाथ जोड़े आपके नाम और गुणोंका उच्चारण कर रहे हैं—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि बहुत-से देवताओंको भगवान्‌के उग्र रूपमें प्रवेश करते देखकर शेष बचे हुए देवता अपनी बहुत देरतक बचे रहनेकी सम्भावना न जानकर डरके मारे हाथ जोड़कर आपके नाम और गुणोंका बखान करते हुए आपको प्रसन्न करनेकी चेष्टा कर रहे हैं।

प्रश्न—'महर्षिसिद्धसङ्घाः' किनका वाचक है और वे 'सबका कल्याण हो' ऐसा कहकर पुष्कल स्तोत्रोंद्वारा आपकी स्तुति करते हैं, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—मरीचि, अङ्गिरा, भृगु आदि महर्षियोंके और ज्ञाताज्ञात सिद्धजनोंके जितने भी विभिन्न समुदाय हैं—उन सभीका वाचक यहाँ 'महर्षिसिद्धसङ्घाः' पद है। वे 'सबका कल्याण हो' ऐसा कहकर पुष्कल

स्तोत्रोंद्वारा आपकी स्तुति करते हैं—इस कथनसे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आपके तत्त्वका यथार्थ रहस्य जाननेवाले होनेके कारण वे आपके इस उग्र रूपको देखकर भयभीत नहीं हो रहे हैं, वरं समस्त जगत्‌के कल्याणके लिये प्रार्थना करते हु[ए] अनेकों प्रकारके सुन्दर भावमय स्तोत्रोंद्वारा श्रद्धा औ[र] प्रेमपूर्वक आपका स्तवन कर रहे हैं—ऐसा मैं दे[ख] रहा हूँ।

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥२२॥

जो ग्यारह रुद्र और बारह आदित्य तथा आठ वसु, साध्यगण, विश्वेदेव, अश्विनीकुमा[र] तथा मरुद्गण और पितरोंका समुदाय तथा गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और सिद्धोंके समुदाय हैं—वे सब ह[ी] विस्मित होकर आपको देखते हैं ॥ २२ ॥

प्रश्न—'रुद्राः', 'आदित्याः', 'वसवः', 'साध्याः', 'विश्वे', 'अश्विनौ' और 'मरुतः'—ये सब अलग-अलग किन-किन देवताओंके वाचक हैं ?

उत्तर—ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, आठ वसु और उन्चास मरुत्—इन चार प्रकारके देवताओंके समूहोंका वर्णन तो दसवें अध्यायके २१ वें और २३ वें श्लोकोंकी व्याख्यामें और अश्विनीकुमारोंका ग्यारहवें अध्यायके ६ठे श्लोककी व्याख्यामें किया जा चुका है—वहाँ देखना चाहिये । मन, अनुमन्त[ा], प्राण, नर, यान, चित्ति, हय, नय, हंस, नारायण, प्रभव और विभु—ये बारह साध्यदेवता हैं।* और क्रतु, दक्ष, श्रव, सत्य, काल, काम, धुनि, कुरुवान्, प्रभवान् और रोचमान—ये दस विश्वेदेव हैं।† आदित्य और रुद्र आदि देवताओंके आठ ग[ण] (समुदाय) हैं, उन्हींमेंसे साध्य और विश्वेदेव भ[ी] दो विभिन्न गण हैं (ब्रह्माण्डपु० ७१ । २)।

* मनोऽनुमन्ता प्राणश्च नरो यानश्च वीर्यवान् ॥
चित्तिर्हयो नयश्चैव हंसो नारायणस्तथा ।
प्रभवोऽथ विभुश्चैव साध्या द्वादश जज्ञिरे ॥
(वायुपुराण ६६ । १५, १६)

धर्मकी पत्नी दक्षकन्या साध्यासे इन बारह साध्यदेवताओंकी उत्पत्ति हुई थी । स्कन्दपुराणमें इनके इस प्रका[र] नामान्तर मिलते हैं—मन, अनुमन्ता, प्राण, नर, अपान, भक्ति, भय, अनघ, हंस, नारायण, विभु और प्रभु (स्कन्द० प्रभासख० २१ । १७-१८) मन्वन्तर-भेदसे सब ठीक है ।

† विश्वेदेवास्तु विश्वाया जज्ञिरे दश विश्रुताः ।
क्रतुर्दक्षः श्रवः सत्यः कालः कामो धुनिस्तथा ।
कुरुवान् प्रभवांश्चैव रोचमानश्च ते दश ॥
(वायुपुराण ६६ । ३१, ३२)

धर्मकी पत्नी दक्षकन्या विश्वासे इन दस विश्वेदेवोंकी उत्पत्ति हुई थी । कुछ पुराणोंमें मन्वन्तर-भेदसे इनके भ[ी] नामान्तर मिलते हैं ।

प्रश्न—'ऊष्मपाः' पद किनका वाचक है ?

उत्तर—जो ऊष्म (गरम) अन्न खाते हों, उनको 'ऊष्मपाः' कहते हैं। मनुस्मृतिके तीसरे अध्यायके २३७वें श्लोकमें कहा है कि पितरलोग गरम अन्न ही खाते हैं। अतएव यहाँ 'ऊष्मपाः' पद पितरोंके समुदाय* का वाचक समझना चाहिये।

प्रश्न—'गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घाः' यह पद किन-किन समुदायोंका वाचक है ?

उत्तर—कश्यपजीकी पत्नी मुनि और प्राधासे तथा अरिष्टासे गन्धर्वोंकी उत्पत्ति मानी गयी है, ये राग-रागिनियोंके ज्ञानमें निपुण हैं और देवलोककी वाद्य-नृत्यकलामें कुशल समझे जाते हैं। यक्षोंकी उत्पत्ति महर्षि कश्यपकी खसा नामक पत्नीसे मानी गयी है। भगवान् शङ्करके गणोंमें भी यक्षलोग हैं। इन यक्षोंके और उत्तम राक्षसोंके राजा कुबेर माने जाते हैं। देवताओंके विरोधी दैत्य, दानव और राक्षसोंको असुर कहते हैं। कश्यपजीकी स्त्री दितिसे उत्पन्न होनेवाले 'दैत्य' और 'दनु' से उत्पन्न होनेवाले 'दानव' कहलाते हैं। राक्षसोंकी उत्पत्ति विभिन्न प्रकारसे हुई है। कपिल आदि सिद्धजनोंको 'सिद्ध' कहते हैं। इन सबके विभिन्न अनेकों समुदायोंका वाचक यहाँ 'गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घाः' पद है।

प्रश्न—वे सब विस्मित होकर आपको देख रहे हैं, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इस कथनसे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि उपर्युक्त सभी देवता, पितर, गन्धर्व, यक्ष, असुर और सिद्धोंके भिन्न-भिन्न समुदाय आश्चर्यचकित होकर आपके इस अद्भुत रूपकी ओर देख रहे हैं—ऐसा मुझे दिखलायी देता है।

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम्॥२३॥

हे महाबाहो! आपके बहुत मुख और नेत्रोंवाले, बहुत हाथ, जङ्घा और पैरोंवाले, बहुत उदरोंवाले और बहुत-सी दाढ़ोंवाले, अतएव विकराल महान् रूपको देखकर सब लोक व्याकुल हो रहे हैं तथा मैं भी व्याकुल हो रहा हूँ॥ २३॥

प्रश्न—१६वें श्लोकमें अर्जुनने यह कह दिया था कि मैं आपके विराट् रूपको अनेक भुजाओं, उदरों, मुखों और नेत्रोंसे युक्त देख रहा हूँ; फिर इस श्लोकमें पुनः उसीके लिये 'बहुवक्त्रनेत्रम्', 'बहुबाहूरुपादम्' और 'बहूदरम्' विशेषण देनेकी क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—१६वें श्लोकमें अर्जुनने केवल उस रूपको देखनेकी बात ही कही थी और यहाँ उसे देखकर अन्य लोकोंके और स्वयं अपने व्याकुल हो जानेकी बात कह रहे हैं, इसी कारण उस रूपका पुनः वर्णन किया है।

प्रश्न—तीनों लोकोंके व्यथित होनेकी बात भी २०वें श्लोकमें कह दी गयी थी, फिर इस श्लोकमें पुनः कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—२०वें श्लोकमें विराट् रूपके असीम विस्तार (लंबाई-चौड़ाई) और उसकी उग्रताको देखकर केवल तीनों लोकोंके ही व्याकुल होनेकी बात कही

* पितरोंके नाम दसवें अध्यायके २९वें श्लोककी व्याख्यामें बतलाये जा चुके हैं।

गयी है और इस श्लोकमें अर्जुन उसके अनेक हाथ, पैर, जङ्घा, मुख, नेत्र, पेट और दाढ़ोंको देखकर अपने व्याकुल होनेकी भी बात कह रहे हैं; इसलि[ये] पुनरुक्तिका दोष नहीं है।

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।

दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥२४॥

क्योंकि हे विष्णो! आकाशको स्पर्श करनेवाले, देदीप्यमान, अनेक वर्णोंसे युक्त तथा फैला[ये] हुए मुख और प्रकाशमान विशाल नेत्रोंसे युक्त आपको देखकर भयभीत अन्तःकरणवाला मैं धीरज औ[र] शान्ति नहीं पाता हूँ॥ २४॥

प्रश्न—२०वें श्लोकमें स्वर्ग और पृथ्वीके बीचका आकाश भगवान्‌से व्याप्त बतलाकर उसकी सीमारहित लंबाईका वर्णन कर ही चुके थे, फिर यहाँ 'नभःस्पृशम्' विशेषण देनेकी आवश्यकता क्यों हुई?

उत्तर—२०वें श्लोकमें विराट् रूपकी लंबाई-चौड़ाईका वर्णन करके तीनों लोकोंके व्याकुल होनेकी बात कही गयी है; और इस श्लोकमें उसकी असीम लंबाईको देखकर अर्जुनने अपनी व्याकुलताका और धैर्य तथा शान्तिके नाशका वर्णन किया है; इस कारण यहाँ 'नभःस्पृशम्' विशेषणका प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—श्लोक १७में 'दीप्तिमन्तम्' विशेषण दिया ही गया था, फिर यहाँ 'दीप्तम्' विशेषण देनेकी क्या आवश्यकता थी?

उत्तर—वहाँ केवल भगवान्‌के रूपको देखनेकी ही बात कही गयी थी और यहाँ उसे देखकर धैर्य और शान्तिके भङ्ग होनेकी बात कही गयी है। इसीलि[ये] उस रूपका पुनः वर्णन किया गया है।

प्रश्न—अर्जुनने अपने व्याकुल होनेकी बात भी २३वें श्लोकमें कह दी थी, फिर इस श्लोकमें 'प्रव्यथितान्तरात्मा' विशेषण देकर क्या भाव दिखलाया है?

उत्तर—वहाँ केवल व्याकुल होनेकी बात ही कही थी। यहाँ अपनी स्थितिको भलीभाँति प्रकट करनेके लिये वे पुनः कहते हैं कि मैं केवल व्याकुल ही नहीं हो रहा हूँ, आपके फैलाये हुए मुखों और प्रज्वलित नेत्रोंसे युक्त इस विकराल रूपको देखकर मेरी धीरता और शान्ति भी जाती रही है।

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसंनिभानि।

दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥२५॥

आपके दाढ़ोंके कारण विकराल और प्रलयकालकी अग्निके समान प्रज्वलित मुखोंको देखकर मैं दिशाओंको नहीं जानता हूँ और सुख भी नहीं पाता हूँ। इसलिये हे देवेश! हे जगन्निवास! आप प्रसन्न हों॥ २५॥

प्रश्न—२३वें श्लोकमें भगवान्‌के विराट्‌रूपका विशेषण 'बहुदंष्ट्राकरालम्' दे ही दिया था, फिर यहाँ पुनः उनके मुखोंका विशेषण—'दंष्ट्राकरालानि' देनेकी क्या आवश्यकता है?

उत्तर—वहाँ उस रूपको देखकर अर्जुनने अप[ने] व्याकुल होनेकी बात कही थी और यहाँ दिग्भ्रम और सुखके अभावकी बात विशेषरूपसे कह रहे हैं, इसलि[ये] उसी विशेषणका पुनः मुखोंके साथ प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—'देवेश' और 'जगन्निवास'—इन दो सम्बोधनोंका प्रयोग करके भगवान्‌को प्रसन्न होनेके लिये प्रार्थना करनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'देवेश' और 'जगन्निवास'—इन दोनों सम्बोधनोंका प्रयोग करके अर्जुन यह भाव दिखलाते हैं कि आप समस्त देवताओंके स्वामी, सर्वव्यापी और सम्पूर्ण जगत्‌के परमाधार हैं—इस बातको तो मैंने पहलेसे ही सुन रक्खा था; और मेरा विश्वास भी था कि आप ऐसे ही हैं। आज मैंने आपका वह विराट् स्वरूप प्रत्यक्ष देख लिया। अब तो आपके 'देवेश' और 'जगन्निवास' होनेमें कोई सन्देह ही नहीं रह गया। और प्रसन्न होनेके लिये प्रार्थना करनेका यह भाव है कि 'प्रभो! आपका प्रभाव तो मैंने प्रत्यक्ष देख ही लिया परन्तु आपके इस विराट् रूपको देखकर मेरी बड़ी ही शोचनीय दशा हो रही है; मेरे सुख, शान्ति और धैर्यका नाश हो गया है; यहाँतक कि मुझे दिशाओंका भी ज्ञान नहीं रह गया है। अतएव दया करके अब आप अपने इस विराट् स्वरूपको शीघ्र संवरण कर लीजिये।'

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः॥ २६॥
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः॥ २७॥

वे सभी धृतराष्ट्रके पुत्र राजाओंके समुदायसहित आपमें प्रवेश कर रहे हैं और भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य तथा वह कर्ण और हमारे पक्षके भी प्रधान योद्धाओंके सहित सब-के-सब बड़े वेगसे दौड़ते हुए आपके विकराल दाढ़ोंवाले भयानक मुखोंमें प्रवेश कर रहे हैं और कई एक चूर्ण हुए सिरोंसहित आपके दाँतोंके बीचमें लगे हुए दीख रहे हैं॥ २६-२७॥

प्रश्न—'धृतराष्ट्रस्य पुत्राः'के साथ 'अमी', 'सर्वे' और 'एव' इन पदोंके प्रयोगका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'अमी'से यह भाव दिखलाया है कि धृतराष्ट्रके पुत्र जिन दुर्योधनादिको मैं अभी-अभी अपने सामने युद्धके लिये तैयार खड़े देख रहा था, उन्हींको अब मैं आपमें प्रवेश होकर नष्ट होते देख रहा हूँ। तथा 'सर्वे' और 'एव'से यह भाव दिखलाया है कि वे दुर्योधनादि सारे-के-सारे ही आपके अंदर प्रवेश कर रहे हैं; उनमेंसे एक भी बचा हो, ऐसी बात नहीं है।

प्रश्न—'अवनिपालसङ्घैः' और 'सह' पदका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'अवनिपाल' शब्द राजाओंका वाचक है और ऐसे राजाओंके बहुत-से समूहोंको 'अवनिपालसङ्घ' कहते हैं। 'सह' पदका प्रयोग करके अर्जुनने यह दिखलाया है कि केवल धृतराष्ट्रपुत्रोंको ही मैं आपके अंदर प्रविष्ट करते नहीं देख रहा हूँ; उन्हींके साथ मैं उन सब राजाओंके समूहोंको भी आपके अंदर प्रवेश करते देख रहा हूँ, जो दुर्योधनकी सहायता करनेके लिये आये थे।

प्रश्न—भीष्म और द्रोणके नाम अलग गिनानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—पितामह भीष्म और गुरु द्रोण कौरव-सेनाके सर्वप्रधान महान् योद्धा थे। अर्जुनके मतमें

इनका परास्त होना या मारा जाना बहुत ही कठिन था । यहाँ उन दोनोंके नाम लेकर अर्जुन यह कह रहे हैं कि 'भगवन् ! दूसरोंके लिये तो कहना ही क्या है; मैं देख रहा हूँ, भीष्म और द्रोण-सरीखे महान् योद्धा भी आपके भयानक कराल मुखोंमें प्रवेश कर रहे हैं ।'

प्रश्न—सूतपुत्रके साथ 'असौ' विशेषण देकर क्या भाव दिखलाया है ?

उत्तर—वीरवर कर्णसे अर्जुनकी स्वाभाविक प्रतिद्वन्द्विता थी । इसलिये उनके नामके साथ 'असौ' विशेषणका प्रयोग करके अर्जुन यह भाव दिखलाते हैं कि अपनी शूरवीरताके दर्पमें जो कर्ण सबको तुच्छ समझते थे, वे भी आज आपके विकराल मुखोंमें पड़कर नष्ट हो रहे हैं ।

प्रश्न—'अपि' पदके प्रयोगका क्या भाव है तथा 'सह' पदका प्रयोग करके 'अस्मदीयैः' एवं 'योधमुख्यैः' इन दोनों पदोंसे क्या बात कही गयी है ?

उत्तर—'अपि' तथा प्रश्नमें आये हुए अन्यान्य पदोंका प्रयोग करके अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि केवल शत्रुपक्षके वीर ही आपके अंदर नहीं प्रवेश कर रहे हैं; हमारे पक्षके जो मुख्य-मुख्य वीर योद्धा हैं, शत्रुपक्षके वीरोंके साथ-साथ उन सबको भी मैं आपके विकराल मुखोंमें प्रवेश करते देख रहा हूँ ।

प्रश्न—'त्वरमाणाः' पद किनका विशेषण है और इसके प्रयोगका क्या भाव है तथा 'मुखानि' के सा[थ] 'दंष्ट्राकरालानि' और 'भयानकानि' विशेषण देकर क्या भाव दिखलाया है ?

उत्तर—'त्वरमाणाः' पूर्व श्लोकमें वर्णित दोनों पक्षों के सभी योद्धाओंका विशेषण है । 'दंष्ट्राकरालानि' उ[न] मुखोंका विशेषण है जो बड़ी-बड़ी भयानक दाढ़ोंके कारण बहुत विकराल आकृतिके हों; और 'भयानकानि' का अर्थ है—जो देखनेमात्रसे भय उत्पन्न करनेवाले हों । यहाँ इन पदोंका प्रयोग करके अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि पिछले श्लोकमें वर्णित दोनों पक्षोंके सभी योद्धाओंको मैं बड़े वेगके साथ दौड़-दौड़कर आपके बड़ी-बड़ी दाढ़ोंवाले विकराल और भयानक मुखोंमें प्रवेश करते देख रहा हूँ, अर्थात् मुझे यह प्रत्यक्ष दीख रहा है कि सभी वीर चारों ओरसे बड़े वेगके साथ दौड़-दौड़कर आपके भयङ्कर मुखोंमें प्रविष्ट होकर नष्ट हो रहे हैं ।

प्रश्न—कितने ही चूर्णित मस्तकोंसहित आपके दाँतोंमें फँसे हुए दीखते हैं, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि उन सबको केवल आपके मुखोंमें प्रविष्ट होते ही नहीं देख रहा हूँ; उनमेंसे कितनोंको ऐसी बुरी दशामें भी देख रहा हूँ कि उनके मस्तक चूर्ण हो गये हैं और वे बुरी तरहसे आपके दाँतोंमें फँसे हुए हैं ।

सम्बन्ध—दोनों सेनाओंके योद्धाओंको अर्जुन किस प्रकार भगवान्‌के विकराल मुखोंमें प्रविष्ट होते देख रहे हैं, अब दो श्लोकोंमें उसका पहले नदियोंके जलके दृष्टान्तसे और तदनन्तर पतङ्गोंके दृष्टान्तसे स्पष्टीकरण कर रहे हैं—

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥ २८ ॥

जैसे नदियोंके बहुत-से जलके प्रवाह स्वाभाविक ही समुद्रके ही सम्मुख दौड़ते हैं अर्थात् समुद्रमें प्रवेश करते हैं, वैसे ही वे नरलोकके वीर भी आपके प्रज्वलित मुखोंमें प्रवेश कर रहे हैं ॥२८॥

प्रश्न—इस श्लोकमें नदियोंके समुद्रमें प्रवेश करनेका दृष्टान्त देकर प्रवेश होनेवालोंके लिये 'नरलोकवीराः' विशेषण किस अभिप्रायसे दिया गया है तथा मुखोंके साथ 'अभिविज्वलन्ति' विशेषण देनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इस श्लोकमें उन भीष्म-द्रोणादि श्रेष्ठ शूरवीर पुरुषोंके प्रवेश करनेका वर्णन किया गया है, जो भगवान्‌की प्राप्तिके लिये साधन कर रहे थे तथा जिनको बिना ही इच्छाके युद्धमें प्रवृत्त होना पड़ा था और जो युद्धमें मरकर भगवान्‌को प्राप्त करनेवाले थे। इसी हेतुसे उनके लिये 'नरलोकवीराः' विशेषण दिया गया है। वे भौतिक युद्धमें जैसे महान् वीर थे, वैसे ही भगवत्-प्राप्तिके साधनरूप आध्यात्मिक युद्धमें भी बड़ी वीरतासे लड़नेवाले थे। उनके प्रवेशमें नदी और समुद्रका दृष्टान्त देकर अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि जैसे नदियोंके जल स्वाभाविक ही समुद्रकी ओर दौड़ते हैं और अन्तमें अपने नाम-रूपको त्यागकर समुद्र ही बन जाते हैं, वैसे ही ये शूरवीर भक्तजन भी आपकी ओर मुख करके दौड़ रहे हैं और आपके अंदर अभिन्नभावसे प्रवेश कर रहे हैं।

यहाँ मुखोंके साथ 'अभिविज्वलन्ति' विशेषण देकर यह भाव दिखलाया गया है कि जैसे समुद्रमें सब ओरसे जल-ही-जल भरा रहता है; और नदियोंका जल उसमें प्रवेश करके उसके साथ एकत्वको प्राप्त हो जाता है, वैसे ही आपके सब मुख भी सब ओरसे अत्यन्त ज्योतिर्मय हैं और उनमें प्रवेश करनेवाले शूरवीर भक्तजन भी आपके मुखोंकी महान् ज्योतिमें अपने बाह्य रूपको जलाकर स्वयं ज्योतिर्मय होकर आपमें एकताको प्राप्त हो रहे हैं।

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥२९॥

जैसे पतंग मोहवश नष्ट होनेके लिये प्रज्वलित अग्निमें अतिवेगसे दौड़ते हुए प्रवेश करते हैं, वैसे ही ये सब लोग भी अपने नाशके लिये आपके मुखोंमें अतिवेगसे दौड़ते हुए प्रवेश कर रहे हैं ॥२९॥

प्रश्न—इस श्लोकमें 'प्रज्वलित अग्नि' और पतंगोंका दृष्टान्त देकर भगवान्‌के मुखोंमें सब लोकोंके प्रवेश करनेकी बात कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इस श्लोकमें पिछले श्लोकमें बतलाये हुए भक्तोंसे भिन्न उन समस्त साधारण लोगोंके प्रवेशका वर्णन किया गया है, जो इच्छापूर्वक युद्ध करनेके लिये आये थे; इसीलिये प्रज्वलित अग्नि और पतंगोंका दृष्टान्त देकर अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि जैसे मोहमें पड़े हुए पतंग नष्ट होनेके लिये ही इच्छापूर्वक बड़े वेगसे उड़-उड़कर अग्निमें प्रवेश करते हैं, वैसे ही ये सब लोग भी आपके प्रभावको न जाननेके कारण मोहमें पड़े हुए हैं और अपना नाश करनेके लिये ही पतंगोंकी भाँति दौड़-दौड़कर आपके मुखोंमें प्रविष्ट हो रहे हैं।

सम्बन्ध—दोनों सेनाओंके लोगोंके प्रवेशका वर्णन दृष्टान्तद्वारा करके अब उन प्रविष्ट हुए लोगोंको भगवान् किस प्रकार नष्ट कर रहे हैं, इसका वर्णन किया जाता है—

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान् समग्रान् वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥३०॥

आप उन सम्पूर्ण लोकोंको प्रज्वलित मुखोंद्वारा ग्रास करते हुए सब ओरसे चाट रहे हैं। विष्णो ! आपका उग्र प्रकाश सम्पूर्ण जगत्को तेजके द्वारा परिपूर्ण करके तपा रहा है ॥३०॥

प्रश्न—इस श्लोकका क्या भाव है ?

उत्तर—भगवान्के महान् उग्र रूपको देखकर यहाँ भयभीत अर्जुन उस अत्यन्त भयानक रूपका वर्णन करते हुए कह रहे हैं कि जिनसे अग्निकी भयानक लपटें निकल रही हैं, अपने उन विकराल मुखोंसे आ समस्त लोकोंको निगल रहे हैं और इतनेपर भी अतृ भावसे बार-बार अपनी जीभ लपलपा रहे हैं। त आपके अत्यन्त उग्र प्रकाशके भयानक तेजसे सा जगत् अत्यन्त सन्तप्त हो रहा है ।

सम्बन्ध—अर्जुनने तीसरे श्लोकमें भगवान्से अपने ऐश्वर्यमय रूपका दर्शन करानेके लिये प्रार्थना की थी उसीके अनुसार भगवान्ने अपना विश्वरूप अर्जुनको दिखलाया; परन्तु भगवान्के इस भयानक उग्र रूपको देख अर्जुन बहुत डर गये और उनके मनमें इस बातके जाननेकी इच्छा उत्पन्न हो गयी कि ये श्रीकृष्ण वस्तुतः कौ हैं ? तथा इस महान् उग्र स्वरूपके द्वारा अब ये क्या करना चाहते हैं ? इसीलिये वे भगवान्से पूछ रहे हैं—

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥३१॥

मुझे बतलाइये कि आप उग्ररूपवाले कौन हैं ? हे देवोंमें श्रेष्ठ ! आपको नमस्कार हो। आप प्रस होइये । आदिपुरुष आपको मैं विशेषरूपसे जानना चाहता हूँ, क्योंकि मैं आपकी प्रवृत्तिको न जानता ॥ ३१ ॥

प्रश्न—अर्जुन यह तो जानते ही थे कि भगवान् श्रीकृष्ण ही अपनी योग-शक्तिसे मुझे यह अपना विश्वरूप दिखला रहे हैं, फिर उन्होंने यह कैसे पूछा कि आप उग्र रूपधारी कौन हैं ?

उत्तर—अर्जुन इतना तो जानते थे कि यह उग्र रूप श्रीकृष्णका ही है; परन्तु इस भयङ्कर रूपको देखकर उनके मनमें यह जाननेकी इच्छा हो गयी कि ये श्रीकृष्ण वस्तुत: हैं कौन, जो इस प्रकारका भयङ्कर रूप भी धारण कर सकते हैं। इसीलिये उन्होंने यह भी कहा है कि आप आदिपुरुषको मैं विशेषरू जानना चाहता हूँ ।

प्रश्न—'देववर' सम्बोधन देकर भगवान्को नमस्क करनेका और प्रसन्न होनेके लिये कहनेका क अभिप्राय है ?

उत्तर—जो देवताओंमें सर्वश्रेष्ठ हो, उसे 'देववर' कहते हैं। भगवान्को 'देववर' नामसे सम्बोधित कर अर्जुन मानो उनके श्रेष्ठत्वका सम्मान करते हुए नमस्क करके उनसे प्रसन्न होनेकी प्रार्थना करते हैं ।

विराट्-रूप



कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धो लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ॥ (११ । ३२)

प्रश्न—आपकी प्रवृत्तिको मैं नहीं जानता, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि यह इतना भयङ्कर रूप—जिसमें कौरवपक्षके और हमारे प्रायः सभी योद्धा प्रत्यक्ष नष्ट होते दिखलायी दे रहे हैं—आप मुझे किसलिये दिखला रहे हैं; तथा अब निकट भविष्यमें आप क्या करना चाहते हैं—इस रहस्य-को मैं नहीं जानता। अतएव अब आप कृपा करके इसी रहस्यको खोलकर बतलाइये।

सम्बन्ध—इस प्रकार अर्जुनके पूछनेपर भगवान् अपने उग्ररूप धारण करनेका कारण बतलाते हुए अर्जुनके प्रश्नानुसार उत्तर देते हैं—

श्रीभगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥३२॥

श्रीभगवान् बोले—मैं लोकोंका नाश करनेवाला बढ़ा हुआ महाकाल हूँ। इस समय इन लोकोंको नष्ट करनेके लिये प्रवृत्त हुआ हूँ। इसलिये जो प्रतिपक्षियोंकी सेनामें स्थित योद्धा लोग हैं वे सब तेरे बिना भी नहीं रहेंगे अर्थात् तेरे युद्ध न करनेपर भी इन सबका नाश हो जायगा ॥३२॥

प्रश्न—मैं लोकोंका नाश करनेके लिये बढ़ा हुआ काल हूँ, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इस कथनसे भगवान्‌ने अर्जुनके पहले प्रश्नका उत्तर दिया है, जिसमें अर्जुनने यह जानना चाहा था कि आप कौन हैं। भगवान्‌के कथनका अभिप्राय यह है कि मैं सम्पूर्ण जगत्‌का सृजन, पालन और संहार करनेवाला साक्षात् परमेश्वर हूँ। अतएव इस समय मुझको तुम इस जगत्‌का संहार करनेवाला साक्षात् काल समझो।

प्रश्न—इस समय मैं इन लोकोंको नष्ट करनेके लिये प्रवृत्त हुआ हूँ, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इस कथनसे भगवान्‌ने अर्जुनके उस प्रश्नका उत्तर दिया है, जिसमें अर्जुनने यह कहा था कि 'मैं आपकी प्रवृत्तिको नहीं जानता'। भगवान्‌के कथनका अभिप्राय यह है कि इस समय मेरी सारी चेष्टाएँ इन सब लोगोंका नाश करनेके लिये ही हो रही हैं, यही बात समझानेके लिये मैंने इस विराट् रूपके अंदर तुझको सबके नाशका भयङ्कर दृश्य दिखलाया है।

प्रश्न—जो प्रतिपक्षियोंकी सेनामें उपस्थित योद्धा लोग हैं, वे तेरे बिना भी नहीं रहेंगे, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इस कथनसे भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि गुरु, ताऊ, चाचे, मामे और भाई आदि आत्मीय स्वजनोंको युद्धके लिये तैयार देखकर तुम्हारे मनमें जो कायरताका भाव आ गया है और उसके कारण तुम जो युद्धसे हटना चाहते हो—यह उचित नहीं है; क्योंकि यदि तुम युद्ध करके इनको न भी मारोगे तब भी ये बचेंगे नहीं। इनका तो मरण ही निश्चित है। जब मैं स्वयं इनका नाश करनेके लिये प्रवृत्त हूँ, तब ऐसा कोई भी उपाय नहीं है जिससे इनकी रक्षा हो सके। इसलिये तुमको युद्धसे हटना नहीं चाहिये; तुम्हारे लिये तो मेरी आज्ञाके अनुसार युद्धमें प्रवृत्त होना ही हितकर है।

प्रश्न—अर्जुनने तो भगवान्‌के विराट् रूपमें अपने और शत्रुपक्षके सभी योद्धाओंको मरते देखा था, फिर भगवान्‌ने यहाँ केवल कौरवपक्षके योद्धाओंकी बात कैसे कही ?

उत्तर—अपने पक्षके योद्धागणोंका अर्जुनके द्वारा मारा जाना सम्भव नहीं है, अतएव 'तुम न मारोगे तो भी वे तो मरेंगे ही' ऐसा कथन उनके लिये नहीं बन सकता। इसीलिये भगवान्‌ने यहाँ केवल कौरव पक्षके वीरोंके विषयमें कहा है। इसके सिवा अर्जुनको उत्साहित करनेके लिये भी भगवान्‌के द्वारा ऐसा कहा जाना युक्तिसंगत है। भगवान् मानो यह समझा रहे हैं कि शत्रुपक्षके जितने भी योद्धा हैं, वे सब एक तरहसे मरे ही हुए हैं; उन्हें मारनेमें तुम्हें कोई परिश्रम नहीं करना पड़ेगा।

सम्बन्ध—इस प्रकार अर्जुनके प्रश्नका उत्तर देकर अब दो श्लोकोंद्वारा युद्ध करनेमें सब प्रकारसे लाभ दिखलाते हुए भगवान् अर्जुनको युद्धके लिये आज्ञा देते हैं—

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्॥३३॥

अतएव तू उठ ! यश प्राप्त कर और शत्रुओंको जीतकर धन-धान्यसे सम्पन्न राज्यको भोग। ये सब शूरवीर पहलेहीसे मेरेहीद्वारा मारे हुए हैं। हे सव्यसाचिन् ! तू तो केवल निमित्तमात्र बन जा॥३३॥

प्रश्न—यहाँ 'तस्मात्' पदके सहित 'उत्तिष्ठ' क्रियाका प्रयोग करके क्या भाव दिखलाया गया है ?

उत्तर—'तस्मात्' के साथ 'उत्तिष्ठ' क्रियाका प्रयोग करके भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि जब तुम्हारे युद्ध न करनेपर भी ये सब नहीं बचेंगे, निःसन्देह मरेंगे ही, तब तुम्हारे लिये युद्ध करना ही सब प्रकारसे लाभप्रद है। अतएव तुम किसी प्रकारसे भी युद्धसे हटो मत, उत्साहके साथ खड़े हो जाओ !

प्रश्न—यश-लाभ करने और शत्रुओंको जीतकर समृद्ध राज्य भोगनेके लिये कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि इस युद्धमें तुम्हारी विजय निश्चित है; अतएव शत्रुओंको जीतकर धन-धान्यसे सम्पन्न महान् राज्यका उपभोग और दुर्लभ यश प्राप्त करो, इस अवसरको हाथसे न जाने दो।

प्रश्न—'सव्यसाचिन्' नामसे सम्बोधित करके यह कहनेका क्या अभिप्राय है कि ये पहलेसे ही मेरेद्वारा मारे हुए हैं, तुम तो केवल निमित्तमात्र बन जाओ।

उत्तर—जो बायें हाथसे भी बाण चला सकता हो, उसे 'सव्यसाची' कहते हैं। यहाँ अर्जुनको 'सव्यसाची' नामसे सम्बोधित करके और निमित्तमात्र बननेके लिये कहकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि तुम तो दोनों ही हाथोंसे बाण चलानेमें अत्यन्त निपुण हो, तुम्हारे लिये इन शूरवीरोंपर विजय प्राप्त करना कौन-सी बड़ी बात है। फिर, इन सबको तो वस्तुतः तुम्हें मारना ही क्या पड़ेगा, तुमने प्रत्यक्ष देख ही लिया कि सब-के-सब मेरेद्वारा पहलेहीसे मारे हुए हैं। तुम्हारा तो सिर्फ नामभर होगा। अतएव अब तुम इन्हें मारनेमें जरा भी हिचको मत। मार तो मैंने रक्खा ही है, तुम तो केवल निमित्तमात्र बन जाओ।

निमित्तमात्र बननेके लिये कहनेका एक भाव यह

भी है कि इन्हें मारनेपर तुम्हें किसी प्रकारका पाप होगा, इसकी भी सम्भावना नहीं है; क्योंकि तुम तो क्षात्रधर्मके अनुसार कर्तव्यरूपसे प्राप्त युद्धमें इन्हें मारनेमें एक निमित्तभर बनते हो। इससे पापकी बात तो दूर रही, तुम्हारे द्वारा उलटा क्षात्रधर्मका पालन होगा। अतएव तुम्हें अपने मनमें किसी प्रकारका संशय न रखकर, अहङ्कार और ममतासे रहित होकर उत्साहपूर्वक युद्धमें ही प्रवृत्त होना चाहिये।

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्॥३४॥

द्रोणाचार्य और भीष्मपितामह तथा जयद्रथ और कर्ण तथा और भी बहुत-से मेरेद्वारा मारे हुए शूरवीर योद्धाओंको तू मार। भय मत कर। निःसन्देह तू युद्धमें वैरियोंको जीतेगा। इसलिये युद्ध कर॥३४॥

प्रश्न—द्रोण, भीष्म, जयद्रथ और कर्ण—इन चारोंके अलग-अलग नाम लेनेका क्या अभिप्राय है; तथा 'अन्यान्' विशेषणके सहित 'योधवीरान्' पदसे किनका लक्ष्य कराया गया है; और इन सबको अपनेद्वारा मारे हुए बतलाकर मारनेके लिये कहनेका क्या तात्पर्य है?

उत्तर—द्रोणाचार्य धनुर्वेद तथा अन्यान्य शस्त्रास्त्र-प्रयोगकी विद्यामें अत्यन्त पारङ्गत और युद्धकलामें परम निपुण थे। यह बात प्रसिद्ध थी कि जबतक उनके हाथमें शस्त्र रहेगा, तबतक उन्हें कोई भी मार नहीं सकेगा। इस कारण अर्जुन उन्हें अजेय समझते थे; और साथ ही गुरु होनेके कारण अर्जुन उनको मारना पाप भी मानते थे। भीष्मपितामहकी शूरता जगत्प्रसिद्ध थी। परशुराम-सरीखे अजेय वीरको भी उन्होंने छका दिया था। साथ ही पिता शान्तनुका उन्हें यह वरदान था कि उनकी बिना इच्छाके मृत्यु भी उन्हें नहीं मार सकेगा। इन सब कारणोंसे अर्जुनकी यह धारणा थी कि पितामह भीष्मपर विजय प्राप्त करना सहज कार्य नहीं है, इसीके साथ-साथ वे पितामहका अपने हाथों वध करना पाप भी समझते थे। उन्होंने कई बार कहा भी है, मैं इन्हें नहीं मार सकता।

जयद्रथ* स्वयं बड़े वीर थे और भगवान् शङ्करके

* जयद्रथ सिन्धुदेशके राजा वृद्धक्षत्रके पुत्र थे। इनका धृतराष्ट्रकी एकमात्र कन्या दुःशलाके साथ विवाह हुआ था। पाण्डवोंके वनवासके समय एक बार उनकी अनुपस्थितिमें ये द्रौपदीको हर ले गये थे। भीमसेन आदिने लौटकर जब यह बात सुनी, तब उन लोगोंने इनके पीछे जाकर द्रौपदीको छुड़ाया और इन्हें पकड़ लिया था। फिर युधिष्ठिरके अनुरोध करनेपर सिर मूँड़कर छोड़ दिया था। कुरुक्षेत्रके युद्धमें जब अर्जुन संसप्तकोंके साथ युद्ध करनेमें लगे थे, इन्होंने चक्रव्यूहके द्वारपर युधिष्ठिर, भीम, नकुल, सहदेव—चारोंको रोक लिया, जिससे वे अभिमन्युकी सहायताके लिये अंदर नहीं जा सके और कई महारथियोंसे घेरे जाकर अभिमन्यु मारे गये। इसपर अर्जुनने यह प्रतिज्ञा की कि कल सूर्य-अस्त होनेसे पहले-पहले जयद्रथको न मार दूँगा तो मैं अग्निमें प्रवेश करके प्राण त्याग कर दूँगा। कौरवपक्षीय वीरोंने जयद्रथको बचानेकी बहुत चेष्टा की; परन्तु भगवान् श्रीकृष्णके कौशलसे उनकी सारी चेष्टाएँ व्यर्थ हो गयीं, और अर्जुनने सूर्यास्तसे पहले ही उनका सिर धड़से अलग कर दिया। जयद्रथको एक वरदान था कि जो तुम्हारा कटा सिर जमीनपर गिरावेगा, उसके सिरके उसी क्षण सौ टुकड़े हो जायँगे। इसीलिये भक्तवत्सल भगवान्की आज्ञा पाकर अर्जुनने जयद्रथके कटे सिरको ऊपर-ही-ऊपर बाणोंके द्वारा ले जाकर समन्तपञ्चक तीर्थपर बैठे हुए जयद्रथके पिता वृद्धक्षत्रकी गोदमें डाल दिया और उनके द्वारा जमीनपर गिरते ही उनके सिरके सौ टुकड़े हो गये। (महाभारत, द्रोणपर्व)

भक्त होनेके कारण उनसे दुर्लभ वरदान पाकर अत्यन्त दुर्जय हो गये थे। फिर दुर्योधनकी बहिन दु:शलाके स्वामी होनेसे ये पाण्डवोंके बहनोई भी लगते थे। स्वाभाविक ही सौजन्य और आत्मीयताके कारण अर्जुन उन्हें भी मारनेमें हिचकते थे।

कर्णको भी अर्जुन किसी प्रकार भी अपनेसे कम वीर नहीं मानते थे। संसारभरमें प्रसिद्ध था कि अर्जुनके योग्य प्रतिद्वन्द्वी कर्ण ही हैं। ये स्वयं बड़े ही वीर थे और परशुरामजीके द्वारा दुर्लभ शस्त्रविद्याका इन्होंने अध्ययन किया था।

इसीलिये इन चारोंके पृथक्-पृथक् नाम लेकर और 'अन्यान्' विशेषणके साथ 'योधवीरान्' पदसे इनके अतिरिक्त भगदत्त, भूरिश्रवा और शल्यप्रभृति जिन-जिन योद्धाओंको अर्जुन बहुत बड़े वीर समझते थे और जिनपर विजय प्राप्त करना आसान नहीं समझते थे, उन सबका लक्ष्य कराते हुए उन सबको अपने-द्वारा मारे हुए बतलाकर और उन्हें मारनेके लिये आज्ञा देकर भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि तुमको किसी पर भी विजय प्राप्त करनेमें किसी प्रकारका भी सन्देह नहीं करना चाहिये। ये सभी मेरेद्वारा मारे हुए हैं। साथ ही इस बातका भी लक्ष्य करा दिया कि तुम जो इन गुरुजनोंको मारनेमें पापकी आशङ्का करते थे, वह भी ठीक नहीं है। क्योंकि क्षत्रिय धर्मानुसार इन्हें मारनेके तुम जो निमित्त बनोगे, इससे तुम्हें कोई भी पाप नहीं होगा वरं धर्मका ही पालन होगा। अतएव उठो और इनपर विजय प्राप्त करो।

प्रश्न—'मा व्यथिष्ठाः' का क्या भाव है ?

उत्तर—इससे भगवान्ने अर्जुनको आश्वासन दिया है कि मेरे उग्र रूपको देखकर तुम जो इतने भयभीत और व्यथित हो रहे हो, यह ठीक नहीं है। मैं तुम्हारा प्रिय वही कृष्ण हूँ। इसलिये तुम न तो जरा भी भय करो और न सन्तप्त ही होओ।

प्रश्न—युद्धमें शत्रुओंको तू निःसन्देह जीतेगा, इसलिये युद्ध कर—इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—अर्जुनके मनमें जो इस बातकी शङ्का थी कि न जाने युद्धमें हम जीतेंगे या हमारे ये शत्रु ही हमको जीतेंगे (२। ६), उस शङ्काको दूर करनेके लिये भगवान्ने ऐसा कहा है। भगवान्के कथनका अभिप्राय यह है कि युद्धमें निश्चय ही तुम्हारी विजय होगी, इसलिये तुम्हें उत्साहपूर्वक युद्ध करना चाहिये।

सम्बन्ध—इस प्रकार भगवान्के मुखसे सब बातें सुननेके बाद अर्जुनकी कैसी परिस्थिति हुई और उन्होंने क्या किया—इस जिज्ञासापर संजय कहते हैं—

संजय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥ ३५॥

संजय बोले—केशव भगवान्के इस वचनको सुनकर मुकुटधारी अर्जुन हाथ जोड़कर काँपता हुआ नमस्कार करके, फिर भी अत्यन्त भयभीत होकर प्रणाम करके भगवान् श्रीकृष्णके प्रति गद्गद वाणीसे बोला—॥ ३५॥

प्रश्न—भगवान्के वचनोंको सुनकर अर्जुनके भयभीत और कम्पित होनेके वर्णनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे संजयने यह भाव दिखलाया है कि श्रीकृष्णके उस घोर रूपको देखकर अर्जुन इतने व्याकुल

हो गये कि भगवान्‌के इस प्रकार आश्वासन देनेपर भी उनका डर दूर नहीं हुआ; इसलिये वे डरके मारे काँपते हुए ही भगवान्‌से उस रूपका संवरण करनेके लिये प्रार्थना करने लगे।

प्रश्न—अर्जुनका नाम 'किरीटी' क्यों पड़ा था ?

उत्तर—अर्जुनके मस्तकपर देवराज इन्द्रका दिया हुआ सूर्यके समान प्रकाशमय दिव्य मुकुट सदा रहता था, इसीसे उनका एक नाम 'किरीटी'* पड़ गया था।

प्रश्न—'कृताञ्जलिः' विशेषण देकर पुनः उसी अर्थके वाचक 'नमस्कृत्वा' और 'प्रणम्य' इन दो पदोंके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—'कृताञ्जलिः' विशेषण देकर और उक्त दोनों पदोंका प्रयोग करके सञ्जयने यह भाव दिखलाया है कि भगवान्‌के अनन्त ऐश्वर्यमय स्वरूपको देखकर उस स्वरूपके प्रति अर्जुनकी बड़ी सम्मान्य दृष्टि हो गयी थी और वे डरे हुए थे ही। इसीसे वे हाथ जोड़े हुए बार-बार भगवान्‌को नमस्कार और प्रणाम करते हुए उनकी स्तुति करने लगे।

प्रश्न—'भूयः' पदका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'भूयः' से यह दिखलाया है कि जैसे अर्जुनने पहले भगवान्‌की स्तुति की थी, भगवान्‌के वचनोंको सुननेके बाद वे पुनः उसी प्रकार भगवान्‌की स्तुति करने लगे।

प्रश्न—'सगद्गदम्' पदका क्या अर्थ है और यह किसका विशेषण है ? तथा यहाँ इसका प्रयोग किस अभिप्रायसे किया गया है ?

उत्तर—'सगद्गदम्' पद क्रियाविशेषण है और अर्जुनके बोलनेका ढंग समझानेके लिये ही इसका प्रयोग किया गया है। अभिप्राय यह है कि अर्जुन जब भगवान्‌की स्तुति करने लगे तब आश्चर्य और भयके कारण उनका हृदय पानी-पानी हो गया, नेत्रोंमें जल भर आया, कण्ठ रुक गये और इसी कारण उनकी वाणी गद्गद हो गयी। फलतः उनका उच्चारण अस्पष्ट और करुणापूर्ण हो गया।

सम्बन्ध—अब ३६वेंसे ४६वें श्लोकतक अर्जुनद्वारा किये हुए भगवान्‌के स्तवन, नमस्कार और क्षमा-याचनासहित प्रार्थनाका वर्णन है; उसमें प्रथम 'स्थाने' पदका प्रयोग करके जगत्‌के हर्षित होने आदिका औचित्य बतलाते हैं—

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः ॥३६॥

---

* पुरा शक्रेण मे दत्तं युध्यतो दानवर्षभैः। किरीटं मूर्ध्नि सूर्याभं तेनाहुर्मां किरीटिनम् ॥
(महा० विरा० ४४। १७)

विराटपुत्र उत्तरकुमारसे अर्जुन कहते हैं—पूर्वकालमें जिस समय मैंने बड़े भारी वीर दानवोंसे युद्ध किया था, उस समय इन्द्रने प्रसन्न होकर यह सूर्यके समान प्रकाशयुक्त किरीट मेरे मस्तकपर पहना दिया था; इसीसे लोग मुझे 'किरीटी' कहते हैं।

अर्जुन बोले—हे अन्तर्यामिन् ! यह योग्य ही है कि आपके नाम, गुण और प्रभावके कीर्तनसे ज… अति हर्षित हो रहा है और अनुरागको भी प्राप्त हो रहा है तथा भयभीत राक्षसलोग दिशाओंमें भ… रहे हैं और सब सिद्धगणोंके समुदाय नमस्कार कर रहे हैं ॥ ३६ ॥

प्रश्न—'स्थाने' पदका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'स्थाने' अव्यय है और इसका औचित्यके अर्थमें प्रयोग हुआ है । अभिप्राय यह है कि आपके कीर्तनादिसे जो जगत् हर्षित हो रहा है और प्रेम कर रहा है, साथ ही राक्षसगण आपके अद्भुत रूप और प्रभावको देखकर डरके मारे इधर-उधर भाग रहे हैं एवं सिद्धोंके सब-के-सब समुदाय आपको बार-बार नमस्कार कर रहे हैं—यह सब उचित ही है, ऐसा होना ही चाहिये; क्योंकि आप साक्षात् परमेश्वर हैं ।

प्रश्न—यहाँ 'प्रकीर्त्या' पदका क्या अर्थ है; तथा उससे जगत् हर्षित हो रहा है और अनुराग कर रहा है—इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'कीर्ति' शब्द यहाँ कीर्तनका वाचक है । उसके साथ 'प्र' उपसर्गका प्रयोग करके उच्च स्वरसे कीर्तन करनेका भाव प्रकट किया गया है । अभिप्राय यह है कि आपके नाम, रूप, गुण, प्रभाव और माहात्म्यका उच्च स्वरसे कीर्तन करके यह चराचरात्मक समस्त जगत् अत्यन्त प्रसन्न हो रहा है और … प्राणी प्रेममें विह्वल हो रहे हैं ।

प्रश्न—भगवान्‌के विराट् रूपको केवल अर्जुन देख रहे थे या सारा जगत् ? यदि सारा जगत् … देख रहा था तो सबके हर्षित होनेकी, अनुराग क… की और राक्षसोंके भागनेकी एवं सिद्धोंके नम… करनेकी बात अर्जुनने कैसे कही ?

उत्तर—भगवान्‌के द्वारा प्रदान की हुई दिव्य दृ… केवल अर्जुन ही देख रहे थे, सारा जगत् नह… जगत्‌का हर्षित और अनुरक्त होना, राक्षसोंका ड… भागना और सिद्धोंका नमस्कार करना—ये सब … विराट् रूपके ही अङ्ग हैं । अभिप्राय यह है … यह वर्णन अर्जुनको दिखलायी देनेवाले विराट् रू… ही है, बाहरी जगत्‌का नहीं । उनको भगवा… जो विराट् रूप दीखता था उसीके अंदर ये … दृश्य दिखलायी पड़ रहे थे । इसीसे अर्जुनने … कहा है ।

सम्बन्ध—पूर्व श्लोकमें जो 'स्थाने' पदका प्रयोग करके सिद्धसमुदायोंका नमस्कार आदि करना उ… बतलाया गया था, अब चार श्लोकोंमें उसी बातको सिद्ध करते हुए अर्जुनके बार-बार नमस्कार करनेका… दिखलाते हैं—

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।
अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥३७॥

हे महात्मन् ! ब्रह्माके भी आदिकर्त्ता और सबसे बड़े आपके लिये वे कैसे नमस्कार न क… क्योंकि हे अनन्त ! हे देवेश ! हे जगन्निवास ! जो सत्, असत् और उनसे परे अक्षर अर्था… सच्चिदानन्दघन ब्रह्म है, वह आप ही हैं ॥ ३७ ॥

प्रश्न—'महात्मन्', 'अनन्त', 'देवेश' और 'जगन्निवास'—इन चार सम्बोधनोंका प्रयोग करके अर्जुनने क्या भाव दिखलाया है ?

उत्तर—इनका प्रयोग करके अर्जुन नमस्कार आदि क्रियाओंका औचित्य सिद्ध कर रहे हैं । अभिप्राय यह है कि आप समस्त चराचर प्राणियोंके महान् आत्मा हैं, अन्तरहित हैं—आपके रूप, गुण और प्रभाव आदिकी सीमा नहीं है; आप देवताओंके भी स्वामी हैं और समस्त जगत्‌के एकमात्र परमाधार हैं । यह सारा जगत् आपमें ही स्थित है तथा आप इसमें व्याप्त हैं । अतएव इन सबका आपको नमस्कार आदि करना सब प्रकारसे उचित ही है ।

प्रश्न—'गरीयसे' और 'ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे' का क्या भाव है ?

उत्तर—इन दोनों पदोंका प्रयोग भी नमस्कार आदिका औचित्य सिद्ध करनेके उद्देश्यसे ही किया गया है । अभिप्राय यह है कि आप सबसे बड़े और श्रेष्ठतम हैं; जगत्‌की तो बात ही क्या है, समस्त जगत्‌की रचना करनेवाले ब्रह्माके भी आदिरचयिता आप ही हैं । अतएव सबके परम पूज्य और परम श्रेष्ठ होनेके कारण इन सबका आपको नमस्कारादि करना उचित ही है ।

प्रश्न—जो 'सत्', 'असत्' और उससे परे 'अक्षर' है—वह भी आप ही हैं, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—जिसका कभी अभाव नहीं होता, उस अविनाशी आत्माको 'सत्' और नाशवान् अनित्य वस्तु-मात्रको 'असत्' कहते हैं; इन्हींको सातवें अध्यायमें परा और अपरा प्रकृति तथा पंद्रहवें अध्यायमें अक्षर और क्षर पुरुष कहा गया है । इनसे परे परम अक्षर सच्चिदानन्दघन परमात्मतत्त्व है । अर्जुन अपने नमस्कारादि-के औचित्यको सिद्ध करते हुए कह रहे हैं कि यह सब आपका ही स्वरूप है । अतएव आपको नमस्कार आदि करना सब प्रकारसे उचित है ।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥ ३८॥

आप आदिदेव और सनातन पुरुष हैं, आप इस जगत्‌के परम आश्रय और जाननेवाले तथा जानने योग्य और परम धाम हैं । हे अनन्तरूप ! आपसे यह सब जगत् व्याप्त अर्थात् परिपूर्ण है ॥ ३८॥

प्रश्न—आप आदिदेव और सनातन पुरुष हैं, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌की स्तुति करते हुए अर्जुनने यह बतलाया है कि आप समस्त देवोंके भी आदि-देव हैं और सदासे और सदा ही रहनेवाले सनातन नित्य पुरुष परमात्मा हैं ।

प्रश्न—आप इस जगत्‌के परम आश्रय हैं, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि यह सारा जगत् प्रलयकालमें आपमें ही लीन होता है और सदा आपके ही किसी एक अंशमें रहता है; इसलिये आप ही इसके परम आश्रय हैं ।

प्रश्न—'वेत्ता' पदका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आप इस भूत, वर्तमान और भविष्य समस्त जगत्‌को यथार्थ

तथा पूर्णरूपसे जाननेवाले, सबके नित्य द्रष्टा हैं; इसलिये आप सर्वज्ञ हैं, आपके सदृश सर्वज्ञ कोई नहीं है ।

प्रश्न—'वेद्यम्' पदका क्या भाव है ?

उत्तर—'वेद्यम्' पदसे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि जो जाननेके योग्य है, जिसको जानना मनुष्य-जन्मका परम उद्देश्य है, तेरहवें अध्यायमें १२वेंसे १७वें श्लोकतक जिस ज्ञेय तत्त्वका वर्णन किया गया है—वे साक्षात् परब्रह्म परमेश्वर आप ही हैं ।

प्रश्न—'परम्' विशेषणके सहित 'धाम' पदका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि जो मुक्त पुरुषोंकी परम गति है, जिसे प्राप्त होकर मनुष्य वापस नहीं लौटता, वे साक्षात् परम आप ही हैं ।

प्रश्न—'अनन्तरूप' सम्बोधनका क्या भाव है ?

उत्तर—जिसके स्वरूप अनन्त अर्थात् असंख्य उसे 'अनन्तरूप' कहते हैं । अतएव इस नामसे सम्बो करके अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आपके अगणित हैं, उनका पार कोई पा ही नहीं सकता ।

प्रश्न—यह समस्त जगत् आपसे व्याप्त है, कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है सारे विश्वके प्रत्येक परमाणुमें आप व्याप्त हैं, इस कोई भी स्थान आपसे रहित नहीं है ।

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥३९॥

आप वायु, यमराज, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, प्रजाके स्वामी ब्रह्मा और ब्रह्माके भी पिता हैं । आ लिये हजारों बार नमस्कार ! नमस्कार हो !! आपके लिये फिर भी बार-बार नमस्कार ! नमस्कार !! ॥३

प्रश्न—वायु, यमराज, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा और प्रजाके स्वामी ब्रह्मा आप ही हैं—यह कहनेका क्या भाव है ?

उत्तर—इस कथनसे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि जिनके नाम मैंने गिनाये हैं, इनके सहित जितने भी नमस्कार करने योग्य देवता हैं—वे सब आपके अंशमात्र होनेसे आपके अन्तर्गत हैं । अतएव आप ही सब प्रकारसे सबके द्वारा नमस्कार करनेके योग्य हैं ।

प्रश्न—आप 'प्रपितामह' अर्थात् ब्रह्माके भी पिता हैं, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इस कथनसे अर्जुनने यह दिखलाया है कि समस्त जगत्को उत्पन्न करनेवाले कश्यप, दक्षप्रजापति तथा सप्तर्षि आदिके पिता होनेसे ब्रह्मा सबके पिता और उन ब्रह्माको भी उत्पन्न करनेवाले आप हैं; इस आप सबके प्रपितामह हैं । इसलिये भी आपको नम करना सर्वथा उचित ही है ।

प्रश्न—'सहस्रकृत्वः' पदके सहित बार-बार पदके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—'सहस्रकृत्वः' पदके सहित बार-बार पदका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया गया है अर्जुन भगवान्के प्रति सम्मान और अपने भयके क नमस्कार करते-करते अघाते ही नहीं हैं, वे उ नमस्कार ही करना चाहते हैं ।

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥४०॥

हे अनन्त सामर्थ्यवाले ! आपके लिये आगेसे और पीछेसे भी नमस्कार । हे सर्वात्मन् ! आपके लिये सब ओरसे ही नमस्कार हो । क्योंकि अनन्त पराक्रमशाली आप सब संसारको व्याप्त किये हुए हैं इससे आप ही सर्वरूप हैं ॥ ४० ॥

प्रश्न—'सर्व' सम्बोधनका प्रयोग करके आगे-पीछे और सब ओरसे नमस्कार करनेका क्या भाव है ?

उत्तर—'सर्व' नामसे सम्बोधित करके अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आप सबके आत्मा, सर्वव्यापी और सर्वरूप हैं; इसलिये मैं आपको आगे-पीछे, ऊपर-नीचे, दाहिने-बायें—सभी ओरसे नमस्कार करता हूँ । क्योंकि ऐसा कोई स्थान है ही नहीं, जहाँ आप न हों । अतएव सर्वत्र स्थित आपको मैं सब ओरसे प्रणाम करता हूँ ।

प्रश्न—'अमितविक्रमः' का क्या भाव है ?

उत्तर—इस विशेषणका प्रयोग करके अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि साधारण मनुष्योंकी भाँति आपका विक्रम परिमित नहीं है, आप अपरिमित पराक्रमशाली हैं। अर्थात् आप जिस प्रकारसे शस्त्रादिके प्रयोगकी लीला कर सकते हैं, वैसे प्रयोगका कोई अनुमान भी नहीं कर सकता ।

प्रश्न—आप सब संसारको व्याप्त किये हुए हैं, इससे आप सर्वरूप हैं—इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—अर्जुन पहले 'सर्व' नामसे भगवान्‌को सम्बोधित कर चुके हैं । अब इस कथनसे उनकी सर्वताको सिद्ध करते हैं । अभिप्राय यह है कि आपने इस सम्पूर्ण जगत्‌को व्याप्त कर रक्खा है । विश्वमें क्षुद्र-से भी क्षुद्रतम अणुमात्र भी ऐसी कोई जगह या वस्तु नहीं है, जहाँ और जिसमें आप न हों । अतएव सब कुछ आप ही हैं । वास्तवमें आपसे पृथक् जगत् कोई वस्तु ही नहीं है, यही मेरा निश्चय है ।

सम्बन्ध—इस प्रकार भगवान्‌की स्तुति और प्रणाम करके अब भगवान्‌के गुण और माहात्म्यको यथार्थ न जाननेके कारण वाणी और क्रियाद्वारा किये गये अपराधोंको क्षमा करनेके लिये अर्जुन भगवान्‌से दो श्लोकोंमें प्रार्थना करते हैं—

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥४१॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥४२॥

आपके इस प्रभावको न जानते हुए, आप मेरे सखा हैं—ऐसा मानकर प्रेमसे अथवा प्रमादसे भी मैंने 'हे कृष्ण !' 'हे यादव !' 'हे सखे !' इस प्रकार जो कुछ हठपूर्वक कहा है; और हे अच्युत ! आप जो मेरे द्वारा

विनोदके लिये विहार, शय्या, आसन और भोजनादिमें अकेले अथवा उन सखाओंके सामने भी अपमानि किये गये हैं--वह सब अपराध अप्रमेयस्वरूप अर्थात् अचिन्त्य प्रभाववाले आपसे मैं क्षमा करवा हूँ ॥ ४१-४२ ॥

प्रश्न—'इदम्' विशेषणके सहित 'महिमानम्' पदका क्या भाव है ?

उत्तर—विराट्स्वरूपका दर्शन करते समय अर्जुनने जो भगवान्‌के अतुलनीय तथा अप्रमेय ऐश्वर्य, गौरव, गुण और प्रभावको प्रत्यक्ष देखा—उसीको लक्ष्य करके 'महिमानम्' पदके साथ 'इदम्' विशेषण दिया गया है।

प्रश्न—'मया' के साथ 'अजानता' विशेषण देनेका क्या भाव है ?

उत्तर—'अजानता' पद यहाँ हेतुगर्भ विशेषण है। 'मया' के साथ इसका प्रयोग करनेका यह अभिप्राय है कि आपका जो माहात्म्य मैंने अभी प्रत्यक्ष देखा है, उसे यथार्थ न जाननेके कारण ही मैंने आपके साथ अनुचित व्यवहार किया है। अतएव अनजानमें किये हुए मेरे अपराधोंको आप अवश्य ही क्षमा कर दें।

प्रश्न—'सखा इति मत्वा', 'प्रणयेन' और 'प्रमादात्' इन पदोंके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आपकी अप्रतिम और अपार महिमाको न जाननेके कारण ही मैंने आपको अपनी बराबरीका मित्र मान रक्खा था। और इसीलिये मैंने बातचीतमें कभी आपके महान् गौरव और सर्वपूज्य महत्त्वका खयाल नहीं रक्खा। इसे मेरा प्रेम कहें या प्रमाद; परन्तु यह निश्चय है कि मुझसे बड़ी भूल हुई। बड़े-से-बड़े देवता और महर्षिगण जिन आपके चरणोंकी वन्दना करना अपना सौभाग्य समझते हैं, मैंने उन आपके साथ बराबरीका बर्ताव किया! अब आप इसके लिये अपनी दयालुतासे मुझको क्षमा प्रदान कीजिये।

प्रश्न—'प्रसभम्' पदका प्रयोग करके 'हे कृष्ण 'हे यादव', 'हे सखे' इन पदोंके प्रयोगका क्या भाव है

उत्तर—अर्जुन जिन अपराधोंका प्रेम या प्रमाद अपनेद्वारा होना मानते हैं, यहाँ इन पदोंका प्र करके वे उन्हींका स्पष्टीकरण कर रहे हैं। वे कह हैं कि 'प्रभो! कहाँ आप और कहाँ मैं! मैं इत मूढ़मति हो गया कि आप परम पूजनीय परमेश्वरको अपना मित्र ही मानता रहा और किसी भी आद सूचक विशेषणका प्रयोग न करके सदा 'कृष्ण', 'याद और 'सखे' आदि कहकर ही आपको पुकारता रहा मेरे इन अपराधोंको आप क्षमा कीजिये।'

प्रश्न—'अच्युत' सम्बोधनका क्या भाव है ?

उत्तर—अपने महत्त्व और स्वरूपसे जिसका क पतन न हो, उसे 'अच्युत' कहते हैं। यहाँ भगवान् 'अच्युत' नामसे सम्बोधित करके अर्जुन य भाव दिखला रहे हैं कि मैंने अपने व्यवहार-बर्तावद्वा आपका जो अपमान किया है, अवश्य ही वह मेरा ब अपराध है; किन्तु भगवन्! मेरे ऐसे व्यवहारोंसे वस्तु आपकी कोई हानि नहीं हो सकती। संसारमें ऐसी क भी क्रिया नहीं हो सकती, जो आपको अपनी महिम जरा भी डिगा सके। किसीकी सामर्थ्य नहीं, आपका कोई अपमान कर सके। क्योंकि आप सदा अच्युत हैं!

प्रश्न—'यत्' और 'च' के प्रयोगका क्या भाव है

उत्तर—पिछले श्लोकमें अर्जुनने जिन अपराधों स्पष्टीकरण किया है, इस श्लोकमें वे उनसे भि अपने व्यवहारद्वारा होनेवाले दूसरे अपराधोंका वर्ण कर रहे हैं—यह भाव दिखलानेके लिये पुनः 'यत्' क

और पिछले श्लोकमें वर्णित अपराधोंके साथ इस श्लोकमें बतलाये हुए समस्त अपराधोंका समाहार करनेके लिये 'च' का प्रयोग किया गया है ।

प्रश्न—'अवहासार्थम्' का क्या भाव है ?

उत्तर—प्रेम, प्रमाद और विनोद—इन तीन कारणोंसे मनुष्य व्यवहारमें किसीके मानापमानका खयाल नहीं रखता । प्रेममें नियम नहीं रहता, प्रमादमें भूल होती है और विनोदमें वाणीकी यथार्थताका सुरक्षित रहना कठिन हो जाता है । किसी सम्मान्य पुरुषके अपमानमें ये तीनों कारण मिलकर भी हेतु हो सकते हैं और पृथक्-पृथक् भी । इनमेंसे 'प्रेम' और 'प्रमाद', इन कारणोंके विषयमें पिछले श्लोकमें अर्जुन कह चुके हैं । यहाँ 'अवहासार्थम्' पदसे तीसरे कारण 'हँसी-मजाक' का लक्ष्य करा रहे हैं ।

प्रश्न—'विहारशय्यासनभोजनेषु', 'एकः' और 'तत्समक्षम्' इन पदोंका प्रयोग करके 'असत्कृतोऽसि' कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इनके द्वारा अर्जुन उन अवसरोंका वर्णन कर रहे हैं, जिनमें वे अपनेद्वारा भगवान्‌का अपमान होना मानते हैं । वे कहते हैं कि एक साथ चलते-फिरते, बिछौनोंपर सोते, ऊँचे-नीचे या बराबरीके आसनोंपर बैठते और खाते-पीते समय मेरेद्वारा आपका जो बार-बार अनादर किया गया है*—फिर वह चाहे एकान्तमें किया गया हो या सब लोगोंके सामने—मैं अब उसको बड़ा अपराध मानता हूँ और ऐसे प्रत्येक अपराधके लिये आपसे क्षमा चाहता हूँ ।

प्रश्न—'तत्' पद किसका वाचक है तथा 'त्वाम्'के साथ 'अप्रमेयम्' विशेषण देकर 'क्षामये' क्रियाके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—'तत्' पद यहाँ ४१ वें और ४२ वें श्लोकोंमें जिन अपराधोंका अर्जुनने वर्णन किया है, वैसे समस्त अपराधोंका वाचक है; तथा 'त्वाम्' पदके साथ 'अप्रमेयम्' विशेषण देकर 'क्षामये' क्रियाका प्रयोग करके अर्जुनने भगवान्‌से उन समस्त अपराधोंको क्षमा करनेके लिये प्रार्थना की है । अर्जुन कह रहे हैं कि प्रभो ! आपका स्वरूप और महत्त्व अचिन्त्य है । उसको पूर्णरूपसे तो कोई भी नहीं जान सकता । किसीको उसका थोड़ा-बहुत ज्ञान होता है तो वह आपकी कृपासे ही होता है । यह आपके परम अनुग्रहका ही फल है कि मैं—जो पहले आपके प्रभावको नहीं जानता था; और इसीलिये आपका अनादर किया करता था—अब आपके प्रभावको कुछ-कुछ जान सका हूँ । अवश्य ही ऐसी बात नहीं है कि मैंने आपका सारा प्रभाव जान लिया है; सारा जाननेकी बात तो दूर रही—मैं तो अभी उतना भी नहीं समझ पाया हूँ, जितना आपकी दया मुझे समझा देना चाहती है । परन्तु जो कुछ समझा हूँ, उसीसे मुझे यह भलीभाँति मालूम हो गया है कि आप सर्वशक्तिमान् साक्षात् परमेश्वर हैं । मैंने

---

* श्रीमद्भागवतमें अर्जुनके वचन हैं—

शय्यासनाटनविकत्थनभोजनादिष्वैक्याद् वयस्य ऋतवानिति विप्रलब्धः ।
सख्युः सखेव पितृवत्तनयस्य सर्वं सेहे महान् महितया कुमतेरघं मे ॥
(१ । १५ । १९)

'भगवान् श्रीकृष्णके साथ सोने, बैठने, घूमने, बातचीत करने और भोजनादि करनेमें मेरा-उनका ऐसा सहज भाव हो गया था कि मैं कभी-कभी 'हे वयस्य ! तुम बड़े सच बोलनेवाले हो !' ऐसा कहकर आक्षेप भी करता था; परन्तु वे महात्मा प्रभु अपने बड़प्पनके अनुसार मुझ कुबुद्धिके उन समस्त अपराधोंको वैसे ही सहते रहते थे, जैसे मित्र अपने मित्रके अपराधको या पिता अपने पुत्रके अपराधको सहा करता है ।'

जो आपको अपनी बराबरीका मित्र मानकर आपसे जैसा बर्ताव किया, उसे मैं अपराध मानता हूँ; और ऐसे समस्त अपराधोंके लिये मैं आपसे क्ष चाहता हूँ।

सम्बन्ध—इस प्रकार अपराध क्षमा करनेके लिये प्रार्थना करके अब दो श्लोकोंमें अर्जुन भगवान्‌के प्रभा का वर्णन करते हुए अपराध क्षमा करनेकी योग्यताका प्रतिपादन और भगवान्‌से प्रसन्न होनेके लिये प्रार्थ करते हैं—

पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥४३॥

आप इस चराचर जगत्‌के पिता और सबसे बड़े गुरु एवं अति पूजनीय हैं। हे अनुपम प्रभाववाले तीनों लोकोंमें आपके समान भी दूसरा कोई नहीं है, फिर अधिक तो कैसे हो सकता है ॥४३॥

प्रश्न—आप इस चराचर जगत्‌के पिता, बड़े-से-बड़े गुरु और पूज्य हैं—इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इस कथनसे अर्जुनने अपराध क्षमा करनेके औचित्यका प्रतिपादन किया है। वे कहते हैं— 'भगवन्! यह सारा जगत् आपहीसे उत्पन्न है, अतएव आप ही इसके पिता हैं; संसारमें जितने भी बड़े-बड़े देवता, महर्षि और अन्यान्य समर्थ पुरुष हैं—उन सबमें सबकी अपेक्षा बड़े ब्रह्माजी हैं; क्योंकि सबसे पहले उन्हींका प्रादुर्भाव होता है; और वे ही आपके नित्य ज्ञानके द्वारा सबको यथायोग्य शिक्षा देते हैं। परन्तु हे प्रभो! वे ब्रह्माजी भी आपहीसे उत्पन्न होते हैं और उनको वह ज्ञान भी आपहीसे मिलता है। अतएव हे सर्वेश्वर! सबसे बड़े, सब बड़ोंसे बड़े और सबके एकमात्र महान् गुरु आप ही हैं। समस्त जगत् जिन देवताओंकी और महर्षियोंकी पूजा करता है, उन देवताओंके और महर्षियोंके भी परम पूज्य तथा नित्य वन्दनीय ब्रह्मा आदि देवता और वसिष्ठादि महर्षि यदि क्षणभरके लिये आपके प्रत्यक्ष पूजन या स्तवनका सुअवसर पा जाते हैं तो अपनेको महान् भाग्य समझते हैं। अतएव सब पूजनीयोंके भी परम पूज आप ही हैं, इसलिये मुझ क्षुद्रके अपराधोंको क्षमा कर आपके लिये सभी प्रकारसे उचित है।

प्रश्न—'अप्रतिमप्रभाव' सम्बोधनके साथ 'ती लोकोंमें आपके समान भी दूसरा कोई नहीं है तो वि अधिक कैसे हो सकता है' इस कथनका क्य अभिप्राय है ?

उत्तर—जिसके प्रभावकी कोई तुलना न हो, उ 'अप्रतिमप्रभाव' कहते हैं। इसका प्रयोग करके आ कहे हुए वाक्यसे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है वि विश्व-ब्रह्माण्डमें ऐसा कोई भी नहीं है, जिसकी आप अचिन्त्यानन्त महान् गुणोंसे, ऐश्वर्यसे और महत्त्व तुलना हो सके। आपके समान तो बस, आप ही और जब आपके समान भी दूसरा कोई नहीं है, त आपसे बढ़कर कोई है—ऐसी तो कल्पना भी नहीं सकती। ऐसी स्थितिमें, हे दयामय! आप यदि अपराधोंको क्षमा न करेंगे तो कौन करेगा ?

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥४४॥

अतएव हे प्रभो ! मैं शरीरको भलीभाँति चरणोंमें निवेदित कर, प्रणाम करके, स्तुति करने योग्य आप ईश्वरको प्रसन्न होनेके लिये प्रार्थना करता हूँ । हे देव ! पिता जैसे पुत्रके, सखा जैसे सखाके और पति जैसे प्रियतमा पत्नीके अपराध सहन करते हैं—वैसे ही आप भी मेरे अपराधको सहन करने योग्य हैं ॥ ४४ ॥

प्रश्न—'तस्मात्' पदके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—पिछले श्लोकमें जो भगवान्‌के महामहिम गुणोंका वर्णन किया गया है, उन गुणोंको भगवान्‌के प्रसन्न होनेमें हेतु बतलानेके लिये 'तस्मात्' पदका प्रयोग किया है । अभिप्राय यह है कि आप इस प्रकारके महत्त्व और प्रभावसे युक्त हैं; अतएव मुझ-जैसे दीन शरणागतपर दया करके प्रसन्न होना तो, मैं समझता हूँ, आपका स्वभाव ही है । इसीलिये मैं साहस करके आपसे विनयपूर्वक यह प्रार्थना करता हूँ कि आप मुझपर प्रसन्न होइये ।

प्रश्न—'त्वाम्' पदके साथ 'ईशम्' और 'ईड्यम्' विशेषण देकर 'मैं शरीरको चरणोंमें निवेदित करके, प्रणाम करके, आपसे प्रसन्न होनेके लिये प्रार्थना करता हूँ' इस कथनसे क्या भाव दिखलाया है ?

उत्तर—जो सबका नियमन करनेवाले स्वामी हों, उन्हें 'ईश' कहते हैं और जो स्तुतिके योग्य हों, उन्हें 'ईड्य' कहते हैं । इन दोनों विशेषणोंका प्रयोग करके अर्जुन यह भाव दिखलाते हैं कि हे प्रभो ! इस समस्त जगत्‌का नियमन करनेवाले—यहाँतक कि इन्द्र, आदित्य, वरुण, कुबेर और यमराज आदि लोकनियन्ता देवताओंको भी अपने नियममें रखनेवाले आप सबके एकमात्र महेश्वर हैं । और आपके गुण, गौरव तथा महत्त्वका इतना विस्तार है कि सारा जगत् सदा-सर्वदा आपका स्तवन करता रहे तब भी उसका पार नहीं पा सकता; इसलिये आप ही वस्तुतः स्तुतिके योग्य हैं । मुझमें न तो इतना ज्ञान है और न वाणीमें ही बल है कि जिससे मैं स्तवन करके आपको प्रसन्न कर सकूँ । मैं अबोध भला आपका क्या स्तवन करूँ ? मैं आपका प्रभाव बतलानेमें जो कुछ भी कहूँगा, वह वास्तवमें आपके प्रभावकी छायाको भी न छू सकेगा; इसलिये वह आपके प्रभावको घटानेवाला ही होगा । अतः मैं तो बस, इस शरीरको ही लकड़ीकी भाँति आपके चरणप्रान्तमें लुढ़ाकर—समस्त अङ्गोंके द्वारा आपको प्रणाम करके आपकी चरणधूलिके प्रसादसे ही आपकी प्रसन्नता प्राप्त करना चाहता हूँ । आप कृपा करके मेरे सब अपराधोंको भुला दीजिये और मुझ दीनपर प्रसन्न हो जाइये ।

प्रश्न—पिता-पुत्रकी, मित्र-मित्रकी और पति-पत्नीकी उपमा देकर अपराध क्षमा करनेकी योग्यता सिद्ध करनेका क्या भाव है ?

उत्तर—४१वें और ४२वें श्लोकोंमें बतलाया जा चुका है कि प्रमाद, विनोद और प्रेम—इन तीन कारणोंसे मनुष्योंद्वारा किसीका अपराध बनता है । यहाँ अर्जुन उपर्युक्त तीनों उपमा देकर भगवान्‌से यह प्रार्थना करते हैं कि तीनों ही हेतुओंसे बने हुए मेरे अपराध आपको सहन करने चाहिये । अभिप्राय यह है कि जैसे अज्ञानमें प्रमादवश किये हुए पुत्रके अपराधोंको पिता क्षमा करता है, हँसी-मजाकमें किये हुए मित्रके अपराधोंको मित्र सहता है और प्रेमवश किये हुए प्रियतमा पत्नीके अपराधोंको पति क्षमा करता है—वैसे ही मेरे तीनों ही कारणोंसे बने हुए समस्त अपराधोंको आप क्षमा कीजिये ।

सम्बन्ध—इस प्रकार भगवान्‌से अपने अपराधोंके लिये क्षमा-याचना करके अब अर्जुन दो श्लोकोंमें भगवा[n] चतुर्भुजरूपका दर्शन करानेके लिये प्रार्थना करते हैं—

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देवरूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥४५॥

मैं पहले न देखे हुए आपके इस आश्चर्यमय रूपको देखकर हर्षित हो रहा हूँ और मेरा मन भ[य] अति व्याकुल भी हो रहा है, इसलिये आप उस अपने चतुर्भुज विष्णुरूपको ही मुझे दिखला[इये] हे देवेश ! हे जगन्निवास ! प्रसन्न होइये ॥४५॥

प्रश्न—'अदृष्टपूर्वम्' का क्या भाव है और उसे देखकर हर्षित होनेकी और साथ ही भयसे व्याकुल होनेकी बात कहकर अर्जुनने क्या भाव दिखलाया है ?

उत्तर—जो रूप पहले कभी न देखा हुआ हो, उस आश्चर्यजनक रूपको 'अदृष्टपूर्व' कहते हैं । अतएव यहाँ अर्जुनके कथनका भाव यह है कि आपके इस अलौकिक रूपमें जब मैं आपके गुण, प्रभाव और ऐश्वर्यकी ओर देखकर विचार करता हूँ तब तो मुझे बड़ा भारी हर्ष होता है कि 'अहो ! मैं बड़ा ही सौभाग्यशाली हूँ, जो साक्षात् परमेश्वरकी मुझ तुच्छपर इतनी अनन्त दया और ऐसा अनोखा प्रेम है कि जिससे वे कृपा करके मुझको अपना यह अलौकिक रूप दिखला रहे हैं;' परन्तु इसीके साथ जब आपकी भयावनी विकराल मूर्तिकी ओर मेरी दृष्टि जाती है तब मेरा मन भयसे काँप उठता है और मैं अत्यन्त व्याकुल हो जाता हूँ ।

अर्जुनका यह कथन सहेतुक है । अभिप्राय यह है कि इसीलिये मैं आपसे विनीत प्रार्थना करता हूँ कि आप अपने इस रूपको शीघ्र संवरण कर लीजिये ।

प्रश्न—'एव' पदके सहित 'तत्' पदका प्रयोग करके देवरूप दिखलानेके लिये प्रार्थना करनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'तत्' पद परोक्षवाची है । साथ ही यह उस वस्तुका भी वाचक है, जो पहले देखी हुई हो किन्तु अब प्रत्यक्ष न हो; तथा 'एव' पद उससे भि[न्न] रूपका निराकरण करता है । अतएव अर्जुनके कथन[का] अभिप्राय यह होता है कि आपका जो वैकुण्ठधा[ममें] निवास करनेवाला देवरूप अर्थात् विष्णुरूप है, मुझ[े] उसी चतुर्भुजरूपके दर्शन करवाइये । केवल 'तत्' [के] प्रयोग होनेसे तो यह बात भी मानी जा सकती थी [कि] भगवान्‌का जो मनुष्यावतारका रूप है, उसीको दिखल[ाने]के लिये अर्जुन प्रार्थना कर रहे हैं; किन्तु रूपके स[ाथ] 'देव' पद रहनेसे वह स्पष्ट ही मानुषरूपसे भिन्न दे[व]सम्बन्धी रूपका वाचक हो जाता है ।

प्रश्न—'देवेश' और 'जगन्निवास' सम्बोधनका [क्या] भाव है ?

उत्तर—जो देवताओंके भी स्वामी हों, उन्हें 'देवे[श'] कहते हैं तथा जो जगत्‌के आधार और सर्वव्यापी [हों] उन्हें 'जगन्निवास' कहते हैं । इन दोनों सम्बोधनो[ंका] प्रयोग करके अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आ[प] समस्त देवोंके स्वामी साक्षात् सर्वव्यापी परमेश्वर [हैं] अत: आप ही उस देवरूपको प्रकट कर सकते हैं ।

प्रश्न—'प्रसीद' पदका क्या भाव है ?

उत्तर—'प्रसीद' पदसे अर्जुन भगवान्‌को प्रस[न्न] होनेके लिये कहते हैं । अभिप्राय यह है कि आप शीघ्र [ही] इस विकराल रूपको संवरण करके मुझे अपना चतुर्[भुज] स्वरूप दिखलानेकी कृपा कीजिये ।

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥४६॥

मैं वैसे ही आपको मुकुट धारण किये हुए तथा गदा और चक्र हाथमें लिये हुए देखना चाहता हूँ, इसलिये हे विश्वस्वरूप ! हे सहस्रबाहो ! आप उसी चतुर्भुजरूपसे प्रकट होइये ॥ ४६ ॥

प्रश्न—'तथा' के साथ 'एव' के प्रयोगका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—महाभारत-युद्धमें भगवान्‌ने शस्त्र-ग्रहण न करनेकी प्रतिज्ञा की थी और अर्जुनके रथपर वे अपने हाथोंमें चाबुक और घोड़ोंकी लगाम थामे विराजमान थे । परन्तु इस समय अर्जुन भगवान्‌के इस द्विभुज रूपको देखनेसे पहले उस चतुर्भुज रूपको देखना चाहते हैं, जिसके हाथोंमें गदा और चक्रादि हैं; इसी अभिप्रायसे 'तथा' के साथ 'एव' पदका प्रयोग हुआ है ।

प्रश्न—'तेन एव' पदोंसे क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—पूर्व श्लोकमें आये हुए 'तत् देवरूपं एव' को लक्ष्य करके ही अर्जुन कहते हैं कि आप वही चतुर्भुज-रूप हो जाइये । यहाँ 'एव' पदसे यह भी ध्वनित होता है कि अर्जुन प्रायः सदा भगवान्‌के द्विभुज रूपका ही दर्शन करते थे, परन्तु यहाँ 'चतुर्भुज रूप' को ही देखना चाहते हैं ।

प्रश्न—चतुर्भुज रूप श्रीकृष्णके लिये कहा गया है या देवरूप कहनेसे विष्णुके लिये है ?

उत्तर—विष्णुके लिये कहा गया है, इसमें निम्नलिखित कई हेतु हैं—

(१) यदि चतुर्भुज रूप श्रीकृष्णका स्वाभाविक रूप होता तो फिर 'गदिनम्' और 'चक्रहस्तम्' कहनेकी कोई आवश्यकता न थी, क्योंकि अर्जुन उस रूपको सदा देखते ही थे । वरं 'चतुर्भुज' कहना भी निष्प्रयोजन था; अर्जुनका इतना ही कहना पर्याप्त होता कि मैं अभी कुछ देर पहले जो रूप देख रहा था, वही दिखलाइये ।

(२) पिछले श्लोकमें 'देवरूपम्' पद आया है, जो आगे ५१वें श्लोकमें आये हुए 'मानुषरूपम्' से सर्वथा विलक्षण अर्थ रखता है; इससे भी सिद्ध है कि देवरूपसे विष्णुका ही कथन किया गया है ।

(३) आगे ५०वें श्लोकमें आये हुए 'स्वकं रूपम्' के साथ 'भूयः' और 'सौम्यवपुः' के साथ 'पुनः' पद आनेसे भी यहाँ पहले चतुर्भुज और फिर द्विभुज मानुषरूप दिखलाया जाना सिद्ध होता है ।

(४) आगे ५२वें श्लोकमें 'सुदुर्दर्शम्' पदसे यह दिखलाया गया है कि यह रूप अत्यन्त दुर्लभ है और फिर कहा गया है कि देवता भी इस रूपको देखनेकी नित्य आकांक्षा करते हैं । यदि श्रीकृष्णका चतुर्भुज रूप स्वाभाविक था, तब तो वह रूप मनुष्योंको भी दीखता था; फिर देवता उसकी सदा आकांक्षा क्यों करने लगे ? यदि यह कहा जाय कि विश्वरूपके लिये ऐसा कहा गया है तो ऐसे घोर विश्वरूपकी देवताओंको कल्पना भी क्यों होने लगी, जिसकी दाढ़ोंमें भीष्म-द्रोणादि चूर्ण हो रहे हैं । अतएव यही प्रतीत होता है कि देवतागण वैकुण्ठवासी श्रीविष्णुरूपके दर्शनकी ही आकांक्षा करते हैं ।

(५) विराट् स्वरूपकी महिमा ४८वें श्लोकमें 'न वेदयज्ञाध्ययनैः' इत्यादिके द्वारा गायी गयी, फिर ५३वें श्लोकमें 'नाहं वेदैर्न तपसा' आदिमें पुनः वैसी

ही बात आती है। यदि दोनों जगह एक ही विराट् रूपकी महिमा है तो इसमें पुनरुक्तिदोष आता है; इससे भी सिद्ध है कि मानुषरूप दिखलानेके पहले भगवान्‌ने अर्जुनको चतुर्भुज देवरूप दिखलाया; और उसीकी महिमामें ५३वाँ श्लोक कहा गया।

(६) इसी अध्यायके २४वें और ३०वें श्लोकमें अर्जुनने 'विष्णो' पदसे भगवान्‌को सम्बोधित भी किया है। इससे भी उनके विष्णुरूप देखनेकी आकांक्षा प्रतीत होती है।

इन हेतुओंसे यही सिद्ध होता है कि यहाँ अ… भगवान् श्रीकृष्णसे चतुर्भुज विष्णुरूप दिखलानेके … प्रार्थना कर रहे हैं।

प्रश्न—'सहस्रबाहो' और 'विश्वमूर्ते' सम्बोधन … चतुर्भुज होनेके लिये कहनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—अर्जुनको भगवान् जो हजारों हा… विराट्स्वरूपसे दर्शन दे रहे हैं, उस रूपका सं… करके चतुर्भुजरूप होनेके लिये अर्जुन इन ना… सम्बोधन करके भगवान्‌से प्रार्थना कर रहे हैं।

सम्बन्ध—अर्जुनकी प्रार्थनापर अब अगले तीन श्लोकोंमें भगवान् अपने विश्वरूपकी महिमा और दुर्लभ… वर्णन करते हुए अर्जुनको आश्वासन देकर चतुर्भुज रूप देखनेके लिये कहते हैं—

श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्॥४७॥

श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन! अनुग्रहपूर्वक मैंने अपनी योगशक्तिके प्रभावसे यह मेरा परम तेजो… सबका आदि और सीमारहित विराट् रूप तुझको दिखलाया है, जिसे तेरे अतिरिक्त दूसरे किसीने प… नहीं देखा था॥४७॥

प्रश्न—'मया' के साथ 'प्रसन्नेन' विशेषण देनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि तुम्हारी भक्ति और प्रार्थनासे प्रसन्न होकर तुमपर दया करके अपना गुण, प्रभाव और तत्त्व समझानेके लिये मैंने तुमको यह अलौकिक रूप दिखलाया है। ऐसी स्थितिमें तुम्हें भय, दुःख और मोह होनेका कोई कारण ही न था; फिर तुम इस प्रकार भयसे व्याकुल क्यों हो रहे हो?

प्रश्न—'आत्मयोगात्' का क्या भाव है?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि मेरे इस विराट् रूपके दर्शन सबको नहीं हो सक… जिस समय मैं अपनी योगशक्तिसे इसके दर्शन क… हूँ, उसी समय होते हैं। वह भी उसीको होते… जिसको दिव्य दृष्टि प्राप्त हो; दूसरेको नहीं। अ… इस रूपके दर्शन प्राप्त करना बड़े सौभाग्यकी बात…

प्रश्न—'रूपम्' के साथ 'इदम्', 'परम्', 'तेजोम…' 'आद्यम्', 'अनन्तम्' और 'विश्वम्' विशेषण देनेका … भाव है?

उत्तर—इन विशेषणोंके प्रयोगसे भगवान् अ… अलौकिक और अद्भुत विराट्स्वरूपका महत्त्व अर्जुन… समझा रहे हैं। वे कहते हैं कि मेरा यह रूप अत…

उत्कृष्ट और दिव्य है, असीम और दिव्य प्रकाशका पुञ्ज है, सबको उत्पन्न करनेवाला है, असीम रूपसे विस्तृत है, किसी ओरसे भी इसका कहीं ओर-छोर नहीं मिलता। तुम जो कुछ देख रहे हो, यह पूर्ण नहीं है। यह तो मेरे उस महान् रूपका अंशमात्र है।

प्रश्न—मेरा यह रूप 'तेरे सिवा दूसरेके द्वारा पहले नहीं देखा गया' भगवान्‌ने इस प्रकार कैसे कहा, जब कि वे इससे पहले यशोदा माताको अपने मुखमें और भीष्मादि वीरोंको कौरवोंकी सभामें अपने विराट् स्वरूपके दर्शन करा चुके हैं?

उत्तर—यशोदा माताको अपने मुखमें और भीष्मादि वीरोंको कौरवोंकी सभामें जिन विराट् रूपोंके दर्शन कराये थे, उनमें और अर्जुनको दीखनेवाले इस विराट् रूपमें बहुत अन्तर है। तीनोंके भिन्न-भिन्न वर्णन हैं। अर्जुनको भगवान्‌ने जिस रूपके दर्शन कराये, उसमें भीष्म और द्रोण आदि शूरवीर भगवान्‌के प्रज्वलित मुखोंमें प्रवेश करते दीख पड़ते थे। ऐसा विराट् रूप भगवान्‌ने पहले कभी किसीको नहीं दिखलाया था। अतएव भगवान्‌के कथनमें किसी प्रकारकी भी असङ्गति नहीं है।

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥४८॥

हे अर्जुन! मनुष्यलोकमें इस प्रकार विश्वरूपवाला मैं न वेद और यज्ञोंके अध्ययनसे, न दानसे, न क्रियाओंसे और न उग्र तपोंसे ही तेरे अतिरिक्त दूसरेके द्वारा देखा जा सकता हूँ॥४८॥

प्रश्न—'वेदयज्ञाध्ययनैः', 'दानैः', 'क्रियाभिः', 'उग्रैः' और 'तपोभिः' इन पदोंका एवं इनसे भगवान्‌के विराट् रूपका देखा जाना शक्य नहीं है—इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—वेदवेत्ता अधिकारी आचार्यके द्वारा अङ्ग-उपाङ्गोंसहित वेदोंको पढ़कर उन्हें भलीभाँति समझ लेनेका नाम 'वेदाध्ययन' है। यज्ञक्रियामें सुनिपुण याज्ञिक पुरुषोंकी सेवामें रहकर उनके द्वारा यज्ञविधियोंको पढ़ना और उन्हींकी अध्यक्षतामें विधिवत् किये जानेवाले यज्ञोंको प्रत्यक्ष देखकर यज्ञसम्बन्धी समस्त क्रियाओंको भलीभाँति जान लेना 'यज्ञका अध्ययन' है।

धन, सम्पत्ति, अन्न, जल, विद्या, गौ, पृथ्वी आदि किसी भी अपने स्वत्वकी वस्तुका दूसरोंके सुख और हितके लिये प्रसन्न हृदयसे जो उन्हें यथायोग्य दे देना है—इसका नाम 'दान' है।

श्रौत-स्मार्त यज्ञादिका अनुष्ठान और अपने वर्णाश्रम-धर्मका पालन करनेके लिये किये जानेवाले समस्त शास्त्रविहित कर्मोंको 'क्रिया' कहते हैं।

कृच्छ्र-चान्द्रायणादि व्रत, विभिन्न प्रकारके कठोर नियमोंका पालन, मन और इन्द्रियोंका विवेक और बलपूर्वक दमन तथा धर्मके लिये शारीरिक या मानसिक कठिन क्लेशोंका सहन, अथवा शास्त्रविधिके अनुसार की जानेवाली अन्य विभिन्न प्रकारकी तपस्याएँ—इन्हीं सबका नाम 'उग्र तप' है।

इन सब साधनोंके द्वारा भी अपने विराट् स्वरूपके दर्शनको असम्भव बतलाकर भगवान् उस रूपकी महत्ता प्रकट करते हुए यह कह रहे हैं कि इस प्रकारके महान् प्रयत्नोंसे भी जिसके दर्शन नहीं हो सकते, उसी रूपको तुम मेरी प्रसन्नता और कृपाके प्रसादसे प्रत्यक्ष देख रहे हो—यह तुम्हारा महान् सौभाग्य है।

इस समय तुम्हें जो भय, दुःख और मोह हो रहा है—यह उचित नहीं है।

प्रश्न—विराट् रूपके दर्शनको अर्जुनके अतिरिक्त दूसरोंके लिये अशक्य बतलाते समय 'नृलोके' पदका प्रयोग करनेका क्या भाव है? क्या दूसरे लोकोंमें इसके दर्शन अशक्य नहीं हैं?

उत्तर—वेद-यज्ञादिके अध्ययन, दान, तप तथा अन्यान्य विभिन्न प्रकारकी क्रियाओंका अधिकार मनुष्य-लोकमें ही है। और मनुष्यशरीरमें ही जीव भिन्न-भिन्न प्रकारके नवीन कर्म करके भाँति-भाँतिके अधिकार प्राप्त करता है। अन्यान्य सब लोक तो प्रधानतया भोग-स्थान ही हैं। मनुष्यलोकके इसी महत्त्वको समझानेके लिये यहाँ 'नृलोके' पदका प्रयो[...] गया है। अभिप्राय यह है कि जब मनुष्य[...] उपर्युक्त साधनोंद्वारा दूसरा कोई मेरे इस रू[...] देख सकता, तब अन्यान्य लोकोंमें और [...] साधनके कोई नहीं देख सकता—इसमें तो [...] क्या है?

प्रश्न—'कुरुप्रवीर' सम्बोधनका क्या भाव[...]

उत्तर—इसका प्रयोग करके भगवान्ने [...] दिखलाया है कि तुम कौरवोंमें श्रेष्ठ [...] तुम्हारे-जैसे वीरपुरुषके लिये इस प्रकार भय[...] शोभा नहीं दे सकता; इसलिये भी तुम्हें [...] करना चाहिये।

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोर[...] ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिद[...] ॥४९॥

मेरे इस प्रकारके इस विकराल रूपको देखकर तुझको व्याकुलता नहीं हो[...] भी नहीं होना चाहिये। तू भयरहित और प्रीतियुक्त मनवाला उसी मेरे इस शङ्ख-चक्र[...] रूपको फिर देख ॥ ४९ ॥

प्रश्न—मेरे इस विकराल रूपको देखकर तुझको व्याकुलता और मूढभाव नहीं होना चाहिये, इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इस कथनसे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि मैंने जो प्रसन्न होकर तुम्हें इस परम दुर्लभ विराट् स्वरूपके दर्शन कराये हैं, इससे तुम्हारे अंदर व्याकुलता और मूढभावका होना कदापि उचित न था। तथापि जब इसे देखकर तुम्हें व्यथा तथा मोह हो रहा है और तुम चाहते हो कि मैं अब इस स्वरूपको संवरण कर लूँ, तब तुम्हारे इच्छानुसार तुम्हें सुखी करनेके लिये अब मैं इस रूपको तुम्हारे सामनेसे छिपा लेता हूँ; तुम मोहित और डरके मारे व्यथित न होओ।

प्रश्न—'त्वम्'के साथ 'व्यपेतभीः' [...] विशेषण देनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'त्वम्'के साथ 'व्यपेतभीः' और [...] विशेषण देकर भगवान्ने यह भाव दिखलाया [...] रूपसे तुम्हें भय और व्याकुलता हो रही [...] संवरण करके अब मैं तुम्हारे इच्छि[...] प्रकट होता हूँ; इसलिये तुम [...] हो जाओ।

प्रश्न—'रूपम्'के साथ 'तत्' और [...] देनेका क्या अभिप्राय है? तथा 'पुनः' प[...] करके उस रूपको देखनेके लिये कहनेका क्या[...]

उत्तर—'तत्' और 'इदम्' विशेषण देकर [...] दिखलाया है कि जिस चतुर्भुज देवरूपके [...] तुमको पहले कराये थे एवं अभी जिसके दर्श[...]



इस समय तुम्हें जो भय, दुःख और मोह हो रहा है—यह उचित नहीं है।

प्रश्न—विराट् रूपके दर्शनको अर्जुनके अतिरिक्त दूसरोंके लिये अशक्य बतलाते समय 'नृलोके' पदका प्रयोग करनेका क्या भाव है? क्या दूसरे लोकोंमें इसके दर्शन अशक्य नहीं हैं?

उत्तर—वेद-यज्ञादिके अध्ययन, दान, तप तथा अन्यान्य विभिन्न प्रकारकी क्रियाओंका अधिकार मनुष्य-लोकमें ही है। और मनुष्यशरीरमें ही जीव भिन्न-भिन्न प्रकारके नवीन कर्म करके भाँति-भाँतिके अधिकार प्राप्त करता है। अन्यान्य सब लोक तो प्रधानतया भोग-स्थान ही हैं। मनुष्यलोकके इसी महत्त्वको समझानेके लिये यहाँ 'नृलोके' पदका प्रयोग किया गया है। अभिप्राय यह है कि जब मनुष्यलोकमें भी उपर्युक्त साधनोंद्वारा दूसरा कोई मेरे इस रूपको नहीं देख सकता, तब अन्यान्य लोकोंमें और बिना किसी साधनके कोई नहीं देख सकता—इसमें तो कहना ही क्या है?

प्रश्न—'कुरुप्रवीर' सम्बोधनका क्या भाव है?

उत्तर—इसका प्रयोग करके भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि तुम कौरवोंमें श्रेष्ठ वीरपुरुष हो, तुम्हारे-जैसे वीरपुरुषके लिये इस प्रकार भयभीत होना शोभा नहीं दे सकता; इसलिये भी तुम्हें भय नहीं करना चाहिये।

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥४९॥

मेरे इस प्रकारके इस विकराल रूपको देखकर तुझको व्याकुलता नहीं होनी चाहिये और मूढ़भाव भी नहीं होना चाहिये। तू भयरहित और प्रीतियुक्त मनवाला उसी मेरे इस शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मयुक्त चतुर्भुज रूपको फिर देख ॥४९॥

प्रश्न—मेरे इस विकराल रूपको देखकर तुझको व्याकुलता और मूढभाव नहीं होना चाहिये, इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि मैंने जो प्रसन्न होकर तुम्हें इस परम दुर्लभ विराट् स्वरूपके दर्शन कराये हैं, इससे तुम्हारे अंदर व्याकुलता और मूढभावका होना कदापि उचित न था। तथापि जब इसे देखकर तुम्हें व्यथा तथा मोह हो रहा है और तुम चाहते हो कि मैं अब इस स्वरूपको संवरण कर लूँ, तब तुम्हारे इच्छानुसार तुम्हें सुखी करनेके लिये अब मैं इस रूपको तुम्हारे सामनेसे छिपा लेता हूँ; तुम मोहित और डरके मारे व्यथित न होओ।

प्रश्न—'त्वम्'के साथ 'व्यपेतभीः' और 'प्रीतमनाः' विशेषण देनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'त्वम्'के साथ 'व्यपेतभीः' और 'प्रीतमनाः' विशेषण देकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि जिस रूपसे तुम्हें भय और व्याकुलता हो रही थी, उसको संवरण करके अब मैं तुम्हारे इच्छित चतुर्भुज रूपमें प्रकट होता हूँ; इसलिये तुम भयरहित और प्रसन्न-मन हो जाओ।

प्रश्न—'रूपम्'के साथ 'तत्' और 'इदम्' विशेषण देनेका क्या अभिप्राय है? तथा 'पुनः' पदका प्रयोग करके उस रूपको देखनेके लिये कहनेका क्या भाव है?

उत्तर—'तत्' और 'इदम्' विशेषण देकर यह भाव दिखलाया है कि जिस चतुर्भुज देवरूपके दर्शन मैंने तुमको पहले कराये थे एवं अभी जिसके दर्शनके लिये



भगवान् विष्णु

तुम प्रार्थना कर रहे हो, अब तुम उसी रूपको देखो; यह वही रूप अब तुम्हारे सामने है। अभिप्राय यह है कि अब तुम्हारे सामनेसे वह विश्वरूप हट गया है और उसके बदले चतुर्भुज रूप प्रकट हो गया है, अतएव अब तुम निर्भय होकर प्रसन्न मनसे मेरे इस चतुर्भुज रूपके दर्शन करो।

'पुन:' पदके प्रयोगसे यहाँ यह प्रतीत होता है कि भगवान्‌ने अर्जुनको अपने चतुर्भुज रूपके दर्शन पहले भी कराये थे, ४५वें और ४६वें श्लोकोंमें की हुई अर्जुनकी प्रार्थनामें 'तत् एव' और 'तेन एव' पदोंके प्रयोगसे भी यही भाव स्पष्ट होता है।

सम्बन्ध—इस प्रकार चतुर्भुज रूपका दर्शन करनेके लिये अर्जुनको आज्ञा देकर भगवान्‌ने क्या किया, अब सञ्जय धृतराष्ट्रसे वही कहते हैं—

सञ्जय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥५०॥

सञ्जय बोले—वासुदेव भगवान्‌ने अर्जुनके प्रति इस प्रकार कहकर फिर वैसे ही अपने चतुर्भुज रूपको दिखलाया और फिर महात्मा श्रीकृष्णने सौम्यमूर्ति होकर इस भयभीत अर्जुनको धीरज दिया ॥५०॥

प्रश्न—'वासुदेव:' पदका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—भगवान् श्रीकृष्ण महाराज वसुदेवजीके पुत्र-रूपमें प्रकट हुए हैं और आत्मरूपसे सबमें निवास करते हैं। इसलिये उनका एक नाम वासुदेव है।

प्रश्न—'रूपम्' के साथ 'स्वकम्' विशेषण लगानेका और 'दर्शयामास' क्रियाके प्रयोगका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'स्वकं रूपम्'का अर्थ है अपना निजी रूप। वैसे तो विश्वरूप भी भगवान् श्रीकृष्णका ही है और वह भी उनका स्वकीय ही है तथा भगवान् जिस मानुषरूपमें सबके सामने प्रकट रहते थे—वह श्रीकृष्णरूप भी उनका स्वकीय ही है, किन्तु यहाँ 'रूपम्'के साथ 'स्वकम्' विशेषण देनेका अभिप्राय उक्त दोनोंसे भिन्न किसी तीसरे ही रूपका लक्ष्य करानेके लिये होना चाहिये। क्योंकि विश्वरूप तो अर्जुनके सामने प्रस्तुत था ही, उसे देखकर तो वे भयभीत हो रहे थे; अतएव उसे दिखलानेकी तो यहाँ कल्पना भी नहीं की जा सकती। और मानुषरूपके लिये यह कहनेकी आवश्यकता नहीं रहती कि उसे भगवान्‌ने दिखलाया (दर्शयामास); क्योंकि विश्वरूपको हटा लेनेके बाद भगवान्‌का जो स्वाभाविक मनुष्यावतारका रूप है, वह तो ज्यों-का-त्यों अर्जुनके सामने रहता ही; उसमें दिखलानेकी क्या बात थी, उसे तो अर्जुन स्वयं ही देख लेते। अतएव यहाँ 'स्वकम्' विशेषण और 'दर्शयामास' क्रियाके प्रयोगसे यही भाव प्रतीत होता है कि नरलीलाके लिये प्रकट किये हुए सबके सम्मुख रहनेवाले मानुषरूपसे और अपनी योगशक्तिसे प्रकट करके दिखलाये हुए विश्वरूपसे भिन्न जो नित्य वैकुण्ठधाममें निवास करनेवाला भगवान्‌का दिव्य चतुर्भुज निजीरूप है—उसीको देखनेके लिये अर्जुनने प्रार्थना की थी और वही रूप भगवान्‌ने उनको दिखलाया।

प्रश्न—'महात्मा' पदका और 'सौम्यवपु:' होकर भयभीत अर्जुनको धीरज दिया, इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—जिनका आत्मा अर्थात् स्वरूप महान् हो,

उन्हें महात्मा कहते हैं । भगवान् श्रीकृष्ण सबके आत्मरूप हैं, इसलिये वे महात्मा हैं। कहनेका अभिप्राय यह है कि अर्जुनको अपने चतुर्भुज रूपका दर्शन करानेके पश्चात् महात्मा श्रीकृष्णने 'सौम्यवपुः' अर्थात् परम शान्त श्यामसुन्दर मानुषरूपसे युक्त होकर भयसे व्याकुल हुए अर्जुनको धैर्य दिया ।

सम्बन्ध—इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णने अपने विश्वरूपको संवरण करके, चतुर्भुज रूपके दर्शन देनेके पश्चात् जब स्वाभाविक मानुषरूपसे युक्त होकर अर्जुनको आश्वासन दिया, तब अर्जुन सावधान होकर कहने लगे—

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥५१॥

अर्जुन बोले—हे जनार्दन ! आपके इस अति शान्त मनुष्यरूपको देखकर अब मैं स्थिरचित्त हो गया हूँ और अपनी स्वाभाविक स्थितिको प्राप्त हो गया हूँ ॥ ५१ ॥

प्रश्न—'रूपम्' के साथ 'सौम्यम्' और 'मानुषम्' विशेषण देनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—भगवान्का जो मानुषरूप था वह बहुत ही मधुर, सुन्दर और शान्त था; तथा पिछले श्लोकमें जो भगवान्के सौम्यवपु हो जानेकी बात कही गयी है, वह भी मानुषरूपको लक्ष्य करके ही कही गयी है—इसी बातको स्पष्ट करनेके लिये यहाँ 'रूपम्' के साथ 'सौम्यम्' और 'मानुषम्' इन दोनों विशेषणोंका प्रयोग किया गया है ।

प्रश्न—'सचेताः संवृत्तः' और 'प्रकृतिं गतः' का क्या भाव है ?

उत्तर—भगवान्के विराट् रूपको देखकर अर्जुनके मनमें भय, व्यथा और मोह आदि विकार उत्पन्न हो गये थे—उन सबका अभाव इन पदोंके प्रयोगसे दिखलाया गया है । अभिप्राय यह है कि आपके इस श्यामसुन्दर मधुर मानुषरूपको देखकर अब मैं स्थिरचित्त हो गया हूँ—अर्थात् मेरा मोह, भ्रम और भय दूर हो गया और मैं अपनी वास्तविक स्थितिको प्राप्त हो गया हूँ । अर्थात् भय और व्याकुलता एवं कम्प आदि जो अनेक प्रकारके विकार मेरे मन, इन्द्रिय और शरीरमें उत्पन्न हो गये थे—उन सबके दूर हो जानेसे अब मैं पूर्ववत् स्वस्थ हो गया हूँ ।

सम्बन्ध—इस प्रकार अर्जुनके वचन सुनकर अब भगवान् दो श्लोकोंद्वारा अपने चतुर्भुज देवरूपके दर्शनकी दुर्लभता और उसकी महिमाका वर्णन करते हैं—

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥५२॥

श्रीभगवान् बोले—मेरा जो चतुर्भुज रूप तुमने देखा है, यह सुदुर्दर्श है अर्थात् इसके दर्शन बड़े ही दुर्लभ हैं । देवता भी सदा इस रूपके दर्शनकी आकाङ्क्षा करते रहते हैं ॥५२॥

प्रश्न—'रूपम्' के साथ 'सुदुर्दर्शम्' और 'इदम्' विशेषण देनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'सुदुर्दर्शम्' विशेषण देकर भगवान्‌ने अपने चतुर्भुज दिव्यरूपके दर्शनकी दुर्लभता और उसकी महत्ता दिखलायी है। तथा 'इदम्' पद निकटवर्ती वस्तुका निर्देश करनेवाला होनेसे इसके द्वारा विश्वरूपके पश्चात् दिखलाये जानेवाले चतुर्भुज रूपका सङ्केत किया गया है। अभिप्राय यह है कि मेरे जिस चतुर्भुज, मायातीत, दिव्य गुणोंसे युक्त नित्यरूपके तुमने दर्शन किये हैं, उस रूपके दर्शन बड़े ही दुर्लभ हैं; इसके दर्शन उसीको हो सकते हैं, जो मेरा अनन्य भक्त होता है और जिसपर मेरी कृपाका पूर्ण प्रकाश हो जाता है।

प्रश्न—देवतालोग भी सदा इस रूपका दर्शन करनेकी इच्छा रखते हैं, इस कथनका क्या अभिप्राय है ? तथा इस वाक्यमें 'अपि' पदके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—इस कथनसे भी भगवान्‌ने अपने चतुर्भुज रूपके दर्शनकी दुर्लभता और उसकी महत्ता ही प्रकट की है। तथा 'अपि' पदके प्रयोगसे यह भाव दिखलाया है कि जब देवतालोग भी सदा इसके देखनेकी इच्छा रखते हैं, किन्तु सब देख नहीं पाते, तो फिर मनुष्योंकी तो बात ही क्या है ?

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥५३॥

जिस प्रकार तुमने मुझको देखा है—इस प्रकार चतुर्भुज रूपवाला मैं न वेदोंसे, न तपसे, न दानसे और न यज्ञसे ही देखा जा सकता हूँ ॥५३॥

प्रश्न—नवम अध्यायके २७वें और २८वें श्लोकोंमें यह कहा गया है कि तुम जो कुछ यज्ञ करते हो, दान देते हो और तप करते हो—सब मेरे अर्पण कर दो; ऐसा करनेसे तुम सब कर्मोंसे मुक्त हो जाओगे और मुझे प्राप्त हो जाओगे। तथा सतरहवें अध्यायके २५वें श्लोकमें यह बात कही गयी है कि मोक्षकी इच्छावाले पुरुषोंद्वारा यज्ञ, दान और तपरूप क्रियाएँ फलकी इच्छा छोड़कर की जाती हैं; इससे यह भाव निकलता है कि यज्ञ, दान और तप मुक्तिमें और भगवान्‌की प्राप्तिमें अवश्य ही हेतु हैं। किन्तु इस श्लोकमें भगवान्‌ने यह बात कही है कि मेरे चतुर्भुज रूपके दर्शन न तो वेदके अध्ययनाध्यापनसे ही हो सकते हैं और न तप, दान और यज्ञसे ही। अतएव इस विरोधका समाधान क्या है ?

उत्तर—इसमें कोई विरोधकी बात नहीं है, क्योंकि कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण करना अनन्य भक्तिका एक अङ्ग है। ५५वें श्लोकमें अनन्य भक्तिका वर्णन करते हुए भगवान्‌ने स्वयं 'मत्कर्मकृत्' (मेरे लिये कर्म करनेवाला) पदका प्रयोग किया है और ५४वें श्लोकमें यह स्पष्ट घोषणा की है कि अनन्य भक्तिके द्वारा मेरे इस स्वरूपको देखना, जानना और प्राप्त करना सम्भव है। अतएव यहाँ यह समझना चाहिये कि निष्कामभावसे भगवदर्थ और भगवदर्पणबुद्धिसे किये हुए यज्ञ, दान और तपरूप कर्म भक्तिके अङ्ग होनेके कारण भगवान्‌की प्राप्तिमें हेतु हैं—सकामभावसे किये जानेपर नहीं। यहाँ सकामभावसे किये जानेवाले यज्ञादिकी बात कही है। अतएव इसमें किसी तरहका विरोध नहीं है।

प्रश्न—यहाँ 'एवंविधः' और 'मां यथा दृष्टवानसि' के प्रयोगसे यदि यह बात मान ली जाय कि भगवान्‌ने

जो अपना विश्वरूप अर्जुनको दिखलाया था, उसीके विषयमें 'मैं वेदोंद्वारा नहीं देखा जा सकता' आदि बातें भगवान्‌ने कही हैं, तो क्या हानि है ?

उत्तर–विश्वरूपकी महिमामें प्रायः इन्हीं पदोंका प्रयोग ४८वें श्लोकमें हो चुका है; इस श्लोकको पुनः उसी विश्वरूपकी महिमा मान लेनेसे पुनरुक्तिका दोष आता है। इसके अतिरिक्त, उस विश्वरूपके लिये तो भगवान्‌ने कहा है कि यह तुम्हारे अतिरिक्त दूसरे किसीके द्वारा नहीं देखा जा सकता; और इसके देखनेके लिये अगले श्लोकमें उपाय भी बतलाते हैं। इसलिये जैसा माना गया है, वही ठीक है।

सम्बन्ध–यदि उपर्युक्त उपायोंसे आपके दर्शन नहीं हो सकते तो किस उपायसे हो सकते हैं, ऐसी जिज्ञासा होनेपर भगवान् कहते हैं—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥५४॥

परन्तु हे परंतप अर्जुन ! अनन्य भक्तिके द्वारा इस प्रकार चतुर्भुज रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये, तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ ॥५४॥

प्रश्न–जिसके द्वारा भगवान्‌का दिव्य चतुर्भुज रूप देखा जा सकता है, जाना जा सकता है और उसमें प्रवेश किया जा सकता है—वह अनन्य भक्ति क्या है ?

उत्तर–भगवान्‌में ही अनन्य प्रेम हो जाना और अपने मन, इन्द्रिय, शरीर एवं धन, जन आदि सर्वस्वको भगवान्‌का समझकर भगवान्‌के लिये भगवान्‌की ही सेवामें सदाके लिये लगा देना—यही अनन्य भक्ति है, इसका वर्णन अगले श्लोकमें अनन्य भक्तके लक्षणोंमें विस्तारपूर्वक किया गया है।

प्रश्न–सांख्ययोगके द्वारा भी तो परमात्माको प्राप्त होना बतलाया गया है, फिर यहाँ केवल अनन्य भक्तिको ही भगवान्‌के देखे जाने आदिमें हेतु क्योंकर बतलाया गया ?

उत्तर–सांख्ययोगके द्वारा निर्गुण ब्रह्मकी प्राप्ति बतलायी गयी है; और वह सर्वथा सत्य है। परन्तु सांख्ययोगके द्वारा सगुण-साकार भगवान्‌के दिव्य चतुर्भुज रूपके भी दर्शन हो जायँ, ऐसा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि सांख्ययोगके द्वारा साकाररूपमें दर्शन देनेके लिये भगवान् बाध्य नहीं हैं। यहाँ प्रकरण भी सगुण भगवान्‌के दर्शनका ही है। अतएव यहाँ केवल अनन्य भक्तिको ही भगवद्दर्शन आदिमें हेतु बतलाना उचित ही है।

सम्बन्ध–अनन्यभक्तिके द्वारा भगवान्‌को देखना, जानना और एकीभावसे प्राप्त करना सुलभ बतलाया जानेके कारण अनन्यभक्तिका तत्त्व और स्वरूप जाननेकी आकाङ्क्षा होनेपर अब अनन्य भक्तके लक्षणोंका वर्णन किया जाता है—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥५५॥

हे अर्जुन ! जो पुरुष केवल मेरे ही लिये सम्पूर्ण कर्त्तव्य कर्मोंको करनेवाला है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, आसक्तिरहित है और सम्पूर्ण भूतप्राणियोंमें वैरभावसे रहित है—वह अनन्यभक्तियुक्त पुरुष मुझको ही प्राप्त होता है ॥ ५५ ॥

प्रश्न—'मत्कर्मकृत्' का क्या भाव है ?

उत्तर—जो मनुष्य स्वार्थ, ममता और आसक्तिको छोड़कर, सब कुछ भगवान्का समझकर, अपनेको केवल निमित्तमात्र मानता हुआ यज्ञ, दान, तप और खान-पान, व्यवहार आदि समस्त शास्त्रविहित कर्तव्य कर्मोंको निष्कामभावसे भगवान्की ही प्रसन्नताके लिये भगवान्के आज्ञानुसार करता है—वह 'मत्कर्मकृत्' अर्थात् भगवान्के लिये भगवान्के कर्मोंको करनेवाला है ।

प्रश्न—'मत्परमः' का क्या भाव है ?

उत्तर—जो भगवान्को ही परम आश्रय, परम गति, एकमात्र शरण लेने योग्य, सर्वोत्तम, सर्वाधार, सर्वशक्तिमान्, सबके सुहृद्, परम आत्मीय और अपने सर्वस्व समझता है तथा उनके किये हुए प्रत्येक विधानमें सदा सुप्रसन्न रहता है—वह 'मत्परमः' अर्थात् भगवान्के परायण है ।

प्रश्न—'मद्भक्तः' का क्या भाव है ?

उत्तर—भगवान्में अनन्यप्रेम हो जानेके कारण जो भगवान्में ही तन्मय होकर नित्य-निरन्तर भगवान्के नाम, रूप, गुण, प्रभाव और लीला आदिका श्रवण, कीर्तन और मनन आदि करता रहता है; इनके बिना जिसे क्षणभर भी चैन नहीं पड़ती; और जो भगवान्के दर्शनके लिये अत्यन्त उत्कण्ठाके साथ निरन्तर लालायित रहता है—वह 'मद्भक्तः' अर्थात् भगवान्का भक्त है ।

प्रश्न—'सङ्गवर्जितः' का क्या भाव है ?

उत्तर—शरीर, स्त्री, पुत्र, घर, धन, कुटुम्ब तथा मान-बड़ाई आदि जितने भी इस लोक और परलोकके भोग्य पदार्थ हैं—उन सम्पूर्ण जड-चेतन पदार्थोंमें जिसकी किञ्चिन्मात्र भी आसक्ति नहीं रह गयी है; भगवान्को छोड़कर जिसका किसीमें भी प्रेम नहीं है—वह 'सङ्गवर्जितः' अर्थात् आसक्तिरहित है ।

प्रश्न—'सर्वभूतेषु निर्वैरः' का क्या भाव है ?

उत्तर—समस्त प्राणियोंको भगवान्का ही स्वरूप समझने, अथवा सबमें एकमात्र भगवान्को व्याप्त समझनेके कारण किसीके द्वारा कितना भी विपरीत व्यवहार किया जानेपर भी जिसके मनमें विकार नहीं होता; तथा जिसका किसी भी प्राणीमें किञ्चिन्मात्र भी द्वेष या वैरभाव नहीं रह गया है—वह 'सर्वभूतेषु निर्वैरः' अर्थात् समस्त प्राणियोंमें वैरभावसे रहित है ।

प्रश्न—'यः' और 'सः' किसके वाचक हैं और 'वह मुझको ही प्राप्त होता है' इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—'यः' और 'सः' पद उपर्युक्त लक्षणोंवाले भगवान्के अनन्य भक्तके वाचक हैं और वह मुझको ही प्राप्त होता है—इस कथनका भाव ५४वें श्लोकके अनुसार सगुण भगवान्के प्रत्यक्ष दर्शन कर लेना, उनको भलीभाँति तत्त्वसे जान लेना और उनमें प्रवेश कर जाना है । अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त लक्षणोंसे युक्त जो भगवान्का अनन्यभक्त है, वह भगवान्को प्राप्त हो जाता है ।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनयोगो नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

द्वादशोऽध्यायः

अध्यायका नाम

इस बारहवें अध्यायमें अनेक प्रकारके साधनोंसहित भगवान्‌की भक्तिका वर्णन करके भगवद्भक्तोंके लक्षण बतलाये गये हैं। इसका उपक्रम और उपसंहार भगवान्‌की भक्तिमें ही हुआ है। केवल तीन श्लोकोंमें ज्ञानके साधनका वर्णन है, वह भी भगवद्भक्तिकी महिमाके लिये ही है; अतएव इस अध्यायका नाम 'भक्तियोग' रक्खा गया है।

अध्यायका संक्षेप

इस अध्यायके पहले श्लोकमें सगुण-साकार और निर्गुण-निराकारके उपासकोंमें कौन श्रेष्ठ है, यह जाननेके लिये अर्जुनका प्रश्न है। दूसरे श्लोकमें अर्जुनके प्रश्नका उत्तर देते हुए भगवान्‌ने सगुण-साकारके उपासकोंको युक्ततम (श्रेष्ठ) बतलाया है। तीसरे-चौथेमें निर्गुण-निराकार परमात्माके विशेषणोंका वर्णन करके उसकी उपासनाका फल भी भगवत्प्राप्ति बतलाया है और पाँचवें श्लोकमें देहाभिमानी मनुष्योंके लिये निराकारकी उपासना कठिन बतलायी है। छठे और सातवें श्लोकोंमें भगवान्‌ने यह बतलाया है कि सब कर्मोंको मुझमें अर्पण करके अनन्यभावसे निरन्तर मुझ सगुण परमेश्वरका चिन्तन करनेवाले भक्तोंका उद्धार स्वयं मैं करता हूँ। आठवेंमें भगवान्‌ने अर्जुनको वैसा बननेके लिये आज्ञा दी है और उसका फल अपनी प्राप्ति बतलाया है। तदनन्तर नवेंसे ग्यारहवें श्लोकतक उपर्युक्त साधन न कर सकनेपर अभ्यासयोगका साधन करनेके लिये, उसमें भी असमर्थ होनेपर भगवदर्थ कर्म करनेके लिये और उसमें भी असमर्थ होनेपर समस्त कर्मोंका फलत्याग करनेके लिये क्रमशः कहा है। बारहवें श्लोकमें कर्मफलत्यागको सर्वश्रेष्ठ बतलाकर उसका फल तत्काल ही शान्तिकी प्राप्ति होना बतलाया है। तत्पश्चात् १३ वेंसे १९ वें श्लोकतक भगवान्‌ने अपने प्रिय ज्ञानी भक्तोंके लक्षण बतलाये हैं और बीसवें श्लोकमें उन ज्ञानी भक्तोंको आदर्श मानकर श्रद्धापूर्वक साधन करनेवाले भक्तोंको अत्यन्त प्रिय बतलाया है।

सम्बन्ध—दूसरे अध्यायसे लेकर यहाँतक भगवान्‌ने जगह-जगह सगुण-साकार परमेश्वरकी उपासनाकी प्रशंसा की। सातवें अध्यायसे ग्यारहवें अध्यायतक तो विशेषरूपसे सगुण-साकार भगवान्‌की उपासनाका महत्त्व दिखलाया। इसीके साथ पाँचवें अध्यायमें १७ वेंसे २६ वें श्लोकतक, छठे अध्यायमें २४ वेंसे २९ वेंतक, आठवें अध्यायमें ११ वेंसे १३ वेंतक तथा इसके सिवा और भी कितनी ही जगह निर्गुण-निराकारकी उपासनाका महत्त्व दिखलाया। आखिर ग्यारहवें अध्यायके अन्तमें सगुण-साकार भगवान्‌की अनन्य भक्तिका फल भगवत्प्राप्ति बतलाकर 'मत्कर्मकृत्' से आरम्भ होनेवाले इस अन्तिम श्लोकमें सगुण-साकार स्वरूप भगवान्‌के भक्तकी विशेषरूपसे बड़ाई की। इसपर अर्जुनके मनमें यह जिज्ञासा हुई कि निर्गुण-निराकार ब्रह्मकी और सगुण-साकार भगवान्‌की उपासना करनेवाले दोनों प्रकारके उपासकोंमें उत्तम उपासक कौन हैं, इसी जिज्ञासाके अनुसार अर्जुन पूछ रहे हैं—

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥ १ ॥

अर्जुन बोले—जो अनन्य प्रेमी भक्तजन पूर्वोक्त प्रकारसे निरन्तर आपके भजन-ध्यानमें लगे रहकर आप सगुणरूप परमेश्वरको, और दूसरे जो केवल अविनाशी सच्चिदानन्दघन निराकार ब्रह्मको ही अतिश्रेष्ठ भावसे भजते हैं—उन दोनों प्रकारके उपासकोंमें अति उत्तम योगवेत्ता कौन हैं ? ॥ १ ॥

प्रश्न—'एवम्' पदका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'एवम्' पदसे अर्जुनने पिछले अध्यायके ५५वें श्लोकमें बतलाये हुए अनन्य भक्तिके प्रकारका निर्देश किया है ।

प्रश्न—'त्वाम्' पद यहाँ किसका वाचक है और निरन्तर भजन-ध्यानमें लगे रहकर उसकी श्रेष्ठ उपासना करना क्या है ?

उत्तर—'त्वाम्' पद यद्यपि यहाँ भगवान् श्रीकृष्णका वाचक है, तथापि भिन्न-भिन्न अवतारोंमें भगवान्ने जितने सगुण रूप धारण किये हैं एवं दिव्य धाममें जो भगवान्‌का सगुण रूप विराजमान है—जिसे अपनी-अपनी मान्यताके अनुसार लोग अनेकों रूपों और नामोंसे बतलाते हैं—यहाँ 'त्वाम्' पदको उन सभीका वाचक मानना चाहिये; क्योंकि वे सभी भगवान् श्रीकृष्णसे अभिन्न हैं । उन सगुण भगवान्‌का निरन्तर चिन्तन करते हुए परम श्रद्धा और प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे जो समस्त इन्द्रियोंको उनकी सेवामें लगा देना है, यही निरन्तर भजन-ध्यानमें लगे रहकर उनकी श्रेष्ठ उपासना करना है ।

प्रश्न—'अक्षरम्' विशेषणके सहित 'अव्यक्तम्' पद यहाँ किसका वाचक है ?

उत्तर—'अक्षरम्' विशेषणके सहित 'अव्यक्तम्' पद यहाँ निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका वाचक है । यद्यपि जीवात्माको भी अक्षर और अव्यक्त कहा जा सकता है, पर अर्जुनके प्रश्नका अभिप्राय उसकी उपासनासे नहीं है; क्योंकि उसके उपासकका सगुण भगवान्‌के उपासकसे उत्तम होना सम्भव नहीं है और पूर्व प्रसङ्गमें कहीं उसकी उपासनाका भगवान्ने विधान भी नहीं किया है ।

प्रश्न—उन दोनों प्रकारके उपासकोंमें उत्तम योगवेत्ता कौन हैं ?—इस वाक्यका क्या भाव है ?

उत्तर—इस वाक्यसे अर्जुनने यह पूछा है कि यद्यपि उपर्युक्त प्रकारसे उपासना करनेवाले दोनों ही श्रेष्ठ हैं—इसमें कोई सन्देह नहीं है, तथापि उन दोनोंकी परस्पर तुलना करनेपर दोनों प्रकारके उपासकोंमेंसे कौन-से उत्तम हैं—यह बतलाइये ।

सम्बन्ध—इस प्रकार अर्जुनके पूछनेपर उसके उत्तरमें भगवान् सगुण-साकारके उपासकोंको उत्तम बतलाते हैं—

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ २ ॥

श्रीभगवान् बोले—मुझमें मनको एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन-ध्यानमें लगे हुए जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त होकर मुझ सगुणरूप परमेश्वरको भजते हैं, वे मुझको योगियोंमें अति उत्तम योगी मान्य हैं ॥२॥

प्रश्न—भगवान्‌में मनको एकाग्र करके निरन्तर उन्हींके भजन-ध्यानमें लगे रहकर उनकी उपासना करना क्या है ?

उत्तर—गोपियोंकी भाँति * परम प्रेमास्पद, सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी, सम्पूर्ण गुणोंके समुद्र भगवान्‌में मनको तन्मय करके उनके गुण, प्रभाव और स्वरूपका सदा-सर्वदा प्रेमपूर्वक चिन्तन करते हुए उनके अनुकूल कार्य करना ही मनको एकाग्र करके निरन्तर उनके ध्यानमें स्थित रहते हुए उनकी उपासना करना है ।

प्रश्न—अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धाका क्या स्वरूप है ? और उससे युक्त होना क्या है ?

उत्तर—भगवान्‌की सत्तामें, उनके अवतारोंमें, वचनोंमें उनकी शक्तिमें, उनके गुण, प्रभाव, लीला और ऐश्वर्य आदिमें अत्यन्त सम्मानपूर्वक जो प्रत्यक्षसे भी बढ़कर विश्वास है—वही अतिशय श्रद्धा है; और भक्त प्रह्लादकी भाँति सब प्रकारसे भगवान्‌पर निर्भर हो जाना ही उपर्युक्त श्रद्धासे युक्त होना है ।

प्रश्न—'ते मे युक्ततमा मताः' का क्या भाव है ?

उत्तर—इस वाक्यसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि दोनों प्रकारके उपासकोंमें जो मुझ सगुण परमेश्वरके उपासक हैं, उन्हींको मैं उत्तम योगवेत्ता मानता हूँ ।

सम्बन्ध—पूर्व श्लोकमें सगुण-साकार परमेश्वरके उपासकोंको उत्तम योगवेत्ता बतलाया, इसपर यह जिज्ञासा हो सकती है कि तो क्या निर्गुण-निराकार ब्रह्मके उपासक उत्तम योगवेत्ता नहीं हैं ? इसपर कहते हैं—

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ ३ ॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ ४ ॥

परन्तु जो पुरुष इन्द्रियोंके समुदायको भलीप्रकार वशमें करके मन-बुद्धिसे परे सर्वव्यापी, अकथनीय स्वरूप और सदा एकरस रहनेवाले, नित्य, अचल, निराकार, अविनाशी सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको निरन्तर एकीभावसे ध्यान करते हुए भजते हैं, वे सम्पूर्ण भूतोंके हितमें रत और सबमें समानभाववाले योगी मुझको ही प्राप्त होते हैं ॥ ३-४ ॥

---

* या दोहनेऽवहनने मथनोपलेपप्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः ॥

(श्रीमद्भा० १० । ४४ । १५)

'जो गौओंका दूध दुहते समय, धान आदि कूटते समय, दही बिलोते समय, आँगन लीपते समय, बालकोंको पालनेमें झुलाते समय, रोते हुए बच्चोंको लोरी देते समय, घरोंमें जल छिड़कते समय और झाड़ू देने आदि कर्मोंको करते समय, प्रेमपूर्ण चित्तसे आँखोंमें आँसू भरकर गद्‌गद वाणीसे श्रीकृष्णका गान किया करती हैं—इस प्रकार सदा श्रीकृष्णमें ही चित्त लगाये रखनेवाली वे व्रजवासिनी गोपरमणियाँ धन्य हैं ।'

प्रश्न–'अचिन्त्यम्' का क्या अर्थ है ?

उत्तर–जो मन-बुद्धिका विषय न हो, उसे 'अचिन्त्य' कहते हैं ।

प्रश्न–'सर्वत्रगम्' का क्या अर्थ है ?

उत्तर–जो आकाशकी भाँति सर्वव्यापी हो–कोई भी जगह जिससे खाली न हो, उसे 'सर्वत्रग' कहते हैं ।

प्रश्न–'अनिर्देश्यम्' का क्या अर्थ है ?

उत्तर–जिसका निर्देश नहीं किया जा सकता हो–किसी भी युक्ति या उपमासे जिसका स्वरूप समझाया या बतलाया नहीं जा सकता हो, उसे 'अनिर्देश्य' कहते हैं ।

प्रश्न–'कूटस्थम्' का क्या अर्थ है ?

उत्तर–जिसका कभी किसी भी कारणसे परिवर्तन न हो–जो सदा एक-सा रहे, उसे 'कूटस्थ' कहते हैं ।

प्रश्न–'ध्रुवम्' का क्या अर्थ है ?

उत्तर–जो नित्य और निश्चित हो–जिसकी सत्तामें किसी प्रकारका संशय न हो और जिसका कभी अभाव न हो, उसे 'ध्रुव' कहते हैं ।

प्रश्न–'अचलम्' का क्या अर्थ है ?

उत्तर–जो हलन-चलनकी क्रियासे सर्वथा रहित हो, उसे 'अचल' कहते हैं ।

प्रश्न–'अव्यक्तम्' का क्या अर्थ है ?

उत्तर–जो किसी भी इन्द्रियका विषय न हो अर्थात् जो इन्द्रियोंद्वारा जाननेमें न आ सके, जिसका कोई रूप या आकृति न हो, उसे 'अव्यक्त' कहते हैं ।

प्रश्न–'अक्षरम्' का क्या अर्थ है ?

उत्तर–जिसका कभी किसी भी कारणसे विनाश न हो, उसे 'अक्षर' कहते हैं ।

प्रश्न–इन सब विशेषणोंके प्रयोगका क्या भाव है ? और उस ब्रह्मकी श्रेष्ठ उपासना करना क्या है ?

उत्तर–उपर्युक्त विशेषणोंसे निर्गुण-निराकार ब्रह्मके स्वरूपका प्रतिपादन किया गया है; इस प्रकार उस परब्रह्मका उपर्युक्त स्वरूप समझकर अभिन्न भावसे निरन्तर ध्यान करते रहना ही उसकी उत्तम उपासना करना है ।

प्रश्न–'सर्वभूतहिते रताः' का क्या भाव है ?

उत्तर–'सर्वभूतहिते रताः' से यह भाव दिखलाया है कि जिस प्रकार अविवेकी मनुष्य अपने शरीरमें आत्माभिमान करके उसके हितमें रत रहता है, उसी प्रकार उन निर्गुण-उपासकोंका सम्पूर्ण प्राणियोंमें आत्मभाव हो जानेके कारण वे समानभावसे सबके हितमें रत रहते हैं ।

प्रश्न–'सर्वत्र समबुद्धयः' का क्या भाव है ?

उत्तर–इससे यह भाव दिखलाया है कि उपर्युक्त प्रकारसे निर्गुण-निराकार ब्रह्मकी उपासना करनेवालोंकी कहीं भेदबुद्धि नहीं रहती । समस्त जगत्‌में एक ब्रह्मसे भिन्न किसीकी सत्ता न रहनेके कारण उनकी सब जगह समबुद्धि हो जाती है ।

प्रश्न–वे मुझे ही प्राप्त होते हैं–इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर–इस कथनसे भगवान्‌ने ब्रह्मको अपनेसे अभिन्न बतलाया है । अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त उपासनाका फल जो निर्गुण ब्रह्मकी प्राप्ति है, वह मेरी ही प्राप्ति है; क्योंकि ब्रह्म मुझसे भिन्न नहीं है और मैं ब्रह्मसे भिन्न नहीं हूँ । यही भाव भगवान्‌ने चौदहवें अध्यायके २७वें श्लोकमें 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्' अर्थात् मैं ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हूँ, इस कथनसे दिखलाया है ।

प्रश्न—जब दोनोंको ही परमेश्वरकी प्राप्ति होती है, तब फिर दूसरे श्लोकमें सगुण-उपासकोंको श्रेष्ठ बतलानेका क्या भाव है?

उत्तर—ग्यारहवें अध्यायमें भगवान्‌ने कहा है कि अनन्य भक्तिके द्वारा मनुष्य मुझे देख सकता है, तत्त्वसे जान सकता है और प्राप्त कर सकता है (११।५४)। इससे मालूम होता है कि परमात्माको तत्त्वसे जानना और प्राप्त होना—ये दोनों तो निर्गुण-उपासकके लिये भी समान ही हैं; परन्तु निर्गुण-उपासकोंको सगुण रूपमें दर्शन देनेके लिये भगवान् बाध्य नहीं हैं; और सगुण-उपासकको भगवान्‌के दर्शन भी होते हैं—यही उसकी विशेषता है।

सम्बन्ध—इस प्रकार निर्गुण-उपासना और उसके फलका प्रतिपादन करनेके पश्चात् अब देहाभिमानियोंके लिये अव्यक्त गतिकी प्राप्तिको कठिन बतलाकर उसके साधनमें क्लेश दिखलाते हैं—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ ५ ॥

उन सच्चिदानन्दघन निराकार ब्रह्ममें आसक्त चित्तवाले पुरुषोंके साधनमें क्लेश विशेष है, क्योंकि देहाभिमानियोंके द्वारा अव्यक्तविषयक गति दुःखपूर्वक प्राप्त की जाती है ॥ ५ ॥

प्रश्न—'तेषाम्' पदके सहित 'अव्यक्तासक्तचेतसाम्' पद किनका वाचक है? और उनको क्लेश अधिक है, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—पूर्व श्लोकोंमें जिन निर्गुण-उपासकोंका वर्णन है, जिनका मन निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें ही आसक्त है—उनका वाचक यहाँ 'तेषाम्' के सहित 'अव्यक्तासक्तचेतसाम्' पद है। उनको क्लेश अधिक है, यह कहकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि निर्गुण ब्रह्मका तत्त्व बड़ा ही गहन है; जिसकी बुद्धि शुद्ध, स्थिर और सूक्ष्म होती है, जिसका शरीरमें अभिमान नहीं होता—वही उसे समझ सकता है, साधारण मनुष्योंकी समझमें यह नहीं आता। इसलिये निर्गुण-उपासनाके साधनके आरम्भकालमें परिश्रम अधिक होता है।

प्रश्न—देहाभिमानियोंके द्वारा अव्यक्तविषयक गति दुःखपूर्वक प्राप्त की जाती है—इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—उपर्युक्त कथनसे भगवान्‌ने पूर्वार्द्धमें बतलाये हुए क्लेशका हेतु दिखलाया है। अभिप्राय यह है कि देहमें अभिमान रहते निर्गुण ब्रह्मका तत्त्व समझमें आना बहुत कठिन है। इसलिये जिनका शरीरमें अभिमान है, उनको वैसी स्थिति बड़े परिश्रमसे प्राप्त होती है। अतएव निर्गुण-उपासकोंको साधनमें क्लेश अधिक होता है।

प्रश्न—यहाँ तो अव्यक्तकी उपासनामें अधिकतर क्लेश बतलाया है और नवें अध्यायके दूसरे श्लोकमें 'कर्तुम्' 'सुसुखम्' पदोंसे ज्ञान-विज्ञानको सुगम बतलाकर चौथे, पाँचवें और छठे श्लोकोंमें अव्यक्तका ही वर्णन किया है; अतः दोनों जगहके वर्णनमें जो विरोध-सा प्रतीत होता है, इसका क्या समाधान है?

उत्तर—विरोध नहीं है, क्योंकि नवें अध्यायमें 'ज्ञान' और 'विज्ञान' शब्द सगुण भगवान्‌के गुण, प्रभाव और तत्त्वसे विशेष सम्बन्ध रखते हैं; अतः वहाँ सगुण भगवान्‌की शरणागतिके साधनको ही करनेमें सुगम बतलाया है। वहाँ चौथे श्लोकमें आया हुआ 'अव्यक्त' शब्द सगुण-निराकारका वाचक है, इसीलिये उसे समस्त भूतोंको

धारण-पोषण करनेवाला, सबमें व्याप्त और वास्तवमें असङ्ग होते हुए भी सबकी उत्पत्ति आदि करनेवाला बतलाया है।

प्रश्न—छठे अध्यायके २४ वेंसे २७ वें श्लोकतक निर्गुण-उपासनाका प्रकार बतलाकर २८ वें श्लोकमें उस प्रकारका साधन करते-करते सुखपूर्वक परमात्मप्राप्तिरूप अत्यन्तानन्दका लाभ होना बतलाया है, उसकी संगति कैसे बैठेगी?

उत्तर—वहाँका वर्णन, जिसके समस्त पाप तथा रजोगुण और तमोगुण शान्त हो गये हैं, जो 'ब्रह्मभूत' हो गया है अर्थात् जो ब्रह्ममें अभिन्न भावसे स्थित हो गया है—ऐसे पुरुषके लिये है, देहाभिमानियोंके लिये नहीं। अतः उसको सुखपूर्वक ब्रह्मकी प्राप्ति बतलाना उचित ही है।

प्रश्न—क्या निर्गुण-उपासकोंको ही साधन कालमें अधिक क्लेश होता है, सगुण-उपासकोंको नहीं होता?

उत्तर—सगुण-उपासकोंको नहीं होता। क्योंकि एक तो सगुणकी उपासना सुगम है, दूसरे वे भगवान्‌पर ही निर्भर रहकर निरन्तर भगवान्‌का चिन्तन करते हैं; इसलिये स्वयं भगवान् उनकी सब प्रकारसे सहायता करते हैं ऐसी अवस्थामें उनको क्लेश कैसे हो?

सम्बन्ध—इस प्रकार निर्गुण-निराकार ब्रह्मकी उपासनासे परमात्माकी प्राप्ति कठिन बतलानेके उपरान्त अब दो श्लोकोंद्वारा सगुण परमेश्वरकी उपासनासे परमेश्वरकी प्राप्ति शीघ्र और अनायास होनेकी बात कहते हैं—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ ६ ॥

परन्तु जो मेरे परायण रहनेवाले भक्तजन सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके मुझ सगुण रूप परमेश्वरको ही अनन्य भक्तियोगसे निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं, ॥ ६ ॥

प्रश्न—'तु' पदका यहाँ क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'तु' पद यहाँ निर्गुण-उपासकोंकी अपेक्षा सगुण-उपासकोंकी विलक्षणता दिखलानेके लिये है।

प्रश्न—भगवान्‌के परायण होना क्या है?

उत्तर—भगवान्‌पर निर्भर होकर भाँति-भाँतिके दुःखोंकी प्राप्ति होनेपर भी भक्त प्रह्लादकी भाँति निर्भय और निर्विकार रहना; उन दुःखोंको भगवान्‌का भेजा हुआ पुरस्कार समझकर सुखरूप ही समझना तथा भगवान्‌को ही परम प्रेमी, परम गति, परम सुहृद् और सब प्रकारसे शरण लेनेयोग्य समझकर अपने-आपको भगवान्‌के समर्पण कर देना—यही भगवान्‌के परायण होना है।

प्रश्न—सम्पूर्ण कर्मोंको भगवान्‌के समर्पण करना क्या है?

उत्तर—कर्मोंके करनेमें अपनेको पराधीन समझकर भगवान्‌की आज्ञा और संकेतके अनुसार कठपुतलीकी भाँति समस्त कर्म करते रहना; उन कर्मोंमें न तो ममता और आसक्ति रखना, और न उनके फलसे किसी प्रकारका सम्बन्ध रखना; शास्त्रानुकूल प्रत्येक क्रियामें ऐसा ही भाव रखना कि मैं तो केवल निमित्त-मात्र हूँ, मेरी कुछ भी करनेकी शक्ति नहीं है, भगवान् ही अपने इच्छानुसार मुझसे समस्त कर्म करवा रहे हैं—यही समस्त कर्मोंका भगवान्‌के समर्पण करना है

प्रश्न–अनन्य भक्तियोग क्या है ? और उसके द्वारा भगवान्‌का ध्यान करते हुए उनकी उपासना करना क्या है ?

उत्तर–एक परमेश्वरके सिवा मेरा कोई नहीं है, वे ही मेरे सर्वस्व हैं—ऐसा समझकर जो भगवान्‌में स्वार्थरहित तथा अत्यन्त श्रद्धासे युक्त अनन्य प्रेम करना है—जिस प्रेममें स्वार्थ, अभिमान और व्यभिचार-का जरा भी दोष नहीं है; जो सर्वथा पूर्ण और अटल है; जिसका किञ्चित् अंश भी भगवान्‌से भिन्न वस्तुमें नहीं है और जिसके कारण क्षणमात्रकी भी भगवान्‌की विस्मृति असह्य हो जाती है—उस अनन्य प्रेमको 'अनन्य भक्तियोग' कहते हैं। और ऐसे भक्तियोगद्वारा निरन्तर भगवान्‌का चिन्तन करते हुए, जो उनके गुण, प्रभाव और लीलाओंका श्रवण, कीर्तन, उनके नामोंका उच्चारण और जप आदि करना है—यही अनन्य भक्तियोगके द्वारा भगवान्‌का ध्यान करते हुए उनकी उपासना करना है।

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥ ७॥

हे अर्जुन! उन मुझमें चित्त लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-समुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूँ॥ ७॥

प्रश्न–'तेषाम्' पदके सहित 'मय्यावेशितचेतसाम्' पद किनका वाचक है ?

उत्तर–पिछले श्लोकमें मन-बुद्धिको सदाके लिये भगवान्‌में लगा देनेवाले जिन अनन्य प्रेमी सगुण-उपासकोंका वर्णन आया है, उन्हीं प्रेमी भक्तोंका वाचक यहाँ 'तेषाम्'के सहित 'मय्यावेशितचेतसाम्' पद है।

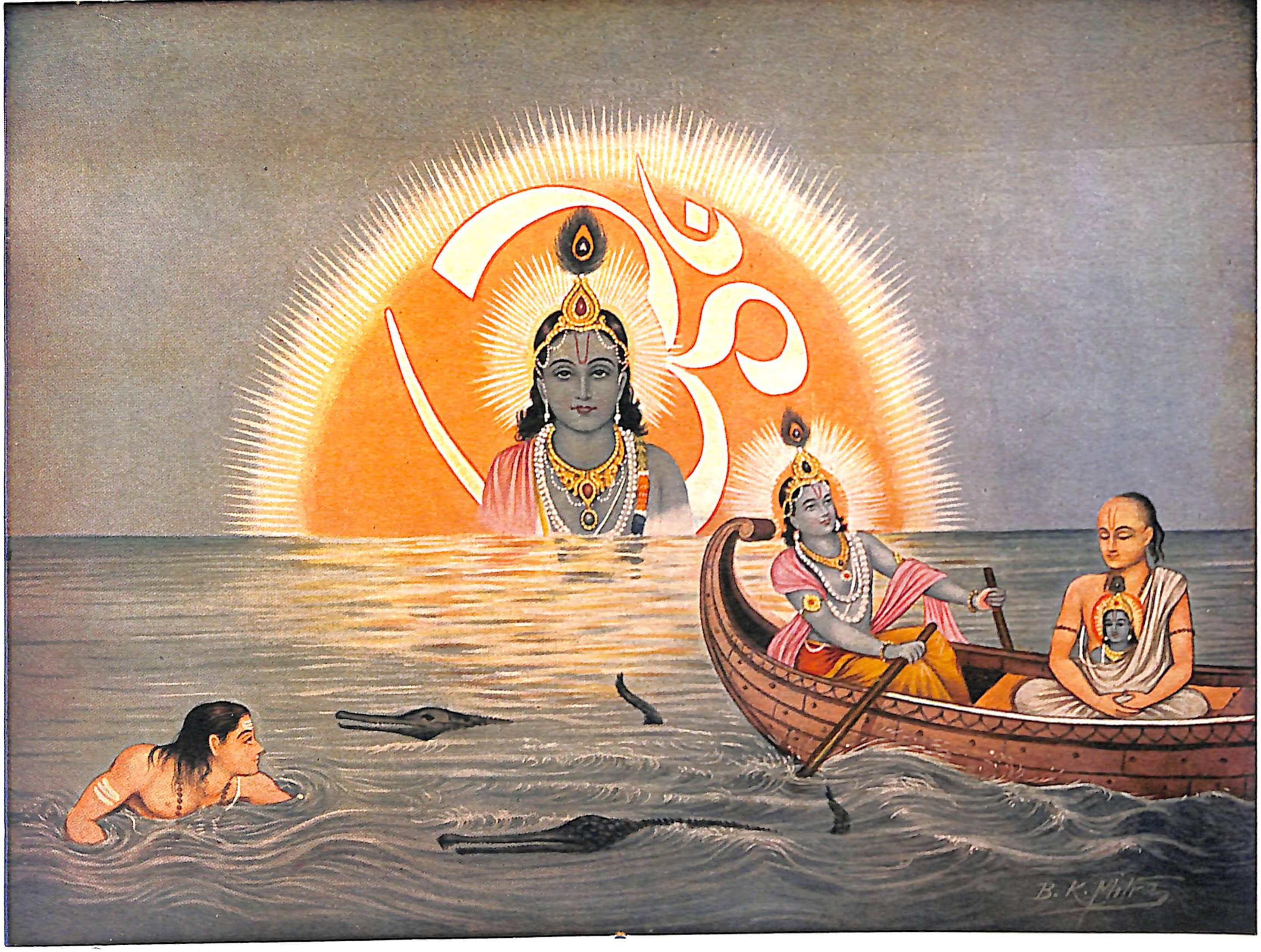
प्रश्न–'मृत्युरूप संसार-सागर' क्या है ? और उससे भगवान्‌का उपर्युक्त भक्तको शीघ्र ही उद्धार कर देना क्या है ?

उत्तर–इस संसारमें सभी कुछ मृत्युमय है; परमात्माको छोड़कर इसमें पैदा होनेवाली एक भी चीज ऐसी नहीं है, जो कभी क्षणभरके लिये भी मृत्युके थपेड़ोंसे बचती हो। और जैसे समुद्रमें असंख्य लहरें उठती रहती हैं, वैसे ही इस अपार संसार-सागरमें अनवरत जन्म-मृत्युरूपी तरंगें उठा करती हैं। समुद्रकी लहरोंकी गणना चाहे हो जाय; पर जबतक परमेश्वरकी प्राप्ति नहीं होती, तबतक जीवको कितनी बार जन्मना और मरना पड़ेगा—इसकी गणना नहीं हो सकती। इसीलिये इसको 'मृत्युरूप संसार-सागर' कहते हैं।

उपर्युक्त प्रकारसे मन-बुद्धिको भगवान्‌में लगाकर जो भक्त निरन्तर भगवान्‌की उपासना करते हैं, उनको भगवान् तत्काल ही जन्म-मृत्युसे सदाके लिये छुड़ाकर अपने परम धाममें ले जाते हैं—यहाँतक कि जैसे केवट किसीको नौकामें बैठाकर नदीसे पार कर देता है, वैसे ही भक्तिरूपी नौकापर स्थित भक्तके लिये भगवान् स्वयं केवट बनकर उसकी समस्त कठिनाइयों और विपत्तियोंको दूर करके बहुत शीघ्र उसे भीषण संसार-समुद्रके उस पार अपने परम धाममें ले जाते हैं। यही भगवान्‌का अपने उपर्युक्त भक्तको मृत्युरूप संसारसे पार कर देना है।

सम्बन्ध—इस प्रकार पूर्व श्लोकोंमें निर्गुण-उपासनाकी अपेक्षा सगुण-उपासनाकी सुगमताका प्रतिपादन करके अब भगवान् अर्जुनको इसी प्रकार मन-बुद्धि लगाकर सगुण-उपासना करनेकी आज्ञा देते हैं—

सुखमय मार्ग



तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् । भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥
(अ० १२ । ७)

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ८ ॥

मुझमें मनको लगा, और मुझमें ही बुद्धिको लगा; इसके उपरान्त तू मुझमें ही निवास करेगा, इसमें कुछ भी संशय नहीं है ॥ ८ ॥

प्रश्न—बुद्धि और मनको भगवान्‌में लगाना किसे कहते हैं ?

उत्तर—जो सम्पूर्ण चराचर संसारको व्याप्त करके सबके हृदयमें स्थित हैं और जो दयालुता, सर्वज्ञता, सुशीलता तथा सुहृदता आदि अनन्त गुणोंके समुद्र हैं—उन परम दिव्य, प्रेममय और आनन्दमय, सर्वशक्तिमान्, सर्वोत्तम, शरण लेनेके योग्य परमेश्वरके गुण, प्रभाव और लीलाके तत्त्व तथा रहस्यको भलीभाँति समझकर उनका सदा-सर्वदा और सर्वत्र अटल निश्चय रखना—यही बुद्धिको भगवान्‌में लगाना है। तथा इस प्रकार अपने परम प्रेमास्पद पुरुषोत्तम भगवान्‌के अतिरिक्त अन्य समस्त विषयोंसे आसक्तिको सर्वथा हटाकर मनको केवल उन्हींमें तन्मय कर देना और नित्य-निरन्तर उपर्युक्त प्रकारसे उनका चिन्तन करते रहना—यही मनको भगवान्‌में लगाना है।

इस प्रकार जो अपने मन-बुद्धिको भगवान्‌में लगा देता है, वह शीघ्र ही भगवान्‌को प्राप्त हो जाता है।

प्रश्न—भगवान्‌में मन-बुद्धि लगानेपर यदि मनुष्यको निश्चय ही भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है, तो फिर सब लोग भगवान्‌में मन-बुद्धि क्यों नहीं लगाते ?

उत्तर—गुण, प्रभाव और लीलाके तत्त्व और रहस्यको न जाननेके कारण भगवान्‌में श्रद्धा-प्रेम नहीं होता और अज्ञानजनित आसक्तिके कारण सांसारिक विषयोंका चिन्तन होता रहता है। संसारमें अधिकांश लोगोंकी यही स्थिति है, इसीसे सब लोग भगवान्‌में मन-बुद्धि नहीं लगाते।

प्रश्न—जिस अज्ञानजनित आसक्तिसे लोगोंमें सांसारिक भोगोंके चिन्तनकी बुरी आदत पड़ रही है, उसके छूटनेका क्या उपाय है ?

उत्तर—भगवान्‌के गुण, प्रभाव और लीलाके तत्त्व और रहस्यको जाननेसे यह आदत छूट सकती है।

प्रश्न—भगवान्‌के गुण, प्रभाव, लीलाके तत्त्व और रहस्यका ज्ञान कैसे हो सकता है ?

उत्तर—भगवान्‌के गुण, प्रभाव और लीलाके तत्त्व और रहस्यको जाननेवाले महापुरुषोंका संग, उनके गुण और आचरणोंका अनुकरण, तथा भोग, आलस्य और प्रमादको छोड़कर उनके बतलाये हुए मार्गका तत्परताके साथ अनुसरण करनेसे उनका ज्ञान हो सकता है।

सम्बन्ध—यहाँ यह जिज्ञासा हो सकती है कि यदि मैं उपर्युक्त प्रकारसे आपमें मन-बुद्धि न लगा सकूँ तो मुझे क्या करना चाहिये। इसपर कहते हैं—

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय ॥ ९ ॥

यदि तू मनको मुझमें अचल स्थापन करनेके लिये समर्थ नहीं है तो हे अर्जुन ! अभ्यासरूप योगके द्वारा मुझको प्राप्त होनेके लिये इच्छा कर ॥ ९ ॥

प्रश्न—इस श्लोकका क्या भाव है ?

उत्तर—भगवान् अर्जुनको निमित्त बनाकर समस्त जगत्के हितार्थ उपदेश कर रहे हैं। संसारमें सब साधकोंकी प्रकृति एक-सी नहीं होती, इसी कारण सबके लिये एक साधन उपयोगी नहीं हो सकता। विभिन्न प्रकृतिके मनुष्योंके लिये भिन्न-भिन्न प्रकारके साधन ही उपयुक्त होते हैं। अतएव भगवान् इस श्लोकमें कहते हैं कि यदि तुम उपर्युक्त प्रकारसे मुझमें मन और बुद्धिके स्थिर स्थापन करनेमें अपनेको असमर्थ समझते हो, तो तुम्हें अभ्यासयोगके द्वारा मेरी प्राप्तिकी इच्छा करनी चाहिये।

प्रश्न—अभ्यासयोग किसे कहते हैं और उसके द्वारा भगवत्प्राप्तिके लिये इच्छा करना क्या है ?

उत्तर—भगवान्की प्राप्तिके लिये भगवान्में नाना प्रकारकी युक्तियोंसे चित्तके स्थापन करनेका जो बार-बार प्रयत्न किया जाता है, उसे 'अभ्यासयोग' कहते हैं। भगवान्के जिस नाम, रूप, गुण और लीला आदिमें साधककी श्रद्धा और प्रेम हो—उसीमें भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे बार-बार मन लगानेके लिये प्रयत्न करना अभ्यासयोगके द्वारा भगवान्को प्राप्त करनेकी इच्छा करना है।

भगवान्में मन लगानेके साधन शास्त्रोंमें अनेकों प्रकारके बतलाये गये हैं, उनमेंसे निम्नलिखित कतिपय साधन सर्वसाधारणके लिये विशेष उपयोगी प्रतीत होते हैं—

(१) सूर्यके सामने आँखें मूँदनेपर मनके द्वारा सर्वत्र समभावसे जो एक प्रकाशका पुञ्ज प्रतीत होता है, उससे भी हजारों गुना अधिक प्रकाशका पुञ्ज भगवत्स्वरूपमें है—इस प्रकार मनसे निश्चय करके परमात्माके उस तेजोमय ज्योतिःस्वरूपमें चित्त लगानेके लिये बार-बार चेष्टा करना।

(२) जहाँ-जहाँ मन जाय, वहाँ-वहाँ ही सर्वशक्तिमान् परम प्रेमास्पद परमेश्वरके स्वरूपका पुनः-पुनः चिन्तन करना।

(३) जहाँ-जहाँ मन जाय, वहाँ-वहाँसे उसे हटाकर भगवान् विष्णु, शिव, राम और कृष्ण आदि जो भी अपने इष्टदेव हों—उनकी मानसिक या धातु आदिसे निर्मित मूर्तिमें अथवा चित्रपटमें या उनके नाम-जपमें श्रद्धा और प्रेमके साथ पुनः-पुनः मन लगानेका प्रयत्न करना।

(४) भ्रमरके गुंजारकी तरह एकतार ओङ्कारकी ध्वनि करते हुए उस ध्वनिमें परमेश्वरके स्वरूपका पुनः-पुनः चिन्तन करना।

(५) स्वाभाविक श्वास-प्रश्वासके साथ-साथ भगवान्के नामका जप नित्य-निरन्तर होता रहे—इसके लिये प्रयत्न करना।

(६) परमात्माके नाम, रूप, गुण, चरित्र और प्रभावके रहस्यको जाननेके लिये तद्विषयक शास्त्रोंका पुनः-पुनः अभ्यास करना।

(७) चौथे अध्यायके २९वें श्लोकके अनुसार प्राणायामका अभ्यास करना।

इनमेंसे कोई-सा भी अभ्यास यदि श्रद्धा और विश्वास तथा लगनके साथ किया जाय तो क्रमशः सम्पूर्ण पापों और विघ्नोंका नाश होकर अन्तमें भगवत्प्राप्ति हो जाती है। इसलिये बड़े उत्साह और तत्परताके साथ अभ्यास करना चाहिये। साधकोंकी स्थिति, अधिकार तथा साधनकी गतिके तारतम्यसे फलकी प्राप्तिमें देर-सबेर हो

सकती है। अतएव शीघ्र फल न मिले तो कठिन समझकर, ऊबकर या आलस्यके वश होकर न तो अपने अभ्यासको छोड़ना ही चाहिये और न उसमें किसी प्रकार कमी ही आने देनी चाहिये।

सम्बन्ध—यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि यदि इस प्रकार अभ्यासयोग भी मैं न कर सकूँ तो मुझे क्या करना चाहिये। इसपर कहते हैं—

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि ॥१०॥

यदि तू उपर्युक्त अभ्यासमें भी असमर्थ है तो केवल मेरे लिये कर्म करनेके ही परायण हो जा। इस प्रकार मेरे निमित्त कर्मोंको करता हुआ भी मेरी प्राप्तिरूप सिद्धिको ही प्राप्त होगा ॥ १० ॥

प्रश्न—यदि तू अभ्यासमें भी असमर्थ है—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि यद्यपि तुम्हारे लिये वस्तुतः मन लगाना या उपर्युक्त प्रकारसे 'अभ्यासयोग' के द्वारा मेरी प्राप्ति करना कोई कठिन बात नहीं है, तथापि यदि तुम अपनेको इसमें असमर्थ मानते हो तो कोई बात नहीं; मैं तुम्हें तीसरा उपाय बतलाता हूँ। स्वभाव-भेदसे भिन्न-भिन्न साधकोंके लिये भिन्न-भिन्न प्रकारके साधन ही उपयोगी हुआ करते हैं।

प्रश्न—'मत्कर्म' शब्द कौन-से कर्मोंका वाचक है और उनके परायण होना क्या है ?

उत्तर—यहाँ 'मत्कर्म' शब्द उन कर्मोंका वाचक है जो केवल भगवान्‌के लिये ही होते हैं या भगवत्-सेवा-पूजाविषयक होते हैं; तथा जिनमें अपना जरा भी स्वार्थ, ममत्व और आसक्ति आदिका सम्बन्ध नहीं होता। ग्यारहवें अध्यायके अन्तिम श्लोकमें भी 'मत्कर्मकृत्' पदमें 'मत्कर्म' शब्द आया है, वहाँ भी इसकी व्याख्या की गयी है।

एकमात्र भगवान्‌को ही अपना परम आश्रय और परम गति मानना और केवल उन्हींकी प्रसन्नताके लिये परम श्रद्धा और अनन्य प्रेमके साथ मन, वाणी और शरीरसे इस प्रकारके यज्ञ, दान और तप आदि शास्त्र-विहित कर्मोंको अपना कर्तव्य समझकर निरन्तर करते रहना—यही उन कर्मोंके परायण होना है।

प्रश्न—मेरे लिये कर्म करता हुआ भी मेरी प्राप्तिरूप सिद्धिको प्राप्त हो जायगा—इस वाक्यका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि इस प्रकार कर्मोंका करना भी मेरी प्राप्तिका एक स्वतन्त्र और सुगम साधन है। जैसे भजन-ध्यानरूपी साधन करनेवालोंको मेरी प्राप्ति होती है, वैसे ही मेरे लिये कर्म करनेवालोंको भी मैं प्राप्त हो सकता हूँ। अतएव मेरे लिये कर्म करना पूर्वोक्त साधनोंकी अपेक्षा किसी अंशमें भी निम्न श्रेणीका साधन नहीं है।

सम्बन्ध—यहाँ अर्जुनको यह जिज्ञासा हो सकती है कि यदि उपर्युक्त प्रकारसे आपके लिये मैं कर्म भी न कर सकूँ तो मुझे क्या करना चाहिये। इसपर कहते हैं—

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥ ११ ॥

यदि मेरी प्राप्तिरूप योगके आश्रित होकर उपर्युक्त साधनको करनेमें भी तू असमर्थ है तो मन-बुद्धि आदिपर विजय प्राप्त करनेवाला होकर सब कर्मोंके फलका त्याग कर ॥ ११ ॥

प्रश्न—यदि मेरी प्राप्तिरूप योगके आश्रित होकर उपर्युक्त साधन करनेमें भी तू असमर्थ है—इस वाक्यका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इस वाक्यसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि वास्तवमें उपर्युक्त प्रकारसे भक्तिप्रधान कर्मयोगका साधन करना तुम्हारे लिये कठिन नहीं, सुगम है । तथापि यदि तुम उसे कठिन मानते हो तो मैं तुम्हें अब एक अन्य प्रकारका साधन बतलाता हूँ ।

प्रश्न—'यतात्मवान्' किसको कहते हैं और अर्जुनको 'यतात्मवान्' होनेके लिये कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'आत्मा' शब्द मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके सहित शरीरका वाचक है; अतः जिसने मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके सहित शरीरपर विजय प्राप्त कर ली हो, उसे 'यतात्मवान्' कहते हैं । मन और इन्द्रिय आदि यदि वशमें नहीं होते तो वे मनुष्यको बलात्कारसे भोगोंमें फँसा देते हैं और ऐसा होनेपर समस्त कर्मोंके फलरूप भोगोंकी कामना और आसक्तिका त्याग नहीं हो सकता । अतएव 'सर्वकर्मफलत्याग' के साधनमें आत्मसंयमकी परम आवश्यकता समझकर यहाँ अर्जुनको 'यतात्मवान्' बननेके लिये कहा गया है ।

प्रश्न—छठेसे लेकर दसवें श्लोकतक बतलाये हुए साधनोंमें 'यतात्मवान्' होनेके लिये न कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—छठे, सातवें और आठवें श्लोकोंमें भक्तियोगके अनन्य साधकोंका वर्णन है; वैसे अनन्य प्रेमी भक्तोंका संसारके भोगोंमें प्रेम न रहनेके कारण उनके मन, बुद्धि आदि स्वाभाविक ही संसारसे विरक्त रहकर भगवान्‌में लगे रहते हैं । इस कारण उन श्लोकोंमें उनको वशमें करनेके लिये नहीं कहा गया ।

नवें श्लोकमें 'अभ्यासयोग' बतलाया गया है और भगवान्‌में मन-बुद्धि लगानेके लिये जितने भी साधन हैं, सभी अभ्यासयोगके अन्तर्गत आ जाते हैं—इस कारणसे वहाँ 'यतात्मवान्' होनेके लिये कहनेकी आवश्यकता नहीं है । और दसवें श्लोकमें भक्तिप्रधान कर्मयोगका वर्णन है, उसमें भगवान्‌का आश्रय है और साधकके समस्त कर्म भी भगवदर्थ ही होते हैं । अतएव उसमें भी 'यतात्मवान्' होनेके लिये कहना प्रयोजनीय नहीं है । परन्तु इस श्लोकमें जो 'सर्वकर्मफलत्याग' रूप कर्मयोगका साधन बतलाया गया है, इसमें मन-बुद्धिको वशमें रक्खे बिना काम नहीं चल सकता; क्योंकि वर्णाश्रमोचित समस्त व्यावहारिक कर्म करते हुए यदि मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ वशमें न हों तो उनकी भोगोंमें ममता, आसक्ति और कामना हो जाना बहुत ही सहज है और ऐसा होनेपर 'सर्वकर्मफलत्याग' रूप साधन बन नहीं सकता । इसीलिये यहाँ 'यतात्मवान्' पदका प्रयोग करके मन-बुद्धि आदिको वशमें रखनेके लिये विशेष सावधान किया गया है ।

प्रश्न—'सर्वकर्म' शब्द यहाँ किन कर्मोंका वाचक है और उनका फलत्याग करना क्या है ?

उत्तर—यज्ञ, दान, तप, सेवा और वर्णाश्रमानुसार जीविका तथा शरीरनिर्वाहके लिये किये जानेवाले

शास्त्रसम्मत सभी कर्मोंका वाचक यहाँ 'सर्वकर्म' शब्द है; उन कर्मोंको यथायोग्य करते हुए, इस लोक और परलोकके भोगोंकी प्राप्तिरूप जो उनका फल है—उसमें ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग कर देना ही सर्वकर्मोंका फलत्याग करना है ।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि झूठ, कपट, व्यभिचार, हिंसा और चोरी आदि निषिद्ध कर्म 'सर्वकर्म' में सम्मिलित नहीं हैं । भोगोंमें आसक्ति और उनकी कामना होनेके कारण ही ऐसे पापकर्म होते हैं और उनके फलस्वरूप मनुष्यका सब तरहसे पतन हो जाता है। इसीलिये उनका स्वरूपसे ही सर्वथा त्याग कर देना बतलाया गया है और जब वैसे कर्मोंका ही सर्वथा निषेध है, तब उनके फलत्यागका तो प्रसङ्ग ही कैसे आ सकता है ?

प्रश्न—भगवान्‌ने पहले मन-बुद्धिको अपनेमें लगानेके लिये कहा, फिर अभ्यासयोग बतलाया, तदनन्तर मदर्थ कर्मके लिये कहा और अन्तमें सर्वकर्मफलत्यागके लिये आज्ञा दी और एकमें असमर्थ होनेपर दूसरेका आचरण करनेके लिये कहा; भगवान्‌का इस प्रकारका यह कथन फलभेदकी दृष्टिसे है अथवा एककी अपेक्षा दूसरेको सुगम बतलानेके लिये है या अधिकारिभेदसे है ?

उत्तर—न तो फलभेदकी दृष्टिसे है, क्योंकि सभीका एक ही फल भगवत्प्राप्ति है; और न एककी अपेक्षा दूसरेको सुगम ही बतलानेके लिये है, क्योंकि उपर्युक्त साधन एक दूसरेकी अपेक्षा उत्तरोत्तर सुगम नहीं हैं । जो साधन एकके लिये सुगम है, वही दूसरेके लिये कठिन हो सकता है । इस विचारसे यह समझमें आता है कि इन चारों साधनोंका वर्णन केवल अधिकारिभेदसे ही किया गया है ।

प्रश्न—इन चारों साधनोंमेंसे कौन-सा साधन कैसे मनुष्यके लिये उपयोगी है ?

उत्तर—जिस पुरुषमें सगुण भगवान्‌के प्रेमकी प्रधानता है, जिसकी भगवान्‌में स्वाभाविक श्रद्धा है, उनके गुण, प्रभाव और रहस्यकी बातें तथा उनकी लीलाका वर्णन जिसको स्वभावसे ही प्रिय लगता है—ऐसे पुरुषके लिये आठवें श्लोकमें बतलाया हुआ साधन सुगम और उपयोगी है ।

जिस पुरुषका भगवान्‌में स्वाभाविक प्रेम तो नहीं है, किन्तु श्रद्धा होनेके कारण जो हठपूर्वक साधन करके भगवान्‌में मन लगाना चाहता है—ऐसी प्रकृतिवाले पुरुषके लिये नवें श्लोकमें बतलाया हुआ साधन सुगम और उपयोगी है ।

जिस पुरुषकी सगुण परमेश्वरमें श्रद्धा है तथा यज्ञ, दान, तप आदि कर्मोंमें जिसका स्वाभाविक प्रेम है और भगवान्‌की प्रतिमादिकी सेवा-पूजा करनेमें जिसकी श्रद्धा है—ऐसे पुरुषके लिये दसवें श्लोकमें बतलाया हुआ साधन सुगम और उपयोगी है ।

और जिस पुरुषका सगुण-साकार भगवान्‌में स्वाभाविक प्रेम और श्रद्धा नहीं है, जो ईश्वरके स्वरूपको केवल सर्वव्यापी निराकार मानता है, व्यावहारिक और लोकहितके कर्म करनेमें ही जिसका स्वाभाविक प्रेम है तथा कर्मोंमें श्रद्धा और रुचि अधिक होनेके कारण जिसका मन नवें श्लोकमें बतलाये हुए अभ्यासयोगमें भी नहीं लगता—ऐसे पुरुषके लिये इस श्लोकमें बतलाया हुआ साधन सुगम और उपयोगी है ।

प्रश्न—छठे श्लोकके कथनानुसार समस्त कर्मोंको भगवान्‌में अर्पण करना, दसवें श्लोकके कथनानुसार भगवान्‌के लिये भगवान्‌के कर्मोंको करना तथा इस श्लोकके कथनानुसार समस्त कर्मोंके फलका त्याग करना—इन तीनों प्रकारके साधनोंमें क्या भेद है ? तीनोंका फल अलग-अलग है या एक ?

उत्तर—समस्त कर्मोंको भगवान्‌में अर्पण करना,

भगवान्‌के लिये समस्त कर्म करना और सब कर्मोंके फलका त्याग करना—ये तीनों ही 'कर्मयोग' हैं; और तीनोंका ही फल परमेश्वरकी प्राप्ति है, अतएव फलमें किसी प्रकारका भेद नहीं है। केवल साधकोंकी भावना और उनके साधनकी प्रणालीके भेदसे इनका भेद किया गया है। समस्त कर्मोंको भगवान्‌में अर्पण करना और भगवान्‌के लिये समस्त कर्म करना—इन दोनोंमें तो भक्तिकी प्रधानता है; सर्वकर्मफलत्यागमें केवल कर्म-फलकी प्रधानता है। यही इनका मुख्य भेद है। इसके अतिरिक्त सर्वकर्म भगवान्‌के अर्पण कर देनेवाला पुरुष समझता है कि मैं भगवान्‌के हाथकी कठपुतली हूँ, मुझमें कुछ भी करनेकी सामर्थ्य नहीं है; मेरे मन, बुद्धि और इन्द्रियादि जो कुछ हैं—सब भगवान्‌के हैं और भगवान् ही इनसे अपने इच्छानुसार समस्त कर्म करवाते हैं, उन कर्मोंसे और उनके फलसे मेरा कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकारके भावसे उस साधकका कर्मोंमें और उनके फलमें किञ्चिन्मात्र भी राग-द्वेष नहीं रहता; उसे जो कुछ भी प्रारब्धानुसार सुख-दुःखोंके भोग प्राप्त होते हैं, उन सबको वह भगवान्‌का प्रसाद समझकर सदा ही प्रसन्न रहता है। अतएव उसका सबमें समभाव होकर उसे शीघ्र ही भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है।

भगवदर्थ कर्म करनेवाला मनुष्य पूर्वोक्त साधककी भाँति यह नहीं समझता कि 'मैं कुछ नहीं करता हूँ और भगवान् ही मुझसे सब कुछ करवा लेते हैं।' वह यह समझता है कि भगवान् मेरे परम पूज्य, परम प्रेमी और परम सुहृद् हैं; उनकी सेवा करना और उनकी आज्ञाका पालन करना ही मेरा परम कर्तव्य है। अतएव वह भगवान्‌को समस्त जगत्‌में व्याप्त समझकर उनकी सेवाके उद्देश्यसे शास्त्रद्वारा प्राप्त उनकी आज्ञाके अनुसार यज्ञ, दान और तप, वर्णाश्रमके अनुसार आजीविका और शरीरनिर्वाहके समस्त कर्म तथा भगवान्‌की पूजा-सेवादि-के कर्मोंमें लगा रहता है। उसकी प्रत्येक क्रिया भगवान्‌के आज्ञानुसार और भगवान्‌की ही सेवाके उद्देश्यसे होती है (११।५५), अतः उन समस्त क्रियाओं और उनके फलोंमें उसकी आसक्ति और कामनाका अभाव होकर उसे शीघ्र ही भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है।

केवल 'सर्वकर्मोंके फलका त्याग' करनेवाला पुरुष न तो यह समझता है कि मुझसे भगवान् कर्म करवाते हैं और न यही समझता है कि मैं भगवान्‌के लिये समस्त कर्म करता हूँ। वह यह समझता है कि कर्म करनेमें ही मनुष्यका अधिकार है, उसके फलमें नहीं (२।४७से ५१ तक); अतः किसी प्रकारका फल न चाहकर यज्ञ, दान, तप, सेवा तथा वर्णाश्रमके अनुसार जीविका और शरीरनिर्वाहके खान-पान आदि समस्त शास्त्रविहित कर्मोंको करना ही मेरा कर्तव्य है। अतएव वह समस्त कर्मोंके फलरूप इस लोक और परलोकके भोगोंमें ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग कर देता है (१८।९); इससे उसमें राग-द्वेषका सर्वथा अभाव होकर उसे शीघ्र ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

इस प्रकार तीनोंके ही साधनका भगवत्प्राप्तिरूप एक फल होनेपर भी साधकोंकी मान्यता और साधन-प्रणालीमें भेद होनेके कारण तीन तरहके साधन अलग-अलग बतलाये गये हैं।

सम्बन्ध—आठवेंसे ग्यारहवें श्लोकतक एक प्रकारके साधनमें असमर्थ होनेपर दूसरा साधन बतलाते हुए अन्तमें 'सर्वकर्मफलत्याग' रूप साधनका वर्णन किया गया, इससे यह शंका हो सकती है कि 'कर्मफलत्याग' रूप साधन पूर्वोक्त अन्य साधनोंकी अपेक्षा निम्न श्रेणीका होगा; अतः ऐसी शंकाको हटानेके लिये कर्मफलके त्यागका महत्त्व अगले श्लोकमें बतलाया जाता है—

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥१२॥

मर्मको न जानकर किये हुए अभ्याससे ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञानसे मुझ परमेश्वरके स्वरूपका ध्यान श्रेष्ठ है और ध्यानसे भी सब कर्मोंके फलका त्याग श्रेष्ठ है; क्योंकि त्यागसे तत्काल ही परम शान्ति होती है ॥ १२ ॥

प्रश्न—यहाँ 'अभ्यास' शब्द किसका वाचक है और 'ज्ञान' शब्द किसका ? तथा अभ्यासकी अपेक्षा ज्ञानको श्रेष्ठ बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—कर्मयोगीके द्वारा भगवान्‌में मन लगानेके लिये किये जानेवाले प्रयत्नका नाम 'अभ्यास' है; और भगवान्‌के गुण, प्रभाव, स्वरूप, लीला, तत्त्व और रहस्यकी बातें शास्त्र और महापुरुषोंद्वारा सुनकर श्रद्धाके साथ उन्हें समझ लेनेका नाम 'ज्ञान' है । उपर्युक्त अभ्यास और ज्ञान दोनों ही भगवत्प्राप्तिमें सहायक हैं, तथापि उन दोनोंकी परस्पर तुलना करनेसे 'अभ्यास' की अपेक्षा 'ज्ञान' श्रेष्ठ सिद्ध होता है—यही बात दिखलानेके लिये भगवान्‌ने अभ्याससे ज्ञानको श्रेष्ठ बतलाया है, क्योंकि बिना ज्ञानके 'अभ्यास' से उतना लाभ नहीं हो सकता, जितना कि बिना अभ्यासके 'ज्ञान'से हो सकता है ।

प्रश्न—यहाँ 'ध्यान' शब्द किसका वाचक है और उसे ज्ञानकी अपेक्षा श्रेष्ठ बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—मन-बुद्धिका भगवान्‌में लग जाना ही 'ध्यान' है । ज्ञान और ध्यान दोनों ही भगवान्‌की प्राप्तिमें हेतु हैं, तथापि परस्पर दोनोंकी तुलना करनेसे ज्ञानकी अपेक्षा ध्यान श्रेष्ठ साबित होता है । यही बात दिखलानेके लिये यहाँ ज्ञानसे ध्यानको श्रेष्ठ बतलाया है; क्योंकि बिना ध्यानके केवल 'ज्ञान' से उतना लाभ नहीं हो सकता, जितना कि बिना ज्ञानके 'ध्यान' से हो सकता है । ध्यानद्वारा मन-बुद्धि भगवान्‌में लग जानेपर ज्ञान तो भगवान्‌की दयासे अपने-आप ही प्राप्त हो जाता है ।

प्रश्न—'कर्मफलत्याग' किसका वाचक है और उसे ध्यानसे श्रेष्ठ बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—ग्यारहवें श्लोकमें जो 'सर्वकर्मफलत्याग' का स्वरूप बतलाया गया है, उसीका वाचक 'कर्मफलत्याग' है; ध्यान और कर्मफलत्याग दोनों ही भगवत्प्राप्तिमें हेतु हैं, तथापि दोनोंकी परस्पर तुलना की जानेसे ध्यानकी अपेक्षा कर्मफलत्याग श्रेष्ठ ठहरता है—यही भाव दिखलानेके लिये ध्यानसे कर्मफलत्यागको श्रेष्ठ बतलाया है । क्योंकि फलत्यागके बिना किये हुए 'ध्यान' से उतना लाभ नहीं हो सकता, जितना कि बिना ध्यानके 'कर्मफलके त्याग' से हो सकता है ।

प्रश्न—त्यागसे तत्काल शान्ति मिल जाती है, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि कर्मफलरूप इस लोक और परलोकके समस्त भोगोंमें ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग सिद्ध होनेके बाद मनुष्यको तत्काल ही परमेश्वरकी प्राप्ति हो जाती है (२ । ५१); फिर विलम्बका कोई भी कारण नहीं रह जाता । क्योंकि विषयासक्ति ही मनुष्यको बाँधनेवाली है, इसका नाश होनेके बाद भगवान् भक्तसे छिपे नहीं रह सकते । जबतक मनुष्यका

कर्मफलरूप भोगोंमें प्रेम रहता है, तबतक भगवान्‌में पूर्ण प्रेम नहीं हो सकता; इसलिये उसे परम शान्ति नहीं मिलती। ज्ञान, ध्यान और अभ्याससे भी मनुष्यको भगवत्प्राप्ति तभी होती है, जब कि उसका समस्त भोगोंसे सर्वथा वैराग्य होकर भगवान्‌में अनन्य प्रेम हो जाता है।

सम्बन्ध—*उपर्युक्त श्लोकोंमें भगवान्‌की प्राप्तिके लिये भक्तिके अङ्गभूत अलग-अलग साधन बतलाकर उनका फल परमेश्वरकी प्राप्ति बतलाया गया, अतएव भगवान्‌को प्राप्त हुए प्रेमी भक्तोंके लक्षण जाननेकी इच्छा होनेपर अब सात श्लोकोंमें भगवत्प्राप्त ज्ञानी भक्तोंके लक्षण बतलाये जाते हैं*—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ १३॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १४॥

जो पुरुष सब भूतोंमें द्वेषभावसे रहित, स्वार्थरहित सबका प्रेमी और हेतुरहित दयालु है तथा ममतासे रहित, अहङ्कारसे रहित, सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम और क्षमावान् है अर्थात् अपराध करनेवालेको भी अभय देनेवाला है; तथा जो योगी निरन्तर संतुष्ट है, मन-इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें किये हुए है और मुझमें दृढ़ निश्चयवाला है—वह मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाला मेरा भक्त मुझको प्रिय है ॥ १३-१४॥

प्रश्न—'सर्वभूतानाम्' पद किससे सम्बन्ध रखता है?

उत्तर—प्रधानरूपसे तो इसका सम्बन्ध 'अद्वेष्टा' के साथ है, किन्तु अनुवृत्तिसे यह 'मैत्रः' और 'करुणः' के साथ भी सम्बद्ध है। भाव यह है कि समस्त भूतोंके प्रति उसमें केवल द्वेषका ही अभाव नहीं है, बल्कि उनके प्रति उसमें स्वाभाविक ही हेतुरहित 'मैत्री' और 'दया' भी है।

प्रश्न—सिद्ध पुरुषका तो सबमें समभाव हो जाता है, फिर उसमें मैत्री और करुणाके विशेष भाव कैसे रह सकते हैं?

उत्तर—भक्तिके साधकमें आरम्भसे ही मैत्री और दयाके भाव विशेषरूपसे रहते हैं, इसलिये सिद्धावस्थामें भी उसके स्वभाव और व्यवहारमें वे सहज ही पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त जैसे भगवान्‌में हेतुरहित अपार दया और प्रेम आदि रहते हैं, वैसे ही उनके सिद्ध भक्तमें भी इनका रहना उचित ही है।

प्रश्न—'निर्ममः' और 'निरहङ्कारः'—इन दोनों लक्षणोंका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इन लक्षणोंसे यहाँ यह भाव दिखलाया गया है कि भगवान्‌के ज्ञानी भक्तका सर्वत्र समभाव होता है, अतएव न तो उसकी किसीमें ममता रहती है और न उसका अपने शरीरमें अहङ्कार ही रहता है; तथापि बिना ही किसी प्रयोजनके वह समस्त भूतोंसे प्रेम रखता है और सबपर दया करता है। यही उसकी महत्ता है। भगवान्‌का साधक भक्त भी दया और प्रेम तो कर सकता है, पर उसमें ममता और अहङ्कारका सर्वथा अभाव नहीं होता।

प्रश्न—'समदुःखसुखः' इस पदमें आये हुए 'सुख-दुःख'

शब्द हर्ष-शोकके वाचक हैं या अन्य किसीके ? और उनमें सम रहना क्या है ?

उत्तर—यहाँ 'सुख-दुःख' हर्ष-शोकके वाचक न होकर, उनसे भिन्न भावोंके वाचक हैं। अज्ञानी मनुष्योंकी सुखमें आसक्ति होती है, इस कारण सुखकी प्राप्तिमें उनको हर्ष होता है और दुःखमें उनका द्वेष होता है, इसलिये उसकी प्राप्तिमें उनको शोक होता है; पर ज्ञानी भक्तका सुख और दुःखमें समभाव हो जानेके कारण किसी भी अवस्थामें उसके अन्तःकरणमें हर्ष, शोक आदि विकार नहीं होते। श्रुतिमें भी कहा है—'हर्षशोकौ जहाति' (कठ० १।२।१२), अर्थात् 'ज्ञानी पुरुष हर्ष-शोकोंको सर्वथा त्याग देता है।' प्रारब्ध-भोगके अनुसार शरीरमें रोग हो जानेपर पीड़ा होती है और शरीर स्वस्थ रहनेसे उसमें पीड़ाके अभावका बोध भी होता है, किन्तु राग-द्वेषका अभाव होनेके कारण हर्ष और शोक उन्हें नहीं होते। इसी तरह किसी भी अनुकूल और प्रतिकूल पदार्थ या घटनाके संयोग-वियोगमें किसी प्रकारसे भी उनको हर्ष-शोक नहीं होते। यही उनका सुख-दुःखमें सम रहना है।

प्रश्न—'क्षमावान्' किसे कहते हैं और ज्ञानी भक्तोंको क्षमावान् क्यों बतलाया गया है ?

उत्तर—अपना अपकार करनेवालेको किसी प्रकारका दण्ड देनेकी इच्छा न रखकर उसे अभय देनेवालेको 'क्षमावान्' कहते हैं। भगवान्‌के ज्ञानी भक्तोंमें क्षमाभाव भी असीम रहता है। उनकी सबमें भगवद्बुद्धि हो जानेके कारण वे किसी भी घटनाको वास्तवमें किसीका अपराध ही नहीं समझते। अतएव वे अपने अपराधके बदलेमें किसीको भी किसी प्रकारका दण्ड नहीं देना चाहते। यही भाव दिखलानेके लिये उनको 'क्षमावान्' बतलाया गया है। क्षमाकी व्याख्या १०।४ में विस्तारसे की गयी है।

प्रश्न—यहाँ 'योगी' पद किसका वाचक है और उसका निरन्तर सन्तुष्ट रहना क्या है ?

उत्तर—भक्तियोगके द्वारा भगवान्‌को प्राप्त हुए ज्ञानी भक्तका वाचक यहाँ 'योगी' पद है; ऐसा भक्त परमानन्दके अक्षय और अनन्त भण्डार श्रीभगवान्‌को प्रत्यक्ष कर लेता है, इस कारण वह सदा ही सन्तुष्ट रहता है। उसे किसी समय, किसी भी अवस्थामें, संसारकी किसी भी वस्तुके अभावमें असन्तोषका अनुभव नहीं होता। वह पूर्णकाम हो जाता है; अतएव संसारकी किसी भी घटनासे उसके सन्तोषका अभाव नहीं होता। यही उसका निरन्तर सन्तुष्ट रहना है।

संसारी मनुष्योंको जो सन्तोष होता है, वह क्षणिक होता है; जिस कामनाकी पूर्तिसे उनको सन्तोष होता है, उसका अभाव होते ही पुनः असन्तोष उत्पन्न हो जाता है। इसीलिये वे सदा सन्तुष्ट नहीं रह सकते।

प्रश्न—'यतात्मा' का क्या अर्थ है, इसका प्रयोग किसलिये किया गया है ?

उत्तर—जिसका मन और इन्द्रियोंके सहित शरीर जीता हुआ हो, उसे 'यतात्मा' कहते हैं। भगवान्‌के ज्ञानी भक्तोंका मन और इन्द्रियोंसहित शरीर सदा ही उनके वशमें रहता है। वे कभी मन और इन्द्रियोंके वशमें नहीं हो सकते। इसीसे उनमें किसी प्रकारके दुर्गुण और दुराचारकी सम्भावना नहीं होती। यही भाव दिखलानेके लिये इसका प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—'दृढनिश्चयः' पद किसका वाचक है ?

उत्तर—जिसने बुद्धिके द्वारा परमेश्वरके स्वरूपका भलीभाँति निश्चय कर लिया है; जिसे सर्वत्र भगवान्‌का प्रत्यक्ष अनुभव होता है तथा जिसकी बुद्धि गुण, कर्म और दुःख आदिके कारण परमात्माके स्वरूपसे कभी किसी प्रकार विचलित नहीं हो सकती, उसको 'दृढनिश्चय' कहते हैं।

प्रश्न—भगवान्में मन-बुद्धिका अर्पण करना क्या है ?

उत्तर—नित्य-निरन्तर मनसे भगवान्के स्वरूपका चिन्तन और बुद्धिसे उसका निश्चय करते-करते मन और बुद्धिका भगवान्के स्वरूपमें सदाके लिये तन्मय हो जाना ही उनको 'भगवान्में अर्पण करना' है।

प्रश्न—वह मेरा भक्त मुझे प्रिय है—इस कथनका क्या तात्पर्य है ?

उत्तर—जिसका भगवान्में अहैतुक और अनन्य प्रेम है; जिसकी भगवान्के स्वरूपमें अटल स्थिति है; जिसका कभी भगवान्से वियोग नहीं होता; जिसके मन-बुद्धि भगवान्के अर्पित हैं; भगवान् ही जिसके जीवन, धन, प्राण एवं सर्वस्व हैं; जो भगवान्के ही हाथकी कठ-पुतली है—ऐसे ज्ञानी भक्तको भगवान् अपना प्रिय बतलाते हैं।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥१५॥

जिससे कोई भी जीव उद्वेगको प्राप्त नहीं होता और जो स्वयं भी किसी जीवसे उद्वेगको प्राप्त नहीं होता; तथा जो हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेगादिसे रहित है--वह भक्त मुझको प्रिय है ॥ १५ ॥

प्रश्न—जिससे कोई भी जीव उद्वेगको प्राप्त नहीं होता----इसका क्या अभिप्राय है ? भक्त जान-बूझकर किसीको उद्विग्न नहीं करता या उससे किसीको उद्वेग (क्षोभ) होता ही नहीं ?

उत्तर—सर्वत्र भगवद्बुद्धि होनेके कारण भक्त जान-बूझकर तो किसीको दुःख, सन्ताप, भय और क्षोभ पहुँचा ही नहीं सकता; बल्कि उसके द्वारा तो स्वाभाविक ही सबकी सेवा और परम हित ही होते हैं। अतएव उसकी ओरसे किसीको कभी उद्वेग नहीं होना चाहिये। यदि भूलसे किसीको उद्वेग होता है तो उसमें उसके अपने अज्ञानजनित राग-द्वेष और ईर्ष्यादि दोष ही प्रधान कारण हैं, भगवद्भक्त नहीं। क्योंकि जो दया और प्रेमकी मूर्ति है एवं दूसरोंका हित करना ही जिसका स्वभाव है--वह परम दयालु, प्रेमी, भगवत्प्राप्त भक्त तो किसीके उद्वेगका कारण हो ही नहीं सकता।

प्रश्न—भक्तको दूसरे किसी प्राणीसे उद्वेग क्यों नहीं होता ? उसे कोई भी प्राणी दुःख देते ही नहीं या दुःखके हेतु प्राप्त होनेपर भी उसे उद्वेग (क्षोभ) नहीं होता ?

उत्तर—भगवान्को प्राप्त ज्ञानी भक्तका सबमें समभाव हो जाता है; इस कारण वह जान-बूझकर अपनी ओरसे ऐसा कोई भी कार्य नहीं करता, जिससे उसके साथ किसीका द्वेष हो। अतएव दूसरे लोग भी प्रायः उसे दुःख पहुँचानेवाली कोई चेष्टा नहीं करते। तथापि सर्वथा यह बात नहीं कही जा सकती कि दूसरे कोई प्राणी उसकी शारीरिक या मानसिक पीड़ाके कारण बन ही नहीं सकते। इसलिये यही समझना चाहिये कि ज्ञानी भक्तको भी प्रारब्धके अनुसार परेच्छासे दुःखके निमित्त तो प्राप्त हो सकते हैं, परन्तु उसमें राग-द्वेषका सर्वथा अभाव हो जानेके कारण बड़े-से-बड़े दुःखकी प्राप्तिमें भी वह विचलित नहीं होता (६ । २२) इसीलिये ज्ञानी भक्तको किसी भी प्राणीसे उद्वेग नहीं होता।

प्रश्न—भक्तको उद्वेग नहीं होता, यह बात इस श्लोकके पूर्वार्द्धमें कह दी गयी; फिर उत्तरार्द्धमें पुनः उद्वेगसे मुक्त होनेके लिये कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—पूर्वार्द्धमें केवल दूसरे प्राणीसे उसे उद्वेग नहीं होता, इतना ही कहा गया है। इससे परेच्छाजनित उद्वेगकी निवृत्ति तो हुई; किन्तु अनिच्छा और स्वेच्छासे प्राप्त घटना और पदार्थमें भी तो मनुष्यको उद्वेग होता है, इसलिये उत्तरार्द्धमें पुनः उद्वेगसे मुक्त होनेकी बात कहकर भगवान् यह सिद्ध कर रहे हैं कि भक्तको कभी किसी प्रकार भी उद्वेग नहीं होता।

प्रश्न—अनुकूल पदार्थकी प्राप्तिमें शरीरमें रोमाञ्च और चित्तमें प्रसन्नतारूप हर्ष होता है और प्रतिकूल पदार्थ-की प्राप्तिमें उद्वेग (क्षोभ) होता है। इसलिये हर्ष और उद्वेगसे मुक्त कहनेसे भी भक्तकी निर्विकारता सिद्ध हो ही जाती है, फिर अमर्ष और भयसे मुक्त होनेकी बात क्यों कही गयी ?

उत्तर—हर्ष और उद्वेगसे मुक्त कह देनेसे निर्विकारता तो सिद्ध हो जाती है, पर समस्त विकारोंका अत्यन्त अभाव स्पष्ट नहीं होता। अतः भक्तमें सम्पूर्ण विकारोंका अत्यन्त अभाव होता है, इस बातको विशेष स्पष्ट करने-के लिये अमर्ष और भयका भी अभाव बतलाया गया।

अभिप्राय यह है कि वास्तवमें मनुष्यको अपने अभिलषित मान, बड़ाई और धन आदि वस्तुओंकी प्राप्ति होनेपर जिस तरह हर्ष होता है, उसी तरह अपने ही समान या अपनेसे अधिक दूसरोंको भी उन वस्तुओंकी प्राप्ति होते देखकर प्रसन्नता होनी चाहिये; किन्तु प्रायः ऐसा न होकर अज्ञानके कारण लोगोंको उलटा अमर्ष होता है, और यह अमर्ष विवेकशील पुरुषोंके चित्तमें भी देखा जाता है। वैसे ही इच्छा, नीति और धर्मके विरुद्ध पदार्थोंकी प्राप्ति होनेपर उद्वेग; तथा नीति और धर्मके अनुकूल भी दुःखप्रद पदार्थोंकी प्राप्ति होनेपर या उसकी आशङ्कासे भय होता देखा जाता है। दूसरोंकी तो बात ही क्या, मृत्युका भय तो विवेकियोंको भी होता है। किन्तु भगवान्के ज्ञानी भक्तकी सर्वत्र भगवद्-बुद्धि हो जाती है और वह सम्पूर्ण क्रियाओंको भगवान्-की लीला समझता है; इस कारण ज्ञानी भक्तको न अमर्ष होता है, न उद्वेग होता है और न भय ही होता है—यह भाव दिखलानेके लिये ऐसा कहा गया है।

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१६॥

जो पुरुष आकाङ्क्षासे रहित, बाहर-भीतरसे शुद्ध, चतुर, पक्षपातसे रहित और दुःखोंसे छूटा हुआ है—वह सब आरम्भोंका त्यागी मेरा भक्त मुझको प्रिय है ॥ १६ ॥

प्रश्न—'आकाङ्क्षासे रहित' कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—परमात्माको प्राप्त भक्तका किसी भी वस्तुसे किञ्चित् भी प्रयोजन नहीं रहता; अतएव उसे किसी तरहकी किञ्चिन्मात्र भी इच्छा, स्पृहा अथवा वासना नहीं रहती। वह पूर्णकाम हो जाता है। यह भाव दिखलानेके लिये उसे आकाङ्क्षासे रहित कहा है।

प्रश्न—इच्छा या आवश्यकताके बिना तो मनुष्यसे किसी प्रकारकी भी क्रिया नहीं हो सकती और क्रियाके बिना जीवननिर्वाह सम्भव नहीं, फिर ऐसे भक्तका जीवन कैसे चलता है ?

उत्तर—बिना इच्छा और आवश्यकताके भी प्रारब्धसे क्रिया हो सकती है, अतएव उसका जीवन प्रारब्धसे होता है। अभिप्राय यह है कि उसके मन, वाणी और शरीरसे प्रारब्धके अनुसार सम्पूर्ण क्रियाएँ बिना किसी

इच्छा, स्पृहा और सङ्कल्पके स्वाभाविक ही होती रहती हैं (४ । १९); अतः उसके जीवन-निर्वाहमें किसी तरहकी अड़चन नहीं पड़ती ।

प्रश्न—भगवान्‌का भक्त बाहर-भीतरसे शुद्ध होता है, उसकी इस शुद्धिका क्या स्वरूप है ?

उत्तर—भगवान्‌के भक्तमें पवित्रताकी पराकाष्ठा होती है । उसके मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीर आदि इतने पवित्र हो जाते हैं कि उसके साथ वार्तालाप होनेपर तो कहना ही क्या है—उसके दर्शन और स्पर्शमात्रसे ही दूसरे लोग पवित्र हो जाते हैं । ऐसा भक्त जहाँ निवास करता है वह स्थान पवित्र हो जाता है और उसके सङ्गसे वहाँका वायुमण्डल, जल, स्थल आदि सब पवित्र हो जाते हैं ।

प्रश्न—'दक्ष' शब्दका क्या भाव है ?

उत्तर—जिस उद्देश्यकी सफलताके लिये मनुष्यशरीरकी प्राप्ति हुई है, उस उद्देश्यको पूरा कर लेना ही यथार्थ चतुरता है । अनन्यभक्तिके द्वारा परम प्रेमी, सबके सुहृद् सर्वेश्वर परमेश्वरको प्राप्त कर लेना ही मनुष्यजन्मके प्रधान उद्देश्यको प्राप्त कर लेना है । ज्ञानी भक्त भगवान्‌को प्राप्त है, यह भाव दिखलानेके लिये उसको 'चतुर' कहा गया है ।

प्रश्न—पक्षपातसे रहित होना क्या है ?

उत्तर—न्यायालयमें साक्षी देते समय अथवा पंच या न्यायकर्त्ताकी हैसियतसे किसीके झगड़ेका फैसला करते समय, या इस प्रकारका दूसरा कोई मौका आनेपर अपने किसी कुटुम्बी, सम्बन्धी या मित्र आदिके लिहाजसे या द्वेषसे, अथवा अन्य किसी कारणसे भी झूठी गवाही देना, न्यायविरुद्ध फैसला देना या अन्य किसी प्रकारसे किसीको अनुचित लाभ-हानि पहुँचानेकी चेष्टा करना पक्षपात है । इससे रहित होना पक्षपातसे रहित होना है ।

प्रश्न—भगवान्‌का भक्त सब प्रकारके दुःखोंसे रहि[त] होता है, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—मूल श्लोकमें 'गतव्यथः' पद है । इस[से] भगवान्‌का यही अभिप्राय प्रतीत होता है कि किसी भी प्रकारके दुःख-हेतुके प्राप्त होनेपर भी वह उससे दु[ःखी] नहीं होता, अर्थात् उसके अन्तःकरणमें किसी तरह[की] चिन्ता, दुःख या शोक नहीं होता । भाव यह है कि शरीरमें रोग आदिका होना, स्त्री-पुत्र आदिका वि[योग] होना और धन-गृह आदिकी हानि होना—इत्यादि दु[ःख] तो प्रारब्धके अनुसार उसे प्राप्त होते हैं, परन्तु [इन] सबके होते हुए भी उसके अन्तःकरणमें किसी प्रकार[का] विकार नहीं होता ।

प्रश्न—सर्वारम्भपरित्यागीका क्या भाव है ?

उत्तर—संसारमें जो कुछ भी हो रहा है—[सब] भगवान्‌की लीला है, सब उनकी मायाशक्तिका खेल [है;] वे जिससे जब जैसा करवाना चाहते हैं, वैसा [ही] करवा लेते हैं । मनुष्य मिथ्या ही ऐसा अभिमान [कर] लेता है कि अमुक कर्म मैं करता हूँ, मेरी ऐसी साम[र्थ्य] है, इत्यादि । पर भगवान्‌का भक्त इस रहस्यको भलीभाँ[ति] समझ लेता है, इससे वह सदा भगवान्‌के हाथ[की] कठपुतली बना रहता है । भगवान् उसको जब जै[से] नचाते हैं, वह प्रसन्नतापूर्वक वैसे ही नाचता है । अप[ना] तनिक भी अभिमान नहीं रखता और अपनी ओरसे कु[छ] भी नहीं करता । इसलिये वह लोकदृष्टिमें सब कु[छ] करता हुआ भी वास्तवमें कर्तापनके अभिमानसे रहि[त] होनेके कारण 'सर्वारम्भपरित्यागी' ही है ।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः ॥१७॥

जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है, न कामना करता है तथा जो शुभ और अशुभ सम्पूर्ण कर्मोंका त्यागी है—वह भक्तियुक्त पुरुष मुझको प्रिय है ॥ १७ ॥

प्रश्न—कभी हर्षित न होना क्या है ? और इस लक्षणसे क्या भाव दिखलाया गया है ?

उत्तर—इष्टवस्तुकी प्राप्तिमें और अनिष्टके वियोगमें प्राणियोंको हर्ष हुआ करता है, अतः किसी भी वस्तुके संयोग-वियोगसे अन्तःकरणमें हर्षका विकार न होना ही कभी हर्षित न होना है। ज्ञानी भक्तमें हर्षरूप विकारका सर्वथा अभाव दिखलानेके लिये यहाँ इस लक्षणका वर्णन किया गया है। अभिप्राय यह है कि भक्तके लिये सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, परम दयालु भगवान् ही परम प्रिय वस्तु हैं और वह उन्हें सदाके लिये प्राप्त है। अतएव वह सदा-सर्वदा परमानन्दमें स्थित रहता है। संसारकी किसी वस्तुमें उसका किञ्चिन्मात्र भी राग-द्वेष नहीं होता। इस कारण लोकदृष्टिसे होनेवाले किसी प्रिय वस्तुके संयोगसे या अप्रियके वियोगसे उसके अन्तःकरणमें कभी किञ्चिन्मात्र भी हर्षका विकार नहीं होता।

प्रश्न—भगवान्‌का भक्त द्वेष नहीं करता, यह कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—भगवान्‌का भक्त सम्पूर्ण जगत्‌को भगवान्‌का स्वरूप समझता है, इसलिये उसका किसी भी वस्तु या प्राणीमें कभी किसी भी कारणसे द्वेष नहीं हो सकता। उसके अन्तःकरणमें द्वेषभावका सदाके लिये सर्वथा अभाव हो जाता है।

प्रश्न—भगवान्‌का भक्त कभी शोक नहीं करता, इसका क्या भाव है ?

उत्तर—हर्षकी भाँति ही उसमें शोकका विकार भी नहीं होता। अनिष्ट वस्तुकी प्राप्तिमें और इष्टके वियोगमें प्राणियोंको शोक हुआ करता है। भगवद्भक्तको लीलामय परम दयालु परमेश्वरकी दयासे भरे हुए किसी भी विधानमें कभी प्रतिकूलता प्रतीत ही नहीं होती। भगवान्‌की लीलाका रहस्य समझनेके कारण वह हर समय उनके परमानन्दस्वरूपके अनुभवमें मग्न रहता है। अतः उसे शोक कैसे हो सकता है ? एक बात और भी है—सर्वव्यापी, सर्वाधार भगवान् ही उसके लिये सर्वोत्तम परम प्रिय वस्तु हैं और उनके साथ उसका कभी वियोग होता नहीं, तथा सांसारिक वस्तुओंकी उत्पत्ति-विनाशमें उसका कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। इस कारण भी लोकदृष्टिसे होनेवाले प्रिय वस्तुओंके वियोगसे या अप्रियके संयोगसे उसे किसी प्रकारका शोक नहीं हो सकता।

प्रश्न—भगवान्‌का भक्त कभी किसी वस्तुकी भी आकाङ्क्षा क्यों नहीं करता ?

उत्तर—मनुष्यके मनमें जिन इष्ट वस्तुओंके अभावका अनुभव होता है, वह उन्हीं वस्तुओंकी आकाङ्क्षा करता है। भगवान्‌के भक्तको साक्षात् भगवान्‌की प्राप्ति हो जानेके कारण वह सदाके लिये परमानन्द और परम शान्तिमें स्थित होकर पूर्णकाम हो जाता है, उसके मनमें कभी किसी वस्तुके अभावका अनुभव होता ही नहीं, उसकी सम्पूर्ण आवश्यकताएँ नष्ट हो जाती हैं, वह अचल-प्रतिष्ठामें स्थित हो जाता है; इसलिये उसके अन्तःकरणमें सांसारिक वस्तुओंकी आकाङ्क्षा होनेका कोई कारण ही नहीं रह जाता।

प्रश्न—यहाँ 'शुभाशुभ' शब्द किन कर्मोंका वाचक है और भगवान्‌के भक्तको उनका परित्यागी कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—यज्ञ, दान, तप और वर्णाश्रमके अनुसार

जीविका तथा शरीरनिर्वाहके लिये किये जानेवाले शास्त्रविहित कर्मोंका वाचक यहाँ 'शुभ' शब्द है; और झूठ, कपट, चोरी, हिंसा, व्यभिचार आदि पापकर्मका वाचक 'अशुभ' शब्द है। भगवान्‌का ज्ञानी भक्त इन दोनों प्रकारके कर्मोंका त्यागी होता है; क्योंकि उसके शरीर, इन्द्रिय और मनके द्वारा किये जानेवाले समस्त शुभ कर्मोंको वह भगवान्‌के समर्पण कर देता है। उनमें उसकी किञ्चिन्मात्र भी ममता, आसक्ति या फलेच्छा नहीं रहती; इसीलिये ऐसे कर्म, कर्म ही नहीं माने जाते (४ । २०) और राग-द्वेषका अभाव हो जानेके कारण पापकर्म उसके द्वारा होते ही नहीं, इसलिये उसे 'शुभाशुभका परित्यागी' कहा गया है।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥ १८॥

जो शत्रु-मित्रमें और मान-अपमानमें सम है तथा सरदी, गरमी और सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें सम है और आसक्तिसे रहित है, ॥ १८ ॥

प्रश्न—भगवान्‌का भक्त तो किसी भी प्राणीसे द्वेष नहीं करता, फिर उसका कोई शत्रु कैसे हो सकता है? ऐसी अवस्थामें वह शत्रु-मित्रमें सम है, यह कहनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—अवश्य ही भक्तकी दृष्टिमें उसका कोई शत्रु-मित्र नहीं होता, तो भी लोग अपनी-अपनी भावनाके अनुसार मूर्खतावश भक्तके द्वारा अपना अनिष्ट होता हुआ समझकर या उसका स्वभाव अपने अनुकूल न दीखनेके कारण अथवा ईर्ष्यावश उसमें शत्रुभावका भी आरोप कर लेते हैं; ऐसे ही दूसरे लोग अपनी भावनाके अनुसार उसमें मित्रभावका आरोप कर लेते हैं। परन्तु सम्पूर्ण जगत्‌में सर्वत्र भगवान्‌के दर्शन करनेवाले भक्तका सबमें समभाव ही रहता है। उसकी दृष्टिमें शत्रु-मित्रका किञ्चित् भी भेद नहीं रहता, वह तो सदा-सर्वदा सबके साथ परम प्रेमका ही व्यवहार करता रहता है। सबको भगवान्‌का स्वरूप समझकर सम-भावसे सबकी सेवा करना ही उसका स्वभाव बन जाता है। जैसे वृक्ष अपनेको काटनेवाले और जल सींचनेवाले दोनोंकी ही छाया, फल और फूल आदिके द्वारा सेवा करनेमें किसी प्रकारका भेद नहीं करता—वैसे ही भक्तमें भी किसी तरहका भेदभाव नहीं रहता। भक्तका समत्व वृक्षकी अपेक्षा भी अधिक महत्त्वका होता है। उसकी दृष्टिमें परमेश्वरसे भिन्न कुछ भी न रहनेके कारण उसमें भेदभावकी आशंका ही नहीं रहती। इसलिये उसे शत्रु-मित्रमें सम कहा गया है।

प्रश्न—मान-अपमान, शीत-उष्ण और सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंमें सम कहनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—मान-अपमान, सरदी-गरमी, सुख-दुःख आदि अनुकूल और प्रतिकूल द्वन्द्वोंका मन, इन्द्रिय और शरीरके साथ सम्बन्ध होनेसे उनका अनुभव होते हुए भी भगवद्भक्तके अन्तःकरणमें राग-द्वेष या हर्ष-शोक आदि किसी तरहका किञ्चिन्मात्र भी विकार नहीं होता। वह सदा सम रहता है। न अनुकूलको चाहता है और न प्रतिकूलसे द्वेष ही करता है, कभी किसी भी अवस्थामें वह अपनी स्थितिसे जरा भी विचलित नहीं होता। सर्वत्र भगवदर्शन होनेके कारण उसके अन्तःकरणसे विषमताका सर्वथा अभाव हो जाता है। इसी अभिप्रायसे उसे इन सबमें सम रहनेवाला कहा गया है।

प्रश्न—'सङ्गविवर्जितः'का अर्थ संसारके संसर्गसे रहित होना मान लिया जाय तो क्या हानि है ?

उत्तर—संसारमें मनुष्यकी जो आसक्ति (स्नेह) है, वही समस्त अनर्थोंका मूल है; बाहरसे मनुष्य संसारका संसर्ग छोड़ भी दे, किन्तु मनमें आसक्ति बनी रहे तो ऐसे त्यागसे विशेष लाभ नहीं हो सकता। पक्षान्तरमें मनकी आसक्ति नष्ट हो चुकनेपर बाहरसे राजा जनक आदिकी तरह सबसे ममता और आसक्तिरहित संसर्ग रहनेपर भी कोई हानि नहीं है। ऐसा आसक्तिका त्यागी ही वस्तुतः सच्चा 'सङ्गविवर्जित' है। दूसरे अध्यायके ५७वें श्लोकमें भी यही बात कही गयी है। अतः 'सङ्गविवर्जितः'का जो अर्थ किया गया है, वही ठीक मालूम होता है।

प्रश्न—१३वें श्लोकमें भगवान्‌ने सम्पूर्ण प्राणियोंमें भक्तका मित्रभाव होना बतलाया और यहाँ सबमें आसक्ति-रहित होनेके लिये कहते हैं। इन दोनों बातोंमें विरोध-सा प्रतीत होता है। इसका क्या समाधान है ?

उत्तर—इसमें विरोध कुछ भी नहीं है। भगवद्भक्तका जो सब प्राणियोंमें मित्रभाव होता है—वह आसक्तिरहित, निर्दोष और विशुद्ध होता है। सांसारिक मनुष्योंका प्रेम आसक्तिके सम्बन्धसे होता है, इसीलिये यहाँ स्थूल-दृष्टिसे विरोध-सा प्रतीत होता है; वास्तवमें विरोध नहीं है। मैत्री सद्‌गुण है और यह भगवान्‌में भी रहती है, किन्तु आसक्ति दुर्गुण है और समस्त अवगुणोंका मूल होनेके कारण त्याज्य है; वह भगवद्भक्तोंमें कैसे रह सकती है ?

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥१९॥

जो निन्दा-स्तुतिको समान समझनेवाला, मननशील और जिस किसी प्रकारसे भी शरीरका निर्वाह होनेमें सदा ही सन्तुष्ट है और रहनेके स्थानमें ममता और आसक्तिसे रहित है—वह स्थिरबुद्धि भक्तिमान् पुरुष मुझको प्रिय है ॥ १९॥

प्रश्न—भगवान्‌के भक्तका निन्दा-स्तुतिको समान समझना क्या है ?

उत्तर—भगवान्‌के भक्तका अपने नाम और शरीरमें किञ्चिन्मात्र भी अभिमान या ममत्व नहीं रहता। इसलिये न तो उसको स्तुतिसे हर्ष होता है और न निन्दासे किसी प्रकारका शोक ही होता है। उसका दोनोंमें ही समभाव रहता है। सर्वत्र भगवद्‌बुद्धि हो जानेके कारण स्तुति करनेवालों और निन्दा करनेवालोंमें भी उसकी जरा भी भेदबुद्धि नहीं होती। यही उसका निन्दा-स्तुतिको समान समझना है।

प्रश्न—'मौनी' पद न बोलनेवालेका वाचक प्रसिद्ध है, अतः यहाँ उसका अर्थ मननशील क्यों किया गया ?

उत्तर—मनुष्य केवल वाणीसे ही नहीं बोलता, मनसे भी बोलता रहता है। विषयोंका अनवरत चिन्तन ही मनका निरन्तर बोलना है। भक्तका चित्त भगवान्‌में इतना संलग्न हो जाता है कि उसमें भगवान्‌के सिवा दूसरेकी स्मृति ही नहीं होती, वह सदा-सर्वदा भगवान्‌के ही मननमें लगा रहता है; यही वास्तविक मौन है। बोलना बंद कर दिया जाय और मनसे विषयोंका चिन्तन होता रहे—ऐसा मौन बाह्य मौन है। मनको निर्विषय करने तथा वाणीको

परिशुद्ध और संयत बनानेके उद्देश्यसे किया जानेवाला बाह्य मौन भी लाभदायक होता है। परन्तु यहाँ भगवान्‌के प्रिय भक्तके लक्षणोंका वर्णन है, उसकी वाणी तो स्वाभाविक ही परिशुद्ध और संयत है। इससे ऐसा नहीं कहा जा सकता कि उसमें केवल वाणीका ही मौन है। बल्कि उस भक्तकी वाणीसे तो प्रायः निरन्तर भगवान्‌के नाम और गुणोंका कीर्तन ही हुआ करता है, जिससे जगत्‌का परम उपकार होता है। इसके सिवा भगवान् अपनी भक्तिका प्रचार भी भक्तोंद्वारा ही कराया करते हैं। अतः वाणीसे मौन रहनेवाला भगवान्‌का प्रिय भक्त होता है और बोलनेवाला नहीं होता, ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती। १८वें अध्यायके ६८वें और ६९वें श्लोकोंमें भगवान्‌ने गीताके प्रचार करनेवालेको अपना सबसे प्रिय कार्य करनेवाला कहा है, यह महत्कार्य वाणीके मौनीसे नहीं हो सकता। इसके सिवा १७वें अध्यायके १६वें श्लोकमें मानसिक तपके लक्षणोंमें भी 'मौन' शब्द आया है। यदि भगवान्‌को 'मौन' शब्दका अर्थ वाणीका मौन अभीष्ट होता, तो वे उसे वाणीके तपके प्रसङ्गमें कहते; परन्तु ऐसा नहीं किया, इससे भी यही सिद्ध है कि मुनिभावका नाम ही मौन है; और यह मुनिभाव जिसमें होता है, वही मौनी या मननशील है। वाणीका मौन मनुष्य हठसे भी कर सकता है, इससे यह कोई विशेष महत्त्वकी बात भी नहीं है; इससे यहाँ 'मौन' शब्दका अर्थ वाणीका मौन न मानकर मनकी मननशीलता ही मानना उचित है। वाणीका संयम तो इसके अन्तर्गत आप ही आ जाता है।

प्रश्न—'येन केनचित् संतुष्टः'का यहाँ क्या अभिप्राय है? क्या भगवान्‌के भक्तको शरीरनिर्वाहके लिये किसी तरहकी चेष्टा नहीं करनी चाहिये—अपने-आप जो कुछ मिल जाय, उसीमें सन्तुष्ट रहना चाहिये?

उत्तर—जो भक्त अनन्यभावसे भगवान्‌के चिन्तनमें लगा रहता है, दूसरे किसी भावका जिसके चित्तमें स्फुरण ही नहीं होता—उसके द्वारा शरीर-निर्वाहके लिये किसी चेष्टाका न होना और उसके लौकिक योगक्षेमका भी भगवान्‌के द्वारा ही वहन किया जाना सर्वथा सिद्ध और सुसङ्गत ही है; परन्तु यहाँ 'येन केनचित् सन्तुष्टः' से निष्कामभावसे वर्णाश्रमानुकूल, शरीर-निर्वाहके उपयुक्त न्यायसङ्गत चेष्टा करनेका निषेध नहीं है। ऐसी चेष्टा करनेपर प्रारब्धके अनुसार जो कुछ भी प्राप्त हो जाता है, भक्त उसीमें सन्तुष्ट रहता है। 'येन केनचित् सन्तुष्टः' का यही भाव है। वस्तुतः भगवान्‌के भक्तका सांसारिक वस्तुओंके प्राप्त होने और नष्ट हो जानेसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता। वह तो अपने परम इष्ट भगवान्‌को पाकर सदा ही सन्तुष्ट रहता है। अतः यहाँ 'येन केनचित् सन्तुष्टः' का यही अभिप्राय मालूम होता है कि बाहरी वस्तुओंके आने-जानेसे उसकी तुष्टिमें किसी प्रकारका अन्तर नहीं पड़ता। प्रारब्धानुसार सुख-दुःखादिके हेतुभूत जो कुछ भी पदार्थ उसे प्राप्त होते हैं, वह उन्हींमें सन्तुष्ट रहता है।

प्रश्न—'अनिकेतः' पदका क्या अर्थ मानना चाहिये?

उत्तर—जिसके अपना घर न हो, उसको 'अनिकेत' कहते हैं। भगवान्‌के जो संन्यासी भक्त गृहस्थ-आश्रमका स्वरूपसे त्याग कर चुके हैं, वे तो 'अनिकेत' हैं ही; परन्तु यहाँ केवल उन्हींके लिये यह शब्द नहीं आया है। यहाँ तो यह उन सभी भक्तोंके लिये है जो अपना सर्वस्व भगवान्‌के अर्पण करके सर्वथा अकिञ्चन बन चुके हैं; जिनके घर-द्वार, धन-ऐश्वर्य, विद्या-बुद्धि, सभी कुछ भगवान्‌के हो चुके हैं—फिर वे चाहे ब्रह्मचारी हों या गृहस्थ, अथवा वानप्रस्थ हों या संन्यासी। जैसे शरीरमें अहंता, ममता और आसक्ति न होनेपर शरीर रहते हुए भी ज्ञानीको विदेह कहा

जाता है—वैसे ही जिसकी घरमें ममता और आसक्ति नहीं है, वह घरमें रहते हुए ही बिना घरवाला —'अनिकेत' है।

प्रश्न—भक्तको 'स्थिरबुद्धि' कहनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—भक्तको भगवान्‌के प्रत्यक्ष दर्शन हो जानेके कारण उसके सम्पूर्ण संशय समूल नष्ट हो जाते हैं, भगवान्‌में उसका दृढ़ विश्वास हो जाता है। उसका निश्चय अटल और निश्चल होता है। अतः वह साधारण मनुष्योंकी भाँति काम, क्रोध, लोभ, मोह या भय आदि विकारोंके वशमें होकर धर्मसे या भगवान्‌के स्वरूपसे कभी विचलित नहीं होता। इसीलिये उसे स्थिरबुद्धि कहा गया है। 'स्थिरबुद्धि' शब्दका विशेष अभिप्राय समझनेके लिये दूसरे अध्यायके ५५वेंसे ७२वें श्लोकतककी व्याख्या देखनी चाहिये।

प्रश्न—१३वें श्लोकसे १९वेंतक सात श्लोकोंमें भगवान्‌ने अपने प्रिय भक्तोंका लक्षण बतलाते हुए 'जो मेरा भक्त है, वह मुझे प्रिय है', 'जो ऐसा भक्तिमान् पुरुष है, वह मुझे प्रिय है', 'ऐसा पुरुष मुझे प्रिय है'—इस प्रकार पृथक्-पृथक् पाँच बार कहा है, इसका क्या भाव है?

उत्तर—उपर्युक्त सभी लक्षण भगवद्भक्तोंके हैं और सभी शास्त्रानुकूल और श्रेष्ठ हैं, परन्तु स्वभावके भेदसे भक्तोंके भी गुण और आचरणोंमें थोड़ा-बहुत अन्तर रह जाना स्वाभाविक है। सबमें सभी लक्षण एक-से नहीं मिलते। इतना अवश्य है कि समता और शान्ति सभीमें होती हैं तथा राग-द्वेष और सुख-दुःख आदि विकार किसीमें भी नहीं रहते। इसीलिये इन श्लोकोंमें पुनरुक्ति पायी जाती है। विचार कर देखिये तो इन पाँचों विभागोंमें कहीं भावसे और कहीं शब्दोंसे राग-द्वेष और सुख-दुःखका अभाव सभीमें मिलता है। पहले विभागमें 'अद्वेष्टा' से द्वेषका, 'निर्ममः' से रागका, और 'समदुःखसुखः' से सुख-दुःखका अभाव बतलाया गया है। दूसरेमें हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेगका अभाव बतलाया है; इससे राग-द्वेष और सुख-दुःखका अभाव अपने-आप सिद्ध हो जाता है। तीसरेमें 'अनपेक्षः' से रागका, 'उदासीनः' से द्वेषका, और 'गतव्यथः' से सुख-दुःखका अभाव बतलाया है। चौथेमें 'न काङ्क्षति' से रागका, 'न द्वेष्टि' से द्वेषका, और 'न हृष्यति' तथा 'न शोचति' से सुख-दुःखका अभाव बतलाया है। इसी प्रकार पाँचवें विभागमें 'सङ्गविवर्जितः' तथा 'सन्तुष्टः' से राग-द्वेषका और 'शीतोष्णसुखदुःखेषु समः' से सुख-दुःखका अभाव दिखलाया है। 'सन्तुष्टः' पद भी इस प्रकरणमें दो बार आया है। इससे सिद्ध है कि राग-द्वेष तथा सुख-दुःखादि विकारोंका अभाव और समता तथा शान्ति तो सभीमें आवश्यक हैं। अन्यान्य लक्षणोंमें स्वभावभेदसे कुछ भेद भी रह सकता है। इसी भेदके कारण भगवान्‌ने भिन्न-भिन्न श्रेणियोंमें विभक्त करके भक्तोंके लक्षणोंको यहाँ पाँच बार पृथक्-पृथक् बतलाया है; इनमेंसे किसी एक विभागके अनुसार भी सब लक्षण जिसमें पूर्ण हों, वही भगवान्‌का प्रिय भक्त है।

प्रश्न—ये लक्षण सिद्ध पुरुषके ही हैं, साधकके क्यों नहीं?

उत्तर—विचार करनेपर ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ ये लक्षण साधकके नहीं, प्रत्युत भक्तियोगके द्वारा भगवान्‌को प्राप्त हुए सिद्ध पुरुषके ही हैं; क्योंकि प्रथम तो भगवत्प्राप्तिके उपाय और फल बतलानेके बाद इन लक्षणोंका वर्णन आया है। इसके अतिरिक्त चौदहवें अध्यायके २२वेंसे २५वें श्लोकतक भगवान्‌ने गुणातीत तत्त्वदर्शी महात्माके जो लक्षण बतलाये हैं, उनसे ये मिलते-जुलते-से हैं; अतः वे साधकके लक्षण नहीं हो सकते।

प्रश्न—इन सबको 'भक्तियोगके द्वारा भगवान्‌को प्राप्त हुए पुरुषके लक्षण' बतलानेमें क्या हेतु है?

उत्तर—इस अध्यायमें भक्तियोगका वर्णन है, इसीसे इसका नाम भी 'भक्तियोग' रक्खा गया है। अर्जुनका प्रश्न और भगवान्‌का उत्तर भी उपासनाविषयक ही है, तथा भगवान्‌ने 'यो मद्भक्तः स मे प्रियः', 'भक्तिमान् यः स मे प्रियः' इत्यादि वाक्योंकी आवृत्ति भी इसीलिये की है। अतः यहाँ यही समझना चाहिये कि जिन लोगोंने भक्तिमार्ग-द्वारा परम सिद्धि प्राप्त की है, ये सब उन्हींके लक्षण हैं।

प्रश्न—कर्मयोग, भक्तियोग अथवा ज्ञानयोग आदि किसी भी मार्गसे परम सिद्धिको प्राप्त कर लेनेके पश्चात् भी क्या उन सिद्ध पुरुषोंमें कोई अन्तर रहता है ?

उत्तर—उनकी वास्तविक स्थितिमें या प्राप्त किये हुए परम तत्त्वमें तो कोई अन्तर नहीं रहता; किन्तु स्वभावकी भिन्नताके कारण आचरणोंमें कुछ भेद रह सकता है। 'सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि' (३ । ३३) इस कथनसे भी यही सिद्ध होता है कि सब ज्ञानवानोंके आचरण और स्वभावोंमें ज्ञानोत्तरकालमें भी भेद रहता है।

अहंता, ममता और राग-द्वेष, हर्ष-शोक, काम-क्रोध आदि अज्ञानजनित विकारोंका अभाव तथा समता और परम शान्ति—ये लक्षण तो सभीमें समानभावसे पाये जाते हैं; किन्तु मैत्री और करुणा, ये भक्तिमार्गसे भगवान्‌को प्राप्त हुए महापुरुषमें विशेषरूपसे रहते हैं। संसार, शरीर और कर्मोंमें उदासीनता—यह ज्ञानमार्गसे परम पदको प्राप्त महात्माओंमें विशेषरूपसे रहती है। इसी प्रकार मन और इन्द्रियोंको संयममें रखते हुए अनासक्तभावसे कर्मोंमें तत्पर रहना, यह लक्षण विशेषरूपसे कर्मयोगके द्वारा भगवान्‌को प्राप्त हुए पुरुषोंमें रहता है।

दूसरे अध्यायके पचपनवेंसे बहत्तरवें श्लोकतक कितने ही श्लोकोंमें कर्मयोगके द्वारा भगवान्‌को प्राप्त हुए पुरुषोंके तथा चौदहवें अध्यायके बाईसवेंसे पचीसवें श्लोकतक ज्ञानयोगके द्वारा परमात्माको प्राप्त हुए गुणातीत पुरुषके लक्षण बतलाये गये हैं। और यहाँ तेरहवेंसे उन्नीसवें श्लोकतक भक्तियोगके द्वारा भगवान्‌को प्राप्त हुए पुरुषके लक्षण हैं।

सम्बन्ध—परमात्माको प्राप्त हुए सिद्ध भक्तोंके लक्षण बतलाकर अब उन लक्षणोंको आदर्श मानकर बड़े प्रयत्नके साथ उनका भलीभाँति सेवन करनेवाले, परम श्रद्धालु, शरणागत भक्तोंकी प्रशंसा करनेके लिये, उनको अपना अत्यन्त प्रिय बतलाकर भगवान् इस अध्यायके पहले श्लोकमें किये हुए अर्जुनके प्रश्नके उत्तरका उपसंहार करते हैं—

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥२०॥

परन्तु जो श्रद्धायुक्त पुरुष मेरे परायण होकर इस ऊपर कहे हुए धर्ममय अमृतको निष्काम प्रेम-भावसे सेवन करते हैं, वे भक्त मुझको अतिशय प्रिय हैं ॥ २० ॥

प्रश्न—यहाँ 'तु' पदके प्रयोगका क्या उद्देश्य है ?

उत्तर—१३वेंसे लेकर १९वें श्लोकतक भगवान्‌को प्राप्त सिद्ध भक्तोंके लक्षणोंका वर्णन है और इस श्लोकमें उन उत्तम साधक भक्तोंकी प्रशंसा की गयी है, जो इन सिद्धोंसे भिन्न हैं; और सिद्ध भक्तोंके इन लक्षणोंको आदर्श मानकर उनका सेवन करते हैं। यही भेद दिखलानेके लिये 'तु' पदका प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—श्रद्धायुक्त भगवत्परायण पुरुष किसे कहते हैं ?

उत्तर—सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान् भगवान्के अवतारोंमें, वचनोंमें एवं उनके गुण, प्रभाव, ऐश्वर्य और चरित्रादिमें जो प्रत्यक्षके सदृश सम्मानपूर्वक विश्वास रखता हो—वह श्रद्धावान् है । परम प्रेमी और परम दयालु भगवान्को ही परम गति, परम आश्रय एवं अपने प्राणोंके आधार, सर्वस्व मानकर उनके किये हुए विधानमें प्रसन्न रहनेवालेको भगवत्परायण पुरुष कहते हैं ।

प्रश्न—उपर्युक्त सात श्लोकोंमें वर्णित भगवद्भक्तोंके लक्षणोंको यहाँ धर्ममय अमृतके नामसे कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—भगवद्भक्तोंके उपर्युक्त लक्षण ही वस्तुतः मानवधर्मका सच्चा स्वरूप है । इन्हींके पालनमें मनुष्यजन्मकी सार्थकता है, क्योंकि इनके पालनसे साधक सदाके लिये मृत्युके पंजेसे छूट जाता है और उसे अमृतस्वरूप भगवान्की प्राप्ति हो जाती है । इसी भावको स्पष्ट समझानेके लिये यहाँ इस लक्षण-समुदायका नाम 'धर्ममय अमृत' रक्खा गया है ।

प्रश्न—यहाँ 'पर्युपासते' का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—भलीभाँति तत्पर होकर निष्काम प्रेमभावसे इन उपर्युक्त लक्षणोंका श्रद्धापूर्वक सदा-सर्वदा सेवन करना, यही 'पर्युपासते' का अभिप्राय है !

प्रश्न—पहले सात श्लोकोंमें भगवत्प्राप्त सिद्ध भक्तोंके लक्षणोंका वर्णन करते हुए उनको तो भगवान्ने अपना 'प्रिय भक्त' बतलाया और इस श्लोकमें जो सिद्ध नहीं हैं, परन्तु इन लक्षणोंकी उपासना करनेवाले साधक भक्त हैं—उनको 'अतिशय प्रिय' कहा, इसमें क्या रहस्य है ?

उत्तर—जिन सिद्ध भक्तोंको भगवान्की प्राप्ति हो चुकी है, उनमें तो उपर्युक्त लक्षण स्वाभाविक ही रहते हैं और भगवान्के साथ उनका नित्य तादात्म्य-सम्बन्ध हो जाता है । इसलिये उनमें इन गुणोंका होना कोई बहुत बड़ी बात नहीं है । परन्तु जिन एकनिष्ठ साधक भक्तोंको भगवान्के प्रत्यक्ष दर्शन नहीं हुए हैं, तो भी वे भगवान्पर विश्वास करके परम श्रद्धाके साथ तन, मन, धन, सर्वस्व भगवान्के अर्पण करके उन्हींके परायण हो जाते हैं तथा भगवान्के दर्शनोंके लिये निरन्तर उन्हींका निष्कामभावसे प्रेमपूर्वक चिन्तन करते रहते हैं और सतत चेष्टा करके उपर्युक्त लक्षणोंके अनुसार ही अपना जीवन बिताना चाहते हैं—बिना प्रत्यक्ष दर्शन हुए भी केवल विश्वासपर उनका इतना निर्भर हो जाना विशेष महत्त्वकी बात है । इसीलिये भगवान्को वे विशेष प्रिय होते हैं । ऐसे प्रेमी भक्तोंको भगवान् अपना नित्य सङ्ग प्रदान करके जबतक सन्तुष्ट नहीं कर देते, तबतक वे उनके ऋणी ही बने रहते हैं—ऐसी भगवान्की मान्यता है; अतएव भगवान्का उन्हें सिद्ध भक्तोंकी अपेक्षा भी 'अतिशय प्रिय' कहना उचित ही है ।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥



ॐ श्रीपरमात्मने नमः

त्रयोदशोऽध्यायः

अध्यायका नाम

'क्षेत्र' (शरीर) और 'क्षेत्रज्ञ' (आत्मा) परस्पर अत्यन्त विलक्षण हैं । केवल अज्ञानसे ही इन दोनोंकी एकता-सी हो रही है । क्षेत्र जड, विकारी, क्षणिक और नाशवान् है; एवं क्षेत्रज्ञ चेतन, ज्ञानस्वरूप, निर्विकार, नित्य और अविनाशी है । इस अध्यायमें 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' दोनोंके स्वरूपका उपर्युक्त प्रकारसे विभाग किया गया है । इसलिये इसका नाम 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग' रक्खा गया है ।

अध्यायका संक्षेप

इस अध्यायके पहले श्लोकमें क्षेत्र (शरीर) और क्षेत्रज्ञ (आत्मा) का लक्षण बतलाया गया है, दूसरेमें परमात्माके साथ आत्माकी एकताका प्रतिपादन किया गया है । तीसरेमें विकार सहित क्षेत्रके स्वरूप और स्वभाव आदिका एवं प्रभावसहित क्षेत्रज्ञके स्वरूपका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा करके चौथे श्लोकमें ऋषि, वेद और ब्रह्मसूत्रका प्रमाण देते हुए पाँचवें और छठे श्लोकोंमें विकारोंसहित क्षेत्रका स्वरूप बतलाया गया है । सातवेंसे ग्यारहवें श्लोकतक तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिमें साधन होनेके कारण जिनका नाम 'ज्ञान' रक्खा गया है, ऐसे 'अमानित्व' आदि बीस सात्त्विक भावोंका वर्णन किया गया है । तदनन्तर बारहवेंसे सतरहवेंतक ज्ञानके द्वारा जाननेयोग्य परमात्माके स्वरूपका वर्णन करके अठारहवेंमें अबतकके प्रतिपादित विषयोंका स्पष्टीकरण करते हुए इस प्रकरणके 'ज्ञान'का फल परमात्माके स्वरूपकी प्राप्ति बतलाया गया है । इसके बाद 'प्रकृति' और 'पुरुष'के नामसे प्रकरण आरम्भ करके उन्नीसवेंसे बाईसवें श्लोकतक 'क्षेत्रज्ञ'के स्वरूप और तत्त्वका एवं प्रकृतिके स्वरूप और कार्यका वर्णन किया गया है । तेईसवें श्लोकमें गुणोंके सहित प्रकृतिको और पुरुषको जाननेका फल बतलाकर चौबीसवें और पचीसवेंमें परमात्म-साक्षात्कारके विभिन्न उपायोंका वर्णन किया गया है । छब्बीसवेंमें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके संयोगसे समस्त चराचर प्राणियोंकी उत्पत्ति बतलाकर सत्ताईसवेंसे तीसवेंतक 'परमात्मा समभावसे स्थित, अविनाशी और अकर्त्ता हैं तथा जितने भी कर्म होते हैं सब प्रकृतिके द्वारा ही किये जाते हैं' इस प्रकार समझनेका महत्त्व और साथ ही उसका फल भी बतलाया गया है । इकतीसवेंसे तैंतीसवें श्लोकतक आत्माके प्रभावको समझाते हुए उसके अकर्त्तापनका और निर्लेपताका दृष्टान्तोंद्वारा निरूपण करके अन्तमें चौंतीसवें श्लोकमें क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके विभागको जाननेका फल परमात्माकी प्राप्ति बतलाया गया है ।

सम्बन्ध—बारहवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनने सगुण और निर्गुणके उपासकोंकी श्रेष्ठताके विषयमें प्रश्न किया था, उसका उत्तर देते हुए भगवान्‌ने दूसरे श्लोकमें संक्षेपमें सगुण उपासकोंकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन करके तीसरेसे पाँचवें श्लोकतक निर्गुण उपासनाका स्वरूप, उसका फल और उसकी क्लिष्टताका निरूपण किया । तदनन्तर छठेसे बीसवें श्लोकतक सगुण उपासनाका महत्त्व, फल, प्रकार और भगवद्भक्तोंके लक्षणोंका वर्णन करते-करते

अध्यायकी समाप्ति हो गयी; निर्गुणका तत्त्व, महिमा और उसकी प्राप्तिके साधनोंको विस्तारपूर्वक नहीं समझाया गया। अतएव निर्गुण-निराकारका तत्त्व अर्थात् ज्ञानयोगका विषय भलीभाँति समझानेके लिये तेरहवें अध्यायका आरम्भ किया जाता है। इसमें पहले भगवान् क्षेत्र (शरीर) तथा क्षेत्रज्ञ (आत्मा) के लक्षण बतलाते हैं—

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥ १॥

श्रीभगवान् बोले--हे अर्जुन ! यह शरीर 'क्षेत्र' इस नामसे कहा जाता है; और इसको जो जानता है, उसको 'क्षेत्रज्ञ' इस नामसे उनके तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानीजन कहते हैं॥ १॥

प्रश्न—'शरीरम्'के साथ 'इदम्' पदके प्रयोगका क्या अभिप्राय है और शरीरको क्षेत्र क्यों कहते हैं ?

उत्तर—'शरीरम्' के साथ 'इदम्' पदका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया है कि यह आत्माके द्वारा देखा और जाना जाता है, इसलिये यह दृश्य है और द्रष्टारूप आत्मासे सर्वथा भिन्न है। तथा जैसे खेतमें बोये हुए बीजोंका उनके अनुरूप फल समयपर प्रकट होता है, वैसे ही इस शरीरमें बोये हुए कर्म-संस्काररूप बीजोंका फल भी समयपर प्रकट होता रहता है। इसलिये इसे 'क्षेत्र' कहते हैं। इसके अतिरिक्त इसका प्रतिक्षण क्षय होता रहता है, इसलिये भी इसे क्षेत्र कहते हैं और इसीलिये पंद्रहवें अध्यायमें इसको 'क्षर' पुरुष कहा गया है। इस क्षेत्रका स्वरूप इस अध्यायके ५वें श्लोकमें संक्षेपमें बतलाया गया है।

प्रश्न—इस (क्षेत्र) को जो जानता है, उसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे भगवान्ने अन्तरात्मा द्रष्टाका लक्ष्य करवाया है। मन, बुद्धि, इन्द्रिय, महाभूत और इन्द्रियोंके विषय आदि जितना भी ज्ञेय (जाननेमें आनेवाला) दृश्यवर्ग है—सब जड, विनाशी, परिवर्तनशील है। चेतन आत्मा उस जड दृश्यवर्गसे सर्वथा विलक्षण है। वह उसका ज्ञाता है, उसमें अनुस्यूत है और उसका अधिपति है। इसीलिये उसे 'क्षेत्रज्ञ' कहते हैं। इसी ज्ञाता चेतन आत्माको सातवें अध्यायमें 'परा प्रकृति' (७। ५), आठवेंमें 'अध्यात्म' (८। ३) और पंद्रहवें अध्यायमें 'अक्षर पुरुष' (१५। १६) कहा गया है। यह आत्मतत्त्व बड़ा ही गहन है; इसीसे भगवान्ने भिन्न-भिन्न प्रकरणोंके द्वारा कहीं स्त्रीवाचक, कहीं नपुंसकवाचक और कहीं पुरुषवाचक नामसे इसका वर्णन किया है। वास्तवमें आत्मा विकारोंसे सर्वथा रहित, अलिङ्ग, नित्य, निर्विकार एवं चेतन—ज्ञानस्वरूप है।

प्रश्न—'तद्विदः' का क्या भाव है ?

उत्तर—इस पदमें 'तत्' के द्वारा 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' दोनोंका ग्रहण होता है। उन दोनों (क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ) को जो यथार्थरूपमें भलीभाँति जानते हैं, वे 'तद्विदः' हैं। कहनेका अभिप्राय यह है कि तत्त्ववेत्ता महात्माजन यह बात कहते हैं, अतएव इसमें किसी भी शङ्काके लिये अवकाश नहीं है।

सम्बन्ध—इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके लक्षण बतलाकर अब क्षेत्रज्ञ और परमात्माकी एकता करते हुए ज्ञानके लक्षणका निरूपण करते हैं—

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥ २ ॥

हे अर्जुन ! तू सब क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीवात्मा भी मुझे ही जान । और क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका अर्थात् विकारसहित प्रकृतिका और पुरुषका जो तत्त्वसे जानना है, वह ज्ञान है । ऐसा मेरा मत है ॥ २ ॥

प्रश्न—सब क्षेत्रोंमें 'क्षेत्रज्ञ' (जीवात्मा) भी मुझे ही जान, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे 'आत्मा' और 'परमात्मा' की एकताका प्रतिपादन किया गया है । आत्मा और परमात्मामें वस्तुतः कुछ भी भेद नहीं है, प्रकृतिके संगसे भेद-सा प्रतीत होता है । इसीलिये दूसरे अध्यायके २४ वें और २५ वें श्लोकोंमें आत्माके स्वरूपका वर्णन करते हुए जिन शब्दोंका प्रयोग किया है, बारहवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें निर्गुण-निराकार परमात्माके लक्षणोंका वर्णन करते समय भी प्रायः उन्हीं शब्दोंका प्रयोग किया गया है । भगवान्‌के कथनका अभिप्राय यह है कि समस्त क्षेत्रोंमें जो चेतन आत्मा क्षेत्रज्ञ है, वह मेरा ही अंश (१५ । ७) होनेके कारण वस्तुतः मुझसे भिन्न नहीं है; मैं परमात्मा ही जीवात्माके रूपमें विभिन्न प्रकारसे प्रतीत होता हूँ—इस बातको तुम भलीभाँति समझ लो ।

प्रश्न—यदि यहाँ ऐसा अर्थ मान लिया जाय कि 'समस्त क्षेत्रोंमें यानी शरीरोंमें तुम क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा) को और मुझको भी स्थित जानो, तो क्या हानि है ?'

उत्तर—भक्तिप्रधान प्रकरण होता तो ऐसा अर्थ भी माना जा सकता था; किन्तु यहाँ प्रकरण ज्ञानप्रधान है, इस प्रकरणमें भक्तिका वर्णन ज्ञानके साधनके रूपमें आया है—इसलिये यहाँ भक्तिका स्थान गौण माना गया है । अतएव यहाँ अद्वैतपरक व्याख्या ही ठीक प्रतीत होती है ।

प्रश्न—'जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका ज्ञान है, वही ज्ञान है—ऐसा मेरा मत है' इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि 'क्षेत्र' उत्पत्ति-विनाश-धर्मवाला, जड, अनित्य, ज्ञेय (जाननेमें आनेवाला) और क्षणिक है; इसके विपरीत 'क्षेत्रज्ञ' (आत्मा) नित्य, चेतन, ज्ञाता, निर्विकार, शुद्ध और सदा एक-सा रहनेवाला है । अतएव दोनों परस्पर अत्यन्त विलक्षण हैं; अज्ञानसे ही दोनोंकी एकता-सी प्रतीत होती है—इस बातको तत्त्वसे समझ लेना ही वास्तविक ज्ञान है । यह मेरा मत है । इसमें किसी तरहका संशय या भ्रम नहीं है ।

सम्बन्ध—क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका पूर्ण ज्ञान हो जानेपर संसारभ्रमका नाश हो जाता है और परमात्माकी प्राप्ति होती है, अतएव 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' के स्वरूप आदिको भलीभाँति विभागपूर्वक समझानेके लिये भगवान् कहते हैं—

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥ ३ ॥

वह क्षेत्र जो और जैसा है तथा जिन विकारोंवाला है, और जिस कारणसे जो हुआ है; तथा वह क्षेत्रज्ञ भी जो और जिस प्रभाववाला है—वह सब संक्षेपमें मुझसे सुन ॥ ३ ॥

प्रश्न—'क्षेत्रम्' के साथ 'तत्' पदका क्या भाव है, तथा 'यत्' पदसे भगवान्‌ने क्षेत्रके विषयमें किस बातके स्पष्टीकरणका संकेत किया है और वह किस श्लोकमें किया है ?

उत्तर—'क्षेत्रम्'के साथ 'तत्' पदका यह भाव है कि जिस शरीररूप क्षेत्रके लक्षण पहले श्लोकमें बतलाये गये हैं, उसीका स्पष्टीकरण करनेकी बात इस श्लोकमें कही जाती है; तथा 'यत्' पदसे भगवान्‌ने क्षेत्रका स्वरूप बतलानेका संकेत किया है और इसी अध्यायके पाँचवें श्लोकमें उसे बतलाया गया है।

प्रश्न—'यादृक्' पदसे क्षेत्रके विषयमें क्या कहनेका संकेत किया गया है और वह कहाँ कहा गया है ?

उत्तर—'यादृक्' पदसे क्षेत्रका स्वभाव बतलानेका संकेत किया है और उसका वर्णन २६ वें और २७ वें श्लोकोंमें समस्त भूतोंको उत्पत्ति-विनाशशील बतलाकर किया है।

प्रश्न—'यद्विकारि' पदसे क्षेत्रके विषयमें क्या कहनेका संकेत किया है और उसे किस श्लोकमें कहा है ?

उत्तर—'यद्विकारि' पदसे क्षेत्रके विकारोंका वर्णन करनेका संकेत किया गया है और उनका वर्णन छठे श्लोकमें किया है।

प्रश्न—'यतः च यत्' इन पदोंसे क्षेत्रके विषयमें क्या कहनेका संकेत किया है और वह कहाँ कहा गया है ?

उत्तर—जिन पदार्थोंके समुदायका नाम 'क्षेत्र' है, उनमेंसे कौन पदार्थ किससे उत्पन्न हुआ है—यह बतलानेका संकेत 'यतः च यत्' पदोंसे किया है और उसका वर्णन १९ वें श्लोकके उत्तरार्द्ध तथा २०वेंके पूर्वार्द्धमें किया गया है।

प्रश्न—'सः' पद किसका वाचक है तथा 'यः' पदसे उसके विषयमें भगवान्‌ने क्या कहनेका संकेत किया है एवं कहाँ कहा गया है ?

उत्तर—'सः' पद 'क्षेत्रज्ञ'का वाचक है तथा 'यः' पदसे उसका स्वरूप बतलानेका संकेत किया गया है। और आगे चलकर उसके प्रकृतिस्थ एवं वास्तविक दोनों स्वरूपोंका वर्णन किया गया है—जैसे १९ वें श्लोकमें उसे 'अनादि', २०वेंमें 'सुख-दुःखोंका भोक्ता' एवं २१वेंमें 'अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म ग्रहण करनेवाला' बतलाकर तो प्रकृतिस्थ पुरुषका स्वरूप बतलाया गया है और २२ वें तथा २७वेंसे ३० वेंतक परमात्माके साथ एकता करके उसके वास्तविक स्वरूपका निरूपण किया गया है।

प्रश्न—'यत्प्रभावः' पदसे क्षेत्रज्ञके विषयमें क्या कहनेका संकेत किया गया है और वह किन श्लोकोंमें कहा गया है ?

उत्तर—'यत्प्रभावः' से क्षेत्रज्ञका प्रभाव बतलानेके लिये संकेत किया गया है और उसे ३१वेंसे ३३वें श्लोकतक बतलाया गया है।

सम्बन्ध—तीसरे श्लोकमें 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ'के जिस तत्त्वको संक्षेपमें सुननेके लिये भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है—अब उसके विषयमें ऋषि, वेद और ब्रह्मसूत्रकी उक्तिका प्रमाण देकर भगवान् ऋषि, वेद और ब्रह्मसूत्रको आदर देते हैं—

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः॥ ४॥

यह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका तत्त्व ऋषियोंद्वारा बहुत प्रकारसे कहा गया है और विविध वेद-मन्त्रोंद्वारा भी विभागपूर्वक कहा गया है, तथा भलीभाँति निश्चय किये हुए युक्तियुक्त ब्रह्मसूत्रके पदोंद्वारा भी कहा गया है ॥ ४ ॥

प्रश्न—'ऋषिभिः बहुधा गीतम्' इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इस कथनका यह भाव है कि मन्त्रोंके द्रष्टा एवं शास्त्र और स्मृतियोंके रचयिता ऋषिगणोंने 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' के स्वरूपको और उनसे सम्बन्ध रखनेवाली सभी बातोंको अपने-अपने ग्रन्थोंमें और पुराण-इतिहासोंमें बहुत प्रकारसे वर्णन करके विस्तारपूर्वक समझाया है; उन्हींका सार बहुत थोड़े शब्दोंमें भगवान् कहते हैं ।

प्रश्न—'विविधैः' विशेषणके सहित 'छन्दोभिः' पद किसका वाचक है, तथा इनके द्वारा (वह तत्त्व) पृथक् कहा गया है—इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'विविधैः' विशेषणके सहित 'छन्दोभिः' पद ऋक्, यजुः,साम और अथर्व—इन चारों वेदोंके 'संहिता' और 'ब्राह्मण' दोनों ही भागोंका वाचक है; समस्त उपनिषद् और भिन्न-भिन्न शाखाओंको भी इसीके अन्तर्गत समझ लेना चाहिये । इन सबके द्वारा (वह तत्त्व) पृथक् कहा गया है, इस कथनका यह अभिप्राय है कि जो सिद्धान्त क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके विषयमें भगवान् यहाँ संक्षेपसे प्रकट कर रहे हैं, उसीका विस्तारसहित विभागपूर्वक वर्णन उनमें जगह-जगह अनेकों प्रकारसे किया गया है ।

प्रश्न—'विनिश्चितैः' और 'हेतुमद्भिः' विशेषणोंके सहित 'ब्रह्मसूत्रपदैः' पद किन पदोंका वाचक है और इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जो पद भलीभाँति निश्चय किये हुए हों और सर्वथा असन्दिग्ध हों, उनको 'विनिश्चित' कहते हैं; तथा जो पद युक्तियुक्त हों, अर्थात् जिनमें विभिन्न युक्तियोंके द्वारा सिद्धान्तका निर्णय किया गया हो—उनको 'हेतुमत्' कहते हैं । अतः इन दोनों विशेषणोंके सहित यहाँ 'ब्रह्मसूत्रपदैः' पद 'वेदान्तदर्शन' के जो 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' आदि सूत्ररूप पद हैं, उन्हींका वाचक प्रतीत होता है; क्योंकि उपर्युक्त सब लक्षण उनमें ठीक-ठीक मिलते हैं । यहाँ इस कथनका यह भाव है कि श्रुति-स्मृति आदिमें वर्णित जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका तत्त्व ब्रह्मसूत्रके पदोंद्वारा युक्तिपूर्वक समझाया गया है, उसका निचोड़ भी भगवान् यहाँ संक्षेपमें कह रहे हैं ।

सम्बन्ध—इस प्रकार ऋषि, वेद और ब्रह्मसूत्रका प्रमाण देकर अब भगवान् तीसरे श्लोकमें 'यत्' पदसे कहे हुए 'क्षेत्र' का और 'यद्विकारि' पदसे कहे हुए उसके विकारोंका अगले दो श्लोकोंमें वर्णन करते हैं—

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥ ५ ॥*

* इसीसे मिलता-जुलता वर्णन सांख्यकारिका और योगदर्शनमें भी आता है । जैसे—

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥ (सां० का० ३)

पाँच महाभूत, अहङ्कार, बुद्धि और मूल प्रकृति अर्थात् त्रिगुणमयी माया भी; तथा दस इन्द्रियाँ, एक मन और पाँच इन्द्रियोंके विषय अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—॥ ५ ॥

प्रश्न—'महाभूतानि' पद किसका वाचक है ?

उत्तर—स्थूल भूतोंके और शब्दादि विषयोंके कारणरूप जो पञ्चतन्मात्राएँ यानी सूक्ष्म पञ्चमहाभूत हैं—सातवें अध्यायमें जिनका 'भूमिः', 'आपः', 'अनलः', 'वायुः' और 'खम्'के नामसे वर्णन हुआ है—उन्हीं पाँचोंका वाचक यहाँ 'महाभूतानि' पद है ।

प्रश्न—'अहंकारः' पद किसका वाचक है ?

उत्तर—यह अन्तःकरणका एक भेद है । अहङ्कार ही पञ्चतन्मात्राओं, मन और समस्त इन्द्रियोंका कारण है तथा महत्तत्त्वका कार्य है; इसीको 'अहंभाव' भी कहते हैं । यहाँ 'अहङ्कारः' पद उसीका वाचक है ।

प्रश्न—'बुद्धिः' पद यहाँ किसका वाचक है ?

उत्तर—जिसे 'महत्तत्त्व' (महान्) और 'समष्टि बुद्धि' भी कहते हैं, जो समष्टि अन्तःकरणका एक भेद है, निश्चय ही जिसका स्वरूप है—उसका वाचक यहाँ 'बुद्धिः' पद है ।

प्रश्न—'अव्यक्तम्' पद किसका वाचक है ?

उत्तर—जो महत्तत्त्व आदि समस्त पदार्थोंकी कारण-रूपा मूल प्रकृति है, सांख्यशास्त्रमें जिसको 'प्रधान' कहते हैं, भगवान्ने चौदहवें अध्यायमें जिसको 'महद् ब्रह्म' कहा है तथा इस अध्यायके १९वें श्लोकमें जिसको 'प्रकृति' नाम दिया गया है—उसका वाचक यहाँ 'अव्यक्तम्' पद है ।

प्रश्न—दस इन्द्रियाँ कौन-कौन-सी हैं ?

उत्तर—वाक् (जीभ), पाणि (हाथ), पाद (पैर), उपस्थ और गुदा—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं तथा श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना और घ्राण—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं । ये सब मिलकर दस इन्द्रियाँ हैं ।

प्रश्न—'एकम्' पद किसका वाचक है ?

उत्तर—अन्तःकरणकी जो मनन करनेवाली शक्ति-विशेष है और सङ्कल्प-विकल्प ही जिसका स्वरूप है—उस मनका वाचक यहाँ 'एकम्' पद है; यह भी अहङ्कारका कार्य है ।

प्रश्न—'पञ्च इन्द्रियगोचराः' इन पदोंका क्या अर्थ है ?

उत्तर—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—जो कि पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंके स्थूल विषय हैं, उन्हींका वाचक यहाँ 'पञ्च इन्द्रियगोचराः' पद है ।

अर्थात् एक मूल प्रकृति है, वह किसीकी विकृति (विकार) नहीं है । महत्तत्त्व, अहङ्कार और पञ्चतन्मात्राएँ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धतन्मात्रा)—ये सात प्रकृति-विकृति हैं, अर्थात् ये सातों पञ्चभूतादिके कारण होनेसे 'प्रकृति' भी हैं और मूल प्रकृतिके कार्य होनेसे 'विकृति' भी हैं । पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय और मन—ये ग्यारह इन्द्रिय और पञ्चमहाभूत—ये सोलह केवल विकृति (विकार) हैं, वे किसीकी प्रकृति अर्थात् कारण नहीं हैं । इनमें ग्यारह इन्द्रिय तो अहङ्कारके तथा पञ्च स्थूल महाभूत पञ्चतन्मात्राओंके कार्य हैं; किन्तु पुरुष न किसीका कारण है और न किसीका कार्य है, वह सर्वथा असङ्ग है ।

योगदर्शनमें कहा है—'विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि ।' (यो० सू० २ । १९) विशेष यानी पञ्च-ज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय, एक मन और पञ्च स्थूल भूत; अविशेष यानी अहंकार और पञ्चतन्मात्राएँ; लिङ्गमात्र यानी महत्तत्त्व और अलिङ्ग यानी मूल प्रकृति—ये २४ तत्त्व गुणोंकी अवस्थाविशेष हैं, इन्हींको 'दृश्य' कहते हैं ।

योगदर्शनमें जिसको 'दृश्य' कहा है, उसीको गीतामें 'क्षेत्र' कहा गया है ।

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं सङ्घातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ६ ॥

तथा इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, स्थूल देहका पिण्ड, चेतना और धृति—इस प्रकार विकारोंके सहित यह क्षेत्र संक्षेपमें कहा गया ॥ ६ ॥

प्रश्न—'इच्छा' पद किसका वाचक है ?

उत्तर—जिन पदार्थोंको मनुष्य सुखके हेतु समझता है, उनको प्राप्त करनेकी जो आसक्तियुक्त कामना है—जिसके वासना, तृष्णा, आशा, लालसा और स्पृहा आदि अनेकों भेद हैं—उसीका वाचक यहाँ 'इच्छा' पद है। यह अन्तःकरणका विकार है, इसलिये क्षेत्रके विकारोंमें इसकी गणना की गयी है।

प्रश्न—'द्वेष' किसे कहते हैं ?

उत्तर—जिन पदार्थोंको मनुष्य दुःखमें हेतु या सुखमें बाधक समझता है, उनमें जो विरोध-बुद्धि होती है—उसका नाम द्वेष है। इसके स्थूल रूप वैर, ईर्ष्या, घृणा और क्रोध आदि हैं। यह भी अन्तःकरणका विकार है, अतः इसकी गणना भी क्षेत्रके विकारोंमें की गयी है।

प्रश्न—'सुख' क्या वस्तु है ?

उत्तर—अनुकूलकी प्राप्ति और प्रतिकूलकी निवृत्तिसे अन्तःकरणमें जो प्रसन्नताकी वृत्ति होती है, उसका नाम सुख है। अन्तःकरणका विकार होनेके कारण इसकी गणना भी क्षेत्रके विकारोंमें की गयी है।

प्रश्न—'दुःखम्' पद किसका वाचक है ?

उत्तर—प्रतिकूलकी प्राप्ति और अनुकूलके विनाशसे जो अन्तःकरणमें व्याकुलता होती है, जिसे व्यथा भी कहते हैं—उसका वाचक यहाँ 'दुःखम्' पद है। यह भी अन्तःकरणका विकार है, इसलिये इसकी गणना भी क्षेत्रके विकारोंमें की गयी है।

प्रश्न—'सङ्घातः' पदका क्या अर्थ है ?

उत्तर—पञ्चभूतोंसे बना हुआ जो यह स्थूल शरीरका पिण्ड है, मृत्यु होनेके बाद सूक्ष्म शरीरके निकल जानेपर भी जो सबके सामने पड़ा रहता है—उस स्थूल शरीरका नाम सङ्घात है। उपर्युक्त पञ्चभूतोंका विकार होनेके कारण इसकी गणना भी क्षेत्रके विकारोंमें की गयी है।

प्रश्न—'चेतना' पद किसका वाचक है ?

उत्तर—शरीरोंमें जो जीवन-शक्ति है, जिसके कारण वे निर्जीव जड पदार्थोंसे विलक्षण प्रतीत होते हैं, जिसे प्राणशक्ति भी कहते हैं, सातवें अध्यायके ९वें श्लोकमें जिसको 'जीवन' और दसवें अध्यायके २२ वें श्लोकमें 'चेतना' कहा गया है—उसीका वाचक यहाँ 'चेतना' पद है। यह भी तन्मात्राओंका विकार है, अतएव इसकी भी गणना क्षेत्रके विकारोंमें की गयी है।

प्रश्न—'धृतिः' पद किसका वाचक है ?

उत्तर—अठारहवें अध्यायके ३३वें, ३४वें और ३५वें श्लोकोंमें जिस धारण-शक्तिके सात्त्विक, राजस और तामस—तीन भेद किये गये हैं, जिसके सात्त्विक अंशको १६ वें अध्यायके तीसरे श्लोकमें दैवी सम्पदाके अन्तर्गत 'धृति' के नामसे गिनाया गया है—उसीका वाचक यहाँ 'धृतिः' पद है। अन्तःकरणका विकार होनेसे इसकी गणना भी क्षेत्रके विकारोंमें की गयी है।

प्रश्न—यह विकारोंके सहित क्षेत्र संक्षेपसे कहा गया—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इस कथनका यह भाव है कि यहाँतक

विकारोंसहित क्षेत्रका संक्षेपसे वर्णन हो गया, अर्थात् ५वें श्लोकमें क्षेत्रका स्वरूप संक्षेपमें बतला दिया गया और ६ठेमें उसके विकारोंका वर्णन संक्षेपमें कर दिया गया।

सम्बन्ध—इस प्रकार क्षेत्रके स्वरूप और उसके विकारोंका वर्णन करनेके बाद अब जो दूसरे श्लोकमें यह बात कही थी कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका जो ज्ञान है, वही मेरे मतसे ज्ञान है—उस ज्ञानको प्राप्त करनेके साधनोंका 'ज्ञान' के ही नामसे पाँच श्लोकोंद्वारा वर्णन करते हैं—

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः॥ ७॥

श्रेष्ठताके अभिमानका अभाव, दम्भाचरणका अभाव, किसी भी प्राणीको किसी प्रकार भी न सताना, क्षमाभाव, मन-वाणी आदिकी सरलता, श्रद्धा-भक्तिसहित गुरुकी सेवा, बाहर-भीतरकी शुद्धि, अन्तःकरणकी स्थिरता और मन-इन्द्रियोंसहित शरीरका निग्रह;॥ ७॥

प्रश्न—'अमानित्वम्' का क्या अभिप्राय है?

उत्तर—अपनेको श्रेष्ठ, सम्मान्य, पूज्य या बहुत बड़ा समझना एवं मान-बड़ाई, प्रतिष्ठा-पूजा आदिकी इच्छा करना; अथवा बिना ही इच्छा किये इन सबके प्राप्त होनेपर प्रसन्न होना—यह मानित्व है। इन सबका न होना ही 'अमानित्व' है। जिसमें 'अमानित्व' भाव पूर्णरूपसे आ जाता है—उसका मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और पूजा आदिकी प्राप्तिमें प्रसन्न होना तो दूर रहा; उलटी उसकी इन सबसे विरक्ति और उपरति हो जाती है।

प्रश्न—'अदम्भित्वम्' का क्या अभिप्राय है?

उत्तर—मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और पूजाके लिये, धनादिके लोभसे या किसीको ठगने आदिके अभिप्रायसे अपनेको धर्मात्मा, दानशील, भगवद्भक्त, ज्ञानी या महात्मा विख्यात करना और बिना ही हुए धर्मपालन, उदारता, दातापन, भक्ति, योग-साधना, व्रत-उपवासादिका अथवा अन्य किसी भी प्रकारके गुणका ढोंग करना—दम्भित्व है। इसके सर्वथा अभावका नाम 'अदम्भित्व' है। जिस साधकमें 'अदम्भित्व'का भाव पूर्णरूपसे आ जाता है, वह बड़ाईकी जरा भी इच्छा न रहनेके कारण अपने सच्चे धार्मिक भावोंको, सद्गुणोंको अथवा भक्तिके आचरणोंको भी दूसरोंके सामने प्रकट करनेमें सङ्कोच करता है—फिर बिना हुए गुणोंको अपनेमें दिखलानेकी तो बात ही क्या है?

प्रश्न—'अहिंसा' का क्या अभिप्राय है?

उत्तर—किसी भी प्राणीको मन, वाणी या शरीरसे किसी प्रकार भी कभी कष्ट देना—मनसे किसीका बुरा चाहना; वाणीसे किसीको गाली देना, कठोर वचन कहना, किसीकी निन्दा करना या अन्य किसी प्रकारके दुःखदायक और अहितकारक वचन कह देना; शरीरसे किसीको मारना, कष्ट पहुँचाना या किसी प्रकारसे भी हानि पहुँचाना आदि जो हिंसाके भाव हैं—इन सबके सर्वथा अभावका नाम 'अहिंसा' है। जिस साधकमें 'अहिंसा'का भाव पूर्णतया आ जाता है, उसका किसीमें भी वैरभाव या द्वेष नहीं रहता; इसलिये न तो

किसी भी प्राणीका उसके द्वारा कभी अहित ही होता है, न उसके द्वारा किसीको परिणाममें दुःख होता है और न वह किसीके लिये वस्तुतः भयदायक ही होता है। महर्षि पतञ्जलिने तो यहाँतक कहा है कि उसके पास रहनेवाले हिंसक प्राणियोंतकमें परस्परका स्वाभाविक वैरभाव भी नहीं रहता।*

प्रश्न—'क्षान्तिः' का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'क्षान्ति' क्षमाभावको कहते हैं। अपना अपराध करनेवालेके लिये किसी प्रकार भी दण्ड देनेका भाव मनमें न रखना, उससे बदल लेनेकी अथवा अपराधके बदले उसे इस लोक या परलोकमें दण्ड मिले—ऐसी इच्छा न रखना और उसके अपराधोंको वस्तुतः अपराध ही न मानकर उन्हें सर्वथा भुला देना 'क्षमाभाव' है। दसवें अध्यायके चौथे श्लोकमें इसकी कुछ विस्तारसे व्याख्या की गयी है।

प्रश्न—'आर्जवम्' का क्या भाव है ?

उत्तर—मन, वाणी और शरीरकी सरलताका नाम 'आर्जव' है। जिस साधकमें यह भाव पूर्णरूपसे आ जाता है, वह सबके साथ सरलताका व्यवहार करता है; उसमें कुटिलताका सर्वथा अभाव हो जाता है। अर्थात् उसके व्यवहारमें दाव-पेंच, कपट या टेढ़ापन जरा भी नहीं रहता; वह बाहर और भीतरसे सदा समान और सरल रहता है।

प्रश्न—'आचार्योपासनम्' का क्या भाव है ?

उत्तर—विद्या और सदुपदेश देनेवाले गुरुका नाम 'आचार्य' है। ऐसे गुरुके पास रहकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक मन, वाणी और शरीरके द्वारा सब प्रकारसे उनको सुख पहुँचानेकी चेष्टा करना, नमस्कार करना, उनकी आज्ञाओंका पालन करना और उनके अनुकूल आचरण करना आदि 'आचार्योपासन' यानी गुरु-सेवा है।

प्रश्न—'शौचम्' पदका क्या अर्थ है ?

उत्तर—'शौच' शुद्धिको कहते हैं। सत्यतापूर्वक शुद्ध व्यवहारसे द्रव्यकी शुद्धि होती है, उस द्रव्यसे उपार्जित अन्नसे आहारकी शुद्धि होती है। यथायोग्य शुद्ध बर्तावसे आचरणोंकी शुद्धि होती है और जल-मिट्टी आदिके द्वारा प्रक्षालनादि क्रियासे शरीरकी शुद्धि होती है। यह सब बाहरकी शुद्धि है। राग-द्वेष और छल-कपट आदि विकारोंका नाश होकर अन्तःकरणका स्वच्छ हो जाना भीतरकी शुद्धि है। दोनों ही प्रकारकी शुद्धियोंका नाम 'शौच' है।

प्रश्न—'स्थैर्य' का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—स्थिरभावको 'स्थैर्य' कहते हैं। अर्थात् बड़े-से-बड़े कष्ट, विपत्ति, भय या दुःखके आ पड़नेपर भी विचलित न होना; एवं काम, क्रोध, भय या लोभसे किसी प्रकार भी अपने धर्म और कर्तव्यसे जरा भी न डिगना; तथा मन और बुद्धिमें किसी तरहकी चञ्चलताका न रहना 'स्थैर्य' है।

प्रश्न—'आत्मविनिग्रहः' का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—यहाँ 'आत्मा' पद अन्तःकरण और इन्द्रियोंके सहित शरीरका वाचक है। अतः इन सबको भलीभाँति अपने वशमें कर लेना 'आत्मविनिग्रह' है। जिस साधकमें आत्मविनिग्रहका भाव पूर्णतया आ जाता है—उसके मन, बुद्धि और इन्द्रिय उसके आज्ञाकारी अनुचर हो जाते हैं; वे फिर उसको विषयोंमें नहीं फँसा सकते, निरन्तर उसके इच्छानुसार साधनमें ही लगे रहते हैं।

* 'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।' (योग० २।३५)

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८ ॥

इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण भोगोंमें आसक्तिका अभाव और अहङ्कारका भी अभाव; जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदिमें दुःख-दोषोंका बार-बार विचार करना; ॥ ८ ॥

प्रश्न—'इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम्' का क्या भाव है ?

उत्तर—इस लोक और परलोकके जितने भी शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धरूप विषय-पदार्थ हैं—अन्तःकरण और इन्द्रियोंद्वारा जिनका भोग किया जाता है और अज्ञानके कारण जिनको मनुष्य सुखके हेतु समझता है, किन्तु वास्तवमें जो दुःखके कारण हैं—उन सबमें प्रीतिका सर्वथा अभाव हो जाना 'इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम्' यानी इन्द्रियोंके विषयोंमें वैराग्य होना है ।

प्रश्न—'अनहङ्कार' किसको कहते हैं ?

उत्तर—मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीर—इन सबमें जो 'अहं' बुद्धि हो रही है—अर्थात् अज्ञानके कारण जो इन अनात्मवस्तुओंमें आत्मबुद्धि हो रही है—इस देहाभिमानका सर्वथा अभाव हो जाना 'अनहङ्कार' कहलाता है ।

प्रश्न—जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधिमें दुःख और दोषोंका बार-बार देखना क्या है ?

उत्तर—जन्मका कष्ट सहज नहीं है; पहले तो असहाय जीवको माताके गर्भमें लंबे समयतक भाँति-भाँतिके क्लेश होते हैं, फिर जन्मके समय योनिद्वारसे निकलनेमें असह्य यन्त्रणा भोगनी पड़ती है । नाना प्रकारकी योनियोंमें बार-बार जन्म ग्रहण करनेमें ये जन्म-दुःख होते हैं । मृत्युकालमें भी महान् कष्ट होता है । कहते हैं कि हजार बिच्छुओंके एक साथ डंक मारनेपर जैसी वेदना होती है, वैसी ही मृत्युकालमें होती है । जिस घरमें आजीवन ममता रही, उसे बलात्कारसे छोड़कर जाना पड़ता है । मरणसमयके निराश नेत्रोंको और शारीरिक पीड़ाको देखकर उस समयकी यन्त्रणाका बहुत कुछ अनुमान लगाया जा सकता है । बुढ़ापेकी यन्त्रणा भी कम नहीं होती; इन्द्रियाँ शिथिल और शक्तिहीन हो जाती हैं, शरीर जर्जर हो जाता है, मनमें नित्य लालसाकी तरंगें उछलती रहती हैं, असहाय अवस्था हो जाती है । ऐसी अवस्थामें जो कष्ट होता है, वह बड़ा ही भयानक होता है । इसी प्रकार बीमारीकी पीड़ा भी बड़ी दुःखदायिनी होती है । शरीर क्षीण हो गया, नाना प्रकारके असह्य कष्ट हो रहे हैं, दूसरोंकी अधीनता है । निरुपाय स्थिति है । यही सब जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधिके दुःख हैं; इन दुःखोंको बार-बार स्मरण करना और इनपर विचार करना ही इनमें दुःखोंको देखना है ।

जीवोंको ये जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि प्राप्त होते हैं—पापोंके परिणामस्वरूप; अतएव ये चारों ही दोषमय हैं । इसीका बार-बार विचार करना इनमें दोषोंको देखना है ।

यों तो एक चेतन आत्माको छोड़कर वस्तुतः संसारमें ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है, जिसमें ये चारों दोष न हों । जड मकान एक दिन बनता है, यह उसका जन्म हुआ; कहींसे टूट-फूट जाता है, यह व्याधि हुई; मरम्मत करायी, इलाज हुआ; पुराना हो जाता है, बुढ़ापा आ गया; अब मरम्मत नहीं हो सकती । फिर जीर्ण होकर गिर जाता है, मृत्यु हो गयी । छोटी-बड़ी सभी चीजोंकी यही अवस्था है । इस प्रकार जगत्‌की प्रत्येक वस्तुको ही जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधिमय देख-देखकर इनसे वैराग्य करना चाहिये ।

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९ ॥

पुत्र, स्त्री, घर और धन आदिमें आसक्तिका अभाव; ममताका न होना तथा प्रिय और अप्रियकी प्राप्तिमें सदा ही चित्तका सम रहना; ॥ ९ ॥

प्रश्न—८वें श्लोकमें जो इन्द्रियोंके अर्थोंमें वैराग्य कहा है—उसीके अन्तर्गत पुत्र, स्त्री, घर और धन आदिमें आसक्तिका अभाव आ ही जाता है; यहाँ उसी बातको फिरसे कहनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—स्त्री, पुत्र, गृह, शरीर और धन आदि पदार्थोंके साथ मनुष्यका विशेष सम्बन्ध होनेके कारण प्रायः इनमें उसकी विशेष आसक्ति होती है। इन्द्रियोंके शब्दादि साधारण विषयोंमें वैराग्य होनेपर भी इनमें गुप्तभावसे आसक्ति रह जाया करती है, इसीलिये इनमें आसक्तिका सर्वथा अभाव हो जानेकी बात विशेषरूपसे पृथक् कही गयी है।

प्रश्न—'अनभिष्वङ्ग' का अर्थ अहङ्कारका अभाव न लेकर ममताका अभाव क्यों लिया गया?

उत्तर—अहङ्कारके अभावकी बात पूर्व श्लोकके 'अनहङ्कारः' पदमें स्पष्टतः आ चुकी है। इसीलिये यहाँ 'अनभिष्वङ्ग' का अर्थ 'ममताका अभाव' किया गया है। विषयोंके साथ तादात्म्यभावका अभाव और गाढ़ ममत्वका अत्यन्त अभाव—दोनों एक-सा ही अर्थ रखते हैं; क्योंकि ममत्वकी अधिकता ही तादात्म्यभाव है। इसलिये इसका अर्थ ममताका अभाव ही ठीक मालूम होता है।

प्रश्न—इष्ट और अनिष्टकी उपपत्ति क्या है? और उसमें समचित्तता किसे कहते हैं?

उत्तर—अनुकूल पदार्थोंका संयोग और प्रतिकूलका वियोग सबको 'इष्ट' है। इसी प्रकार अनुकूलका वियोग और प्रतिकूलका संयोग 'अनिष्ट' है। इन 'इष्ट' और 'अनिष्ट' के साथ सम्बन्ध होनेपर हर्ष-शोकादिका न होना अर्थात् अनुकूलके संयोग और प्रतिकूलके वियोगसे चित्तमें हर्ष न होना; तथा प्रतिकूलके संयोग और अनुकूलके वियोगसे किसी प्रकारके शोक, भय और क्रोध आदिका न होना—सदा ही निर्विकार, एकरस, सम रहना—इसको 'इष्ट और अनिष्टकी उपपत्तिमें समचित्तता' कहते हैं।

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ १० ॥

मुझ परमेश्वरमें अनन्य योगके द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति तथा एकान्त और शुद्ध देशमें रहनेका स्वभाव और विषयासक्त मनुष्योंके समुदायमें प्रेमका न होना; ॥ १० ॥

प्रश्न—'अनन्य योग' क्या है और उसके द्वारा भगवान्‌में 'अव्यभिचारिणी भक्ति' करना किसे कहते हैं?

उत्तर—भगवान् ही सर्वश्रेष्ठ हैं और वे ही हमारे स्वामी, शरण ग्रहण करनेयोग्य, परम गति, परम आश्रय, माता-पिता, भाई-बन्धु, परम हितकारी, परम आत्मीय और सर्वस्व हैं; उनको छोड़कर हमारा अन्य कोई भी नहीं है—इस भावसे जो भगवान्‌के साथ अनन्य सम्बन्ध है, उसका नाम

'अनन्य योग' है। तथा इस प्रकारके सम्बन्धसे केवल भगवान्‌में ही अटल और पूर्ण विशुद्ध प्रेम करना ही अनन्य योगके द्वारा भगवान्‌में अव्यभिचारिणी भक्ति करना है। इस प्रकारकी भक्ति करनेवाले मनुष्यमें न तो स्वार्थ और अभिमानका लेश रहता है और न संसारकी किसी भी वस्तुमें उसका ममत्व ही रह जाता है। संसारके साथ उसका भगवान्‌के सम्बन्धसे ही सम्बन्ध रहता है, किसीसे भी किसी प्रकारका स्वतन्त्र सम्बन्ध नहीं रहता। वह सब कुछ भगवान्‌का ही समझता है तथा श्रद्धा और प्रेमके साथ निष्काम-भावसे निरन्तर भगवान्‌का ही चिन्तन करता रहता है। उसकी जो भी क्रिया होती है, सब भगवान्‌के लिये ही होती है।

प्रश्न—'विविक्तदेश' कैसे स्थानको समझना चाहिये, और उसका सेवन करना क्या है?

उत्तर—जहाँ किसी प्रकारका शोर-गुल या भीड़भाड़ न हो, जहाँ दूसरा कोई न रहता हो, जहाँ रहनेमें किसीको भी आपत्ति या क्षोभ न हो, जहाँ किसी प्रकारकी गंदगी न हो, जहाँ काँटे-कंकड़ और कूड़ा-कर्कट न हों, जहाँका प्राकृतिक दृश्य सुन्दर हो, जल, वायु और वातावरण निर्मल और पवित्र हों, किसी प्रकारकी बीमारी न हो, हिंसक प्राणियोंका और हिंसाका अभाव हो और जहाँ स्वाभाविक ही सात्त्विकताके परमाणु भरे हों—ऐसे देवालय, तपोभूमि, गङ्गा आदि पवित्र नदियोंके तट और पवित्र वन आदि एकान्त और शुद्ध देशको 'विविक्तदेश' कहते हैं; तथा ज्ञानको प्राप्त करनेकी साधनाके लिये ऐसे स्थानमें निवास करना ही उसका सेवन करना है।

प्रश्न—'जनसंसदि' किसको कहते हैं? और उसमें प्रेम न करना क्या है?

उत्तर—यहाँ 'जनसंसदि' पद 'प्रमादी' और 'विषयासक्त' सांसारिक मनुष्योंके समुदायका वाचक है। ऐसे लोगोंके सङ्गको साधनमें सब प्रकारसे बाधक समझकर उससे विरक्त रहना ही उनमें प्रेम नहीं करना है। संत, महात्मा और साधक पुरुषोंका सङ्ग तो साधनमें सहायक होता है; अतः उनके समुदायका वाचक यहाँ 'जनसंसदि' नहीं समझना चाहिये।

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा॥११॥

अध्यात्मज्ञानमें नित्य स्थिति और तत्त्वज्ञानके अर्थरूप परमात्माको ही देखना—यह सब ज्ञान है, और जो इससे विपरीत है, वह अज्ञान है ऐसा कहा है॥११॥

प्रश्न—'अध्यात्मज्ञान' किसको कहते हैं और उसमें नित्य स्थित रहना क्या है?

उत्तर—आत्मा नित्य, चेतन, निर्विकार और अविनाशी है; उससे भिन्न जो नाशवान्, जड, विकारी और परिवर्तनशील वस्तुएँ प्रतीत होती हैं—वे सब अनात्मा हैं, आत्माका उनसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है—शास्त्र और आचार्यके उपदेशसे इस प्रकार आत्म-अनात्मवस्तुको भलीभाँति समझकर आत्मासे सम्बन्ध रखनेवाली सब बातोंको भली प्रकार जान लेना 'अध्यात्मज्ञान' है और बुद्धिमें ठीक वैसा ही दृढ़ निश्चय करके मनसे उसका नित्य-निरन्तर मनन करते रहना 'अध्यात्मज्ञानमें नित्य स्थित रहना' है।

प्रश्न—तत्त्वज्ञानका अर्थ (विषय) क्या है और उसका दर्शन करना क्या है ?

उत्तर—तत्त्वज्ञानका अर्थ है—सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म परमात्मा; क्योंकि तत्त्वज्ञानसे उन्हींकी प्राप्ति होती है। उन सच्चिदानन्दघन गुणातीत परमात्माका सर्वत्र समभावसे नित्य-निरन्तर ध्यान करते रहना ही उस अर्थका दर्शन करना है।

प्रश्न—यह सब ज्ञान है—इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'अमानित्वम्' से लेकर 'तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्' तक जिनका वर्णन किया गया है, वे सभी ज्ञानप्राप्तिके साधन हैं; इसलिये उनका नाम भी 'ज्ञान' रक्खा गया है। अभिप्राय यह है कि दूसरे श्लोकमें भगवान्‌ने जो यह बात कही है कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका जो ज्ञान है, वही मेरे मतसे ज्ञान है—इस कथनसे कोई ऐसा न समझ ले कि शरीरका नाम 'क्षेत्र' है और इसके अंदर रहनेवाले ज्ञाता आत्माका नाम 'क्षेत्रज्ञ' है, यह बात हमने समझ ही ली; बस, हमें ज्ञान प्राप्त हो गया। किन्तु वास्तवमें सच्चा ज्ञान वही है जो उपर्युक्त साधनोंके द्वारा क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके स्वरूपको यथार्थरूपसे जान लेनेपर होता है। इसी बातको समझानेके लिये यहाँ इन साधनोंको 'ज्ञान' के नामसे कहा गया है। अतएव ज्ञानीमें उपर्युक्त गुणोंका समावेश पहलेसे ही होना आवश्यक है। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि ये सभी गुण सभी साधकोंमें एक ही समयमें हों। अवश्य ही, इनमें जो 'अमानित्व', 'अदम्भित्व' आदि बहुत-से सबके उपयोगी गुण हैं—वे तो सबमें रहते ही हैं। इनके अतिरिक्त, 'अव्यभिचारिणी भक्ति', 'एकान्तदेशसेवित्व', 'अध्यात्मज्ञाननित्यत्व', 'तत्त्वज्ञानार्थदर्शन' इत्यादिमें अपनी-अपनी साधनशैलीके अनुसार विकल्प भी हो सकता है।

प्रश्न—जो इससे विपरीत है, वह अज्ञान है—इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इस कथनसे यह भाव दिखलाया गया है कि उपर्युक्त अमानित्वादि गुणोंसे विपरीत जो मान-बड़ाईकी कामना, दम्भ, हिंसा, क्रोध, कपट, कुटिलता, द्रोह, अपवित्रता, अस्थिरता, लोलुपता, आसक्ति, अहंता, ममता, विषमता, अश्रद्धा और कुसंग आदि दोष हैं—वे सभी जन्म-मृत्युके हेतुभूत अज्ञानको बढ़ानेवाले और जीवका पतन करनेवाले हैं, इसलिये ये सब अज्ञान ही हैं; अतएव उन सबका सर्वथा त्याग करना चाहिये।

सम्बन्ध—इस प्रकार ज्ञानके साधनोंका 'ज्ञान' के नामसे वर्णन सुननेपर यह जिज्ञासा हो सकती है कि इन साधनोंद्वारा प्राप्त 'ज्ञान' से जाननेयोग्य वस्तु क्या है और उसे जान लेनेसे क्या होता है ? उसका उत्तर देनेके लिये भगवान् अब जाननेके योग्य वस्तुके स्वरूपका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा करते हुए उसके जाननेका फल 'अमृतत्वकी प्राप्ति' बतलाकर छः श्लोकोंमें जाननेके योग्य परमात्माके स्वरूपका वर्णन करते हैं—

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥ १२ ॥

जो जाननेयोग्य है तथा जिसको जानकर मनुष्य परमानन्दको प्राप्त होता है, उसको भलीभाँति कहूँगा। वह आदिरहित परम ब्रह्म न सत् ही कहा जाता है, न असत् ही ॥ १२ ॥

प्रश्न—जिसका वर्णन करनेकी भगवान्‌ने प्रतिज्ञा की है, वह 'ज्ञेयम्' पद यहाँ किसका वाचक है ?

उत्तर—यहाँ 'ज्ञेयम्' पद सच्चिदानन्दघन निर्गुण ब्रह्मका वाचक है, क्योंकि इसी श्लोकमें स्वयं भगवान्‌ने ही 'परम्' विशेषणके सहित उसको 'ब्रह्म' कहा है।

प्रश्न—उस ज्ञेयको जाननेसे जिसकी प्राप्ति होती है, वह 'अमृत' क्या है ?

उत्तर—'अमृत' यहाँ मोक्षका वाचक है। अभिप्राय यह है कि जाननेके योग्य परब्रह्म परमात्माके ज्ञानसे मनुष्य सदाके लिये जन्म-मरणरूप संसार-बन्धनसे मुक्त होकर परमानन्दको प्राप्त हो जाता है। इसीको परम गति और परम पदकी प्राप्ति भी कहते हैं।

प्रश्न—'अनादिमत्' पदका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जो आदिवाला हो, उसे 'आदिमत्' कहते हैं और जो आदिमत् न हो, उसे 'अनादिमत्' कहते हैं। जिस अनादि ज्ञेयतत्त्वका वर्णन किया जाता है, यह 'अनादिमत्' पद उसका विशेषण है। अभिप्राय इतना ही है कि ज्ञेयतत्त्व आदिरहित है।

प्रश्न—'परम्' विशेषणके सहित 'ब्रह्म' पदका क्या अर्थ है ?

उत्तर—यहाँ 'परम्' विशेषणके सहित 'ब्रह्म' पदका प्रयोग भी उस ज्ञेयतत्त्वका स्वरूप बतलानेके उद्देश्यसे ही किया गया है। 'ब्रह्म' पद प्रकृतिका भी वाचक हो सकता है; अतएव ज्ञेयतत्त्वका स्वरूप उससे विलक्षण है, इसीको बतलानेके लिये 'परम्' विशेषण दिया गया है।

प्रश्न—उस परब्रह्म परमात्माको 'सत्' और 'असत्' क्यों नहीं कहा जा सकता ?

उत्तर—जो वस्तु प्रमाणोंद्वारा सिद्ध की जाती है, उसे 'सत्' कहते हैं। स्वत:प्रमाण नित्य अविनाशी परमात्मा किसी भी प्रमाणद्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता; क्योंकि परमात्मासे ही सबकी सिद्धि होती है, परमात्मातक किसी भी प्रमाणकी पहुँच नहीं है। श्रुतिने भी कहा है कि 'उस जाननेवालेको कैसे जाना जा सकता है !' वह प्रमाणोंद्वारा जाननेमें आनेवाली वस्तुओंसे अत्यन्त विलक्षण है, इसलिये परमात्माको 'सत्' नहीं कहा जा सकता। तथा जिस वस्तुका वास्तवमें अस्तित्व नहीं होता, उसे 'असत्' कहते हैं; किन्तु परब्रह्म परमात्माका अस्तित्व नहीं है, ऐसी बात नहीं है। वह अवश्य है, और वह है—इसीसे अन्य सबका होना भी सिद्ध होता है; अत: उसे 'असत्' भी नहीं कहा जा सकता। इसीलिये परमात्मा 'सत्' और 'असत्' दोनोंसे ही परे है।

प्रश्न—नवम अध्यायके १९वें श्लोकमें तो भगवान्‌ने कहा है कि 'सत्' भी मैं हूँ और 'असत्' भी मैं हूँ' और यहाँ यह कहते हैं कि उस जाननेयोग्य परमात्माको न 'सत्' कहा जा सकता है और न 'असत्'। अत: इस विरोधका क्या समाधान है ?

उत्तर—वस्तुत: कोई विरोध ही नहीं है; क्योंकि जहाँ परमात्माके स्वरूपका वर्णन विधिमुखसे किया जाता है, वहाँ इस प्रकार समझाया जाता है कि जो कुछ भी है—सब ब्रह्म ही है; और जहाँ निषेधमुखसे वर्णन होता है—वहाँ ऐसा कहा जाता है कि वह 'ऐसा भी नहीं है, ऐसा भी नहीं है', किन्तु है अवश्य। अतएव वहाँ विधिमुखसे वर्णन है। इसलिये भगवान्‌का यह कहना कि 'सत्' भी मैं हूँ और 'असत्' भी मैं हूँ', उचित ही है। किन्तु वास्तवमें उस परब्रह्म परमात्माका स्वरूप वाणीके द्वारा न तो विधिमुखसे बतलाया जा सकता है और न निषेधमुखसे ही। उसके विषयमें जो कुछ भी कहा जाता है, सब केवल शाखाचन्द्रन्यायसे उसे लक्ष्य करानेके

लिये ही है, उसके साक्षात् स्वरूपका वर्णन वाणीद्वारा हो ही नहीं सकता। श्रुति भी कहती है—'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' (तै० उ० २। ९), अर्थात् 'मनके सहित वाणी जिसे न पाकर वापस लौट आती है (वह ब्रह्म है)।' इसी बातको स्पष्ट करनेके लिये यहाँ भगवान्‌ने निषेधमुखसे कहा है कि वह न 'सत्' कहा जाता है और न 'असत्' ही कहा जाता है। अर्थात् मैं जिस ज्ञेयवस्तुका वर्णन करना चाहता हूँ, उसका वास्तविक स्वरूप तो मन, वाणीका अविषय है; अतः उसका जो कुछ भी वर्णन किया जायगा, उसे उसका तटस्थ लक्षण ही समझना चाहिये।

सम्बन्ध—इस प्रकार ज्ञेयतत्त्वके वर्णनकी प्रतिज्ञा और उस तत्त्वके निर्गुण स्वरूपका दिग्दर्शन कराया गया; परन्तु निर्गुण तत्त्व वचनका अविषय होनेके कारण अब साधकोंको उसका ज्ञान करानेके लिये सर्वव्यापकत्वादि सगुण लक्षणोंके द्वारा उसीका वर्णन करते हैं—

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १३॥

वह सब ओर हाथ-पैरवाला, सब ओर नेत्र, सिर और मुखवाला और सब ओर कानवाला है। क्योंकि वह संसारमें सबको व्याप्त करके स्थित है ॥ १३ ॥

प्रश्न—वह सब ओर हाथ-पैरवाला है, इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इस कथनसे यह भाव दिखलाया गया है कि वह परब्रह्म परमात्मा सब ओर हाथवाला है। उसे कोई भी वस्तु कहींसे भी समर्पण की जाय, वह वहींसे उसे ग्रहण करनेमें समर्थ है। इसी तरह वह सब जगह पैरवाला है। कोई भी भक्त कहींसे उसके चरणोंमें प्रणामादि करते हैं, वह वहीं उसे स्वीकार कर लेता है; क्योंकि वह सर्वशक्तिमान् होनेके कारण सभी जगह सब इन्द्रियोंका काम कर सकता है, उसकी हस्तेन्द्रियका काम करनेवाली ग्रहण-शक्ति और पादेन्द्रियका काम करनेवाली चलन-शक्ति सर्वत्र व्याप्त है।

प्रश्न—सब ओर नेत्र, सिर और मुखवाला है—इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इस कथनसे भी उस ज्ञेयतत्त्वकी सर्वव्यापकताका ही भाव दिखलाया गया है। अभिप्राय यह है कि वह सब जगह आँखवाला है। ऐसा कोई भी स्थान नहीं है, जहाँ वह न देखता हो; इसीलिये उससे कुछ भी छिपा नहीं है। वह सब जगह सिरवाला है। जहाँ कहीं भी भक्तलोग उसका सत्कार करनेके उद्देश्यसे पुष्प आदि उसके मस्तकपर चढ़ाते हैं, वे सब ठीक उसपर चढ़ते हैं; कोई भी स्थान ऐसा नहीं है, जहाँ भगवान्‌का मस्तक न हो। वह सब जगह मुखवाला है। उसके भक्त जहाँ भी उसको खानेकी वस्तु समर्पण करते हैं, वह वहीं उस वस्तुको स्वीकार कर सकता है; ऐसी कोई भी जगह नहीं है, जहाँ उसका मुख न हो। अर्थात् वह ज्ञेयस्वरूप परमात्मा सबका साक्षी, सब कुछ देखनेवाला तथा सबकी पूजा और भोग स्वीकार करनेकी शक्तिवाला है।

प्रश्न—वह सब ओर कानवाला है, इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इससे भी ज्ञेयस्वरूप परमात्माकी सर्वव्यापकताका

ही वर्णन किया गया है । अभिप्राय यह है कि वह परमात्मा सब जगह सुननेकी शक्तिवाला है। जहाँ कहीं भी उसके भक्त उसकी स्तुति करते हैं या उससे प्रार्थना अथवा याचना करते हैं, उन सबको वह भलीभाँति सुनता है ।

प्रश्न—संसारमें वह सबको व्याप्त करके स्थित है, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इस कथनसे भी उस ज्ञेयतत्त्वकी सर्वव्यापकताका ही समग्रतासे प्रतिपादन किया गया है । अभिप्राय यह है कि आकाश जिस प्रकार वायु, अग्नि, जल और पृथ्वीका कारण होनेसे उनको व्याप्त किये हुए स्थित है—उसी प्रकार वह ज्ञेयस्वरूप परमात्मा भी इस चराचर जीव-समूहसहित समस्त जगत्का कारण होनेसे सबको व्याप्त किये हुए स्थित है, अतः सब कुछ उसीसे परिपूर्ण है ।

सम्बन्ध—ज्ञेयस्वरूप परमात्माको सब ओरसे हाथ, पैर आदि समस्त इन्द्रियोंकी शक्तिवाला बतलानेके बाद अब उसके स्वरूपकी अलौकिकताका निरूपण करते हैं—

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥१४॥

वह सम्पूर्ण इन्द्रियोंके विषयोंको जाननेवाला है परन्तु वास्तवमें सब इन्द्रियोंसे रहित है, तथा आसक्तिरहित और निर्गुण होनेपर भी अपनी योगमायासे सबका धारण-पोषण करनेवाला और गुणोंको भोगनेवाला है ॥ १४ ॥

प्रश्न—वह परमात्मा सब इन्द्रियोंके विषयोंको जाननेवाला है परन्तु वास्तवमें सब इन्द्रियोंसे रहित है, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इस कथनसे यह दिखलाया गया है कि उस ज्ञेयस्वरूप परमात्माका सगुण रूप भी बहुत ही अद्भुत और अलौकिक है । अभिप्राय यह है कि १३वें श्लोकमें जो उसको सब जगह हाथ-पैरवाला और अन्य सब इन्द्रियोंवाला बतलाया गया है, उससे यह बात नहीं समझनी चाहिये कि वह ज्ञेय परमात्मा अन्य जीवोंकी भाँति हाथ-पैर आदि इन्द्रियोंवाला है; वह इस प्रकारकी इन्द्रियोंसे सर्वथा रहित होते हुए भी सब जगह उन-उन इन्द्रियोंके विषयोंको ग्रहण करनेमें समर्थ है । इसलिये उसको सब जगह सब इन्द्रियोंवाला कहा गया है । श्रुतिमें भी कहा है—

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।
(श्वे० उ० ३ । १९)

अर्थात् 'वह परमात्मा बिना पैर-हाथके ही वेगसे चलता और ग्रहण करता है, तथा बिना नेत्रोंके देखता और बिना कानोंके ही सुनता है ।' अतएव उसका स्वरूप अलौकिक है, इस वर्णनमें यही बात समझायी गयी है ।

प्रश्न—वह आसक्तिरहित और सबका धारण-पोषण करनेवाला है, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इस कथनसे यह भाव दिखलाया गया है कि जैसे संसारमें माता-पिता आदि आसक्तिके वश होकर अपने परिवारका धारण-पोषण करते हैं, वह परब्रह्म परमात्मा उस प्रकारसे धारण-पोषण करनेवाला नहीं है । वह बिना ही आसक्तिके सबका धारण-पोषण

करता है। इसीलिये भगवान्‌को सब प्राणियोंका सुहृद् अर्थात् बिना ही कारण हित करनेवाला कहा गया है (५।२९)। अभिप्राय यह है कि वह ज्ञेयस्वरूप सर्वव्यापी परमात्मा सबका धारण-पोषण करनेवाला होते हुए भी आसक्तिके दोषसे सर्वथा रहित है, यही उसकी अलौकिकता है।

प्रश्न—वह गुणोंसे अतीत भी है और गुणोंको भोगनेवाला भी, इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इससे भी उस परमात्माकी अलौकिकताका ही प्रतिपादन किया गया है। अभिप्राय यह है कि वह परमात्मा सब गुणोंका भोक्ता होते हुए भी अन्य जीवोंकी भाँति प्रकृतिके गुणोंसे लिप्त नहीं है। वह वास्तवमें गुणोंसे सर्वथा अतीत है, तो भी प्रकृतिके सम्बन्धसे समस्त गुणोंका भोक्ता है। यही उसकी अलौकिकता है।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥१५॥*

वह चराचर सब भूतोंके बाहर-भीतर परिपूर्ण है, और चर-अचररूप भी वही है। और वह सूक्ष्म होनेसे अविज्ञेय है तथा अति समीपमें और दूरमें भी स्थित वही है॥१५॥

प्रश्न—वह ज्ञेयस्वरूप परमात्मा सब भूतोंके बाहर-भीतर परिपूर्ण कैसे है?

उत्तर—जिस प्रकार समुद्रमें पड़े हुए बरफके ढेलोंके बाहर और भीतर सब जगह जल-ही-जल व्याप्त है, इसी प्रकार समस्त चराचर भूतोंके बाहर-भीतर वह ज्ञेयस्वरूप परमात्मा परिपूर्ण है।

प्रश्न—चर और अचर भी वही है, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—पहले वाक्यमें यह बात कही गयी है कि वह परमात्मा चराचर भूतोंके बाहर और भीतर भी है; इससे कोई यह बात न समझ ले कि चराचर भूत उससे भिन्न होंगे। इसीको स्पष्ट करनेके लिये कहते हैं कि चराचर भूत भी वही है। अर्थात् जैसे बरफके बाहर-भीतर भी जल है और स्वयं बरफ भी वस्तुतः जल ही है—जलसे भिन्न कोई दूसरा पदार्थ नहीं है, उसी प्रकार यह समस्त चराचर जगत् उस परमात्माका ही स्वरूप है, उससे भिन्न नहीं है।

प्रश्न—वह सूक्ष्म होनेसे अविज्ञेय है, इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—उस ज्ञेयको सर्वरूप बतला देनेसे यह शंका होती है कि यदि सब कुछ वही है तो फिर सब कोई उसको जानते क्यों नहीं? इसपर कहते हैं कि जैसे सूर्यकी किरणोंमें स्थित परमाणुरूप जल साधारण मनुष्योंके जाननेमें नहीं आता—उनके लिये वह दुर्विज्ञेय है, उसी प्रकार वह सर्वव्यापी परब्रह्म परमात्मा भी उस परमाणुरूप जलकी अपेक्षा भी अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण साधारण मनुष्योंके जाननेमें नहीं आता, इसलिये वह अविज्ञेय है।

प्रश्न—वह अति समीपमें है और दूरमें भी स्थित है, यह कैसे?

* श्रुतिमें भी कहा है—'तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके। तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥' (ईशा० उ० ५) अर्थात् वह चलता है और नहीं भी चलता है, वह दूर भी है और समीप भी है। वह इस सम्पूर्ण जगत्‌के भीतर भी है और इन सबके बाहर भी है।

उत्तर—सम्पूर्ण जगत्‌में और इसके बाहर ऐसी कोई भी जगह नहीं है जहाँ परमात्मा न हों। इसलिये वह अत्यन्त समीपमें भी है, और दूरमें भी है; क्योंकि जिसको मनुष्य दूर और समीप मानता है, उन सभी स्थानोंमें वह विज्ञानानन्दघन परमात्मा सदा ही परिपूर्ण है।

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥१६॥

और वह विभागरहित एक रूपसे आकाशके सदृश परिपूर्ण होनेपर भी चराचर सम्पूर्ण भूतोंमें विभक्त-सा स्थित प्रतीत होता है। वह जाननेयोग्य परमात्मा विष्णुरूपसे भूतोंको धारण-पोषण करनेवाला और रुद्ररूपसे संहार करनेवाला तथा ब्रह्मारूपसे सबको उत्पन्न करनेवाला है ॥ १६ ॥

प्रश्न—'अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्' इस वाक्यका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इस वाक्यसे उस जाननेयोग्य परमात्माके एकत्वका प्रतिपादन किया गया है। अभिप्राय यह है कि जैसे महाकाश वास्तवमें विभागरहित है, तो भी भिन्न-भिन्न घड़ोंके सम्बन्धसे विभक्त-सा प्रतीत होता है—वैसे ही परमात्मा वास्तवमें विभागरहित है, तो भी समस्त चराचर प्राणियोंमें क्षेत्रज्ञरूपसे पृथक्-पृथक्‌के सदृश स्थित प्रतीत होता है। किन्तु यह भिन्नता केवल प्रतीतिमात्र ही है, वास्तवमें वह परमात्मा एक है और वह सर्वत्र परिपूर्ण है।

प्रश्न—'भूतभर्तृ', 'ग्रसिष्णु' और 'प्रभविष्णु'—इन पदोंका क्या अर्थ है और इनके प्रयोगका यहाँ क्या अभिप्राय है?

उत्तर—समस्त प्राणियोंके धारण-पोषण करनेवालेको 'भूतभर्तृ' कहते हैं; सम्पूर्ण जगत्‌के संहार करनेवालेको 'ग्रसिष्णु' कहते हैं और सबकी उत्पत्ति करनेवालेको 'प्रभविष्णु' कहते हैं। इन तीनों पदोंका प्रयोग करके यहाँ यह भाव दिखलाया गया है कि वह सर्वशक्तिमान् ज्ञेयस्वरूप परमात्मा सम्पूर्ण चराचर जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करनेवाला है। वही ब्रह्मारूपसे इस जगत्‌को उत्पन्न करता है, वही विष्णुरूपसे इसका पालन करता है और वही रुद्ररूपसे इसका संहार करता है। अर्थात् वह परमात्मा ही ब्रह्मा, विष्णु और शिव है।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥१७॥

वह ब्रह्म ज्योतियोंका भी ज्योति एवं मायासे अत्यन्त परे कहा जाता है। वह परमात्मा बोधस्वरूप, जाननेके योग्य, एवं तत्त्वज्ञानसे प्राप्त करनेयोग्य है और सबके हृदयमें विशेषरूपसे स्थित है ॥ १७ ॥

प्रश्न—वह परमात्मा ज्योतियोंका भी ज्योति कैसे है?

उत्तर—चन्द्रमा, सूर्य, विद्युत्, तारे आदि जितनी भी बाह्य ज्योतियाँ हैं; बुद्धि, मन और इन्द्रियाँ आदि जितनी आध्यात्मिक ज्योतियाँ हैं; तथा विभिन्न लोकों और वस्तुओंके अधिष्ठातृदेवतारूप जो देवज्योतियाँ हैं—उन सभीका प्रकाशक वह परमात्मा है। तथा उन

सबमें जितनी प्रकाशन-शक्ति है, वह भी उसी परमात्मा-का एक अंशमात्र है। इसीलिये वह समस्त ज्योतियोंका भी ज्योति अर्थात् सबको प्रकाश प्रदान करनेवाला, सबका प्रकाशक है। उसका प्रकाशक दूसरा कोई नहीं है। श्रुतिमें भी कहा है—'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥' (कठ० उ० २ । २ । १५; श्वे० उ० ६ । १४) अर्थात् 'वहाँ न सूर्य प्रकाश करता है, न चन्द्रमा और न तारागण ही। न वहाँ यह बिजली प्रकाश करती है, फिर इस अग्निकी तो बात ही क्या है। उसीके प्रकाशित होनेसे ये सब प्रकाशमान होते हैं और उसीके प्रकाशसे यह समस्त जगत् प्रकाशित होता है।' गीतामें भी पंद्रहवें अध्यायके १२वें श्लोकमें कहा गया है कि 'जो तेज सूर्यमें स्थित होकर समस्त जगत्को प्रकाशित करता है और जो तेज चन्द्रमा तथा अग्निमें स्थित है, उस तेजको तू मेरा ही तेज समझ।'

प्रश्न—यहाँ 'तमः' पद किसका वाचक है और उस परमात्माको उससे 'पर' बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—यहाँ 'तमः' पद अन्धकार और अज्ञानका वाचक है; और वह परमात्मा स्वयंज्योति तथा ज्ञान-स्वरूप है; अन्धकार और अज्ञान उसके निकट नहीं रह सकते, इसलिये उसे तमसे अत्यन्त परे—इनसे सर्वथा रहित—बतलाया गया है।

प्रश्न—यहाँ 'ज्ञानम्' पद किसका वाचक है और इसके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—यहाँ 'ज्ञानम्' पद परमात्माके स्वरूपका वाचक है। इसके प्रयोगका यह अभिप्राय है कि वह परमात्मा चेतन, बोधस्वरूप है।

प्रश्न—उसे यहाँ पुनः 'ज्ञेय' कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—उसे पुनः 'ज्ञेय' कहकर यह भाव दिखलाया गया है कि इस संसारमें मनुष्यशरीर पाकर उस परमात्माका ज्ञान प्राप्त कर लेना ही परम कर्तव्य है, इस संसारमें जाननेके योग्य एकमात्र परमात्मा ही है। अतएव उसका तत्त्व जाननेके लिये सभीको पूर्णरूपसे उद्योग करना चाहिये, अपने अमूल्य जीवनको सांसारिक भोगोंमें लगाकर नष्ट नहीं कर डालना चाहिये।

प्रश्न—उसे 'ज्ञानगम्यम्' कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'ज्ञेयम्' पदसे उसे जानना आवश्यक बतलाया गया। इसपर यह प्रश्न हो सकता है कि उसे कैसे जानना चाहिये। इसलिये कहते हैं कि वह ज्ञानगम्य है अर्थात् पूर्वोक्त अमानित्वादि ज्ञान-साधनोंके द्वारा प्राप्त तत्त्वज्ञानसे वह जाना जाता है। अतएव उन साधनोंद्वारा तत्त्वज्ञानको प्राप्त करके उस परमात्मा-को जानना चाहिये।

प्रश्न—पूर्वश्लोकोंमें उस परमात्माको सर्वत्र व्याप्त बतलाया गया है; फिर यहाँ 'हृदि सर्वस्य विष्ठितम्'—इस कथनसे केवल सबके हृदयमें स्थित बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—वह परमात्मा सब जगह समानभावसे परिपूर्ण होते हुए भी, हृदयमें उसकी विशेष अभिव्यक्ति है। जैसे सूर्यका प्रकाश सब जगह समानरूपसे विस्तृत रहनेपर भी दर्पण आदिमें उसके प्रतिबिम्बकी विशेष अभिव्यक्ति होती है एवं सूर्यमुखी शीशेमें उसका तेज प्रत्यक्ष प्रकट होकर अग्नि उत्पन्न कर देता है, अन्य पदार्थोंमें उस प्रकारकी अभिव्यक्ति नहीं होती, उसी प्रकार हृदय उस परमात्माकी उपलब्धिका स्थान है—यही बात समझानेके लिये उसको सबके हृदयमें विशेष-रूपसे स्थित बतलाया गया है।

सम्बन्ध—इस प्रकार क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेयके स्वरूपका संक्षेपमें वर्णन करके अब इस प्रकरणको जाननेका फल बतलाते हैं—

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥१८॥

इस प्रकार क्षेत्र तथा ज्ञान और जाननेयोग्य परमात्माका स्वरूप संक्षेपसे कहा गया । मेरा भक्त इसको तत्त्वसे जानकर मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है ॥ १८ ॥

प्रश्न—यहाँतक क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेयका स्वरूप किन-किन श्लोकोंमें कहा गया है ?

उत्तर—५वें और ६ठे श्लोकोंमें विकारोंसहित क्षेत्रके स्वरूपका वर्णन किया गया है । ७वेंसे ११वें श्लोकतक ज्ञानके नामसे ज्ञानके बीस साधनोंका और १२वेंसे १७वेंतक ज्ञेय अर्थात् जाननेयोग्य परमात्माके स्वरूपका वर्णन किया गया है ।

प्रश्न—'मद्भक्तः' पदके प्रयोगका क्या अभिप्राय है तथा उस क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेयको जानना क्या है एवं भगवद्भावको प्राप्त होना क्या है ?

उत्तर—'मद्भक्तः' पद यहाँ भगवान्का भजन, ध्यान, आज्ञापालन और पूजन तथा सेवा आदि भक्ति करनेवाले भगवद्भक्तका वाचक है । इसका प्रयोग करके भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि इस ज्ञानमार्गमें भी मेरी शरण ग्रहण करके चलनेवाला साधक सहजहीमें परम पदको प्राप्त कर सकता है ।

यहाँ क्षेत्रको प्रकृतिका कार्य, जड, विकारी, अनित्य और नाशवान् समझना; ज्ञानके साधनोंको भलीभाँति धारण करना और उनके द्वारा भगवान्के निर्गुण, सगुण रूपको भलीभाँति समझ लेना—यही क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेयको जानना है । तथा उस ज्ञेयस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाना ही भगवद्भावको प्राप्त हो जाना है ।

सम्बन्ध—तीसरे श्लोकमें भगवान्ने क्षेत्रके विषयमें चार बातें और क्षेत्रज्ञके विषयमें दो बातें संक्षेपमें सुननेके लिये अर्जुनसे कहा था, फिर विषय आरम्भ करते ही क्षेत्रके स्वरूपका और उसके विकारोंका वर्णन करनेके उपरान्त क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके तत्त्वको भलीभाँति जाननेके उपायभूत साधनोंका और जाननेके योग्य परमात्माके स्वरूपका वर्णन प्रसङ्गवश किया गया । इससे क्षेत्रके विषयमें उसके स्वभावका और किस कारणसे कौन कार्य उत्पन्न होता है, इस विषयका तथा प्रभावसहित क्षेत्रज्ञके स्वरूपका भी वर्णन नहीं हुआ । अतः अब उन सबका वर्णन करनेके लिये भगवान् पुनः प्रकृति और पुरुषके नामसे प्रकरण आरम्भ करते हैं । इसमें पहले प्रकृति-पुरुषकी अनादिताका प्रतिपादन करते हुए समस्त गुण और विकारोंको प्रकृतिजन्य बतलाते हैं—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥१९॥

प्रकृति और पुरुष, इन दोनोंको ही तू अनादि जान। और राग-द्वेषादि विकारोंको तथा त्रिगुणात्म सम्पूर्ण पदार्थोंको भी प्रकृतिसे ही उत्पन्न जान ॥ १९ ॥

प्रश्न–इस श्लोकमें 'प्रकृति' शब्द किसका वाचक है तथा सातवें अध्यायके चौथे और पाँचवें श्लोकोंमें जिसका वर्णन 'अपरा प्रकृति' के नामसे हुआ है तथा इसी अध्यायके ५वें श्लोकमें जो क्षेत्रका स्वरूप बतलाया गया है, उनमें और इस प्रकृतिमें क्या भेद है ?

उत्तर–यहाँ 'प्रकृति' शब्द ईश्वरकी अनादिसिद्ध मूल प्रकृतिका वाचक है। चौदहवें अध्यायमें इसीको महद्ब्रह्मके नामसे कहा गया है। सातवें अध्यायके चौथे और पाँचवें श्लोकोंमें अपरा प्रकृतिके नामसे और इसी अध्यायके पाँचवें श्लोकमें क्षेत्रके नामसे भी इसीका वर्णन है; भेद इतना ही है कि वहाँ उसके कार्य–मन, बुद्धि, अहङ्कार और पञ्चमहाभूतादिके सहित मूल प्रकृतिका वर्णन है और यहाँ केवल 'मूल प्रकृति' का वर्णन है।

प्रश्न–'प्रकृति' और 'पुरुष'–इन दोनोंको अनादि जाननेके लिये कहनेका तथा 'च' और 'एव'–इन दोनों पदोंके प्रयोगका यहाँ क्या अभिप्राय है ?

उत्तर–प्रकृति और पुरुष–इन दोनोंकी अनादिता समान है, इस बातको जाननेके लिये अर्थात् इस लक्षणमें दोनोंकी एकता करनेके लिये 'च' और 'एव'–इन दोनों पदोंका प्रयोग किया गया है। तथा दोनोंको अनादि समझनेके लिये कहनेका यह अभिप्राय है कि जीवका जीवत्व अर्थात् प्रकृतिके साथ उसका सम्बन्ध किसी हेतुसे होनेवाला–आगन्तुक नहीं है, यह अनादि-सिद्ध है और इसी प्रकार ईश्वरकी शक्ति यह प्रकृति भी अनादिसिद्ध है–ऐसा समझना चाहिये।

प्रश्न–यहाँ 'विकारान्' पद किनका और 'गुणान्' पद किनका वाचक है तथा इन दोनोंको प्रकृतिसे उत्पन्न समझनेके लिये कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर–इसी अध्यायके छठे श्लोकमें जिन राग-द्वेष, सुख-दुःख आदि विकारोंका वर्णन किया गया है–उन सबका वाचक यहाँ 'विकारान्' पद है तथा सत्त्व, रज और तम–इन तीनों गुणोंका और इनसे उत्पन्न समस्त जड पदार्थोंका वाचक 'गुणान्' पद है। इन दोनोंको प्रकृतिसे उत्पन्न समझनेके लिये कहकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि सत्त्व, रज और तम–इन तीनों गुणोंका नाम प्रकृति नहीं है; प्रकृति अनादि है। तीनों गुण सृष्टिके आदिमें उससे उत्पन्न होते हैं (भागवत २। ५। २१से ३३तक), एवं प्रलयकालमें उसीमें लीन हो जाते हैं। इसी बातको स्पष्ट करनेके लिये भगवान्‌ने चौदहवें अध्यायके ५वें श्लोकमें सत्त्व, रज और तम–इस प्रकार तीनों गुणोंका नाम देकर तीनोंको प्रकृतिसम्भव बतलाया है। इसके सिवा तीसरे अध्यायके ५वें श्लोकमें और अठारहवें अध्यायके ४०वें श्लोकमें तथा इसी अध्यायके २१वें श्लोकमें भी गुणोंको प्रकृतिजन्य बतलाया है। तीसरे अध्यायके २७वें और २८वें श्लोकोंमें भी गुणोंका वर्णन प्रकृतिके कार्यरूपमें हुआ है। इसलिये सत्त्व, रज और तम–इन तीनों गुणोंको उनके कार्यसहित प्रकृतिसे उत्पन्न समझना चाहिये तथा इसी तरह समस्त विकारोंको भी प्रकृतिसे उत्पन्न समझना चाहिये।

सम्बन्ध–तीसरे श्लोकमें, जिससे जो उत्पन्न हुआ है, यह बात सुननेके लिये कहा गया था; उसका वर्णन पूर्व श्लोकके उत्तरार्द्धमें कुछ किया गया। अब उसीकी कुछ बात इस श्लोकके पूर्वार्द्धमें कहते हुए इसके उत्तरार्द्धसे लेकर २१वें श्लोकतक प्रकृतिमें स्थित पुरुषके स्वरूपका वर्णन किया जाता है–

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥२०॥

कार्य और करणकी उत्पत्तिमें हेतु प्रकृति कही जाती है और जीवात्मा सुख-दुःखोंके भोक्तापनमें अर्थात् भोगनेमें हेतु कहा जाता है ॥ २० ॥

प्रश्न—'कार्य' और 'करण' शब्द किन-किन तत्त्वोंके वाचक हैं और उनके कर्तृत्वमें प्रकृतिको हेतु बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी—ये पाँचों सूक्ष्म महाभूत; तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँचों इन्द्रियोंके विषय; इन दसोंका वाचक यहाँ 'कार्य' शब्द है । बुद्धि, अहङ्कार और मन—ये तीनों अन्तःकरण; श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण—ये पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ एवं वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा—ये पाँचों कर्मेन्द्रियाँ; इन तेरहका वाचक यहाँ 'करण' शब्द है । ये तेईस तत्त्व प्रकृतिसे ही उत्पन्न होते हैं, प्रकृति ही इनका उपादान कारण है; इसलिये प्रकृतिको इनके उत्पन्न करनेमें हेतु बतलाया गया है ।

प्रश्न—इन तेईसमें एककी दूसरेसे किस प्रकार उत्पत्ति मानी जाती है ?

उत्तर—प्रकृतिसे महत्तत्त्व, महत्तत्त्वसे अहङ्कार, अहङ्कारसे पाँच सूक्ष्म महाभूत, मन और दस इन्द्रिय तथा पाँच सूक्ष्म महाभूतोंसे पाँचों इन्द्रियोंके शब्दादि पाँचों स्थूल विषयोंकी उत्पत्ति मानी जाती है। सांख्यकारिका २२ में भी कहा है—

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः ।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि ॥

अर्थात् 'प्रकृतिसे महत्तत्त्व (समष्टिबुद्धि) की यानी बुद्धितत्त्वकी, उससे अहङ्कारकी और अहङ्कारसे पाँच तन्मात्राएँ, एक मन और दस इन्द्रियाँ—इन सोलहके समुदायकी उत्पत्ति हुई तथा उन सोलहमेंसे पाँच तन्मात्राओंसे पाँच स्थूल भूतोंकी उत्पत्ति हुई ।' गीताके वर्णनमें पाँच तन्मात्राओंकी जगह पाँच सूक्ष्म महाभूतोंका नाम आया है और पाँच स्थूल भूतोंके स्थानमें पाँच इन्द्रियोंके विषयोंका नाम आया है, इतना ही भेद है ।

प्रश्न—कहीं-कहीं 'कार्यकरण'के स्थानमें 'कार्यकारण' पाठ भी देखनेमें आता है । वैसा पाठ माननेसे 'कार्य' और 'कारण' शब्दोंको किन-किन तत्त्वोंका वाचक मानना चाहिये ?

उत्तर—'कार्य' और 'कारण' पाठ माननेसे पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, एक मन और पाँच इन्द्रियों-के विषय—इन सोलहका वाचक 'कार्य' शब्दको समझना चाहिये; क्योंकि ये सब दूसरोंके कार्य हैं, किन्तु स्वयं किसीके कारण नहीं हैं । तथा बुद्धि, अहङ्कार और पाँच सूक्ष्म महाभूतोंका वाचक 'कारण' शब्दको समझना चाहिये । क्योंकि बुद्धि अहङ्कारका कारण है; अहङ्कार मन, इन्द्रिय और सूक्ष्म पाँच महाभूतोंका कारण है तथा सूक्ष्म पाँच महाभूत पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंके कारण हैं ।

प्रश्न—अन्तःकरणके बुद्धि, अहङ्कार, चित्त और मन—ऐसे चार भेद अन्य शास्त्रोंमें माने गये हैं; फिर भगवान्‌ने यहाँ तीनका ही वर्णन कैसे किया ?

उत्तर—भगवान् चित्त और मनको भिन्न तत्त्व नहीं मानते, एक ही तत्त्वके दो नाम मानते हैं । सांख्य और

योगशास्त्र भी ऐसा ही मानते हैं । इसलिये अन्तःकरण-के चार भेद न करके तीन भेद किये गये हैं ।

प्रश्न—'पुरुष' शब्द चेतन आत्माका वाचक है और आत्माको निर्लेप तथा शुद्ध माना गया है; फिर यहाँ पुरुषको सुख-दुःखोंके भोक्तापनमें कारण कैसे कहा गया है ?

उत्तर—प्रकृति जड है, उसमें भोक्तापनकी सम्भावना नहीं है और पुरुष असङ्ग है, इसलिये उसमें भी वास्तवमें भोक्तापन नहीं है । प्रकृतिके सङ्गसे ही पुरुषमें भोक्तापनकी प्रतीति-सी होती है और यह प्रकृति-पुरुषका सङ्ग अनादि है, इसलिये यहाँ पुरुषको सुख-दुःखोंके भोक्तापनमें हेतु यानी निमित्त माना गया है । इसी बातको स्पष्ट करनेके लिये अगले श्लोकमें कह भी दिया है कि 'प्रकृतिमें स्थित पुरुष ही प्रकृतिजनित गुणोंको भोगता है ।' अतएव प्रकृतिसे मुक्त पुरुषमें भोक्तापनकी गन्धमात्र भी नहीं है ।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ २१ ॥

प्रकृतिमें स्थित ही पुरुष प्रकृतिसे उत्पन्न त्रिगुणात्मक पदार्थोंको भोगता है और इन गुणोंका सङ्ग ही इस जीवात्माके अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म लेनेका कारण है ॥ २१ ॥

प्रश्न—यहाँ 'प्रकृतिजान्' विशेषणके सहित 'गुणान्' पद किसका वाचक है तथा 'पुरुषः' के साथ 'प्रकृतिस्थः' विशेषण देकर उसे उन गुणोंका भोक्ता बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—प्रकृतिजनित सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण तथा इनके कार्य शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धरूप जितने भी सांसारिक पदार्थ हैं—उन सबका वाचक यहाँ 'प्रकृतिजान्' विशेषणके सहित 'गुणान्' पद है । तथा 'पुरुषः' के साथ 'प्रकृतिस्थः' विशेषण देकर उसे उन गुणोंका भोक्ता बतलानेका यह अभिप्राय है कि प्रकृतिसे बने हुए स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन तीनों शरीरोंमेंसे किसी भी शरीरके साथ जबतक इस जीवात्माका सम्बन्ध रहता है, तबतक वह प्रकृतिमें स्थित (प्रकृतिस्थ) कहलाता है । अतएव जबतक आत्माका प्रकृतिके साथ सम्बन्ध रहता है, तभीतक वह प्रकृतिजनित गुणोंका भोक्ता है । प्रकृतिसे सम्बन्ध छूट जानेके बाद उसमें भोक्तापन नहीं है, क्योंकि वास्तवमें पुरुषका स्वरूप नित्य असङ्ग ही है ।

प्रश्न—'सदसद्योनि' शब्द किन योनियोंका वाचक है और गुणोंका सङ्ग क्या है, एवं वह इस जीवात्माके सदसद्योनियोंमें जन्म लेनेका कारण कैसे है ?

उत्तर—'सदसद्योनि' शब्द यहाँ अच्छी और बुरी योनियोंका वाचक है । अभिप्राय यह है कि मनुष्यसे लेकर उससे ऊँची जितनी भी देवादि योनियाँ हैं, सब सत् योनियाँ हैं और मनुष्यसे नीची जितनी भी पशु, पक्षी, वृक्ष और लता आदि योनियाँ हैं—वे असत् हैं । सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंके कार्यरूप सांसारिक पदार्थोंमें जो आसक्ति है, वही गुणोंका सङ्ग है; जिस मनुष्यकी जिस गुणमें या उसके कार्यरूप पदार्थमें आसक्ति होगी, उसकी वैसी ही वासना होगी और उसीके अनुसार उसे पुनर्जन्म प्राप्त होगा । इसीलिये यहाँ अच्छी-बुरी योनियोंकी प्राप्तिमें गुणोंके सङ्गको कारण बतलाया गया है ।

प्रश्न—चौथे अध्यायके १३वें श्लोकमें तो भगवान्ने यह कहा है कि गुण और कर्मोंके अनुसार चारों वर्णोंकी रचना मेरेद्वारा की गयी है, आठवें अध्यायके ६ठे

श्लोकमें यह बात कही है कि अन्तकालमें मनुष्य जिस-जिस भावका स्मरण करता हुआ जाता है, उसीको प्राप्त होता है; एवं यहाँ यह कहते हैं कि अच्छी-बुरी योनियोंकी प्राप्तिमें कारण गुणोंका सङ्ग है। इन तीनोंका समन्वय कैसे किया जा सकता है ?

उत्तर—तीनोंमें वस्तुतः असामञ्जस्यकी कोई भी बात नहीं है। विचार करके देखनेसे तीनोंमें ही प्रकारान्तरसे गुणोंके सङ्गको अच्छी-बुरी योनियोंकी प्राप्तिमें हेतु बतलाया गया है। १—भगवान् चारों वर्णोंकी रचना उनके गुण-कर्मानुसार ही करते हैं। इसमें उन जीवोंके गुणोंका सङ्ग स्वाभाविक ही हेतु हो गया। २—मनुष्य जैसा कर्म और सङ्ग करता है, उसीके अनुसार उसकी तीनों गुणोंमेंसे किसी एकमें विशेष आसक्ति होती है और उन कर्मोंके संस्कार बनते हैं; तथा जैसे संस्कार होते हैं, वैसी ही अन्तकालमें स्मृति होती है और स्मृतिके अनुसार ही उसको अच्छी-बुरी योनियोंकी प्राप्ति होती है। अतएव इसमें भी मूलमें गुणोंका सङ्ग ही हेतु है। ३—इस श्लोकमें तो स्पष्ट ही गुणोंके सङ्गको हेतु बतलाया गया है। अतएव तीनोंमें एक ही बात कही गयी है।

सम्बन्ध—इस प्रकार प्रकृतिस्थ पुरुषके स्वरूपका वर्णन करनेके बाद अब जीवात्मा और परमात्माकी एकता करते हुए आत्माके गुणातीत स्वरूपका वर्णन करते हैं—

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः॥२२॥

यह पुरुष इस देहमें स्थित होनेपर भी पर ही है। केवल साक्षी होनेसे उपद्रष्टा और यथार्थ सम्मति देनेवाला होनेसे अनुमन्ता, सबको धारण-पोषण करनेवाला होनेसे भर्ता, जीवरूपसे भोक्ता, ब्रह्मा आदिका भी स्वामी होनेसे महेश्वर और शुद्ध सच्चिदानन्दघन होनेसे परमात्मा—ऐसा कहा गया है॥२२॥

प्रश्न—यह पुरुष इस देहमें स्थित होनेपर भी पर ही है, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इस कथनसे क्षेत्रज्ञके गुणातीत स्वरूपका निर्देश किया गया है। अभिप्राय यह है कि प्रकृति-जनित शरीरोंकी उपाधिसे जो चेतन आत्मा अज्ञानके कारण जीवभावको प्राप्त-सा प्रतीत होता है, वह क्षेत्रज्ञ वास्तवमें इस प्रकृतिसे सर्वथा अतीत है; क्योंकि उस परब्रह्म परमात्मामें और क्षेत्रज्ञमें वस्तुतः किसी प्रकारका भेद नहीं है, केवल शरीररूप उपाधिसे ही भेदकी प्रतीति हो रही है।

प्रश्न—वह पुरुष ही उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्त्ता, भोक्ता, महेश्वर और परमात्मा भी कहा गया है—इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इस कथनसे इस बातका प्रतिपादन किया गया है कि भिन्न-भिन्न निमित्तोंसे एक ही परब्रह्म परमात्मा भिन्न-भिन्न नामोंसे पुकारा जाता है। वस्तुदृष्टिसे ब्रह्ममें किसी प्रकारका भेद नहीं है। अभिप्राय यह है कि सच्चिदानन्दघन परब्रह्म ही अन्तर्यामीरूपसे सबके शुभाशुभ कर्मोंका निरीक्षण करनेवाला है, इसलिये उसे 'उपद्रष्टा' कहते हैं। वही अन्तर्यामीरूपसे सम्मति चाहनेवालेको उचित सलाह देता है, इसलिये उसे 'अनुमन्ता' कहते हैं। वही विष्णुरूपसे समस्त जगत्का रक्षण और पालन करता है, इसलिये उसे 'भर्त्ता' कहते

हैं। वही देवताओंके रूपमें समस्त यज्ञोंकी हविको और समस्त प्राणियोंके रूपमें समस्त भोगोंको भोगता है, इसलिये उसे 'भोक्ता' कहते हैं; वही समस्त लोकपाल और ब्रह्मादि ईश्वरोंका भी नियमन करनेवाला महान् ईश्वर है, इसलिये उसे 'महेश्वर' कहते हैं और वस्तुतः वह सदा ही सब गुणोंसे सर्वथा अतीत है, इसलिये उसे 'परमात्मा' कहते हैं। इस प्रकार वह एक ही परब्रह्म परमात्मा भिन्न-भिन्न निमित्तोंसे भिन्न-भिन्न नामोंद्वारा पुकारा जाता है, वस्तुतः उसमें किसी प्रकारका भेद नहीं है।

सम्बन्ध—इस प्रकार गुणोंके सहित प्रकृतिके और पुरुषके स्वरूपका वर्णन करनेके बाद अब उनको यथार्थ जाननेका फल बतलाते हैं—

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते॥२३॥

इस प्रकार पुरुषको और गुणोंके सहित प्रकृतिको जो मनुष्य तत्त्वसे जानता है, वह सब प्रकारसे कर्तव्य कर्म करता हुआ भी फिर नहीं जन्मता॥२३॥

प्रश्न—पूर्वोक्त प्रकारसे पुरुषको और गुणोंके सहित प्रकृतिको तत्त्वसे जानना क्या है?

उत्तर—इस अध्यायमें जिस प्रकार पुरुषके स्वरूप और प्रभावका वर्णन किया गया है, उसके अनुसार उसे भलीभाँति समझ लेना अर्थात् जितने भी पृथक्-पृथक् क्षेत्रज्ञोंकी प्रतीति होती है—सब उस एक परब्रह्म परमात्माके ही अभिन्न स्वरूप हैं; प्रकृतिके सङ्गसे उनमें भिन्नता-सी प्रतीत होती है, वस्तुतः कोई भेद नहीं है और वह परमात्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त और अविनाशी तथा प्रकृतिसे सर्वथा अतीत है—इस बातको संशयरहित यथार्थ समझ लेना एवं एकीभावसे उस सच्चिदानन्दघनमें स्थित हो जाना ही 'पुरुषको तत्त्वसे जानना' है। तीनों गुण प्रकृतिसे उत्पन्न हैं, यह समस्त विश्व प्रकृतिका ही पसारा है और वह नाशवान्, जड, क्षणभङ्गुर और अनित्य है—इस रहस्यको समझ लेना ही 'गुणोंके सहित प्रकृतिको तत्त्वसे जानना' है।

प्रश्न—'सर्वथा वर्तमानः'के साथ 'अपि' पदका प्रयोग करके क्या भाव दिखलाया है?

उत्तर—वहाँ 'सर्वथा वर्तमानः'के साथ 'अपि' पदका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया है कि जो उपर्युक्त प्रकारसे पुरुषको और गुणोंके सहित प्रकृतिको जानता है—वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—किसी भी वर्णमें एवं ब्रह्मचर्यादि किसी भी आश्रममें रहता हुआ तथा उन-उन वर्णाश्रमोंके लिये शास्त्रमें विधान किये हुए समस्त कर्मोंको यथायोग्य करता हुआ भी पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होता; फिर जो नित्य समाधिस्थ रहता है, वह पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होता—इसमें तो कहना ही क्या है?

प्रश्न—यहाँ 'सर्वथा वर्तमानः' के साथ 'अपि' पदके प्रयोगसे यदि यह भाव मान लिया जाय कि वह निषिद्ध कर्म करता हुआ भी पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होता, तो क्या हानि है?

उत्तर—आत्मतत्त्वको जाननेवाले ज्ञानीमें काम-क्रोधादि दोषोंका सर्वथा अभाव हो जानेके कारण (५।२६) उसके द्वारा निषिद्ध कर्मका बनना सम्भव नहीं है। इसीलिये उसके आचरण संसारमें प्रमाणरूप माने जाते हैं (३।२१)। अतएव यहाँ 'सर्वथा

वर्तमानः'के साथ 'अपि' पदके प्रयोगका ऐसा अर्थ मानना उचित नहीं है, क्योंकि पापोंमें मनुष्यकी प्रवृत्ति काम-क्रोधादि अवगुणोंके कारण ही होती है; अर्जुनके पूछनेपर भगवान्ने तीसरे अध्यायके ३७वें श्लोकमें इस बातको स्पष्टरूपसे कह भी दिया है।

प्रश्न—इस प्रकार प्रकृति और पुरुषके तत्त्वको जाननेवाला पुनर्जन्मको क्यों नहीं प्राप्त होता ?

उत्तर—प्रकृति और पुरुषके तत्त्वको जान लेनेके साथ ही पुरुषका प्रकृतिसे सम्बन्ध टूट जाता है; क्योंकि प्रकृति और पुरुषका संयोग स्वप्नवत्, अवास्तविक और केवल अज्ञानजनित माना गया है। जबतक प्रकृति और पुरुषका पूर्ण ज्ञान नहीं होता, तभीतक पुरुषका प्रकृतिसे और उसके गुणोंसे सम्बन्ध रहता है और तभीतक उसका बार-बार नाना योनियोंमें जन्म होता है (१३।२१)। अतएव इनका तत्त्व जान लेनेके बाद पुनर्जन्म नहीं होता।

सम्बन्ध—इस प्रकार गुणोंके सहित प्रकृति और पुरुषके ज्ञानका महत्त्व सुनकर यह इच्छा हो सकती है कि ऐसा ज्ञान कैसे होता है। इसलिये अब दो श्लोकोंद्वारा भिन्न-भिन्न अधिकारियोंके लिये तत्त्वज्ञानके भिन्न-भिन्न साधनोंका प्रतिपादन करते हैं—

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥२४॥

उस परमात्माको कितने ही मनुष्य तो शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिसे ध्यानके द्वारा हृदयमें देखते हैं; अन्य कितने ही ज्ञानयोगके द्वारा और दूसरे कितने ही कर्मयोगके द्वारा देखते हैं अर्थात् प्राप्त करते हैं ॥२४॥

प्रश्न—यहाँ 'ध्यान' शब्द किसका वाचक है और उसके द्वारा आत्मासे आत्मामें आत्माको देखना क्या है ?

उत्तर—छठे अध्यायके १३वें श्लोकमें बतलायी हुई विधिके अनुसार शुद्ध और एकान्त स्थानमें उपयुक्त आसनपर निश्चलभावसे बैठकर, इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाकर, मनको वशमें करके तथा एक परमात्माके सिवा दृश्यमात्रको भूलकर निरन्तर परमात्माका चिन्तन करना ध्यान है। इस प्रकार ध्यान करते रहनेसे बुद्धि शुद्ध हो जाती है और उस विशुद्ध सूक्ष्मबुद्धिसे जो हृदयमें सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार किया जाता है, वही ध्यानद्वारा आत्मासे आत्मामें आत्माको देखना है।

प्रश्न—यहाँ जिस ध्यानके द्वारा सच्चिदानन्दघन ब्रह्मकी प्राप्ति बतलायी गयी है—वह ध्यान सगुण परमेश्वरका है या निर्गुण ब्रह्मका, साकारका है या निराकारका ? तथा यह ध्यान भेदभावसे किया जाता है या अभेदभावसे एवं इसके फलस्वरूप सच्चिदानन्दघन ब्रह्मकी प्राप्ति भेदभावसे होती है या अभेदभावसे ?

उत्तर—यहाँ २२वें श्लोकमें परमात्मा और आत्माके अभेदका प्रतिपादन किया गया है एवं उसीके अनुसार पुरुषके स्वरूपज्ञानरूप फलकी प्राप्तिके विभिन्न साधनोंका वर्णन है; इसलिये यहाँ प्रसङ्गानुसार निर्गुण-निराकार ब्रह्मके अभेद-ध्यानका ही वर्णन है और उसका फल अभिन्नभावसे ही परमात्माकी प्राप्ति बतलाया गया है। परन्तु भेदभावसे सगुण-निराकारका

और सगुण-साकारका ध्यान करनेवाले साधक भी यदि इस प्रकारका फल चाहते हों तो उनको भी अभेदभावसे निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्मकी प्राप्ति हो सकती है।

प्रश्न—'सांख्येन' और 'योगेन'—ये दोनों पद भिन्न-भिन्न दो साधनोंके वाचक हैं या एक ही साधनके विशेष्य-विशेषण हैं? यदि एक ही साधनके वाचक हैं तो किस साधनके वाचक हैं और उसके द्वारा आत्माको देखना क्या है?

उत्तर—यहाँ 'सांख्येन' और 'योगेन'—ये दोनों पद सांख्ययोगके वाचक हैं। इसका वर्णन दूसरे अध्यायके ११वेंसे ३०वें श्लोकतक विस्तारपूर्वक किया गया है। इसके अतिरिक्त इसका वर्णन पाँचवें अध्यायके ८वें, ९वें और १३वें श्लोकोंमें तथा चौदहवें अध्यायके १९वें श्लोकमें एवं और भी जहाँ-जहाँ उसका प्रकरण आया है, किया गया है। अभिप्राय यह है कि सम्पूर्ण पदार्थ मृगतृष्णाके जल अथवा स्वप्नकी सृष्टिके सदृश मायामात्र हैं; इसलिये प्रकृतिके कार्यरूप समस्त गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं—ऐसा समझकर मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाले समस्त कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित हो जाना तथा सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन परमात्मामें एकीभावसे नित्य स्थित रहते हुए एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके सिवा अन्य किसीकी भी भिन्न सत्ता न समझना—यह 'सांख्ययोग' नामक साधन है और इसके द्वारा जो आत्मा और परमात्माके अभेदका प्रत्यक्ष होकर सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका अभिन्न भावसे प्राप्त हो जाना है, वही सांख्ययोगके द्वारा आत्माको आत्मामें देखना है।

सांख्ययोगका यह साधन साधनचतुष्टयसम्पन्न अधिकारीके द्वारा ही सुगमतासे किया जा सकता है।

प्रश्न—साधनचतुष्टय क्या है?

उत्तर—इसमें विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुत्व—ये चार साधन होते हैं। इन चार साधनोंमें पहला साधन है—

१ विवेक

सत्-असत् और नित्य-अनित्य वस्तुके विवेचनका नाम विवेक है। विवेक इनका भलीभाँति पृथक्करण कर देता है। विवेकका अर्थ है, तत्त्वका यथार्थ अनुभव करना। सब अवस्थाओंमें और प्रत्येक वस्तुमें प्रतिक्षण आत्मा और अनात्माका विश्लेषण करते-करते यह विवेक-सिद्धि प्राप्त होती है। 'विवेक' का यथार्थ उदय हो जानेपर सत् और असत् एवं नित्य और अनित्य वस्तुका क्षीर-नीर-विवेककी भाँति प्रत्यक्ष अनुभव होने लगता है। इसके बाद दूसरा साधन है—

२ वैराग्य

विवेकके द्वारा सत्-असत् और नित्य-अनित्यका पृथक्करण हो जानेपर असत् और अनित्यसे सहज ही राग हट जाता है, इसीका नाम 'वैराग्य' है। मनमें भोगोंकी अभिलाषाएँ बनी हुई हैं और ऊपरसे संसारसे द्वेष और घृणा कर रहे हैं इसका नाम 'वैराग्य' नहीं है। वैराग्यमें रागका सर्वथा अभाव है, वैराग्य यथार्थमें आभ्यन्तरिक अनासक्तिका नाम है। जिनको सच्चा वैराग्य प्राप्त होता है, उन पुरुषोंके चित्तमें ब्रह्मलोकतकके समस्त भोगोंमें तृष्णा और आसक्तिका अत्यन्त अभाव हो जाता है। वे असत् और अनित्यसे हटकर अखण्डरूपसे सत् और नित्यमें लगे रहते हैं। यही वैराग्य है। जबतक ऐसा वैराग्य न हो, तबतक समझना चाहिये कि विवेकमें त्रुटि रह गयी है। विवेककी पूर्णता होनेपर वैराग्य अवश्यम्भावी है।

३ षट्सम्पत्ति

इन विवेक और वैराग्यके फलस्वरूप साधकको छः विभागोंवाली एक परम सम्पत्ति मिलती है, वह पूरी न मिले तबतक यह समझना चाहिये कि विवेक और

वैराग्यमें कसर ही है। क्योंकि विवेक और वैराग्यसे भलीभाँति सम्पन्न हो जानेपर साधकको इस सम्पत्तिका प्राप्त होना सहज है। इस सम्पत्तिका नाम है 'षट्सम्पत्ति' और इसके छः विभाग ये हैं—

१ शम

मनका पूर्णरूपसे निगृहीत, निश्चल और शान्त हो जाना ही 'शम' है। विवेक और वैराग्यकी प्राप्ति होनेपर मन स्वाभाविक ही निश्चल और शान्त हो जाता है।

२ दम

इन्द्रियोंका पूर्णरूपसे निगृहीत और विषयोंके रसास्वादसे रहित हो जाना 'दम' है।

३ उपरति

विषयोंसे चित्तका उपरत हो जाना ही उपरति है। जब मन और इन्द्रियोंको विषयोंमें रसानुभूति नहीं होगी, तब स्वाभाविक ही साधककी उनसे उपरति हो जायगी। यह उपरति भोगमात्रसे—केवल बाहरसे ही नहीं, भीतरसे—होनी चाहिये। भोगसंकल्पकी प्रेरणासे ब्रह्मलोकतकके दुर्लभ भोगोंकी ओर भी कभी वृत्ति ही न जाय, इसका नाम उपरति है।

४ तितिक्षा

द्वन्द्वोंको सहन करनेका नाम तितिक्षा है। यद्यपि सरदी-गरमी, सुख-दुःख, मान-अपमान आदिका सहन करना भी 'तितिक्षा' ही है—परन्तु विवेक, वैराग्य और शम, दम, उपरतिके अनन्तर प्राप्त होनेवाली तितिक्षा तो इसमें कुछ विलक्षण ही होनी चाहिये। संसारमें न तो द्वन्द्वोंका नाश ही हो सकता है और न कोई इनसे सर्वथा बच ही सकता है। किसी भी तरह इनको सह लेना भी उत्तम ही है; परन्तु सर्वोत्तम तो है—द्वन्द्व-जगत्से ऊपर उठकर, साक्षी होकर द्वन्द्वोंको देखना। यही वास्तविक तितिक्षा है। ऐसा होनेपर फिर सरदी-गरमी और मानापमान उसको विचलित नहीं कर सकते।

५ श्रद्धा

आत्मसत्ता और आत्मशक्तिमें प्रत्यक्षकी भाँति अखण्ड विश्वासका नाम ही श्रद्धा है। पहले शास्त्र, गुरु और साधन आदिमें श्रद्धा होती है; उससे आत्मश्रद्धा बढ़ती है। परन्तु जबतक आत्मस्वरूप और आत्मशक्तिमें पूर्ण श्रद्धा नहीं होती, तबतक एकमात्र निष्कल, निरञ्जन, निराकार, निर्गुण ब्रह्मको लक्ष्य बनाकर उसमें बुद्धिकी स्थिर स्थिति नहीं हो सकती।

६ समाधान

मन और बुद्धिका परमात्मामें पूर्णतया समाहित हो जाना; जैसे अर्जुनको गुरु द्रोणके सामने परीक्षा देते समय वृक्षपर रक्खे हुए नकली पक्षीका केवल गला ही देख पड़ता था, वैसे ही मन और बुद्धिको निरन्तर एकमात्र लक्ष्यवस्तु ब्रह्मके ही दर्शन होते रहना—यही समाधान है।

मुमुक्षुत्व

इस प्रकार जब विवेक, वैराग्य और षट्सम्पत्तिकी प्राप्ति हो जाती है, तब साधक स्वाभाविक ही अविद्याके बन्धनसे सर्वथा मुक्त होना चाहता है और वह सब ओरसे चित्त हटाकर, किसी ओर भी न ताककर एकमात्र परमात्माकी ओर ही दौड़ता है। उसका यह अत्यन्त वेगसे दौड़ना अर्थात् तीव्र साधन ही उसकी परमात्माको पानेकी तीव्रतम लालसाका परिचय देता है। यही मुमुक्षुत्व है।

प्रश्न—यहाँ 'कर्मयोग' शब्द किस साधनका वाचक है और उसके द्वारा आत्मामें आत्माको देखना क्या है?

उत्तर—जिस साधनका दूसरे अध्यायमें ४०वें श्लोकसे उक्त अध्यायकी समाप्तिपर्यन्त फलसहित वर्णन किया गया है, उसका वाचक यहाँ 'कर्मयोग' है। अर्थात् आसक्ति और कर्मफलका सर्वथा त्याग करके सिद्धि और असिद्धिमें समत्व रखते हुए शास्त्रानुसार निष्काम-भावसे अपने-अपने वर्ण और आश्रमके अनुसार सब प्रकारके विहित कर्मोंका अनुष्ठान करना कर्मयोग है और इसके द्वारा जो सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माको अभिन्नभावसे प्राप्त हो जाना है, वही कर्मयोगके द्वारा आत्मामें आत्माको देखना है।

प्रश्न—कर्मयोगके साधनमें साधक अपनेको परमात्मासे भिन्न समझता है, इसलिये उसको भिन्नभावसे ही ब्रह्मकी प्राप्ति होनी चाहिये; यहाँ अभेदभावसे ब्रह्मकी प्राप्ति कैसे बतलायी गयी?

उत्तर—साधनकालमें भेदभाव रहनेपर भी जो साधक फलमें अभेद मानता है, उसको अभेदभावसे ही ब्रह्मकी प्राप्ति होती है; और यहाँ किन-किन साधनोंद्वारा अभेदभावसे ब्रह्मका ज्ञान हो सकता है, यही बतलानेका प्रसङ्ग है। इसीलिये यहाँ कर्मयोगके द्वारा भी अभिन्न-भावसे परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति बतलायी गयी है।

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥२५॥

परन्तु इनसे दूसरे, अर्थात् जो मन्दबुद्धिवाले पुरुष हैं, वे स्वयं इस प्रकार न जानते हुए दूसरोंसे अर्थात् तत्त्वके जाननेवाले पुरुषोंसे सुनकर ही तदनुसार उपासना करते हैं और वे श्रवणपरायण पुरुष भी मृत्युरूप संसारसागरको निःसन्देह तर जाते हैं॥२५॥

प्रश्न—यहाँ 'तु' पदके प्रयोगका क्या भाव है?

उत्तर—'तु' पद यहाँ इस बातका द्योतक है कि अब पूर्वोक्त साधकोंसे विलक्षण दूसरे साधकोंका वर्णन किया जाता है। अभिप्राय यह है कि 'जो लोग पूर्वोक्त साधनोंको भलीभाँति नहीं समझ पाते, उनका उद्धार कैसे हो सकता है?' इसका उत्तर इस श्लोकमें दिया गया है।

प्रश्न—'एवम् अजानन्तः' विशेषणके सहित 'अन्ये' पद किनका वाचक है और उनका दूसरोंसे सुनकर उपासना करना क्या है?

उत्तर—बुद्धिकी मन्दताके कारण जो लोग पूर्वोक्त ध्यानयोग, सांख्ययोग और कर्मयोग—इनमेंसे किसी भी साधनको भलीभाँति नहीं समझ पाते, ऐसे पूर्वोक्त साधकोंसे भिन्न साधकोंका वाचक यहाँ 'एवम् अजानन्तः' विशेषणके सहित 'अन्ये' पद है।

जबालाके पुत्र सत्यकाम ब्रह्मको जाननेकी इच्छासे गौतमगोत्रीय महर्षि हारिद्रुमतके पास गये। वहाँ बात-चीत होनेपर गुरुने चार सौ अत्यन्त कृश और दुर्बल गौएँ अलग करके उनसे कहा—'हे सौम्य! तू इन गौओंके पीछे-पीछे जा।' गुरुके आज्ञानुसार अत्यन्त श्रद्धा, उत्साह और हर्षके साथ उन्हें वनकी ओर ले जाते हुए सत्यकामने कहा—'इनकी संख्या एक हजार पूरी करके मैं लौटूँगा।' वे उन्हें तृण और जलकी अधिकतावाले निरापद वनमें ले गये और पूरी एक हजार होनेपर लौटे। फल यह हुआ कि लौटते समय रास्तेमें ही उनको ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो गया। (छान्दोग्य० ४। ४—९) इसी प्रकारके तत्त्वके जाननेवाले ज्ञानी पुरुषोंका आदेश प्राप्त करके अत्यन्त श्रद्धा और प्रेमके साथ जो उसके अनुसार आचरण करना है, वही दूसरोंसे सुनकर उपासना करना है।

प्रश्न—'श्रुतिपरायणाः' विशेषणका क्या भाव है? तथा 'अपि' पदके प्रयोगका यहाँ क्या भाव है?

उत्तर—जो सुननेके परायण होते हैं अर्थात् जैसा सुनते हैं, उसीके अनुसार साधन करनेमें श्रद्धा और प्रेमके साथ तत्परतासे लग जाते हैं—उनको 'श्रुतिपरायणाः' कहते हैं। 'अपि' पदका प्रयोग करके यहाँ यह भाव दिखलाया गया है कि जब इस प्रकारके अल्पबुद्धिवाले पुरुष दूसरोंसे सुनकर भी उपासना करके मृत्युसे तर जाते हैं—इसमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं है, तब फिर जो साधक पूर्वोक्त तीन प्रकारके साधनोंमेंसे किसी प्रकारका एक साधन करते हैं—उनके तरनेमें तो कहना ही क्या है।

प्रश्न—यहाँ 'मृत्युम्' पद किसका वाचक है और 'अति' उपसर्गके सहित 'तरन्ति' क्रियाके प्रयोगका क्या भाव है?

उत्तर—यहाँ 'मृत्युम्' पद बार-बार जन्ममृत्युरूप संसारका वाचक है और 'अति' उपसर्गके सहित 'तरन्ति' क्रियाका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया गया है कि उपर्युक्त प्रकारसे साधन करनेवाले पुरुष जन्म-मृत्युरूप दुःखमय संसार-समुद्रसे पार होकर सदाके लिये सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं; फिर उनका पुनर्जन्म नहीं होता। अभिप्राय यह है कि तेईसवें श्लोकमें जो बात 'न स भूयोऽभिजायते' से और चौबीसवेंमें जो बात 'आत्मनि आत्मानं पश्यन्ति' से कही है, वही बात यहाँ 'मृत्युम् अतितरन्ति'से कही गयी है।

सम्बन्ध—इस प्रकार परमात्मसम्बन्धी तत्त्वज्ञानके भिन्न-भिन्न साधनोंका प्रतिपादन करके अब तीसरे श्लोकमें जो 'यादृक्' पदसे क्षेत्रके स्वभावको सुननेके लिये कहा था, उसके अनुसार भगवान् दो श्लोकोंद्वारा उस क्षेत्रको उत्पत्ति-विनाशशील बतलाकर उसके स्वभावका वर्णन करते हुए आत्माके यथार्थ तत्त्वको जाननेवालेकी प्रशंसा करते हैं—

यावत्सञ्जायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥२६॥

हे अर्जुन! जितने भी स्थावर-जङ्गम प्राणी उत्पन्न होते हैं, उन सबको तू क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे ही उत्पन्न जान ॥ २६ ॥

प्रश्न—'यावत्', 'किञ्चित्' और 'स्थावरजङ्गमम्'—इन तीनों विशेषणोंका क्या अभिप्राय है तथा इन तीनों विशेषणोंसे युक्त 'सत्त्वम्' पद किसका वाचक है?

उत्तर—'यावत्' और 'किञ्चित्'—ये दोनों पद चराचर जीवोंकी सम्पूर्णताके बोधक हैं। देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि चलने-फिरनेवाले प्राणियोंको 'जङ्गम' कहते हैं और वृक्ष, लता, पहाड़ आदि स्थिर रहनेवाले प्राणियोंको 'स्थावर' कहते हैं। अतएव इन तीनों विशेषणोंसे युक्त 'सत्त्वम्' पद समस्त चराचर प्राणिसमुदायका वाचक है।

प्रश्न—'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' शब्द यहाँ किसके वाचक हैं और इन दोनोंका संयोग तथा उससे समस्त प्राणिसमुदायका उत्पन्न होना क्या है?

उत्तर—इस अध्यायके ५वें श्लोकमें जिन चौबीस तत्त्वोंके समुदायको क्षेत्रका स्वरूप बतलाया गया है,

सातवें अध्यायके चौथे-पाँचवें श्लोकोंमें जिसको 'अपरा प्रकृति' कहा गया है— वही 'क्षेत्र' है और उसको जो जाननेवाला है, सातवें अध्यायके ५वें श्लोकमें जिसको 'परा प्रकृति' कहा गया है—वह चेतन तत्त्व ही 'क्षेत्रज्ञ' है। उसका यानी 'प्रकृतिस्थ पुरुष' का जो प्रकृतिसे बने हुए भिन्न-भिन्न सूक्ष्म और स्थूल शरीरोंके साथ सम्बन्ध होना है, वही क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञका संयोग है और इसके होते ही जो भिन्न-भिन्न योनियोंद्वारा भिन्न-भिन्न आकृतियोंमें प्राणियोंका प्रकट होना है— वही उनका उत्पन्न होना है।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥२७॥

जो पुरुष नष्ट होते हुए सब चराचर भूतोंमें परमेश्वरको नाशरहित और समभावसे स्थित देखता है, वही यथार्थ देखता है ॥ २७ ॥

प्रश्न—'विनश्यत्सु' और 'सर्वेषु'—इन दोनों विशेषणोंके सहित 'भूतेषु' पद किनका वाचक है और उनके साथ इन दोनों विशेषणोंका प्रयोग करके क्या भाव दिखलाया गया है?

उत्तर—बार-बार जन्म लेने और मरनेवाले जितने भी प्राणी हैं, भिन्न-भिन्न सूक्ष्म और स्थूल शरीरोंके संयोग-वियोगसे जिनका जन्मना और मरना माना जाता है, उन सबका वाचक यहाँ 'विनश्यत्सु' और 'सर्वेषु' इन दोनों विशेषणोंके सहित 'भूतेषु' पद है। समस्त प्राणियोंका ग्रहण करनेके लिये उसके साथ 'सर्वेषु' और शरीरोंके सम्बन्धसे उनको विनाशशील बतलानेके लिये 'विनश्यत्सु' विशेषण दिया गया है।

यहाँ यह ध्यानमें रखना चाहिये कि विनाश होना शरीरका धर्म है, आत्माका नहीं। आत्मतत्त्व नित्य और अविनाशी है तथा वह शरीरोंके भेदसे भिन्न-भिन्न प्रतीत होनेवाले समस्त प्राणिसमुदायमें वस्तुतः एक ही है। यही बात इस श्लोकमें दिखलायी गयी है।

प्रश्न—यहाँ 'परमेश्वरम्' पद किसका वाचक है तथा उपर्युक्त समस्त भूतोंमें उसे नाशरहित और समभावसे स्थित देखना क्या है?

उत्तर—यहाँ 'परमेश्वरम्' पद प्रकृतिसे सर्वथा अतीत उस निर्विकार चेतनतत्त्वका वाचक है, जिसका वर्णन 'क्षेत्रज्ञ' के साथ एकता करते हुए इसी अध्यायके २२ वें श्लोकमें उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्त्ता, भोक्ता, महेश्वर और परमात्माके नामसे किया गया है। यह परम पुरुष यद्यपि वस्तुतः शुद्ध सच्चिदानन्दघन है और प्रकृतिसे सर्वथा अतीत है, तो भी प्रकृतिके संगसे इसको क्षेत्रज्ञ और प्रकृतिजन्य गुणोंका भोक्ता कहा जाता है। अतः समस्त प्राणियोंके जितने भी शरीर हैं, जिनके सम्बन्धसे वे विनाशशील कहे जाते हैं, उन समस्त शरीरोंमें उनके वास्तविक स्वरूपभूत एक ही अविनाशी निर्विकार चेतनतत्त्वको जो विनाशशील बादलोंमें आकाशकी भाँति व्याप्त और नित्य देखना है— वही उस 'परमेश्वरको समस्त प्राणियोंमें विनाशरहित और समभावसे स्थित देखना' है।

प्रश्न—यहाँ 'यः पश्यति स पश्यति' इस वाक्यसे क्या भाव दिखलाया गया है?

उत्तर—इस श्लोकमें आत्मतत्त्वको जन्म और मृत्यु आदि समस्त विकारोंसे रहित—निर्विकार एवं सम बतलाया गया है। अतएव इस वाक्यसे यह भाव दिखलाया

गया है कि जो इस नित्य चेतन एक आत्मतत्त्वको इस प्रकार निर्विकार, अविनाशी और असङ्गरूपसे सर्वत्र समभावसे व्याप्त देखता है—वही यथार्थ देखता है। जो इसे शरीरोंके सङ्गसे जन्म-मरणशील और सुखी-दुःखी समझते हैं, उनका देखना यथार्थ देखना नहीं है; अतएव वे देखते हुए भी नहीं देखते।

सम्बन्ध—उपर्युक्त श्लोकमें यह कहा गया है कि उस परमेश्वरको जो सब भूतोंमें नाशरहित और समभावसे स्थित देखता है, वही ठीक देखता है; इस कथनकी सार्थकता दिखलाते हुए उसका फल परम गतिकी प्राप्ति बतलाते हैं—

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनाऽऽत्मानं ततो याति परां गतिम्॥२८॥

क्योंकि वह पुरुष सबमें समभावसे स्थित परमेश्वरको समान देखता हुआ अपनेद्वारा अपनेको नष्ट नहीं करता, इससे वह परम गतिको प्राप्त होता है॥२८॥

प्रश्न—यहाँ 'हि' पद किस अर्थमें है और इसके प्रयोगका क्या भाव है?

उत्तर—यहाँ 'हि' पद हेतु-अर्थमें है। इसका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया गया है कि समभावसे देखनेवाला अपना नाश नहीं करता और परम गतिको प्राप्त हो जाता है। इसलिये उसका देखना ही यथार्थ देखना है।

प्रश्न—सर्वत्र समभावसे स्थित परमेश्वरको सम देखना क्या है और इस प्रकार देखनेवाला अपनेद्वारा अपनेको नष्ट नहीं करता, इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—एक ही सच्चिदानन्दघन परमात्मा सर्वत्र समभावसे व्याप्त है, अज्ञानके कारण ही भिन्न-भिन्न शरीरोंमें उसकी भिन्नता प्रतीत होती है—वस्तुतः उसमें किसी प्रकारका भेद नहीं है—इस तत्त्वको भलीभाँति समझकर प्रत्यक्ष कर लेना ही 'सर्वत्र समभावसे स्थित परमेश्वरको सम देखना' है। जो इस तत्त्वको नहीं जानते, उनका देखना सम देखना नहीं है। क्योंकि उनकी सबमें विषमबुद्धि होती है; वे किसीको अपना प्रिय, हितैषी और किसीको अप्रिय तथा अहित करनेवाला समझते हैं एवं अपने-आपको दूसरोंसे भिन्न, एकदेशीय मानते हैं। अतएव वे शरीरोंके जन्म और मरणको अपना जन्म और मरण माननेके कारण बार-बार नाना योनियोंमें जन्म लेकर मरते रहते हैं, यही उनका अपनेद्वारा अपनेको नष्ट करना है; परन्तु जो पुरुष उपर्युक्त प्रकारसे एक ही परमेश्वरको समभावसे स्थित देखता है, वह न तो अपनेको उस परमेश्वरसे भिन्न समझता है और न इन शरीरोंसे अपना कोई सम्बन्ध ही मानता है। इसलिये वह शरीरोंके विनाशसे अपना विनाश नहीं देखता और इसीलिये वह अपनेद्वारा अपनेको नष्ट नहीं करता। अभिप्राय यह है कि उसकी स्थिति सर्वव्यापी, अविनाशी, सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मामें अभिन्नभावसे हो जाती है; अतएव वह सदाके लिये जन्म-मरणसे छूट जाता है।

प्रश्न—'ततः' पदका प्रयोग किस अर्थमें हुआ है और इसका प्रयोग करके परम गतिको प्राप्त होनेकी बात कहनेका क्या भाव है?

उत्तर—'ततः' पद भी हेतुबोधक है। इसका प्रयोग करके परम गतिकी प्राप्ति बतलानेका यह भाव है कि सर्वत्र समभावसे स्थित सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें अभिन्नभावसे

स्थित रहनेवाला वह पुरुष अपनेद्वारा अपना विनाश नहीं करता, इस कारण वह सदाके लिये जन्म-मृत्युसे छूटकर परम गतिको प्राप्त हो जाता है। जो परम पदके नामसे कहा गया है, जिसको प्राप्त करके पुनः लौटना नहीं पड़ता और जो समस्त साधनोंका अन्तिम फल है—उसको प्राप्त होना ही यहाँ 'परम गतिको प्राप्त होना' है।

सम्बन्ध—इस प्रकार नित्य विज्ञानानन्दघन आत्मतत्त्वको सर्वत्र समभावसे देखनेका महत्त्व और फल बतलाकर अब अगले श्लोकमें उसे अकर्ता देखनेवालेकी महिमा कहते हैं—

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथाऽऽत्मानमकर्तारं स पश्यति ॥२९॥

और जो पुरुष सम्पूर्ण कर्मोंको सब प्रकारसे प्रकृतिके द्वारा ही किये जाते हुए देखता है और आत्माको अकर्त्ता देखता है, वही यथार्थ देखता है ॥ २९ ॥

प्रश्न—तीसरे अध्यायके २७वें, २८वें और चौदहवें अध्यायके १९वें श्लोकोंमें समस्त कर्मोंको गुणोंद्वारा किये हुए बतलाया गया है तथा पाँचवें अध्यायके ८वें, ९वें श्लोकोंमें सब इन्द्रियोंका इन्द्रियोंके विषयोंमें बरतना कहा गया है; और यहाँ सब कर्मोंको प्रकृतिद्वारा किये जाते हुए देखनेको कहते हैं। इस प्रकार तीन तरहके वर्णनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण प्रकृतिके ही कार्य हैं; तथा समस्त इन्द्रियाँ और मन, बुद्धि आदि एवं इन्द्रियोंके विषय—ये सब भी गुणोंके ही विस्तार हैं। अतएव इन्द्रियोंका इन्द्रियोंके विषयोंमें बरतना, गुणोंका गुणोंमें बरतना और गुणोंद्वारा समस्त कर्मोंको किये हुए बतलाना भी सब कर्मोंको प्रकृतिद्वारा ही किये जाते हुए बतलाना है। इस प्रकार सब जगह वस्तुतः एक ही बात कही गयी है; इसमें किसी प्रकारका भेद नहीं है। सभी जगहोंके कथनका अभिप्राय आत्मामें कर्तापनका अभाव दिखलाना है।

प्रश्न—आत्माको अकर्ता देखना क्या है और जो ऐसा देखता है, वही (यथार्थ) देखता है—इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—आत्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त और सब प्रकारके विकारोंसे रहित है; प्रकृतिसे उसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। अतएव वह न किसी भी कर्मका कर्त्ता है और न कर्मोंके फलका भोक्ता ही है—इस बातका अपरोक्षभावसे अनुभव कर लेना 'आत्माको अकर्त्ता समझना' है। तथा जो ऐसा देखता है, वही (यथार्थ) देखता है—इस कथनसे उसकी महिमा प्रकट की गयी है। अभिप्राय यह है कि जो आत्माको मन, बुद्धि और शरीरके सम्बन्धसे समस्त कर्मोंका कर्त्ता-भोक्ता समझते हैं, उनका देखना भ्रमयुक्त होनेसे गलत है।

सम्बन्ध—इस प्रकार आत्माको अकर्त्ता समझनेकी महिमा बतलाकर अब उसके एकत्वदर्शनका फल बतलाते हैं—

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥३०॥

जिस क्षण यह पुरुष भूतोंके पृथक्-पृथक् भावको एक परमात्मामें ही स्थित तथा उस परमात्मासे ही सम्पूर्ण भूतोंका विस्तार देखता है, उसी क्षण वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है ॥ ३० ॥

प्रश्न—'भूतपृथग्भावम्' पद किसका वाचक है और उसे एकमें स्थित और उसी एकसे सबका विस्तार देखना क्या है ?

उत्तर—जिन चराचर समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे बतलायी गयी है (१३।२६) तथा जिन समस्त भूतोंमें परमेश्वरको समभावसे देखनेके लिये कहा गया है (१३।२७), उन समस्त प्राणियोंके नानात्वका वाचक यहाँ 'भूतपृथग्भावम्' पद है। तथा जैसे स्वप्नसे जगा हुआ मनुष्य स्वप्नकालमें दिखलायी देनेवाले समस्त प्राणियोंके नानात्वको अपने-आपमें ही देखता है और यह भी समझता है कि उन सबका विस्तार मुझसे ही हुआ था; वस्तुतः स्वप्नकी सृष्टिमें मुझसे भिन्न कुछ भी नहीं था, एक मैं ही अपने-आपको अनेकरूपमें देख रहा था—इसी प्रकार जो समस्त प्राणियोंको केवल एक परमात्मामें ही स्थित और उसीसे सबका विस्तार देखता है, वही ठीक देखता है और इस प्रकार देखना ही सबको एकमें स्थित और उसी एकसे सबका विस्तार देखना है।

प्रश्न—यहाँ 'यदा' और 'तदा' पदके प्रयोगका क्या भाव है तथा ब्रह्मको प्राप्त होना क्या है ?

उत्तर—'यदा' और 'तदा' पद कालवाचक अव्यय हैं। इनका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया है कि मनुष्यको जिस क्षण ऐसा ज्ञान हो जाता है, उसी क्षण वह ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है यानी ब्रह्म ही हो जाता है। इसमें जरा भी विलम्ब नहीं होता। इस प्रकार जो सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके साथ अभिन्नताको प्राप्त हो जाना है—उसीको परम गतिकी प्राप्ति, मोक्षकी प्राप्ति, आत्यन्तिक सुखकी प्राप्ति और परम शान्तिकी प्राप्ति भी कहते हैं।

सम्बन्ध—इस प्रकार आत्माको सब प्राणियोंमें समभावसे स्थित, निर्विकार और अकर्ता बतलाया जानेपर यह शङ्का होती है कि समस्त शरीरोंमें रहता हुआ भी आत्मा उनके दोषोंसे निर्लिप्त और अकर्ता कैसे रह सकता है; अतएव इस शङ्काका निवारण करते हुए भगवान् अब, तीसरे श्लोकमें जो 'यत्प्रभावश्च' पदसे क्षेत्रज्ञका प्रभाव सुननेका सङ्केत किया गया था, उसके अनुसार तीन श्लोकोंद्वारा आत्माके प्रभावका वर्णन करते हैं—

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥३१॥

हे अर्जुन ! अनादि होनेसे और निर्गुण होनेसे यह अविनाशी परमात्मा शरीरमें स्थित होनेपर भी वास्तवमें न तो कुछ करता है और न लिप्त ही होता है ॥ ३१ ॥

प्रश्न—'अनादित्वात्' और 'निर्गुणत्वात्'—इन दोनों पदोंका क्या अर्थ है और इन दोनोंका प्रयोग करके यहाँ क्या भाव दिखलाया गया है ?

उत्तर—जिसका कोई आदि यानी कारण न हो एवं जिसकी किसी भी कालमें नयी उत्पत्ति न हुई हो और जो सदासे ही हो—उसे 'अनादि' कहते हैं।

प्रकृति और उसके गुणोंसे जो सर्वथा अतीत हो, गुणोंसे और गुणोंके कार्यसे जिसका किसी कालमें और किसी भी अवस्थामें वास्तविक सम्बन्ध न हो—उसे 'निर्गुण' कहते हैं। अतएव यहाँ 'अनादित्वात्' और 'निर्गुणत्वात्'—इन दोनों पदोंका प्रयोग करके यह दिखलाया गया है कि जिसका प्रकरण चल रहा है, वह आत्मा 'अनादि' और 'निर्गुण' है; इसलिये वह अव्यय है—जन्म, मृत्यु आदि छः विकारोंसे सर्वथा अतीत है।

प्रश्न—यहाँ 'परमात्मा' के साथ 'अयम्' विशेषण देनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'अयम्' पद जिसका प्रकरण पहलेसे चला आ रहा है, उसका निर्देश करता है। अतएव यहाँ 'परमात्मा' शब्दके साथ 'अयम्' विशेषण देकर यह भाव दिखलाया गया है कि सत्ताईसवें श्लोकमें जिसको 'परमेश्वर', अट्ठाईसवेंमें 'ईश्वर', उन्तीसवेंमें 'आत्मा' और तीसवेंमें जिसको 'ब्रह्म' कहा गया है—उसीको यहाँ 'परमात्मा' बतलाया गया है। अर्थात् इन सबकी अभिन्नता—एकता दिखलानेके लिये यहाँ 'अयम्' पदका प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—सत्ताईसवें श्लोकमें परमेश्वर, अट्ठाईसवेंमें ईश्वर, उन्तीसवेंमें आत्मा, तीसवेंमें ब्रह्म और इसमें परमात्मा—इस प्रकार एक ही तत्त्वके बतलानेके लिये इन श्लोकोंमें भिन्न-भिन्न नामोंका प्रयोग क्यों किया?

उत्तर—तीसरे श्लोकमें भगवान्‌ने अर्जुनको 'क्षेत्रज्ञ' का स्वरूप और प्रभाव बतलानेका संकेत किया था। उसके अनुसार परब्रह्म परमात्माके साथ क्षेत्रज्ञकी अभिन्नता दिखलाकर उसके वास्तविक स्वरूपका निरूपण करनेके लिये यहाँ आत्मा और परमात्माके वाचक भिन्न-भिन्न नामोंका सार्थक प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—शरीरमें स्थित होनेपर भी आत्मा कैसे उससे लिप्त नहीं होता और क्यों वह कर्त्ता नहीं होता?

उत्तर—वास्तवमें प्रकृतिके गुणोंसे और उनके ही विस्ताररूप बुद्धि, मन, इन्द्रिय और शरीरसे आत्माका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है; वह गुणोंसे सर्वथा अतीत है। जैसे आकाश बादलोंमें स्थित होनेपर भी उनसे लिप्त नहीं होता, वैसे ही आत्मा भी शरीरोंसे लिप्त नहीं होता और उन-उन कर्मोंका कर्त्ता नहीं बनता। भगवान् स्वयं इस बातको अगले दो श्लोकोंमें दृष्टान्तद्वारा समझाते हैं।

सम्बन्ध—शरीरमें स्थित होनेपर भी आत्मा क्यों नहीं लिप्त होता? इसपर कहते हैं—

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथाऽऽत्मा नोपलिप्यते॥३२॥

जिस प्रकार सर्वत्र व्याप्त आकाश सूक्ष्म होनेके कारण लिप्त नहीं होता, वैसे ही देहमें सर्वत्र स्थित आत्मा निर्गुण होनेके कारण देहके गुणोंसे लिप्त नहीं होता॥३२॥

प्रश्न—इस श्लोकमें आकाशका दृष्टान्त देकर क्या बात समझायी गयी है?

उत्तर—आकाशके दृष्टान्तसे आत्मामें निर्लेपता सिद्ध की गयी है। अभिप्राय यह है कि जैसे आकाश वायु, अग्नि, जल और पृथ्वीमें सब जगह व्याप्त होते हुए भी उनके गुण-दोषोंसे किसी तरह भी लिप्त नहीं होता—

वैसे ही आत्मा भी इस शरीरमें सब जगह व्याप्त होते हुए भी अत्यन्त सूक्ष्म और गुणोंसे सर्वथा अतीत होनेके कारण बुद्धि, मन, इन्द्रिय और शरीरके गुण-दोषोंसे जरा भी लिपायमान नहीं होता ।

सम्बन्ध—शरीरमें स्थित होनेपर भी आत्मा कर्त्ता क्यों नहीं है ? इसपर कहते हैं—

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥३३॥

हे अर्जुन ! जिस प्रकार एक ही सूर्य इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको प्रकाशित करता है, उसी प्रकार एक ही आत्मा सम्पूर्ण क्षेत्रको प्रकाशित करता है ॥ ३३ ॥

प्रश्न—इस श्लोकमें रवि (सूर्य) का दृष्टान्त देकर क्या बात समझायी गयी है और 'रविः' पदके साथ 'एकः' विशेषण देनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—यहाँ रवि (सूर्य) का दृष्टान्त देकर आत्मामें अकर्त्तापनकी और 'रविः' पदके साथ 'एकः' विशेषण देकर आत्माके अद्वैतभावकी सिद्धि की गयी है । अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार एक ही सूर्य सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको प्रकाशित करता है, उसी प्रकार एक ही आत्मा समस्त क्षेत्रको—यानी ५वें और ६ठे श्लोकोंमें विकारसहित क्षेत्रके नामसे जिसके स्वरूपका वर्णन किया गया है, उस समस्त जडवर्गको—प्रकाशित करता है, सबको सत्ता-स्फूर्ति देता है । तथा भिन्न-भिन्न अन्तःकरणोंके सम्बन्धसे भिन्न-भिन्न शरीरोंमें उसकी भिन्न-भिन्न शक्तियोंका प्राकट्य होता-सा देखा जाता है; ऐसा होनेपर भी वह आत्मा सूर्यकी भाँति न तो उनके कर्मोंको करनेवाला और न करवानेवाला ही होता है, तथा न द्वैतभाव या वैषम्यादि दोषोंसे ही युक्त होता है । वह प्रत्येक अवस्थामें सदा-सर्वदा शुद्ध, विज्ञान-स्वरूप, अकर्त्ता, निर्विकार, सम और निरञ्जन ही रहता है ।

सम्बन्ध—तीसरे श्लोकमें जिन छः बातोंको कहनेका भगवान्‌ने सङ्केत किया था, उनका वर्णन करके अब इस अध्यायमें वर्णित समस्त उपदेशको भलीभाँति समझनेका फल परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति बतलाते हुए अध्यायका उपसंहार करते हैं—

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥३४॥

इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेदको तथा कार्यसहित प्रकृतिके अभावको जो पुरुष ज्ञान-नेत्रोंद्वारा तत्त्वसे जानते हैं, वे महात्माजन परम ब्रह्म परमात्माको प्राप्त होते हैं ॥ ३४ ॥

प्रश्न—'ज्ञानचक्षुषा' पदका क्या अभिप्राय है ? तथा ज्ञान-चक्षुके द्वारा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेदको जानना क्या है ?

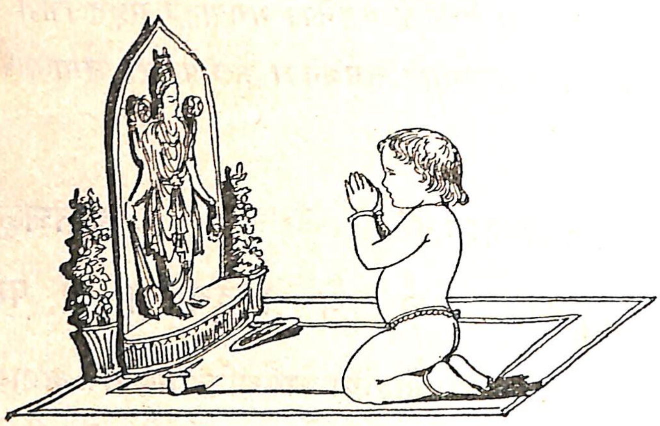
उत्तर—दूसरे श्लोकमें भगवान्‌ने जिसको अपने मतसे 'ज्ञान' कहा है और जिसकी प्राप्ति अमानित्वादि साधनोंसे होती है, यहाँ 'ज्ञानचक्षुषा' पद उसी 'तत्त्वज्ञान'का वाचक है ।

उस ज्ञानके द्वारा इस अध्यायमें बतलाये हुए प्रकारके अनुसार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेदको इस प्रकार प्रत्यक्ष कर लेना कि महाभूतादि चौबीस तत्त्वोंके समुदायरूप समष्टिशरीरका नाम 'क्षेत्र' है; वह ज्ञेय (जाननेमें आनेवाला), परिवर्त्तनशील, विनाशी, विकारी, जड, परिणामी और अनित्य है; तथा 'क्षेत्रज्ञ' उसका ज्ञाता (जाननेवाला), चेतन, निर्विकार, अकर्त्ता, नित्य, अविनाशी, सबको सत्ता-स्फूर्त्ति देनेवाला, असङ्ग, शुद्ध, ज्ञानस्वरूप और एक है—यही ज्ञानचक्षुके द्वारा 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' के भेदको जानना है ।

प्रश्न—'भूतप्रकृतिमोक्षम्' का क्या अभिप्राय है और उसको ज्ञानचक्षुके द्वारा जानना क्या है ?

उत्तर—यहाँ 'भूत' शब्द प्रकृतिके कार्यरूप समस्त दृश्यवर्गका और 'प्रकृति' उसके कारणका वाचक है । जैसे स्वप्नसे जगा हुआ पुरुष स्वप्नकी सृष्टि और उसकी कारणरूपा निद्राके अभावको भलीभाँति जान लेता है, वैसे ही यथार्थ ज्ञानके द्वारा जो उस दृश्यवर्गके सहित मूल प्रकृतिके अभावको जान लेना है— वही ज्ञाननेत्रोंके द्वारा 'भूतप्रकृतिमोक्ष' को जानना है । इस अवस्थामें फिर एक अद्वितीय ब्रह्मके अतिरिक्त और कुछ रह ही नहीं जाता ।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥



ॐ श्रीपरमात्मने नमः

चतुर्दशोऽध्यायः

अध्यायका नाम

इस अध्यायमें सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंके स्वरूपका; उनके कार्य, कारण और शक्तिका; तथा वे किस प्रकार किस अवस्थामें जीवात्माको कैसे बन्धनमें डालते हैं और किस प्रकार इनसे छूटकर मनुष्य परम पदको प्राप्त हो सकता है; तथा इन तीनों गुणोंसे अतीत होकर परमात्माको प्राप्त मनुष्यके क्या लक्षण हैं ?—इन्हीं त्रिगुणसम्बन्धी बातोंका विवेचन किया गया है। पहले साधन-कालमें रज और तमका त्याग करके सत्त्वगुणको ग्रहण करना और अन्तमें सभी गुणोंसे सर्वथा सम्बन्ध त्याग देना चाहिये, इसको समझानेके लिये उन तीनों गुणोंका विभागपूर्वक वर्णन किया गया है। इसलिये इस अध्यायका नाम 'गुणत्रयविभागयोग' रक्खा गया है।

अध्यायका संक्षेप

इस अध्यायके पहले और दूसरे श्लोकोंमें आगे कहे जानेवाले ज्ञानकी महिमा और उसके कहनेकी प्रतिज्ञा की गयी है। तीसरे और चौथे श्लोकोंमें प्रकृति और पुरुषके सम्बन्धसे सब प्राणियोंकी उत्पत्तिका प्रकार बतलाकर पाँचवेंमें सत्त्व, रज, और तम—इन तीनों गुणोंको जीवात्माके बन्धनमें हेतु बतलाया है। छठेसे आठवेंतक सत्त्व आदि तीनों गुणोंका स्वरूप और उनके द्वारा जीवात्माके बाँधे जानेका प्रकार क्रमसे बतलाया गया है। नवम श्लोकमें जीवात्माको कौन गुण किसमें लगाता है—इसका संकेत करके तथा दसवें श्लोकमें दूसरे दो गुणोंको दबाकर किसी एक गुणके बढ़नेका प्रकार बतलाते हुए ग्यारहवेंसे तेरहवेंतक बढ़े हुए सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंके क्रमसे लक्षण बतलाये गये हैं। चौदहवें और पंद्रहवें श्लोकोंमें तीनों गुणोंमेंसे प्रत्येक गुणकी वृद्धिके समय मरनेवालेकी गतिका निरूपण करके सोलवें श्लोकमें सात्त्विक, राजस और तामस—तीनों प्रकारके कर्मोंका उनके अनुरूप फल बतलाया गया है। सतरहवेंमें ज्ञानकी उत्पत्तिमें सत्त्वगुणको, लोभकी उत्पत्तिमें रजोगुणको तथा प्रमाद और मोहकी उत्पत्तिमें तमोगुणको हेतु बतलाकर अठारहवें श्लोकमें तीनों गुणोंमेंसे प्रत्येकमें स्थित जीवात्माकी उन गुणोंके अनुरूप ही गति बतलायी गयी है। उन्नीसवें और बीसवेंमें समस्त कर्मोंको गुणोंके द्वारा किये जाते हुए और आत्माको सब गुणोंसे अतीत एवं अकर्ता देखनेका तथा तीनों गुणोंसे अतीत होनेका फल बतलाया गया है। इक्कीसवेंमें अर्जुनने गुणातीत पुरुषके लक्षण, आचरण और गुणातीत होनेके लिये उपाय पूछा है; इसके उत्तरमें बाईसवेंसे पचीसवेंतक भगवान्‌ने गुणातीतके लक्षण और आचरणोंका एवं छब्बीसवेंमें गुणोंसे अतीत होनेके उपाय बतलाकर उसके फलका वर्णन किया है। तदनन्तर अन्तिम–सत्ताईसवें श्लोकमें ब्रह्म, अमृत, अव्यय आदि सब भगवान्‌के ही स्वरूप होनेसे अपनेको (भगवान्‌को) इन सबकी प्रतिष्ठा बतलाकर अध्यायका उपसंहार किया है।

सम्बन्ध—तेरहवें अध्यायमें 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ'के लक्षणोंका निर्देश करके उन दोनोंके ज्ञानको ही ज्ञान बतलाया और उसके अनुसार क्षेत्रके स्वरूप, स्वभाव, विकार और उसके तत्त्वोंकी उत्पत्तिके क्रम आदि तथा क्षेत्रज्ञके

स्वरूप और उसके प्रभावका वर्णन किया तथा उन्नीसवें श्लोकसे प्रकृति-पुरुषके नामसे प्रकरण आरम्भ करके तीनों गुणोंको प्रकृतिजन्य बतलाया और इक्कीसवें श्लोकमें यह बात भी कही कि पुरुषके बार-बार अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म होनेमें गुणोंका सङ्ग ही हेतु है। इसपर सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंके भिन्न-भिन्न स्वरूप क्या हैं, ये तीनों जीवात्माको कैसे शरीरमें बाँधते हैं, किस गुणके सङ्गसे किस योनिमें जन्म होता है, गुणोंसे छूटनेके उपाय क्या हैं, गुणोंसे छूटे हुए पुरुषोंके लक्षण तथा आचरण कैसे होते हैं—ये सब बातें जाननेकी स्वाभाविक ही इच्छा होती है; अतएव इसी विषयका स्पष्टीकरण करनेके लिये इस चौदहवें अध्यायका आरम्भ किया गया है। तेरहवें अध्यायमें वर्णित ज्ञानको ही स्पष्ट करके चौदहवें अध्यायमें विस्तारपूर्वक समझाना है, इसलिये पहले भगवान् दो श्लोकोंमें उस ज्ञानका महत्त्व बतलाकर उसके पुनः वर्णनकी प्रतिज्ञा करते हैं—

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः॥ १॥

श्रीभगवान् बोले—ज्ञानोंमें भी अति उत्तम उस परम ज्ञानको मैं फिर कहूँगा, जिसको जानकर सब मुनिजन इस संसारसे मुक्त होकर परम सिद्धिको प्राप्त हो गये हैं॥ १॥

प्रश्न—यहाँ 'ज्ञानानाम्' पद किन ज्ञानोंका वाचक है और उनमेंसे यहाँ भगवान् किस ज्ञानके वर्णनकी प्रतिज्ञा करते हैं; तथा उस ज्ञानको अन्य ज्ञानोंकी अपेक्षा उत्तम और पर क्यों बतलाते हैं?

उत्तर—श्रुति-स्मृति-पुराणादिमें विभिन्न विषयोंको समझानेके लिये जो नाना प्रकारके बहुत-से उपदेश हैं उन सभीका वाचक यहाँ 'ज्ञानानाम्' पद है। उनमेंसे प्रकृति और पुरुषके स्वरूपका विवेचन करके पुरुषके वास्तविक स्वरूपको प्रत्यक्ष करा देनेवाला जो तत्त्वज्ञान है, यहाँ भगवान् उसी ज्ञानका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं। वह ज्ञान परमात्माके स्वरूपको प्रत्यक्ष करानेवाला और जीवात्माको प्रकृतिके बन्धनसे छुड़ाकर सदाके लिये मुक्त कर देनेवाला है, इसलिये उस ज्ञानको अन्यान्य ज्ञानोंकी अपेक्षा उत्तम और पर (अत्यन्त उत्कृष्ट) बतलाया गया है।

प्रश्न—यहाँ 'भूयः' पदके प्रयोगका क्या भाव है?

उत्तर—'भूयः' पदका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया गया है कि इस ज्ञानका निरूपण तो पहले भी किया जा चुका है, परन्तु अत्यन्त ही गहन और दुर्विज्ञेय होनेके कारण समझमें आना कठिन है; अतः भलीभाँति समझानेके लिये प्रकारान्तरसे पुनः उसीका वर्णन किया जाता है।

प्रश्न—यहाँ 'मुनयः' पद किनका वाचक है और वे लोग इस ज्ञानको समझकर जिसको प्राप्त हो चुके हैं, वह 'परम सिद्धि' क्या है?

उत्तर—यहाँ 'मुनयः' पद ज्ञानयोगके साधनद्वारा परम गतिको प्राप्त ज्ञानयोगियोंका वाचक है; तथा जिसको 'परब्रह्मकी प्राप्ति' कहते हैं—जिसका वर्णन 'परम शान्ति', 'आत्यन्तिक सुख' और 'अपुनरावृत्ति' आदि अनेक

नामोंसे किया गया है, जहाँ जाकर फिर कोई वापस नहीं लौटता—यहाँ मुनिजनोंद्वारा प्राप्त की जानेवाली 'परम सिद्धि' भी वही है।

प्रश्न—'इतः' पद किसका वाचक है और इसके प्रयोगका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'इतः' पद 'संसार'का वाचक है। इसका प्रयोग करके यह दिखलाया गया है कि उन मुनियोंका इस महान् दुःखमय मृत्युरूप संसारसमुद्रसे सदाके लिये सम्बन्ध छूट गया है।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च॥ २॥

इस ज्ञानको आश्रय करके अर्थात् धारण करके मेरे स्वरूपको प्राप्त हुए पुरुष सृष्टिके आदिमें पुनः उत्पन्न नहीं होते और प्रलयकालमें भी व्याकुल नहीं होते॥ २॥

प्रश्न—'ज्ञानम्'के साथ 'इदम्' विशेषणके प्रयोगका क्या भाव है? और उस ज्ञानका आश्रय लेना क्या है?

उत्तर—जिसका वर्णन तेरहवें अध्यायमें किया जा चुका है और इस चौदहवें अध्यायमें भी किया जाता है, उसी ज्ञानकी यह महिमा है—इसी बातको स्पष्ट करनेके लिये 'ज्ञानम्' पदके साथ 'इदम्' विशेषणका प्रयोग किया गया है। तथा इस प्रकरणमें वर्णित ज्ञानके अनुसार प्रकृति और पुरुषके स्वरूपको समझकर गुणोंके सहित प्रकृतिसे सर्वथा अतीत हो जाना और निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्द परमात्माके स्वरूपमें अभिन्नभावसे स्थित रहना ही इस ज्ञानका आश्रय लेना है।

प्रश्न—यहाँ भगवान्‌के साधर्म्यको प्राप्त होना क्या है?

उत्तर—पिछले श्लोकमें 'परां सिद्धिं गताः' से जो बात कही गयी है, इस श्लोकमें 'मम साधर्म्यमागताः'से भी वही कही गयी है। अभिप्राय यह है कि भगवान्‌के निर्गुण रूपको अभेदभावसे प्राप्त हो जाना ही भगवान्‌के साधर्म्यको प्राप्त होना है।

प्रश्न—भगवत्प्राप्त पुरुष सृष्टिके आदिमें पुनः उत्पन्न नहीं होते और प्रलयकालमें भी व्याकुल नहीं होते—इसका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि इन अध्यायोंमें बतलाये हुए ज्ञानका आश्रय लेकर तदनुसार साधन करके जो पुरुष परब्रह्म परमात्माके स्वरूपको प्राप्त हो चुके हैं, वे मुक्त पुरुष न तो महासर्गके आदिमें पुनः उत्पन्न होते हैं और न प्रलयकालमें पीडित ही होते हैं। वस्तुतः सृष्टिके सर्ग और प्रलयसे उनका कोई सम्बन्ध ही नहीं रह जाता। क्योंकि अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म होनेका प्रधान कारण है गुणोंका सङ्ग और मुक्त पुरुष गुणोंसे सर्वथा अतीत होते हैं; इसलिये उनका पुनरागमन नहीं हो सकता। और जब उत्पत्ति नहीं है, तब विनाशका तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

सम्बन्ध—इस प्रकार ज्ञानके महत्त्वका निरूपण और उसे फिरसे कहनेकी प्रतिज्ञा करके अब भगवान् उस ज्ञानका वर्णन आरम्भ करते हुए दो श्लोकोंमें प्रकृति और पुरुषसे समस्त जगत्‌की उत्पत्ति बतलाते हैं—

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥ ३॥

हे अर्जुन ! मेरी महत्-ब्रह्मरूप प्रकृति अर्थात् अव्याकृत माया सम्पूर्ण भूतोंकी योनि है अर्थात् गर्भाधानका स्थान है और मैं उस योनिमें चेतन-समुदायरूप गर्भको स्थापन करता हूँ। उस जड-चेतनके संयोगसे सब भूतोंकी उत्पत्ति होती है ॥ ३ ॥

प्रश्न—'महत्' विशेषणके सहित 'ब्रह्म' पद किसका वाचक है तथा उसे 'मम' कहनेका और 'योनिः' नाम देनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—समस्त जगत्की कारणरूपा जो मूल प्रकृति है, जिसे 'अव्यक्त' और 'प्रधान' भी कहते हैं उस प्रकृतिका वाचक 'महत्' विशेषणके सहित 'ब्रह्म' पद है। इसकी विशेष व्याख्या नवें अध्यायके सातवें श्लोकपर की जा चुकी है। उसे 'मम' (मेरी) कहकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि मेरे साथ इसका अनादि सम्बन्ध है। 'योनिः' उपादान-कारण और गर्भाधानके आधारको कहते हैं। यहाँ उसे 'योनि' नाम देकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि समस्त प्राणियोंके विभिन्न शरीरोंका यही उपादान-कारण है और यही गर्भाधानका आधार है।

प्रश्न—यहाँ 'गर्भम्' पद किसका वाचक है और उसको उस महद्ब्रह्मरूप प्रकृतिमें स्थापन करना क्या है ?

उत्तर—सातवें अध्यायमें जिसे 'परा प्रकृति' कहा है, उसी चेतनसमूहका वाचक यहाँ 'गर्भम्' पद है। और महाप्रलयके समय अपने-अपने संस्कारोंके सहित परमेश्वरमें स्थित जीवसमुदायको जो प्रकृतिके साथ सम्बद्ध कर देना है, वही उस चेतन-समुदायरूप गर्भको प्रकृतिरूप योनिमें स्थापन करना है।

प्रश्न—'ततः' पदका क्या अर्थ है और 'सर्वभूतानाम्' पद किनका वाचक है तथा उनकी उत्पत्ति क्या है ?

उत्तर—'ततः' पद यहाँ भगवान्‌द्वारा किये जानेवाले उस जड और चेतनके संयोगका और 'सर्वभूतानाम्' पद अपने-अपने कर्म-संस्कारोंके अनुसार देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि विभिन्न शरीरोंमें उत्पन्न होनेवाले प्राणियोंका वाचक है। उपर्युक्त जड-चेतनके संयोगरूप गर्भाधानसे जो भिन्न-भिन्न आकृतियोंमें सब प्राणियोंका सूक्ष्मरूपसे प्रकट होना है, वही उनकी उत्पत्ति है। महासर्गके आदिमें उपर्युक्त गर्भाधानसे पहले-पहल हिरण्यगर्भकी और तदनन्तर अन्यान्य भूतोंकी उत्पत्ति होती है।

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ४ ॥

हे अर्जुन ! नाना प्रकारकी सब योनियोंमें जितनी मूर्तियाँ अर्थात् शरीरधारी प्राणी उत्पन्न होते हैं, अव्याकृत माया तो उन सबकी गर्भ धारण करनेवाली माता है और मैं बीजको स्थापन करनेवाला पिता हूँ ॥ ४ ॥

प्रश्न—यहाँ 'मूर्तयः' पद किनका वाचक है और समस्त योनियोंमें उनका उत्पन्न होना क्या है ?

उत्तर—'मूर्तयः' पद देव, मनुष्य, राक्षस, पशु और पक्षी आदि नाना प्रकारके भिन्न-भिन्न वर्ण और आकृतिवाले शरीरोंसे युक्त समस्त प्राणियोंका वाचक है; और उन देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि योनियोंमें उन प्राणियोंका स्थूलरूपसे जन्म ग्रहण करना ही उनका उत्पन्न होना है।

प्रश्न—उन सब (मूर्तियों) का मैं बीज प्रदान करनेवाला पिता हूँ और महद्ब्रह्म योनि (माता) है—इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि उन सब मूर्तियोंके जो सूक्ष्म-स्थूल शरीर हैं, वे सब प्रकृतिके अंशसे बने हुए हैं और उन सबमें जो चेतन आत्मा है, वह मेरा अंश है । उन दोनोंके सम्बन्धसे समस्त मूर्तियाँ अर्थात् शरीरधारी प्राणी प्रकट होते हैं, अतएव प्रकृति उनकी माता है और मैं पिता हूँ ।

सम्बन्ध—तेरहवें अध्यायके २१वें श्लोकमें जो यह बात कही थी कि गुणोंके सङ्गसे ही इस जीवका अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म होता है । वे गुण क्या हैं ? उनका सङ्ग क्या है ? किस गुणके सङ्गसे अच्छी योनिमें और किस गुणके सङ्गसे बुरी योनिमें जन्म होता है ?—इन सब बातोंको स्पष्ट करनेके लिये इस प्रकरणका आरम्भ करते हुए भगवान् अब ५वेंसे ८वें श्लोकतक पहले उन तीनों गुणोंकी प्रकृतिसे उत्पत्ति और उनके विभिन्न नाम बतलाकर फिर उनके स्वरूप और उनके द्वारा जीवात्माके बन्धन-प्रकारका क्रमशः पृथक्-पृथक् वर्णन करते हैं—

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ ५ ॥

हे अर्जुन ! सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण—ये प्रकृतिसे उत्पन्न तीनों गुण अविनाशी जीवात्माको शरीरमें बाँधते हैं ॥ ५ ॥

प्रश्न—'सत्त्वम्', 'रजः', 'तमः'—इन तीनों पदोंके प्रयोगका और गुणोंको 'प्रकृतिसम्भव' कहनेका क्या भाव है ?

उत्तर—गुणोंके भेद, नाम और संख्या बतलानेके लिये यहाँ 'सत्त्वम्', 'रजः' और 'तमः'—इन पदोंका प्रयोग किया गया है । अभिप्राय यह है कि गुण तीन हैं; सत्त्व, रज और तम उनके नाम हैं; और तीनों परस्पर भिन्न हैं । इनको 'प्रकृतिसम्भव' कहनेका यह अभिप्राय है कि ये तीनों गुण प्रकृतिके कार्य हैं एवं समस्त जड पदार्थ इन्हीं तीनोंके विस्तार हैं ।

प्रश्न—'देहिनम्' पदके प्रयोगका और उसे अव्यय कहनेका क्या भाव है तथा उन तीनों गुणोंका इसको शरीरमें बाँधना क्या है ?

उत्तर—'देहिनम्' पदका प्रयोग करके भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि जिसका शरीरमें अभिमान है, उसीपर इन गुणोंका प्रभाव पड़ता है; और उसे 'अव्यय' कहकर यह दिखलाया है कि वास्तवमें स्वरूपसे वह सब प्रकारके विकारोंसे रहित और अविनाशी है, अतएव उसका बन्धन हो ही नहीं सकता । अनादिसिद्ध अज्ञानके कारण उसने बन्धन मान रक्खा है । इन तीनों गुणोंका जो अपने अनुरूप भोगोंमें और शरीरोंमें इसका ममत्व, आसक्ति और अभिमान उत्पन्न कर देना है—यही उन तीनों गुणोंका उसको शरीरमें बाँध देना है । अभिप्राय यह है कि जीवात्माका तीनों गुणोंसे उत्पन्न शरीरोंमें और उनसे सम्बन्ध रखनेवाले पदार्थोंमें जो अभिमान, आसक्ति और ममत्व है—वही बन्धन है ।

सम्बन्ध—अब सत्त्वगुणका स्वरूप और उसके द्वारा जीवात्माके बद्ध होनेका प्रकार बतलाते हैं—

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥ ६ ॥

हे निष्पाप ! उन तीनों गुणोंमें सत्त्वगुण तो निर्मल होनेके कारण प्रकाश करनेवाला और विकाररहित है, वह सुखके सम्बन्धसे और ज्ञानके सम्बन्धसे अर्थात् अभिमानसे बाँधता है ॥ ६ ॥

प्रश्न—'निर्मलत्वात्' पदके प्रयोगका तथा सत्त्वगुणको प्रकाशक और अनामय बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—सत्त्वगुणका स्वरूप सर्वथा निर्मल है, उसमें किसी भी प्रकारका कोई दोष नहीं है; इसी कारण वह प्रकाशक और अनामय है। उससे अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें प्रकाशकी वृद्धि होती है; एवं दुःख, विक्षेप, दुर्गुण और दुराचारोंका नाश होकर शान्तिकी प्राप्ति होती है। जब सत्त्वगुण बढ़ता है तब मनुष्यके मनकी चञ्चलता अपने-आप ही नष्ट हो जाती है और वह संसारसे विरक्त और उपरत होकर सच्चिदानन्दघन परमात्माके ध्यानमें मग्न हो जाता है। साथ ही उसके चित्त और समस्त इन्द्रियोंमें दुःख तथा आलस्यका अभाव होकर चेतन-शक्तिकी वृद्धि हो जाती है। 'निर्मलत्वात्' पद सत्त्वगुणके इन्हीं गुणोंका बोधक है और सत्त्वगुणका यह स्वरूप बतलानेके लिये ही उसे 'प्रकाशक' और 'अनामय' बतलाया गया है।

प्रश्न—उस सत्त्वगुणका इस जीवात्माको सुख और ज्ञानके सङ्गसे बाँधना क्या है ?

उत्तर—'सुख' शब्द यहाँ अठारहवें अध्यायके ३६वें और ३७ वें श्लोकोंमें जिसके लक्षण बतलाये गये हैं, उस 'सात्त्विक सुख' का वाचक है। 'मैं सुखी हूँ' इस प्रकार अभिमान उत्पन्न करके, जीवात्माका उस सुखके साथ सम्बन्ध जोड़कर उसे साधनके मार्गमें अग्रसर होनेसे रोक देना और जीवन्मुक्तावस्थाकी प्राप्तिसे वञ्चित रख देना—यही सत्त्वगुणका सुखके सङ्गसे जीवात्माको बाँधना है।

'ज्ञान' बोधशक्तिका नाम है; उसमें 'मैं ज्ञानी हूँ' ऐसा अभिमान उत्पन्न करके उसे गुणातीत अवस्थासे वञ्चित रख देना यही सत्त्वगुणका जीवात्माको ज्ञानके सङ्गसे बाँधना है।

प्रश्न—'अनघ' सम्बोधनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'अघ' पापको कहते हैं। जिसमें पापोंका सर्वथा अभाव हो, उसे 'अनघ' कहते हैं। यहाँ अर्जुनको 'अनघ' नामसे सम्बोधित करके भगवान् यह दिखलाते हैं कि तुममें स्वभावसे ही पापोंका अभाव है, अतएव तुम्हें बन्धनका डर नहीं है।

सम्बन्ध—अब रजोगुणका स्वरूप और उसके द्वारा जीवात्माको बाँधे जानेका प्रकार बतलाते हैं—

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥ ७ ॥

हे अर्जुन ! रागरूप रजोगुणको कामना और आसक्तिसे उत्पन्न जान। वह इस जीवात्माको कर्मोंके और उनके फलके सम्बन्धसे बाँधता है ॥ ७ ॥

प्रश्न—रजोगुणको 'रागात्मक' कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—रजोगुण स्वयं ही राग यानी आसक्तिके रूपमें परिणत होता है। 'राग' रजोगुणका स्थूल स्वरूप है, इसलिये यहाँ रजोगुणको 'रागात्मक' समझनेके लिये कहा गया है।

प्रश्न—यहाँ रजोगुणको 'कामना' और 'आसक्ति'से उत्पन्न कैसे बतलाया गया, क्योंकि कामना और आसक्ति तो स्वयं रजोगुणसे ही उत्पन्न होती हैं (३। ३७; १४। १२)। अतएव रजोगुणको उनका कार्य माना जाय या कारण ?

उत्तर—कामना और आसक्तिसे रजोगुण बढ़ता है तथा रजोगुणसे कामना और आसक्ति बढ़ती है। इनका परस्पर बीज और वृक्षकी भाँति अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है; इनमें रजोगुण बीजस्थानीय और राग, आसक्ति आदि वृक्षस्थानीय हैं। बीज वृक्षसे ही उत्पन्न होता है, तथापि वृक्षका कारण भी बीज ही है। इसी बातको स्पष्ट करनेके लिये कहीं रजोगुणसे कामनादिकी उत्पत्ति और कहीं कामनादिसे रजोगुणकी उत्पत्ति बतलायी गयी है। यहाँ 'तृष्णासङ्गसमुद्भवम्' पदके भी दोनों ही अर्थ बनते हैं। तृष्णा (कामना) और सङ्ग (आसक्ति) से जिसका सम्यक् उद्भव हो—उसका नाम रजोगुण माना जाय, तब तो रजोगुण उनका कार्य ठहरता है; तथा तृष्णा और सङ्गका सम्यक् उद्भव हो जिससे, उसका नाम रजोगुण माननेसे रजोगुण उनका कारण ठहरता है। बीज-वृक्षके न्यायसे दोनों ही बातें ठीक हैं, अतएव इसके दोनों ही अर्थ बन सकते हैं।

प्रश्न—कर्मोंका सङ्ग क्या है ? और उसके द्वारा रजोगुणका जीवात्माको बाँधना क्या है ?

उत्तर—'इन सब कर्मोंको मैं करता हूँ' कर्मोंमें कर्तापनके इस अभिमानके साथ 'मुझे इसका अमुक फल मिलेगा' ऐसा मानकर कर्मोंके और उनके फलोंके साथ अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेनेका नाम 'कर्मसङ्ग' है; इसके द्वारा रजोगुणका जो इस जीवात्माको जन्म-मृत्युरूप संसारमें फँसाये रखना है, वही उसका कर्मसङ्गके द्वारा जीवात्माको बाँधना है।

सम्बन्ध—अब तमोगुणका स्वरूप और उसके द्वारा जीवात्माके बाँधे जानेका प्रकार बतलाते हैं—

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥ ८ ॥

और हे अर्जुन ! सब देहाभिमानियोंको मोहित करनेवाले तमोगुणको अज्ञानसे उत्पन्न जान। वह इस जीवात्माको प्रमाद, आलस्य और निद्राके द्वारा बाँधता है ॥ ८ ॥

प्रश्न—तमोगुणका समस्त देहाभिमानियोंको मोहित करना क्या है ?

उत्तर—अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें ज्ञानशक्तिका अभाव करके उनमें मोह उत्पन्न कर देना ही तमोगुणका सब देहाभिमानियोंको मोहित करना है। जिनका अन्तःकरण और इन्द्रियोंके साथ सम्बन्ध है तथा जिनकी शरीरमें अहंता या ममता है—वे सभी प्राणी निद्रादिके समय अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें मोह उत्पन्न

होनेसे अपनेको मोहित मानते हैं। किन्तु जिनका अन्त:करण और इन्द्रियोंके सहित शरीरमें अभिमान नहीं रहा है, ऐसे जीवन्मुक्त उनसे अपना कोई सम्बन्ध नहीं मानते; इसलिये यहाँ तमोगुणको 'समस्त देहाभिमानियों-को मोहित करनेवाला' कहा है।

प्रश्न—तमोगुणको अज्ञानसे उत्पन्न बतलानेका क्या अभिप्राय है? सतरहवें श्लोकमें तो अज्ञानकी उत्पत्ति तमोगुणसे बतलायी है?

उत्तर—तमोगुणसे अज्ञान बढ़ता है और अज्ञानसे तमोगुण बढ़ता है। इन दोनोंमें भी बीज और वृक्षकी भाँति अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है, अज्ञान बीजस्थानीय है और तमोगुण वृक्षस्थानीय है। इसलिये कहीं तमोगुणसे अज्ञानकी और कहीं अज्ञानसे तमोगुणकी उत्पत्ति बतलायी गयी है।

प्रश्न—'प्रमाद', 'आलस्य' और 'निद्रा'—इन तीनों शब्दोंका क्या अर्थ है और इनके द्वारा तमोगुणका जीवात्माको बाँधना क्या है?

उत्तर—अन्त:करण और इन्द्रियोंकी व्यर्थ चेष्टाका एवं शास्त्रविहित कर्त्तव्यपालनमें अवहेलनाका नाम 'प्रमाद' है। कर्तव्य-कर्मोंमें अप्रवृत्तिरूप निरुद्यमताका नाम आलस्य है। तन्द्रा, स्वप्न और सुषुप्ति—इन सबका नाम 'निद्रा' है। इन सबके द्वारा जो तमोगुणका इस जीवात्माको मुक्तिके साधनसे वञ्चित रखकर जन्म-मृत्युरूप संसारमें फँसाये रखना है—यही उसका प्रमाद, आलस्य और निद्राके द्वारा जीवात्माको बाँधना है।

सम्बन्ध—इस प्रकार सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंके स्वरूपका और उनके द्वारा जीवात्माके बन्धनका प्रकार बतलाकर अब उन तीन गुणोंका स्वाभाविक व्यापार बतलाते हैं—

सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत॥ ९॥

हे अर्जुन! सत्त्वगुण सुखमें लगाता है और रजोगुण कर्ममें। तथा तमोगुण तो ज्ञानको ढककर प्रमादमें भी लगाता है॥ ९॥

प्रश्न—'सुख' शब्द यहाँ कौन-से सुखका वाचक है और सत्त्वगुणका इस मनुष्यको उसमें लगाना क्या है?

उत्तर—'सुख' शब्द यहाँ सात्त्विक सुखका वाचक है (१८। ३६, ३७) और सत्त्वगुणका जो इस मनुष्यको सांसारिक चेष्टाओंसे तथा प्रमाद, आलस्य और निद्रासे हटाकर आत्मचिन्तन आदिके द्वारा सात्त्विक सुखसे संयुक्त कर देना है—यही उसको सुखमें लगाना है।

प्रश्न—'कर्म' शब्द यहाँ कौन-से कर्मोंका वाचक है और रजोगुणका इस मनुष्यको उनमें लगाना क्या है?

उत्तर—'कर्म' शब्द यहाँ (इस लोक और परलोकके भोगरूप फल देनेवाले) शास्त्रविहित सकामकर्मोंका वाचक है। नाना प्रकारके भोगोंकी इच्छा उत्पन्न करके उनकी प्राप्तिके लिये उन कर्मोंमें मनुष्यको प्रवृत्त कर देना ही रजोगुणका मनुष्यको उन कर्मोंमें लगाना है।

प्रश्न—तमोगुणका इस मनुष्यके ज्ञानको आच्छादित

करना और उसे प्रमादमें लगा देना क्या है? तथा इन वाक्योंमें 'तु' और 'उत' इन दो अव्ययपदोंके प्रयोगका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—जब तमोगुण बढ़ता है, तब वह कभी तो मनुष्यकी कर्तव्य-अकर्तव्यका निर्णय करनेवाली विवेक-शक्तिको नष्ट कर देता है और कभी अन्तःकरण और इन्द्रियोंकी चेतनाको नष्ट करके निद्राकी वृत्ति उत्पन्न कर देता है। यही उसका मनुष्यके ज्ञानको आच्छादित करना है। और कर्तव्यपालनमें अवहेलना कराके व्यर्थ चेष्टाओंमें नियुक्त कर देना 'प्रमाद'में लगाना है।

इस वाक्यमें 'तु' अव्ययके प्रयोगसे यह भाव दिखलाया है कि तमोगुण केवल ज्ञानको आवृत करके ही पिण्ड नहीं छोड़ता, दूसरी क्रिया भी करता है; और 'उत'के प्रयोगसे यह दिखलाया है कि यह जैसे ज्ञानको आच्छादित करके प्रमादमें लगाता है, वैसे ही निद्रा और आलस्यमें भी लगाता है। अभिप्राय यह है कि जब यह विवेक-ज्ञानको आवृत करता है, तब तो प्रमादमें लगाता है एवं जब अन्तःकरण और इन्द्रियोंकी चेतनशक्तिरूप ज्ञानको क्षीण और आवृत करता है तब आलस्य और निद्रामें लगाता है।

सम्बन्ध—सत्त्व आदि तीनों गुण जिस समय अपना-अपना स्वाभाविक कार्य आरम्भ करते हैं, उस समय वे किस प्रकार उत्कर्षको प्राप्त होते हैं—यह बात अगले श्लोकमें बतलाते हैं—

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥१०॥

हे अर्जुन! रजोगुण और तमोगुणको दबाकर सत्त्वगुण, सत्त्वगुण और तमोगुणको दबाकर रजोगुण, वैसे ही सत्त्वगुण और रजोगुणको दबाकर तमोगुण स्थित होता है अर्थात् बढ़ता है ॥१०॥

प्रश्न—रजोगुण और तमोगुणको दबाकर सत्त्व-गुणका बढ़ना क्या है?

उत्तर—जिस समय सत्त्वगुण अपना कार्य आरम्भ करता है, उस समय रजोगुण और तमोगुणकी प्रवृत्तिको रोक देता है; क्योंकि उस समय शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरणमें प्रकाश, विवेक और वैराग्य आदिके बढ़ जानेसे वे अत्यन्त शान्त और सुखमय हो जाते हैं। उस समय रजोगुणके कार्य लोभ, प्रवृत्ति और भोग-वासनादि तथा तमोगुणके कार्य निद्रा, आलस्य और प्रमाद आदिका प्रादुर्भाव नहीं हो सकता। यही रजोगुण और तमोगुणको दबाकर सत्त्वगुणका बढ़ जाना है।

प्रश्न—सत्त्वगुण और तमोगुणको दबाकर रजोगुणका बढ़ना क्या है?

उत्तर—जिस समय रजोगुण अपना कार्य आरम्भ करता है, उस समय सत्त्वगुण और तमोगुणकी प्रवृत्तिको रोक देता है; क्योंकि उस समय शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरणमें चञ्चलता, अशान्ति, लोभ, भोगवासना और नाना प्रकारके कर्मोंमें प्रवृत्त होनेकी उत्कट इच्छा उत्पन्न हो जाती है। इस कारण उस समय सत्त्वगुणके कार्य प्रकाश, विवेकशक्ति, शान्ति आदिका भी अभाव-सा हो जाता है। तमोगुणके कार्य निद्रा और आलस्य आदि भी दब जाते हैं। यही सत्त्वगुण और तमोगुणको दबाकर रजोगुणका बढ़ना है।

प्रश्न—सत्त्वगुण और रजोगुणको दबाकर तमोगुणका बढ़ना क्या है ?

उत्तर—जिस समय तमोगुण अपना कार्य आरम्भ करता है, उस समय सत्त्वगुण और रजोगुणकी प्रवृत्तिको रोक देता है; क्योंकि उस समय शरीर, इन्द्रियाँ और अन्तःकरणमें मोह आदि बढ़ जाते हैं, वृत्तियाँ अत्यन्त मूढ़ हो जाती हैं। अतः सत्त्वगुणके कार्य प्रकाश और ज्ञानका एवं रजोगुणके कार्य कर्मोंकी प्रवृत्ति और भोगोंको भोगनेकी इच्छा आदिका अभाव-सा हो जाता है; ये सब प्रकट नहीं हो पाते। यही सत्त्वगुण और रजोगुणको दबाकर तमोगुणका बढ़ना है।

सम्बन्ध—इस प्रकार अन्य दो गुणोंको दबाकर प्रत्येक गुणके बढ़नेकी बात कही गयी। अब प्रत्येक गुणकी वृद्धिके लक्षण जाननेकी इच्छा होनेपर सत्त्वगुणकी वृद्धिके लक्षण पहले बतलाये जाते हैं—

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥११॥

जिस समय इस देहमें तथा अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें चेतनता और विवेकशक्ति उत्पन्न होती है, उस समय ऐसा जानना चाहिये कि सत्त्वगुण बढ़ा है ॥ ११ ॥

प्रश्न—'यदा' और 'तदा' इन कालवाचक पदोंका तथा 'विद्यात्' क्रियाके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—इनका तथा 'विद्यात्' क्रियाका प्रयोग करके भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि जिस समय इस श्लोकमें बतलाये हुए लक्षणोंका प्रादुर्भाव और उनकी वृद्धि हो, उस समय सत्त्वगुणकी वृद्धि समझनी चाहिये और उस समय मनुष्यको सावधान होकर अपना मन भजन-ध्यानमें लगानेकी चेष्टा करनी चाहिये; तभी सत्त्वगुणकी प्रवृत्ति अधिक समय ठहर सकती है; अन्यथा उसकी अवहेलना कर देनेसे शीघ्र ही तमोगुण या रजोगुण उसे दबाकर अपना कार्य आरम्भ कर सकते हैं।

प्रश्न—'देहे' के साथ 'अस्मिन्' पदका प्रयोग करनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'अस्मिन्' पदका प्रयोग करके भगवान्‌ने मनुष्यशरीरकी विशेषताका प्रतिपादन किया है। अभिप्राय यह है कि इस श्लोकमें बतलायी हुई सत्त्वगुणकी वृद्धिका अवसर मनुष्यशरीरमें ही मिल सकता है और इसी शरीरमें सत्त्वगुणकी सहायता पाकर मनुष्य मुक्तिलाभ कर सकता है, दूसरी योनियोंमें ऐसा अधिकार नहीं है।

प्रश्न—शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरणमें प्रकाश और ज्ञानका उत्पन्न होना क्या है ?

उत्तर—शरीरमें चेतनता, हलकापन तथा इन्द्रिय और अन्तःकरणमें निर्मलता और चेतनाकी अधिकता हो जाना ही प्रकाश उत्पन्न होना है। एवं सत्य-असत्य तथा कर्तव्य-अकर्तव्यका निर्णय करनेवाली विवेकशक्तिका जाग्रत् हो जाना 'ज्ञान' का उत्पन्न होना है। जिस समय प्रकाश और ज्ञान—इन दोनोंका प्रादुर्भाव होता है, उस समय अपने आप ही संसारमें वैराग्य होकर मनमें उपरति और सुख-शान्तिकी बाढ़-सी आ जाती है; तथा राग-द्वेष, दुःख-शोक, चिन्ता, भय, चञ्चलता, निद्रा, आलस्य और प्रमाद आदिका अभाव हो जाता है।

सम्बन्ध—इस प्रकार सत्त्वगुणकी वृद्धिके लक्षणोंका वर्णन करके अब रजोगुणकी वृद्धिके लक्षण बतलाते हैं—

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥१२॥

हे अर्जुन ! रजोगुणके बढ़नेपर लोभ, प्रवृत्ति, सब प्रकारके कर्मोंका सकामभावसे आरम्भ, अशान्ति और विषयभोगोंकी लालसा—ये सब उत्पन्न होते हैं ॥ १२ ॥

प्रश्न—'लोभ', 'प्रवृत्ति', 'कर्मोंका आरम्भ', 'अशान्ति' और 'स्पृहा'—इन सबका स्वरूप क्या है और रजोगुणकी वृद्धिके समय इनका उत्पन्न होना क्या है ?

उत्तर—सञ्चित धनके व्यय करनेका समुचित अवसर प्राप्त होनेपर भी उसका त्याग न करना एवं धन-उपार्जनके समय दूसरेके स्वत्वपर अधिकार जमानेकी इच्छा करना 'लोभ' है । नाना प्रकारके कर्म करनेके लिये मानसिक भावोंका जाग्रत् होना 'प्रवृत्ति' है । उन कर्मोंको सकामभावसे करने लगना उनका 'आरम्भ' है । मनकी चञ्चलताका नाम 'अशान्ति' है; और किसी भी प्रकारके सांसारिक भोगको अपने लिये आवश्यक मानना 'स्पृहा' है । रजोगुणके बढ़ जानेपर जब मनुष्यके अन्तःकरणमें सत्त्वगुणके कार्य प्रकाश, विवेकशक्ति और शान्ति आदि एवं तमोगुणके कार्य निद्रा और आलस्य आदि—दोनों ही प्रकारके भाव दब जाते हैं, तब उसे नाना प्रकारके भोगोंकी आवश्यकता प्रतीत होने लग जाती है, उसके अन्तःकरणमें लोभ बढ़ जाता है, धनसंग्रहकी विशेष इच्छा उत्पन्न हो जाती है, नाना प्रकारके कर्म करनेके लिये मनमें नये-नये भाव उठने लगते हैं, मन चञ्चल हो जाता है, फिर उन भावोंके अनुसार क्रियाका भी आरम्भ हो जाता है । इस प्रकार रजोगुणकी वृद्धिके समय इन लोभ आदि भावोंका प्रादुर्भाव होना ही उनका उत्पन्न हो जाना है ।

प्रश्न—यहाँ 'भरतर्षभ' सम्बोधन देनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जो भरतवंशियोंमें उत्तम हो, उसे 'भरतर्षभ' कहते हैं । यहाँ अर्जुनको 'भरतर्षभ' नामसे सम्बोधित करके भगवान् यह दिखलाते हैं कि तुम भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ हो, तुम्हारे अंदर रजोगुणके कार्यरूप ये लोभादि नहीं हैं ।

सम्बन्ध—इस प्रकार बढ़े हुए रजोगुणके लक्षणोंका वर्णन करके अब तमोगुणकी वृद्धिके लक्षण बतलाये जाते हैं—

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥१३॥

हे अर्जुन ! तमोगुणके बढ़नेपर अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें अप्रकाश, कर्तव्य-कर्मोंमें अप्रवृत्ति और प्रमाद अर्थात् व्यर्थ चेष्टा और निद्रादि अन्तःकरणकी मोहिनी वृत्तियाँ—ये सब ही उत्पन्न होते हैं ॥१३॥

प्रश्न—अप्रकाश, अप्रवृत्ति, प्रमाद और मोह—इन सबका पृथक्-पृथक् स्वरूप क्या है; तथा तमोगुणकी वृद्धिके समय इनका उत्पन्न होना क्या है ?

उत्तर—इन्द्रिय और अन्तःकरणकी दीप्तिका नाम प्रकाश है; और उसके विरुद्ध इन्द्रिय और अन्तःकरणमें दीप्तिके अभावका नाम 'अप्रकाश' है । इससे सत्त्वगुणके

अन्य भावोंका भी अभाव समझ लेना चाहिये । बारहवें श्लोकमें कहे हुए रजोगुणके कार्य प्रवृत्तिके विरोधी भावका अर्थात् किसी भी कर्मके आरम्भ करनेकी इच्छाके अभावका नाम 'अप्रवृत्ति' है । इससे रजोगुणके अन्य कार्योंका भी अभाव समझ लेना चाहिये । शास्त्रविहित कर्मोंकी अवहेलनाका और व्यर्थ चेष्टाका नाम 'प्रमाद' है । विवेकशक्तिकी विरोधिनी मोहिनी वृत्तिका नाम 'मोह' है । अज्ञान, निद्रा और आलस्यको भी इसीके अन्तर्गत समझ लेना चाहिये । जिस समय तमोगुण बढ़ता है, उस समय मनुष्यके इन्द्रिय और अन्तःकरणमें दीप्तिका अभाव हो जाता है; यही 'अप्रकाश' का उत्पन्न होना है । कोई भी कर्म अच्छा नहीं लगता, केवल पड़े रहकर ही समय बितानेकी इच्छा होती है; यह 'अप्रवृत्ति' का उत्पन्न होना है । शरीर और इन्द्रियोंद्वारा व्यर्थ चेष्टा करते रहना और कर्तव्यकर्ममें अवहेलना करना, यह 'प्रमाद'का उत्पन्न होना है । मनका मोहित हो जाना; किसी बातकी स्मृति न रहना; तन्द्रा, स्वप्न या सुषुप्ति अवस्थाका प्राप्त हो जाना; विवेकशक्तिका अभाव हो जाना; किसी विषयको समझनेकी शक्तिका न रहना—यही सब 'मोह'का उत्पन्न होना है । ये सब लक्षण तमोगुणकी वृद्धिके समय उत्पन्न होते हैं; अतएव इनमेंसे कोई-सा भी लक्षण अपनेमें देखा जाय, तब मनुष्यको समझना चाहिये कि तमोगुण बढ़ा हुआ है ।

सम्बन्ध—इस प्रकार तीनों गुणोंकी वृद्धिके भिन्न-भिन्न लक्षण बतलाकर अब दो श्लोकोंमें उन गुणोंमेंसे किस गुणकी वृद्धिके समय मरकर मनुष्य किस गतिको प्राप्त होता है, यह बतलाया जाता है—

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥

जब यह जीवात्मा सत्त्वगुणकी वृद्धिमें मृत्युको प्राप्त होता है, तब तो उत्तम कर्म करनेवालोंके निर्मल दिव्य स्वर्गादि लोकोंको प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

प्रश्न—'यदा' और 'तदा'—इन कालवाची अव्यय पदोंका प्रयोग करके क्या भाव दिखलाया गया है तथा सत्त्वगुणकी वृद्धिमें मृत्युको प्राप्त होना क्या है ?

उत्तर—'यदा' और 'तदा'—इन कालवाची अव्यय पदोंका प्रयोग करके यह दिखलाया गया है कि इस प्रकरणमें ऐसे मनुष्यकी गतिका निरूपण किया जाता है, जो किसी एक गुणमें नित्य स्थित नहीं है, वरं जिसमें तीनों गुण घटते-बढ़ते रहते हैं । ऐसे मनुष्यमें जिस समय सत्त्वगुण बढ़ा होता है—अर्थात् जिस समय ११वें श्लोकके वर्णनानुसार उसके समस्त शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरणमें 'प्रकाश' और 'ज्ञान' उत्पन्न हुआ रहता है—उस समय स्थूल शरीरसे मन, इन्द्रिय और प्राणोंके सहित जीवात्माका सम्बन्ध-विच्छेद हो जाना ही सत्त्वगुणकी वृद्धिमें मृत्युको प्राप्त होना है ।

प्रश्न—'देहभृत्' पदके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—'देहभृत्' पदका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया गया है कि जो देहधारी हैं, जिनकी शरीरमें अहंता और ममता है उन्हींकी पुनर्जन्मरूप भिन्न-भिन्न गतियाँ होती हैं; जिनका शरीरमें अभिमान नहीं है, ऐसे जीवन्मुक्त महात्माओंका आवागमन नहीं होता ।

प्रश्न—'लोकान्' के साथ 'अमलान्' विशेषण देनेका तथा 'उत्तमविदाम्' पदके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—'लोकान्' पदके साथ 'अमलान्' विशेषण देकर यह भाव दिखलाया गया है कि सत्त्वगुणकी

वृद्धिमें मरनेवालोंको जिन लोकोंकी प्राप्ति होती है, उन लोकोंमें मल अर्थात् किसी प्रकारका दोष या क्लेश नहीं है; वे दिव्य प्रकाशमय, शुद्ध और सात्त्विक हैं। यहाँ 'उत्तमविदाम्' पदका यह भाव है कि शास्त्रविहित कर्म और उपासना करनेवाले मनुष्य उक्त कर्मोपासनाके प्रभावसे जिन लोकोंको प्राप्त करते हैं, सत्त्वगुणकी वृद्धिमें मरनेवाला सत्त्वगुणके सम्बन्धसे उन्हीं लोकोंको प्राप्त कर लेता है।

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते॥१५॥

रजोगुणके बढ़नेपर मृत्युको प्राप्त होकर मनुष्य कर्मोंकी आसक्तिवाले मनुष्योंमें उत्पन्न होता है; तथा तमोगुणके बढ़नेपर मरा हुआ पुरुष कीट, पशु आदि मूढयोनियोंमें उत्पन्न होता है॥१५॥

प्रश्न—रजोगुणकी वृद्धिमें मृत्युको प्राप्त होना क्या है; तथा 'कर्मसङ्गिषु' पदका क्या अर्थ है? और उनमें जन्म लेना क्या है?

उत्तर—जिस समय रजोगुण बढ़ा होता है—अर्थात् १२वें श्लोकके अनुसार लोभ, प्रवृत्ति आदि राजसी भाव बढ़े हुए होते हैं—उस समय जो स्थूल शरीरसे मन, इन्द्रिय और प्राणोंके सहित जीवात्माका सम्बन्ध-विच्छेद हो जाना है—वही रजोगुणकी वृद्धिमें मृत्युको प्राप्त होना है। कर्म और उनके फलोंमें जिनकी आसक्ति है, उन मनुष्योंको 'कर्मसङ्गी' कहते हैं; इसलिये मनुष्य-योनिको प्राप्त होना ही 'कर्मसङ्गियोंमें जन्म लेना' है।

प्रश्न—तमोगुणकी वृद्धिमें मरना तथा मूढयोनिमें उत्पन्न होना क्या है?

उत्तर—जिस समयमें तमोगुण बढ़ा हो अर्थात् १३ वें श्लोकके अनुसार 'अप्रकाश', 'अप्रवृत्ति' और 'प्रमाद' आदि तामसभाव बढ़े हुए हों—उस समय जो स्थूल शरीरसे मन, इन्द्रियों और प्राणोंके सहित जीवात्मा-का सम्बन्ध-विच्छेद हो जाना है, वही तमोगुणकी वृद्धिमें मृत्युको प्राप्त होना है; और कीट-पतङ्ग, पशु-पक्षी, वृक्ष-लता आदि जो तामसी योनियाँ हैं—उनमें जन्म लेना ही मूढयोनियोंमें उत्पन्न होना है।

सम्बन्ध—सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंकी वृद्धिमें मरनेके भिन्न-भिन्न फल बतलाये गये; इससे यह जाननेकी इच्छा होती है कि इस प्रकार फलभेद होनेमें क्या कारण है। इसपर कहते हैं—

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्॥१६॥

सात्त्विक कर्मका तो सात्त्विक अर्थात् सुख, ज्ञान और वैराग्यादि निर्मल फल कहा है; राजस कर्मका फल दुःख एवं तामस कर्मका फल अज्ञान कहा है॥१६॥

प्रश्न—'सुकृतस्य' विशेषणके सहित 'कर्मणः' पद कौन-से कर्मोंका वाचक है; तथा उनका सात्त्विक और निर्मल फल क्या है?

उत्तर—जो शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्म निष्कामभावसे किये जाते हैं, जिनके लक्षण अठारहवें अध्यायके २३वें श्लोकमें कहे गये हैं—उन सात्त्विक कर्मोंका वाचक

यहाँ 'सुकृतस्य' विशेषणके सहित 'कर्मणः' पद है। ऐसे कर्मोंके संस्कारोंसे अन्तःकरणमें जो ज्ञान-वैराग्यादि निर्मल भावोंका बार-बार प्रादुर्भाव होता रहता है और मरनेके बाद जो दुःख और दोषोंसे रहित दिव्य प्रकाशमय लोकोंकी प्राप्ति होती है, वही उनका 'सात्त्विक और निर्मल फल' है।

प्रश्न—राजस कर्म कौन-से हैं? और उनका फल दुःख क्या है?

उत्तर—जो कर्म भोगोंकी प्राप्तिके लिये अहङ्कारपूर्वक बहुत परिश्रमके साथ किये जाते हैं (१८ । २४), वे राजस हैं। ऐसे कर्मोंके करते समय तो परिश्रमरूप दुःख होता ही है, परन्तु उसके बाद भी वे दुःख ही देते रहते हैं। उनके संस्कारोंसे अन्तःकरणमें बार-बार भोग, कामना, लोभ और प्रवृत्ति आदि राजसभाव स्फुरित होते हैं—जिनसे मन विक्षिप्त होकर अशान्ति और दुःखोंसे भर जाता है। उन कर्मोंके फलस्वरूप जो भोग प्राप्त होते हैं, वे भी अज्ञानसे सुखरूप दीखनेपर भी वस्तुतः दुःखरूप ही होते हैं। और फल भोगनेके लिये जो बार-बार जन्म-मरणके चक्रमें पड़े रहना पड़ता है, वह तो महान् दुःख है ही। इस प्रकार उनका जो कुछ भी फल मिलता है, सब दुःखरूप ही होता है।

प्रश्न—तामस कर्म कौन-से हैं और उनका फल अज्ञान क्या है?

उत्तर—जो कर्म बिना सोचे-समझे मूर्खतावश किये जाते हैं और जिनमें हिंसा आदि दोष भरे रहते हैं (१८ । २५), वे 'तामस' हैं। उनके संस्कारोंसे अन्तःकरणमें मोह बढ़ता है और मरनेके बाद जिन योनियोंमें तमोगुणकी अधिकता है—ऐसी जडयोनियोंकी प्राप्ति होती है; वही उसका फल 'अज्ञान' है।

प्रश्न—यहाँ गुणोंके फलका वर्णन करनेका प्रसङ्ग था, बीचमें कर्मोंके फलकी बात क्यों कही गयी? यह अप्रासङ्गिक-सा प्रतीत होता है।

उत्तर—ऐसी बात नहीं है; क्योंकि पिछले श्लोकोंमें प्रत्येक गुणकी वृद्धिमें मरनेका भिन्न-भिन्न फल बतलाया गया है, अतः गुणोंकी वृद्धिके कारणरूप कर्म-संस्कारोंका विषय भी अवश्य आना चाहिये; इसीलिये कर्मोंकी बात कही गयी है। अभिप्राय यह है कि सात्त्विक, राजस और तामस—तीनों प्रकारके कर्म-संस्कार प्रत्येक मनुष्यके अन्तःकरणमें सञ्चित रहते हैं; उनमेंसे जिस समय जैसे संस्कारोंका प्रादुर्भाव होता है, वैसे ही भाव बढ़ते हैं और उन्हींके अनुसार नवीन कर्म होते हैं। कर्मोंसे संस्कार, संस्कारोंसे स्मृति, स्मृतिके अनुसार पुनर्जन्म और पुनः कर्मोंका आरम्भ—इस प्रकार यह चक्र चलता रहता है। इसमें अन्तकालीन भावोंके फलकी जो विशेषता पिछले श्लोकोंमें दिखलायी गयी है, वह भी प्रायः पूर्वकृत सात्त्विक, राजस और तामस कर्मोंके सम्बन्धसे ही होती है—इसी भावको दिखलानेके लिये यह श्लोक कहा गया है, अतएव अप्रासङ्गिक नहीं है; क्योंकि गुण और कर्म दोनोंके सम्बन्धसे ही अच्छी-बुरी योनियोंकी प्राप्ति होती है (४ । १३)।

सम्बन्ध—११वें, १२वें और १३वें श्लोकोंमें सत्त्व, रज और तमोगुणकी वृद्धिके लक्षणोंका क्रमसे वर्णन किया गया; फिर सत्त्वादि गुणोंकी वृद्धिमें मरनेका पृथक्-पृथक् फल बतलाया गया। इसपर यह जाननेकी इच्छा होती है कि 'ज्ञान' आदिकी उत्पत्तिको सत्त्व आदि गुणोंकी वृद्धिके लक्षण क्यों माना गया? अतएव ज्ञान आदिकी उत्पत्तिमें सत्त्व आदि गुणोंको कारण बतलाकर अब यह भाव दिखलाते हैं कि कार्यकी उत्पत्तिसे कारणकी सत्ताको जान लेना चाहिये—

सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥१७॥

सत्त्वगुणसे ज्ञान उत्पन्न होता है और रजोगुणसे निस्सन्देह लोभ; तथा तमोगुणसे प्रमाद और मोह उत्पन्न होते हैं और अज्ञान भी होता है ॥१७॥

प्रश्न—सत्त्वगुणसे ज्ञान उत्पन्न होता है, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—यहाँ 'ज्ञान' शब्द उपलक्षणमात्र है । अतएव इस कथनसे यह समझना चाहिये कि ज्ञान, प्रकाश और सुख, शान्ति आदि सभी सात्त्विक भावोंकी उत्पत्ति सत्त्वगुणसे होती है ।

प्रश्न—रजोगुणसे लोभ उत्पन्न होता है, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'लोभ' शब्दका प्रयोग भी यहाँ उपलक्षण-मात्र ही है । इस कथनसे भी यही समझना चाहिये कि लोभ, प्रवृत्ति, आसक्ति, कामना, कर्मोंका आरम्भ आदि सभी राजसभावोंकी उत्पत्ति रजोगुणसे होती है ।

प्रश्न—प्रमाद, मोह और अज्ञानकी उत्पत्ति तमोगुण-से बतलाकर इस वाक्यमें 'एव' पदके प्रयोग करनेका क्या भाव है ?

उत्तर—'एव' पदका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया है कि तमोगुणसे प्रमाद, मोह और अज्ञान तो उत्पन्न होते ही हैं; इनके सिवा निद्रा, आलस्य, अप्रकाश, अप्रवृत्ति आदि जितने तामसभाव हैं—वे सब भी तमोगुणसे ही उत्पन्न होते हैं ।

सम्बन्ध—सत्त्वादि तीनों गुणोंके कार्य ज्ञान आदिका वर्णन करके अब सत्त्वगुणमें स्थिति कराने और रज तथा तमोगुणका त्याग करानेके लिये तीनों गुणोंमें स्थित पुरुषकी भिन्न-भिन्न गतियोंका प्रतिपादन करते हैं—

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥१८॥

सत्त्वगुणमें स्थित पुरुष स्वर्गादि उच्च लोकोंको जाते हैं, रजोगुणमें स्थित राजस पुरुष मध्यमें अर्थात् मनुष्यलोकमें ही रहते हैं और तमोगुणके कार्यरूप निद्रा, प्रमाद और आलस्यादिमें स्थित तामस पुरुष अधोगतिको अर्थात् कीट, पशु आदि नीच योनियोंको तथा नरकादिको प्राप्त होते हैं ॥१८॥*

प्रश्न—'ऊर्ध्वम्' पद किस स्थानका वाचक है और सत्त्वगुणमें स्थित पुरुषोंका उसमें जाना क्या है ?

उत्तर—मनुष्यलोकसे ऊपर जितने भी लोक हैं—१४वें श्लोकमें जिनका वर्णन 'उत्तमविदाम्' और 'अमलान्'—इन दो पदोंके सहित 'लोकान्' पदसे किया गया है तथा छठे अध्यायके ४१वें श्लोकमें जो पुण्यकर्म करनेवालोंके लोक माने गये हैं—उन्हींका वाचक यहाँ 'ऊर्ध्वम्' पद है और सात्त्विक पुरुषका जो मरनेके बाद उन लोकोंको प्राप्त हो जाना है, यही उनमें जाना है ।

* महाभारत, अश्वमेधपर्वके ३९ वें अध्यायका १० वाँ श्लोक भी इसीसे मिलता-जुलता है ।

प्रश्न—'मध्ये' पद किस स्थानका वाचक है और उसमें राजस पुरुषोंका रहना क्या है ?

उत्तर—'मध्ये' पद मनुष्यलोकका वाचक है और राजस मनुष्योंका जो मरनेके बाद दूसरे लोकोंमें न जाकर पुनः इसी लोकमें मनुष्यजन्म पा लेना है, यही उनका 'मध्य' में रहना है ।

प्रश्न—'जघन्यगुण' और उसकी 'वृत्ति' क्या है एवं उसमें स्थित होना तथा तामस मनुष्योंका अधोगतिको प्राप्त होना क्या है ?

उत्तर—'जघन्य' शब्दका अर्थ नीच या निन्द्य होता है । अतः 'जघन्यगुण' तमोगुणका वाचक है तथा उसके कार्य प्रमाद, मोह, अज्ञान, अप्रकाश, अप्रवृत्ति और निद्रा आदि उसकी वृत्तियाँ हैं; एवं इन सबमें लगे रहना ही 'उनमें स्थित होना' है । इन वृत्तियोंमें लगे रहनेवाले मनुष्योंको 'तामस' कहते हैं । उन तामस मनुष्योंका जो मनुष्यशरीरसे वियोग होनेके बाद कीट, पतङ्ग, पशु, पक्षी और वृक्ष आदि नीच योनियोंमें जन्म लेना एवं रौरव, कुम्भीपाक आदि नरकोंमें जाकर यमयातनाके घोर कष्टको भोगना है—यही उनका अधोगतिको प्राप्त होना है ।

प्रश्न—तीनों गुणोंकी वृद्धिमें मरनेवालेका प्रायः इसी प्रकार भिन्न-भिन्न फल १४वें और १५वें श्लोकोंमें बतलाया ही गया था, फिर उसी बातको यहाँ पुनः क्यों कहा गया ?

उत्तर—उन श्लोकोंमें 'यदा' और 'तदा'—इन कालवाची अव्ययोंका प्रयोग है; अतएव दूसरे गुणोंमें स्वाभाविक स्थितिके होते हुए भी मरणकालमें जिस गुणकी वृद्धिमें मृत्यु होती है, उसीके अनुसार गतिका परिवर्तन हो जाता है—यही भाव दिखलानेके लिये वहाँ भिन्न-भिन्न गतियाँ बतलायी गयी हैं और यहाँ जिनकी स्वाभाविक स्थायी स्थिति सत्त्वादि गुणोंमें है, उनकी गतिके भेदका वर्णन किया गया है । अतएव पुनरुक्तिका दोष नहीं है ।

प्रश्न—१५वें श्लोकमें तो तमोगुणमें मरनेका फल केवल मूढयोनियोंमें ही जन्म लेना बतलाया गया है, यहाँ तामसी पुरुषोंकी गतिके वर्णनमें 'अधः' पदके अर्थमें नरकादिकी प्राप्ति भी कैसे मानी गयी है ?

उत्तर—वहाँ उन सात्त्विक और राजस मनुष्योंकी गतिका वर्णन है, जो अन्त समयमें तमोगुणकी वृद्धिमें मरते हैं । इसलिये 'अधः' पदका प्रयोग न करके 'मूढयोनिषु' पदका प्रयोग किया गया है; क्योंकि ऐसे पुरुषोंका उस गुणके सङ्गसे ऐसा जन्म होता है, जैसा कि सत्त्वगुणमें स्थित राजर्षि भरतको हरिणकी योनि मिलनेकी कथा आती है । किन्तु जो सदा ही तमोगुणके कार्योंमें स्थित रहनेवाले तामस मनुष्य हैं, उनको नरकादिकी प्राप्ति भी हो सकती है । १६वें अध्यायके २०वें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा भी है कि वे तामस स्वभाववाले मनुष्य आसुरी योनियोंको प्राप्त होकर फिर उससे भी नीची गतिको प्राप्त होते हैं ।

सम्बन्ध—तेरहवें अध्यायके २१वें श्लोकमें जो यह बात कही थी कि गुणोंका सङ्ग ही इस मनुष्यके अच्छी-बुरी योनियोंकी प्राप्तिरूप पुनर्जन्मका कारण है; उसीके अनुसार इस अध्यायमें ५वेंसे १८वें श्लोकतक गुणोंके स्वरूप तथा गुणोंके कार्यद्वारा बँधे हुए मनुष्योंकी गतिका विस्तारपूर्वक प्रतिपादन किया गया । इस वर्णनसे यह बात समझायी गयी कि मनुष्यको पहले तम और रजोगुणका त्याग करके सत्त्वगुणमें अपनी स्थिति करनी

चाहिये; और उसके बाद सत्त्वगुणका भी त्याग करके गुणातीत हो जाना चाहिये। अतएव गुणातीत होनेके उपाय और गुणातीत अवस्थाका फल अगले दो श्लोकोंद्वारा बतलाया जाता है—

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥१९॥

जिस समय द्रष्टा तीनों गुणोंके अतिरिक्त अन्य किसीको कर्त्ता नहीं देखता और तीनों गुणोंसे अत्यन्त परे सच्चिदानन्दघनस्वरूप मुझ परमात्माको तत्त्वसे जानता है, उस समय वह मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है॥ १९॥

प्रश्न—कालवाची 'यदा' अव्ययका और 'द्रष्टा' शब्दका प्रयोग करके यहाँ क्या भाव दिखलाया गया है?

उत्तर—इन दोनोंका प्रयोग करके यह दिखलाया गया है कि मनुष्यकी स्वाभाविक स्थितिसे विलक्षण स्थितिका वर्णन इस श्लोकमें किया गया है। अभिप्राय यह है कि मनुष्य स्वाभाविक तो अपनेको शरीरधारी समझकर कर्त्ता और भोक्ता बना रहता है—वह अपनेको समस्त कर्म और उनके फलसे सम्बन्धरहित, उदासीन द्रष्टा नहीं समझता; परन्तु जिस समय शास्त्र और आचार्यके उपदेशद्वारा विवेक प्राप्त करके वह अपनेको द्रष्टा समझने लग जाता है, उस समयका वर्णन यहाँ किया जाता है।

प्रश्न—गुणोंसे अतिरिक्त अन्य किसीको कर्त्ता नहीं देखना क्या है?

उत्तर—इन्द्रिय, अन्तःकरण और प्राण आदिकी श्रवण, दर्शन, खान-पान, चिन्तन, मनन, शयन-आसन और व्यवहार आदि सभी स्वाभाविक चेष्टाओंके होते समय सदा-सर्वदा अपनेको निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें अभिन्नभावसे स्थित देखते हुए जो ऐसे समझना है कि गुणोंके अतिरिक्त अन्य कोई कर्त्ता नहीं है; गुणोंके कार्य इन्द्रिय, मन, बुद्धि और प्राण आदि ही गुणोंके कार्यरूप इन्द्रियादिके विषयोंमें बरत रहे हैं (५।८,९); गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं (३।२८); मेरा इनसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है—यही गुणोंसे अतिरिक्त अन्य किसीको कर्त्ता न देखना है।

प्रश्न—तीनों गुणोंसे अत्यन्त पर कौन है और उसे तत्त्वसे जानना क्या है?

उत्तर—तीनों गुणोंसे अत्यन्त पर यानी सम्बन्धरहित सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म परमात्मा है और उसे तीनों गुणोंसे सम्बन्धरहित और अपनेको उस निर्गुण-निराकार ब्रह्मसे अभिन्न समझते हुए उस एकमात्र सच्चिदानन्दघन ब्रह्मसे भिन्न किसी भी सत्ताको न देखना—सर्वत्र और सदा-सर्वदा केवल परमात्माको ही देखना उसे तत्त्वसे जानना है।

प्रश्न—ऐसी स्थितिके अनन्तर मद्भाव अर्थात् भगवद्भावको प्राप्त होना क्या है?

उत्तर—ऐसी स्थितिके बाद जो सच्चिदानन्दघन ब्रह्मकी अभिन्नभावसे साक्षात् प्राप्ति हो जाती है, वही भगवद्भावको प्राप्त होना है।

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते॥२०॥

यह पुरुष स्थूल शरीरकी उत्पत्तिके कारणरूप इन तीनों गुणोंको उल्लङ्घन करके जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था और सब प्रकारके दुःखोंसे मुक्त होकर परमानन्दको प्राप्त होता है ॥२०॥

प्रश्न—यहाँ 'देही' पदके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया है कि जो पहले अपनेको देहमें स्थित समझता था, वही गुणातीत होनेपर **अमृतको**—ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है ।

प्रश्न—'गुणान्' पदके साथ 'एतान्', 'देहसमुद्भवान्' और 'त्रीन्'—इन विशेषणोंके प्रयोगका क्या भाव है ? और गुणोंसे अतीत होना क्या है ?

उत्तर—'एतान्' के प्रयोगसे यह बात दिखलायी गयी है कि इस अध्यायमें जिन गुणोंका स्वरूप बतलाया गया है और जो इस जीवात्माको शरीरमें बाँधनेवाले हैं, उन्हींसे अतीत होनेकी बात यहाँ कही जाती है । 'देहसमुद्भवान्' विशेषण देकर यह दिखलाया है कि बुद्धि, अहङ्कार और मन तथा पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच महाभूत और पाँच इन्द्रियोंके विषय—इन तेईस तत्त्वोंका पिण्डरूप यह स्थूल शरीर प्रकृति-जन्य गुणोंका ही कार्य है; अतएव इससे अपना सम्बन्ध मानना ही गुणोंसे लिप्त होना है । एवं 'त्रीन्' विशेषण देकर यह दिखलाया है कि इन गुणोंके तीन भेद हैं और तीनोंसे सम्बन्ध छूटनेपर ही मुक्ति होती है । रज और तमका सम्बन्ध छूटनेके बाद यदि सत्त्वगुणसे सम्बन्ध बना रहे तो वह भी मुक्तिमें बाधक होकर पुनर्जन्मका कारण बन सकता है; अतएव उसका सम्बन्ध भी त्याग कर देना चाहिये । आत्मा वास्तवमें असङ्ग है, गुणोंके साथ उसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है; तथापि जो अनादिसिद्ध अज्ञानसे इनके साथ सम्बन्ध माना हुआ है, उस सम्बन्धको ज्ञानके द्वारा तोड़ देना और अपनेको निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्मसे अभिन्न और गुणोंसे सर्वथा सम्बन्धरहित समझ लेना अर्थात् प्रत्यक्षकी भाँति अनुभव कर लेना ही गुणोंसे अतीत हो जाना है ।

प्रश्न—जन्म, मृत्यु, जरा और दुःखोंसे विमुक्त होना क्या है और उसके बाद अमृतको अनुभव करना क्या है ?

उत्तर—जन्म और मरण तथा बाल, युवा और वृद्ध-अवस्था शरीरकी होती है; एवं आधि और व्याधि आदि सब प्रकारके दुःख भी इन्द्रिय, मन और प्राण आदिके सङ्घातरूप शरीरमें ही व्याप्त रहते हैं । अतएव जिनका शरीरके साथ किञ्चिन्मात्र भी वास्तविक सम्बन्ध नहीं रहता, ऐसे पुरुष लोकदृष्टिसे शरीरमें रहते हुए भी वस्तुतः शरीरके धर्म जन्म, मृत्यु और जरा आदिसे सदा-सर्वदा मुक्त ही हैं । अतः तत्त्वज्ञानके द्वारा शरीरसे सर्वथा सम्बन्ध त्याग हो जाना ही जन्म, मृत्यु, जरा और दुःखोंसे सर्वथा मुक्त हो जाना है । इसके अनन्तर जो अमृतस्वरूप सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको अभिन्नभावसे प्रत्यक्ष कर लेना है, जिसे १९वें श्लोकमें भगवद्भावकी प्राप्तिके नामसे कहा गया है—वही यहाँ 'अमृत' का अनुभव करना है ।

सम्बन्ध—इस प्रकार जीवन-अवस्थामें ही तीनों गुणोंसे अतीत होकर मनुष्य अमृतको प्राप्त हो जाता है—इस रहस्ययुक्त बातको सुनकर गुणातीत पुरुषके लक्षण, आचरण और गुणातीत बननेके उपाय जाननेकी इच्छासे अर्जुन पूछते हैं—

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन् गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन् गुणानतिवर्तते॥२१॥

अर्जुन बोले--इन तीनों गुणोंसे अतीत पुरुष किन-किन लक्षणोंसे युक्त होता है और किस प्रकारके आचरणोंवाला होता है; तथा हे प्रभो! मनुष्य किस उपायसे इन तीनों गुणोंसे अतीत होता है?॥ २१ ॥

प्रश्न–'गुणान्' पदके साथ 'एतान्' और 'त्रीन्' इन पदोंका बार-बार प्रयोग करके क्या भाव दिखलाया है?

उत्तर–इससे यह भाव दिखलाया है कि जिन तीनों गुणोंका विस्तारपूर्वक वर्णन इस अध्यायमें हो चुका है, उन्हीं तीनों गुणोंसे अतीत होनेके विषयमें अर्जुन पूछ रहे हैं।

प्रश्न–'कैः लिङ्गैः भवति' इस वाक्यसे अर्जुनने क्या पूछा है?

उत्तर–इस वाक्यसे अर्जुनने शास्त्रदृष्टिसे गुणातीत पुरुषके लक्षण पूछे हैं—जो गुणातीत पुरुषोंमें स्वाभाविक होते हैं और साधकोंके लिये सेवन करनेयोग्य आदर्श हैं।

प्रश्न–'किमाचारः भवति' इस वाक्यसे क्या पूछा है?

उत्तर–इससे यह पूछा है कि गुणातीत पुरुषका व्यवहार कैसा होता है? अर्थात् गुणातीत पुरुष किसके साथ कैसा बर्ताव करता है और उसका रहन-सहन कैसा होता है? इत्यादि बातें जाननेके लिये यह प्रश्न किया है।

प्रश्न–'प्रभो' सम्बोधनका क्या भाव है?

उत्तर–भगवान् श्रीकृष्णको 'प्रभो' कहकर अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आप सम्पूर्ण जगत्के स्वामी, कर्त्ता, हर्त्ता और सर्वसमर्थ परमेश्वर हैं—अतएव आप ही इस विषयको पूर्णतया समझ सकते हैं और इसीलिये मैं आपसे पूछ रहा हूँ।

प्रश्न–'कथम् एतान् त्रीन् गुणान् अतिवर्तते' इससे क्या पूछा है?

उत्तर–इससे अर्जुनने 'गुणातीत' बननेका उपाय पूछा है। अभिप्राय यह है कि आपने जो गुणातीत होनेका उपाय पहले (उन्नीसवें श्लोकमें) बतलाया है—उसकी अपेक्षा भी सरल ऐसा कौन-सा उपाय है, जिसके द्वारा मनुष्य शीघ्र ही अनायास इन तीनों गुणोंसे पार हो सके।

सम्बन्ध—इस प्रकार अर्जुनके पूछनेपर भगवान् उनके प्रश्नोंमेंसे 'लक्षण' और 'आचरण' विषयक दो प्रश्नोंका उत्तर चार श्लोकोंद्वारा देते हैं—

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति॥२२॥

श्रीभगवान् बोले--हे अर्जुन ! जो पुरुष सत्त्वगुणके कार्यरूप प्रकाशको और रजोगुणके कार्यरूप प्रवृत्तिको तथा तमोगुणके कार्यरूप मोहको भी न तो प्रवृत्त होनेपर बुरा समझता है और न निवृत्त होनेपर उनकी आकाङ्क्षा करता है, ॥२२॥

प्रश्न—'प्रकाशम्' पदका क्या अर्थ है तथा यहाँ सत्त्वगुणके कार्योंमेंसे केवल 'प्रकाश'के ही प्रादुर्भाव और तिरोभावमें राग-द्वेष न करनेके लिये क्यों कहा ?

उत्तर—शरीर, इन्द्रिय और अन्त:करणमें आलस्य और जडताका अभाव होकर जो हलकापन, निर्मलता और चेतनता आ जाती है—उसका नाम 'प्रकाश' है। गुणातीत पुरुषके अंदर ज्ञान, शान्ति और आनन्द नित्य रहते हैं; उनका कभी अभाव होता ही नहीं। इसीलिये यहाँ सत्त्वगुणके कार्योंमें केवल प्रकाशकी बात कही है। अभिप्राय यह है कि सत्त्वगुणकी किसी भी वृत्तिका उसके शरीर, इन्द्रिय और अन्त:करणमें यदि अपने-आप प्रादुर्भाव हो जाता है तो वह उससे द्वेष नहीं करता और जब तिरोभाव हो जाता है तो पुन: उसके आगमनकी इच्छा नहीं करता; उसके प्रादुर्भाव और तिरोभावमें सदा ही उसकी एक-सी स्थिति रहती है।

प्रश्न—'प्रवृत्तिम्' पदका क्या अभिप्राय है ? और यहाँ रजोगुणके कार्योंमेंसे केवल 'प्रवृत्ति' के ही प्रादुर्भाव और तिरोभावमें राग-द्वेषका अभाव दिखलानेका क्या भाव है ?

उत्तर—नाना प्रकारके कर्म करनेकी स्फुरणाका नाम प्रवृत्ति है। इसके सिवा जो काम, लोभ, स्पृहा और आसक्ति आदि रजोगुणके कार्य हैं—वे गुणातीत पुरुषमें नहीं होते। कर्मोंका आरम्भ गुणातीतके शरीर-इन्द्रियोंद्वारा भी होता है, वह 'प्रवृत्ति'के अन्तर्गत ही आ जाता है; अतएव यहाँ रजोगुणके कार्योंमेंसे केवल 'प्रवृत्ति'में ही राग-द्वेषका अभाव दिखलाया गया है। अभिप्राय यह है कि जब गुणातीत पुरुषके मनमें किसी कर्मका आरम्भ करनेके लिये स्फुरणा होती है या शरीरादिद्वारा उसका आरम्भ होता है तो वह उससे द्वेष नहीं करता; और जब ऐसा नहीं होता, उस समय वह उसको चाहता भी नहीं। किसी भी स्फुरणा और क्रियाके प्रादुर्भाव और तिरोभावमें सदा ही उसकी एक-सी ही स्थिति रहती है।

प्रश्न—'मोहम्' पदका क्या अभिप्राय है और यहाँ तमोगुणके कार्योंमेंसे केवल 'मोह'के ही प्रादुर्भाव और तिरोभावमें राग-द्वेषका अभाव दिखलानेका क्या भाव है ?

उत्तर—अन्त:करणकी जो मोहिनी वृत्ति है—जिससे मनुष्यको तन्द्रा, स्वप्न और सुषुप्ति आदि अवस्थाएँ प्राप्त होती हैं तथा शरीर, इन्द्रिय और अन्त:करणमें सत्त्वगुणके कार्य प्रकाशका अभाव-सा हो जाता है—उसका नाम 'मोह' है। इसके सिवा जो अज्ञान और प्रमाद आदि तमोगुणके कार्य हैं, उनका गुणातीतमें अभाव हो जाता है; क्योंकि अज्ञान तो ज्ञानके पास आ नहीं सकता और प्रमाद बिना कर्ताके करे कौन ? इसलिये यहाँ तमोगुणके कार्यमें केवल 'मोह'के प्रादुर्भाव और तिरोभावमें राग-द्वेषका अभाव दिखलाया गया है। अभिप्राय यह है कि जब गुणातीत पुरुषके शरीरमें तन्द्रा, स्वप्न या निद्रा आदि तमोगुणकी वृत्तियाँ व्याप्त होती हैं तो गुणातीत उनसे द्वेष नहीं करता; और जब वे निवृत्त हो जाती हैं, तब वह उनके पुनरागमनकी इच्छा नहीं करता। दोनों अवस्थाओंमें ही उसकी स्थिति सदा एक-सी रहती है।

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥ २३ ॥

जो साक्षीके सदृश स्थित हुआ गुणोंके द्वारा विचलित नहीं किया जा सकता और गुण ही गुणोंमें बरतते हैं--ऐसा समझता हुआ जो सच्चिदानन्दघन परमात्मामें एकीभावसे स्थित रहता है एवं उस स्थितिसे कभी विचलित नहीं होता, ॥ २३ ॥

प्रश्न—'उदासीन' किसको कहते हैं और 'उसके सदृश स्थित रहना' क्या है ?

उत्तर—जो केवल साक्षीभावसे सबका द्रष्टा रहता है, दृश्यवर्गके साथ जिसका किसी भी प्रकारसे कोई सम्बन्ध नहीं होता—उसे 'उदासीन' कहते हैं । इसी प्रकार तीनों गुणोंसे और उनके कार्यरूप शरीर, इन्द्रिये और अन्तःकरण एवं समस्त पदार्थोंसे सब प्रकारके सम्बन्धोंसे रहित होकर रहना ही उदासीनके सदृश स्थित रहना है ।

प्रश्न—गुणोंके द्वारा विचलित न किया जाना क्या है ?

उत्तर—जिन जीवोंका गुणोंके साथ सम्बन्ध है, उनको ये तीनों गुण उनकी इच्छा न होते हुए भी बलात्कारसे नाना प्रकारके कर्मोंमें और उनके फल-भोगोंमें लगा देते हैं एवं उनको सुखी-दुखी बनाकर विक्षेप उत्पन्न कर देते हैं तथा अनेकों योनियोंमें भटकाते रहते हैं; परन्तु जिसका इन गुणोंसे सम्बन्ध नहीं रहता, उसपर इन गुणोंका कोई प्रभाव नहीं रह जाता । गुणोंके कार्यरूप शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरणकी अवस्थाओंका नाना प्रकारसे परिवर्त्तन तथा नाना प्रकारके सांसारिक पदार्थोंका संयोग-वियोग होते रहनेपर भी वह अपनी स्थितिमें सदा एकरस रहता है; यही उसका गुणोंद्वारा विचलित नहीं किया जाना है ।

प्रश्न—गुण ही गुणोंमें बरतते हैं, यह 'समझना' और यह समझकर 'स्थित रहना' क्या है ?

उत्तर—तीसरे अध्यायके २८वें श्लोकमें 'गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते'से जो बात कही गयी है, यही बात 'गुणा वर्तन्त इत्येव'से कही गयी है । अभिप्राय यह है कि इन्द्रिय, मन, बुद्धि और प्राण आदि समस्त करण और शब्दादि सब विषय, ये सभी गुणोंके ही विस्तार हैं; अतएव इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदिका जो अपने-अपने विषयोंमें विचरना है—वह गुणोंका ही गुणोंमें बरतना है, आत्माका इनसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है । आत्मा नित्य, चेतन, सर्वथा असङ्ग, सदा एकरस सच्चिदानन्दस्वरूप है—यह समझना ही 'गुण ही गुणोंमें बरतते हैं' यह 'समझना' है; और ऐसा समझकर निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म परमात्मामें जो अभिन्नभावसे सदाके लिये नित्य स्थित हो जाना है, वही 'स्थित रहना' है ।

प्रश्न—'न इङ्गते' क्रियाका प्रयोग करके क्या भाव दिखलाया गया है ?

उत्तर—'न इङ्गते' क्रियाका अर्थ है 'हिलता नहीं' । अतएव इसका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया गया है कि गुणातीत पुरुषको गुण विचलित नहीं कर सकते, इतनी ही बात नहीं है; वह स्वयं भी अपनी स्थितिसे कभी किसी भी कालमें विचलित नहीं होता । क्योंकि सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मामें अभिन्नभावसे स्थित हो जानेके अनन्तर जीवकी भिन्न सत्ता ही नहीं रह जाती, तब कौन विचलित हो और कैसे हो ?

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥ २४ ॥

और जो निरन्तर आत्मभावमें स्थित, दुःख-सुखको समान समझनेवाला, मिट्टी, पत्थर और स्वर्णमें समान भाववाला, ज्ञानी, प्रिय तथा अप्रियको एक-सा माननेवाला और अपनी निन्दा-स्तुतिमें भी समान भाववाला है, ॥ २४ ॥

प्रश्न—'स्वस्थः' पदका प्रयोग करके क्या भाव दिखलाया गया है और सुख-दुःखको समान समझना क्या है ?

उत्तर—स्वस्थ पुरुष ही सुख-दुःखमें सम रह सकता है, यह भाव दिखलानेके लिये यहाँ 'स्वस्थः' पदका प्रयोग किया गया है । अभिप्राय यह है कि साधारण मनुष्योंकी स्थिति प्रकृतिके कार्यरूप स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन तीन प्रकारके शरीरोंमेंसे किसी एकमें रहती ही है; अतः वे 'स्वस्थ' नहीं हैं, किन्तु 'प्रकृतिस्थ' हैं । और ऐसे पुरुष ही प्रकृतिके गुणोंको भोगनेवाले हैं (१३ । २१), इसलिये वे सुख-दुःखमें सम नहीं हो सकते । गुणातीत पुरुषका प्रकृति और उसके कार्यसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता; अतएव वह 'स्वस्थ' है—अपने सच्चिदानन्दस्वरूपमें स्थित है । इसलिये शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरणमें सुख और दुःखोंका प्रादुर्भाव और तिरोभाव होते रहनेपर भी गुणातीत पुरुषका उनसे कुछ भी सम्बन्ध न रहनेके कारण वह उनके द्वारा सुखी-दुखी नहीं होता; उसकी स्थिति सदा सम ही रहती है । यही उसका सुख-दुःखको समान समझना है ।

प्रश्न—लोष्ट, अश्म और काञ्चन—इन तीनों शब्दोंका भिन्न-भिन्न अर्थ क्या है ? एवं इन तीनोंमें समभाव क्या है ?

उत्तर—गोबर और मिट्टीको मिलाकर जो कच्चे घरोंमें लेप किया जाता है, उसमेंसे बचे हुए पिण्डको या लोहेके मैलको 'लोष्ट' कहते हैं । अश्म पत्थरका नाम है और काञ्चन नाम सुवर्णका है । इन तीनोंमें जो ग्राह्य और त्याज्य बुद्धिका न होना है, वही समभाव है । इनमें गुणातीतकी समताका वर्णन करके यह भाव दिखलाया है कि संसारके जितने भी पदार्थ हैं—जिनको लोग उत्तम, नीच और मध्यम श्रेणीके समझते हैं—उन सबमें गुणातीतकी समता होती है, उसकी दृष्टिमें सभी पदार्थ मृगतृष्णाके जलकी भाँति मायिक होनेके कारण किसी भी वस्तुमें उसकी भेदबुद्धि नहीं होती ।

प्रश्न—'धीरः' पदका क्या भाव है ?

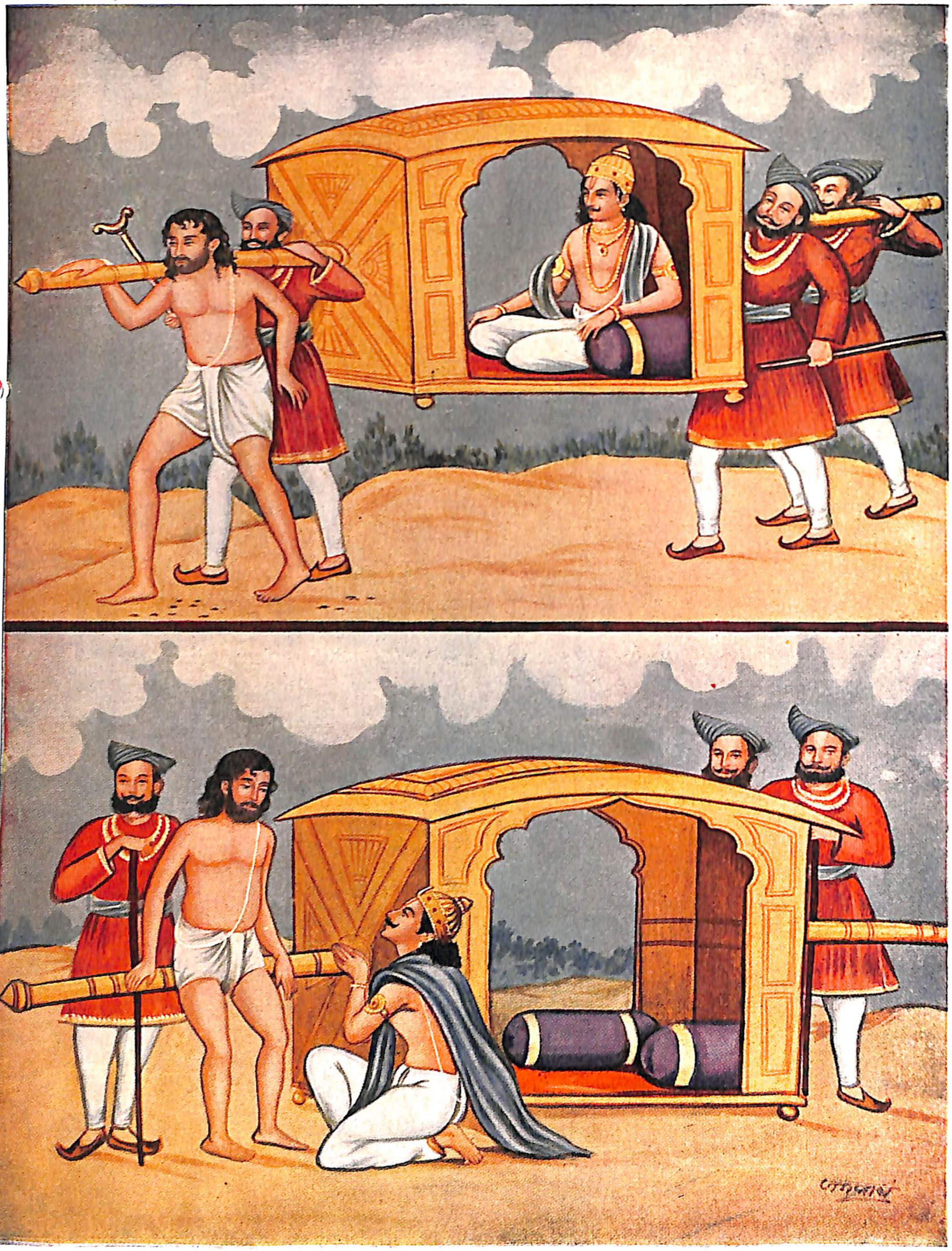
उत्तर—ज्ञानी अथवा धैर्यवान् पुरुषको 'धीर' कहते हैं । गुणातीत पुरुष बड़े-से-बड़े सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें भी अपनी स्थितिसे विचलित नहीं होता (६ । २१, २२); क्योंकि उसकी बुद्धि सदा ही स्थिर रहती है । अतएव सबसे बढ़कर धैर्यवान् भी वही है ।

प्रश्न—'प्रिय' और 'अप्रिय' शब्द किसके वाचक हैं और इनमें सम रहना क्या है ?

उत्तर—जो पदार्थ शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धिके अनुकूल हो तथा उनका पोषक, सहायक एवं शान्ति प्रदान करनेवाला हो—वह लोकदृष्टिसे 'प्रिय' कहलाता है; और जो पदार्थ उनके प्रतिकूल हो, उनका क्षयकारक, विरोधी एवं ताप पहुँचानेवाला हो वह लोकदृष्टिसे 'अप्रिय' माना जाता है । ऐसे अनेक प्रकारके पदार्थोंसे और प्राणियोंसे शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरणका सम्बन्ध होनेपर भी जो किसीमें भेदबुद्धिका

१—अपमान

गुणातीत जडभरतकी समता



२—सम्मान

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥ (१४ । २५)

न होना है—यही 'उनमें सम रहना' है। गुणातीत पुरुषका अन्तःकरण और इन्द्रियोंके सहित शरीरसे किसी प्रकारका सम्बन्ध न रहनेके कारण उनसे सम्बन्ध रखनेवाले किसी भी पदार्थमें उसका भेदभाव नहीं होता। अभिप्राय यह है कि साधारण मनुष्योंको प्रिय वस्तुके संयोगमें और अप्रियके वियोगमें राग और हर्ष तथा अप्रियके संयोगमें और प्रियके वियोगमें द्वेष और शोक होते हैं; किन्तु गुणातीतमें ऐसा नहीं होता; वह सदा-सर्वदा राग-द्वेष और हर्ष-शोकसे सर्वथा अतीत रहता है।

प्रश्न—निन्दा और स्तुति किसको कहते हैं तथा उनको तुल्य समझना क्या है?

उत्तर—किसीके सच्चे या झूठे दोषोंका वर्णन करना निन्दा है और गुणोंका बखान करना स्तुति है; इन दोनोंका सम्बन्ध—अधिकतर नामसे और कुछ शरीरसे है। गुणातीत पुरुषका 'शरीर' और उसके 'नाम' से किञ्चिन्मात्र भी सम्बन्ध न रहनेके कारण उसे निन्दा या स्तुतिके कारण शोक या हर्ष कुछ भी नहीं होता; न तो निन्दा करनेवालेपर उसे क्रोध होता है और न स्तुति करनेवालेपर वह प्रसन्न ही होता है। उसका सदा-सर्वदा एक-सा ही भाव रहता है, यही उसका उन दोनोंमें सम रहना है।

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥२५॥

जो मान और अपमानमें सम है एवं मित्र और वैरीके पक्षमें भी सम है, सम्पूर्ण आरम्भोंमें कर्त्तापनके अभिमानसे रहित वह पुरुष गुणातीत कहा जाता है ॥ २५ ॥

प्रश्न—मान और अपमानमें सम रहना क्या है?

उत्तर—मान और अपमानका सम्बन्ध अधिकतर शरीरसे है। अतः जिनका शरीरमें अभिमान है, वे संसारी मनुष्य मानमें राग और अपमानमें द्वेष करते हैं; इससे उनको मानमें हर्ष और अपमानमें शोक होता है तथा वे मान करनेवालेके साथ प्रेम और अपमान करनेवालेसे वैर भी करते हैं। परन्तु 'गुणातीत' पुरुषका शरीरसे कुछ भी सम्बन्ध न रहनेके कारण न तो शरीरका मान होनेसे उसे हर्ष होता है और न अपमान होनेसे शोक ही होता है। उसकी दृष्टिमें जिसका मानापमान होता है, जिसके द्वारा होता है एवं जो मान-अपमानरूप कार्य है—ये सभी मायिक और स्वप्नवत् हैं; अतएव मान-अपमानसे उसमें किञ्चिन्मात्र भी राग-द्वेष और हर्ष-शोक नहीं होते। यही उसका मान और अपमानमें सम रहना है।

प्रश्न—मित्र और वैरीके पक्षोंमें सम रहना क्या है?

उत्तर—यद्यपि गुणातीत पुरुषका अपनी ओरसे किसी भी प्राणीमें मित्र या शत्रुभाव नहीं होता, इसलिये उसकी दृष्टिमें कोई मित्र अथवा वैरी नहीं है; तथापि लोग अपनी भावनाके अनुसार उसमें मित्र और शत्रुभावकी कल्पना कर लेते हैं। उसीकी अपेक्षासे भगवान्‌का यह कथन है कि वह मित्र और शत्रुके पक्षोंमें सम रहता है। अभिप्राय यह है कि जैसे संसारी मनुष्य अपने साथ मित्रता रखनेवालोंसे, उनके सम्बन्धी एवं हितैषियोंसे आत्मीयता और प्रीति करते हैं तथा उनके पक्षमें अपने स्वत्वका त्याग करके उनकी सहायता करते हैं; और अपने साथ वैर रखनेवालोंसे तथा उनके सम्बन्धी और हितैषियोंसे द्वेष रखते हैं, उनका बुरा करनेकी इच्छा रखते हैं एवं उनका अहित करनेमें अपनी शक्तिका व्यय करते हैं—गुणातीत इस प्रकार नहीं करता।

वह दोनों पक्षवालोंमें समभाव रखता है, उसके द्वारा सबके हितकी ही चेष्टा हुआ करती है, वह किसीका भी बुरा नहीं करता और उसकी किसीमें भी भेदबुद्धि नहीं होती। यही उसका मित्र और वैरीके पक्षोंमें सम रहना है।

प्रश्न—'सर्वारम्भपरित्यागी' का क्या भाव है ?

उत्तर—'आरम्भ' शब्द यहाँ क्रियामात्रका वाचक है; अतएव गुणातीत पुरुषके शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धिसे जो कुछ भी शास्त्रानुकूल क्रिया प्रारब्धानुसार लोकसंग्रहके लिये अर्थात् लोगोंको बुरे मार्गसे हटाकर अच्छे मार्गपर लगानेके उद्देश्यसे हुआ करती है—उन सबका वह किसी अंशमें भी कर्त्ता नहीं बनता। यही भाव दिखलानेके लिये उसे 'सर्वारम्भपरित्यागी' अर्थात् 'सम्पूर्ण क्रियाओंका पूर्णरूपसे त्याग करनेवाला' कहा है।

प्रश्न—'गुणातीतः स उच्यते' इस वाक्यका क्या भाव है ?

उत्तर—इस वाक्यसे अर्जुनके प्रश्नोंमेंसे दो प्रश्नोंके उत्तरका उपसंहार किया गया है। अभिप्राय यह है कि २२वें, २३वें, २४वें और २५वें श्लोकोंमें जिन लक्षणोंका वर्णन किया गया है—उन सब लक्षणोंसे जो युक्त है, उसे लोग 'गुणातीत' कहते हैं। यही गुणातीत पुरुषकी पहचानके चिह्न हैं और यही उसका आचार-व्यवहार है। अतएव जबतक अन्तःकरणमें राग-द्वेष, विषमता, हर्ष-शोक, अविद्या और अभिमानका लेशमात्र भी रहे तबतक समझना चाहिये कि अभी गुणातीत-अवस्था नहीं प्राप्त हुई है।

सम्बन्ध—इस प्रकार अर्जुनके दो प्रश्नोंका उत्तर देकर अब गुणातीत बननेके उपायविषयक तीसरे प्रश्नका उत्तर दिया जाता है। यद्यपि १९वें श्लोकमें भगवान्ने गुणातीत बननेका उपाय अपनेको अकर्त्ता समझकर निरन्तर निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें स्थित रहना बतला दिया था एवं उपर्युक्त चार श्लोकोंमें गुणातीतके जिन लक्षण और आचरणोंका वर्णन किया गया है—उनको आदर्श मानकर धारण करनेका अभ्यास भी गुणातीत बननेका उपाय माना जाता है; किन्तु अर्जुनने इन उपायोंसे भिन्न दूसरा कोई सरल उपाय जाननेकी इच्छासे प्रश्न किया था, इसलिये उन्हींके अनुकूल भगवान् दूसरा सरल उपाय बतलाते हैं—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥२६॥

और जो पुरुष अव्यभिचारी भक्तियोगके द्वारा मुझको निरन्तर भजता है, वह इन तीनों गुणोंको भलीभाँति लाँघकर सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त होनेके लिये योग्य बन जाता है ॥ २६ ॥

प्रश्न—'अव्यभिचारी भक्तियोग' किसको कहते हैं और उसके द्वारा भगवान्‌को निरन्तर भजना क्या है ?

उत्तर—केवलमात्र एक परमेश्वर ही सर्वश्रेष्ठ हैं; वे ही हमारे स्वामी, शरण लेनेयोग्य, परम गति और परम आश्रय तथा माता-पिता, भाई-बन्धु, परम हितकारी और सर्वस्व हैं; उनके अतिरिक्त हमारा और कोई नहीं है—ऐसा समझकर उनमें जो स्वार्थरहित अतिशय श्रद्धापूर्वक अनन्यप्रेम करना है, वही भक्तियोग है। अर्थात् जिस प्रेममें स्वार्थ, अभिमान और व्यभिचारका जरा भी दोष न हो; जो सर्वथा और सर्वदा पूर्ण और अटल रहे;

जिसका तनिक-सा अंश भी भगवान्से भिन्न वस्तुके प्रति न हो और जिसके कारण क्षणमात्रकी भी भगवान्की विस्मृति असह्य हो जाय—उसका नाम 'अव्यभिचारी भक्तियोग' है। और ऐसे भक्तियोगके द्वारा जो निरन्तर भगवान्के गुण, प्रभाव और लीलाओंका श्रवण-कीर्तन-मनन, उनके नामोंका उच्चारण, जप तथा उनके स्वरूपका चिन्तन आदि करते रहना है एवं मन, बुद्धि और शरीर आदिको तथा समस्त पदार्थोंको भगवान्का ही समझकर निष्कामभावसे अपनेको केवल निमित्तमात्र समझते हुए उनके आज्ञानुसार उन्हींकी सेवारूपमें समस्त क्रियाओंको उन्हींके लिये करते रहना है—यही अव्यभिचारी भक्तियोगके द्वारा भगवान्को निरन्तर भजना है।

प्रश्न—'माम्' पद यहाँ किसका वाचक है ?

उत्तर—'माम्' पद यहाँ सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापी, सर्वाधार समस्त जगत्के हर्त्ता-कर्त्ता, परम दयालु, सबके सुहृद्, परम प्रेमी सगुण परमेश्वरका वाचक है।

प्रश्न—'गुणान्'के साथ 'एतान्' पदके प्रयोगका क्या अभिप्राय है और उपर्युक्त पुरुषका उन गुणोंसे अतीत होना क्या है ?

उत्तर—'गुणान्' पदके साथ 'एतान्' विशेषण देकर यह दिखलाया गया है कि इस अध्यायमें जिन तीनों गुणोंका विषय चल रहा है, उन्हींका वाचक यहाँ 'गुणान्' पद है तथा इन तीनों गुणोंसे और उनके कार्यरूप शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धिसे एवं समस्त सांसारिक पदार्थोंसे किञ्चिन्मात्र भी सम्बन्ध न रहना, उन गुणोंसे अतीत होना है।

प्रश्न—'ब्रह्मभूयाय कल्पते' इस वाक्यका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह दिखलाया गया है कि उपर्युक्त प्रकारसे गुणातीत होनेके साथ ही मनुष्य ब्रह्मभावको अर्थात् जो निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म है, जिसको पा लेनेके बाद कुछ भी पाना बाकी नहीं रहता तथा जो सब प्रकारके साधनोंका अन्तिम फल है—उसको अभिन्नभावसे प्राप्त करनेका पात्र बन जाता है।

सम्बन्ध—उपर्युक्त श्लोकमें सगुण परमेश्वरकी उपासनाका फल निर्गुण-निराकार ब्रह्मकी प्राप्ति बतलाया गया तथा १९वें श्लोकमें गुणातीत-अवस्थाका फल भगवद्भावकी प्राप्ति एवं २०वें श्लोकमें 'अमृत' की प्राप्ति बतलाया गया। अतएव फलमें विषमताकी शङ्काका निराकरण करनेके लिये सबकी एकताका प्रतिपादन करते हुए इस अध्यायका उपसंहार करते हैं—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥२७॥

क्योंकि उस अविनाशी परब्रह्मका और अमृतका तथा नित्यधर्मका और अखण्ड एकरस आनन्दका आश्रय मैं हूँ॥ २७॥

प्रश्न—'ब्रह्मणः' पदके साथ 'अव्ययस्य' विशेषण देनेका क्या अभिप्राय है और उस ब्रह्मकी प्रतिष्ठा मैं हूँ, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'ब्रह्मणः' पदके साथ 'अव्ययस्य' विशेषण देकर यह भाव दिखलाया गया है कि यहाँ 'ब्रह्म' पद प्रकृतिका वाचक नहीं है, किन्तु निर्गुण-निराकार

परमात्माका वाचक है और उसकी प्रतिष्ठा मैं हूँ, इस कथनका यहाँ यह अभिप्राय है कि वह ब्रह्म मुझ सगुण परमेश्वरसे भिन्न नहीं है; अतएव पिछले श्लोकमें जो ब्रह्मकी प्राप्ति बतलायी गयी है, वह भी मेरी ही प्राप्ति है।

प्रश्न—'अमृतस्य' पद किसका वाचक है और अमृतकी प्रतिष्ठा मैं हूँ, इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'अमृतस्य' पद भी जिसको पाकर मनुष्य अमर हो जाता है, अर्थात् जन्म-मृत्युरूप संसारसे सदाके लिये छूट जाता है—उस ब्रह्मका ही वाचक है। उसकी प्रतिष्ठा अपनेको बतलाकर भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि वह अमृत भी मुझसे भिन्न नहीं है; अतएव इस अध्यायके बीसवें श्लोकमें और तेरहवें अध्यायके बारहवें श्लोकमें जो 'अमृत' की प्राप्ति बतलायी गयी है, वह भी मेरी ही प्राप्ति है।

प्रश्न—'शाश्वतस्य' विशेषणके सहित 'धर्मस्य' पद किसका वाचक है और भगवान्‌का अपनेको ऐसे धर्मकी प्रतिष्ठा बतलानेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—जो नित्यधर्म है, बारहवें अध्यायके अन्तिम श्लोकमें जिस समत्वरूप धर्मको 'धर्मामृत' नाम दिया गया है तथा इस प्रकरणमें जो गुणातीतके लक्षणोंके नामसे वर्णित हुआ है—उसका वाचक यहाँ 'शाश्वतस्य' विशेषणके सहित 'धर्मस्य' पद है। ऐसे धर्मकी प्रतिष्ठा अपनेको बतलाकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि इसका फल भी मैं ही हूँ, अर्थात् इस धर्मका आचरण करनेवाला किसी अन्य फलको न पाकर मुझको ही प्राप्त होता है।

प्रश्न—'ऐकान्तिकस्य' विशेषणके सहित 'सुखस्य' पद किसका वाचक है और उसकी प्रतिष्ठा अपनेको बतलानेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—पाँचवें अध्यायके २१वें श्लोकमें जो 'अक्षय सुख' के नामसे, छठे अध्यायके २१वें श्लोकमें 'आत्यन्तिक' सुखके नामसे और २८वें श्लोकमें 'अत्यन्त सुख' के नामसे कहा गया है—उसी नित्य परमानन्दका वाचक यहाँ 'ऐकान्तिकस्य' विशेषणके सहित 'सुखस्य' पद है। उसकी प्रतिष्ठा अपनेको बतलाकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि वह नित्य परमानन्द मेरा ही स्वरूप है, मुझसे भिन्न कोई अन्य वस्तु नहीं है; अतः उसकी प्राप्ति भी मेरी ही प्राप्ति है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥



ॐ श्रीपरमात्मने नमः

पञ्चदशोऽध्यायः

अध्यायका नाम

इस अध्यायमें सम्पूर्ण जगत्के कर्त्ता-हर्त्ता, सर्वशक्तिमान्, सबके नियन्ता, सर्वव्यापी, अन्तर्यामी, परम दयालु, सबके सुहृद्, सर्वाधार, शरण लेनेयोग्य, सगुण परमेश्वर पुरुषोत्तम भगवान्के गुण, प्रभाव और स्वरूपका वर्णन किया गया है। एवं क्षर पुरुष (क्षेत्र), अक्षर पुरुष (क्षेत्रज्ञ) और पुरुषोत्तम (परमेश्वर)—इन तीनोंका वर्णन करके, क्षर और अक्षरसे भगवान् किस प्रकार उत्तम हैं, वे किसलिये 'पुरुषोत्तम' कहलाते हैं, उनको पुरुषोत्तम जाननेका क्या माहात्म्य है और किस प्रकार उनको प्राप्त किया जा सकता है—इत्यादि विषय भलीभाँति समझाये गये हैं। इसी कारण इस अध्यायका नाम 'पुरुषोत्तमयोग' रक्खा गया है।

अध्यायका संक्षेप

इस अध्यायके पहले और दूसरे श्लोकोंमें अश्वत्थ वृक्षके रूपकसे संसारका वर्णन किया गया है; तीसरेमें संसार-वृक्षके आदि, अन्त और प्रतिष्ठाकी अनुपलब्धि बतलाकर दृढ़ वैराग्यरूप शस्त्रद्वारा उसे काटनेकी प्रेरणा करते हुए चौथेमें परमपदस्वरूप परमेश्वरको प्राप्त करनेके लिये उसी आदिपुरुषकी शरण ग्रहण करनेके लिये कहा है। पाँचवें श्लोकमें उस परम पदको प्राप्त होनेवाले पुरुषोंके लक्षण बतलाकर छठेमें उसे परम प्रकाशमय और अपुनरावृत्तिशील बतलाया है। तदनन्तर सातवेंसे ग्यारहवें श्लोकतक जीवका स्वरूप, मन और इन्द्रियोंके सहित उसके एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जानेका प्रकार, शरीरमें रहकर इन्द्रिय और मनकी सहायतासे विषयोंके उपभोग करनेकी बात और प्रत्येक अवस्थामें स्थित उस जीवात्माको ज्ञानी ही जान सकता है, मलिन अन्तःकरणवाला पुरुष किसी प्रकार भी नहीं जान सकता—इत्यादि विषयोंका वर्णन किया गया है। बारहवेंमें समस्त जगत्को प्रकाशित करनेवाले सूर्य और चन्द्रमामें स्थित तेजको भगवान्का ही तेज बतलाकर तेरहवें और चौदहवेंमें भगवान्को पृथ्वीमें प्रवेश करके समस्त प्राणियोंके धारण करनेवाले, चन्द्ररूपसे सबके पोषण करनेवाले तथा वैश्वानररूपसे सब प्रकारके अन्नको पचानेवाले बतलाया है और पंद्रहवेंमें सबके हृदयमें स्थित, सबकी स्मृति आदिके कारण, समस्त वेदोंद्वारा जाननेयोग्य, वेदोंको जाननेवाले और वेदान्तके कर्त्ता बतलाया गया है। सोलहवें श्लोकमें समस्त भूतोंको क्षर तथा कूटस्थ आत्माको अक्षर पुरुष बतलाकर सतरहवेंमें उनसे भिन्न सर्वव्यापी, सबका धारण-पोषण करनेवाले, अविनाशी परमात्माको पुरुषोत्तम बतलाया गया है। अठारहवेंमें पुरुषोत्तमत्वकी प्रसिद्धिके हेतुका प्रतिपादन करके उन्नीसवेंमें भगवान् श्रीकृष्णको पुरुषोत्तम समझनेवालेकी एवं बीसवें श्लोकमें उपर्युक्त गुह्यतम विषयके ज्ञानकी महिमा कहकर अध्यायका उपसंहार किया गया है।

सम्बन्ध—चौदहवें अध्यायमें पाँचवेंसे अठारहवें श्लोकतक तीनों गुणोंके स्वरूप, उनके कार्य एवं उनकी बन्धनकारिताका और बँधे हुए मनुष्योंकी उत्तम, मध्यम आदि गतियोंका विस्तारपूर्वक वर्णन करके उन्नीसवें और

बीसवें श्लोकोंमें उन गुणोंसे अतीत होकर भगवद्भावको प्राप्त होनेका उपाय और फल बतलाया गया। उसके बाद अर्जुनके पूछनेपर २२वेंसे २५वें श्लोकतक गुणातीत पुरुषके लक्षणों और आचरणोंका वर्णन करके २६वें श्लोकमें सगुण परमेश्वरके अव्यभिचारी भक्तियोगको गुणोंसे अतीत होकर ब्रह्मप्राप्तिका पात्र बननेका सरल उपाय बतलाया गया; अतएव भगवान्‌में अव्यभिचारी भक्तियोगरूप अनन्यप्रेम उत्पन्न करानेके उद्देश्यसे अब उस सगुण परमेश्वर पुरुषोत्तम भगवान्‌के गुण, प्रभाव और स्वरूपका एवं गुणोंसे अतीत होनेमें प्रधान साधन वैराग्य और भगवत्-शरणागतिका वर्णन करनेके लिये पंद्रहवें अध्यायका आरम्भ किया जाता है। यहाँ पहले संसारमें वैराग्य उत्पन्न करानेके उद्देश्यसे तीन श्लोकोंद्वारा संसारका वर्णन वृक्षके रूपमें करते हुए वैराग्यरूप शस्त्रद्वारा उसका छेदन करनेके लिये कहते हैं—

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥ १॥

श्रीभगवान् बोले—आदिपुरुष परमेश्वररूप मूलवाले और ब्रह्मारूप मुख्य शाखावाले जिस संसाररूप पीपलके वृक्षको अविनाशी कहते हैं; तथा वेद जिसके पत्ते कहे गये हैं—उस संसाररूप वृक्षको जो पुरुष मूलसहित तत्त्वसे जानता है, वह वेदके तात्पर्यको जाननेवाला है॥ १॥

प्रश्न—यहाँ 'अश्वत्थ' शब्दके प्रयोगका और इस संसाररूप वृक्षको 'ऊर्ध्वमूल' कहनेका क्या अभिप्राय है?

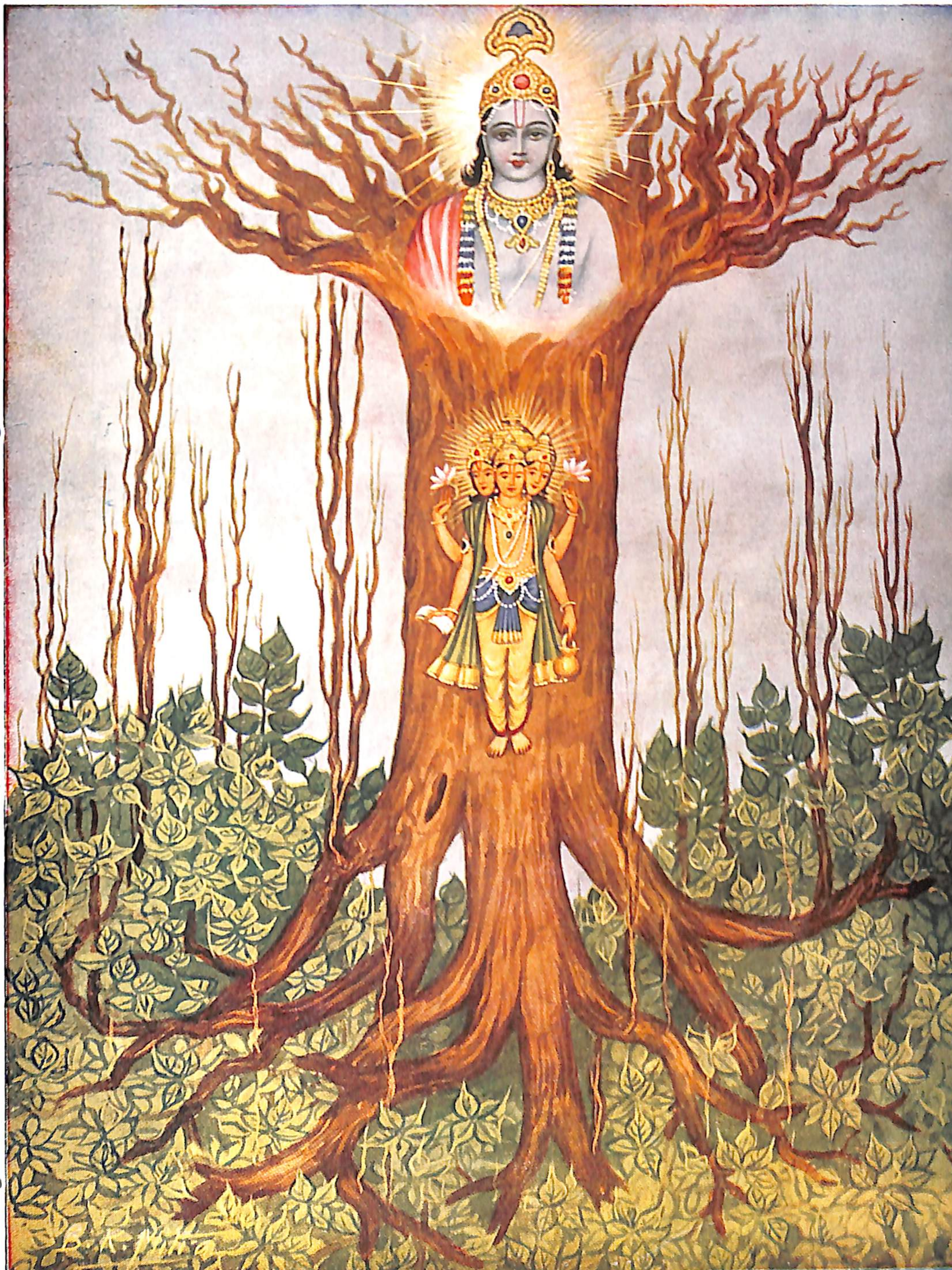
उत्तर—'अश्वत्थ' पीपलके वृक्षको कहते हैं। समस्त वृक्षोंमें पीपलका वृक्ष उत्तम माना गया है। इसलिये उसके रूपकसे संसारका वर्णन करनेके लिये यहाँ 'अश्वत्थ'का प्रयोग किया गया है। 'मूल' शब्द कारण-का वाचक है। इस संसारवृक्षकी उत्पत्ति और इसका विस्तार आदिपुरुष नारायणसे ही हुआ है, यह बात चौथे श्लोकमें और अन्यत्र भी स्थान-स्थानपर कही गयी है। वे आदिपुरुष परमेश्वर नित्य, अनन्त और सबके आधार हैं एवं सगुणरूपसे सबसे ऊपर नित्य धाममें निवास करते हैं, इसलिये 'ऊर्ध्व' नामसे कहे जाते हैं। यह संसारवृक्ष उन्हीं मायापति सर्वशक्तिमान् परमेश्वरसे उत्पन्न हुआ है, इसलिये इसको 'ऊर्ध्वमूल' अर्थात् ऊपरकी ओर मूलवाला कहते हैं। अभिप्राय यह है कि अन्य साधारण वृक्षोंका मूल तो नीचे पृथ्वीके अंदर रहा करता है, पर इस संसारवृक्षका मूल ऊपर है—यह बड़ी अलौकिक बात है।

प्रश्न—इस संसारवृक्षको नीचेकी ओर शाखावाला कहनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—संसारवृक्षकी उत्पत्तिके समय सबसे पहले ब्रह्माका उद्भव होता है, इस कारण ब्रह्मा ही इसकी प्रधान शाखा हैं। ब्रह्माका लोक आदिपुरुष नारायणके नित्य धामकी अपेक्षा नीचे है एवं ब्रह्माजीका अधिकार भी भगवान्‌की अपेक्षा नीचा है—ब्रह्मा उन आदिपुरुष नारायणसे ही उत्पन्न होते हैं और उन्हींके शासनमें रहते हैं—इसलिये इस संसारवृक्षको 'नीचेकी ओर शाखावाला' कहा है।

प्रश्न—'अव्ययम्' और 'प्राहुः'—इन दो पदोंके प्रयोगका क्या भाव है?

संसार-वृक्ष



ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ (१५ । १)

उत्तर—इन दोनों पदोंका प्रयोग करके भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि यद्यपि यह संसारवृक्ष परिवर्तनशील होनेके कारण नाशवान्, अनित्य और क्षणभङ्गुर है तो भी इसका प्रवाह अनादिकालसे चला आता है, इसके प्रवाहका अन्त भी देखनेमें नहीं आता; इसलिये इसको अव्यय अर्थात् अविनाशी कहते हैं। क्योंकि इसका मूल सर्वशक्तिमान् परमेश्वर नित्य अविनाशी हैं। किन्तु वास्तवमें यह संसारवृक्ष अविनाशी नहीं है। यदि यह अव्यय होता तो न तो अगले तीसरे श्लोकमें यह कहा जाता कि इसका जैसा स्वरूप बतलाया गया है, वैसा उपलब्ध नहीं होता और न इसको वैराग्यरूप दृढ़ शस्त्रके द्वारा छेदन करनेके लिये ही कहना बनता।

प्रश्न—वेदोंको इस संसारवृक्षके पत्ते बतलानेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—पत्ते वृक्षकी शाखासे उत्पन्न एवं वृक्षकी रक्षा और वृद्धि करनेवाले होते हैं। वेद भी इस संसार-रूप वृक्षकी मुख्य शाखारूप ब्रह्मासे प्रकट हुए हैं और वेदविहित कर्मोंसे ही संसारकी वृद्धि और रक्षा होती है, इसलिये वेदोंको पत्तोंका स्थान दिया गया है।

प्रश्न—जो उस संसारवृक्षको जानता है, वह वेदोंको जानता है—इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि जो मनुष्य मूलसहित इस संसारवृक्षको इस प्रकार तत्त्वसे जानता है कि सर्वशक्तिमान् परमेश्वरकी मायासे उत्पन्न यह संसार वृक्षकी भाँति उत्पत्ति-विनाशशील और क्षणिक है, अतएव इसकी चमक-दमकमें न फँस-कर इसको उत्पन्न करनेवाले मायापति परमेश्वरकी शरणमें जाना चाहिये और ऐसा समझकर संसारसे विरक्त और उपरत होकर जो भगवान्की शरण ग्रहण कर लेता है—वही वास्तवमें वेदोंको जाननेवाला है; क्योंकि पंद्रहवें श्लोकमें सब वेदोंके द्वारा जानने योग्य भगवान्को ही बतलाया है। जो संसारवृक्षका यह स्वरूप जान लेता है, वह इससे उपरत होकर भगवान्की शरण ग्रहण करता है और भगवान्की शरणमें ही सम्पूर्ण वेदोंका तात्पर्य है—इस अभिप्रायसे कहा गया है कि जो संसारवृक्षको जानता है, वह वेदोंको जानता है।

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥२॥

उस संसारवृक्षकी तीनों गुणोंरूप जलके द्वारा बढ़ी हुई एवं विषयभोगरूप कोंपलोंवाली देव, मनुष्य और तिर्यक् आदि योनिरूप शाखाएँ नीचे और ऊपर सर्वत्र फैली हुई हैं तथा मनुष्ययोनिमें कर्मोंके अनुसार बाँधनेवाली अहंता, ममता और वासनारूप जड़ें भी नीचे और ऊपर सभी लोकोंमें व्याप्त हो रही हैं ॥ २ ॥

प्रश्न—इन शाखाओंको गुणोंके द्वारा बढ़ी हुई कहने-का और विषयोंको कोंपल बतलानेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—अच्छी और बुरी योनियोंकी प्राप्ति गुणोंके सङ्गसे होती है (१३।२१) एवं समस्त लोक और प्राणियोंके शरीर तीनों गुणोंके ही परिणाम हैं, यह भाव समझानेके लिये उन शाखाओंको गुणोंके द्वारा बढ़ी हुई कहा गया है। और उन शाखाओंमें ही शब्द, स्पर्श रूप, रस और गन्ध—ये पाँचों विषय रहते हैं; इसीलिये

उनको कोंपल बतलाया गया है ।

प्रश्न—इस संसारवृक्षकी बहुत-सी शाखाएँ क्या हैं तथा उनका नीचे-ऊपर सब जगह फैलना क्या है ?

उत्तर—ब्रह्मलोकसे लेकर पातालपर्यन्त जितने भी लोक और उनमें निवास करनेवाली योनियाँ हैं, वे ही सब इस संसारवृक्षकी बहुत-सी शाखाएँ हैं और उनका नीचे पातालपर्यन्त एवं ऊपर ब्रह्मलोकपर्यन्त सर्वत्र विस्तृत होना ही सब जगह फैलना है ।

प्रश्न—'मूलानि' पद किनका वाचक है तथा उनको नीचे और ऊपर सभी लोकोंमें व्याप्त बतलानेका क्या अभिप्राय है और वे मनुष्यलोकमें कर्मोंके अनुसार बाँधनेवाले कैसे हैं ?

उत्तर—'मूलानि' पद यहाँ अविद्यामूलक **'अहंता'**, 'ममता' और 'वासना'का वाचक है । ये तीनों ब्रह्मलोकसे लेकर पातालपर्यन्त समस्त लोकोंमें निवास करनेवाले आवागमनशील प्राणियोंके अन्तःकरणमें व्याप्त हो रही हैं, इसलिये इनको सर्वत्र व्याप्त बतलाया गया है । तथा मनुष्यशरीरमें कर्म करनेका अधिकार है एवं मनुष्यशरीरके द्वारा अहंता, ममता और वासनापूर्वक किये हुए कर्म बन्धनके हेतु माने गये हैं; इसीलिये ये मूल मनुष्यलोकमें कर्मानुसार बाँधनेवाले हैं । दूसरी सभी योनियाँ भोग-योनियाँ हैं, उनमें कर्मोंका अधिकार नहीं है; अतः वहाँ अहंता, ममता और वासनारूप मूल होनेपर भी वे कर्मानुसार बाँधनेवाले नहीं बनते ।

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥ ३ ॥

इस संसारवृक्षका स्वरूप जैसा कहा है वैसा यहाँ विचारकालमें नहीं पाया जाता । क्योंकि न तो इसका आदि है, न अन्त है तथा न इसकी अच्छी प्रकारसे स्थिति ही है । इसलिये इस अहंता, ममता और वासनारूप अति दृढ़ मूलोंवाले संसाररूप पीपलके वृक्षको दृढ़ वैराग्यरूप शस्त्रद्वारा काटकर—॥ ३ ॥

प्रश्न—इस संसारवृक्षका रूप जैसा कहा गया है, वैसा यहाँ नहीं पाया जाता—इस वाक्यका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि इस संसारवृक्षका जैसा स्वरूप शास्त्रोंमें वर्णन किया गया है एवं जैसा देखने और सुननेमें आता है, यथार्थ विचार करनेपर और तत्त्वज्ञान होनेपर वैसा उपलब्ध नहीं होता; क्योंकि विचारके समय भी वह नाशवान् और क्षणभङ्गुर प्रतीत होता है तथा तत्त्वज्ञान होनेके साथ तो उसका सदाके लिये सम्बन्ध ही छूट जाता है । तत्त्वज्ञानीके लिये वह रह ही नहीं जाता । इसीलिये सोलहवें श्लोकमें उसका वर्णन क्षर पुरुषके नामसे किया गया है ।

प्रश्न—इसका आदि, अन्त और स्थिति नहीं है—इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इस कथनसे संसारवृक्षको अनिर्वचनीय बतलाया है । कहनेका अभिप्राय यह है कि यह संसार कल्पके आदिमें उत्पन्न होकर कल्पके अन्तमें लीन हो जाता है, इस प्रकार आदि-अन्त प्रसिद्ध होनेपर भी इस बातका पता नहीं है कि इसकी यह प्रकट होने और लय होनेकी परम्परा कबसे आरम्भ हुई और कबतक चलती रहेगी । स्थितिकालमें भी यह निरन्तर परिवर्तित होता रहता है; जो रूप पहले क्षणमें है, वह दूसरे क्षणमें नहीं रहता । इस प्रकार इस संसारवृक्षका आदि, अन्त और स्थिति—तीनों ही उपलब्ध नहीं होते ।

प्रश्न—इस संसारको 'सुविरूढमूल' कहनेका क्या अभिप्राय है तथा असङ्ग-शस्त्र क्या है और उसके द्वारा संसारवृक्षको छेदन करना क्या है ?

उत्तर—इस संसार-वृक्षके जो अविद्यामूलक अहंता, ममता और वासनारूप मूल हैं—वे अनादिकालसे पुष्ट होते रहनेके कारण अत्यन्त दृढ़ हो गये हैं; अतएव जबतक उन जड़ोंको काट न डाला जाय, तबतक इस संसार-वृक्षका उच्छेद नहीं हो सकता । वृक्षकी भाँति ऊपरसे काट डालनेपर भी अर्थात् बाहरी सम्बन्ध-का त्याग कर देनेपर भी अहंता, ममता और वासनाका जबतक त्याग नहीं होता, तबतक संसार-वृक्षका उच्छेद नहीं हो सकता—यही भाव दिखलानेके लिये तथा उन जड़ोंका उच्छेद करना बड़ा ही दुष्कर है, यह दिखलानेके लिये भी उस वृक्षको अति दृढ़ मूलोंसे युक्त बतलाया गया है । विवेकद्वारा समस्त संसारको नाशवान् और क्षणिक समझकर इस लोक और परलोकके स्त्री-पुत्र, धन, मकान तथा मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और स्वर्ग आदि समस्त भोगोंमें सुख, प्रीति और रमणीयताका न भासना—उनमें आसक्तिका सर्वथा अभाव हो जाना ही दृढ़ वैराग्य है, उसीका नाम यहाँ 'असङ्ग-शस्त्र' है । इस असङ्ग-शस्त्रद्वारा जो चराचर समस्त संसारके चिन्तनका त्याग कर देना है एवं अहंता, ममता और वासनारूप मूलोंका उच्छेद कर देना है—यही उस संसार-वृक्षका दृढ़ वैराग्यरूप शस्त्रके द्वारा समूल उच्छेद करना है ।

सम्बन्ध—इस प्रकार वैराग्यरूप शस्त्रके द्वारा संसारका छेदन करके क्या करना चाहिये, अब इसे बतलाते हैं—

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥ ४ ॥

उसके पश्चात् उस परम पदरूप परमेश्वरको भलीभाँति खोजना चाहिये, जिसमें गये हुए पुरुष फिर लौटकर संसारमें नहीं आते; और जिस परमेश्वरसे इस पुरातन संसार-वृक्षकी प्रवृत्ति विस्तारको प्राप्त हुई है, उसी आदिपुरुष नारायणके मैं शरण हूँ—इस प्रकार दृढ़ निश्चय करके उस परमेश्वरका मनन और निदिध्यासन करना चाहिये ॥ ४ ॥

प्रश्न—वह परम पद क्या है और उसको खोजना क्या है ?

उत्तर—इस अध्यायके पहले श्लोकमें जिसे 'ऊर्ध्व' कहा गया है, चौदहवें अध्यायके २६वें श्लोकमें जो 'माम्' पदका और २७वें श्लोकमें 'अहम्' पदका वाच्यार्थ है एवं अन्यान्य स्थलोंमें जिसको कहीं परम पद, कहीं अव्यय पद और कहीं परम गति तथा कहीं परम धामके नामसे भी कहा है—उसीको यहाँ परम पदके नामसे कहा है । उस सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार परमेश्वरको प्राप्त करनेकी इच्छासे जो बार-बार उनके गुण और प्रभावके सहित स्वरूपका मनन और निदिध्यासनद्वारा अनुसन्धान करते रहना है—यही उस परम पदको खोजना है । अभिप्राय यह है कि तीसरे श्लोकमें बतलाये हुए विधानके अनुसार विवेकपूर्वक वैराग्यद्वारा संसारसे सर्वथा उपरत होकर मनुष्यको उस परमपद-स्वरूप परमेश्वरकी प्राप्तिके लिये मनन, निदिध्यासन-द्वारा उसका अनुसन्धान करना चाहिये ।

प्रश्न—जिसमें गये हुए मनुष्य फिर संसारमें नहीं लौटते—इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि पिछले वाक्योंमें जिस परमपदका अनुसन्धान करनेके लिये कहा गया है, वह परमपद मैं ही हूँ । अभिप्राय यह है कि जिस सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सबका धारण-पोषण करनेवाले पुरुषोत्तमको प्राप्त होनेके बाद मनुष्य वापस नहीं लौटते—उसी परमेश्वरको यहाँ 'परमपद'के नामसे कहा गया है । यही बात आठवें अध्यायके २१ वें श्लोकमें भी समझायी गयी है ।

प्रश्न—'यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी' इस वाक्यका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि जिस आदिपुरुष परमेश्वरसे इस संसार-वृक्षकी अनादि परम्परा चली आती है और जिससे यह उत्पन्न होकर विस्तार-को प्राप्त हुआ है, उसीकी शरण ग्रहण करनेसे सदाके लिये इस संसारवृक्षका सम्बन्ध छूटकर आदिपुरुष परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है ।

प्रश्न—'तम्' और 'आद्यम्'—इन दोनों पदोंके सहित 'पुरुषम्' पद किसका वाचक है और 'प्रपद्ये' क्रिया-का प्रयोग करके यहाँ क्या भाव दिखलाया गया है ?

उत्तर—'तम्' और 'आद्यम्'—इन दोनों पदोंके सहित 'पुरुषम्' पद उसी पुरुषोत्तम भगवान्का वाचक है, जिसका वर्णन पहले 'तत्' और 'पदम्'से किया गया है एवं जिसकी मायाशक्तिसे इस चिरकालीन संसार-वृक्षकी उत्पत्ति और विस्तृति बतलायी गयी है । 'प्रपद्ये' क्रियाका अर्थ होता है 'मैं उसकी शरणमें हूँ ।' अतएव इसका प्रयोग करके भगवान्ने यह दिखलाया है कि उस परमपदस्वरूप परमेश्वरका अनुसन्धान उसीका आश्रय ग्रहण करके करना चाहिये । अभिप्राय यह है कि अपने अंदर जरा भी अभिमान न आने देकर और सब प्रकारसे अनन्य आश्रयपूर्वक एक परमेश्वरपर ही पूर्ण विश्वास करके उसीके भरोसेपर उपर्युक्त प्रकारसे उसका अनुसन्धान करते रहना चाहिये ।

प्रश्न—'एव' अव्ययके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—'एव' अव्ययका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया है कि उसकी प्राप्तिके लिये एकमात्र उस परमेश्वरकी ही शरणमें जाना चाहिये ।

सम्बन्ध—अब उपर्युक्त प्रकारसे आदिपुरुष परमपदस्वरूप परमेश्वरकी शरण होकर उसको प्राप्त हो जानेवाले पुरुषोंके लक्षण बतलाये जाते हैं—

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ ५ ॥

जिनका मान और मोह नष्ट हो गया है, जिन्होंने आसक्तिरूप दोषको जीत लिया है, जिनकी परमात्माके स्वरूपमें नित्य स्थिति है और जिनकी कामनाएँ पूर्णरूपसे नष्ट हो गयी हैं—वे सुख-दुःख-नामक द्वन्द्वोंसे विमुक्त ज्ञानीजन उस अविनाशी परमपदको प्राप्त होते हैं ॥ ५ ॥

प्रश्न—'निर्मानमोहाः' का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'मान' शब्दसे यहाँ मान, बड़ाई और प्रतिष्ठाका बोध होता है और 'मोह' शब्द अविवेक, विपर्ययज्ञान और भ्रम आदि तमोगुणके भावोंका वाचक है । इन दोनोंसे जो रहित हैं—अर्थात् जो जाति, गुण, ऐश्वर्य और विद्या आदिके सम्बन्धसे अपने अंदर

तनिक भी बड़प्पनकी भावना नहीं करते एवं जिनका मान, बड़ाई या प्रतिष्ठासे तथा अविवेक और भ्रम आदि तमोगुणके भावोंसे लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं रह गया है---ऐसे पुरुषोंको 'निर्मानमोहाः' कहते हैं।

प्रश्न—'जितसङ्गदोषाः' का क्या भाव है ?

उत्तर—'सङ्ग' शब्द यहाँ आसक्तिका वाचक है। इस आसक्तिरूप दोषको जिन्होंने सदाके लिये जीत लिया है, जिनकी इस लोक और परलोकके भोगोंमें जरा भी आसक्ति नहीं रह गयी है, विषयोंके साथ सम्बन्ध होनेपर भी जिनके अन्तःकरणमें किसी प्रकारका विकार नहीं हो सकता---ऐसे पुरुषोंको 'जितसङ्गदोषाः' कहते हैं।

प्रश्न—'अध्यात्मनित्याः' का क्या भाव है ?

उत्तर—'अध्यात्म' शब्द यहाँ परमात्माके स्वरूपका वाचक है। अतएव परमात्माके स्वरूपमें जिनकी नित्य स्थिति हो गयी है, जिनका क्षणमात्रके लिये भी परमात्मासे वियोग नहीं होता और जिनकी स्थिति सदा अटल बनी रहती है---ऐसे पुरुषोंको 'अध्यात्मनित्याः' कहते हैं।

प्रश्न—'विनिवृत्तकामाः' का क्या भाव है ?

उत्तर—'काम' शब्द यहाँ सब प्रकारकी इच्छा, तृष्णा, अपेक्षा, वासना और स्पृहा आदि न्यूनाधिक भेदोंसे वर्णन की जानेवाली मनोवृत्ति—कामनाका वाचक है। अतएव जिनकी सब प्रकारकी कामनाएँ सर्वथा नष्ट हो गयी हैं; जिनमें इच्छा, कामना, तृष्णा या वासना आदि लेशमात्र भी नहीं रह गयी हैं---ऐसे पुरुषोंको 'विनिवृत्तकामाः' कहते हैं।

प्रश्न—सुख-दुःखसंज्ञक द्वन्द्व क्या हैं ? और उनसे विमुक्त होना क्या है ?

उत्तर—शीत-उष्ण, प्रिय-अप्रिय, मान-अपमान, स्तुति-निन्दा---इत्यादि द्वन्द्वोंको सुख और दुःखमें हेतु होनेसे सुख-दुःखसंज्ञक कहा गया है। इन सबसे किञ्चिन्मात्र भी सम्बन्ध न रखना अर्थात् किसी भी द्वन्द्वके संयोग-वियोगमें जरा भी राग-द्वेष, हर्ष-शोकादि विकारका न होना ही उन द्वन्द्वोंसे सर्वथा मुक्त होना है। इसलिये ऐसे पुरुषोंको सुख-दुःखनामक द्वन्द्वोंसे विमुक्त कहते हैं।

प्रश्न—'अमूढाः' पदका क्या भाव है ?

उत्तर—'अमूढाः' पद जिनमें मूढता या अज्ञानका सर्वथा अभाव हो, उन ज्ञानी महात्माओंका वाचक है। उपर्युक्त समस्त विशेषणोंका यही विशेष्य है। इसका प्रयोग करके भगवान्ने यह दिखलाया है कि 'निर्मान-मोहाः' आदि समस्त गुणोंसे युक्त जो ज्ञानीजन हैं, वे ही परमपदको प्राप्त होते हैं।

प्रश्न—वह अविनाशी परम पद क्या है और उसको प्राप्त होना क्या है ?

उत्तर—चौथे श्लोकमें जिस पदका अनुसन्धान करनेके लिये और जिस आदिपुरुषके शरण होनेके लिये कहा गया है---उसी सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार परमेश्वरका वाचक अविनाशी परम पद है। तथा उस परमेश्वरकी मायासे विस्तारको प्राप्त हुए इस संसारवृक्षसे सर्वथा अतीत होकर उस परमपदस्वरूप परमेश्वरको पा लेना ही अव्यय पदको प्राप्त होना है।

सम्बन्ध—उपर्युक्त लक्षणोंवाले पुरुष जिसे प्राप्त करते हैं, वह अविनाशी पद कैसा है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर उस परमेश्वरके स्वरूपभूत परमपदकी महिमा कहते हैं—

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।*
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ ६ ॥

जिस परम पदको प्राप्त होकर मनुष्य लौटकर संसारमें नहीं आते--उस स्वयंप्रकाश परम पदको न सूर्य प्रकाशित कर सकता है, न चन्द्रमा और न अग्नि ही; वही मेरा परम धाम है ॥ ६ ॥

प्रश्न—जिसको पाकर मनुष्य वापस नहीं लौटते, वह मेरा परम धाम है--इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इस कथनसे भगवान्‌ने अपने अकथनीय स्वरूपको सङ्केतसे समझाया है । अभिप्राय यह है कि जहाँ पहुँचनेके बाद इस संसारसे कभी किसी भी कालमें और किसी भी अवस्थामें पुनः सम्बन्ध नहीं हो सकता, वही मेरा परम धाम अर्थात् मायातीत स्वरूप है । इसीको अव्यक्त अक्षर और परम गति भी कहते हैं (८ । २१) । इसीका वर्णन करती हुई श्रुति कहती है—

'यत्र न सूर्यस्तपति यत्र न वायुर्वाति यत्र न चन्द्रमा भाति यत्र न नक्षत्राणि भान्ति यत्र नाग्निर्दहति यत्र न मृत्युः प्रविशति यत्र न दुःखानि प्रविशन्ति सदानन्दं परमानन्दं शान्तं शाश्वतं सदाशिवं ब्रह्मादिवन्दितं योगिध्येयं परं पदं यत्र गत्वा न निवर्तन्ते योगिनः ।'

(बृहज्जाबाल उ० ८ । ६)

जहाँ सूर्य नहीं तपता, जहाँ वायु नहीं बहता, जहाँ चन्द्रमा नहीं प्रकाशित होता, जहाँ तारे नहीं चमकते, जहाँ अग्नि नहीं जलाता, जहाँ मृत्यु नहीं प्रवेश करती, जहाँ दुःख नहीं प्रवेश करते और जहाँ जाकर योगी लौटते नहीं—वह सदानन्द, परमानन्द, शान्त, सनातन, सदा कल्याणस्वरूप, ब्रह्मादि देवताओंके द्वारा वन्दित, योगियोंका ध्येय परम पद है ।'

प्रश्न—यहाँ 'तत्' पद किसका वाचक है तथा उसको सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि प्रकाशित नहीं कर सकते—इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'तत्' पद यहाँ उसी अविनाशी पदके नामसे कहे जानेवाले पूर्णब्रह्म पुरुषोत्तमका वाचक है; तथा सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि उसे प्रकाशित नहीं कर सकते—इस कथनसे उसकी अप्रमेयता, अचिन्त्यता और अनिर्वचनीयताका निर्देश किया गया है । अभिप्राय यह है कि समस्त संसारको प्रकाशित करनेवाले सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि एवं ये जिनके देवता हैं—वे चक्षु, मन और वाणी, कोई भी उस परम पदको प्रकाशित नहीं कर सकते । इससे यह भी समझ लेना चाहिये कि इनके अतिरिक्त और भी जितने प्रकाशक तत्त्व माने गये हैं, उनमेंसे भी कोई या सब मिलकर भी उस परम पदको प्रकाशित करनेमें समर्थ नहीं हैं; क्योंकि ये सब उसीके प्रकाशसे—उसीकी सत्ता-स्फूर्तिके किसी अंशसे स्वयं प्रकाशित होते हैं (१५ । १२) । यही सर्वथा युक्तियुक्त भी है, अपने प्रकाशकको कोई कैसे प्रकाशित कर सकते हैं ? जिन नेत्र, वाणी या

---

* श्रुतिमें भी कहा है—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥ (कठ० उ० २ । २ । १५)

अर्थात् 'उस पूर्णब्रह्म परमात्माको न सूर्य ही प्रकाशित कर सकता है न चन्द्रमा, न तारागण और न यह बिजली ही उसे प्रकाशित कर सकती है । जब ये सूर्यादि भी उसे प्रकाशित नहीं कर सकते, तब इस लौकिक अग्निकी तो बात ही क्या है ? क्योंकि ये सब उसीके प्रकाशित होनेपर उसके पीछे-पीछे प्रकाशित होते हैं और उसके प्रकाशसे ही यह सब कुछ प्रकाशित होता है ।'

मन आदि किसीकी वहाँ पहुँच भी नहीं है, वे उसका वर्णन कैसे कर सकते हैं । श्रुतिमें भी कहा है—

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।

(ब्रह्म० उ०)

'जहाँसे मनके सहित वाणी उसे प्राप्त किये बिना ही लौट आती है, वह पूर्णब्रह्म परमात्मा है ।' अतएव वह अविनाशी पद वाणी और मन आदिसे अत्यन्त ही अतीत है; उसका स्वरूप किसी प्रकार भी बतलाया या समझाया नहीं जा सकता ।

सम्बन्ध—जिसको प्राप्त होकर यह जीव वापस नहीं लौटता, वही मेरा परम धाम है—इस कथनपर यह शङ्का होती है कि जिसका संयोग होता है, उसका वियोग होना अनिवार्य है; अतएव यदि उस धामकी प्राप्ति होती है तो उससे लौटता नहीं, यह कहना कैसे बनता है । इसपर भगवान् जैसे घटाकाश महाकाशका ही अंश है और वह घट भङ्ग होते ही महाकाशको प्राप्त होनेके बाद पुनः नहीं लौटता, इसी प्रकार जीवको अपना अंश बतलाकर अगले श्लोकमें इस शङ्काकी निवृत्ति करते हैं—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ ७ ॥

इस देहमें यह जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है और वही इन त्रिगुणमयी मायामें स्थित मन और पाँचों इन्द्रियोंको आकर्षण करता है ॥ ७ ॥

प्रश्न—'जीवलोके' पद किसका वाचक है तथा उसमें स्थित जीवात्माको भगवान्‌ने अपना सनातन अंश बतलाकर क्या भाव दिखलाया है ?

उत्तर—'जीवलोके' पद यहाँ जीवात्माके निवासस्थान 'शरीर' का वाचक है । स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन तीनों प्रकारके शरीरोंका इसमें अन्तर्भाव है । इनमें स्थित जीवात्माको अपना सनातन अंश बतलाकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि जिस प्रकार सर्वत्र समभावसे स्थित विभागरहित महाकाश घड़े और मकान आदिके सम्बन्धसे विभक्त-सा प्रतीत होने लगता है और उन घड़े आदिमें स्थित आकाश महाकाशका अंश माना जाता है—उसी प्रकार यद्यपि मैं विभागरहित समभावसे सर्वत्र व्याप्त हूँ, तो भी भिन्न-भिन्न शरीरोंके सम्बन्धसे पृथक्-पृथक् विभक्त-सा प्रतीत होता हूँ (१३ । १६) और उन शरीरोंमें स्थित जीव मेरा अंश माना जाता है । तथा इस प्रकारका यह विभाग अनादि है, नवीन नहीं बना है—यही भाव दिखलानेके लिये जीवात्माको भगवान्‌ने अपना 'सनातन' अंश बतलाया है ।

प्रश्न—'एव' पदके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—'एव' पदका प्रयोग करके भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि उपर्युक्त प्रकारसे यह जीवात्मा मेरा ही अंश है, अतः स्वरूपतः मुझसे भिन्न नहीं है ।

प्रश्न—'इन्द्रियाणि' पदके साथ 'प्रकृतिस्थानि' विशेषण देनेका क्या अभिप्राय है और उनकी संख्या मनके सहित छः बतलानेका क्या अभिप्राय है, क्योंकि मनके सहित इन्द्रियाँ तो ग्यारह (१३ । ५) मानी गयी हैं ?

उत्तर—इन्द्रियाँ प्रकृतिका कार्य है और कार्य सदा

कारणके आधारपर ही रहता है, यह भाव दिखलानेके लिये उनके साथ 'प्रकृतिस्थानि' विशेषण दिया गया है; तथा पाँच ज्ञानेन्द्रिय और एक मन—इन छहोंकी ही सब विषयोंका अनुभव करनेमें प्रधानता है, कर्मेन्द्रियोंका कार्य भी बिना ज्ञानेन्द्रियोंके नहीं चलता; इसलिये यहाँ मनके सहित इन्द्रियोंकी संख्या छः बतलायी गयी है। अतएव पाँच कर्मेन्द्रियोंका इनमें अन्तर्भाव समझ लेना चाहिये।

प्रश्न—जीवात्माका इन मनसहित छः इन्द्रियोंको आकर्षित करना क्या है? जब जीवात्मा शरीरसे निकलता है, तब वह कर्मेन्द्रिय, प्राण और बुद्धिको भी साथ ले जाता है—ऐसा शास्त्रोंमें कहा है; फिर यहाँ इन छःको ही आकर्षण करनेकी बात कैसे कही गयी?

उत्तर—जब जीवात्मा एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जाता है, तो मनसहित इन्द्रियोंको साथ ले जाता है; यही इस जीवात्माका मनसहित इन्द्रियोंको आकर्षित करना है। विषयोंको अनुभव करनेमें मन और पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंकी प्रधानता होनेसे इन छहोंको आकर्षित करना बतलाया गया है। यहाँ 'मन' शब्द अन्तःकरणका वाचक है, अतः बुद्धि उसीमें आ जाती है। और जीवात्मा जब मनसहित इन्द्रियोंको आकर्षित करता है, तब प्राणोंके द्वारा ही आकर्षित करता है, अतः पाँच कर्मेन्द्रिय और पाँच प्राणोंको भी इन्हींके साथ समझ लेना चाहिये।

सम्बन्ध—यह जीवात्मा मनसहित छः इन्द्रियोंको किस समय, किस प्रकार और किसलिये आकर्षित करता है तथा वे मनसहित छः इन्द्रियाँ कौन-कौन हैं—ऐसी जिज्ञासा होनेपर अब दो श्लोकोंमें इसका उत्तर दिया जाता है—

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥ ८॥

वायु गन्धके स्थानसे गन्धको जैसे ग्रहण करके ले जाता है, वैसे ही देहादिका स्वामी जीवात्मा भी जिस शरीरको त्याग करता है, उससे इन मनसहित इन्द्रियोंको ग्रहण करके फिर जिस शरीरको प्राप्त होता है—उसमें जाता है॥ ८॥

प्रश्न—यहाँ 'आशयात्' पद किसका वाचक है तथा गन्ध और वायुके दृष्टान्तकी चरितार्थता किस प्रकार है?

उत्तर—'आशयात्' पद यहाँ जिन-जिन वस्तुओंमें गन्ध रहती है—उन पुष्प, चन्दन, केसर और कस्तूरी आदि वस्तुओंका वाचक है। उन वस्तुओंमेंसे गन्धको ले जानेकी भाँति मनसहित इन्द्रियोंको ले जानेके दृष्टान्तमें 'आशय' यानी आधारके स्थानमें स्थूलशरीर है और गन्धके स्थानमें सूक्ष्मशरीर है, क्योंकि पुष्पादि गन्धयुक्त पदार्थोंका सूक्ष्म अंश ही गन्ध होता है। यहाँ वायुस्थानमें जीवात्मा है। जैसे वायु गन्धको एक स्थानसे उड़ाकर ले जाता है और दूसरे स्थानमें स्थापित कर देता है—उसी प्रकार जीवात्मा भी इन्द्रिय, मन, बुद्धि और प्राणोंके समुदायरूप सूक्ष्मशरीरको एक स्थूलशरीरसे निकालकर दूसरे स्थूलशरीरमें स्थापन कर देता है।

प्रश्न—यहाँ 'एतानि' पद किनका वाचक है और जीवात्माको ईश्वर कहनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'एतानि' पद उपर्युक्त पाँच ज्ञानेन्द्रियोंसहित मनका वाचक है। मन अन्तःकरणका उपलक्षण होनेसे बुद्धिका उसमें अन्तर्भाव है और पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पाँच प्राणोंका अन्तर्भाव ज्ञानेन्द्रियोंमें है, अतः यहाँ 'एतानि' पद इन सतरह तत्त्वोंके समुदायरूप सूक्ष्मशरीरका बोधक है। जीवात्माको ईश्वर कहकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि यह इन मन-बुद्धिके सहित समस्त इन्द्रियोंका शासक और स्वामी है, इसीलिये इनको आकर्षित करनेमें समर्थ है।

प्रश्न—'यत्' पदका दो बार प्रयोग करके 'उत्क्रामति' और 'अवाप्नोति' इन दो क्रियाओंसे क्या भाव दिखलाया गया है?

उत्तर—एक 'यत्' पद जिसको यह जीव त्याग देता है, उस शरीरका वाचक है और दूसरा 'यत्' जिसको यह ग्रहण करता है, उस शरीरका वाचक है—यही भाव दिखलानेके लिये 'यत्' पदका दो बार प्रयोग करके 'उत्क्रामति' और 'अवाप्नोति' इन दो क्रियाओंका प्रयोग किया गया है। शरीरका त्याग करना 'उत्क्रामति' का और नवीन शरीरका ग्रहण करना 'अवाप्नोति' क्रियाका अर्थ है।

प्रश्न—आत्माका स्वरूप तो दूसरे अध्यायके २४ वें श्लोकमें अचल माना गया है, फिर यहाँ 'संयाति' क्रियाका प्रयोग करके उसके एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जानेकी बात कैसे कही गयी?

उत्तर—यद्यपि जीवात्मा परमात्माका ही अंश होनेके कारण वस्तुतः नित्य और अचल है, उसका कहीं आना-जाना नहीं बन सकता—तथापि सूक्ष्मशरीरके साथ इसका सम्बन्ध होनेके कारण सूक्ष्मशरीरके द्वारा एक स्थूलशरीरसे दूसरे स्थूलशरीरमें जीवात्माका जाना-सा प्रतीत होता है; इसलिये यहाँ 'संयाति' क्रियाका प्रयोग करके जीवात्माका एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जाना बतलाया गया है। दूसरे अध्यायके २२वें श्लोकमें भी यही बात कही गयी है।

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥

यह जीवात्मा श्रोत्र, चक्षु और त्वचाको तथा रसना, घ्राण और मनको आश्रय करके-अर्थात् इन सबके सहारेसे ही विषयोंको सेवन करता है ॥ ९ ॥

प्रश्न—जीवात्माका श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना और घ्राण—इन पाँचों इन्द्रियोंके सहित मनको आश्रय बनाना क्या है? और इनके सहारेसे ही जीवात्मा विषयोंको सेवन करता है, इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—जीवात्माका अन्तःकरण और इन्द्रियोंके साथ अपना सम्बन्ध मान लेना ही उनको आश्रय बनाना है। जीवात्मा इनके सहारेसे ही विषयोंका सेवन करता है, इस कथनका यह भाव है कि वास्तवमें आत्मा न तो कर्मोंका कर्ता है और न उनके फलस्वरूप विषय एवं सुख-दुःखादिका भोक्ता ही; किन्तु प्रकृति और उसके कार्योंके साथ जो उसका अज्ञानजनित अनादि सम्बन्ध है, उसके कारण वह कर्ता-भोक्ता बना हुआ है। तेरहवें अध्यायके २१वें श्लोकमें भी कहा है कि प्रकृतिस्थ पुरुष ही प्रकृति-जन्य गुणोंको भोगता है। श्रुतिमें भी कहा है—'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः।' (कठ० १।३।४) अर्थात् 'मन, बुद्धि और इन्द्रियोंसे युक्त आत्माको ही ज्ञानीजन भोक्ता—ऐसा कहते हैं।'

सम्बन्ध—जीवात्माको तीनों गुणोंसे सम्बद्ध, एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरमें जानेवाला और शरीरमें रहकर विषयोंका सेवन करनेवाला कहा गया। अतएव यह जिज्ञासा होती है कि ऐसे आत्माको कौन तथा कैसे जानता है और कौन नहीं जानता? इसपर दो श्लोकोंमें भगवान् कहते हैं—

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥१०॥

शरीरको छोड़कर जाते हुएको अथवा शरीरमें स्थित हुएको और विषयोंको भोगते हुएको अथवा तीनों गुणोंसे युक्त हुएको भी अज्ञानीजन नहीं जानते, केवल ज्ञानरूप नेत्रोंवाले ज्ञानीजन ही तत्त्वसे जानते हैं॥१०॥

प्रश्न—'गुणान्वितम्' पद किसका वाचक है तथा 'अपि' का प्रयोग करके उसके शरीर छोड़कर जाते, शरीरमें स्थित रहते और विषयोंको भोगते रहनेपर भी अज्ञानीजन उसको नहीं जानते—इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'गुणान्वितम्' पद यहाँ गुणोंसे सम्बन्ध रखनेवाले 'प्रकृतिस्थ पुरुष' (जीवात्मा) का वाचक है; अतएव 'अपि' का प्रयोग करके यह भाव दिखलाया है कि यद्यपि वह सबके सामने ही शरीर छोड़कर चला जाता है और सबके सामने ही शरीरमें स्थित रहता है तथा विषयोंका उपभोग करता है, तो भी अज्ञानीलोग उसके यथार्थ स्वरूपको नहीं समझते। फिर समस्त क्रियाओंसे रहित गुणातीत रूपमें स्थित आत्माको तो वे समझ ही कैसे सकते हैं।

प्रश्न—उसको ज्ञानरूप नेत्रोंसे युक्त (ज्ञानीजन) तत्त्वसे जानते हैं, इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इस कथनसे यह दिखलाया है कि जिन पुरुषोंको ज्ञानरूप नेत्र प्राप्त हो चुके हैं, ऐसे तत्त्वज्ञानी महात्माजन उस आत्माके यथार्थ स्वरूपको सदा ही जानते हैं अर्थात् गुणोंके साथ उसका सम्बन्ध रहते समय, शरीर छोड़कर जाते समय, शरीरमें रहते समय और विषयोंका उपभोग करते समय भी वास्तवमें वह (आत्मा) प्रकृतिसे सर्वथा अतीत, शुद्ध, बोधस्वरूप और असङ्ग ही है—ऐसा समझते हैं।

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥११॥

यत्न करनेवाले योगीजन भी अपने हृदयमें स्थित इस आत्माको तत्त्वसे जानते हैं। किन्तु जिन्होंने अपने अन्तःकरणको शुद्ध नहीं किया है, ऐसे अज्ञानीजन तो यत्न करते रहनेपर भी इस आत्माको नहीं जानते॥११॥

प्रश्न—'यत्न करनेवाले योगीजन' कौन हैं और उनका अपने हृदयमें स्थित 'इस आत्माको तत्त्वसे जानना' क्या है?

उत्तर—जिनका अन्तःकरण शुद्ध है और अपने वशमें है तथा जो आत्मस्वरूपको जाननेके लिये निरन्तर श्रवण, मनन और निदिध्यासनादि प्रयत्न करते रहते हैं—

ऐसे उच्च कोटिके साधक ही 'यत्न करनेवाले योगीजन' हैं। तथा जिस जीवात्माका प्रकरण चल रहा है और जो शरीरके सम्बन्धसे हृदयमें स्थित कहा जाता है, उसके नित्य-शुद्ध-विज्ञानानन्दमय वास्तविक स्वरूपको यथार्थ जान लेना ही उनका 'इस जीवात्माको तत्त्वसे जानना' है।

प्रश्न—'अकृतात्मानः' और 'अचेतसः' पद कैसे मनुष्योंके वाचक हैं और वे प्रयत्न करते हुए भी इस आत्माको नहीं जानते, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जिनका अन्तःकरण शुद्ध नहीं है अर्थात् न तो निष्काम कर्म आदिके द्वारा जिनके अन्तःकरणका मल सर्वथा धुल गया है, एवं न जिन्होंने भक्ति आदिके द्वारा चित्तको स्थिर करनेका ही कभी समुचित अभ्यास किया है—ऐसे मलिन और विक्षिप्त अन्तःकरणवाले पुरुषोंको 'अकृतात्मा' कहते हैं। और जिनके अन्तःकरणमें बोधशक्ति नहीं है, उन मूढ़ मनुष्योंको 'अचेतसः' कहते हैं। अतएव 'अकृतात्मानः' और 'अचेतसः' पद मल, विक्षेप और आवरण—इन तीनों दोषोंसे युक्त अन्तःकरणवाले तामस मनुष्योंके वाचक हैं। ऐसे मनुष्य यत्न करते हुए भी आत्माको नहीं जानते, इस कथनसे यह दिखलाया गया है कि ऐसे मनुष्य अपने अन्तःकरणको शुद्ध बनानेकी चेष्टा न करके यदि केवल उस आत्माको जाननेके लिये शास्त्रालोचनरूप प्रयत्न करते रहें तो भी उसके तत्त्वको नहीं समझ सकते।

प्रश्न—दसवें श्लोकमें यह बात कही गयी कि उस आत्माको मूढ नहीं जानते, ज्ञाननेत्रोंसे युक्त ज्ञानी जानते हैं; एवं इस श्लोकमें यह बात कही गयी कि यत्न करनेवाले योगी उसे जानते हैं, अशुद्ध अन्तःकरणवाले अज्ञानी नहीं जानते। इन दोनों वर्णनोंमें क्या भेद है ?

उत्तर—दसवें श्लोकमें 'मूढाः' पद साधारण अज्ञानी मनुष्योंका वाचक है और 'ज्ञानचक्षुषः' पद आत्मज्ञानियोंका वाचक है, एवं इस श्लोकमें 'योगिनः' सात्त्विक साधकोंका वाचक है और 'अचेतसः' तामस मनुष्योंका वाचक है। अतएव १०वें श्लोकमें स्वभावसे ही आत्मस्वरूपके जानने और न जाननेकी बात कही गयी है और इस श्लोकमें जाननेके लिये प्रयत्न करनेपर जानने और न जाननेकी बात कही है; यही दोनों श्लोकोंके वर्णनका भेद है।

सम्बन्ध—छठे श्लोकपर दो शङ्काएँ होती हैं—पहली यह कि परमात्माको सबके प्रकाशक सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि आदि तेजोमय पदार्थ क्यों नहीं प्रकाशित कर सकते, और दूसरी यह कि परम धामको प्राप्त होनेके बाद पुरुष वापस क्यों नहीं लौटते ? इनमेंसे दूसरी शङ्काके उत्तरमें जीवात्माको परमेश्वरका सनातन अंश बतलाकर ग्यारहवें श्लोकतक उसके स्वरूप, स्वभाव और व्यवहारका वर्णन करते हुए उसका यथार्थ स्वरूप जाननेवालोंकी महिमा कही गयी। अब पहली शङ्काका उत्तर देनेके लिये भगवान् बारहवेंसे पंद्रहवें श्लोकतक गुण, प्रभाव और ऐश्वर्यसहित अपने स्वरूपका वर्णन करते हैं—

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥१२॥

सूर्यमें स्थित जो तेज सम्पूर्ण जगत्‌को प्रकाशित करता है तथा जो तेज चन्द्रमामें है और जो अग्निमें है--उसको तू मेरा ही तेज जान ॥१२॥

प्रश्न—'आदित्यगतम्' विशेषणके सहित 'तेजः' पद किसका वाचक है और वह समस्त जगत्‌को प्रकाशित करता है, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—सूर्यमण्डलमें जो एक महान् ज्योति है, उसका वाचक यहाँ 'आदित्यगतम्' विशेषणके सहित 'तेजः' पद है; और वह समस्त जगत्‌को प्रकाशित करता है, यह कहकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि स्थूल संसारकी समस्त वस्तुओंको एक सूर्यका तेज ही प्रकाशित करता है। सूर्यके तेजकी सहायताके बिना स्थूल जगत्‌की किसी भी वस्तुका प्रत्यक्ष होना नहीं बन सकता।

प्रश्न—चन्द्रमामें और अग्निमें स्थित तेज किसका वाचक है और उसको तू मेरा ही तेज समझ, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—चन्द्रमामें जो ज्योत्स्ना है, उसका वाचक चन्द्रस्थ तेज है एवं अग्निमें जो प्रकाश है, उसका वाचक अग्निस्थ तेज है। इस प्रकार सूर्य, चन्द्रमा और अग्निमें स्थित समस्त तेजको अपना तेज बतलाकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि उन तीनोंमें और वे जिनके देवता हैं—ऐसे नेत्र, मन और वाणीमें वस्तुको प्रकाशित करनेकी जो कुछ भी शक्ति है—वह मेरे ही तेजका एक अंश है। जब कि इन तीनोंमें स्थित तेज भी मेरे ही तेजका अंश है, तब जो इन तीनोंके सम्बन्धसे तेजयुक्त कहे जानेवाले अन्यान्य पदार्थ हैं—उन सबका तेज मेरा ही तेज है, इसमें तो कहना ही क्या है। इसीलिये छठे श्लोकमें भगवान्‌ने कहा है कि सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि—ये सब मेरे स्वरूपको प्रकाशित करनेमें समर्थ नहीं हैं।

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥१३॥

और मैं ही पृथ्वीमें प्रवेश करके अपनी शक्तिसे सब भूतोंको धारण करता हूँ और रसस्वरूप अर्थात् अमृतमय चन्द्रमा होकर सम्पूर्ण ओषधियोंको अर्थात् वनस्पतियोंको पुष्ट करता हूँ ॥१३॥

प्रश्न—मैं ही पृथ्वीमें प्रविष्ट होकर अपनी शक्तिसे समस्त भूतोंको धारण करता हूँ, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इस कथनसे भगवान् पृथ्वीको उपलक्षण बनाकर विश्वव्यापिनी धारणशक्तिको अपना अंश बतलाते हैं। अभिप्राय यह है कि इस पृथ्वीमें जो भूतोंको धारण करनेकी शक्ति प्रतीत होती है, तथा इसी प्रकार और किसीमें जो धारण करनेकी शक्ति है—वह वास्तवमें उसकी नहीं, मेरी ही शक्तिका एक अंश है। अतएव मैं स्वयं ही उसके आत्मरूपसे पृथ्वीमें प्रविष्ट होकर अपने बलसे समस्त प्राणियोंको धारण करता हूँ।

प्रश्न—'रसात्मकः' विशेषणके सहित 'सोमः' पद किसका वाचक है और इस विशेषणके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—रस ही जिसका स्वरूप हो, उसे रसात्मक कहते हैं; अतएव 'रसात्मकः' विशेषणके सहित 'सोमः' पद चन्द्रमाका वाचक है। और यहाँ 'सोमः' के साथ 'रसात्मकः' विशेषण देकर यह भाव दिखलाया गया है

कि चन्द्रमाका स्वरूप रसमय—अमृतमय है तथा वह सबको रस प्रदान करनेवाला है।

प्रश्न—'ओषधीः' पद किसका वाचक है और 'मैं ही चन्द्रमा बनकर समस्त ओषधियोंको पुष्ट करता हूँ' इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'ओषधि' पद पत्र, पुष्प और फल आदि समस्त अङ्ग-प्रत्यङ्गोंके सहित वृक्ष, लता और तृण आदि जिनके भेद हैं—ऐसी समस्त वनस्पतियोंका वाचक है। तथा 'मैं ही चन्द्रमा बनकर समस्त ओषधियोंका पोषण करता हूँ' इससे भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि जिस प्रकार चन्द्रमामें प्रकाशनशक्ति मेरे ही प्रकाशका अंश है, उसी प्रकार जो उसमें पोषण करनेकी शक्ति है—वह भी मेरी ही शक्तिका एक अंश है; अतएव मैं ही चन्द्रमाके रूपमें प्रकट होकर सबका पोषण करता हूँ, चन्द्रमाकी सत्ता मुझसे भिन्न नहीं है।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥१४॥

मैं ही सब प्राणियोंके शरीरमें स्थित रहनेवाला प्राण और अपानसे संयुक्त वैश्वानर अग्निरूप होकर चार प्रकारके अन्नको पचाता हूँ॥१४॥

प्रश्न—यहाँ 'प्राणिनां देहमाश्रितः' विशेषणके सहित 'वैश्वानरः' पद किसका वाचक है और 'मैं प्राण और अपानसे संयुक्त वैश्वानर बनकर चार प्रकारके अन्नको पचाता हूँ' भगवान्‌के इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—जिसके कारण सबके शरीरमें गरमी रहती है और अन्नका पाक होता है, समस्त प्राणियोंके शरीरमें निवास करनेवाले उस अग्निका वाचक यहाँ 'प्राणिनां देहमाश्रितः' विशेषणके सहित 'वैश्वानरः' पद है। तथा भगवान्‌ने 'मैं ही प्राण और अपानसे संयुक्त वैश्वानर अग्नि होकर चार प्रकारके अन्नको पचाता हूँ' इस कथनसे यह भाव दिखलाया है कि जिस प्रकार अग्निकी प्रकाशनशक्ति मेरे ही तेजका अंश है, उसी प्रकार उसका जो उष्णत्व है अर्थात् उसकी जो पाचन, दीपन आदि करनेकी शक्ति है—वह भी मेरी ही शक्तिका अंश है। अतएव मैं ही प्राणियोंके शरीरमें निवास करनेवाले प्राण और अपानसे संयुक्त वैश्वानर अग्निके रूपमें भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चोष्य पदार्थोंको अर्थात् दाँतोंसे चबाकर खाये जानेवाले रोटी, भात आदि; निगलकर खाये जानेवाले रबड़ी, दूध, पानी आदि; चाटकर खाये जानेवाले शहद, चटनी आदि और चूसकर खाये जानेवाले ऊख आदि—ऐसे चार प्रकारके भोजनको पचाता हूँ।

सम्बन्ध—इस प्रकार दसवें अध्यायके ४१वें श्लोकके भावानुसार सम्पूर्ण प्रकाशनशक्ति, धारणशक्ति, पोषणशक्ति और पाचनशक्ति आदि समस्त शक्तियोंको अपनी शक्तिका एक अंश बतलाकर—अर्थात् जैसे पंखा चलाकर वायुका विस्तार करनेमें, बत्ती जलाकर प्रकाश फैलानेमें, चक्की घुमानेमें, जल आदिको गरम करनेमें तथा रेडियो आदिके द्वारा शब्दका प्राकट्य करनेमें एक ही बिजलीकी शक्तिका अंश सब कार्य करता है; वैसे ही सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि आदिके द्वारा सबको प्रकाशित करनेमें, पृथ्वी आदिके द्वारा सबको धारण करनेमें, चन्द्रमाके द्वारा सबका पोषण करनेमें तथा वैश्वानरके द्वारा अन्नको पचानेमें मेरी ही शक्तिका एक अंश सब कुछ करता है—

यह बात कहकर अब भगवान् अपने सर्वान्तर्यामित्व और सर्वज्ञत्व आदि गुणोंसे युक्त जाननेयोग्य स्वरूपका वर्णन करते हैं—

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥१५॥

और मैं ही सब प्राणियोंके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित हूँ तथा मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन होता है और सब वेदोंद्वारा मैं ही जाननेके योग्य हूँ तथा वेदान्तका कर्त्ता और वेदोंको जाननेवाला भी मैं ही हूँ ॥ १५ ॥

प्रश्न—मैं सबके हृदयमें स्थित हूँ—इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि यद्यपि मैं सर्वत्र समभावसे परिपूर्ण हूँ, फिर भी हृदय मेरी उपलब्धिका विशेष स्थान है । इसीलिये 'मैं सबके हृदयमें स्थित हूँ' ऐसा कहा जाता है (१३ । १७; १८ । ६१); क्योंकि जिनका अन्तःकरण शुद्ध और स्वच्छ होता है, उनके हृदयमें मेरा प्रत्यक्ष दर्शन होता है ।

प्रश्न—'स्मृति', 'ज्ञान' और 'अपोहन' शब्दोंका अर्थ क्या है ? और ये तीनों मुझसे ही होते हैं, यह कहकर भगवान्‌ने क्या भाव दिखलाया है ?

उत्तर—पहले देखी-सुनी या किसी प्रकार भी अनुभव की हुई वस्तु या घटनादिके स्मरणका नाम 'स्मृति' है । किसी भी वस्तुको यथार्थ जान लेनेकी शक्तिका नाम 'ज्ञान' है । तथा संशय, विपर्यय आदि वितर्क-जालका वाचक 'ऊहन' है और उसके दूर करनेका नाम 'अपोहन' है । ये तीनों मुझसे ही होते हैं, यह कहकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि सबके हृदयमें स्थित मैं अन्तर्यामी परमेश्वर ही सब प्राणियोंके कर्मानुसार उपर्युक्त स्मृति, ज्ञान और अपोहन आदि भावोंको उनके अन्तःकरणमें उत्पन्न करता हूँ ।

प्रश्न—समस्त वेदोंद्वारा जाननेके योग्य मैं ही हूँ—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि मैं सर्वशक्तिमान् परमेश्वर ही समस्त वेदोंका विधेय हूँ । अर्थात् उनमें कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञान-काण्डात्मक जितने भी वर्णन हैं—उन सबका अन्तिम लक्ष्य संसारमें वैराग्य उत्पन्न करके सब प्रकारके अधिकारियों-को मेरा ही ज्ञान करा देना है । अतएव उनके द्वारा जो मनुष्य मेरे स्वरूपका ज्ञान प्राप्त करते हैं, वे ही वेदोंके अर्थको ठीक समझते हैं । इसके विपरीत जो लोग सांसारिक भोगोंमें फँसे रहते हैं, वे उनके अर्थको ठीक नहीं समझते ।

प्रश्न—'वेदान्त' शब्द यहाँ किसका वाचक है एवं भगवान्‌ने अपनेको उसका कर्त्ता एवं समस्त वेदोंका ज्ञाता बतलाकर क्या भाव दिखलाया है ?

उत्तर—वेदोंके तात्पर्यनिर्णयका, अर्थात् वेदविषयक शङ्काओंका समाधान करके एक परमात्मामें सबके समन्वयका नाम 'वेदान्त' है । उसका कर्त्ता और वेदोंका ज्ञाता अपनेको बतलाकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि वेदोंमें प्रतीत होनेवाले विरोधोंका वास्तविक समन्वय करके मनुष्यको शान्ति प्रदान करने-वाला मैं ही हूँ; अतः वेदोंका ज्ञाता भी मैं ही हूँ, उनके यथार्थ तात्पर्यको मैं ही जानता हूँ ।

सम्बन्ध—पहलेसे छठे श्लोकतक वृक्षरूपसे संसारका, दृढ़ वैराग्यके द्वारा उसके छेदनका, परमेश्वरकी शरणमें जानेका, परमात्माको प्राप्त होनेवाले पुरुषोंके लक्षणोंका और परमधामस्वरूप परमेश्वरकी महिमाका वर्णन करते हुए अश्वत्थ वृक्षरूप क्षर पुरुषका प्रकरण पूरा किया गया। तदनन्तर सातवें श्लोकसे 'जीव' शब्दवाच्य उपासक अक्षर पुरुषका प्रकरण आरम्भ करके उसके स्वरूप, शक्ति, स्वभाव और व्यवहारका वर्णन करके एवं उसे जाननेवालोंकी महिमा कहते हुए ग्यारहवें श्लोकतक उस प्रकरणको पूरा किया। फिर बारहवें श्लोकसे उपास्यदेव 'पुरुषोत्तम'का प्रकरण आरम्भ करके १५वें श्लोकतक उसके गुण, प्रभाव और स्वरूपका वर्णन करते हुए उस प्रकरणको भी पूरा किया। अब अध्यायकी समाप्तितक पूर्वोक्त तीनों प्रकरणोंका सार संक्षेपमें बतलानेके लिये अगले श्लोकमें क्षर और अक्षर पुरुषका स्वरूप बतलाते हैं—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१६॥

इस संसारमें नाशवान् और अविनाशी भी, ये दो प्रकारके पुरुष हैं। इनमें सम्पूर्ण भूतप्राणियोंके शरीर तो नाशवान् और जीवात्मा अविनाशी कहा जाता है ॥ १६ ॥

प्रश्न—'इमौ' और 'द्वौ'—इन दोनों सर्वनाम पदोंके सहित 'पुरुषौ' पद किन दो पुरुषोंका वाचक है तथा एकको क्षर और दूसरेको अक्षर कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जिनका प्रसङ्ग इस अध्यायमें चल रहा है, उन्हींमेंसे दो तत्त्वोंका वर्णन यहाँ 'क्षर' और 'अक्षर' नामसे किया जाता है—यह भाव दिखलानेके लिये 'इमौ' और 'द्वौ'—इन दोनों पदोंका प्रयोग किया गया है। जिन दोनों तत्त्वोंका वर्णन सातवें अध्यायमें 'अपरा' और 'परा' प्रकृतिके नामसे (७ । ४, ५), आठवें अध्यायमें 'अधिभूत' और 'अध्यात्म' के नामसे (८।४,३), तेरहवें अध्यायमें 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ'के नामसे (१३।१) और इस अध्यायमें पहले 'अश्वत्थ' और 'जीव' के नामसे किया गया है—उन्हीं दोनों तत्त्वोंका वाचक 'पुरुषौ' पद है। उनमेंसे एकको 'क्षर' और दूसरेको 'अक्षर' कहकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि दोनों परस्पर अत्यन्त विलक्षण हैं।

प्रश्न—'सर्वाणि भूतानि' तथा 'कूटस्थः' पद किनके वाचक हैं और वे क्षर-अक्षर कैसे हैं ?

उत्तर—'भूतानि' पद यहाँ समस्त जीवोंके स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों प्रकारके शरीरोंका वाचक है। इन्हींको तेरहवें अध्यायके पहले श्लोकमें 'क्षेत्र' के नामसे कहकर पाँचवें श्लोकमें उसका स्वरूप बतलाया है। उस वर्णनसे समस्त जडवर्गका वाचक यहाँ 'सर्वाणि' विशेषणके सहित 'भूतानि' पद हो जाता है। यह तत्त्व नाशवान् और अनित्य है। दूसरे अध्यायमें 'अन्तवन्त इमे देहाः' (२ । १८) और आठवें अध्यायमें 'अधिभूतं क्षरो भावः' (८ । ४) से यही बात कही गयी है। 'कूटस्थ' शब्द यहाँ समस्त शरीरोंमें रहनेवाले आत्माका वाचक है, क्योंकि छठे अध्यायके ८वें श्लोकमें और बारहवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें भी चेतन तत्त्वका ही वाचक 'कूटस्थ' शब्द है। यह सदा एक-सा रहता है, इसमें परिवर्तन नहीं होता; इसलिये भी इसे 'कूटस्थ' कहते हैं। और इसका कभी, किसी अवस्थामें क्षय, नाश या अभाव नहीं होता; इसलिये यह अक्षर है।

सम्बन्ध—इस प्रकार क्षर और अक्षर पुरुषका स्वरूप बतलाकर अब उन दोनोंसे श्रेष्ठ पुरुषोत्तम भगवान्‌के स्वरूपका और पुरुषोत्तम होनेके कारणका वर्णन दो श्लोकोंमें करते हैं—

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥१७॥

इन दोनोंसे उत्तम पुरुष तो अन्य ही है, जो तीनों लोकोंमें प्रवेश करके सबका धारण-पोषण करता है एवं अविनाशी परमेश्वर और परमात्मा—इस प्रकार कहा गया है ॥ १७ ॥

प्रश्न—'उत्तमः पुरुषः' किसका वाचक है तथा 'तु' और 'अन्यः'—इन दोनों पदोंका क्या भाव है ?

उत्तर—'उत्तमः पुरुषः' नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सर्वशक्तिमान्, परम दयालु, सर्वगुणसम्पन्न पुरुषोत्तम भगवान्‌का वाचक है तथा 'तु' और 'अन्य'—इन दोनोंके द्वारा पूर्वोक्त 'क्षर' पुरुष और 'अक्षर' पुरुषसे भगवान्‌की विलक्षणताका प्रतिपादन किया गया है । अभिप्राय यह है कि उत्तम पुरुष उन पूर्वोक्त दोनों पुरुषोंसे भिन्न और अत्यन्त श्रेष्ठ है ।

प्रश्न—जो तीनों लोकोंमें प्रवेश करके सबका धारण-पोषण करता है, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इस कथनसे पुरुषोत्तमके लक्षणका निरूपण किया गया है । अभिप्राय यह है कि जो सर्वाधार, सर्वव्यापी परमेश्वर समस्त जगत्‌में प्रविष्ट होकर, 'पुरुष' नामसे वर्णित 'परा' और 'अपरा' दोनों प्रकृतियोंको धारण करके समस्त प्राणियोंका पालन करता है—वही उन दोनोंसे भिन्न और उत्तम 'पुरुषोत्तम' है ।

प्रश्न—जो अव्यय ईश्वर और परमात्मा कहा गया है—इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे भी उस 'पुरुषोत्तम' का ही लक्षण बतलाया गया है । अभिप्राय यह है कि जो तीनों लोकोंमें प्रविष्ट रहकर उनके नाश होनेपर भी कभी नष्ट नहीं होता, सदा ही निर्विकार, एकरस रहता है; तथा जो क्षर और अक्षर—इन दोनोंका नियामक और स्वामी तथा सर्वशक्तिमान् ईश्वर है एवं जो गुणातीत, शुद्ध और सबका आत्मा है—वही परमात्मा 'पुरुषोत्तम' है ।

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥१८॥

क्योंकि मैं नाशवान् जडवर्ग-क्षेत्रसे तो सर्वथा अतीत हूँ और मायामें स्थित अविनाशी जीवात्मासे भी उत्तम हूँ, इसलिये लोकमें और वेदमें भी पुरुषोत्तम नामसे प्रसिद्ध हूँ ॥ १८ ॥

प्रश्न—यहाँ 'अहम्' पदके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—'अहम्' का प्रयोग करके भगवान्‌ने उपर्युक्त लक्षणोंसे युक्त पुरुषोत्तम स्वयं मैं ही हूँ, इस प्रकार अर्जुनके सामने अपने परम रहस्यका उद्घाटन किया है ।

प्रश्न—भगवान्‌ने अपनेको क्षरसे अतीत और अक्षरसे भी उत्तम बतलाकर क्या भाव दिखलाया है ?

उत्तर—'क्षर' पुरुषसे अतीत बतलाकर भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि मैं क्षर पुरुषसे सर्वथा

सम्बन्धरहित और अत्यन्त विलक्षण हूँ—अर्थात् जो तेरहवें अध्यायमें शरीर और क्षेत्रके नामसे कहा गया है, उस तीनों गुणोंके समुदायरूप समस्त विनाशशील जडवर्गसे मैं सर्वथा निर्लिप्त हूँ। अक्षरसे अपनेको उत्तम बतलाकर यह भाव दिखलाया है कि क्षर पुरुषकी भाँति अक्षरसे मैं अतीत तो नहीं हूँ, क्योंकि वह मेरा ही अंश होनेके कारण अविनाशी और चेतन है; किन्तु उससे मैं उत्तम अवश्य हूँ, क्योंकि वह 'प्रकृतिस्थ' है और मैं प्रकृतिसे पर अर्थात् गुणोंसे सर्वथा अतीत हूँ। अतः वह अल्पज्ञ है, मैं सर्वज्ञ हूँ; वह नियम्य है, मैं नियामक हूँ; वह मेरा उपासक है, मैं उसका स्वामी उपास्यदेव हूँ; और वह अल्पशक्तिसम्पन्न है और मैं सर्वशक्तिमान् हूँ; अतएव उसकी अपेक्षा मैं सब प्रकारसे उत्तम हूँ।

प्रश्न—'यस्मात्' और 'अतः'—इन हेतुवाचक पदोंका प्रयोग करके मैं लोक और वेदमें 'पुरुषोत्तम' नामसे प्रसिद्ध हूँ, यह कहनेका क्या भाव है ?

उत्तर—'यस्मात्' और 'अतः'—इन हेतुवाचक पदोंका प्रयोग करके अपनेको लोक और वेदमें पुरुषोत्तम नामसे प्रसिद्ध बतलाते हुए भगवान्‌ने अपने पुरुषोत्तमत्वको सिद्ध किया है। अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त कारणोंसे मैं क्षरसे अतीत और अक्षरसे उत्तम हूँ; इसलिये सम्पूर्ण जगत्‌में एवं वेद-शास्त्रोंमें मैं पुरुषोत्तम नामसे प्रसिद्ध हूँ, अर्थात् सब मुझे पुरुषोत्तम ही कहते हैं।

सम्बन्ध—*अब दो श्लोकोंमें ऊपर कहे हुए प्रकारसे भगवान्‌को पुरुषोत्तम समझनेवाले पुरुषकी महिमा और लक्षण बतलाते हैं*—

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥१९॥

हे भारत! इस प्रकार तत्त्वसे जो ज्ञानी पुरुष मुझको पुरुषोत्तम जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकारसे निरन्तर मुझ वासुदेव परमेश्वरको ही भजता है ॥ १९ ॥

प्रश्न—यहाँ 'एवम्'का क्या भाव है ?

उत्तर—'एवम्' अव्यय यहाँ ऊपरके दो श्लोकोंमें किये हुए वर्णनका निर्देश करता है।

प्रश्न—'माम्' किसका वाचक है और उसको 'पुरुषोत्तम' जानना क्या है ?

उत्तर—'माम्' पद यहाँ सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, समस्त जगत्‌के सृजन, पालन और संहार आदि करनेवाले, सबके परम सुहृद्, सबके एकमात्र नियन्ता, सर्वगुणसम्पन्न, परम दयालु, परम प्रेमी, सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापी परमेश्वरका वाचक है; और वे ही उपर्युक्त दो श्लोकोंमें वर्णित प्रकारसे क्षर और अक्षर दोनों पुरुषोंसे उत्तम गुणातीत और सर्वगुणसम्पन्न, साकार-निराकार, व्यक्ताव्यक्तस्वरूप परम पुरुष पुरुषोत्तम हैं—ऐसा श्रद्धापूर्वक पूर्णरूपसे मान लेना ही उनको 'पुरुषोत्तम' जानना है।

प्रश्न—'असम्मूढः' पदका क्या भाव है ?

उत्तर—जिसका ज्ञान संशय, विपर्यय आदि दोषोंसे शून्य हो; जिसमें मोहका जरा भी अंश न हो—उसे 'असम्मूढ' कहते हैं। अतएव यहाँ 'असम्मूढः' का प्रयोग करके भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि जो मनुष्य मुझे साधारण मनुष्य न मानकर साक्षात्

सर्वशक्तिमान् परमेश्वर पुरुषोत्तम समझता है, उसका जानना ही यथार्थ जानना है ।

प्रश्न—'सर्वविद्'का क्या भाव है ?

उत्तर—जो सम्पूर्ण जाननेयोग्य वस्तुओंको भलीभाँति जानता हो, उसे 'सर्वविद्' कहते हैं । इस अध्यायमें क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम—इस प्रकार तीन भागोंमें विभक्त करके समस्त पदार्थोंका वर्णन किया गया है । अतएव जो क्षर और अक्षर दोनोंके यथार्थ स्वरूपको समझकर उनसे भी अत्यन्त उत्तम पुरुषोत्तमके तत्त्वको जानता है, वही 'सर्वविद्' है—अर्थात् समस्त पदार्थोंको यथार्थ समझनेवाला है; इसीलिये उसको 'सर्वविद्' कहा है ।

प्रश्न—भगवान्‌को पुरुषोत्तम जाननेवाले पुरुषका उनको सर्वभावसे भजना क्या है तथा 'वह मुझे सर्वभावसे भजता है' इस कथनका क्या उद्देश्य है ?

उत्तर—भगवान्‌को पुरुषोत्तम समझनेवाले पुरुषका जो समस्त जगत्‌से प्रेम हटाकर केवलमात्र परम प्रेमास्पद एक परमेश्वरमें ही पूर्ण प्रेम करना; एवं बुद्धिसे भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्य, लीला, स्वरूप और महिमापर पूर्ण विश्वास करना; उनके नाम, गुण, प्रभाव, चरित्र और स्वरूप आदिका श्रद्धा और प्रेमपूर्वक मनसे चिन्तन करना, कानोंसे श्रवण करना, वाणीसे कीर्तन करना, नेत्रोंसे दर्शन करना एवं उनकी आज्ञाके अनुसार सब कुछ उनका समझकर तथा सबमें उनको व्याप्त समझकर कर्त्तव्य-कर्मोंद्वारा सबको सुख पहुँचाते हुए उनकी सेवा आदि करना है—यही भगवान्‌को सब प्रकारसे भजना है । तथा 'वह सर्वभावसे मुझे भजता है' इस वाक्यका प्रयोग यहाँ भगवान्‌को 'पुरुषोत्तम' जाननेवाले पुरुषकी पहचान बतलानेके उद्देश्यसे किया गया है । अभिप्राय यह है कि जो भगवान्‌को क्षरसे अतीत और अक्षरसे उत्तम समझ लेता है, वह केवल भगवान्‌को ही उपर्युक्त प्रकारसे निरन्तर भजता है—यही उसकी पहचान है ।

सम्बन्ध—इस प्रकार भगवान्‌को पुरुषोत्तम जाननेवाले पुरुषकी महिमाका वर्णन करके अब इस अध्यायमें वर्णित विषयको गुह्यतम बतलाकर उसे जाननेका फल वर्णन करते हुए इस अध्यायका उपसंहार करते हैं—

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।
एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥२०॥

हे निष्पाप अर्जुन ! इस प्रकार यह अति रहस्ययुक्त गोपनीय शास्त्र मेरेद्वारा कहा गया, इसको तत्त्वसे जानकर मनुष्य ज्ञानवान् और कृतार्थ हो जाता है ॥२०॥

प्रश्न—'अनघ' सम्बोधनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'अघ' नाम पापका है । जिसमें पाप न हो, उसे 'अनघ' कहते हैं । भगवान्‌ने अर्जुनको यहाँ 'अनघ' नामसे सम्बोधित करके यह भाव दिखलाया है कि तुम्हारे अंदर पाप नहीं है, तुम्हारा अन्तःकरण शुद्ध और निर्मल है, अतः तुम मेरे इस गुह्यतम उपदेशको सुननेके और धारण करनेके पात्र हो ।

प्रश्न—'इति' और 'इदम्' पदके सहित 'शास्त्रम्' पद यहाँ इस अध्यायका वाचक है या समस्त गीताका ?

उत्तर—'इति' और 'इदम्'के सहित 'शास्त्रम्'पद यहाँ इस पंद्रहवें अध्यायका वाचक है; 'इदम्'से इस अध्यायका और 'इति'से उसकी समाप्तिका निर्देश किया गया है एवं उसे आदर देनेके लिये उसका नाम 'शास्त्र' रक्खा गया है ।

प्रश्न—इस उपदेशको गुह्यतम बतलानेका और 'मेरेद्वारा कहा गया' इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इसे गुह्यतम बतलाकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि इस अध्यायमें मुझ सगुण परमेश्वरके गुण, प्रभाव और तत्त्वकी बात कही गयी है; इसलिये यह अतिशय गुप्त रखनेयोग्य है । मैं हर किसीके सामने इस प्रकारसे अपने गुण, प्रभाव, तत्त्व और ऐश्वर्यको प्रकट नहीं करता; अतएव तुम्हें भी अपात्रके सामने इस रहस्यको नहीं कहना चाहिये । तथा 'यह मेरेद्वारा कहा गया' ऐसा कहकर भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि यह मुझ सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ परमेश्वरद्वारा उपदिष्ट है, अतः यह समस्त वेद और शास्त्रोंका परम सार या उनका शिरोमणि है ।

प्रश्न—इस शास्त्रको तत्त्वसे जानना क्या है तथा जाननेवालेका बुद्धिमान् हो जाना और कृतकृत्य हो जाना क्या है ?

उत्तर—इस अध्यायमें वर्णित भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व और स्वरूप आदिको भलीभाँति समझकर भगवान्‌को पूर्वोक्त प्रकारसे साक्षात् पुरुषोत्तम समझ लेना ही इस शास्त्रको तत्त्वसे जानना है । तथा उसे जाननेवालेका जो उस पुरुषोत्तम भगवान्‌को अपरोक्षभावसे प्राप्त कर लेना है, यही उसका बुद्धिमान् अर्थात् ज्ञानवान् हो जाना है; और समस्त कर्त्तव्योंसे मुक्त हो जाना—सबके फलको प्राप्त हो जाना ही कृतकृत्य हो जाना है ।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥



ॐ श्रीपरमात्मने नमः

षोडशोऽध्यायः

अध्यायका नाम

इस सोलहवें अध्यायमें दैवीसम्पद्के नामसे देवशब्दवाच्य परमेश्वरसे सम्बन्ध रखनेवाले तथा उनको प्राप्त करा देनेवाले सद्गुणों और सदाचारोंका, उन्हें जानकर धारण करनेके लिये और आसुरीसम्पद्के नामसे असुरोंके-जैसे दुर्गुण और दुराचारोंका, उन्हें जानकर त्याग करनेके लिये विभागपूर्वक विस्तृत वर्णन किया गया है। इसलिये इस अध्यायका नाम 'दैवासुरसम्पद्विभागयोग' रक्खा गया है।

अध्यायका संक्षेप

इस अध्यायके पहले श्लोकसे तीसरे श्लोकतक दैवीसम्पद्को प्राप्त पुरुषके लक्षणोंका विस्तारपूर्वक वर्णन करके चौथे श्लोकमें आसुरीसम्पद्का संक्षेपमें निरूपण किया गया है। पाँचवेंमें दैवीसम्पद्का फल मुक्ति तथा आसुरीका फल बन्धन बतलाते हुए अर्जुनको दैवीसम्पद्से युक्त बतलाकर आश्वासन दिया गया है। छठे श्लोकमें पुनः दैव और आसुर—इन दो सर्गोंका संकेत करके आसुर सर्गको विस्तारपूर्वक सुननेके लिये कहा गया है। तदनन्तर सातवेंसे बीसवें श्लोकतक आसुर-प्रकृतिवाले मनुष्योंके दुर्भाव, दुर्गुण और दुराचारका तथा उन लोगोंकी दुर्गतिका वर्णन किया गया है। इक्कीसवें श्लोकमें आसुरी-सम्पदाके साररूप काम, क्रोध और लोभको नरकके द्वार बतलाकर बाईसवें श्लोकमें उनसे छूटे हुए साधकको भक्तियोगादि साधनोंद्वारा परम गतिकी प्राप्ति दिखलायी है। तेईसवें श्लोकमें शास्त्रविधिका त्याग करके इच्छानुसार कर्म करनेवालोंकी निन्दा करके चौबीसवें श्लोकमें शास्त्रानुकूल कर्म करनेकी प्रेरणा करते हुए अध्यायका उपसंहार किया गया है।

सम्बन्ध—सातवें अध्यायके पंद्रहवें श्लोकमें तथा नवें अध्यायके ग्यारहवें और बारहवें श्लोकोंमें भगवान्ने कहा था कि 'आसुरी और राक्षसी प्रकृतिको धारण करनेवाले मूढ मेरा भजन नहीं करते, वरं मेरा तिरस्कार करते हैं।' तथा नवें अध्यायके तेरहवें और चौदहवें श्लोकोंमें कहा कि 'दैवी प्रकृतिसे युक्त महात्माजन मुझे सब भूतोंका आदि और अविनाशी समझकर अनन्य प्रेमके साथ सब प्रकारसे निरन्तर मेरा भजन करते हैं।' परन्तु दूसरा प्रसङ्ग चलता रहनेके कारण वहाँ दैवी प्रकृति और आसुरी प्रकृतिके लक्षणोंका वर्णन नहीं किया जा सका। फिर पंद्रहवें अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें भगवान्ने कहा कि 'जो ज्ञानी महात्मा मुझे 'पुरुषोत्तम' जानते हैं, वे सब प्रकारसे मेरा भजन करते हैं।' इसपर स्वाभाविक ही भगवान्को पुरुषोत्तम जानकर सर्वभावसे उनका भजन करनेवाले दैवी प्रकृतियुक्त महात्मा पुरुषोंके और उनका भजन न करनेवाले आसुरी प्रकृतियुक्त अज्ञानी मनुष्योंके क्या-क्या लक्षण हैं?—यह जाननेकी इच्छा होती है। अतएव अब भगवान् दोनोंके लक्षण और स्वभावका विस्तारपूर्वक वर्णन करनेके लिये सोलहवाँ अध्याय आरम्भ करते हैं। इसमें पहले तीन श्लोकोंद्वारा दैवीसम्पद्से युक्त सात्त्विक पुरुषोंके स्वाभाविक लक्षणोंका विस्तारपूर्वक वर्णन किया जाता है—

श्रीभगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—भयका सर्वथा अभाव, अन्तःकरणकी पूर्ण निर्मलता, तत्त्वज्ञानके लिये ध्यानयोगमें निरन्तर दृढ़ स्थिति और सात्त्विक दान, इन्द्रियोंका दमन, भगवान्, देवता और गुरुजनोंकी पूजा तथा अग्निहोत्र आदि उत्तम कर्मोंका आचरण एवं वेद-शास्त्रोंका पठन-पाठन तथा भगवान्के नाम और गुणोंका कीर्त्तन, स्वधर्मपालनके लिये कष्टसहन और शरीर तथा इन्द्रियोंके सहित अन्तःकरणकी सरलता, ॥ १ ॥

प्रश्न—'अभय' किसको कहते हैं ?

उत्तर—इष्टके वियोग और अनिष्टके संयोगकी आशङ्कासे मनमें जो कायरतापूर्ण विकार होता है, उसका नाम भय है—जैसे प्रतिष्ठाके नाशका भय, अपमानका भय, निन्दाका भय, रोगका भय, राजदण्डका भय, भूत-प्रेतका भय और मरणका भय आदि। इन सबके सर्वथा अभावका नाम 'अभय' है।

प्रश्न—'सत्त्वसंशुद्धि' क्या है ?

उत्तर—'सत्त्व' अन्तःकरणको कहते हैं। अन्तःकरणमें जो राग-द्वेष, हर्ष-शोक, ममत्व-अहंकार और मोह-मत्सर आदि विकार और नाना प्रकारके कलुषित पापमय भाव रहते हैं—उनका सर्वथा अभाव होकर अन्तःकरणका पूर्णरूपसे निर्मल, परिशुद्ध हो जाना—यही 'सत्त्वसंशुद्धि' (अन्तःकरणकी सम्यक् शुद्धि) है।

प्रश्न—'ज्ञानयोगव्यवस्थिति' किसको कहते हैं ?

उत्तर—परमात्माके स्वरूपको यथार्थरूपसे जान लेनेका नाम 'ज्ञान' है; और उसकी प्राप्तिके लिये ध्यानयोगके द्वारा परमात्माके स्वरूपमें जो निरन्तर स्थित रहना है, उसे 'ज्ञानयोगव्यवस्थिति' कहते हैं।

प्रश्न—'दानम्' पदका क्या भाव है ?

उत्तर—कर्त्तव्य समझकर देश, काल और पात्रका विचार करके निष्कामभावसे जो अन्न, वस्त्र, विद्या और औषधादि वस्तुओंका वितरण करना है—उसका नाम 'दान' है (१७। २०)।

प्रश्न—'दमः' पदका क्या भाव है ?

उत्तर—इन्द्रियोंको विषयोंकी ओरसे हटाकर उन्हें अपने वशमें कर लेना 'दम' है।

प्रश्न—'यज्ञः' पदका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—भगवान्की तथा देवता, ब्राह्मण, महात्मा, अतिथि, माता-पिता और बड़ोंकी पूजा करना; हवन करना और बलिवैश्वदेव करना आदि सब यज्ञ हैं।

प्रश्न—'स्वाध्याय' किसको कहते हैं ?

उत्तर—वेदका अध्ययन करना; जिनमें भगवान्के गुण, प्रभाव, तत्त्व, स्वरूप एवं उनकी दिव्य लीलाओंका वर्णन हो—उन शास्त्र, इतिहास और पुराण आदिका पठन-पाठन करना एवं भगवान्के नाम और गुणोंका कीर्त्तन करना आदि सभी स्वाध्याय हैं।

प्रश्न—'तपः' पद यहाँ किसका वाचक है ?

उत्तर—अपने धर्मका पालन करनेके लिये कष्ट सहन करके जो अन्तःकरण और इन्द्रियोंको तपाना है, उसीका नाम यहाँ 'तपः' पद है। सतरहवें अध्यायमें जिस शारीरिक, वाङ्मय और मानसिक तपका निरूपण है—यहाँ 'तपः' पदसे उसका निर्देश नहीं है; क्योंकि

उसमें अहिंसा, सत्य, शौच, स्वाध्याय और आर्जव आदि जिन लक्षणोंका तपके अङ्गरूपमें निरूपण हुआ है—यहाँ उनका अलग वर्णन किया गया है।

प्रश्न—'आर्जव' किसको कहते हैं?

उत्तर—शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरणकी सरलताको 'आर्जव' कहते हैं।

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥ २॥

मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार भी किसीको कष्ट न देना, यथार्थ और प्रिय भाषण, अपना अपकार करनेवालेपर भी क्रोधका न होना, कर्मोंमें कर्त्तापनके अभिमानका त्याग, अन्तःकरणकी उपरति अर्थात् चित्तकी चञ्चलताका अभाव, किसीकी भी निन्दादि न करना, सब भूतप्राणियोंमें हेतुरहित दया, इन्द्रियोंका विषयोंके साथ संयोग होनेपर भी उनमें आसक्तिका न होना, कोमलता, लोक और शास्त्रसे विरुद्ध आचरणमें लज्जा और व्यर्थ चेष्टाओंका अभाव,॥ २॥

प्रश्न—'अहिंसा' किसे कहते हैं?

उत्तर—किसी भी निमित्तसे किसी प्राणीको मन, वाणी या शरीरसे कभी किसी प्रकार किञ्चिन्मात्र भी कष्ट पहुँचाना—अर्थात् मनसे किसीका बुरा चाहना; वाणीसे किसीको गाली देना, कठोर वचन कहना या किसी प्रकारके हानिकारक वचन कहना तथा शरीरसे किसीको मारना, कष्ट पहुँचाना या किसी प्रकारकी हानि पहुँचाना आदि जितने भी हिंसाके भाव हैं—उन सबके सर्वथा अभावका नाम 'अहिंसा' है।

प्रश्न—'सत्य' किसको कहते हैं?

उत्तर—अन्तःकरण और इन्द्रियोंसे जैसा कुछ देखा, सुना और अनुभव किया गया हो—दूसरोंको ठीक वैसा ही समझानेके लिये कपट छोड़कर जो यथासम्भव प्रिय और हितकर वाणीका उच्चारण किया जाता है—उसे 'सत्य' कहते हैं।

प्रश्न—'अक्रोधः' पदका क्या भाव है?

उत्तर—स्वभावदोषसे अथवा किसीके द्वारा अपमान, अपकार, निन्दा या मनके प्रतिकूल कार्य किये जानेपर, दुर्वचन सुनकर अथवा किसीका अनीतियुक्त कार्य देखकर मनमें जो एक द्वेषपूर्ण उत्तेजनामयी वृत्ति उत्पन्न होती है—जिसके होते ही शरीर और मनमें जलन, मुखपर विकार और नेत्रोंमें लाली उत्पन्न हो जाती है—उस जलने और जलानेवाली वृत्तिका नाम 'क्रोध' है। इस वृत्तिका सर्वथा अभाव ही अक्रोध है।

प्रश्न—'त्याग' किसको कहते हैं?

उत्तर—केवल गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं, मेरा इन कर्मोंसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है—ऐसा मानकर, अथवा मैं तो भगवान्‌के हाथकी कठपुतलीमात्र हूँ, भगवान् ही अपने इच्छानुसार मेरे मन, वाणी और शरीरसे सब कर्म करवा रहे हैं, मुझमें न तो अपने-आप कुछ करनेकी शक्ति है और न मैं कुछ करता ही हूँ—ऐसा मानकर कर्तृत्व-अभिमानका त्याग करना ही त्याग है। या कर्त्तव्यकर्म करते हुए भी उनमें फल और आसक्तिका अथवा सब प्रकारके स्वार्थ और आत्मोन्नतिमें विरोधी वस्तु, भाव और क्रिया-मात्रके त्यागका नाम भी 'त्याग' कहा जा सकता है।

प्रश्न—'शान्ति' किसको कहते हैं?

उत्तर—संसारके चिन्तनका सर्वथा अभाव हो जानेपर विक्षेपरहित अन्तःकरणमें जो सात्त्विक प्रसन्नता होती है, यहाँ उसका नाम 'शान्ति' है।

प्रश्न—'अपैशुन' किसको कहते हैं ?

उत्तर—दूसरेके दोष देखना या उन्हें लोगोंमें प्रकट करना, अथवा किसीकी निन्दा या चुगली करना पिशुनता है; इसके सर्वथा अभावका नाम 'अपैशुन' है ।

प्रश्न—सब प्राणियोंपर दया करना क्या है ?

उत्तर—किसी भी प्राणीको दुखी देखकर उसके दुःखको जिस किसी प्रकारसे किसी भी स्वार्थकी कल्पना किये बिना ही निवारण करनेका और सब प्रकारसे उसे सुखी बनानेका जो भाव है, उसे 'दया' कहते हैं । दूसरोंको कष्ट नहीं पहुँचाना 'अहिंसा' है और उनको सुख पहुँचानेका भाव 'दया' है । यही अहिंसा और दयाका भेद है ।

प्रश्न—'अलोलुप्त्व' किसको कहते हैं ?

उत्तर—इन्द्रिय और विषयोंका संयोग होनेपर उनमें आसक्ति होना तथा दूसरोंको विषयभोग करते देखकर उन विषयोंकी प्राप्तिके लिये मनका ललचा उठना 'लोलुपता' है; इसके सर्वथा अभावका नाम 'अलोलुप्त्व' अर्थात् अलोलुपता है ।

प्रश्न—'मार्दव' क्या है ?

उत्तर—अन्तःकरण, वाणी और व्यवहारमें जो कठोरताका सर्वथा अभाव होकर उनका अतिशय कोमल हो जाना है, उसीको 'मार्दव' कहते हैं ।

प्रश्न—'ह्री' किसको कहते हैं ?

उत्तर—वेद, शास्त्र और लोक-व्यवहारके विरुद्ध आचरण न करनेका निश्चय होनेके कारण उनके विरुद्ध आचरणोंमें जो सङ्कोच होता है, उसे 'ह्री' यानी लज्जा कहते हैं ।

प्रश्न—'अचापल' क्या है ?

उत्तर—बेमतलब बकते रहना, हाथ-पैर आदिको हिलाना, तिनके तोड़ना, जमीन कुरेदना, बेसिर-पैरकी बातें सोचना आदि हाथ-पैर, वाणी और मनकी व्यर्थ चेष्टाओंका नाम चपलता है । इसीको प्रमाद भी कहते हैं । इसके सर्वथा अभावको 'अचापल' कहते हैं ।

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ ३ ॥

तेज, क्षमा, धैर्य, बाहरकी शुद्धि एवं किसीमें भी शत्रुभावका न होना और अपनेमें पूज्यताके अभिमानका अभाव—ये सब तो हे अर्जुन ! दैवी-सम्पदाको प्राप्त पुरुषके लक्षण हैं ॥ ३ ॥

प्रश्न—'तेज' किसको कहते हैं ?

उत्तर—श्रेष्ठ पुरुषोंकी उस शक्तिविशेषका नाम तेज है, जिसके कारण उनके सामने विषयासक्त और नीच प्रकृतिवाले मनुष्य भी प्रायः अन्यायाचरणसे रुककर उनके कथनानुसार श्रेष्ठ कर्मोंमें प्रवृत्त हो जाते हैं ।

प्रश्न—'क्षमा' किस भावका नाम है ?

उत्तर—अपना अपराध करनेवालेको किसी प्रकार भी दण्ड देने-दिलानेका भाव न रखना, किसी प्रकार भी उससे बदला लेनेकी इच्छा न रखना, उसके अपराधोंको अपराध ही न मानना और उन्हें सर्वथा भुला देना 'क्षमा' है । अक्रोधमें तो केवल क्रोधका अभावमात्र ही बतलाया गया है, परन्तु क्षमामें अपराधका न्यायोचित दण्ड देनेकी इच्छाका भी त्याग है । यही अक्रोध और क्षमाका परस्पर भेद है ।

प्रश्न—'धृति' किसको कहते हैं ?

उत्तर—भारी-से-भारी आपत्ति, भय या दुःख उपस्थित होनेपर भी विचलित न होना; काम, क्रोध, भय या

लोभसे किसी प्रकार भी अपने धर्म और कर्त्तव्यसे विमुख न होना 'धृति' है। इसीको धैर्य कहते हैं।

प्रश्न–'शौच' किसको कहते हैं?

उत्तर–सत्यतापूर्वक पवित्र व्यवहारसे द्रव्यकी शुद्धि होती है, उस द्रव्यसे प्राप्त किये हुए अन्नसे आहारकी शुद्धि होती है, यथायोग्य बर्तावसे आचरणोंकी शुद्धि होती है और जल-मृत्तिकादिद्वारा प्रक्षालनादि क्रियासे शरीरकी शुद्धि होती है। इन सबको बाह्य शौच अर्थात् बाहरकी शुद्धि कहते हैं। इसीको यहाँ 'शौच' के नामसे कहा गया है। भीतरकी शुद्धि 'सत्त्वसंशुद्धि' के नामसे पहले श्लोकमें अलग कही जा चुकी है।

प्रश्न–'अद्रोह' का क्या भाव है?

उत्तर–अपने साथ शत्रुताका व्यवहार करनेवाले प्राणियोंके प्रति भी जरा भी द्वेष या शत्रुताका भाव न होना 'अद्रोह' कहलाता है।

प्रश्न–'न अतिमानिता' का क्या भाव है?

उत्तर–अपनेको श्रेष्ठ, बड़ा या पूज्य समझना एवं मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और पूजा आदिकी इच्छा करना तथा बिना इच्छा भी इन सबके प्राप्त होनेपर प्रसन्न होना—ये मानिताके लक्षण हैं। इन सबके सर्वथा अभावका नाम 'न अतिमानिता' है।

प्रश्न–'दैवीसम्पद्' किसको कहते हैं?

उत्तर–'देव' भगवान्‌का नाम है। इसलिये उनसे सम्बन्ध रखनेवाले उनकी प्राप्तिके साधनरूप सद्गुण और सदाचारोंके समुदायको दैवीसम्पद् कहते हैं। दैवी प्रकृति भी इसीका नाम है।

प्रश्न–ये सब दैवीसम्पद्‌को प्राप्त हुए पुरुषके लक्षण हैं—इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर–इसका यह अभिप्राय है कि इस अध्यायके पहले श्लोकसे लेकर इस श्लोकके पूर्वार्द्धतक ढाई श्लोकोंमें २६ लक्षणोंके रूपमें उस दैवीसम्पद्‌रूप सद्गुण और सदाचारका ही वर्णन किया गया है। अतः ये सब लक्षण जिसमें विद्यमान हों, वही पुरुष दैवीसम्पद्‌को प्राप्त है।

सम्बन्ध—इस प्रकार धारण करनेके योग्य दैवीसम्पद्‌को प्राप्त पुरुषके लक्षणोंका वर्णन करके अब त्याग करनेयोग्य आसुरीसम्पद्‌से युक्त पुरुषके लक्षण संक्षेपमें कहे जाते हैं—

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्॥ ४॥

हे पार्थ! दम्भ, घमण्ड और अभिमान तथा क्रोध, कठोरता और अज्ञान भी—ये सब आसुरी-सम्पदाको लेकर उत्पन्न हुए पुरुषके लक्षण हैं॥ ४॥

प्रश्न–'दम्भ' किसको कहते हैं?

उत्तर–मान, बड़ाई, पूजा और प्रतिष्ठाके लिये, धनादिके लोभसे या किसीको ठगनेके अभिप्रायसे अपनेको धर्मात्मा, भगवद्भक्त, ज्ञानी या महात्मा प्रसिद्ध करना अथवा दिखाऊ धर्मपालनका, दानीपनका, भक्तिका, व्रत-उपवासादिका, योगसाधनका और जिस किसी भी रूपमें रहनेसे अपना काम सधता हो, उसीका ढोंग रचना दम्भ है।

प्रश्न—'दर्प' किसको कहते हैं ?

उत्तर—विद्या, धन, कुटुम्ब, जाति, अवस्था, बल और ऐश्वर्य आदिके सम्बन्धसे जो मनमें घमण्ड होता है—जिसके कारण मनुष्य दूसरोंको तुच्छ समझकर उनकी अवहेलना करता है, उसका नाम 'दर्प' है।

प्रश्न—'अभिमान' क्या है ?

उत्तर—अपनेको श्रेष्ठ, बड़ा या पूज्य समझना, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और पूजा आदिकी इच्छा रखना एवं इन सबके प्राप्त होनेपर प्रसन्न होना 'अभिमान' है।

प्रश्न—'क्रोध' किसको कहते हैं ?

उत्तर—बुरी आदतके अथवा क्रोधी मनुष्योंके सङ्गके कारण या किसीके द्वारा अपना तिरस्कार, अपकार या निन्दा किये जानेपर, मनके विरुद्ध कार्य होनेपर, किसीके द्वारा दुर्वचन सुनकर या किसीका अन्याय देखकर अन्तःकरणमें जो द्वेषयुक्त उत्तेजना हो जाती है—जिसके कारण मनुष्यके मनमें प्रतिहिंसाके भाव जाग्रत् हो उठते हैं, नेत्रोंमें लाली आ जाती है, होठ फड़कने लगते हैं, मुखकी आकृति भयानक हो जाती है, बुद्धि मारी जाती है और कर्त्तव्यका विवेक नहीं रह जाता, उस 'उत्तेजित वृत्ति' का नाम 'क्रोध' है।

प्रश्न—'पारुष्य' किसका नाम है ?

उत्तर—कोमलताके अत्यन्त अभावका या कठोरताका नाम 'पारुष्य' है। किसीको गाली देना, कटुवचन कहना, ताने मारना आदि वाणीकी कठोरता है; विनयका अभाव शरीरकी कठोरता है तथा क्षमा और दयाके विरुद्ध प्रतिहिंसा और क्रूरताके भावको मनकी कठोरता कहते हैं।

प्रश्न—'अज्ञान' पद यहाँ किसका वाचक है ?

उत्तर—सत्य-असत्य और धर्म-अधर्म आदिको यथार्थ न समझना या उनके सम्बन्धमें विपरीत निश्चय कर लेना ही यहाँ 'अज्ञान' है।

प्रश्न—'आसुरीसम्पद्' किसको कहते हैं और ये सब आसुरीसम्पद्को प्राप्त पुरुषके लक्षण हैं—इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'देव'शब्दवाच्य भगवान्की सत्ताको न माननेवाले उनके विरोधी नास्तिक मनुष्योंको 'असुर' कहते हैं। ऐसे लोगोंमें जो दुर्गुण और दुराचारोंका समुदाय रहता है, उसे आसुरीसम्पद् कहते हैं। ये सब आसुरीसम्पद्को प्राप्त हुए पुरुषके लक्षण हैं, इस कथनसे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि इस श्लोकमें दुर्गुण और दुराचारोंके समुदायरूप आसुरी-सम्पद्का सार संक्षेपमें बतलाया गया है। अतः ये सब या इनमेंसे कोई भी लक्षण जिसमें विद्यमान हो, उसे आसुरीसम्पदासे युक्त समझना चाहिये। यही उसकी पहचान है।

सम्बन्ध—इस प्रकार दैवी-सम्पद् और आसुरी-सम्पद्को प्राप्त पुरुषोंके लक्षणोंका वर्णन करके अब भगवान् दोनों सम्पदाओंका फल बतलाते हुए अर्जुनको दैवी-सम्पदासे युक्त बतलाकर आश्वासन देते हैं—

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव॥५॥

दैवी-सम्पदा मुक्तिके लिये और आसुरी-सम्पदा बाँधनेके लिये मानी गयी है। इसलिये हे अर्जुन! तू शोक मत कर, क्योंकि तू दैवी-सम्पदाको प्राप्त है॥५॥

प्रश्न—दैवी-सम्पदा मुक्तिके लिये मानी गयी है—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि पहले श्लोकसे लेकर तीसरे श्लोकतक सात्त्विक गुण और आचरणोंके समुदायरूप जिस दैवी-सम्पदाका वर्णन किया गया है, वह मनुष्यको संसारबन्धनसे सदाके लिये सर्वथा मुक्त करके सच्चिदानन्दघन परमेश्वरसे मिला देनेवाली है—ऐसा वेद, शास्त्र और महात्मा सभी मानते हैं।

प्रश्न—आसुरी-सम्पदा बन्धनके लिये मानी गयी है—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि दुर्गुण और दुराचाररूप जो रजोमिश्रित तमोगुणप्रधान भावोंका समुदाय है, वही आसुरी-सम्पदा है—जिसका वर्णन चौथे श्लोकमें संक्षेपसे किया गया है। वह मनुष्यको सब प्रकारसे संसारमें फँसानेवाली और अधोगतिमें ले जानेवाली है। वेद, शास्त्र और महात्मा सभी इस बातको मानते हैं।

प्रश्न—अर्जुनको यह कहकर कि 'तू दैवी-सम्पदाको प्राप्त है, अतः शोक मत कर' क्या भाव दिखलाया गया है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने अर्जुनको आश्वासन देते हुए यह कहा है कि तुम स्वभावसे ही दैवी-सम्पदाको प्राप्त हो, दैवी-सम्पदाके सभी लक्षण तुम्हारे अंदर विद्यमान हैं। और दैवी-सम्पदा संसारसे मुक्त करनेवाली है, अतः तुम्हारा कल्याण होनेमें किसी प्रकारका भी सन्देह नहीं है। अतएव तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये।

सम्बन्ध—इस अध्यायके प्रारम्भमें और इसके पूर्व भी दैवी-सम्पदाका विस्तारसे वर्णन किया गया, परन्तु आसुरी-सम्पदाका वर्णन अबतक बहुत संक्षेपसे ही हुआ। अतएव आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्योंके स्वभाव और आचार-व्यवहारका विस्तारपूर्वक वर्णन करनेके लिये अब भगवान् उसकी प्रस्तावना करते हैं—

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥ ६ ॥

हे अर्जुन ! इस लोकमें भूतोंकी सृष्टि यानी मनुष्यसमुदाय दो ही प्रकारका है, एक तो दैवी प्रकृतिवाला और दूसरा आसुरी प्रकृतिवाला। उनमेंसे दैवी प्रकृतिवाला तो विस्तारपूर्वक कहा गया, अब तू आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्यसमुदायको भी विस्तारपूर्वक मुझसे सुन ॥ ६ ॥

प्रश्न—'भूतसर्गौ' पदका अर्थ 'मनुष्यसमुदाय' कैसे किया गया ?

उत्तर—'सर्ग' सृष्टिको कहते हैं, भूतोंकी सृष्टिको भूतसर्ग कहते हैं। यहाँ 'अस्मिन् लोके' से मनुष्यलोकका संकेत किया गया है तथा इस अध्यायमें मनुष्योंके लक्षण बतलाये गये हैं, इसी कारण यहाँ 'भूतसर्गौ' पदका अर्थ 'मनुष्यसमुदाय' किया गया है।

प्रश्न—मनुष्यसमुदायको दो प्रकारका बतलाकर उसके साथ 'एव' पदके प्रयोग करनेका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि मनुष्यसमुदायके अनेक भेद होते हुए भी प्रधानतया उसके दो ही विभाग हैं।

प्रश्न—एक दैवी प्रकृतिवाला और दूसरा आसुरी प्रकृतिवाला—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इस कथनसे दो प्रकारके समुदायोंको स्पष्ट करते हुए यह बतलाया गया है कि मनुष्योंके उन दो समुदायोंमेंसे जो सात्त्विक है, वह तो दैवी प्रकृतिवाला है; और जो राजस-तामस है, वह आसुरी प्रकृतिवाला है। 'राक्षसी' और 'मोहिनी' प्रकृतिवाले मनुष्योंको यहाँ आसुरी प्रकृतिवाले समुदायके अन्तर्गत ही समझना चाहिये।

प्रश्न—दैवी प्रकृतिवाला मनुष्यसमुदाय विस्तारपूर्वक कहा गया, अब आसुरी प्रकृतिवालेको भी सुन—इस वाक्यका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह दिखलाया है कि इस अध्यायके पहलेसे तीसरे श्लोकतक और अन्य अध्यायोंमें भी दैवी प्रकृतिवाले मनुष्यसमुदायके स्वभाव, आचरण और व्यवहार आदिका वर्णन तो विस्तारपूर्वक किया जा चुका; किन्तु आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्योंके स्वभाव, आचरण और व्यवहारका वर्णन संक्षेपमें ही हुआ है, अतः अब त्याग करनेके उद्देश्यसे तुम उसे भी विस्तार-पूर्वक सुनो।

सम्बन्ध—इस प्रकार आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्यसमुदायके लक्षण सुननेके लिये अर्जुनको सावधान करके अब भगवान् उनका वर्णन करते हैं—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥ ७ ॥

आसुर-स्वभाववाले मनुष्य प्रवृत्ति और निवृत्ति—इन दोनोंको ही नहीं जानते। इसलिये उनमें न तो बाहर-भीतरकी शुद्धि है, न श्रेष्ठ आचरण है और न सत्यभाषण ही है ॥ ७ ॥

प्रश्न—आसुर-स्वभाववाले मनुष्य प्रवृत्ति और निवृत्ति-को नहीं जानते, इसका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जिस कर्मके आचरणसे इस लोक और परलोकमें मनुष्यका यथार्थ कल्याण होता है, वही कर्त्तव्य है तथा मनुष्यको उसीमें प्रवृत्त होना चाहिये। और जिस कर्मके आचरणसे अकल्याण होता है, वह अकर्त्तव्य है तथा उससे निवृत्त होना चाहिये। भगवान्‌ने यहाँ यह भाव दिखलाया है कि आसुर-स्वभाव-वाले मनुष्य इस कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यको बिल्कुल नहीं समझते, इसलिये जो कुछ उनके मनमें आता है, वही करने लगते हैं।

प्रश्न—उनमें शौच, आचार और सत्य नहीं है, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'शौच' कहते हैं बाहर और भीतरकी पवित्रताको, जिसका विस्तृत विवेचन १३ वें अध्यायके ७वें श्लोककी टीकामें किया गया है; 'आचार' कहते हैं उन क्रियाओंको, जिनसे ऐसी पवित्रता सम्पन्न होती है; और 'सत्य' कहते हैं निष्कपट हितकर यथार्थ भाषणको, जिसका विवेचन इसी अध्यायके दूसरे श्लोककी टीकामें किया जा चुका है। अतः उपर्युक्त कथनसे यह भाव दिखलाया गया है कि आसुर-स्वभाव-वाले मनुष्योंमें इन तीनोंमेंसे एक भी नहीं होता; वरं इनसे विपरीत उनमें अपवित्रता, दुराचार और मिथ्या-भाषण होता है।

प्रश्न—इस श्लोकके उत्तरार्द्धमें भगवान्‌ने तीन बार 'न' का और फिर 'अपि' का प्रयोग करके क्या भाव दिखलाया है ?

उत्तर—यह दिखलाया है कि आसुर-स्वभाववालोंमें केवल अपवित्रता ही नहीं, उनमें सदाचार भी नहीं होता और सत्यभाषण भी नहीं होता ।

सम्बन्ध—आसुर-स्वभाववालोंमें ज्ञान, शौच और सदाचार आदिका अभाव बतलाकर अब उनके नास्तिक भावका वर्णन करते हैं—

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥ ८ ॥

वे आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्य कहा करते हैं कि जगत् आश्रयरहित, सर्वथा असत्य और बिना ईश्वरके, अपने-आप केवल स्त्री-पुरुषके संयोगसे उत्पन्न है, अतएव केवल भोगोंके लिये ही है । इसके सिवा और क्या है ? ॥ ८ ॥

प्रश्न—इस श्लोकका क्या भाव है ?

उत्तर—इस श्लोकमें आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्योंकी मनगढ़ंत कल्पनाका वर्णन किया गया है । वे लोग ऐसा मानते हैं कि न तो इस चराचर जगत्‌का भगवान् या कोई धर्माधर्म ही आधार है तथा न इस जगत्‌की कोई नित्य सत्ता है । अर्थात् न तो जन्मसे पहले या मरनेके बाद किसी भी जीवका अस्तित्व है एवं न कोई इसका रचयिता, नियामक और शासक ईश्वर ही है । यह चराचर जगत् केवल स्त्री-पुरुषके संयोगसे ही उत्पन्न हुआ है । अतएव यह केवल भोगोंको भोगनेके लिये ही है, इसके सिवा इसका और कोई प्रयोजन नहीं है ।

सम्बन्ध—ऐसे नास्तिक सिद्धान्तके माननेवालोंके स्वभाव और आचरण कैसे होते हैं ? इस जिज्ञासापर अब भगवान् अगले चार श्लोकोंमें उनके लक्षणोंका वर्णन करते हैं—

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ ९ ॥

इस मिथ्या ज्ञानको अवलम्बन करके-जिनका स्वभाव नष्ट हो गया है तथा जिनकी बुद्धि मन्द है, वे सबका अपकार करनेवाले क्रूरकर्मी मनुष्य केवल जगत्‌के नाशके लिये ही उत्पन्न होते हैं ॥ ९ ॥

प्रश्न—'एतां दृष्टिम् अवष्टभ्य' से क्या तात्पर्य है ?

उत्तर—आसुर-स्वभाववाले मनुष्योंके सारे कार्य इस नास्तिकवादके सिद्धान्तको दृष्टिमें रखकर ही होते हैं, यही दिखलानेके लिये ऐसा कहा गया है ।

प्रश्न—उन्हें 'नष्टात्मानः', 'अल्पबुद्धयः', 'अहिताः' और 'उग्रकर्माणः' कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे यह दिखलाया गया है कि नास्तिक सिद्धान्तवाले मनुष्य आत्माकी सत्ता नहीं मानते, वे

केवल देहवादी या भौतिकवादी ही होते हैं; इससे उनका स्वभाव भ्रष्ट हो जाता है, उनकी किसी भी सत्कार्यके करनेमें प्रवृत्ति नहीं होती। उनकी बुद्धि भी अत्यन्त मन्द होती है; वे जो कुछ निश्चय करते हैं, सब केवल भोग-सुखकी दृष्टिसे ही करते हैं। उनका मन निरन्तर सबका अहित करनेकी बात ही सोचा करता है, इससे वे अपना भी अहित ही करते हैं और मन, वाणी, शरीरसे चराचर जीवोंको डराने, दुःख देने और उनका नाश करनेवाले बड़े-बड़े भयानक कर्म ही करते रहते हैं।

प्रश्न—वे जगत्का क्षय करनेके लिये ही उत्पन्न होते हैं—इस वाक्यका क्या भाव है?

उत्तर—उपर्युक्त प्रकारके लोग अपने जीवनमें बुद्धि, मन, वाणी और शरीरसे जो कुछ भी कर्म करते हैं—सब चराचर प्राणि-जगत्को कष्ट पहुँचाने या मार डालनेके लिये ही करते हैं। इसीलिये ऐसा कहा गया है कि उनका जन्म जगत्का विनाश करनेके लिये ही होता है।

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद् गृहीत्वासद्ग्राहान् प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः॥१०॥

वे दम्भ, मान और मदसे युक्त मनुष्य किसी प्रकार भी पूर्ण न होनेवाली कामनाओंका आश्रय लेकर, अज्ञानसे मिथ्या सिद्धान्तोंको ग्रहण कर और भ्रष्ट आचरणोंको धारण करके संसारमें विचरते हैं॥१०॥

प्रश्न—'दम्भमानमदान्विताः' से क्या भाव है?

उत्तर—मान, धन, पूजन, प्रतिष्ठा आदि स्वार्थ-साधनके लिये जहाँ जैसा बननेमें श्रेष्ठता दिखलायी पड़ती हो, वास्तवमें न होते हुए भी वैसा होनेका भाव दिखलाना 'दम्भ' है। सम्मानयोग्य स्थिति न रहनेपर भी अपनेमें सम्मान्य या पूज्य होनेका अभिमान रखना 'मान' है और रूप, गुण, जाति, ऐश्वर्य, विद्या, पद, धन, सन्तान आदिके नशेमें चूर रहना 'मद' है। आसुरी-स्वभाववाले मनुष्य इन दम्भ, मान और मदसे युक्त होते हैं; इसीसे उन्हें ऐसा कहा गया है।

प्रश्न—'दुष्पूरम्' विशेषणके सहित 'कामम्' पद किसका वाचक है और उसका आश्रय लेना क्या है?

उत्तर—संसारके भिन्न-भिन्न भोगोंको प्राप्त करनेकी जो इच्छा है, जिसकी पूर्ति किसी भी प्रकारसे नहीं हो सकती, ऐसी कामनाओंका वाचक यहाँ 'दुष्पूरम्' विशेषणके सहित 'कामम्' पद है और ऐसी कामनाओंको मनमें दृढ़ धारण किये रहना ही उनका आश्रय लेना है।

प्रश्न—अज्ञानसे मिथ्या सिद्धान्तोंको ग्रहण करना क्या है?

उत्तर—अज्ञानके वशमें होकर जो नाना प्रकारके शास्त्रविरुद्ध सिद्धान्तोंकी कल्पना करके उनको हठपूर्वक धारण किये रहना है, यही उनको अज्ञानसे ग्रहण करना है।

प्रश्न—'अशुचिव्रताः' का क्या भाव है?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया है कि उनके खान-पान, रहन-सहन, बोल-चाल, व्यवसाय-वाणिज्य, देन-लेन और बर्ताव-व्यवहार आदिके सभी नियम भ्रष्ट होते हैं।

प्रश्न—'प्रवर्तन्ते' से क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया है कि वे लोग अज्ञानवश उपर्युक्त भ्रष्टाचारोंसे युक्त होकर ही संसारमें विचरते हैं ।

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥११॥

तथा वे मृत्युपर्यन्त रहनेवाली असंख्य चिन्ताओंका आश्रय लेनेवाले, विषयभोगोंके भोगनेमें तत्पर रहनेवाले और 'इतना ही आनन्द है' इस प्रकार माननेवाले होते हैं ॥ ११ ॥

प्रश्न—'प्रलयान्ताम् अपरिमेयां चिन्ताम् उपाश्रिताः' से क्या तात्पर्य है ?

उत्तर—इससे यह दिखलाया गया है कि वे आसुर-स्वभाववाले मनुष्य भोग-सुखके लिये इस प्रकारकी असंख्य चिन्ताओंका आश्रय किये रहते हैं, जिनका जीवनभर भी अन्त नहीं होता, जो मृत्युके शेष क्षणतक बनी रहती हैं और इतनी अपार होती हैं कि कहीं उनकी गणना या सीमा भी नहीं होती ।

प्रश्न—'कामोपभोगपरमाः' और 'एतावत् इति निश्चिताः' से क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया है कि विषयभोगकी सामग्रियोंका संग्रह करना और उन्हें भोगते रहना—बस, यही उनके जीवनका लक्ष्य होता है । अतएव उनका जीवन इसीके परायण होता है, उनका यह निश्चय होता है कि 'बस, जो कुछ है सो यह कामोपभोग ही है ।'

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥१२॥

वे आशाकी सैकड़ों फाँसियोंसे बँधे हुए मनुष्य काम-क्रोधके परायण होकर विषयभोगोंके लिये अन्यायपूर्वक धनादि पदार्थोंको संग्रह करनेकी चेष्टा करते रहते हैं ॥ १२ ॥

प्रश्न—उनको आशाकी सैकड़ों फाँसियोंसे बँधे हुए कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—आसुर-स्वभाववाले मनुष्योंके मनमें कामोपभोगकी नाना प्रकारकी कल्पनाएँ उठा करती हैं और उन कल्पनाओंकी पूर्तिके लिये वे भाँति-भाँतिकी सैकड़ों आशाएँ लगाये रहते हैं । उनका मन कभी किसी विषयकी आशामें लटकता है, कभी किसीमें खिंचता है और कभी किसीमें अटकता है; इस प्रकार आशाओंके बन्धनसे वे कभी छूटते ही नहीं । इसीसे सैकड़ों आशाओंकी फाँसियोंसे बँधे हुए कहा गया है ।

प्रश्न—'कामक्रोधपरायणाः' का क्या भाव है ?

उत्तर—उन आशाओंकी पूर्तिके लिये वे भगवान्‌का या किसी देवता, सत्कर्म और सद्विचारका आश्रय नहीं लेते, केवल काम-क्रोधका ही अवलम्बन करते हैं । इसलिये उनको काम-क्रोधके परायण कहा गया है ।

प्रश्न—विषय-भोगोंके लिये अन्यायपूर्वक धनादिके संग्रहकी चेष्टा करना क्या है ?

उत्तर—विषय-भोगोंके उद्देश्यसे जो काम-क्रोधका अवलम्बन करके अन्यायपूर्वक धनादिका संग्रह करनेके

प्रयत्नमें लगे रहना है—अर्थात् चोरी, ठगी, डाका, झूठ, कपट, छल, दम्भ, मार-पीट, कूटनीति, जूआ, धोखेबाजी, विष-प्रयोग, झूठे मुकदमे और भय-प्रदान आदि शास्त्रविरुद्ध उपायोंके द्वारा दूसरोंके धनादिको हरण करनेकी चेष्टा करना है—यही विषय-भोगोंके लिये अन्यायसे अर्थसञ्चय करनेका प्रयत्न करना है।

सम्बन्ध—पिछले चार श्लोकोंमें आसुर-स्वभाववाले मनुष्योंके लक्षण और आचरण बतलाकर अब अगले चार श्लोकोंमें उनके 'अहंता', 'ममता' और 'मोह' युक्त सङ्कल्पोंका निरूपण करते हुए उनकी दुर्गतिका वर्णन करते हैं—

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥१३॥

वे सोचा करते हैं कि मैंने आज यह प्राप्त कर लिया है और अब इस मनोरथको प्राप्त कर लूँगा। मेरे पास यह इतना धन है और फिर भी यह हो जायगा॥ १३॥

प्रश्न—इस श्लोकका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'मनोरथ' शब्द यहाँ स्त्री, पुत्र, धन, जमीन, मकान और मान, बड़ाई आदि सभी मनोवाञ्छित पदार्थोंके चिन्तनका वाचक है; अतएव इस श्लोकमें यह भाव दिखलाया गया है कि आसुर-स्वभाववाले पुरुष अहङ्कारपूर्वक नाना प्रकारके विचार करते रहते हैं। वे सोचते हैं कि अमुक अभीष्ट वस्तु तो मैंने अपने पुरुषार्थसे प्राप्त कर ली है और अमुक मनोवाञ्छित वस्तुको मैं अपने पुरुषार्थसे प्राप्त कर लूँगा। मेरे पास यह इतना धन और ऐश्वर्य तो पहलेसे है ही और फिर इतना और हो जायगा।

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी॥१४॥

वह शत्रु मेरेद्वारा मारा गया और उन दूसरे शत्रुओंको भी मैं मार डालूँगा। मैं ईश्वर हूँ, ऐश्वर्यको भोगनेवाला हूँ। मैं सब सिद्धियोंसे युक्त हूँ और बलवान् तथा सुखी हूँ॥ १४॥

प्रश्न—वह शत्रु मेरेद्वारा मारा गया और उन दूसरे शत्रुओंको भी मैं मार डालूँगा—इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—कामोपभोगको ही परम पुरुषार्थ माननेवाले आसुर-स्वभावके मनुष्य काम-क्रोधपरायण होते हैं। ईश्वर, धर्म और कर्मफलमें उनका जरा भी विश्वास नहीं होता। इसलिये वे अहङ्कारसे उन्मत्त होकर समझते हैं कि 'जगत्‌में ऐसा कौन है, जो हमारे मार्गमें बाधा दे सके या हमारे साथ विरोध करके जीवित रह सके?' इसलिये वे क्रोधमें भरकर घमण्डके साथ क्रूर वाणीसे कहा करते हैं कि 'वह जो इतना बड़ा बलवान् और जगत्प्रसिद्ध प्रभावशाली पुरुष था, हमसे वैर रखनेके कारण देखते-ही-देखते हमारे द्वारा यमपुरी पहुँचा दिया गया; इतना ही नहीं, जो कोई दूसरे हमसे विरोध करते हैं या करेंगे, वे भी चाहे जितने ही बलवान् क्यों न हों, उनको भी हम अनायास ही मार डालेंगे।'

प्रश्न—मैं ईश्वर, भोगी, सिद्ध, बलवान् और सुखी हूँ—इस वाक्यका क्या भाव है?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि अहङ्कारके साथ ही वे मानमें भी चूर रहते हैं, इससे ऐसा समझते हैं कि 'संसारमें हमसे बड़ा और है ही कौन; हम जिसे चाहें, मार दें, बचा दें; जिसकी चाहें जड़ उखाड़ दें या रोप दें।' अतः बड़े गर्वके साथ कहते हैं—'अरे हम सर्वथा स्वतन्त्र हैं, सब कुछ हमारे ही हाथोंमें तो है; हमारे सिवा दूसरा कौन ऐश्वर्यवान् है, सारे ऐश्वर्योंके स्वामी हमीं तो हैं। सारे ईश्वरोंके ईश्वर परम पुरुष भी तो हम ही हैं। सबको हमारी ही पूजा करनी चाहिये। हम केवल ऐश्वर्यके स्वामी ही नहीं, समस्त ऐश्वर्यका भोग भी करते हैं। हमने अपने जीवनमें कभी विफलताका अनुभव किया ही नहीं; हमने जहाँ हाथ डाला, वहीं सफलताने हमारा अनुगमन किया। हम सदा सफलजीवन हैं, परम सिद्ध हैं। इतना ही नहीं, हम बड़े बलवान् हैं; हमारे मनोबल या शारीरिक बलका इतना प्रभाव है कि जो कोई उसका सहारा लेगा, वही उस बलसे जगत्पर विजय पा लेगा। इन्हीं सब कारणोंसे हम परम सुखी हैं; संसारके सारे सुख सदा हमारी सेवा करते हैं और करते रहेंगे।'

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥१५॥
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥१६॥

मैं बड़ा धनी और बड़े कुटुम्बवाला हूँ। मेरे समान दूसरा कौन है? मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा और आमोद-प्रमोद करूँगा। इस प्रकार अज्ञानसे मोहित रहनेवाले तथा अनेक प्रकारसे भ्रमित चित्तवाले, मोहरूप जालसे समावृत और विषयभोगोंमें अत्यन्त आसक्त आसुरलोग महान् अपवित्र नरकमें गिरते हैं ॥ १५-१६ ॥

प्रश्न—मैं बड़ा धनी और बड़े कुटुम्बवाला हूँ, मेरे समान दूसरा कौन है? इस कथनका क्या तात्पर्य है?

उत्तर—इससे आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्योंके धन और कुटुम्बसम्बन्धी अभिमानका स्पष्टीकरण किया गया है। अभिप्राय यह है कि वे आसुर-स्वभाववाले पुरुष अहङ्कारसे कहते हैं कि हमारे धनका और हमारे कुटुम्बी, मित्र, बान्धव, सहयोगी, अनुयायी और साथियोंका पार ही नहीं है। हमारी एक आवाजसे असंख्यों मनुष्य हमारा अनुगमन करनेको तैयार हैं। इस प्रकार धनबल और जनबलमें हमारे समान दूसरा कोई भी नहीं है।

प्रश्न—मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा—इस कथनका क्या तात्पर्य है?

उत्तर—इससे उनका यज्ञ और दानसम्बन्धी मिथ्या अभिमान दिखलाया गया है। अभिप्राय यह है कि आसुर-स्वभाववाले मनुष्य वास्तवमें न तो सात्त्विक यज्ञ या दान करते हैं और न करना चाहते ही हैं। केवल दूसरोंपर रोब जमानेके लिये यज्ञ और दानका ढोंग रचकर अपने घमण्डको व्यक्त करते हुए कहा करते हैं कि 'हम अमुक यज्ञ करेंगे, बड़ा भारी दान देंगे। हमारे समान दान देनेवाला और यज्ञ करनेवाला दूसरा कौन है?'

प्रश्न—मैं आमोद-प्रमोद करूँगा—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे उनका सुखसम्बन्धी मिथ्या अभिमान दिखलाया गया है। वे आसुर-स्वभाववाले लोग भाँति-भाँतिकी डींग हाँकते हुए, गर्वमें फूलकर कहा करते हैं कि 'अहा ! फिर कैसी मौज होगी; हम आनन्दमें मग्न हो रहेंगे, मजे उड़ायेंगे ।'

प्रश्न—'इति अज्ञानविमोहिता:'का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे भगवान् यह भाव दिखलाते हैं कि वे आसुर-स्वभाववाले लोग तेरहवें श्लोकसे लेकर यहाँतक बतलाये हुए अहङ्काररूप अज्ञानसे अत्यन्त मोहित रहते हैं।

प्रश्न—'अनेकचित्तविभ्रान्ता:'का क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि आसुर-स्वभाववाले मनुष्योंका चित्त अनेकों विषयोंमें विविध प्रकारसे विभ्रान्त रहता है। वे किसी भी विषयपर स्थिर नहीं रहते, भटकते ही रहते हैं ।

प्रश्न—'मोहजालसमावृता:'का क्या भाव है ?

उत्तर—इसका भाव यह है कि जैसे मछली जालमें फँसकर घिरी रहती है, वैसे ही आसुर-स्वभाववाले मनुष्य अविवेकरूपी मोह-मायाके जालमें फँसकर उससे घिरे रहते हैं ।

प्रश्न—'कामभोगेषु प्रसक्ता:' का क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि वे आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्य विषयोपभोगको ही जीवनका एकमात्र ध्येय मानते हैं, इसलिये उसीमें विशेषरूपसे आसक्त रहते हैं ।

प्रश्न—'अशुचौ नरके पतन्ति'—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे उन आसुर-स्वभाववाले मनुष्योंकी दुर्गतिका वर्णन किया गया है। अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त प्रकारकी स्थितिवाले मनुष्य कामोपभोगके लिये भाँति-भाँतिके पाप करते हैं, और उनका फल भोगनेके लिये उन्हें विष्ठा, मूत्र, रुधिर, पीब आदि गंदी वस्तुओं-से भरे दु:खदायक घोर नरकोंमें गिरना पड़ता है ।

सम्बन्ध—पंद्रहवें श्लोकमें भगवान्ने कहा था कि वे लोग 'यज्ञ करूँगा' ऐसा कहते हैं; अतः अगले श्लोकमें उनके यज्ञका स्वरूप बतलाया जाता है—

आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥१७॥

वे अपने-आपको ही श्रेष्ठ माननेवाले घमण्डी पुरुष धन और मानके मदसे युक्त होकर केवल नाममात्रके यज्ञोंद्वारा पाखण्डसे शास्त्रविधिसे रहित यजन करते हैं ॥१७॥

प्रश्न—'आत्मसम्भाविता:' किन्हें कहते हैं ?

उत्तर—जो अपने ही मनसे अपने-आपको सब बातोंमें सर्वश्रेष्ठ, सम्मान्य, उच्च और पूज्य मानते हैं—वे 'आत्मसम्भावित' हैं ।

प्रश्न—'स्तब्धा:'का क्या अर्थ है ?

उत्तर—जो घमण्डके कारण किसीके साथ—यहाँतक कि पूजनीयोंके प्रति भी विनयका व्यवहार नहीं करते, वे 'स्तब्ध' हैं ।

प्रश्न—'धनमानमदान्विताः' किनको कहते हैं ?

उत्तर—जो धन और मानके मदसे उन्मत्त रहते हैं, उन्हें 'धनमानमदान्वित' कहते हैं।

प्रश्न—शास्त्रविधिसे रहित केवल नाममात्रके यज्ञोंद्वारा पाखण्डसे यजन करते हैं—इस वाक्यका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि उपर्युक्त लक्षणोंवाले आसुर-स्वभावके मनुष्य जो यज्ञ करते हैं, वह विधिसे रहित, केवल नाममात्रका यज्ञ होता है। वे लोग बिना श्रद्धाके केवल पाखण्डसे लोगोंको दिखलानेके लिये ही ऐसे यज्ञ किया करते हैं; उनके ये यज्ञ तामस होते हैं और इसीसे 'अधो गच्छन्ति तामसाः' के अनुसार वे नरकोंमें गिरते हैं। तामस यज्ञकी पूरी व्याख्या १७वें अध्यायके १३वें श्लोकमें देखनी चाहिये।

सम्बन्ध—इस प्रकार आसुर-स्वभाववाले मनुष्योंके यज्ञका स्वरूप बतलाकर अब उनकी दुर्गतिके कारणरूप स्वभावका वर्णन करते हैं—

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥१८॥

वे अहङ्कार, बल, घमण्ड, कामना और क्रोधादिके परायण और दूसरोंकी निन्दा करनेवाले पुरुष अपने और दूसरोंके शरीरमें स्थित मुझ अन्तर्यामीसे द्वेष करनेवाले होते हैं ॥ १८॥

प्रश्न—'अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः'का क्या तात्पर्य है ?

उत्तर—इससे यह दिखलाया गया है कि वे आसुर-स्वभाववाले मनुष्य अहङ्कारका अवलम्बन करके कहते हैं कि 'हम ही ईश्वर हैं, सब भोगोंको भोगनेवाले हैं, सिद्ध हैं, बलवान् हैं और सुखी हैं। ऐसा कौन-सा कार्य है जिसे हम न कर सकें।' अपने बलका आश्रय लेकर वे दूसरोंसे वैर करते हैं, उन्हें धमकाने, मारने-पीटने और विपत्तिग्रस्त करनेमें प्रवृत्त होते हैं। वे अपने बलके सामने किसीको कुछ समझते ही नहीं। दर्पका आश्रय लेकर वे यह डींग हाँका करते हैं कि हम बड़े धनी और बड़े कुटुम्बवाले हैं हमारे समान दूसरा है ही कौन। कामका आश्रय लेकर वे नाना प्रकारके दुराचार किया करते हैं। और क्रोधके परायण होकर वे कहते हैं कि 'जो भी हमारे प्रतिकूल कार्य करेगा या हमारा अनिष्ट करेगा, हम उसीको मार डालेंगे।' इस प्रकार भगवान्, धर्म और शास्त्र—किसीका भी सहारा न लेकर केवल अहङ्कार, बल, दर्प, काम और क्रोधका आश्रय लेकर उन्हींके बलपर वे भाँति-भाँतिकी कल्पना-जल्पना किया करते हैं और जो कुछ भी कार्य करते हैं, सब इन्हीं दोषोंकी प्रेरणासे और इन्हींपर अवलम्बन करके करते हैं।

प्रश्न—इसमें 'च' अव्यय क्यों आया है ?

उत्तर—'च'से यह भाव दिखलाया गया है कि ये आसुर-स्वभाववाले मनुष्य केवल अहङ्कार, बल, दर्प, काम और क्रोधके ही आश्रित नहीं हैं; दम्भ, लोभ, मोह आदि और भी अनेकों दोषोंको धारण किये रहते हैं।

प्रश्न—'अभ्यसूयकाः'का क्या भाव है ?

उत्तर—दूसरोंके दोष देखना, देखकर उनकी निन्दा करना, उनके गुणोंका खण्डन करना और गुणोंमें दोषारोपण करना असूया है। आसुर-स्वभाववाले पुरुष ऐसा ही करते हैं। औरोंकी तो बात ही क्या, वे

भगवान् और संत पुरुषोंमें भी दोष देखते हैं—यही भाव दिखलानेके लिये उन्हें 'अभ्यसूयक' कहा गया है।

प्रश्न—आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्योंको 'अपने और दूसरोंके शरीरमें स्थित अन्तर्यामी परमेश्वरके साथ द्वेष करनेवाले' कहनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इससे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्य जो दूसरोंसे वैर बाँधकर उनको नाना प्रकारसे कष्ट पहुँचानेकी चेष्टा करते हैं और स्वयं भी कष्ट भोगते हैं, वह उनका मेरे ही साथ द्वेष करना है; क्योंकि उनके और दूसरोंके—सभीके अंदर अन्तर्यामीरूपसे मैं परमेश्वर स्थित हूँ। किसीसे विरोध या द्वेष करना, किसीका अहित करना और किसीको दुःख पहुँचाना अपने और दूसरोंके शरीरमें स्थित मुझ परमेश्वरसे ही द्वेष करना है।

सम्बन्ध—*इस प्रकार आसुरी स्वभाववालोंके दुर्गुण और दुराचारोंका वर्णन करके अब उन दुर्गुण-दुराचारोंमें त्याज्य-बुद्धि करानेके लिये अगले दो श्लोकोंमें भगवान् वैसे लोगोंकी घोर निन्दा करते हुए उनकी दुर्गतिका वर्णन करते हैं*—

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥१९॥

उन द्वेष करनेवाले पापाचारी और क्रूरकर्मी नराधमोंको मैं संसारमें बार-बार आसुरी योनियोंमें ही डालता हूँ ॥ १९ ॥

प्रश्न—'द्विषतः', 'अशुभान्', 'क्रूरान्' और 'नराधमान्'—इन चार विशेषणोंके सहित 'तान्' पद किनका वाचक है तथा इन विशेषणोंका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—उपर्युक्त विशेषणोंके सहित 'तान्' पद पिछले श्लोकोंमें जिनका विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है, उन आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्योंका बोधक है। उनकी दुर्गतिमें उनके दुर्गुण और दुराचार ही कारण हैं, यही भाव दिखलानेके लिये उपर्युक्त विशेषणोंका प्रयोग किया गया है। अभिप्राय यह है कि वे लोग सबके साथ द्वेष करनेवाले, नाना प्रकारके अशुभ आचरण करके समाजको भ्रष्ट करनेवाले, निर्दयतापूर्वक बहुत-से कठोर कर्म करनेवाले और बिना ही कारण दूसरोंका बुरा करनेवाले अधम श्रेणीके मनुष्य होते हैं। इसी कारण मैं उनको बार-बार नीच योनियोंमें डालता हूँ।

प्रश्न—यहाँ आसुरी योनिसे कौन-सी योनियोंका निर्देश है?

उत्तर—सिंह, बाघ, सर्प, बिच्छू, सूअर, कुत्ते और कौए आदि जितने भी पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग हैं—ये सभी आसुरी योनियाँ हैं।

प्रश्न—'अजस्रम्' और 'एव' पदसे क्या तात्पर्य है?

उत्तर—'अजस्रम्' से यह बतलाया गया है कि वे निरन्तर हजारों-लाखों बार आसुरी योनिमें गिराये जाते हैं और 'एव' इस बातको बतलाता है कि वे लोग देव, पितर या मनुष्यकी योनिको न पाकर निश्चय ही पशु-पक्षी आदि नीच योनियोंको ही प्राप्त होते हैं।

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥२०॥

हे अर्जुन ! जन्म-जन्ममें आसुरी योनिको प्राप्त वे मूढ़ मुझको न प्राप्त होकर, उससे भी अति नीच गतिको ही प्राप्त होते हैं अर्थात् घोर नरकोंमें पड़ते हैं ॥ २० ॥

प्रश्न—वे जन्म-जन्ममें आसुरी योनिको प्राप्त होते हैं—ऐसा कहनेका क्या तात्पर्य है ?

उत्तर—ऐसा कहकर भगवान् यह दिखलाते हैं कि हजारों-लाखों बार वे आसुरी योनिमें ही जन्म लेते हैं, उन्हें ऊँची योनि नहीं मिलती ।

प्रश्न—उपर्युक्त आसुर-स्वभाववाले पुरुषोंको भगवत्-प्राप्तिकी तो बात ही क्या, जब ऊँची गति भी नहीं मिलती, केवल आसुरी योनि ही मिलती है, तब भगवान्‌ने 'माम् अप्राप्य', 'मुझको न पाकर' यह कैसे कहा ?

उत्तर—मनुष्ययोनिमें जीवको भगवत्प्राप्तिका अधिकार है । इस अधिकारको प्राप्त होकर भी जो मनुष्य इस बातको भूलकर दैव-स्वभावरूप भगवत्प्राप्तिके मार्गको छोड़कर आसुर-स्वभावका अवलम्बन करते हैं, वे सुअवसर पाकर भी भगवान्‌को नहीं पा सकते—यही भाव दिखलानेके लिये ऐसा कहा गया है । यहाँ दयामय भगवान् मानो जीवकी इस दशापर तरस खाते हुए यह चेतावनी देते हैं कि मनुष्य-शरीर पाकर आसुर-स्वभावका अवलम्बन करके मेरी प्राप्तिरूप जन्मसिद्ध अधिकारसे वञ्चित मत होओ ।

प्रश्न—उससे भी अति अधम गतिको ही प्राप्त होते हैं—इससे क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया है कि वे आसुर-स्वभाववाले मनुष्य हजारों-लाखों बार आसुरी योनिमें जन्म लेकर फिर उससे भी नीच, महान् यातनामय कुम्भीपाक, महारौरव आदि घोर नरकोंमें पड़ते हैं ।

सम्बन्ध—आसुर-स्वभाववाले मनुष्योंको लगातार आसुरी योनियोंके और घोर नरकोंके प्राप्त होनेकी बात सुनकर यह जिज्ञासा हो सकती है कि उनके लिये इस दुर्गतिसे बचकर परम गतिको प्राप्त करनेका क्या उपाय है ? इसपर अब दो श्लोकोंमें समस्त दुर्गतियोंके प्रधान कारणरूप आसुरी सम्पत्तिके सार त्रिविध दोषोंके त्याग करनेकी बात कहते हुए भगवान् परम गतिकी प्राप्तिका उपाय बतलाते हैं—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥२१॥

काम, क्रोध तथा लोभ—ये आत्माका नाश करनेवाले अर्थात् उसको अधोगतिमें ले जानेवाले तीन प्रकारके नरकके द्वार हैं । अतएव इन तीनोंको त्याग देना चाहिये ॥ २१ ॥

प्रश्न—काम, क्रोध और लोभको नरकके द्वार क्यों बतलाया गया ?

उत्तर—स्त्री, पुत्र आदि समस्त भोगोंकी कामनाका नाम 'काम' है; इस कामनाके वशीभूत होकर ही

मनुष्य चोरी, व्यभिचार और अभक्ष्य-भोजनादि नाना प्रकारके पाप करते हैं। मनके विपरीत होनेपर जो उत्तेजनामय वृत्ति उत्पन्न होती है, उसका नाम 'क्रोध' है; क्रोधके आवेशमें मनुष्य हिंसा-प्रतिहिंसा आदि भाँति-भाँतिके पाप करते हैं। और धनादि विषयोंकी अत्यन्त बढ़ी हुई लालसाको 'लोभ' कहते हैं। लोभी मनुष्य उचित अवसरपर धनका त्याग नहीं करते एवं अनुचितरूपसे भी उपार्जन और संग्रह करनेमें लगे रहते हैं; इसके कारण उनके द्वारा झूठ, कपट और विश्वासघात आदि बड़े-बड़े पाप बन जाते हैं। पापोंका फल नरकोंकी प्राप्ति है, इसीलिये इन तीनोंको नरकके द्वार बतलाया गया है।

प्रश्न—काम, क्रोध और लोभको आत्माका नाश करनेवाले क्यों कहा गया ?

उत्तर—'आत्मा' शब्दसे यहाँ जीवात्माका निर्देश है। परन्तु जीवात्माका नाश कभी होता नहीं, अतएव यहाँ आत्माके नाशका अर्थ है, जीवकी अधोगति। मनुष्य जबसे काम, क्रोध, लोभके वशमें होते हैं, तभीसे वे अपने विचार, आचरण और भावोंमें गिरने लगते हैं। काम, क्रोध और लोभके कारण उनसे ऐसे कर्म होते हैं, जिनसे उनका शारीरिक पतन हो जाता है, मन बुरे विचारोंसे भर जाता है, बुद्धि बिगड़ जाती है, क्रियाएँ सब दूषित हो जाती हैं और इसके फलस्वरूप उनका वर्तमान जीवन सुख, शान्ति और पवित्रतासे रहित होकर दुःखमय बन जाता है तथा मरनेके बाद उनको आसुरी योनियोंकी और नरकोंकी प्राप्ति होती है। इसीलिये इन त्रिविध दोषोंको 'आत्माका नाश करनेवाले' बतलाया गया है।

प्रश्न—इसलिये इन तीनोंको त्याग देना चाहिये—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे भगवान् यह दिखलाते हैं कि जब यह निर्णय हो गया कि सारे अनर्थोंके मूलभूत मोहजनित काम, क्रोध और लोभ ही समस्त अधोगतिके कारण हैं, तब इन्हें महान् विषके समान जानकर इनका तुरंत ही पूर्णरूपसे त्याग कर देना चाहिये।

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥ २२॥

हे अर्जुन! इन तीनों नरकके द्वारोंसे मुक्त पुरुष अपने कल्याणका आचरण करता है, इससे वह परमगतिको जाता है अर्थात् मुझको प्राप्त हो जाता है॥ २२॥

प्रश्न—'एतैः' और 'त्रिभिः'—इन दोनों पदोंके सहित 'तमोद्वारैः' पद किनका वाचक है और इनसे विमुक्त मनुष्यको 'नर' कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—पिछले श्लोकमें जिन काम, क्रोध और लोभको नरकके त्रिविध द्वार बतलाया गया है, उन्हींका वाचक यहाँ 'एतैः' और 'त्रिभिः' पदोंके सहित 'तमोद्वारैः' पद है। तामिस्र और अन्धतामिस्रादि नरक अन्धकारमय होते हैं, अज्ञानरूपी अन्धकारसे उत्पन्न दुराचार और दुर्गुणोंके फलस्वरूप उनकी प्राप्ति होती है, उनमें रहकर जीवोंको मोह और दुःखरूप तमसे ही घिरे रहना पड़ता है; इसीसे उनको 'तम' कहा जाता है। काम, क्रोध और लोभ—ये तीनों उनके द्वार अर्थात् कारण हैं, इसलिये उनको तमोद्वार कहा गया है। इन तीनों नरकके द्वारोंसे जो विमुक्त है—सर्वथा छूटा हुआ है, वही मनुष्य अपने कल्याणका साधन कर सकता है। और मनुष्यदेह पाकर जो इस प्रकार कल्याणका

साधन करता है, वही वास्तवमें 'नर' (मनुष्य) है। यह भाव दिखलानेके लिये उसे 'नर' कहा गया है।

प्रश्न—अपने कल्याणका आचरण करना क्या है ?

उत्तर—काम, क्रोध और लोभके वश हुए मनुष्य अपना पतन करते हैं और इनसे छूटे हुए मनुष्य अपने कल्याणके लिये आचरण करते हैं; अतः काम, क्रोध और लोभका त्याग करके शास्त्रप्रतिपादित सद्गुण और सदाचाररूप दैवीसम्पदाका निष्कामभावसे सेवन करना ही कल्याणके लिये आचरण करना है।

प्रश्न—'ततः परां गतिं याति' का क्या भाव है ?

उत्तर—इस वाक्यसे भगवान् यह भाव दिखलाते हैं कि उपर्युक्त प्रकारसे काम, क्रोध और लोभके विस्ताररूप आसुरीसम्पदासे भलीभाँति छूटकर निष्कामभावसे दैवी-सम्पदाका सेवन करनेसे ही मनुष्य परमगतिको अर्थात् परमात्माको प्राप्त होता है।

सम्बन्ध—जो उपर्युक्त दैवीसम्पदाका आचरण न करके अपनी मान्यताके अनुसार उत्तम कर्म करता है, वह परमगतिको प्राप्त होता है या नहीं ? इसपर कहते हैं—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥ २३॥

जो पुरुष शास्त्रविधिको त्यागकर अपनी इच्छासे मनमाना आचरण करता है, वह न सिद्धिको प्राप्त होता है, न परमगतिको और न सुखको ही॥ २३॥

प्रश्न—शास्त्रविधिको त्यागकर अपनी इच्छासे मनमाना आचरण करना क्या है ?

उत्तर—वेद और वेदोंके आधारपर रचित स्मृति, पुराण, इतिहासादि सभीका नाम शास्त्र है। आसुरीसम्पदा-के आचार-व्यवहार आदिके त्यागका और दैवीसम्पदा-रूप कल्याणकारी गुण-आचरणोंके सेवनका ज्ञान इन शास्त्रोंसे ही होता है। इन कर्तव्य और अकर्तव्यका ज्ञान करानेवाले शास्त्रोंके विधानकी अवहेलना करके अपनी बुद्धिसे अच्छा समझकर जो मनमाने तौरपर तप, व्रत, सेवा और यज्ञ-यागादि कर्मोंका आचरण करना है—यही शास्त्रविधिको त्यागकर मनमाना आचरण करना है।

प्रश्न—इस प्रकार आचरण करनेवाला सिद्धि, सुख और परमगतिको नहीं प्राप्त होता—इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि जो मनुष्य शास्त्रविधिका त्याग करता है, उसके कर्म यदि शास्त्रनिषिद्ध अर्थात् पाप होते हैं तो वे दुर्गतिके कारण होते हैं; अतएव उनकी तो यहाँ बात ही नहीं है। परन्तु यदि तप, व्रत, उपवास, सेवा और यज्ञ-यागादि पुण्यकर्म भी होते हैं, तो भी उनके मनमाने तौरपर किये जानेके कारण उनसे कर्ताको कोई भी फल नहीं मिलता। अर्थात् परमगति नहीं मिलती—इसमें तो कहना ही क्या है, लौकिक अणिमादि सिद्धि और स्वर्गरूप सिद्धि भी नहीं मिलती एवं संसारमें सात्त्विक सुख भी नहीं मिलता।

सम्बन्ध—शास्त्रविधिको त्यागकर किये जानेवाले मनमाने शुभकर्म निष्फल होते हैं, यह बात सुनकर यह जिज्ञासा हो सकती है कि ऐसी स्थितिमें क्या करना चाहिये ? इसपर कहते हैं—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥२४॥

इससे तेरे लिये इस कर्त्तव्य और अकर्त्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है । ऐसा जानकर तू शास्त्रविधिसे नियत कर्म ही करनेयोग्य है ॥ २४ ॥

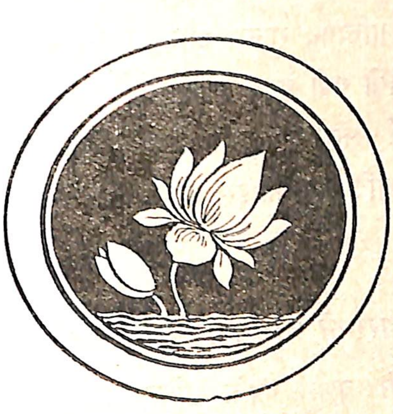
प्रश्न–इस कर्त्तव्य और अकर्त्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है–इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर–इससे यह भाव दिखलाया गया है कि क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये–इसकी व्यवस्था श्रुति, वेदमूलक स्मृति और पुराण-इतिहासादि शास्त्रोंसे प्राप्त होती है । अतएव इस विषयमें मनुष्यको मनमाना आचरण न करके शास्त्रोंको ही प्रमाण मानना चाहिये । अर्थात् इन शास्त्रोंमें जिन कर्मोंके करनेका विधान है, उनको करना चाहिये और जिनका निषेध है, उन्हें नहीं करना चाहिये ।

प्रश्न–ऐसा जानकर तू शास्त्रविधिसे नियत कर्म ही करनेयोग्य है—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर–इससे यह भाव दिखलाया है कि इस प्रकार शास्त्रोंको प्रमाण मानकर तुम्हें शास्त्रोंमें बतलाये हुए कर्त्तव्य-कर्मोंका ही विधिपूर्वक आचरण करना चाहिये, निषिद्ध कर्मोंका कभी नहीं । तथा उन शास्त्रविहित शुभ कर्मोंका आचरण भी निष्कामभावसे ही करना चाहिये, क्योंकि शास्त्रोंमें निष्कामभावसे किये हुए शुभ कर्मोंको ही भगवत्प्राप्तिमें हेतु बतलाया है ।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसम्पद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥१६॥



ॐ श्रीपरमात्मने नमः

सप्तदशोऽध्यायः

अध्यायका नाम

इस सतरहवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनने श्रद्धायुक्त पुरुषोंकी निष्ठा पूछी है, उसके उत्तरमें भगवान्ने तीन प्रकारकी श्रद्धा बतलाकर श्रद्धाके अनुसार ही पुरुषका स्वरूप बतलाया है। फिर पूजा, यज्ञ, तप आदिमें श्रद्धाका सम्बन्ध दिखलाते हुए अन्तिम श्लोकमें श्रद्धारहित पुरुषोंके कर्मोंको असत् बतलाया गया है। इस प्रकार इस अध्यायमें त्रिविध श्रद्धाकी विभाग-पूर्वक व्याख्या होनेसे इसका नाम 'श्रद्धात्रयविभागयोग' रक्खा गया है।

अध्यायका संक्षेप

इस अध्यायके प्रथम श्लोकमें अर्जुनने भगवान्से शास्त्रविधिका त्याग करके श्रद्धापूर्वक यजन करनेवालोंकी निष्ठा पूछी है, इसके उत्तरमें भगवान्के द्वारा दूसरे श्लोकमें गुणोंके अनुसार त्रिविध श्रद्धाका वर्णन किया गया है; तीसरेमें श्रद्धाके अनुसार ही पुरुषका स्वरूप बतलाया गया है; चौथेमें सात्त्विक, राजस और तामस श्रद्धायुक्त पुरुषोंके द्वारा क्रमशः देव, यक्ष-राक्षस और भूत-प्रेतोंके पूजे जानेकी बात कही गयी है; पाँचवें और छठेमें शास्त्रविरुद्ध घोर तप करनेवालोंकी निन्दा की गयी है; सातवेंमें आहार, यज्ञ, तप और दानके भेद सुननेके लिये अर्जुनको आज्ञा की गयी है; आठवें, नवें और दसवें श्लोकोंमें क्रमशः सात्त्विक, राजस और तामस आहारका वर्णन किया गया है। ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवेंमें क्रमशः सात्त्विक, राजस और तामस यज्ञके लक्षण बतलाये गये हैं। चौदहवें, पंद्रहवें और सोलहवें-में क्रमशः शारीरिक, वाङ्मय और मानसिक तपके लक्षणोंका कथन करके सतरहवेंमें सात्त्विक तपके लक्षण बतलाये गये हैं तथा अठारहवें और उन्नीसवेंमें क्रमशः राजस और तामस तपके लक्षणोंका वर्णन किया गया है। बीसवें, इक्कीसवें और बाईसवेंमें क्रमशः सात्त्विक, राजस और तामस दानके लक्षणोंकी व्याख्या की गयी है। तेईसवेंमें 'ॐ तत्सत्' की महिमा बतलायी गयी है। चौबीसवेंमें 'ॐ' के प्रयोगकी, पचीसवेंमें 'तत्' शब्दके प्रयोगकी और छब्बीसवें तथा सत्ताईसवेंमें 'सत्' शब्दके प्रयोगकी व्याख्या की गयी है; एवं अन्तके अट्ठाईसवें श्लोकमें बिना श्रद्धाके किये हुए यज्ञ, दान, तप आदि कर्मोंको इस लोक और परलोकमें सर्वथा निष्फल और असत् बतलाकर अध्यायका उपसंहार किया गया है।

सम्बन्ध—सोलहवें अध्यायके आरम्भमें श्रीभगवान्ने निष्कामभावसे सेवन किये जानेवाले शास्त्रविहित गुण और आचरणोंका दैवीसम्पदाके नामसे वर्णन करके फिर शास्त्रविपरीत आसुरीसम्पत्तिका कथन किया। साथ ही आसुर-स्वभाववाले पुरुषोंको नरकोंमें गिरानेकी बात कही और यह बतलाया कि काम, क्रोध, लोभ ही आसुरीसम्पदाके प्रधान अवगुण हैं और ये ही तीनों नरकोंके द्वार हैं; इनका त्याग करके जो आत्म-कल्याणके लिये साधन करता है, वह परम गतिको प्राप्त होता है। इसके अनन्तर यह कहा कि जो शास्त्रविधिका

त्याग करके, मनमाने ढंगसे, अपनी समझसे जिसको अच्छा कर्म समझता है, वही करता है; उसे अपने उन कर्मोंका फल नहीं मिलता, सिद्धिके लिये किये गये कर्मसे सिद्धि नहीं मिलती, सुखके लिये किये गये कर्मसे सुख नहीं मिलता और परमगति तो मिलती ही नहीं। अतएव करने और न करनेयोग्य कर्मोंकी व्यवस्था देनेवाले शास्त्रोंके विधानके अनुसार ही तुम्हें निष्कामभावसे कर्म करने चाहिये। इससे अर्जुनके मनमें यह जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि जो लोग शास्त्रविधिको छोड़कर मनमाने कर्म करते हैं, उनके कर्म व्यर्थ होते हैं—यह तो ठीक ही है। परन्तु ऐसे लोग भी तो हो सकते हैं जो शास्त्रविधिका तो न जाननेके कारण अथवा अन्य किसी कारणसे त्याग कर बैठते हैं, परन्तु यज्ञ-पूजादि शुभ कर्म श्रद्धापूर्वक करते हैं; उनकी क्या स्थिति होती है? इस जिज्ञासाको व्यक्त करते हुए अर्जुन भगवान्से पूछते हैं—

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः॥ १॥

अर्जुन बोले—हे कृष्ण! जो श्रद्धायुक्त पुरुष शास्त्रविधिको त्याग कर देवादिका पूजन करते हैं, उनकी स्थिति फिर कौन-सी है? सात्त्विकी है अथवा राजसी किंवा तामसी?॥ १॥

प्रश्न—शास्त्रविधिके त्यागकी बात १६वें अध्यायके २३वें श्लोकमें भी कही जा चुकी है और यहाँ भी कही गयी। इन दोनोंका एक ही भाव है या इनमें कुछ अन्तर है?

उत्तर—अवश्य अन्तर है। वहाँ अवहेलना करके शास्त्रविधिके त्यागका वर्णन है और यहाँ न जाननेके कारण होनेवाले शास्त्रविधिके त्यागका है। उनको शास्त्रकी परवा ही नहीं है; वे अपने मनमें जिस कर्मको अच्छा समझते हैं, वही करते हैं। इसीसे वहाँ 'वर्तते कामकारतः' कहा गया है। परन्तु यहाँ 'यजन्ते श्रद्धयान्विताः' कहा है, अतः इन लोगोंमें श्रद्धा है। जहाँ श्रद्धा होती है, वहाँ अवहेलना नहीं हो सकती। इन लोगोंको परिस्थिति और वातावरणकी प्रतिकूलतासे, अवकाशके अभावसे अथवा परिश्रम तथा अध्ययन आदिकी कमीसे शास्त्रविधिका ज्ञान नहीं होता और इस अज्ञताके कारण ही इनके द्वारा उसका त्याग होता है।

प्रश्न—'निष्ठा' शब्दका क्या भाव है?

उत्तर—'निष्ठा' शब्द यहाँ स्थितिका वाचक है। क्योंकि तीसरे श्लोकमें इसका उत्तर देते हुए भगवान्ने कहा है कि यह पुरुष श्रद्धामय है; जिसकी जैसी श्रद्धा है, वैसा ही वह पुरुष है अर्थात् वैसी ही उसकी स्थिति है। अतएव उसीका नाम 'निष्ठा' है।

प्रश्न—'उनकी निष्ठा सात्त्विकी है अथवा राजसी या तामसी?' यह पूछनेका क्या भाव है?

उत्तर—सोलहवें अध्यायके छठे श्लोकमें भगवान्ने दैवी प्रकृतिवाले और आसुरी प्रकृतिवाले—इन दो प्रकारके मनुष्योंका वर्णन किया। इनमें दैवी प्रकृतिवाले लोग शास्त्रविहित कर्मोंका निष्कामभावसे आचरण करते हैं, इसीसे वे मोक्षको प्राप्त होते हैं। आसुर-स्वभाववालोंमें जो तामस लोग पापकर्मोंका आचरण करते हैं, वे तो नीच योनियोंको या नरकोंको प्राप्त होते हैं और तमोमिश्रित राजस लोग, जो शास्त्रविधिको त्याग कर मनमाने अच्छे

कर्म करते हैं, उनको अच्छे कर्मोंका कोई फल नहीं मिलता; किन्तु पापकर्मका फल तो उन्हें भी भोगना ही पड़ता है। इस वर्णनसे दैवी और आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्योंकी उपर्युक्त बातें तो अर्जुनकी समझमें आ गयीं; परन्तु न जाननेके कारण शास्त्रविधिका त्याग करनेपर भी जो श्रद्धाके साथ भजन-पूजन आदि करनेवाले हैं, वे कैसे स्वभाववाले हैं—दैव-स्वभाववाले या आसुर-स्वभाववाले? इसका स्पष्टीकरण नहीं हुआ। अतः उसीको समझनेके लिये अर्जुनका यह प्रश्न है कि ऐसे लोगोंकी स्थिति सात्त्विकी है अथवा राजसी, या तामसी? अर्थात् वे दैवीसम्पदावाले हैं या आसुरीसम्पदावाले?

प्रश्न—ऊपरके विवेचनसे यह पता लगता है कि संसारमें पाँच प्रकारके मनुष्य हो सकते हैं—

(१) जो शास्त्रविधिका पालन करते हैं और जिनमें श्रद्धा भी है।

(२) जो शास्त्रविधिका पालन तो करते हैं, परन्तु जिनमें श्रद्धा नहीं है।

(३) जिनमें श्रद्धा तो है, परन्तु जो शास्त्रविधिका पालन नहीं कर पाते।

(४) जो शास्त्रविधिका पालन भी नहीं करते और जिनमें श्रद्धा भी नहीं है।

(५) जो अवहेलनासे शास्त्रविधिका त्याग करते हैं।

इन पाँचोंका क्या स्वरूप है, इनकी क्या गति होती है तथा इनका वर्णन गीताके कौन-से श्लोकोंमें प्रधानतया आया है?

उत्तर—(१) जिनमें श्रद्धा भी है और जो शास्त्रविधिका पालन भी करते हैं, ऐसे पुरुष दो प्रकारके हैं—एक तो निष्कामभावसे आचरण करनेवाले और दूसरे सकामभावसे आचरण करनेवाले। निष्कामभावसे आचरण करनेवाले दैवीसम्पदायुक्त सात्त्विक पुरुष मोक्षको प्राप्त होते हैं; इनका वर्णन प्रधानतया सोलहवें अध्यायके पहले तीन श्लोकोंमें तथा इस अध्यायके ग्यारहवें, चौदहवेंसे सतरहवें और बीसवें श्लोकोंमें है। सकामभावसे आचरण करनेवाले सत्त्वमिश्रित राजस पुरुष सिद्धि, सुख तथा स्वर्गादि लोकोंको प्राप्त होते हैं; इनका वर्णन दूसरे अध्यायके ४२वें, ४३वें और ४४वेंमें, चौथे अध्यायके १२वें श्लोकमें, सातवेंके २०वें, २१वें और २२वेंमें और नवें अध्यायके २० वें, २१वें और २३वें श्लोकोंमें है।

(२) जो लोग शास्त्रविधिके अनुसार यज्ञ, दान, तप आदि कर्म तो करते हैं परन्तु जिनमें श्रद्धा नहीं होती—उन पुरुषोंके कर्म असत् (निष्फल) होते हैं; उन्हें इस लोक और परलोकमें उन कर्मोंसे कोई भी लाभ नहीं होता। इनका वर्णन इस अध्यायके २८वें श्लोकमें किया गया है।

(३) जो लोग अज्ञताके कारण शास्त्रविधिका तो त्याग करते हैं, परन्तु जिनमें श्रद्धा है—ऐसे पुरुष श्रद्धाके भेदसे सात्त्विक भी होते हैं और राजस तथा तामस भी। इनकी गति भी इनके स्वरूपके अनुसार ही होती है। इनका वर्णन इस अध्यायके दूसरे, तीसरे तथा चौथे श्लोकोंमें किया गया है।

(४) जो लोग न तो शास्त्रको मानते हैं और न जिनमें श्रद्धा ही है; इससे जो काम, क्रोध और लोभके वश होकर अपना पापमय जीवन बिताते हैं—वे आसुरी-सम्पदावाले लोग नरकोंमें गिरते हैं तथा दुर्गतिको प्राप्त होते हैं। उनका वर्णन सातवें अध्यायके १५वें श्लोकमें, नवेंके बारहवेंमें, सोलहवें अध्यायके ७वेंसे लेकर २०वें तकमें और इस अध्यायके ५वें, ६ठे एवं १३वें श्लोकोंमें है।

(५) जो लोग अवहेलनासे शास्त्रविधिका त्याग

करते हैं और अपनी समझसे उन्हें जो अच्छा लगता है, वही करते हैं—उन यथेच्छाचारी पुरुषोंमें जिनके कर्म शास्त्रनिषिद्ध होते हैं, उन तामस पुरुषोंको तो नरकादि दुर्गतिकी प्राप्ति होती है—जिनका वर्णन चौथे प्रश्नके उत्तरमें आ चुका है। और जिनके कर्म अच्छे होते हैं, उन रजःप्रधान तामस पुरुषोंको शास्त्रविधिका त्याग कर देनेके कारण कोई भी फल नहीं मिलता। इसका वर्णन सोलहवें अध्यायके २३वें श्लोकमें किया गया है। ध्यान रहे कि इनके द्वारा जो पापकर्म किये जाते हैं उनका फल—तिर्यक्-योनियोंकी प्राप्ति और नरकोंकी प्राप्ति—अवश्य होता है।

इन पाँचों प्रश्नोंके उत्तरमें प्रमाणस्वरूप जिन श्लोकोंका सङ्केत किया गया है, उनके अतिरिक्त अन्यान्य श्लोकोंमें भी इनका वर्णन है; परन्तु विस्तारभयसे यहाँ उन सबका उल्लेख नहीं किया गया है।

सम्बन्ध—अर्जुनके प्रश्नको सुनकर भगवान् अब अगले दो श्लोकोंमें उसका संक्षेपसे उत्तर देते हैं—

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु॥ २॥

श्रीभगवान् बोले—मनुष्योंकी वह शास्त्रीय संस्कारोंसे रहित केवल स्वभावसे उत्पन्न श्रद्धा सात्त्विकी और राजसी तथा तामसी—ऐसे तीनों प्रकारकी ही होती है। उसको तू मुझसे सुन॥ २॥

प्रश्न—'देहिनाम्' पद किन मनुष्योंके लिये प्रयुक्त हुआ है?

उत्तर—देहमें अभिमान रखनेवाले साधारण मनुष्योंके लिये।

प्रश्न—'सा' और 'स्वभावजा' ये पद कैसी श्रद्धाके वाचक हैं?

उत्तर—'सा' एवं 'स्वभावजा' पद शास्त्रविधिका त्याग करके श्रद्धापूर्वक यज्ञादि कर्म करनेवाले मनुष्योंमें रहनेवाली श्रद्धाके वाचक हैं। वह श्रद्धा शास्त्रसे उत्पन्न नहीं है, स्वभावसे है। इसलिये उसे 'स्वभावजा' कहते हैं। जो श्रद्धा शास्त्रके श्रवण-पठनादिसे होती है, उसे 'शास्त्रजा' कहते हैं और जो पूर्वजन्मोंके तथा इस जन्मके कर्मोंके संस्कारानुसार स्वाभाविक होती है, वह 'स्वभावजा' कहलाती है।

प्रश्न—सात्त्विकी, राजसी, तामसी और त्रिविधाके साथ 'इति'के प्रयोगका क्या भाव है?

उत्तर—इनके साथ 'इति' पदका प्रयोग करके भगवान् यह दिखलाते हैं कि यह श्रद्धा सात्त्विकी, राजसी और तामसी—इस प्रकार तीन ही तरहकी होती है।

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥ ३॥

हे भारत! सभी मनुष्योंकी श्रद्धा उनके अन्तःकरणके अनुरूप होती है। यह पुरुष श्रद्धामय है, इसलिये जो पुरुष जैसी श्रद्धावाला है वह स्वयं भी वही है॥ ३॥

प्रश्न—सभी मनुष्योंसे यहाँ क्या तात्पर्य है ?

उत्तर—पिछले श्लोकमें जिन देहाभिमानी मनुष्योंके लिये 'देहिनाम्' पद आया है, उन्हींके लिये 'सर्वस्य' पद आया है। अर्थात् यहाँ उन देहाभिमानी साधारण मनुष्योंके सम्बन्धमें कहा जा रहा है, जीवन्मुक्त महात्माओंके विषयमें नहीं। क्योंकि इसी श्लोकमें आगे यह कहा गया है कि जिसकी जैसी श्रद्धा है, वह स्वयं भी वैसा ही है। यह कथन देहाभिमानी जीवके लिये ही लागू हो सकता है, गुणातीत ज्ञानीके लिये नहीं।

प्रश्न—पिछले श्लोकमें श्रद्धाको 'स्वभावजा'—स्वभावसे उत्पन्न बतलाया गया है और यहाँ 'सत्त्वानुरूपा' अन्तःकरणके अनुरूप कहा गया है—इसका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—मनुष्य सात्त्विक, राजस, तामस—जैसे कर्म करता है, वैसा ही उसका स्वभाव बनता है। और स्वभाव अन्तःकरणमें रहता है; अतः वह जैसे स्वभाववाला है, वैसे ही अन्तःकरणवाला माना जाता है। इसलिये उसे चाहे 'स्वभावसे उत्पन्न' कहा जाय चाहे 'अन्तःकरणके अनुरूप', बात एक ही है।

प्रश्न—पुरुषको तो 'पर' यानी गुणोंसे सर्वथा अतीत बतलाया गया (अ० १३। २२; १४। १९), फिर यहाँ उसे 'श्रद्धामय' कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—पुरुषका वास्तविक स्वरूप तो गुणातीत ही है; परन्तु यहाँ उस पुरुषकी बात है, जो प्रकृतिमें स्थित है और प्रकृतिसे उत्पन्न तीनों गुणोंसे सम्बद्ध है। क्योंकि गुणजन्य भेद 'प्रकृतिस्थ पुरुष' में ही सम्भव है। जो गुणोंसे परे है, उसमें तो गुणोंके भेदकी कल्पना ही नहीं हो सकती। यहाँ भगवान् यह बतलाते हैं कि जिसकी अन्तःकरणके अनुरूप जैसी सात्त्विकी, राजसी या तामसी श्रद्धा होती है—वैसी ही उस पुरुषकी निष्ठा या स्थिति होती है। अर्थात् जिसकी जैसी श्रद्धा है, वही उसका स्वरूप है। इससे भगवान्ने श्रद्धा, निष्ठा और स्वरूपकी एकता करते हुए, 'उनकी कौन-सी निष्ठा है' अर्जुनके इस प्रश्नका उत्तर दिया है।

सम्बन्ध—श्रद्धाके अनुसार मनुष्योंकी निष्ठा और स्वरूप बतलाया गया; इससे यह जाननेकी इच्छा हो सकती है कि ऐसे मनुष्योंकी पहचान कैसे हो कि कौन किस निष्ठावाला है। इसपर भगवान् कहते हैं—

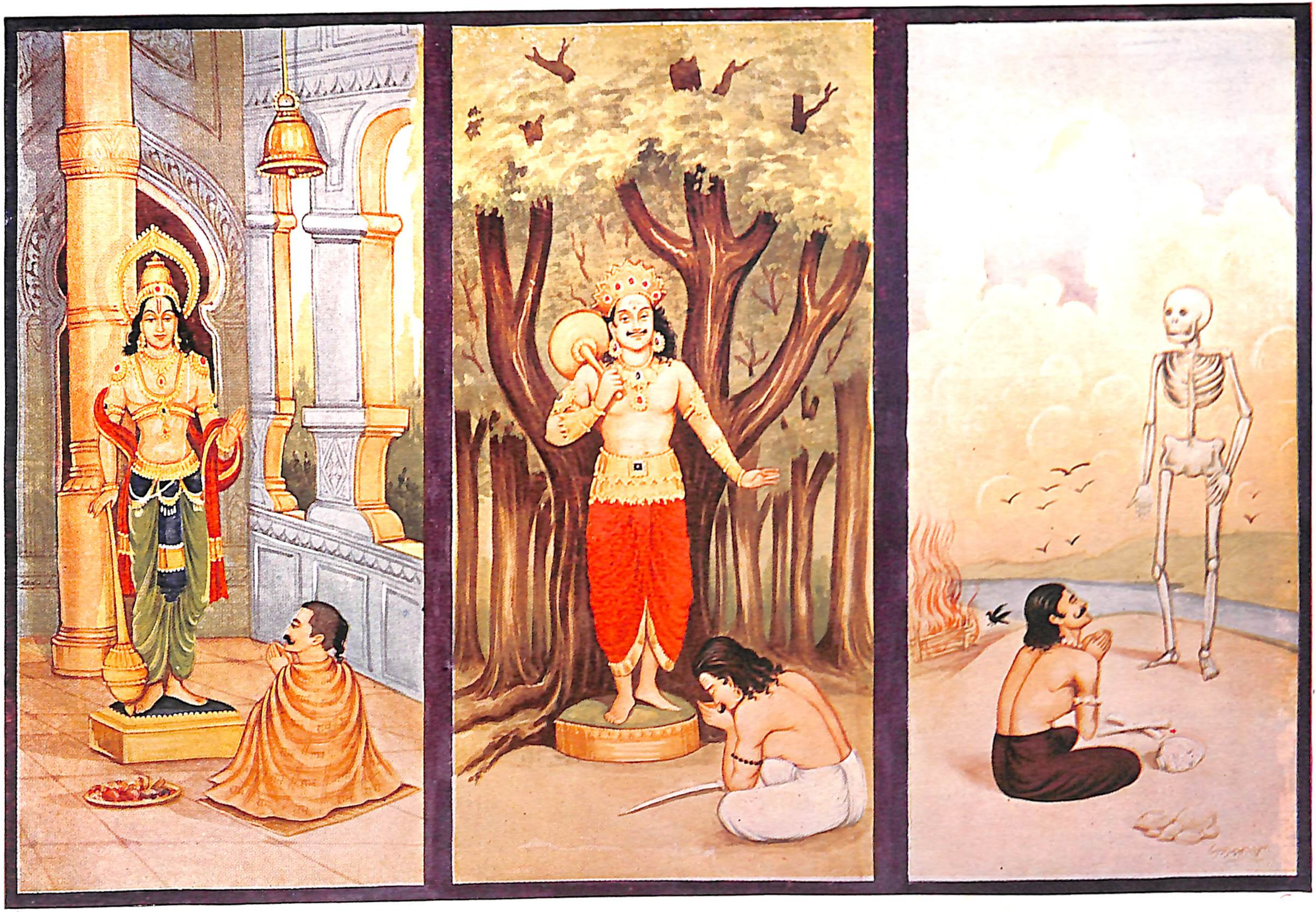
यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥ ४ ॥

सात्त्विक पुरुष देवोंको पूजते हैं, राजस पुरुष यक्ष और राक्षसोंको तथा अन्य जो तामस मनुष्य हैं, वे प्रेत और भूतगणोंको पूजते हैं ॥४॥

प्रश्न—सात्त्विक पुरुष देवोंको पूजते हैं, इसका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—कार्य देखकर कारणकी पहचान होती है—इस न्यायके अनुसार देवता सात्त्विक हैं, इसलिये उनकी पूजा करनेवाले भी सात्त्विक ही होंगे; और 'जैसे देव वैसे ही उनके पुजारी' इस लोकोक्तिके अनुसार यह बतलाते हैं कि देवताओंको पूजनेवाले मनुष्य सात्त्विक हैं—सात्त्विकी निष्ठावाले हैं। देवताओंसे यहाँ सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु, इन्द्र, वरुण, यम, अश्विनीकुमार और विश्वेदेव आदि शास्त्रोक्त देव समझने चाहिये।

त्रिविध पूजन



यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः । प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥
(१७।४)

प्रश्न—राजस पुरुष यक्ष-राक्षसोंको (पूजते हैं)—इससे क्या तात्पर्य है ?

उत्तर—जैसे देवताओंको पूजनेवाले सात्त्विक पुरुष हैं, उसी न्यायसे यक्ष-राक्षसोंको पूजनेवाले राजस हैं—राजसी निष्ठावाले हैं, यह पहचान करनेके लिये ऐसा कहा है। यक्षसे कुबेरादि और राक्षसोंसे राहु-केतु आदि लेने चाहिये।

प्रश्न—तामस मनुष्य प्रेत और भूतगणोंको पूजते हैं—इसका भी क्या वैसा ही तात्पर्य है ?

उत्तर—इससे भी यही बात कही गयी है कि भूत, प्रेत, पिशाचोंको पूजनेवाले तामसी निष्ठावाले हैं। मरनेके बाद जो पाप-कर्मवश भूत-प्रेतादिके वायुप्रधान देहको प्राप्त होते हैं, वे भूत-प्रेत कहलाते हैं।

प्रश्न—इन लोगोंकी गति कैसी होती है ?

उत्तर—'जैसा इष्ट वैसी गति' प्रसिद्ध ही है। देवताओंको पूजनेवाले देवगतिको प्राप्त होते हैं, यक्ष-राक्षसोंको पूजनेवाले यक्ष-राक्षसोंकी गतिको और भूत-प्रेतोंको पूजनेवाले उन्हींके-जैसे रूप, गुण और स्थिति आदिको पाते हैं। ९वें अध्यायके २५वें श्लोकमें भगवान्‌ने 'यान्ति देवव्रता देवान्', 'भूतानि यान्ति भूतेज्याः' आदिसे यही सिद्धान्त बतलाया है।

सम्बन्ध—न जाननेके कारण शास्त्रविधिका त्याग करके त्रिविध श्रद्धाके साथ यजन करनेवालोंका वर्णन किया गया; अतः यह जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि जिनमें श्रद्धा भी नहीं है और जो शास्त्रविधिको भी नहीं मानते और घोर तप आदि कर्म करते हैं, वे किस श्रेणीमें हैं ? इसपर अगले दो श्लोकोंमें भगवान् कहते हैं—

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ ५ ॥

जो मनुष्य शास्त्रविधिसे रहित केवल मनःकल्पित घोर तपको तपते हैं तथा दम्भ और अहङ्कारसे युक्त एवं कामना, आसक्ति और बलके अभिमानसे भी युक्त हैं, ॥५॥

प्रश्न—शास्त्रविधिसे रहित और घोर तप कैसे तपको कहते हैं ?

उत्तर—जिस तपके करनेका शास्त्रोंमें विधान नहीं है, जिसमें शास्त्रविधिका पालन नहीं किया जाता, जिसमें नाना प्रकारके आडम्बरोंसे शरीर और इन्द्रियोंको कष्ट पहुँचाया जाता है और जिसका स्वरूप बड़ा भयानक होता है—ऐसे तपको शास्त्रविधिसे रहित घोर तप कहते हैं।

प्रश्न—इस प्रकार तप करनेवाले मनुष्यको दम्भ और अहङ्कारसे युक्त बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इस प्रकारके शास्त्रविरुद्ध भयानक तप करनेवाले मनुष्योंमें श्रद्धा नहीं होती। वे लोगोंको ठगनेके लिये और उनपर रोब जमानेके लिये पाखण्ड रचते हैं तथा सदा अहङ्कारसे फूले रहते हैं। इसीसे उन्हें दम्भ और अहङ्कारसे युक्त कहा गया है।

प्रश्न—ऐसे मनुष्योंको कामना, आसक्ति और बलके अभिमानसे युक्त कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—उनकी भोगोंमें अत्यन्त आसक्ति होती है, इससे उनके चित्तमें निरन्तर उन्हीं भोगोंकी कामना बढ़ती रहती है। वे समझते हैं कि हम जो कुछ

चाहेंगे, वही प्राप्त कर लेंगे; हमारे अंदर अपार बल है, हमारे बलके सामने किसकी शक्ति है जो हमारे कार्यमें बाधा दे सके। इसी अभिप्रायसे उन्हें कामना, आसक्ति और बलके अभिमानसे युक्त कहा गया है।

कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान् विद्ध्यासुरनिश्चयान्॥ ६॥

जो शरीररूपसे स्थित भूतसमुदायको और अन्तःकरणमें स्थित मुझ अन्तर्यामीको भी कृश करनेवाले हैं, उन अज्ञानियोंको तू आसुर-स्वभाववाले जान॥६॥

प्रश्न—शरीररूपसे स्थित भूतसमुदायका क्या अर्थ है?

उत्तर—पञ्च महाभूत, मन, बुद्धि, अहङ्कार, दस इन्द्रियाँ और पाँच इन्द्रियोंके विषय—इन तेईस तत्त्वोंके समूहका नाम 'भूतसमुदाय' है। इसका वर्णन तेरहवें अध्यायके ५वें श्लोकमें क्षेत्रके नामसे आ चुका है।

प्रश्न—वे लोग भूतसमुदायको और अन्तःकरणमें स्थित मुझ अन्तर्यामीको भी कृश करनेवाले होते हैं, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—शास्त्रसे विपरीत मनमाना घोर तप करनेवाले मनुष्य नाना प्रकारके भयानक आचरणोंसे उपर्युक्त भूत-समुदायको यानी शरीरको क्षीण और दुर्बल करते हैं, इतना ही नहीं है; वे अपने घोर आचरणोंसे अन्तःकरणमें स्थित भगवान्‌को भी क्लेश पहुँचाते हैं। क्योंकि सबके हृदयमें आत्मरूपसे भगवान् स्थित हैं। अतः स्वयं अपने आत्माको या किसीके भी आत्माको दुःख पहुँचाना भगवान्‌को ही दुःख पहुँचाना है। इसलिये उन्हें भूतसमुदायको और भगवान्‌को क्लेश पहुँचानेवाले कहा गया है।

प्रश्न—'अचेतसः' पदका क्या अर्थ है?

उत्तर—शास्त्रके प्रतिकूल आचरण करनेवाले, बोधशक्तिसे रहित, आवरणदोषयुक्त मूढ मनुष्योंका वाचक 'अचेतसः' पद है।

प्रश्न—ऐसे मनुष्योंको आसुर-निश्चयवाले कहनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—उपर्युक्त शास्त्रविधिसे रहित घोर तामस तप करनेवाले, दम्भी और घमण्डी मनुष्य सोलहवें अध्यायमें वर्णित आसुरी-सम्पदावाले ही हैं, यही भाव दिखलानेके लिये उनको 'आसुर-निश्चयवाले' कहा गया है।

सम्बन्ध—त्रिविध स्वाभाविक श्रद्धावालोंके तथा घोर तप करनेवाले लोगोंके लक्षण बतलाकर अब भगवान् सात्त्विकका ग्रहण और राजस-तामसका त्याग करानेके उद्देश्यसे सात्त्विक-राजस-तामस आहार, यज्ञ, तप और दानके भेद सुननेके लिये अर्जुनको आज्ञा देते हैं—

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु॥ ७॥

भोजन भी सबको अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार तीन प्रकारका प्रिय होता है। और वैसे ही यज्ञ, तप और दान भी तीन-तीन प्रकारके होते हैं। उनके इस पृथक्-पृथक् भेदको तू मुझसे सुन॥७॥

प्रश्न—'अपि' पदका क्या भाव है ?

उत्तर—'अपि' पदसे भगवान् यह दिखलाते हैं कि जैसे श्रद्धा और यजन सात्त्विक, राजस और तामस-भेदसे तीन प्रकारके होते हैं, वैसे ही आहार भी तीन प्रकारके होते हैं ।

प्रश्न—'सर्वस्य' पदसे क्या अर्थ है ?

उत्तर—'सर्वस्य' पद यहाँ मनुष्यमात्रका वाचक है, क्योंकि आहार सभी मनुष्य करते हैं और यह प्रकरण भी मनुष्योंका ही है ।

प्रश्न—आहारादिके सम्बन्धमें अर्जुनने कुछ भी नहीं पूछा था, फिर बिना ही पूछे भगवान्ने आहारादिकी बात क्यों कही ?

उत्तर—मनुष्य जैसा आहार करता है, वैसा ही उसका अन्तःकरण बनता है और अन्तःकरणके अनुरूप ही श्रद्धा भी होती है । आहार शुद्ध होगा तो उसके परिणामस्वरूप अन्तःकरण भी शुद्ध होगा । 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः ।' (छान्दोग्य० ७ । २६ । २) अन्तःकरणकी शुद्धिसे ही विचार, भाव, श्रद्धादि गुण और क्रियाएँ शुद्ध होंगी । अतएव इस प्रसङ्गमें आहारका विवेचन आवश्यक है । दूसरे, यजन अर्थात् देवादिका पूजन सब लोग नहीं करते; परन्तु आहार तो सभी करते हैं । जैसे जो जिस गुणवाले देवता, यक्ष-राक्षस या भूत-प्रेतोंकी पूजा करता है—वह उसीके अनुसार सात्त्विक, राजस और तामस गुणवाला समझा जाता है; वैसे ही सात्त्विक, राजस और तामस आहारोंमें जो आहार जिसको प्रिय होता है, वह उसी गुणवाला होता है । आहारकी दृष्टिसे भी उसकी पहचान हो सकती है । इसीलिये भगवान्ने यहाँ आहारके तीन भेद बतलाये हैं तथा सात्त्विक आहार आदिका ग्रहण करानेके लिये और राजस-तामसादिका त्याग करानेके लिये भी इन सबके तीन-तीन भेद बतलाये हैं ।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्ने आहार, यज्ञ, तप और दानके भेद सुननेकी आज्ञा की है; उसीके अनुसार इस श्लोकमें ग्रहण करनेयोग्य सात्त्विक आहारका वर्णन करते हैं—

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥ ८ ॥

आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढ़ानेवाले, रसयुक्त, चिकने और स्थिर रहनेवाले तथा स्वभावसे ही मनको प्रिय—ऐसे आहार (भोजन करनेके पदार्थ) सात्त्विक पुरुषको प्रिय होते हैं ॥ ८ ॥

प्रश्न—आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिका बढ़ना क्या है और उनको बढ़ानेवाले आहार कौन-से हैं ?

उत्तर—(१) आयुका अर्थ है उम्र या जीवन, जीवनकी अवधिका बढ़ जाना आयुका बढ़ना है ।

(२) सत्त्वका अर्थ है बुद्धि । बुद्धिका निर्मल, तीक्ष्ण एवं यथार्थ तथा सूक्ष्मदर्शिनी होना ही सत्त्वका बढ़ना है ।

(३) बलका अर्थ है, सत्कार्यमें सफलता दिलानेवाली मानसिक और शारीरिक शक्ति । इस आन्तर एवं बाह्य शक्तिका बढ़ना ही बलका बढ़ना है ।

(४) मानसिक और शारीरिक रोगोंका नष्ट होना ही आरोग्यका बढ़ना है ।

(५) हृदयमें सन्तोष, सात्त्विक प्रसन्नता और पुष्टिका होना और मुखादि शरीरके अङ्गोंपर शुद्ध भाव-जनित आनन्दके चिह्नोंका प्रकट होना सुख है; इनकी वृद्धि सुखका बढ़ना है।

(६) चित्तवृत्तिका प्रेमभावसम्पन्न हो जाना और शरीरमें प्रीतिकर चिह्नोंका प्रकट होना ही प्रीतिका बढ़ना है।

उपर्युक्त आयु, बुद्धि और बल आदिको बढ़ानेवाले जो दूध, घी, शाक, फल, चीनी, गेहूँ, जौ, चना, मूँग और चावल आदि सात्त्विक आहार हैं—उन सबको समझानेके लिये उनका यह लक्षण किया गया है।

प्रश्न—वे आहार कैसे होते हैं?

उत्तर—'रस्याः', 'स्निग्धाः', 'स्थिराः' और 'हृद्याः'—इन पदोंसे भगवान्‌ने यही बात समझायी है।

(१) दूध, चीनी आदि रसयुक्त पदार्थोंको 'रस्याः' कहते हैं।

(२) मक्खन, घी तथा सात्त्विक पदार्थोंसे निकाले हुए तैलको और गेहूँ आदि स्नेहयुक्त पदार्थोंको 'स्निग्धाः' कहते हैं।

(३) जिन पदार्थोंका सार बहुत कालतक शरीरमें स्थिर रह सकता है, ऐसे ओज उत्पन्न करनेवाले पदार्थोंको 'स्थिराः' कहते हैं।

(४) जो गंदे और अपवित्र नहीं हैं तथा देखते ही मनमें सात्त्विक रुचि उत्पन्न करनेवाले हैं, ऐसे पदार्थोंको 'हृद्याः' कहते हैं।

प्रश्न—'आहाराः' से क्या तात्पर्य है?

उत्तर—भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चोष्य—इन चार प्रकारके खानेयोग्य पदार्थोंको आहार कहते हैं। इसकी विशेष व्याख्या १५ वें अध्यायके १४ वें श्लोकमें देखनी चाहिये। वहाँ चतुर्विध अन्नके नामसे इसका वर्णन हुआ है।

प्रश्न—भगवान्‌ने पूर्वके श्लोकमें आहारके तीन भेद सुननेको कहा था, परन्तु यहाँ 'सात्त्विकप्रियाः' से आहार करनेवाले पुरुषोंकी बात कैसे कही?

उत्तर—जो पुरुष जिस गुणवाला है, उसको उसी गुणवाला आहार प्रिय होता है। अतएव पुरुषोंकी बात कहनेसे आहारकी बात आप ही आ गयी।

सम्बन्ध—ग्रहण करनेयोग्य सात्त्विक पुरुषोंके आहारका वर्णन करके अब अगले दो श्लोकोंमें त्याग करनेयोग्य राजस और तामस पुरुषोंके आहारका वर्णन करते हैं—

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥

कड़वे, खट्टे, लवणयुक्त, बहुत गरम, तीखे, रूखे, दाहकारक और दुःख, चिन्ता तथा रोगोंको उत्पन्न करनेवाले आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ राजस पुरुषको प्रिय होते हैं ॥ ९ ॥

प्रश्न—कड़वे, खट्टे, लवणयुक्त, अति गरम, तीखे, रूखे और दाहकारक कैसे आहारको कहते हैं?

उत्तर—नीम आदि पदार्थ कड़वे हैं, कुछ लोग कालीमिर्च आदि चरपरे पदार्थोंको कड़वे मानते हैं। इमली आदि खट्टे हैं, क्षार तथा विविध भाँतिके नमक नमकीन हैं, बहुत गरम-गरम वस्तुएँ अति उष्ण हैं,

त्रिविध आहार



१-सात्त्विक—फल, रोटी, दूध आदि । **२-राजस**—मिर्च, अचार, चटनी, इमली, बहुत गरम अन्न, उबलता हुआ दूध आदि ।

३-तामस—मांस, अंडे, बासी, प्याज, शराब और जूँठा भोजन आदि ।

लालमिर्च आदि तीखे हैं, भाड़में भूँजे हुए अन्नादि रूखे हैं और राई आदि पदार्थ दाहकारक हैं।

प्रश्न—'दु:खशोकामयप्रदा:' का क्या भाव है ?

उत्तर—खानेके समय गले आदिमें जो तकलीफ होती है तथा जीभ, तालू आदिका जलना, दाँतोंका आम जाना, चबानेमें दिक्कत होना, आँखों और नाकोंमें पानी आ जाना, हिचकी आना आदि जो कष्ट होते हैं—उन्हें 'दु:ख' कहते हैं। खानेके बाद जो पश्चात्ताप होता है, उसे 'शोक' कहते हैं और खानेसे जो रोग उत्पन्न होते हैं, उन्हें 'आमय' कहते हैं। उपर्युक्त कड़वे, खट्टे आदि पदार्थोंके खानेसे ये दु:ख, शोक और रोग उत्पन्न होते हैं। इसलिये इन्हें 'दु:खशोकामयप्रदा:' कहा है। अतएव इनका त्याग करना उचित है।

प्रश्न—ये राजस पुरुषको प्रिय हैं, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया है कि उपर्युक्त आहार राजस है; अत: जिनको इस प्रकारका आहार प्रिय है, उनको रजोगुणी समझना चाहिये।

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥१०॥

जो भोजन अधपका, रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी और उच्छिष्ट है तथा जो अपवित्र भी है—वह भोजन तामस पुरुषको प्रिय होता है॥१०॥

प्रश्न—'याम' प्रहरको कहते हैं, अतएव 'यातयामम्' का अर्थ जिस भोजनको तैयार हुए एक प्रहर बीत चुका हो—ऐसा न मानकर अधपका क्यों माना गया ? और अधपका भोजन कैसे भोजनको कहते हैं ?

उत्तर—इसी श्लोकमें 'पर्युषितम्' या बासी अन्नको तामस बतलाया गया है। 'यातयामम्'का अर्थ एक पहर पहलेका बना भोजन मान लेनेसे 'बासी' भोजनको तामस बतलानेकी कोई सार्थकता नहीं रह जाती; क्योंकि जब एक ही पहर पहले बना हुआ भोजन भी तामस है, तब एक रात पहले बने भोजनका तामस होना तो यों ही सिद्ध हो जाता है, उसे अलग तामस बतलाना तो व्यर्थ ही है। अतएव यहाँ 'यातयामम्'का अर्थ 'अधपका' ही ठीक है। अधपका उन फलों अथवा उन खाद्य पदार्थोंको समझना चाहिये जो पूरी तरहसे पके न हों, अथवा जिनके सिद्ध होनेमें (सीझनेमें) कमी रह गयी हो।

प्रश्न—'गतरसम्' पद कैसे भोजनका वाचक है ?

उत्तर—अग्नि आदिके संयोगसे, हवासे अथवा मौसिम बीत जाने आदिके कारणोंसे जिन रसयुक्त पदार्थोंका रस सूख गया हो (जैसे संतरे, ऊख आदिका रस सूख जाया करता है)—उनको 'गतरस' कहते हैं।

प्रश्न—'पूति' पद किस प्रकारके भोजनका वाचक है ?

उत्तर—खानेकी जो वस्तुएँ स्वभावसे ही दुर्गन्धयुक्त हों (जैसे प्याज, लहसुन आदि) अथवा जिनमें किसी क्रियासे दुर्गन्ध उत्पन्न कर दी गयी हो, उन वस्तुओंको 'पूति' कहते हैं।

प्रश्न—'पर्युषितम्' पद कैसे भोजनका वाचक है ?

उत्तर—पहले दिनके बनाये हुए भोजनको 'पर्युषित' या बासी कहते हैं। रात बीत जानेसे ऐसे खाद्य पदार्थोंमें विकृति उत्पन्न हो जाती है और उनके खानेसे

नाना प्रकारके रोग उत्पन्न होते हैं। उन फलोंको भी बासी समझना चाहिये जिनमें पेड़से तोड़े बहुत समय बीत जानेके कारण विकार उत्पन्न हो गया हो।

प्रश्न—'उच्छिष्ट' कैसे भोजनका वाचक है?

उत्तर—अपने या दूसरेके भोजन कर लेनेपर बची हुई जूठी चीजोंको 'उच्छिष्ट' कहते हैं।

प्रश्न—'अमेध्यम्' पद कैसे भोजनका वाचक है?

उत्तर—मांस, अण्डे आदि हिंसामय और शराब-ताड़ी आदि निषिद्ध मादक वस्तुएँ—जो स्वभावसे ही अपवित्र हैं अथवा जिनमें किसी प्रकारके सङ्गदोषसे, किसी अपवित्र वस्तु, स्थान, पात्र या व्यक्तिके संयोगसे या अन्याय और अधर्मसे उपार्जित असत् धनके द्वारा प्राप्त होनेके कारण अपवित्रता आ गयी हो—उन सब वस्तुओंको 'अमेध्य' कहते हैं। ऐसे पदार्थ देव-पूजनमें भी निषिद्ध माने गये हैं।

प्रश्न—'च' और 'अपि' इन अव्ययोंका प्रयोग करके क्या भाव दिखलाया गया है?

उत्तर—इनके प्रयोगसे यह भाव दिखलाया गया है कि जिन वस्तुओंमें उपर्युक्त दोष थोड़े या अधिक हों, वे सब वस्तुएँ तो तामस हैं ही; उनके सिवा गाँजा, भाँग, अफीम, तम्बाकू, सिगरेट-बीड़ी, अर्क, आसव और अपवित्र दवाइयाँ आदि तमोगुण उत्पन्न करनेवाली जितनी भी खान-पानकी वस्तुएँ हैं—सभी तामस हैं।

प्रश्न—ऐसा भोजन तामस पुरुषोंको प्रिय होता है—इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि उपर्युक्त लक्षणोंसे युक्त भोजन तामस है और तामस प्रकृतिवाले मनुष्य ऐसे ही भोजनको पसंद किया करते हैं, यह उनकी पहचान है।

सम्बन्ध—इस प्रकार भोजनके तीन भेद बतलाकर अब यज्ञके तीन भेद बतलाये जाते हैं; उनमें पहले, करनेयोग्य सात्त्विक यज्ञके लक्षण बतलाते हैं—

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः॥११॥

जो शास्त्रविधिसे नियत यज्ञ, करना ही कर्तव्य है—इस प्रकार मनको समाधान करके, फल न चाहनेवाले पुरुषोंद्वारा किया जाता है, वह सात्त्विक है॥११॥

प्रश्न—'विधिदृष्टः' पदका क्या अर्थ है और यहाँ इस विशेषणके प्रयोगका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'विधिदृष्टः'से भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि श्रौत और स्मार्त यज्ञोंमेंसे जिस वर्ण या आश्रमके लिये शास्त्रोंमें जिस यज्ञका कर्तव्यरूपसे विधान किया गया है, वह शास्त्रविहित यज्ञ ही सात्त्विक है। शास्त्रके विपरीत मनमाना यज्ञ सात्त्विक नहीं है।

प्रश्न—यहाँ 'यज्ञः' पद किसका वाचक है?

उत्तर—देवता आदिके उद्देश्यसे घृतादिके द्वारा अग्निमें हवन करना या अन्य किसी प्रकारसे किसी भी वस्तुका समर्पण करना 'यज्ञ' कहलाता है।

प्रश्न—करना ही कर्तव्य है—इस प्रकार मनका

समाधान करके किये हुए यज्ञको सात्त्विक बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जो यज्ञ किसी फलकी इच्छासे किया जाता है, वह शास्त्रविहित होनेपर भी पूर्णरूपसे सात्त्विक नहीं हो सकता । और यदि फलकी इच्छा ही न हो तो फिर कर्म करनेकी आवश्यकता ही क्या है, ऐसी शङ्का हो जानेपर मनुष्यकी यज्ञमें प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती; अतएव 'करना ही कर्त्तव्य है' इस प्रकार मनका समाधान करके किये जानेवाले यज्ञको सात्त्विक बतलाकर भगवान्‌ने यह भाव प्रकट किया है कि अपने-अपने वर्णाश्रमके अनुसार जिस यज्ञका जिसके लिये शास्त्रोंमें विधान है, उसको अवश्य करना चाहिये । ऐसे शास्त्रविहित कर्त्तव्यरूप यज्ञका न करना भगवान्‌के आदेशका उल्लङ्घन करना है—इस प्रकार यज्ञ करनेके लिये मनमें दृढ़ निश्चय करके जो यज्ञ किया जाता है, वही यज्ञ सात्त्विक होता है ।

प्रश्न—'अफलाकाङ्क्षिभिः' पद कैसे कर्त्ताका वाचक है और उनके द्वारा किये हुए यज्ञको सात्त्विक बतलानेका क्या भाव है ?

उत्तर—यज्ञ करनेवाले जो पुरुष उस यज्ञसे स्त्री, पुत्र, धन, मकान, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा, विजय या स्वर्ग आदिकी प्राप्ति एवं किसी प्रकारके अनिष्टकी निवृत्तिरूप इस लोक या परलोकके किसी प्रकारके सुखभोग या दुःखनिवृत्तिकी जरा भी इच्छा नहीं करते—उनका वाचक 'अफलाकाङ्क्षिभिः' पद है (६ । १) । उनके द्वारा किये हुए यज्ञको सात्त्विक बतलाकर यहाँ यह भाव दिखलाया गया है कि फलकी इच्छासे किया हुआ यज्ञ विधिपूर्वक किया जानेपर भी पूर्ण सात्त्विक नहीं हो सकता, सात्त्विक भावकी पूर्णताके लिये फलेच्छाका त्याग परमावश्यक है ।

सम्बन्ध-अब राजस यज्ञके लक्षण बतलाते हैं—

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥१२॥

परन्तु हे अर्जुन ! जो यज्ञ केवल दम्भाचरणके लिये अथवा फलको भी दृष्टिमें रखकर किया जाता है, उस यज्ञको तू राजस जान ॥१२॥

प्रश्न—'तु' अव्ययका प्रयोग किसलिये किया गया है ?

उत्तर—सात्त्विक यज्ञसे इसका भेद दिखलानेके लिये 'तु' अव्ययका प्रयोग किया गया है ।

प्रश्न—दम्भके लिये यज्ञ करना क्या है ?

उत्तर—यज्ञ-कर्ममें आस्था न होनेपर भी जगत्‌में अपनेको 'यज्ञनिष्ठ' प्रसिद्ध करनेके उद्देश्यसे जो यज्ञ किया जाता है, उसे दम्भके लिये यज्ञ करना कहते हैं ।

प्रश्न—फलका उद्देश्य रखकर यज्ञ करना क्या है ?

उत्तर—स्त्री, पुत्र, धन, मकान, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा, विजय और स्वर्गादिकी प्राप्तिरूप इस लोक और परलोकके सुख-भोगोंके लिये या किसी प्रकारके अनिष्टकी निवृत्तिके लिये जो यज्ञ करना है—वह फल-प्राप्तिके उद्देश्यसे यज्ञ करना है ।

प्रश्न—'एव', 'अपि' और 'च'—इन अव्ययोंके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—इनके प्रयोगसे भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि जो यज्ञ किसी फलप्राप्तिके उद्देश्यसे किया गया है,

वह शास्त्रविहित और श्रद्धापूर्वक किया हुआ होनेपर भी राजस है, एवं जो दम्भपूर्वक किया जाता है वह भी राजस है; फिर जिसमें ये दोनों दोष हों उसके 'राजस' होनेमें तो कहना ही क्या है ?

सम्बन्ध—अब तामस यज्ञके लक्षण बतलाये जाते हैं, जो कि सर्वथा त्याज्य हैं—

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥ १३ ॥

शास्त्रविधिसे हीन, अन्नदानसे रहित, बिना मन्त्रोंके, बिना दक्षिणाके और बिना श्रद्धाके किये जानेवाले यज्ञको तामस यज्ञ कहते हैं ॥ १३ ॥

प्रश्न—'विधिहीनम्' पद कैसे यज्ञका वाचक है ?

उत्तर—जो यज्ञ शास्त्रविहित न हो या जिसके सम्पादनमें शास्त्रविधिकी कमी हो, अथवा जो शास्त्रोक्त विधानकी अवहेलना करके मनमाने ढंगसे किया गया हो, उसे 'विधिहीन' कहते हैं ।

प्रश्न—'असृष्टान्नम्' पद कैसे यज्ञका वाचक है ?

उत्तर—जिस यज्ञमें ब्राह्मण-भोजन या अन्नदान आदिके रूपमें अन्नका त्याग नहीं किया गया हो, उसे 'असृष्टान्न' कहते हैं ।

प्रश्न—'मन्त्रहीनम्' पद कैसे यज्ञका बोधक है ?

उत्तर—जो यज्ञ शास्त्रोक्त मन्त्रोंसे रहित हो, जिसमें मन्त्र-प्रयोग हुए ही न हों या विधिवत् न हुए हों, अथवा अवहेलनासे त्रुटि रह गयी हो—उस यज्ञको 'मन्त्रहीन' कहते हैं ।

प्रश्न—'अदक्षिणम्' पद कैसे यज्ञका वाचक है ?

उत्तर—जिस यज्ञमें यज्ञ करनेवालोंको एवं अन्यान्य ब्राह्मण-समुदायको दक्षिणा न दी गयी हो, उसे 'अदक्षिण' कहते हैं ।

प्रश्न—'श्रद्धाविरहित' कौन-सा यज्ञ है ?

उत्तर—जो यज्ञ बिना श्रद्धाके केवल मान, मद, मोह, दम्भ और अहङ्कार आदिकी प्रेरणासे किया जाता है—उसे 'श्रद्धाविरहित' कहते हैं ।

सम्बन्ध—इस प्रकार तीन तरहके यज्ञोंका लक्षण बतलाकर, अब तपके लक्षणोंका प्रकरण आरम्भ करते हैं और चार श्लोकोंद्वारा सात्त्विक तपका लक्षण बतलानेके लिये पहले शारीरिक तपके स्वरूपका वर्णन करते हैं—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥ १४ ॥

देवता, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानीजनोंका पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—यह शरीरसम्बन्धी तप कहा जाता है ॥ १४ ॥

प्रश्न—'देव', 'द्विज', 'गुरु' और 'प्राज्ञ'—ये शब्द किन-किनके वाचक हैं और उनका 'पूजन करना' क्या है ?

उत्तर—ब्रह्मा, विष्णु, महादेव, सूर्य, चन्द्रमा, दुर्गा, अग्नि, वरुण, यम, इन्द्र आदि जितने भी शास्त्रोक्त देवता हैं—शास्त्रोंमें जिनके पूजनका विधान है—उन सबका वाचक यहाँ 'देव' शब्द है। 'द्विज' शब्द ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—इन तीनों वर्णोंका वाचक होनेपर भी यहाँ केवल ब्राह्मणोंहीके लिये प्रयुक्त है। क्योंकि शास्त्रानुसार ब्राह्मण ही सबके पूज्य हैं। 'गुरु' शब्द यहाँ माता, पिता, आचार्य, वृद्ध एवं अपनेसे जो वर्ण, आश्रम और आयु आदिमें किसी प्रकार भी बड़े हों, उन सबका वाचक है। तथा 'प्राज्ञ' शब्द यहाँ परमेश्वरके स्वरूपको भलीभाँति जाननेवाले महात्मा ज्ञानी पुरुषोंका वाचक है। इन सबका यथायोग्य आदर-सत्कार करना; इनको नमस्कार करना; दण्डवत्-प्रणाम करना; इनके चरण धोना; इन्हें चन्दन, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य आदि समर्पण करना; इनकी यथायोग्य सेवा आदि करना और इन्हें सुख पहुँचानेकी उचित चेष्टा करना आदि इनका पूजन करना है।

प्रश्न—'शौचम्' पद यहाँ किस शौचका वाचक है ?

उत्तर—'शौचम्' पद यहाँ केवल शारीरिक शौचका वाचक है। क्योंकि वाणीकी शुद्धिका वर्णन पंद्रहवें श्लोकमें और मनकी शुद्धिका वर्णन सोलहवें श्लोकमें अलग किया गया है। जल-मृत्तिकादिके द्वारा शरीरको स्वच्छ और पवित्र रखना एवं शरीरसम्बन्धी समस्त चेष्टाओंका पवित्र होना ही 'शौच' है (१६।३)।

प्रश्न—'आर्जवम्' पद यहाँ किसका वाचक है ?

उत्तर—'आर्जवम्' पद सीधेपनका वाचक है। यहाँ शारीरिक तपके निरूपणमें इसका वर्णन किया गया है, अतएव यह शरीरकी अकड़ और ऐंठ आदि वक्रताके त्यागका और शारीरिक सरलताका वाचक है।

प्रश्न—'ब्रह्मचर्यम्' का क्या भाव है ?

उत्तर—यहाँ 'ब्रह्मचर्यम्' पद शरीर-सम्बन्धी सब प्रकारके मैथुनोंके त्याग और भलीभाँति वीर्य धारण करनेका बोधक है।

प्रश्न—'अहिंसा' पद किसका वाचक है ?

उत्तर—शरीरद्वारा किसी भी प्राणीको किसी भी प्रकारसे कभी जरा भी कष्ट न पहुँचानेका नाम ही यहाँ 'अहिंसा' है।

प्रश्न—इन सबको 'शारीरिक तप' कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—उपर्युक्त क्रियाओंमें शरीरकी प्रधानता है अर्थात् इनसे शरीरका विशेष सम्बन्ध है और ये इन्द्रियोंके सहित शरीरको उसके समस्त दोषोंका नाश करके पवित्र बना देनेवाली हैं, इसलिये इन सबको 'शारीरिक तप' कहते हैं।

सम्बन्ध—अब वाणीसम्बन्धी तपका स्वरूप बतलाते हैं—

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥१५॥

जो उद्वेगको न करनेवाला, प्रिय और हितकारक एवं यथार्थ भाषण है तथा जो वेद-शास्त्रोंके पठन एवं परमेश्वरके नाम-जपका अभ्यास है—वही वाणीसम्बन्धी तप कहा जाता है ॥१५॥

प्रश्न–'अनुद्वेगकरम्', 'सत्यम्' और 'प्रियहितम्'—इन विशेषणोंका क्या अर्थ है और 'वाक्यम्' पदके साथ इनके प्रयोगका तथा 'च' अव्ययका क्या भाव है ?

उत्तर–जो वचन किसीके भी मनमें जरा भी उद्वेग उत्पन्न करनेवाले न हों तथा निन्दा या चुगली आदि दोषोंसे सर्वथा रहित हों–उन्हें 'अनुद्वेगकर' कहते हैं। जैसा देखा, सुना और अनुभव किया हो, ठीक वैसा-का-वैसा ही भाव दूसरेको समझानेके लिये जो यथार्थ वचन बोले जायँ–उनको 'सत्य' कहते हैं। जो सुननेवालेको प्रिय लगते हों तथा कटुता, रूखापन, तीखापन, ताना और अपमानके भाव आदि दोषोंसे सर्वथा रहित हों–ऐसे प्रेमयुक्त मीठे, सरल और शान्त वचनोंको 'प्रिय' कहते हैं। तथा जिनसे परिणाममें सबका हित होता हो; जो हिंसा, द्वेष, डाह, वैरसे सर्वथा शून्य हों और प्रेम, दया तथा मङ्गलसे भरे हों–उनको 'हित' कहते हैं।

'वाक्यम्' पदके साथ 'च'का प्रयोग करके भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि जिस वाक्यमें अनुद्वेगकारिता, सत्यता, प्रियता, हितकारिता—इन सभी गुणोंका समावेश हो एवं जो शास्त्रवर्णित वाणी-सम्बन्धी सब प्रकारके दोषोंसे रहित हो–उसी वाक्यके उच्चारणको वाङ्मय तप माना जा सकता है; जिसमें इन दोषोंका कुछ भी समावेश हो या उपर्युक्त गुणोंमेंसे किसी गुणका अभाव हो, वह वाक्य साङ्गोपाङ्ग वाङ्मय (वाणीसम्बन्धी) तप नहीं है।

प्रश्न–'स्वाध्यायाभ्यसनम्'का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर–वेद, वेदाङ्ग, स्मृति, पुराण और स्तोत्रादिका पाठ करना; भगवान्के गुण, प्रभाव और नामोंका उच्चारण करना तथा भगवान्की स्तुति आदि करना—सभी 'स्वाध्यायाभ्यसनम्' पदसे गृहीत होते हैं।

प्रश्न–इन सबको वाङ्मय तप कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर–उपर्युक्त सभी गुण वाणीसे सम्बन्ध रखनेवाले और वाणीके समस्त दोषोंको नाश करके अन्तःकरणके सहित उसे पवित्र बना देनेवाले हैं, इसलिये इनको वाणीसम्बन्धी तप बतलाया गया है।

सम्बन्ध—अब मनसम्बन्धी तपका स्वरूप बतलाते हैं—

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥ १६ ॥

मनकी प्रसन्नता, शान्तभाव, भगवच्चिन्तन करनेका स्वभाव, मनका निग्रह और अन्तःकरणकी पवित्रता–इस प्रकार यह मनसम्बन्धी तप कहा जाता है ॥ १६ ॥

प्रश्न–'मनःप्रसादः'का क्या भाव है ?

उत्तर–मनकी निर्मलता और प्रसन्नताको 'मनः-प्रसाद' कहते हैं। अर्थात् विषाद-भय, चिन्ता-शोक, व्याकुलता-उद्विग्नता आदि दोषोंसे रहित होकर मनका विशुद्ध होना तथा प्रसन्नता, हर्ष और बोधशक्तिसे युक्त हो जाना ही 'मनका प्रसाद' है।

प्रश्न–'सौम्यत्व' किसको कहते हैं ?

उत्तर–रूक्षता, डाह, हिंसा, प्रतिहिंसा, क्रूरता, निर्दयता आदि तापकारक दोषोंसे सर्वथा शून्य होकर मनका सदा-सर्वदा शान्त और शीतल बने रहना ही 'सौम्यत्व' है।

प्रश्न–'मौनम्' पदका क्या भाव है ?

उत्तर—मनका निरन्तर भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, स्वरूप, लीला और नाम आदिके चिन्तनमें या ब्रह्मविचारमें लगे रहना ही 'मौन' है।

प्रश्न—'आत्मविनिग्रह' क्या है ?

उत्तर—अन्तःकरणकी चञ्चलताका सर्वथा नाश होकर उसका स्थिर तथा अपने वशमें हो जाना ही 'आत्मविनिग्रह' है।

प्रश्न—'भावसंशुद्धि' किसे कहते हैं ?

उत्तर—अन्तःकरणमें राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह, मद-मत्सर, ईर्ष्या-वैर, घृणा-तिरस्कार, असूया-असहिष्णुता, प्रमाद-व्यर्थविचार, इष्टविरोध और अनिष्टचिन्तन आदि दुर्भावोंका सर्वथा नष्ट हो जाना और इनके विरोधी दया, क्षमा, प्रेम, विनय आदि समस्त सद्भावोंका सदा विकसित रहना 'भावसंशुद्धि' है।

प्रश्न—इन सब गुणोंको मानस (मन-सम्बन्धी) तप कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—ये सभी गुण मनसे सम्बन्ध रखनेवाले और मनको समस्त दोषोंसे रहित करके परम पवित्र बना देनेवाले हैं; इसलिये इनको मानस-तप बतलाया गया है।

सम्बन्ध—अब सात्त्विक तपके लक्षण बतलाते हैं—

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥१७॥

फलको न चाहनेवाले योगी पुरुषोंद्वारा परम श्रद्धासे किये हुए उस पूर्वोक्त तीन प्रकारके तपको सात्त्विक कहते हैं ॥ १७ ॥

प्रश्न—'नरैः' पदके साथ 'अफलाकाङ्क्षिभिः' और 'युक्तैः'—इन दोनों विशेषणोंका प्रयोग करके क्या भाव दिखलाया है ?

उत्तर—जो मनुष्य इस लोक या परलोकके, किसी प्रकारके भी सुखभोग अथवा दुःखकी निवृत्तिरूप फलकी, कभी किसी भी कारणसे किञ्चिन्मात्र भी कामना नहीं करता, उसे 'अफलाकाङ्क्षी' कहते हैं; और जिसके मन, बुद्धि और इन्द्रिय अनासक्त, निगृहीत तथा शुद्ध होनेके कारण, कभी किसी भी प्रकारके भोगके सम्बन्धसे विचलित नहीं हो सकते, जिसमें आसक्तिका सर्वथा अभाव हो गया है, उसे 'युक्त' कहते हैं। अतः इनका प्रयोग करके निष्कामभावकी प्रयोजनीयताको सिद्ध करते हुए भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि उपर्युक्त तीन प्रकारका तप जब ऐसे निष्काम पुरुषोंद्वारा किया जाता है तभी वह पूर्ण सात्त्विक होता है।

प्रश्न—'परम श्रद्धा' कैसी श्रद्धाको कहते हैं और उसके साथ तीन प्रकारके तपका करना क्या है ?

उत्तर—शास्त्रोंमें उपर्युक्त तपका जो कुछ भी महत्त्व, प्रभाव और स्वरूप बतलाया गया है—उसपर प्रत्यक्षसे भी बढ़कर सम्मानपूर्वक पूर्ण विश्वास होना 'परमश्रद्धा' है और ऐसी श्रद्धासे युक्त होकर बड़े-से-बड़े विघ्नों या कष्टोंकी कुछ भी परवा न करके सदा अविचलित रहते हुए अत्यन्त आदर और उत्साहपूर्वक तपका आचरण करते रहना ही उसे परम श्रद्धासे करना है।

प्रश्न—'तपः' पदके साथ 'तत्' और 'त्रिविधम्'—इन विशेषणोंके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—इनका प्रयोग करके भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि शरीर, वाणी और मन-सम्बन्धी उपर्युक्त तप ही सात्त्विक हो सकते हैं। इनसे भिन्न जो अन्य प्रकारके कायिक, वाचिक और मानसिक तप हैं—जिनका इसी अध्यायके पाँचवें श्लोकमें 'अशास्त्रविहितम्' और 'घोरम्' विशेषण लगाकर निरूपण किया गया है—वे तप सात्त्विक नहीं होते। साथ ही यह भी दिखलाया है कि चौदहवें, पंद्रहवें और सोलहवें श्लोकोंमें जिन कायिक, वाचिक और मानसिक तपोंका स्वरूप बतलाया गया है—वे स्वरूपसे तो सात्त्विक हैं; परन्तु वे पूर्ण सात्त्विक तब होते हैं, जब इस श्लोकमें बतलाये हुए भावसे किये जाते हैं।

सम्बन्ध—अब राजस तपके लक्षण बतलाये जाते हैं—

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्॥१८॥

जो तप सत्कार, मान और पूजाके लिये अथवा केवल पाखण्डसे ही किया जाता है, वह अनिश्चित एवं क्षणिक फलवाला तप यहाँ राजस कहा गया है॥१८॥

प्रश्न—यहाँ 'तपः'के साथ 'यत्' पदका प्रयोग करनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—यहाँ 'तपः'के साथ 'यत्' पदका प्रयोग करके भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि शास्त्रोंमें जितने भी व्रत, उपवास और संयम आदि तपोंके वर्णन हैं—वे सभी तप यदि सत्कार, मान और पूजाके लिये अथवा दम्भसे प्रेरित होकर किये जाते हैं, तो राजस तपकी श्रेणीमें आ जाते हैं।

प्रश्न—सत्कार, मान और पूजाके लिये 'तप' करना क्या है?

उत्तर—तपकी प्रसिद्धिसे जो इस प्रकार जगत्‌में बड़ाई होती है कि अमुक मनुष्य बड़ा भारी तपस्वी है, उसकी बराबरी कौन कर सकता है, वह बड़ा श्रेष्ठ है आदि—उसका नाम 'सत्कार' है। किसीको तपस्वी समझकर उसका स्वागत करना, अदबसे उसके सामने खड़े हो जाना, प्रणाम करना, मानपत्र देना या अन्य किसी क्रियासे उसका आदर करना 'मान' है। तथा उसकी आरती उतारना, पैर धोना, पत्र-पुष्पादि षोडशोपचारसे पूजा करना, उसकी आज्ञाका पालन करना—इन सबका नाम 'पूजा' है।

इस प्रकारके सत्कार, मान और पूजनके लिये जो लौकिक या शास्त्रीय तपका आचरण किया जाता है—वही सत्कार, मान और पूजनके लिये तप करना है।

प्रश्न—दम्भसे 'तप' करना क्या है?

उत्तर—तपमें वस्तुतः आस्था न होनेपर भी लोगोंको धोखा देनेके लिये तपस्वीका-सा स्वाँग रचकर जो किसी लौकिक या शास्त्रीय तपका बाहरसे दिखानेभरके लिये आचरण किया जाता है, उसे दम्भसे तप करना कहते हैं।

प्रश्न—जो तप उपर्युक्त दोनों लक्षणोंसे युक्त हो, वही 'राजस' माना जाता है या दोनोंमें किसी भी एक लक्षणसे युक्त होनेपर ही राजस हो जाता है?

उत्तर—जो तप सत्कार आदिकी कामना और दम्भकी प्रेरणा—इन दोनोंमेंसे किसी भी एक लक्षणसे युक्त है, वही राजस है। फिर जो दोनों लक्षणोंसे युक्त है, उसके लिये तो कहना ही क्या है।

प्रश्न—राजस तपको 'अध्रुव' और 'चल' कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जिस फलकी प्राप्तिके लिये उसका अनुष्ठान किया जाता है, उसका प्राप्त होना या न होना निश्चित नहीं है; इसलिये उसे 'अध्रुव' कहा है और जो कुछ फल मिलता है, वह भी सदा नहीं रहता, उसका निश्चय ही नाश हो जाता है—इसलिये उसे 'चल' कहा है।

सम्बन्ध—अब तामस तपके लक्षण बतलाते हैं—

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥१९॥

जो तप मूढतापूर्वक हठसे, मन, वाणी और शरीरकी पीड़ाके सहित अथवा दूसरेका अनिष्ट करनेके लिये किया जाता है—वह तप तामस कहा गया है ॥१९॥

प्रश्न—यहाँ 'तपः' के साथ 'यत्' पदके प्रयोगका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जिस तपका वर्णन इसी अध्यायके ५वें और छठे श्लोकोंमें किया गया है; जो अशास्त्रीय, मनःकल्पित, घोर और स्वभावसे ही तामस है; जिसमें दम्भकी प्रेरणासे या अज्ञानसे पैरोंको पेड़की डालीमें बाँधकर सिर नीचा करके लटकना, लोहेके काँटोंपर बैठना तथा इसी प्रकारकी अन्यान्य घोर क्रियाएँ करके तपका आडम्बर रचा जाता है—यहाँ 'तामस तप' के नामसे उसीका निर्देश है, यही भाव दिखलानेके लिये 'तपः' के साथ 'यत्' पदका प्रयोग किया गया है ।

प्रश्न—'मूढग्राह' किसको कहते हैं और उसके द्वारा तप करना क्या है ?

उत्तर—तपके वास्तविक लक्षणोंको न समझकर जिस किसी भी क्रियाको तप मानकर उसे करनेका जो हठ या दुराग्रह है, उसे 'मूढग्राह' कहते हैं । और ऐसे आग्रहसे किसी शारीरिक, वाचिक या मानसिक कष्ट सहन करनेकी तामसी क्रियाको तप समझकर करना ही मूढतापूर्ण आग्रहसे तप करना है ।

प्रश्न—आत्मसम्बन्धी पीड़ाके सहित तप करना क्या है ?

उत्तर—यहाँ 'आत्मा' शब्द मन, वाणी और शरीर—इन सभीका वाचक है और इन सबसे सम्बन्ध रखनेवाला जो कष्ट है, उसीको 'आत्मसम्बन्धी पीडा' कहते हैं । अतएव मन, वाणी और शरीर—इन सबको या इनमेंसे किसी एकको अनुचित कष्ट पहुँचाकर जो अशास्त्रीय तप किया जाता है, उसीको आत्मसम्बन्धी पीडाके सहित तप करना कहते हैं ।

प्रश्न—दूसरोंका अनिष्ट करनेके लिये तप करना क्या है ?

उत्तर—दूसरोंकी सम्पत्तिका हरण करने, उसका नाश करने, उनके वंशका उच्छेद करने अथवा उनका किसी प्रकार कुछ भी अनिष्ट करनेके लिये तपके नामसे जो अपने मन, वाणी और शरीरको ताप पहुँचाना है—वही दूसरोंका अनिष्ट करनेके लिये तप करना है ।

प्रश्न—यहाँ 'वा' अव्ययके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—'वा' अव्ययका प्रयोग करके भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि जो तप उपर्युक्त लक्षणोंमेंसे किसी एक लक्षणसे भी युक्त है, वह भी तामस ही है ।

सम्बन्ध—तीन प्रकारके तपोंका लक्षण करके अब दानके तीन भेद बतलानेके लिये पहले सात्त्विक दानके लक्षण कहते हैं—

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥२०॥

दान देना ही कर्त्तव्य है—ऐसे भावसे जो दान देश, काल और पात्रके प्राप्त होनेपर उपकार न करनेवालेके प्रति दिया जाता है, वह दान सात्त्विक कहा गया है ॥ २० ॥

प्रश्न—यहाँ 'इति' अव्ययके सहित 'दातव्यम्' पदके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—इनका प्रयोग करके भगवान् सत्त्वगुणकी पूर्णतामें निष्कामभावकी प्रधानताका प्रतिपादन करते हुए यह दिखलाते हैं कि वर्ण, आश्रम, अवस्था और परिस्थितिके अनुसार शास्त्रविहित दान करना—अपने स्वत्वको यथाशक्ति दूसरोंके हितमें लगाना मनुष्यका परम कर्त्तव्य है । यदि वह ऐसा नहीं करता तो मनुष्यत्वसे गिरता है और भगवान्‌के कल्याणमय आदेशका अनादर करता है । तथा जो दान केवल इस कर्त्तव्य-बुद्धिसे ही दिया जाता है, जिसमें इस लोक और परलोकके किसी भी फलकी जरा भी अपेक्षा नहीं होती—वही दान पूर्ण सात्त्विक है ।

प्रश्न—यहाँ 'देश' और 'काल' शब्द किस देश-कालके वाचक हैं ?

उत्तर—जिस देश और जिस कालमें जिस वस्तुकी आवश्यकता हो, उस वस्तुके दानद्वारा सबको यथा-योग्य सुख पहुँचानेके लिये वही योग्य देश और काल है । जैसे—जिस देशमें, जिस समय दुर्भिक्ष या सूखा पड़ा हो, अन्न और जलका दान करनेके लिये वही देश और वही समय योग्य देश-काल है—चाहे वह तीर्थस्थल या पर्व-काल न हो । इसके अतिरिक्त साधारण अवस्थामें कुरुक्षेत्र, हरिद्वार, मथुरा, काशी, प्रयाग, नैमिषारण्य आदि तीर्थस्थान और ग्रहण, पूर्णिमा, अमावास्या, संक्रान्ति, एकादशी आदि पुण्य काल—जो दानके लिये शास्त्रोंमें प्रशस्त माने गये हैं—वे तो योग्य देश-काल हैं ही । इन्हीं सबके वाचक 'देश' और 'काल' शब्द हैं ।

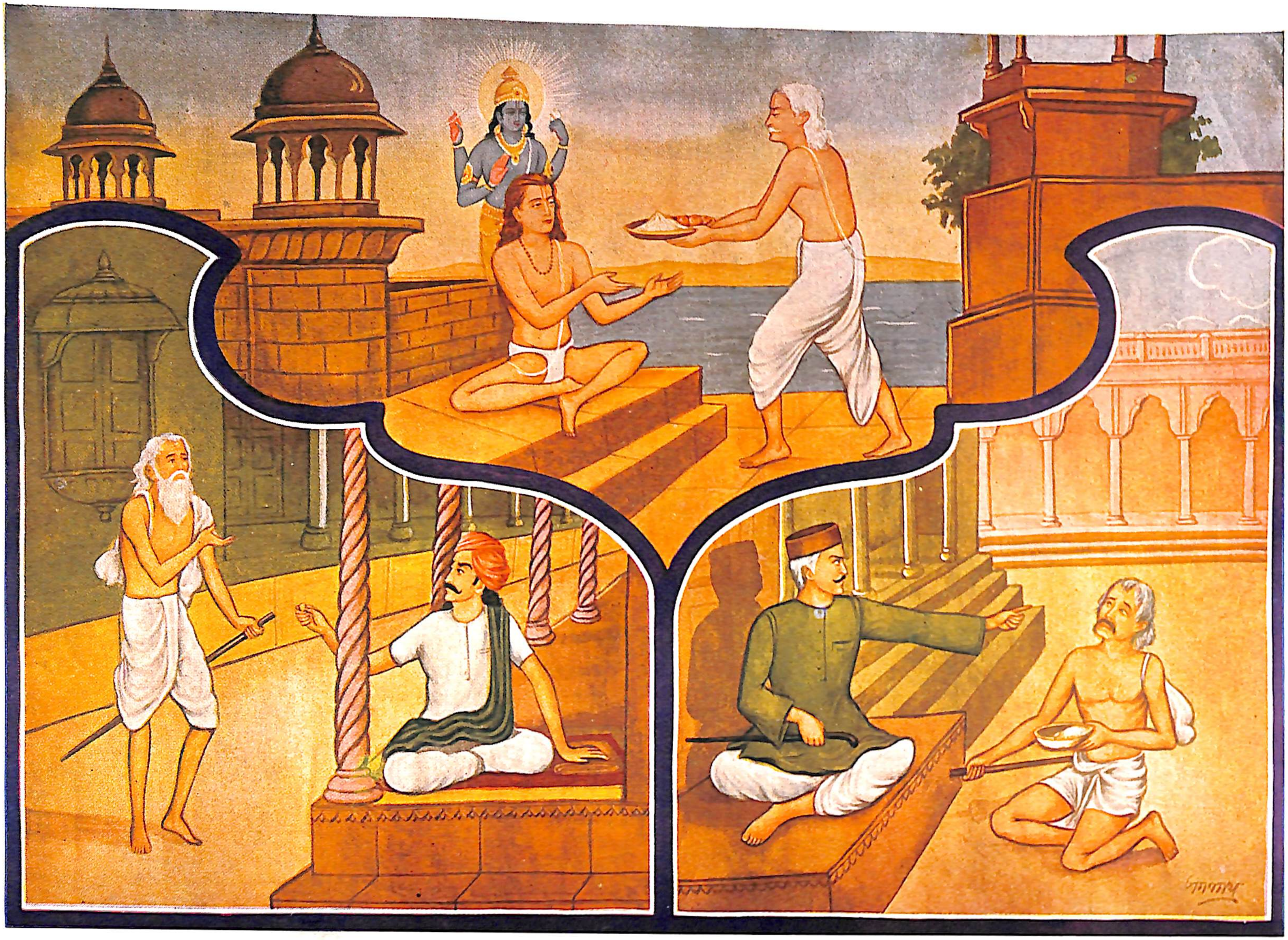
प्रश्न—'पात्र' शब्द किसका वाचक है ।

उत्तर—जिसके पास जहाँ जिस समय जिस वस्तुका अभाव हो, वह वहीं और उसी समय उस वस्तुके दानका पात्र है । जैसे—भूखे, प्यासे, नंगे, दरिद्र, रोगी, आर्त्त, अनाथ और भयभीत प्राणी अन्न, जल, वस्त्र, निर्वाहयोग्य धन, औषध, आश्वासन, आश्रय और अभयदानके पात्र हैं । आर्त्त प्राणियोंकी पात्रतामें जाति, देश और कालका कोई बन्धन नहीं है । उनकी आतुर-दशा ही पात्रताकी पहचान है । इसीके साथ-साथ वे श्रेष्ठ आचरणोंवाले विद्वान् ब्राह्मण, उत्तम ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी तथा सेवाव्रती लोग—जिनको यथाशक्ति दान देना शास्त्रमें कर्त्तव्य बतलाया गया है—अपने-अपने वर्णाश्रमके अनुसार धन आदि सभी आवश्यक वस्तुओंके दानके पात्र हैं ।

प्रश्न—यहाँ 'अनुपकारिणे' पदका प्रयोग किस उद्देश्यसे किया गया है ? क्या अपना उपकार करने-वालोंको कुछ देना अनुचित या राजस दान है ?

उत्तर—जिसका अपने ऊपर उपकार है, उसकी सेवा करना तथा यथासाध्य उसे सुख पहुँचानेका प्रयास

सात्त्विक



राजस त्रिविध दान तामस

(१७ । २०, २१, २२)

करना तो मनुष्यका कर्त्तव्य ही है। कर्त्तव्य ही नहीं, अच्छे मनुष्य उपकारीकी सेवा किये बिना रह ही नहीं सकते। वे जानते हैं कि सच्चे उपकारका बदला चुकाने जाना तो उसका तिरस्कार करना है, क्योंकि सच्चे उपकारका बदला तो कोई चुका नहीं सकता; इसलिये वे केवल आत्मसन्तोषके लिये उसकी सेवा करते हैं और जितनी करते हैं, उतनी ही उनकी दृष्टिमें थोड़ी ही जँचती है। वे तो कृतज्ञतासे दबे रहते हैं। श्रीरामचरितमानसमें भगवान् श्रीराम भक्त हनूमान्‌से कहते हैं—

सुनु कपि तोहि समान उपकारी।
नहिं कोउ सुर नर मुनि तनुधारी॥
प्रति उपकार करौं का तोरा।
सनमुख होइ न सकत मन मोरा॥

श्रीमद्भागवतमें भगवान् श्रीकृष्ण अपनेको श्रीगोपीजनोंका ऋणी घोषित करते हैं। ऐसी अवस्थामें उपकार करनेवालोंको कुछ देना अनुचित या राजस कदापि नहीं हो सकता; परन्तु वह 'दान'की श्रेणीमें नहीं है। वह तो कृतज्ञताप्रकाशकी एक स्वाभाविक चेष्टा होती है। उसे जो लोग दान समझते हैं, वे वस्तुतः उपकारीका तिरस्कार करते हैं और जो लोग उपकारीकी सेवा नहीं करना चाहते, वे तो कृतघ्नकी श्रेणीमें हैं; अतएव अपना उपकार करनेवालेकी तो सेवा करनी ही चाहिये। यहाँ अनुपकारीको दान देनेकी बात कहकर भगवान् यह भाव दिखलाते हैं कि दान देनेवाला दानके पात्रसे बदलेमें किसी प्रकारके जरा भी उपकार पानेकी इच्छा न रक्खे। जिससे किसी भी प्रकारका अपना स्वार्थका सम्बन्ध मनमें नहीं है, उस मनुष्यको जो दान दिया जाता है—वही सात्त्विक है। इससे वस्तुतः दाताकी स्वार्थबुद्धिका ही निषेध किया गया है।

सम्बन्ध—अब राजस दानके लक्षण बतलाते हैं—

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्॥२१॥

किन्तु जो दान क्लेशपूर्वक तथा प्रत्युपकारके प्रयोजनसे अथवा फलको दृष्टिमें रखकर फिर दिया जाता है, वह दान राजस कहा गया है॥२१॥

प्रश्न—'तु' का क्या अभिप्राय है?

उत्तर—यहाँ 'तु' का प्रयोग सात्त्विक दानसे राजस दानका भेद दिखलानेके लिये किया गया है।

प्रश्न—क्लेशपूर्वक दान देना क्या है?

उत्तर—किसीके धरना देने, हठ करने या भय दिखलाने अथवा प्रतिष्ठित और प्रभावशाली पुरुषोंके कुछ दबाव डालनेपर बिना ही इच्छाके मनमें विषाद और दुःखका अनुभव करते हुए निरुपाय होकर जो दान दिया जाता है, वह क्लेशपूर्वक दान देना है।

प्रश्न—प्रत्युपकारके लिये देना क्या है?

उत्तर—जो मनुष्य बराबर अपने काममें आता है या आगे चलकर जिससे अपना कोई छोटा या बड़ा काम निकालनेकी सम्भावना या आशा है, ऐसे व्यक्तिको दान देना वस्तुतः सच्चा दान नहीं है; वह तो बदला पानेके लिये दिया हुआ बयाना-सा है। जैसे आजकल सोमवती अमावास्या-जैसे पर्वोंपर अथवा अन्य किसी निमित्त-से दानका संकल्प करके ऐसे ब्राह्मणोंको दिया जाता है, जो अपने या अपने सगे-सम्बन्धी अथवा मित्रोंके

काममें आते हैं तथा जिनसे भविष्यमें काम करवानेकी आशा है या ऐसी संस्थाओंको या संस्थाओंके सञ्चालकोंको दिया जाता है, जिनसे बदलेमें कई तरहके स्वार्थ-साधनकी सम्भावना होती है—यही प्रत्युपकारके उद्देश्यसे दान देना है।

प्रश्न—फलके उद्देश्यसे दान देना क्या है ?

उत्तर—मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और स्वर्गादि इस लोक और परलोकके भोगोंकी प्राप्तिके लिये या रोग आदिकी निवृत्तिके लिये जो किसी वस्तुका दान किसी व्यक्ति या संस्थाको दिया जाता है, वह फलके उद्देश्यसे दान देना है। कुछ लोग तो एक ही दानसे एक ही साथ कई लाभ उठाना चाहते हैं। जैसे—

(क) जिसको दान दिया गया है, वह उपकार मानेगा और समयपर अच्छे-बुरे कामोंमें अपना पक्ष लेगा।

(ख) ख्याति होगी, जिससे प्रतिष्ठा बढ़ेगी और सम्मान मिलेगा।

(ग) अखबारोंमें नाम छपनेसे लोग बहुत धनी आदमी समझेंगे और इससे व्यापारमें भी कई तरहकी सहूलियतें होंगी और अधिक-से-अधिक धन कमाया जा सकेगा।

(घ) अच्छी प्रसिद्धि होनेसे लड़के-लड़कियोंके सम्बन्ध भी बड़े घरानोंमें हो सकेंगे, जिनसे कई तरहके स्वार्थ सधेंगे।

(ङ) शास्त्रके अनुसार परलोकमें दानका कई गुना उत्तम-से-उत्तम फल तो प्राप्त होगा ही।

इस प्रकारकी भावनाओंसे मनुष्य दानके महत्त्वको बहुत ही कम कर देते हैं।

प्रश्न—'वा', 'पुन:' और 'च' इन तीनों अव्ययोंके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—इन तीनोंका प्रयोग करके यहाँ यह भाव दिखलाया गया है कि उपर्युक्त तीनों प्रकारोंमेंसे किसी भी एक प्रकारसे दिया हुआ दान राजस हो जाता है।

सम्बन्ध—अब तामस दानके लक्षण बतलाते हैं—

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

जो दान बिना सत्कारके अथवा तिरस्कारपूर्वक अयोग्य देश-कालमें और कुपात्रके प्रति दिया जाता है, वह दान तामस कहा गया है ॥ २२ ॥

प्रश्न—बिना सत्कार किये हुए दिये जानेवाले दानका क्या स्वरूप है ?

उत्तर—दान लेनेके लिये आये हुए अधिकारी पुरुषका आदर न करके अर्थात् यथायोग्य अभिवादन, कुशल-प्रश्न, प्रियभाषण और आसन आदिद्वारा सम्मान न करके जो रूखाईसे दान दिया जाता है—वह बिना सत्कारके दिया जानेवाला दान है।

प्रश्न—तिरस्कारपूर्वक दिया जानेवाला दान कौन-सा है ?

उत्तर—पाँच बात सुनाकर, कड़वा बोलकर,

धमकाकर, फिर न आनेकी कड़ी हिदायत देकर, दिल्लगी उड़ाकर अथवा अन्य किसी भी प्रकारसे वचन, शरीर या सङ्केतके द्वारा अपमानित करके जो दान दिया जाता है—वह तिरस्कारपूर्वक दिया जानेवाला दान है।

प्रश्न—दानके लिये अयोग्य देश-काल कौन-से हैं और उनमें दिया हुआ दान तामस क्यों है ?

उत्तर—जो देश और काल दानके लिये उपयुक्त नहीं हैं अर्थात् जिस देश-कालमें दान देना आवश्यक नहीं है अथवा जहाँ शास्त्रमें निषेध किया है (जैसे म्लेच्छोंके देशमें गौका दान देना, ग्रहणके समय कन्या-दान देना आदि) वे देश और काल दानके लिये अयोग्य हैं और उनमें दिया हुआ दान दाताको नरकका भागी बनाता है। इसलिये वह तामस है।

प्रश्न—दानके लिये अपात्र कौन हैं और उनको दान देना तामस क्यों है ?

उत्तर—जिन मनुष्योंको दान देनेकी आवश्यकता नहीं है तथा जिनको दान देनेका शास्त्रमें निषेध है, (जैसे धर्मध्वजी, पाखण्डी, कपटवेषधारी, हिंसा करनेवाला, दूसरोंकी निन्दा करनेवाला, दूसरेकी जीविका छेदन करके अपने स्वार्थसाधनमें तत्पर, बनावटी विनय दिखानेवाला, मद्य-मांस आदि अभक्ष्य वस्तुओंको भक्षण करनेवाला, चोरी, व्यभिचार आदि नीच कर्म करनेवाला, ठग, जुआरी और नास्तिक आदि) वे सब दानके लिये अपात्र हैं तथा उनको दिया हुआ दान व्यर्थ और दाताको नरकमें ले जानेवाला होता है; इसलिये वह तामस है। यहाँ भूखे, प्यासे, नंगे और रोगी आर्त्त मनुष्योंको अन्न, जल, वस्त्र और ओषधि आदि देनेका कोई निषेध नहीं समझना चाहिये।

सम्बन्ध—इस प्रकार सात्त्विक यज्ञ, तप और दान आदिको सम्पादन करने योग्य बतलानेके उद्देश्यसे और राजस-तामसको त्याज्य बतलानेके उद्देश्यसे उन सबके तीन-तीन भेद किये गये। अब वे सात्त्विक यज्ञ, दान और तप उपादेय क्यों हैं; भगवान्‌से उनका क्या सम्बन्ध है तथा उन सात्त्विक यज्ञ, तप और दानोंमें जो अङ्ग-वैगुण्य हो जाय, उसकी पूर्ति किस प्रकार होती है—यह सब बतलानेके लिये अगला प्रकरण आरम्भ किया जाता है—

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥२३॥

ॐ, तत्, सत्—ऐसे यह तीन प्रकारका सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका नाम कहा है; उसीसे सृष्टिके आदिकालमें ब्राह्मण और वेद तथा यज्ञादि रचे गये ॥ २३ ॥

प्रश्न—ब्रह्म अर्थात् सर्वशक्तिमान् परमेश्वरके बहुत-से नाम हैं, फिर यहाँ केवल उनके तीन ही नामोंका वर्णन क्यों किया गया ?

उत्तर—परमात्माके 'ॐ', 'तत्' और 'सत्'—ये तीनों नाम वेदोंमें प्रधान माने गये हैं तथा यज्ञ, तप, दान आदि शुभ कर्मोंसे इन नामोंका विशेष सम्बन्ध है। इसलिये यहाँ इन तीन नामोंका ही वर्णन किया गया है।

प्रश्न—'तेन' पदसे यहाँ उपर्युक्त तीनों नामोंका ग्रहण है या जिस परमेश्वरके ये तीनों नाम हैं, उसका ?

उत्तर—जिस परमात्माके ये तीनों नाम हैं, उसीका वाचक यहाँ 'तेन' पद है।

प्रश्न—तीसरे अध्यायमें तो यज्ञसहित सम्पूर्ण प्रजाकी उत्पत्ति प्रजापति ब्रह्मासे बतलायी गयी है (३ । १०) और यहाँ ब्राह्मण आदिकी उत्पत्ति परमात्माके द्वारा बतलायी जाती है, इसका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—प्रजापति ब्रह्माकी उत्पत्ति परमात्मासे हुई है और प्रजापतिसे समस्त ब्राह्मण, वेद और यज्ञादि उत्पन्न हुए हैं—इसलिये कहीं इनका परमेश्वरसे उत्पन्न होना बतलाया गया है और कहीं प्रजापतिसे; किन्तु बात एक ही है।

प्रश्न—ब्राह्मण, वेद और यज्ञ—इन तीनोंसे किन-किनको लेना चाहिये ? तथा 'पुरा' पद किस समयका वाचक है ?

उत्तर—'ब्राह्मण' शब्द ब्राह्मण आदि समस्त प्रजाका, 'वेद' चारों वेदोंका, 'यज्ञ' शब्द यज्ञ, तप, दान आदि समस्त शास्त्रविहित कर्त्तव्य-कर्मोंका तथा 'पुरा' पद सृष्टिके आदिकालका वाचक है।

प्रश्न—परमेश्वरके उपर्युक्त तीन नामोंको दिखलाकर फिर परमेश्वरसे सृष्टिके आदिकालमें ब्राह्मण आदिकी उत्पत्ति हुई, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे यहाँ यह अभिप्राय समझना चाहिये कि जिस परमात्मासे समस्त कर्त्ता, कर्म और कर्म-विधानकी उत्पत्ति हुई है, उसके वाचक 'ॐ', 'तत्' और 'सत्'—ये तीनों नाम हैं; अतः इनके उच्चारण आदिसे उन सबके वैगुण्यकी निवृत्ति हो जाती है। अतएव प्रत्येक कामके आरम्भमें परमेश्वरके इन नामोंका उच्चारण करना परम आवश्यक है।

सम्बन्ध—परमेश्वरके उपर्युक्त ॐ, तत् और सत्—इन तीन नामोंका यज्ञ, दान, तप आदिके साथ क्या सम्बन्ध है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर पहले 'ॐ'के प्रयोगकी बात कहते हैं—

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥२४॥

इसलिये वेदमन्त्रोंका उच्चारण करनेवाले श्रेष्ठ पुरुषोंकी शास्त्रविधिसे नियत यज्ञ, दान और तपरूप क्रियाएँ सदा 'ॐ' इस परमात्माके नामको उच्चारण करके ही आरम्भ होती हैं ॥ २४ ॥

प्रश्न—हेतुवाचक 'तस्मात्' पदका प्रयोग करके यहाँ वेदवादियोंकी शास्त्रविहित यज्ञादि क्रियाएँ सदा ओङ्कारका उच्चारण करके ही आरम्भ की जाती हैं—यह कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इससे भगवान्ने प्रधानतया नामकी महिमा दिखलायी है। उनका यहाँ यह भाव है कि जिस परमेश्वरसे इन यज्ञादि कर्मोंकी उत्पत्ति हुई है, उसका नाम होनेके कारण ओङ्कारके उच्चारणसे समस्त कर्मोंका अङ्गवैगुण्य दूर हो जाता है तथा वे पवित्र और कल्याणप्रद हो जाते हैं। यह भगवान्के नामकी अपार महिमा है। इसीलिये वेदवादी अर्थात् वेदोक्त मन्त्रोंके उच्चारणपूर्वक यज्ञादि कर्म करनेके अधिकारी विद्वान् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंके यज्ञ, दान, तप आदि समस्त शास्त्रविहित शुभ कर्म सदा ओङ्कारके उच्चारणपूर्वक ही होते हैं। वे कभी किसी कालमें कोई भी शुभ कर्म भगवान्के पवित्र नाम ओङ्कारका उच्चारण किये बिना नहीं करते। अतएव सबको ऐसा ही करना चाहिये।

सम्बन्ध—इस प्रकार ॐकारके प्रयोगकी बात कहकर अब परमेश्वरके 'तत्' नामके प्रयोगका वर्णन करते हैं—

तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥२५॥

तत् अर्थात् 'तत्' नामसे कहे जानेवाले परमात्माका ही यह सब है—इस भावसे फलको न चाहकर नाना प्रकारकी यज्ञ, तपरूप क्रियाएँ तथा दानरूप क्रियाएँ कल्याणकी इच्छावाले पुरुषोंद्वारा की जाती हैं ॥२५॥

प्रश्न—'इति'के सहित 'तत्' पदका यहाँ क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'तत्' पद परमेश्वरका नाम है । उसके स्मरणका उद्देश्य समझानेके लिये यहाँ 'इति'के सहित उसका प्रयोग किया गया है । अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त वेदवादियोंमेंसे जो कल्याणकामी मनुष्य हैं, वे प्रत्येक क्रिया करते समय भगवान्‌के 'तत्' इस नामका स्मरण करते हुए, 'जिस परमेश्वरसे इस समस्त जगत्‌की उत्पत्ति हुई है, उसीका सब कुछ है और उसीकी वस्तुओंसे उसके आज्ञानुसार उसीके लिये मेरेद्वारा यज्ञादि क्रिया की जाती है; अतः मैं केवल निमित्तमात्र हूँ'— इस भावसे अहंता-ममताका सर्वथा त्याग कर देते हैं ।

प्रश्न—मोक्षको चाहनेवाले साधकोंद्वारा किये जानेवाले कर्म फलोंको न चाहकर किये जाते हैं, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—मोक्षकामी साधकोंद्वारा सब कर्म फलको न चाहकर किये जाते हैं—यह कहकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि जो विहित कर्म करनेवाले साधारण वेदवादी हैं, वे फलकी इच्छा या अहंता-ममताका त्याग नहीं करते; किन्तु जो कल्याणकामी मनुष्य हैं, जिनको परमेश्वरकी प्राप्तिके सिवा अन्य किसी वस्तुकी आवश्यकता नहीं है—वे समस्त कर्म अहंता, ममता, आसक्ति और फल-कामनाका सर्वथा त्याग करके केवल परमेश्वरके ही लिये उनके आज्ञानुसार किया करते हैं । इससे भगवान्‌ने फल-कामनाके त्यागका महत्त्व दिखलाया है ।

सम्बन्ध—इस प्रकार 'तत्' नामके प्रयोगकी बात कहकर अब परमेश्वरके 'सत्' नामके प्रयोगकी बात दो श्लोकोंमें कही जाती है—

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥२६॥

'सत्' यह परमात्माका नाम सत्यभावमें और श्रेष्ठभावमें प्रयोग किया जाता है तथा हे पार्थ ! उत्तम कर्ममें भी 'सत्' शब्दका प्रयोग किया जाता है ॥२६॥

प्रश्न—'सद्भाव' यहाँ किसका वाचक है ? उसमें परमात्माके 'सत्' नामका प्रयोग क्यों किया जाता है ?

उत्तर—'सद्भाव' नित्य भावका अर्थात् जिसका अस्तित्व सदा रहता है उस अविनाशी तत्त्वका वाचक

है और वही परमेश्वरका स्वरूप है। इसलिये उसे 'सत्' नामसे कहा जाता है।

प्रश्न—'साधुभाव' किस भावका वाचक है और उसमें परमात्माके 'सत्' नामका प्रयोग क्यों किया जाता है ?

उत्तर—अन्तःकरणका जो शुद्ध और श्रेष्ठभाव है, उसका वाचक यहाँ 'साधुभाव' है। वह परमेश्वरकी प्राप्तिका हेतु है, इसलिये उसमें परमेश्वरके 'सत्' नामका प्रयोग किया जाता है अर्थात् उसे 'सद्भाव' कहा जाता है।

प्रश्न—'प्रशस्त कर्म' कौन-सा कर्म है और उसमें 'सत्' शब्दका प्रयोग क्यों किया जाता है ?

उत्तर—जो शास्त्रविहित शुभ कर्म फलकी इच्छाके बिना कर्तव्य-बुद्धिसे किया जाता है, वही प्रशस्त-श्रेष्ठ कर्म है और वह परमात्माकी प्राप्तिका हेतु है; इसलिये उसमें परमात्माके 'सत्' नामका प्रयोग किया जाता है, अर्थात् उसे 'सत् कर्म' कहा जाता है।

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥२७॥

तथा यज्ञ, तप और दानमें जो स्थिति है, वह भी 'सत्' इस प्रकार कही जाती है और उस परमात्माके लिये किया हुआ कर्म निश्चयपूर्वक सत्—ऐसे कहा जाता है ॥ २७ ॥

प्रश्न—यज्ञ, तप और दानसे यहाँ कौन-से यज्ञ, तप और दानका ग्रहण है तथा 'स्थिति' शब्द किस भावका वाचक है और वह सत् है, यह कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—यज्ञ, तप और दानसे यहाँ सात्त्विक यज्ञ, तप और दानका निर्देश किया गया है तथा उनमें जो श्रद्धा और प्रेमपूर्वक आस्तिक बुद्धि है, जिसे निष्ठा भी कहते हैं, उसका वाचक यहाँ 'स्थिति' शब्द है; ऐसी स्थिति परमेश्वरकी प्राप्तिमें हेतु है, इसलिये उसे 'सत्' कहते हैं।

प्रश्न—'तदर्थीयम्' विशेषणके सहित 'कर्म'पद किस कर्मका वाचक है और उसे 'सत्' कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जो कर्म केवल भगवान्‌के आज्ञानुसार उन्हींके लिये किया जाता है, जिसमें कर्ताका जरा भी स्वार्थ नहीं रहता—उसका वाचक यहाँ 'तदर्थीयम्' विशेषणके सहित 'कर्म' पद है। ऐसा कर्म कर्ताके अन्तःकरणको शुद्ध बनाकर उसे परमेश्वरकी प्राप्ति करा देता है, इसलिये उसे 'सत्' कहते हैं।

प्रश्न—'एव' का प्रयोग करके क्या भाव दिखलाया गया है ?

उत्तर—'एव' का प्रयोग करके यह भाव दिखलाया गया है कि ऐसा कर्म 'सत्' है; इसमें तनिक भी संशय नहीं है। साथ ही यह भाव भी दिखलाया है कि ऐसा कर्म ही वास्तवमें 'सत्' है, अन्य सब कर्मोंके फल अनित्य होनेके कारण उनको 'सत्' नहीं कहा जा सकता।

सम्बन्ध—इस प्रकार श्रद्धापूर्वक किये हुए शास्त्रविहित यज्ञ, तप, दान आदि कर्मोंका महत्त्व बतलाया गया; उसे सुनकर यह जिज्ञासा होती है कि जो शास्त्रविहित यज्ञादि कर्म बिना श्रद्धाके किये जाते हैं, उनका क्या फल होता है ? इसपर भगवान् इस अध्यायका उपसंहार करते हुए कहते हैं—

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥२८॥

हे अर्जुन ! बिना श्रद्धाके किया हुआ हवन, दिया हुआ दान एवं तपा हुआ तप और जो कुछ भी किया हुआ कर्म है–वह समस्त 'असत्'—इस प्रकार कहा जाता है; इसलिये वह न तो इस लोकमें लाभदायक है और न मरनेके बाद ही ॥२८॥

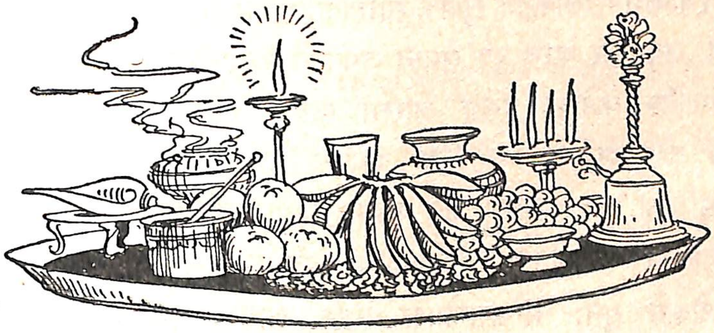
प्रश्न–बिना श्रद्धाके किये हुए हवन, दान और तपको तथा दूसरे समस्त शास्त्रविहित कर्मोंको 'असत्' कहनेका यहाँ क्या अभिप्राय है और वे इस लोक और परलोकमें लाभप्रद नहीं हैं, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर–हवन, दान और तप तथा अन्यान्य शुभ कर्म श्रद्धापूर्वक किये जानेपर ही अन्तःकरणकी शुद्धिमें और इस लोक या परलोकके फल देनेमें समर्थ होते हैं। बिना श्रद्धाके किये हुए शुभ कर्म व्यर्थ हैं, इसीसे उनको 'असत्' और 'वे इस लोक या परलोकमें कहीं भी लाभप्रद नहीं हैं'—ऐसा कहा है।

प्रश्न–'यत्' के सहित 'कृतम्' पदका अर्थ यदि निषिद्ध कर्म भी मान लिया जाय तो क्या हानि है ?

उत्तर–निषिद्ध कर्मोंके करनेमें श्रद्धाकी आवश्यकता नहीं है और उनका फल भी श्रद्धापर निर्भर नहीं है। उनको करते भी वे ही मनुष्य हैं, जिनकी शास्त्र, महापुरुष और ईश्वरमें पूर्ण श्रद्धा नहीं होती तथा पाप-कर्मोंका फल मिलनेका जिनको विश्वास नहीं होता; तथापि उनका दुःखरूप फल उन्हें अवश्य ही मिलता है। अतएव यहाँ 'यत्कृतम्' से पाप-कर्मोंका ग्रहण नहीं है। इसके सिवा यहाँ जो यह बात कही गयी है कि वे कर्म इस लोक या परलोकमें कहीं भी लाभप्रद नहीं होते–सो यह कहना भी पापकर्मोंके उपयुक्त नहीं होता, क्योंकि वे सर्वथा दुःखके हेतु होनेके कारण उनके लाभप्रद होनेकी कोई सम्भावना ही नहीं है। अतएव यहाँ बिना श्रद्धाके किये हुए शुभ कर्मोंका ही प्रसङ्ग है, अशुभ कर्मोंका नहीं।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥१७॥



ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अष्टादशोऽध्यायः

अध्यायका नाम

जन्म-मरणरूप संसारके बन्धनसे सदाके लिये छूटकर परमानन्दस्वरूप परमात्माको प्राप्त कर लेनेका नाम मोक्ष है; इस अध्यायमें पूर्वोक्त समस्त अध्यायोंका सार संग्रह करके मोक्षके उपायभूत सांख्ययोगका संन्यासके नामसे और कर्मयोगका त्यागके नामसे अङ्ग-प्रत्यङ्गोंसहित वर्णन किया गया है तथा साक्षात् मोक्षरूप परमेश्वरमें सर्व कर्मोंका संन्यास यानी त्याग करनेके लिये कहकर उपदेशका उपसंहार किया गया है (१८ । ६६), इसलिये इस अध्यायका नाम 'मोक्षसंन्यासयोग' रक्खा गया है ।

अध्यायका संक्षेप

इस अध्यायके पहले श्लोकमें अर्जुनने संन्यास और त्यागका तत्त्व जाननेकी इच्छा प्रकट की है; दूसरे और तीसरेमें भगवान्‌ने इस विषयमें दूसरे विद्वानोंकी मान्यताका वर्णन किया है; चौथे, पाँचवें श्लोकोंमें अर्जुनको त्यागके विषयमें अपना निश्चय सुननेके लिये कहकर कर्तव्य-कर्मोंको स्वरूपसे न त्यागनेका औचित्य सिद्ध किया है; तथा छठे श्लोकमें त्यागके सम्बन्धमें अपना निश्चित मत बतलाया है और उसे अन्य मतोंकी अपेक्षा उत्तम कहा है । तदनन्तर सातवें, आठवें और नवें श्लोकोंमें क्रमशः तामस, राजस और सात्त्विक त्यागके लक्षण बतलाकर दसवें और ग्यारहवेंमें सात्त्विक त्यागीके लक्षणोंका वर्णन किया है । बारहवेंमें त्यागी पुरुषोंके महत्त्वका प्रतिपादन करके त्यागके प्रसङ्गका उपसंहार किया है । तत्पश्चात् पंद्रहवें श्लोकतक अर्जुनको सांख्य (संन्यास) का विषय सुननेके लिये कहकर सांख्य-सिद्धान्तके अनुसार कर्मोंकी सिद्धिमें अधिष्ठानादि पाँच हेतुओंका वर्णन किया है और सोलहवें श्लोकमें शुद्ध आत्माको कर्ता समझनेवालेकी निन्दा करके सतरहवेंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर कर्म करनेवालेकी प्रशंसा की है । अठारहवें श्लोकमें कर्म-प्रेरणा और कर्म-संग्रहका स्वरूप बतलाकर उन्नीसवेंमें ज्ञान, कर्म और कर्ताके त्रिविध भेद बतलानेकी प्रतिज्ञा करते हुए बीसवेंसे अट्ठाईसवें श्लोकतक क्रमशः उनके सात्त्विक, राजस और तामस भेदोंका वर्णन किया है । उन्तीसवें श्लोकमें बुद्धि और धृतिके त्रिविध भेदोंको बतलानेकी प्रतिज्ञा करके तीसवेंसे पैंतीसवें श्लोकतक क्रमशः उनके सात्त्विक, राजस और तामस भेदोंका वर्णन किया है । छत्तीसवेंसे उन्‌चालीसवें श्लोकतक सुखके सात्त्विक, राजस और तामस—तीन भेद बतलाकर चालीसवें श्लोकमें गुणोंके प्रसङ्गका उपसंहार करते हुए समस्त जगत्‌को त्रिगुणमय बतलाया है । उसके बाद इकतालीसवें श्लोकमें चारों वर्णोंके स्वाभाविक कर्मोंका प्रसङ्ग आरम्भ करके बियालीसवेंमें ब्राह्मणोंके, तैंतालीसवेंमें क्षत्रियोंके और चौवालीसवेंमें वैश्यों तथा शूद्रोंके स्वाभाविक कर्मोंका वर्णन किया है । पैंतालीसवें श्लोकमें अपने-अपने वर्णधर्मके पालनसे परम सिद्धिको प्राप्त करनेकी बात कहकर छियालीसवें श्लोकमें उसकी विधि बतलायी है और फिर सैंतालीसवें और अड़तालीसवें श्लोकोंमें स्वधर्मकी प्रशंसा करते हुए उसकी अवश्यकर्तव्यताका निरूपण किया है । तदनन्तर उन्‌चासवें श्लोकसे पुनः संन्यासयोगका प्रसङ्ग आरम्भ करते हुए संन्याससे परम सिद्धिकी

प्राप्ति बतलाकर पचासवेंमें ज्ञानकी परानिष्ठाके वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा की है और इक्यावनवेंसे पचपनवें श्लोकतक फलसहित ज्ञाननिष्ठाका वर्णन किया है । फिर छप्पनवेंसे अट्ठावनवें श्लोकतक भक्तियुक्त कर्मयोगका महत्त्व और फल दिखलाकर अर्जुनको उसीका आचरण करनेके लिये आज्ञा दी है तथा उन्सठवें और साठवें श्लोकोंमें स्वाभाविक कर्मोंके त्यागसे हानि बतलाकर इकसठवें और बासठवें श्लोकोंमें सबके नियन्ता, सर्वान्तर्यामी परमेश्वरके सब प्रकारसे शरण होनेके लिये आज्ञा दी है । तिरसठवें श्लोकमें उस विषयका उपसंहार करते हुए अर्जुनको सारी बातोंका विचार करके इच्छानुसार आचरण करनेके लिये कहकर चौंसठवें श्लोकमें पुनः समस्त गीताके साररूप सर्वगुह्यतम रहस्यको सुननेके लिये आज्ञा दी है । तथा पैंसठवें और छाछठवें श्लोकोंमें अनन्यशरणागतिरूप सर्वगुह्यतम उपदेशका फलसहित वर्णन करते हुए भगवान्‌ने अर्जुनको अपनी शरणमें आनेके लिये आज्ञा देकर गीताके उपदेशका उपसंहार किया है । तदनन्तर सड़सठवें श्लोकमें चतुर्विध अनधिकारियोंके प्रति गीताका उपदेश न देनेकी बात कहकर अड़सठवें और उनहत्तरवें श्लोकोंमें अधिकारियोंमें गीताप्रचारका, सत्तरवेंमें गीताके अध्ययनका और इकहत्तरवेंमें केवल श्रद्धापूर्वक श्रवणका माहात्म्य बतलाया है । बहत्तरवें श्लोकमें भगवान्‌ने अर्जुनसे एकाग्रताके साथ गीता सुननेकी और मोह नाश होनेकी बात पूछी है, तिहत्तरवेंमें अर्जुनने अपने मोहनाश तथा स्मृति पाकर संशयरहित हो जानेकी बात कहकर भगवान्‌की आज्ञाका पालन करना स्वीकार किया है । उसके बाद चौहत्तरवेंसे सतहत्तरवें श्लोकतक सञ्जयने श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादरूप गीताशास्त्रके उपदेशकी महिमाका बखान करके उसकी और भगवान्‌के विराट् रूपकी स्मृतिसे अपने बार-बार विस्मित और हर्षित होनेकी बात कही है और अठहत्तरवें श्लोकमें भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन जिस पक्षमें हैं, उसकी विजय निश्चित है—ऐसी घोषणा करके अध्यायका उपसंहार किया है ।

सम्बन्ध—दूसरे अध्यायके ग्यारहवें श्लोकसे गीताके उपदेशका आरम्भ हुआ । वहाँसे आरम्भ करके तीसवें श्लोकतक भगवान्‌ने ज्ञानयोगका उपदेश दिया और प्रसङ्गवश बीचमें क्षात्रधर्मकी दृष्टिसे युद्ध करनेकी कर्तव्यताका प्रतिपादन करके उन्चालीसवें श्लोकसे लेकर अध्यायकी समाप्तिपर्यन्त कर्मयोगका उपदेश दिया, उसके बाद तीसरे अध्यायसे सतरहवें अध्यायतक कहीं ज्ञानयोगकी दृष्टिसे और कहीं कर्मयोगकी दृष्टिसे परमात्माकी प्राप्तिके बहुत-से साधन बतलाये । उन सबको सुननेके अनन्तर अब अर्जुन इस अठारहवें अध्यायमें समस्त अध्यायोंके उपदेशका सार जाननेके उद्देश्यसे भगवान्‌के सामने संन्यास यानी ज्ञानयोगका और त्याग यानी फलासक्तिके त्यागरूप कर्मयोगका तत्त्व भलीभाँति अलग-अलग जाननेकी इच्छा प्रकट करते हैं—

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥ १ ॥

अर्जुन बोले—हे महाबाहो ! हे अन्तर्यामिन् ! हे वासुदेव ! मैं संन्यास और त्यागके तत्त्वको पृथक्-पृथक् जानना चाहता हूँ ॥ १ ॥

प्रश्न—यहाँ 'महाबाहो', 'हृषीकेश' और 'केशिनिषूदन'—इन तीन सम्बोधनोंके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—इन सम्बोधनोंसे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आप सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी और समस्त दोषोंके नाश करनेवाले साक्षात् परमेश्वर हैं। अतः मैं आपसे जो कुछ जानना चाहता हूँ, उसे आप भलीभाँति जानते हैं। इसलिये मेरी प्रार्थनापर ध्यान देकर आप उस विषयको मुझे इस प्रकार समझाइये जिसमें मैं उसे पूर्णरूपसे यथार्थ समझ सकूँ और मेरी सारी शङ्काओंका सर्वथा नाश हो जाय।

प्रश्न—मैं संन्यासके और त्यागके तत्त्वको पृथक्-पृथक् जानना चाहता हूँ, इस कथनसे अर्जुनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—उपर्युक्त कथनसे अर्जुनने यह भाव प्रकट किया है कि संन्यास (ज्ञानयोग) का क्या स्वरूप है, उसमें कौन-कौनसे भाव और कर्म सहायक एवं कौन-कौनसे बाधक हैं; उपासनासहित सांख्ययोगका और केवल सांख्ययोगका साधन किस प्रकार किया जाता है; इसी प्रकार त्याग (फलासक्तिके त्यागरूप कर्मयोग) का क्या स्वरूप है; केवल कर्मयोगका साधन किस प्रकार होता है, क्या करना इसके लिये उपयोगी है और क्या करना इसमें बाधक है; भक्तिमिश्रित कर्मयोग कौन-सा है; भक्तिप्रधान कर्मयोग कौन-सा है तथा लौकिक और शास्त्रीय कर्म करते हुए भक्तिमिश्रित एवं भक्तिप्रधान कर्मयोगका साधन किस प्रकार किया जाता है—इन सब बातोंको भी मैं भलीभाँति जानना चाहता हूँ। इसके सिवा इन दोनों साधनोंके मैं पृथक्-पृथक् लक्षण एवं स्वरूप भी जानना चाहता हूँ। आप कृपा करके मुझे इन दोनोंको इस प्रकार अलग-अलग करके समझाइये जिससे एकमें दूसरेका मिश्रण न हो सके और दोनोंका भेद भलीभाँति मेरी समझमें आ जाय।

प्रश्न—उपर्युक्त प्रकारसे संन्यास और त्यागका तत्त्व समझानेके लिये भगवान्ने किन-किन श्लोकोंमें कौन-कौन-सी बात कही है ?

उत्तर—इस अध्यायके सतरहवें श्लोकमें संन्यास (ज्ञानयोग) का स्वरूप बतलाया है। १९वेंसे ४०वें श्लोकतक जो सात्त्विक भाव और कर्म बतलाये हैं, वे इसके साधनमें उपयोगी हैं; और राजस, तामस इसके विरोधी हैं। ५०वेंसे ५५वेंतक उपासनासहित सांख्ययोगकी विधि और फल बतलाया है तथा १७वें श्लोकमें केवल सांख्ययोगका साधन करनेका प्रकार बतलाया है।

इसी प्रकार ६ठे श्लोकमें (फलासक्तिके त्यागरूप) कर्मयोगका स्वरूप बतलाया है। ९वें श्लोकमें सात्त्विक त्यागके नामसे केवल कर्मयोगके साधनकी प्रणाली बतलायी है। ४७वें और ४८वें श्लोकोंमें स्वधर्मके पालनको इस साधनमें उपयोगी बतलाया है और ७वें तथा ८वें श्लोकोंमें वर्णित तामस, राजस त्यागको इसमें बाधक बतलाया है। ४५वें और ४६वें श्लोकोंमें भक्तिमिश्रित कर्मयोगका और ५६वेंसे ६६वें श्लोकतक भक्तिप्रधान कर्मयोगका वर्णन है। ४६वें श्लोकमें लौकिक और शास्त्रीय समस्त कर्म करते हुए भक्तिमिश्रित कर्मयोगके साधन करनेकी रीति बतलायी है और ५७वें श्लोकमें भगवान्ने भक्तिप्रधान कर्मयोगके साधन करनेकी रीति बतलायी है।

सम्बन्ध—इस प्रकार अर्जुनके पूछनेपर भगवान् अपना निश्चय प्रकट करनेके पहले संन्यास और त्यागके विषयमें दो श्लोकोंद्वारा विद्वानोंके भिन्न-भिन्न मत बतलाते हैं—

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ २ ॥

श्रीभगवान् बोले—कितने ही पण्डितजन तो काम्यकर्मोंके त्यागको संन्यास समझते हैं तथा दूसरे विचारकुशल पुरुष सब कर्मोंके फलके त्यागको त्याग कहते हैं ॥ २ ॥

प्रश्न—'काम्यकर्म' किन कर्मोंका नाम है तथा कितने ही पण्डितजन उनके त्यागको 'संन्यास' समझते हैं, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—स्त्री, पुत्र, धन और स्वर्गादि प्रिय वस्तुओंकी प्राप्तिके लिये और रोग-सङ्कटादि अप्रियकी निवृत्तिके लिये यज्ञ, दान, तप और उपासना आदि जिन शुभ कर्मोंका विधान किया गया है अर्थात् जिन कर्मोंके विधानमें यह बात कही गयी है कि यदि अमुक फलकी इच्छा हो तो मनुष्यको यह कर्म करना चाहिये, किन्तु उक्त फलकी इच्छा न होनेपर उसके न करनेसे कोई हानि नहीं है—ऐसे शुभ कर्मोंका नाम काम्यकर्म है ।

'कितने ही पण्डितजन काम्यकर्मोंके त्यागको संन्यास समझते हैं' इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि कितने ही विद्वानोंके मतमें उपर्युक्त कर्मोंका स्वरूपसे त्याग कर देना ही संन्यास है । उनके मतमें संन्यासी वे ही हैं जो काम्यकर्मोंका अनुष्ठान न करके, केवल नित्य और नैमित्तिक कर्तव्य-कर्मोंका ही विधिवत् अनुष्ठान किया करते हैं ।

प्रश्न—'सर्वकर्म' शब्द किन कर्मोंका वाचक है और उनके फलका त्याग क्या है ? तथा कई विचार-कुशल पुरुष सब कर्मोंके फलत्यागको त्याग कहते हैं, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—ईश्वरकी भक्ति, देवताओंका पूजन, माता-पितादि गुरुजनोंकी सेवा, यज्ञ, दान और तप तथा वर्णाश्रमके अनुसार जीविकाके कर्म और शरीरसम्बन्धी खान-पान इत्यादि जितने भी शास्त्रविहित कर्तव्यकर्म हैं—अर्थात् जिस वर्ण और जिस आश्रममें स्थित मनुष्यके लिये जिन कर्मोंको शास्त्रने कर्तव्य बतलाया है तथा जिनके न करनेसे नीति, धर्म और कर्मकी परम्परामें बाधा आती है—उन समस्त कर्मोंका वाचक यहाँ 'सर्वकर्म' शब्द है । और इनके अनुष्ठानसे प्राप्त होनेवाले स्त्री, पुत्र, धन, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और स्वर्गसुख आदि जितने भी इस लोक और परलोकके भोग हैं—उन सबकी कामनाका सर्वथा त्याग कर देना, किसी भी कर्म-के साथ किसी प्रकारके फलका सम्बन्ध न जोड़ना उपर्युक्त समस्त कर्मोंके फलका त्याग करना है ।

'कई विचारकुशल पुरुष समस्त कर्मफलके त्यागको ही त्याग कहते हैं' इस वाक्यसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि नित्य और अनित्य वस्तुका विवेचन करके निश्चय कर लेनेवाले पुरुष उपर्युक्त प्रकारसे समस्त कर्मोंके फलका त्याग करके केवल कर्तव्य-कर्मोंका अनुष्ठान करते रहनेको ही त्याग समझते हैं, अतएव वे इस प्रकारके भावसे समस्त कर्तव्य-कर्म किया करते हैं ।

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ ३ ॥

कई एक विद्वान् ऐसा कहते हैं कि कर्ममात्र दोषयुक्त हैं, इसलिये त्यागनेके योग्य हैं और दूसरे विद्वान् यह कहते हैं कि यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्यागनेयोग्य नहीं है ॥ ३ ॥

प्रश्न—कई एक विद्वान् कहते हैं कि कर्ममात्र दोषयुक्त हैं, इसलिये त्यागनेके योग्य हैं—इस वाक्यका क्या भाव है ?

उत्तर—इस वाक्यसे यह भाव दिखलाया गया है कि आरम्भ (क्रिया) मात्रमें ही कुछ-न-कुछ पापका सम्बन्ध हो जाता है, अतः विहित कर्म भी सर्वथा निर्दोष नहीं हैं। इसी भावको लेकर भगवान्ने भी आगे चलकर कहा है—'सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः' (१८।४८) 'आरम्भ किये जानेवाले सभी कर्म धूएँसे अग्निके समान दोषसे युक्त होते हैं।' इसलिये कितने ही विद्वानोंका कहना है कि कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको नित्य, नैमित्तिक और काम्य आदि सभी कर्मोंका स्वरूपसे त्याग कर देना चाहिये अर्थात् संन्यास-आश्रम ग्रहण कर लेना चाहिये।

प्रश्न—दूसरे विद्वान् ऐसा कहते हैं कि यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्यागनेयोग्य नहीं है—इस वाक्यका क्या तात्पर्य है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि बहुतसे विद्वानोंके मतमें यज्ञ, दान और तपरूप कर्म वास्तवमें दोषयुक्त नहीं हैं। वे मानते हैं कि उन कर्मोंके निमित्त किये जानेवाले आरम्भमें जिन अवश्यम्भावी हिंसादि पापोंका होना देखा जाता है, वे वास्तवमें पाप नहीं हैं; बल्कि शास्त्रोंके द्वारा विहित होनेके कारण यज्ञ, दान और तपरूप कर्म उलटे मनुष्यको पवित्र करनेवाले हैं। इसलिये कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको निषिद्ध कर्मोंका ही त्याग करना चाहिये, शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्मोंका त्याग नहीं करना चाहिये।

सम्बन्ध—इस प्रकार संन्यास और त्यागके विषयोंमें विद्वानोंके भिन्न-भिन्न मत बतलाकर अब भगवान् त्यागके विषयमें अपना निश्चय बतलाना आरम्भ करते हैं—

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः ॥ ४ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन ! संन्यास और त्याग, इन दोनोंमेंसे पहले त्यागके विषयमें तू मेरा निश्चय सुन। क्योंकि त्याग सात्त्विक, राजस और तामस भेदसे तीन प्रकारका कहा गया है ॥ ४ ॥

प्रश्न—यहाँ 'भरतसत्तम' और 'पुरुषव्याघ्र' इन दोनों विशेषणोंका क्या भाव है ?

उत्तर—जो भरतवंशियोंमें अत्यन्त श्रेष्ठ हो, उसे 'भरतसत्तम' कहते हैं और जो पुरुषोंमें सिंहके समान वीर हो, उसे 'पुरुषव्याघ्र' कहते हैं। इन दोनों सम्बोधनोंका प्रयोग करके भगवान् यह भाव दिखला रहे हैं कि तुम भरतवंशियोंमें उत्तम और वीर पुरुष हो, अतः आगे बतलाये जानेवाले तीन प्रकारके त्यागोंमेंसे तामस और राजस त्याग न करके सात्त्विक त्यागरूप कर्मयोगका अनुष्ठान करनेमें समर्थ हो।

प्रश्न—'तत्र' शब्दका क्या अर्थ है और उसके प्रयोगका यहाँ क्या भाव है ?

उत्तर—'तत्र' का अर्थ है उपर्युक्त दोनों विषयोंमें अर्थात् 'त्याग' और 'संन्यास' में। इसके प्रयोगका यहाँ

यह भाव है कि अर्जुनने भगवान्से संन्यास और त्याग—इन दोनोंका तत्त्व बतलानेके लिये प्रार्थना की थी, 'उन दोनोंमेंसे' यहाँ पहले भगवान् केवल त्यागका तत्त्व समझाना आरम्भ करते हैं। अर्जुनने दोनोंका तत्त्व अलग-अलग बतलानेके लिये कहा था और भगवान्ने उसका कोई प्रतिवाद न करके त्यागका ही विषय बतलानेका सङ्केत किया है; इससे भी यही बात मालूम होती है कि 'संन्यास' का प्रकरण भगवान् आगे कहेंगे।

प्रश्न—त्यागके विषयमें तू मेरा निश्चय सुन, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि तुमने जिन दो बातोंको जाननेकी इच्छा प्रकट की थी, उनके विषयमें अबतक मैंने दूसरोंके मत बतलाये। अब मैं तुम्हें अपने मतके अनुसार उन दोनोंमेंसे त्यागका तत्त्व भलीभाँति बतलाना आरम्भ करता हूँ, अतएव तुम सावधान होकर उसे सुनो।

प्रश्न—त्याग (सात्त्विक, राजस और तामस-भेदसे) तीन प्रकारका बतलाया गया है, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे भगवान्ने शास्त्रोंको आदर देनेके लिये अपने मतको शास्त्रसम्मत बतलाया है। अभिप्राय यह है कि शास्त्रोंमें त्यागके तीन भेद माने गये हैं, उनको मैं तुम्हें भलीभाँति बतलाऊँगा।

सम्बन्ध—इस प्रकार त्यागका तत्त्व सुननेके लिये अर्जुनको सावधान करके अब भगवान् उस त्यागका स्वरूप बतलानेके लिये पहले दो श्लोकोंमें शास्त्रविहित शुभ कर्मोंको करनेके विषयमें अपना निश्चय बतलाते हैं—

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥ ५॥

यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्याग करनेके योग्य नहीं है, बल्कि वह तो अवश्यकर्तव्य है; क्योंकि बुद्धिमान् पुरुषोंके यज्ञ, दान और तप—ये तीनों ही कर्म पावन हैं अर्थात् अन्तःकरणको पवित्र करनेवाले हैं॥ ५॥

प्रश्न—यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्यागनेके योग्य नहीं है, बल्कि वह अवश्यकर्तव्य है—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इस कथनसे भगवान्ने शास्त्रविहित कर्मोंकी अवश्यकर्तव्यताका प्रतिपादन किया है। अभिप्राय यह है कि शास्त्रोंमें अपने-अपने वर्ण और आश्रमके अनुसार जिसके लिये जिस कर्मका विधान है—जिसको जिस समय जिस प्रकार यज्ञ करनेके लिये, दान देनेके लिये और तप करनेके लिये कहा गया है—उसे उसका त्याग नहीं करना चाहिये, यानी शास्त्र-आज्ञाकी अवहेलना नहीं करनी चाहिये; क्योंकि इस प्रकारके त्यागसे किसी प्रकारका लाभ होना तो दूर रहा, उलटा प्रत्यवाय होता है। इसलिये इन कर्मोंका अनुष्ठान मनुष्यको अवश्य करना चाहिये। इनका अनुष्ठान किस भावसे करना चाहिये, यह बात अगले श्लोकमें बतलायी गयी है।

प्रश्न—'मनीषिणाम्' पद किन मनुष्योंका वाचक है और उनके यज्ञ, दान और तप—ये सभी कर्म पावन हैं, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—वर्णाश्रमके अनुसार जिसके लिये जो कर्म कर्तव्यरूपमें बतलाये गये हैं, उन शास्त्रविहित कर्मोंका शास्त्रविधिके अनुसार अङ्ग-उपाङ्गोंसहित भलीभाँति अनुष्ठान करनेवाले मुमुक्षु पुरुषोंका वाचक यहाँ 'मनीषिणाम्' पद है। उनके द्वारा किये जानेवाले यज्ञ, दान और तपरूप सभी कर्म अन्तःकरणको पवित्र करनेवाले होते हैं; अतएव यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंका अनुष्ठान मनुष्यको अवश्य करना चाहिये—यह भाव दिखलानेके लिये यहाँ यह बात कही गयी है कि मनीषी पुरुषोंके यज्ञ, दान और तपरूप सभी कर्म पावन हैं।

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ ६ ॥

इसलिये हे पार्थ! इन यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंको तथा और भी सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको आसक्ति और फलोंका त्याग करके अवश्य करना चाहिये; यह मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है ॥ ६ ॥

प्रश्न—'एतानि' पद किन कर्मोंका वाचक है तथा यहाँ 'तु' और 'अपि'—इन अव्यय पदोंके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—'एतानि' पद यहाँ उपर्युक्त यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंका वाचक है। उसके साथ 'तु' और 'अपि'—इन दोनों अव्यय पदोंका प्रयोग करके उनके सिवा माता-पितादि गुरुजनोंकी सेवा, वर्णाश्रमानुसार जीविका-निर्वाहके कर्म और शरीरसम्बन्धी खान-पान आदि जितने भी शास्त्रविहित कर्तव्यकर्म हैं—उन सबका समाहार किया गया है।

प्रश्न—इन सब कर्मोंको आसक्ति और फलका त्याग करके करना चाहिये, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मोंका अनुष्ठान, उनमें ममता और आसक्तिका सर्वथा त्याग करके तथा उनसे प्राप्त होनेवाले इस लोक और परलोकके भोगरूप फलमें भी आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग करके करना चाहिये। इससे यह भाव भी समझ लेना चाहिये कि मुमुक्षु पुरुषको काम्य कर्म और निषिद्ध कर्मोंका आचरण नहीं करना चाहिये।

प्रश्न—यह मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है—इस कथनका क्या भाव है तथा पहले जो विद्वानोंके मत बतलाये थे, उनकी अपेक्षा भगवान्‌के मतमें क्या विशेषता है ?

उत्तर—यह मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है—इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि मेरे मतसे इसीका नाम त्याग है; क्योंकि इस प्रकार कर्म करनेवाला मनुष्य समस्त कर्मबन्धनोंसे मुक्त होकर परमपदको प्राप्त हो जाता है, कर्मोंसे उसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता।

ऊपर विद्वानोंके मतानुसार जो त्याग और संन्यासके लक्षण बतलाये गये हैं, वे पूर्ण नहीं हैं। क्योंकि केवल काम्य कर्मोंका स्वरूपसे त्याग कर देनेपर भी

अन्य नित्य-नैमित्तिक कर्मोंमें और उनके फलमें मनुष्यकी ममता, आसक्ति और कामना रहनेसे वे बन्धनके हेतु बन जाते हैं । सब कर्मोंके फलकी इच्छाका त्याग कर देनेपर भी उन कर्मोंमें ममता और आसक्ति रह जानेसे वे बन्धनकारक हो सकते हैं । अहंता, ममता, आसक्ति और कामनाका त्याग किये बिना यदि समस्त कर्मोंको दोषयुक्त समझकर कर्तव्यकर्मोंका भी स्वरूपसे त्याग कर दिया जाय तो मनुष्य कर्मबन्धनसे मुक्त नहीं हो सकता; क्योंकि ऐसा करनेपर वह विहित कर्मके त्यागरूप प्रत्यवायका भागी होता है । इसी प्रकार यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंको करते रहनेपर भी यदि उनमें आसक्ति और उनके फलकी कामनाका त्याग न किया जाय तो वे बन्धनके हेतु बन जाते हैं । इसलिये उन विद्वानोंके बतलाये हुए लक्षणोंवाले संन्यास और त्यागसे मनुष्य कर्मबन्धनसे सर्वथा मुक्त नहीं हो सकता । भगवान्‌के कथनानुसार समस्त कर्मोंमें ममता, आसक्ति और फलका त्याग कर देना ही पूर्ण त्याग है । इसके करनेसे कर्मबन्धनका सर्वथा नाश हो जाता है; क्योंकि कर्म स्वरूपतः बन्धनकारक नहीं हैं; उनके साथ ममता, आसक्ति और फलका सम्बन्ध ही बन्धनकारक है । यही भगवान्‌के मतमें विशेषता है ।

सम्बन्ध—इस प्रकार अपना सुनिश्चित मत बतलाकर अब भगवान् शास्त्रोंमें कहे हुए तामस, राजस और सात्त्विक—इन तीन प्रकारके त्यागोंमें सात्त्विक त्याग ही वास्तविक त्याग है और वही कर्तव्य है; दूसरे दोनों त्याग वास्तविक त्याग नहीं हैं, अतः वे करनेयोग्य नहीं हैं—यह बात समझानेके लिये तथा अपने मतकी शास्त्रोंके साथ एकवाक्यता दिखलानेके लिये तीन श्लोकोंमें क्रमसे तीन प्रकारके त्यागोंके लक्षण बतलाते हुए पहले निकृष्ट कोटिके तामस त्यागके लक्षण बतलाते हैं—

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥ ७ ॥

निषिद्ध और काम्य कर्मोंका तो स्वरूपसे त्याग करना उचित ही है परन्तु नियत कर्मका स्वरूपसे त्याग उचित नहीं है । इसलिये मोहके कारण उसका त्याग कर देना तामस त्याग कहा गया है ॥ ७ ॥

प्रश्न—'नियतस्य' विशेषणके सहित 'कर्मणः' पद किस कर्मका वाचक है और उसका स्वरूपसे त्याग उचित क्यों नहीं है ?

उत्तर—वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिकी अपेक्षासे जिस मनुष्यके लिये यज्ञ, दान, तप, अध्ययन-अध्यापन, उपदेश, युद्ध, प्रजापालन, पशुपालन, कृषि, व्यापार, सेवा और खान-पान आदि जो-जो कर्म शास्त्रोंमें अवश्यकर्तव्य बतलाये गये हैं, उसके लिये वे नियत कर्म हैं । ऐसे कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करनेवाला मनुष्य अपने कर्तव्यका पालन न करनेके कारण पापका भागी होता है; क्योंकि ऐसा करनेसे कर्मोंकी परम्परा टूट जाती है और समस्त जगत्‌में विप्लव हो जाता है (३ । २३-२४) । इसलिये नियत कर्मोंका स्वरूपसे त्याग उचित नहीं है ।

प्रश्न—मोहके कारण उसका त्याग कर देना तामस त्याग है, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इस कथनसे यह भाव दिखलाया गया है कि जो कोई भी अपने वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिके अनुसार शास्त्रमें विधान किये हुए कर्तव्य-कर्मके त्यागको भूलसे मुक्तिका हेतु समझकर वैसा त्याग करता है—उसका वह त्याग मोहपूर्वक होनेके कारण तामस त्याग है; क्योंकि मोहकी उत्पत्ति तमोगुणसे बतलायी गयी है (१४ । १३, १७)। तथा तामसी मनुष्योंकी अधोगति बतलायी है (१४ । १८)। इसलिये उपर्युक्त त्याग वह त्याग नहीं है, जिसके करनेसे मनुष्य कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाता है। यह तो प्रत्यवायका हेतु होनेसे उलटा अधोगतिको ले जानेवाला है।

सम्बन्ध—तामस त्यागका निरूपण कर अब राजस त्यागके लक्षण बतलाते हैं—

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥ ८ ॥

जो कुछ कर्म है वह सब दुःखरूप ही है—ऐसा समझकर यदि कोई शारीरिक क्लेशके भयसे कर्तव्य-कर्मोंका त्याग कर दे, तो वह ऐसा राजस त्याग करके त्यागके फलको किसी प्रकार भी नहीं पाता ॥ ८ ॥

प्रश्न—'यत्' पदके सहित 'कर्म' पद किन कर्मोंका वाचक है और उनको दुःखरूप समझकर शारीरिक क्लेशके भयसे उनका त्याग करना क्या है ?

उत्तर—सातवें श्लोककी व्याख्यामें कहे हुए सभी शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मोंका वाचक यहाँ 'यत्' पदके सहित 'कर्म' पद है। उन कर्मोंके अनुष्ठानमें मन, इन्द्रिय और शरीरको परिश्रम होता है; अनेक प्रकारके विघ्न उपस्थित होते हैं; बहुत-सी सामग्री एकत्र करनी पड़ती है; शरीरके आरामका त्याग करना पड़ता है; व्रत, उपवास आदि करके कष्ट सहन करना पड़ता है और बहुत-से भिन्न-भिन्न नियमोंका पालन करना पड़ता है—इस कारण समस्त कर्मोंको दुःखरूप समझकर मन, इन्द्रिय और शरीरके परिश्रमसे बचनेके लिये तथा आराम करनेकी इच्छासे जो यज्ञ, दान और तप आदि शास्त्रविहित कर्मोंका त्याग करना है—यही उनको दुःखरूप समझकर शारीरिक क्लेशके भयसे उनका त्याग करना है।

प्रश्न—वह ऐसा राजस त्याग करके त्यागके फलको नहीं पाता—इस वाक्यका क्या भाव है ?

उत्तर—इसका यह भाव है कि इस प्रकारकी भावनासे विहित कर्मोंका त्याग करके जो संन्यास लेना है, वह राजस त्याग है; क्योंकि मन, इन्द्रिय और शरीरके आराममें आसक्तिका होना रजोगुणका कार्य है। अतएव ऐसा त्याग करनेवाला मनुष्य वास्तविक त्यागका फल जो कि समस्त कर्मबन्धनोंसे छूटकर परमात्माको पा लेना है, उसे नहीं पाता; क्योंकि जबतक मनुष्यकी मन, इन्द्रिय और शरीरमें ममता और आसक्ति रहती है—तबतक वह किसी प्रकार भी कर्मबन्धनसे मुक्त नहीं हो सकता। अतः यह राजस त्याग नाममात्रका ही त्याग है, सच्चा त्याग नहीं है। इसलिये कल्याण चाहनेवाले साधकोंको ऐसा त्याग नहीं करना चाहिये। इस प्रकारके त्यागसे त्यागका फल प्राप्त होना तो दूर रहा, उलटा विहित कर्मोंके न करनेका पाप लग सकता है।

सम्बन्ध—अब उत्तम श्रेणीके सात्त्विक त्यागके लक्षण बतलाये जाते हैं—

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥ ९ ॥

हे अर्जुन ! जो शास्त्रविहित कर्म करना कर्तव्य है—इसी भावसे आसक्ति और फलका त्याग करके किया जाता है—वही सात्त्विक त्याग माना गया है ॥ ९ ॥

प्रश्न—यहाँ 'नियतम्' विशेषणके सहित 'कर्म' पद किन कर्मोंका वाचक है तथा उनको कर्तव्य समझकर आसक्ति और फलका त्याग करके करना क्या है ?

उत्तर—वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिकी अपेक्षासे जिस मनुष्यके लिये जो-जो कर्म शास्त्रमें अवश्य-कर्तव्य बतलाये गये हैं—जिनकी व्याख्या छठे श्लोकमें की गयी है—उन समस्त कर्मोंका वाचक यहाँ 'नियतम्' विशेषणके सहित 'कर्म' पद है; अतः इससे यह बात भी समझ लेनी चाहिये कि निषिद्ध और काम्य कर्म नियत कर्मोंमें नहीं हैं। उपर्युक्त नियत कर्म मनुष्यको अवश्य करने चाहिये, इनको न करना भगवान्‌की आज्ञा-का उल्लङ्घन करना है—इस भावसे भावित होकर उन कर्मोंमें और उनके फलस्वरूप इहलोक और परलोकके समस्त भोगोंमें ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग करके उत्साहपूर्वक विधिवत् उनको करते रहना—यही उनको कर्तव्य समझकर आसक्ति और फलका त्याग करके करना है।

प्रश्न—इस प्रकारके कर्मानुष्ठानको सात्त्विक त्याग कहनेका क्या अभिप्राय है ? क्योंकि यह तो कर्मोंका त्याग नहीं है, बल्कि कर्मोंका करना है ?

उत्तर—इस कर्मानुष्ठानरूप कर्मयोगको सात्त्विक त्याग कहकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि शास्त्रविहित अवश्यकर्तव्य कर्मोंका स्वरूपसे त्याग न करके उनमें और उनके फलस्वरूप सम्पूर्ण पदार्थोंमें आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग कर देना ही मेरे मतसे सच्चा त्याग है; कर्मोंके फलरूप इस लोक और परलोकके भोगोंमें आसक्ति और कामनाका त्याग न करके किसी भी भावसे प्रेरित होकर विहित कर्मोंका स्वरूपसे त्याग कर बैठना सच्चा त्याग नहीं है। क्योंकि त्यागका परिणाम कर्मोंसे सर्वथा सम्बन्धविच्छेद होना चाहिये; और यह परिणाम ममता, आसक्ति और कामनाके त्यागसे ही हो सकता है—केवल स्वरूपसे कर्मोंका त्याग करनेसे नहीं। अतएव कर्मोंमें आसक्ति और फलेच्छाका त्याग ही सात्त्विक त्याग है।

सम्बन्ध—उपर्युक्त प्रकारसे सात्त्विक त्याग करनेवाले पुरुषका निषिद्ध और काम्य कर्मोंको स्वरूपसे छोड़नेमें और कर्तव्यकर्मोंके करनेमें कैसा भाव रहता है, इस जिज्ञासापर सात्त्विक त्यागी पुरुषकी अन्तिम स्थितिके लक्षण बतलाते हैं—

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥ १० ॥

जो मनुष्य अकुशल कर्मसे तो द्वेष नहीं करता और कुशल कर्ममें आसक्त नहीं होता—वह शुद्ध सत्त्वगुणसे युक्त पुरुष संशयरहित, ज्ञानवान् और सच्चा त्यागी है ॥ १० ॥

प्रश्न—'अकुशलम्' विशेषणके सहित 'कर्म' पद किन कर्मोंका वाचक है और त्यागी पुरुष उनसे द्वेष नहीं करता, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—'अकुशलम्' विशेषणके सहित 'कर्म' पद यहाँ शास्त्रद्वारा निषेध किये हुए पापकर्मोंका और काम्य कर्मोंका वाचक है; क्योंकि पापकर्म तो मनुष्यको नाना प्रकारकी नीच योनियोंमें और नरकमें गिरानेवाले हैं एवं काम्य कर्म भी फलभोगके लिये पुनर्जन्म देनेवाले हैं। इस प्रकार दोनों ही बन्धनके हेतु होनेसे अकुशल कहलाते हैं। सात्त्विक त्यागी उनसे द्वेष नहीं करता—इस कथनका यहाँ यह भाव है कि सात्त्विक त्यागीमें राग-द्वेषका सर्वथा अभाव हो जानेके कारण वह जो निषिद्ध और काम्य कर्मोंका त्याग करता है, वह द्वेष-बुद्धिसे नहीं करता; किन्तु अकुशल कर्मोंका त्याग करना मनुष्यका कर्तव्य है, इस भावसे लोकसंग्रहके लिये उनका त्याग करता है।

प्रश्न—'कुशले' पद किन कर्मोंका वाचक है और सात्त्विक त्यागी उनमें आसक्त नहीं होता, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—'कुशले' पद यहाँ शास्त्रविहित नित्य-नैमित्तिक यज्ञ, दान और तप आदि शुभ कर्मोंका और वर्णाश्रमानुकूल समस्त कर्तव्यकर्मोंका वाचक है। निष्कामभावसे किये हुए उपर्युक्त कर्म मनुष्यके पूर्वकृत सञ्चित पापोंका नाश करके उसे कर्मबन्धनसे छुड़ा देनेमें समर्थ हैं, इसलिये ये कुशल कहलाते हैं। सात्त्विक त्यागी उन कुशल कर्मोंमें आसक्त नहीं होता—इस कथनसे यह भाव दिखलाया गया है कि वह जो उपर्युक्त शुभ कर्मोंका विधिवत् अनुष्ठान करता है, वह आसक्तिपूर्वक नहीं करता; किन्तु शास्त्रविहित कर्मोंका करना मनुष्यका कर्तव्य है—इस भावसे बिना ममता, आसक्ति और फलेच्छाके केवल लोकसंग्रहके लिये उनका अनुष्ठान करता है।

प्रश्न—वह शुद्ध सत्त्वगुणसे युक्त पुरुष संशयरहित, बुद्धिमान् और सच्चा त्यागी है—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इस कथनसे यह भाव दिखलाया गया है कि इस प्रकार राग-द्वेषसे रहित होकर केवल कर्तव्य-बुद्धिसे कर्मोंका ग्रहण और त्याग करनेवाला शुद्ध सत्त्वगुणसे युक्त पुरुष संशयरहित है, यानी उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि यह कर्मयोगरूप सात्त्विक त्याग ही कर्मबन्धनसे छूटकर परमपदको प्राप्त कर लेनेका पूर्ण साधन है। इसीलिये वह बुद्धिमान् है और वही सच्चा त्यागी है।

सम्बन्ध—उपर्युक्त श्लोकमें सात्त्विक त्यागीको यानी निष्कामभावसे कर्तव्यकर्मोंका अनुष्ठान करनेवाले कर्मयोगीको सच्चा त्यागी बतलाया। इसपर यह शङ्का होती है कि निषिद्ध और काम्य कर्मोंकी भाँति अन्य समस्त कर्मोंका स्वरूपसे त्याग कर देनेवाला मनुष्य भी तो सच्चा त्यागी हो सकता है, फिर केवल निष्कामभावसे कर्म करनेवालेको ही सच्चा त्यागी क्यों कहा गया। इसलिये कहते हैं—

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥११॥

क्योंकि शरीरधारी किसी भी मनुष्यके द्वारा सम्पूर्णतासे सब कर्मोंका त्याग देना शक्य नहीं है; इसलिये जो कर्मफलका त्यागी है, वही त्यागी है—यह कहा जाता है ॥ ११ ॥

प्रश्न—यहाँ 'देहभृता' पद किसका वाचक है और उसके द्वारा सम्पूर्णतासे सब कर्मोंका त्याग किया जाना शक्य नहीं है, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—जिनके द्वारा देहका धारण-पोषण किया जाता है, ऐसे समस्त मनुष्य-समुदायका वाचक यहाँ 'देहभृता' पद है। अतः शरीरधारी किसी भी मनुष्यके लिये सम्पूर्णतासे सब कर्मोंका त्याग कर देना शक्य नहीं है, इस कथनसे यह भाव दिखलाया गया है कि कोई भी देहधारी मनुष्य बिना कर्म किये रह नहीं सकता (३ । ५); क्योंकि बिना कर्म किये शरीरका निर्वाह ही नहीं हो सकता (३ । ८) । इसलिये मनुष्य किसी भी आश्रममें क्यों न रहता हो—जबतक वह जीवित रहेगा तबतक उसे अपनी परिस्थितिके अनुसार खाना-पीना, सोना-बैठना, चलना-फिरना और बोलना आदि कुछ-न-कुछ कर्म तो करना ही पड़ेगा। अतएव सम्पूर्णतासे सब कर्मोंका स्वरूपसे त्याग किया जाना सम्भव नहीं है।

प्रश्न—'कर्मफलत्यागी' पद किस मनुष्यका वाचक है और जो कर्मफलका त्यागी है वही त्यागी है, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—कर्म और उनके फलमें ममता, आसक्ति और कामनाका त्याग करके शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मोंका अनुष्ठान करनेवाले कर्मयोगीका वाचक यहाँ 'कर्मफल-त्यागी' पद है। अतः जो कर्मफलका त्यागी है, वही त्यागी है—इस कथनसे यहाँ यह भाव दिखलाया गया है कि मनुष्यमात्रको कुछ-न-कुछ कर्म करने ही पड़ते हैं, बिना कर्म किये कोई रह ही नहीं सकता; इसलिये जो निषिद्ध और काम्य कर्मोंका सर्वथा त्याग करके यथावश्यक शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मोंका अनुष्ठान करता रहता है तथा उन कर्मोंमें और उनके फलमें ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग कर देता है—वही सच्चा त्यागी है। ऊपरसे इन्द्रियोंकी क्रियाओंका संयम करके मनसे विषयोंका चिन्तन करनेवाला मनुष्य त्यागी नहीं है तथा अहंता, ममता और आसक्तिके रहते हुए शास्त्र-विहित यज्ञ, दान और तप आदि कर्तव्यकर्मोंका स्वरूपसे त्याग कर देनेवाला भी त्यागी नहीं है।

सम्बन्ध—पूर्व श्लोकमें यह बात कही गयी कि 'जो कर्मफलका त्यागी है, वही त्यागी है।' *इसपर यह शङ्का हो सकती है कि कर्मोंका फल न चाहनेपर भी किये हुए कर्म अपना फल दिये बिना नष्ट नहीं हो सकते—जैसे बोया हुआ बीज समयपर अपने-आप वृक्षको उत्पन्न कर देता है, वैसे ही किये हुए कर्मोंका फल भी किसी-न-किसी जन्ममें सबको अवश्य भोगना पड़ता है; इसलिये केवल कर्मफलके त्यागसे मनुष्य त्यागी यानी* 'कर्म-बन्धनसे रहित' *कैसे हो सकता है। इस शङ्काकी निवृत्तिके लिये कहते हैं—*

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥१२॥

कर्मफलका त्याग न करनेवाले मनुष्योंके कर्मोंका तो अच्छा, बुरा और मिला हुआ—ऐसे तीन प्रकारका फल मरनेके पश्चात् अवश्य होता है; किन्तु कर्मफलका त्याग कर देनेवाले मनुष्योंके कर्मोंका फल किसी कालमें भी नहीं होता ॥ १२ ॥

प्रश्न—'अत्यागिनाम्' पद किन मनुष्योंका वाचक है तथा उनके कर्मोंका अच्छा, बुरा और मिला हुआ—तीन प्रकारका फल क्या है; और वह मरनेके पश्चात् अवश्य होता है—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर–जिन्होंने अपने द्वारा किये जानेवाले कर्मोंमें और उनके फलमें ममता, आसक्ति और कामनाका त्याग नहीं किया है; जो आसक्ति और फलेच्छापूर्वक सब प्रकारके कर्म करनेवाले हैं—ऐसे सर्वसाधारण प्राकृत मनुष्योंका वाचक यहाँ 'अत्यागिनाम्' पद है। उनके द्वारा किये हुए शुभ कर्मोंका जो स्वर्गादिकी प्राप्ति या अन्य किसी प्रकारके सांसारिक इष्ट भोगोंकी प्राप्तिरूप फल है, वह अच्छा फल है; तथा उनके द्वारा किये हुए पापकर्मोंका जो पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग और वृक्ष आदि तिर्यक् योनियोंकी प्राप्ति या नरकोंकी प्राप्ति अथवा अन्य किसी प्रकारके दुःखोंकी प्राप्तिरूप फल है—वह बुरा फल है। इसी प्रकार जो मनुष्यादि योनियोंमें उत्पन्न होकर कभी इष्ट भोगोंको प्राप्त होना और कभी अनिष्ट भोगोंको प्राप्त होना है, वह मिश्रित फल है। यही उनके कर्मोंका तीन प्रकारका फल है। यह तीन प्रकारका फल उन लोगोंको मरनेके बाद अवश्य प्राप्त होता है—इस कथनसे यहाँ यह भाव दिखलाया गया है कि उन पुरुषोंके कर्म अपना फल भुगताये बिना नष्ट नहीं हो सकते, जन्म-जन्मान्तरोंमें शुभाशुभ फल देते रहते हैं; इसीलिये ऐसे मनुष्य संसारचक्रमें घूमते रहते हैं।

प्रश्न–यहाँ 'प्रेत्य' पदसे यह बात कही गयी है कि उनके कर्मोंका फल मरनेके बाद होता है; तो क्या जीते हुए उनके कर्मोंका फल नहीं होता?

उत्तर–वर्तमान जन्ममें मनुष्य प्रायः पूर्वकृत कर्मोंसे बने हुए प्रारब्धका ही भोग करता है, नवीन कर्मोंका फल वर्तमान जन्ममें बहुत ही कम भोगा जाता है; क्योंकि एक मनुष्ययोनिमें किये हुए कर्मोंका फल अनेक योनियोंमें भोगना पड़ता है—यह भाव समझानेके लिये यहाँ 'प्रेत्य' पदका प्रयोग करके मरनेके बाद फल भोगनेकी बात कही गयी है।

प्रश्न–'तु' अव्ययका क्या भाव है?

उत्तर–कर्मफलका त्याग न करनेवालोंकी अपेक्षा कर्मफलका त्याग करनेवाले पुरुषोंकी अत्यन्त श्रेष्ठता और विलक्षणता प्रकट करनेके लिये यहाँ 'तु' अव्ययका प्रयोग किया गया है।

प्रश्न–'संन्यासिनाम्' पद किन मनुष्योंका वाचक है और उनके कर्मोंका फल कभी नहीं होता, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर–कर्मोंमें और उनके फलमें ममता, आसक्ति और कामनाका जिन्होंने सर्वथा त्याग कर दिया है; दसवें श्लोकमें त्यागीके नामसे जिनके लक्षण बतलाये गये हैं; छठे अध्यायके पहले श्लोकमें जिनके लिये 'संन्यासी' और 'योगी' दोनों पदोंका प्रयोग किया गया है तथा दूसरे अध्यायके इक्यावनवें श्लोकमें जिनको अनामय पदकी प्राप्तिका होना बतलाया गया है—ऐसे कर्मयोगियोंका वाचक यहाँ 'संन्यासिनाम्' पद है। अतः संन्यासियोंके कर्मोंका फल कभी नहीं होता—इस कथनसे यह भाव दिखलाया गया है कि इस प्रकार कर्मफलका त्याग कर देनेवाले त्यागी मनुष्य जितने कर्म करते हैं वे भूने हुए बीजकी भाँति होते हैं, उनमें फल उत्पन्न करनेकी शक्ति नहीं होती; तथा इस प्रकार यज्ञार्थ किये जानेवाले निष्काम कर्मोंसे पूर्वसञ्चित समस्त शुभाशुभ कर्मोंका भी नाश हो जाता है (४।२३)। इस कारण उनके इस जन्ममें या जन्मान्तरोंमें किये हुए किसी भी कर्मका किसी प्रकारका भी फल किसी भी अवस्थामें, जीते हुए या मरनेके बाद कभी नहीं होता; वे कर्मबन्धनसे सर्वथा मुक्त हो जाते हैं।

सम्बन्ध—पहले श्लोकमें अर्जुनने संन्यास और त्यागका तत्त्व अलग-अलग जाननेकी इच्छा प्रकट की थी। उसका उत्तर देते हुए भगवान्‌ने दूसरे और तीसरे श्लोकोंमें इस विषयपर विद्वानोंके भिन्न-भिन्न मत बतलाकर अपने मतके अनुसार चौथे श्लोकसे बारहवें श्लोकतक पहले त्यागका यानी कर्मयोगका तत्त्व भलीभाँति समझाया; अब संन्यासका यानी सांख्ययोगका तत्त्व समझानेके लिये पहले सांख्य-सिद्धान्तके अनुसार कर्मोंकी सिद्धिके पाँच हेतुओंका निरूपण करते हैं—

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्॥१३॥

हे महाबाहो! सम्पूर्ण कर्मोंकी सिद्धिके ये पाँच हेतु कर्मोंका अन्त करनेके लिये उपाय बतलानेवाले सांख्य-शास्त्रमें कहे गये हैं, उनको तू मुझसे भलीभाँति जान॥१३॥

प्रश्न—'सर्वकर्मणाम्' पद यहाँ किन कर्मोंका वाचक है और उनकी सिद्धि क्या है?

उत्तर—'सर्वकर्मणाम्' पद यहाँ शास्त्रविहित और निषिद्ध, सभी प्रकारके कर्मोंका वाचक है तथा किसी कर्मका पूर्ण हो जाना यानी उसका बन जाना ही उसकी सिद्धि है।

प्रश्न—'कृतान्ते' विशेषणके सहित 'सांख्ये' पद किसका वाचक है तथा उसमें 'सम्पूर्ण कर्मोंकी सिद्धिके ये पाँच हेतु बतलाये गये हैं, उनको तू मुझसे जान' इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—'कृत' नाम कर्मोंका है; अतः जिस शास्त्रमें उनके समाप्त करनेका उपाय बतलाया गया हो, उसका नाम 'कृतान्त' है। 'सांख्य' का अर्थ ज्ञान है (सम्यक् ख्यायते ज्ञायते परमात्माऽनेनेति सांख्यं तत्त्वज्ञानम्)। अतएव जिस शास्त्रमें ज्ञानयोगका प्रतिपादन किया गया हो, उसको सांख्य कहते हैं। इसलिये यहाँ 'कृतान्ते' विशेषणके सहित 'सांख्ये' पद उस शास्त्रका वाचक मालूम होता है, जिसमें ज्ञानयोगका भलीभाँति प्रतिपादन किया गया हो और उसके अनुसार समस्त कर्मोंको प्रकृतिद्वारा किये हुए एवं आत्माको सर्वथा अकर्ता समझकर कर्मोंका अभाव करनेकी रीति बतलायी गयी हो।

इसीलिये यहाँ सम्पूर्ण कर्मोंकी सिद्धिके ये पाँच हेतु सांख्य-सिद्धान्तमें बतलाये गये हैं, उनको तू मुझसे भलीभाँति जान—इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि आत्माका अकर्तृत्व सिद्ध करनेके लिये उपर्युक्त ज्ञानयोगका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रमें समस्त कर्मोंकी सिद्धिके जो पाँच हेतु बतलाये गये हैं—जिन पाँचोंके सम्बन्धसे समस्त कर्म बनते हैं, उनको मैं तुझे बतलाता हूँ; तू सावधान होकर सुन।

सम्बन्ध—अब उन पाँच हेतुओंके नाम बतलाये जाते हैं—

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥१४॥

इस विषयमें अर्थात् कर्मोंकी सिद्धिमें अधिष्ठान और कर्ता तथा भिन्न-भिन्न प्रकारके करण एवं नाना प्रकारकी अलग-अलग चेष्टाएँ और वैसे ही पाँचवाँ हेतु दैव है ॥१४॥

प्रश्न—'अधिष्ठानम्' पद यहाँ किसका वाचक है ?

उत्तर—'अधिष्ठानम्' पद यहाँ मुख्यतासे करण और क्रियाके आधाररूप शरीरका वाचक है, किन्तु गौणरूपसे यज्ञादि कर्मोंमें तद्विषयक क्रियाके आधाररूप भूमि आदिका वाचक भी माना जा सकता है।

प्रश्न—'कर्ता' पद यहाँ किसका वाचक है ?

उत्तर—यहाँ 'कर्ता' पद प्रकृतिस्थ पुरुषका वाचक है। इसीको तेरहवें अध्यायके २१ वें श्लोकमें भोक्ता बतलाया गया है और तीसरे अध्यायके २७ वें श्लोकमें 'अहङ्कारविमूढात्मा' कहा गया है।

प्रश्न—'पृथग्विधम्' विशेषणके सहित 'करणम्' पद किसका वाचक है ?

उत्तर—मन, बुद्धि और अहङ्कार भीतरके करण हैं तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ—ये दस बाहरके करण हैं; इनके सिवा और भी जो-जो स्रुवा आदि उपकरण यज्ञादि कर्मोंके करनेमें सहायक होते हैं, वे सब बाह्य करणके अन्तर्गत हैं। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न कर्मोंके करनेमें जितने भी भिन्न-भिन्न द्वार अथवा सहायक हैं, उन सबका वाचक यहाँ 'पृथग्विधम्' विशेषणके सहित 'करणम्' पद है।

प्रश्न—'विविधाः' और 'पृथक्'—इन दोनों पदोंके सहित 'चेष्टाः' पद किसका वाचक है ?

उत्तर—एक स्थानसे दूसरे स्थानमें गमन करना, हाथ-पैर आदि अङ्गोंका सञ्चालन, श्वासोंका आना-जाना, अङ्गोंको सिकोड़ना-फैलाना, आँखोंको खोलना और मूँदना, मनमें सङ्कल्प-विकल्पोंका होना आदि जितनी भी हलचलरूप चेष्टाएँ हैं—उन नाना प्रकारकी भिन्न-भिन्न समस्त चेष्टाओंका वाचक यहाँ 'विविधाः' और 'पृथक्'—इन दोनों पदोंके सहित 'चेष्टाः' पद है।

प्रश्न—यहाँ 'दैवम्' पद किसका वाचक है और उसके साथ 'पञ्चमम्' पदके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मोंके संस्कारोंका वाचक यहाँ 'दैवम्' पद है, प्रारब्ध भी इसीके अन्तर्गत है। बहुत लोग इसे 'अदृष्ट' भी कहते हैं। इसके साथ 'पञ्चमम्' पदका प्रयोग करके 'पञ्च' संख्याकी पूर्ति दिखलायी गयी है। अभिप्राय यह है कि पूर्वश्लोकमें जो पाँच हेतुओंके सुननेके लिये कहा गया था, उनमेंसे चार हेतु तो दैवके पहले अलग बतलाये गये हैं और पाँचवाँ हेतु यह दैव है।

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥१५॥

मनुष्य मन, वाणी और शरीरसे शास्त्रानुकूल अथवा विपरीत जो कुछ भी कर्म करता है—उसके ये पाँचों कारण हैं ॥१५॥

प्रश्न—'नरः' पद यहाँ किसका वाचक है और इसके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—'नरः' पद यहाँ प्रकृतिस्थ मनुष्यका वाचक है। इसका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया है कि मनुष्यशरीरमें ही जीव पुण्य और पापरूप नवीन कर्म कर सकता है। अन्य सब भोगयोनियाँ हैं; उनमें

पूर्वकृत कर्मोंका फल भोगा जाता है, नवीन कर्म करनेका अधिकार नहीं है।

प्रश्न—'शरीरवाङ्मनोभिः' पदमें 'शरीर' शब्दसे किसका, 'वाक्' से किसका और 'मनस्' से किसका ग्रहण होता है? तथा यहाँ इस पदके प्रयोगका क्या भाव है?

उत्तर—उपर्युक्त पदमें 'शरीर' शब्दसे वाणीके सिवा समस्त इन्द्रियोंके सहित स्थूल शरीरको लेना चाहिये, 'वाक्' शब्दका अर्थ वाणी समझना चाहिये और 'मनस्' शब्दसे समस्त अन्तःकरणको लेना चाहिये। मनुष्य जितने भी पुण्य-पापरूप कर्म करता है उन सबको शास्त्रकारोंने कायिक, वाचिक और मानसिक—इस प्रकार तीन भेदोंमें विभक्त किया है। अतः यहाँ इस पदका प्रयोग करके समस्त शुभाशुभ कर्मोंका समाहार किया गया है।

प्रश्न—'न्याय्यम्' पद किस कर्मका वाचक है?

उत्तर—वर्ण, आश्रम, प्रकृति और परिस्थितिके भेदसे जिसके लिये जो कर्म कर्तव्य माने गये हैं—उन न्यायपूर्वक किये जानेवाले यज्ञ, दान, तप, विद्याध्ययन, युद्ध, कृषि, गोरक्षा, व्यापार, सेवा आदि समस्त शास्त्रविहित कर्मोंके समुदायका वाचक यहाँ 'न्याय्यम्' पद है।

प्रश्न—'विपरीतम्' पद किस कर्मका वाचक है?

उत्तर—वर्ण, आश्रम, प्रकृति और परिस्थितिके भेदसे जिसके लिये जिन कर्मोंके करनेका शास्त्रोंमें निषेध किया गया है तथा जो कर्म नीति और धर्मके प्रतिकूल हैं—ऐसे असत्यभाषण, चोरी, व्यभिचार, हिंसा, मद्यपान, अभक्ष्यभक्षण आदि समस्त पापकर्मोंका वाचक यहाँ 'विपरीतम्' पद है।

प्रश्न—'यत्' पदके सहित 'कर्म' पद किसका वाचक है और उसके ये पाँचों कारण हैं—इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'यत्' पदके सहित 'कर्म' पद यहाँ मन, वाणी और शरीरद्वारा किये जानेवाले जितने भी पुण्य और पापरूप कर्म हैं—जिनका इस जन्म तथा जन्मान्तरमें जीवको फल भोगना पड़ता है—उन समस्त कर्मोंका वाचक है। तथा 'उसके ये पाँचों कारण हैं'—इस वाक्यसे यह भाव दिखलाया है कि इन पाँचोंके संयोग बिना कोई भी कर्म नहीं बन सकता; जितने भी शुभाशुभ कर्म होते हैं, इन पाँचोंके संयोगसे ही होते हैं। इनमेंसे किसी एकके न रहनेसे कर्म नहीं बन सकता। इसीलिये बिना कर्तापनके किया जानेवाला कर्म वास्तवमें कर्म नहीं है, यह बात सतरहवें श्लोकमें कही गयी है।

सम्बन्ध—इस प्रकार सांख्ययोगके सिद्धान्तसे समस्त कर्मोंकी सिद्धिके अधिष्ठानादि पाँच कारणोंका निरूपण करके अब, वास्तवमें आत्माका कर्मोंसे कोई सम्बन्ध नहीं है, आत्मा सर्वथा शुद्ध, निर्विकार और अकर्ता है—यह बात समझानेके लिये पहले आत्माको कर्ता माननेवालेकी निन्दा करते हैं—

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥१६॥

परन्तु ऐसा होनेपर भी जो मनुष्य अशुद्धबुद्धि होनेके कारण उस विषयमें यानी कर्मोंके होनेमें केवल—शुद्धस्वरूप आत्माको कर्ता समझता है, वह मलिन बुद्धिवाला अज्ञानी यथार्थ नहीं समझता॥१६॥

प्रश्न—यहाँ 'एवम्' के सहित 'सति' पदका क्या भाव है ?

उत्तर—'एवम्'के सहित 'सति' पदका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया गया है कि समस्त कर्मोंके होनेमें उपर्युक्त अधिष्ठानादि ही कारण हैं, आत्माका उन कर्मोंसे वास्तवमें कुछ भी सम्बन्ध नहीं है; इसलिये आत्माको कर्ता मानना किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है। तो भी लोग मूर्खतावश अपनेको कर्मोंका कर्ता मान लेते हैं, यह कितने आश्चर्यकी बात है !

प्रश्न—'अकृतबुद्धित्वात्' का क्या भाव है ?

उत्तर—सत्सङ्ग और शास्त्रोंके अभ्यासद्वारा तथा विवेक, विचार और शम-दमादि आध्यात्मिक साधनोंद्वारा जिसकी बुद्धि शुद्ध की हुई नहीं है—ऐसे प्राकृत अज्ञानी मनुष्यको 'अकृतबुद्धि' कहते हैं। अतः यहाँ 'अकृतबुद्धित्वात्' पदका प्रयोग करके आत्माको कर्ता माननेका हेतु बतलाया गया है। अभिप्राय यह है कि वास्तवमें आत्माका कर्मोंसे कुछ भी सम्बन्ध न होनेपर भी बुद्धिमें विवेकशक्ति न रहनेके कारण अज्ञानवश मनुष्य आत्माको कर्ता मान बैठता है।

प्रश्न—'आत्मानम्' पदके साथ 'केवलम्' विशेषणके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—'केवलम्' विशेषणके प्रयोगसे आत्माके यथार्थ स्वरूपका लक्षण किया गया है। अभिप्राय यह है कि आत्माका यथार्थ स्वरूप 'केवल' यानी सर्वथा शुद्ध, निर्विकार और असङ्ग है। श्रुतियोंमें भी कहा है कि 'यह आत्मा वास्तवमें सर्वथा असङ्ग है' (बृह० उ० ४। ३। १५, १६)। अतः असङ्ग आत्माका कर्मोंके साथ सम्बन्ध जोड़कर उसे कर्मोंका कर्ता मानना अत्यन्त विपरीत है।

प्रश्न—'सः'के साथ 'दुर्मतिः' विशेषण देकर यह कहनेका क्या अभिप्राय है कि वह यथार्थ नहीं समझता ?

उत्तर—उपर्युक्त प्रकारसे आत्माको कर्ता समझनेवाले मनुष्यकी बुद्धि दूषित है, उसमें आत्मस्वरूपको यथार्थ समझनेकी शक्ति नहीं है—यह भाव दिखलानेके लिये यहाँ 'दुर्मतिः' विशेषणका प्रयोग किया गया है। तथा वह यथार्थ नहीं जानता—इस कथनसे यह भाव दिखलाया है कि जो तेरहवें अध्यायके उन्तीसवें श्लोकके कथनानुसार समस्त कर्मोंको प्रकृतिका ही खेल समझता है और आत्माको सर्वथा अकर्ता समझता है, वही यथार्थ समझता है; उससे विपरीत आत्माको कर्ता समझनेवाला मनुष्य अज्ञान और अहङ्कारसे मोहित है (३। २७), इसलिये उसका समझना ठीक नहीं है—गलत है।

प्रश्न—चौदहवें श्लोकमें कर्मोंके बननेमें जो पाँच हेतु बतलाये गये हैं—उनमें अधिष्ठानादि चार हेतु तो प्रकृतिजनित ही हैं, परन्तु 'कर्ता' रूप पाँचवाँ हेतु 'प्रकृतिस्थ' पुरुषको माना गया है; और यहाँ यह बात कही जाती है कि आत्मा कर्ता नहीं है, सङ्गरहित है। इसका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इस विषयमें यह समझना चाहिये कि वास्तवमें आत्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध, निर्विकार और सर्वथा असङ्ग है; प्रकृतिसे, प्रकृतिजनित पदार्थोंसे या कर्मोंसे उसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। किन्तु अनादिसिद्ध अविद्याके कारण असङ्ग आत्माका ही इस प्रकृतिके साथ सम्बन्ध-सा हो रहा है; अतः वह प्रकृतिद्वारा सम्पादित क्रियाओंमें मिथ्या अभिमान करके स्वयं उन कर्मोंका कर्ता बन जाता है। इस प्रकार कर्ता बने हुए पुरुषका नाम ही 'प्रकृतिस्थ पुरुष' है; वह उन प्रकृतिद्वारा सम्पन्न हुई क्रियाओंका कर्ता बनता है, तभी उनकी 'कर्म' संज्ञा होती है और वे कर्म फल देनेवाले बन जाते हैं। इसीलिये उस प्रकृतिस्थ पुरुषको अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म धारण करके उन कर्मोंका

फल भोगना पड़ता है (१३ । २१) । इसलिये चौदहवें श्लोकमें कर्मोंकी सिद्धिके पाँच हेतुओंमें एक हेतु 'कर्ता' को माना गया है और यहाँ आत्माको केवल यानी सङ्गरहित, अकर्ता बतलाकर उसके यथार्थ स्वरूपका लक्षण किया गया है। जो आत्माके यथार्थ स्वरूपको समझ लेता है, उसके कर्मोंमें 'कर्ता' रूप पाँचवाँ हेतु नहीं रहता। इसी कारण उसके कर्मोंकी कर्म संज्ञा नहीं रहती। यही बात अगले श्लोकमें समझायी गयी है।

सम्बन्ध—आत्मा सर्वथा शुद्ध, निर्विकार और अकर्ता है—यह बात समझानेके लिये आत्माको 'कर्ता' माननेवालेकी निन्दा करके अब आत्माके यथार्थ स्वरूपको समझकर उसे अकर्ता समझनेवालेकी स्तुति करते हैं—

यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥१७॥

जिस पुरुषके अन्तःकरणमें 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा भाव नहीं है तथा जिसकी बुद्धि सांसारिक पदार्थोंमें और कर्मोंमें लिपायमान नहीं होती, वह पुरुष इन सब लोकोंको मारकर भी वास्तवमें न तो मारता है और न पापसे बँधता है ॥ १७ ॥

प्रश्न—यहाँ 'यस्य' पद किसका वाचक है तथा 'मैं कर्ता हूँ'—इस भावका न होना क्या है ?

उत्तर—यहाँ 'यस्य' पद समस्त कर्मोंको प्रकृतिका खेल समझनेवाले सांख्ययोगीका वाचक है। ऐसे पुरुषमें जो देहाभिमान न रहनेके कारण कर्तापनका सर्वथा अभाव हो जाना है—यानी मन, इन्द्रियों और शरीरद्वारा की जानेवाली समस्त क्रियाओंमें 'अमुक कर्म मैंने किया है, यह मेरा कर्तव्य है' इस प्रकारके भावका लेशमात्र भी न रहना है—यही 'मैं कर्ता हूँ' इस भावका न होना है।

प्रश्न—बुद्धिका लिपायमान न होना क्या है ?

उत्तर—कर्मोंमें और उनके फलरूप स्त्री, पुत्र, धन, मकान, मान, बड़ाई, स्वर्गसुख आदि इस लोक और परलोकके समस्त पदार्थोंमें ममता, आसक्ति और कामनाका अभाव हो जाना; किसी भी कर्मसे या उसके फलसे अपना किसी प्रकारका भी सम्बन्ध न समझना तथा उन सबको स्वप्नके कर्म और भोगोंकी भाँति क्षणिक, नाशवान् और कल्पित समझ लेनेके कारण अन्तःकरणमें उनके संस्कारोंका संगृहीत न होना—यही बुद्धिका लिपायमान न होना है।

प्रश्न—वह पुरुष इन सब लोकोंको मारकर भी वास्तवमें न तो मारता है और न पापसे बँधता है, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि उपर्युक्त प्रकारसे आत्मस्वरूपको भलीभाँति जान लेनेके कारण जिसका अज्ञानजनित अहंभाव सर्वथा नष्ट हो गया है; मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ और शरीरमें अहंता-ममताका सर्वथा अभाव हो जानेके कारण उनके द्वारा होनेवाले कर्मोंसे या उनके फलसे जिसका किञ्चिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं रहा है—उस पुरुषके मन, बुद्धि और इन्द्रियोंद्वारा जो लोकसंग्रहार्थ प्रारब्धानुसार कर्म किये जाते हैं, वे सब शास्त्रानुकूल और सबका हित करनेवाले ही होते हैं। क्योंकि अहंता, ममता, आसक्ति और स्वार्थबुद्धिका अभाव हो जानेके बाद पापकर्मोंके आचरणका कोई कारण

नहीं रह जाता। अतः जैसे अग्नि, वायु और जल आदिके द्वारा प्रारब्धवश किसी प्राणीकी मृत्यु हो जाय तो वे अग्नि, वायु आदि न तो वास्तवमें उस प्राणीको मारनेवाले हैं और न वे उस कर्मसे बँधते ही हैं—उसी प्रकार उपर्युक्त महापुरुष लोकदृष्टिसे स्वधर्म-पालन करते समय यज्ञ, दान और तप आदि शुभ कर्मोंको करके उनका कर्ता नहीं बनता और उनके फलसे नहीं बँधता, इसमें तो कहना ही क्या है; किन्तु क्षात्रधर्म-जैसे—किसी कारणसे योग्यता प्राप्त हो जानेपर समस्त प्राणियोंका संहाररूप—क्रूर कर्म करके भी उसका वह कर्ता नहीं बनता और उसके फलसे भी नहीं बँधता। अर्थात् लोकदृष्टिसे समस्त कर्म करता हुआ भी वह उन कर्मोंसे सर्वथा बन्धनरहित ही रहता है। अभिप्राय यह है कि जैसे भगवान् सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्ति, पालन और संहार आदि कार्य करते हुए भी वास्तवमें उनके कर्ता नहीं हैं (४।१३) और उन कर्मोंसे उनका कोई सम्बन्ध नहीं है (४।१४; ९।९)—उसी प्रकार सांख्ययोगीका भी उसके मन, बुद्धि और इन्द्रियोंद्वारा होनेवाले समस्त कर्मोंसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता। यह बात अवश्य है कि उसका अन्तःकरण अत्यन्त शुद्ध तथा अहंता, ममता, आसक्ति और स्वार्थबुद्धिसे रहित हो जानेके कारण उसके मन, बुद्धि और इन्द्रियोंद्वारा राग-द्वेष और अज्ञानमूलक चोरी, व्यभिचार, मिथ्याभाषण, हिंसा, कपट, दम्भ आदि पापकर्म नहीं होते; उसकी समस्त क्रियाएँ वर्णाश्रम और परिस्थितिके अनुसार शास्त्रानुकूल ही हुआ करती हैं। इसमें भी उसे किसी प्रकारका प्रयत्न नहीं करना पड़ता, उसका स्वभाव ही ऐसा बन जाता है।

सम्बन्ध—इस प्रकार संन्यास (ज्ञानयोग) का तत्त्व समझानेके लिये आत्माके अकर्तापनका प्रतिपादन करके अब सांख्यसिद्धान्तके अनुसार कर्मके अङ्ग-प्रत्यङ्गोंको भलीभाँति समझानेके लिये कर्म-प्रेरणा और कर्म-संग्रहका प्रतिपादन करते हैं—

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसङ्ग्रहः॥१८॥

ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय—यह तीन प्रकारकी कर्म-प्रेरणा है और कर्ता, करण तथा क्रिया—यह तीन प्रकारका कर्म-संग्रह है॥१८॥

प्रश्न—ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय—ये तीनों पद अलग-अलग किन-किन तत्त्वोंके वाचक हैं तथा यह तीन प्रकारकी कर्म-प्रेरणा है, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—किसी भी पदार्थके स्वरूपका निश्चय करनेवालेको 'ज्ञाता' कहते हैं; वह जिस वृत्तिके द्वारा वस्तुके स्वरूपका निश्चय करता है, उसका नाम 'ज्ञान' है और जिस वस्तुके स्वरूपका निश्चय करता है, उसका नाम 'ज्ञेय' है। 'यह तीन प्रकारकी कर्म-प्रेरणा है'—इस कथनसे यह भाव दिखलाया गया है कि इन तीनोंके संयोगसे ही मनुष्यकी कर्ममें प्रवृत्ति होती है, अर्थात् इन तीनोंका सम्बन्ध ही मनुष्यको कर्ममें प्रवृत्त करनेवाला है। क्योंकि जब अधिकारी मनुष्य ज्ञानवृत्तिद्वारा यह निश्चय कर लेता है कि अमुक-अमुक वस्तुओंद्वारा अमुक प्रकारसे अमुक

कर्म मुझे करना है, तभी उसकी उस कर्ममें प्रवृत्ति होती है ।

प्रश्न—कर्ता, करण और कर्म——ये तीनों पद अलग-अलग किन-किन तत्त्वोंके वाचक हैं तथा यह तीन प्रकारका कर्म-संग्रह है, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—देखना, सुनना, समझना, स्मरण करना, खाना, पीना आदि समस्त क्रियाओंको करनेवाले प्रकृतिस्थ पुरुषको 'कर्ता' कहते हैं; उसके जिन मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके द्वारा उपर्युक्त समस्त क्रियाएँ की जाती हैं—उनका वाचक 'करण' पद है और उपर्युक्त समस्त क्रियाओंका वाचक यहाँ 'कर्म' पद है । 'यह तीन प्रकारका कर्म-संग्रह है'—इस कथनसे यह भाव दिखलाया गया है कि इन तीनोंके संयोगसे ही कर्मका संग्रह होता है; क्योंकि जब मनुष्य स्वयं कर्ता बनकर अपने मन, बुद्धि और इन्द्रियोंद्वारा क्रिया करके किसी कर्मको करता है—तभी कर्म बनता है, इसके बिना कोई भी कर्म नहीं बन सकता । चौदहवें श्लोकमें जो कर्मकी सिद्धिके अधिष्ठानादि पाँच हेतु बतलाये गये हैं, उनमेंसे अधिष्ठान और दैवको छोड़कर शेष तीनोंको कर्म-संग्रह नाम दिया गया है; क्योंकि उन पाँचोंमें भी उपर्युक्त तीन हेतु ही मुख्य हैं ।

सम्बन्ध——इस प्रकार सांख्ययोगके सिद्धान्तसे कर्म-चोदना (कर्म-प्रेरणा) और कर्मसंग्रहका निरूपण करके अब तत्त्वज्ञानमें सहायक सात्त्विक भावको ग्रहण करानेके लिये और उसके विरोधी राजस, तामस भावोंका त्याग करानेके लिये उपर्युक्त कर्म-प्रेरणा और कर्मसंग्रहके नामसे बतलाये हुए ज्ञान आदिमेंसे ज्ञान, कर्म और कर्ताके सात्त्विक, राजस और तामस——इस प्रकार त्रिविध भेद क्रमसे बतलानेकी प्रस्तावना करते हैं—

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥१९॥

गुणोंकी संख्या करनेवाले शास्त्रमें ज्ञान और कर्म तथा कर्ता भी गुणोंके भेदसे तीन-तीन प्रकारके कहे गये हैं, उनको भी तू मुझसे भलीभाँति सुन ॥ १९ ॥

प्रश्न—'गुणसंख्याने' पद किसका वाचक है तथा उसमें गुणोंके भेदसे तीन-तीन प्रकारके बतलाये हुए ज्ञान, कर्म और कर्ताको सुननेके लिये कहनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जिस शास्त्रमें सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंके सम्बन्धसे समस्त पदार्थोंके भिन्न-भिन्न भेदोंकी गणना की गयी हो, ऐसे शास्त्रका वाचक 'गुणसंख्याने' पद है । अतः उसमें बतलाये हुए गुणोंके भेदसे तीन-तीन प्रकारके ज्ञान, कर्म और कर्ताको सुननेके लिये कहकर भगवान्‌ने उस शास्त्रको इस विषयमें आदर दिया है और कहे जानेवाले उपदेशको ध्यानपूर्वक सुननेके लिये अर्जुनको सावधान किया है ।

ध्यान रहे कि ज्ञाता और कर्ता अलग-अलग नहीं हैं, इस कारण भगवान्‌ने ज्ञाताके भेद अलग नहीं बतलाये हैं तथा करणके भेद बुद्धिके और धृतिके नामसे एवं ज्ञेयके भेद सुखके नामसे आगे बतलायेंगे । इस कारण यहाँ पूर्वोक्त छः पदार्थोंमेंसे तीनके ही भेद पहले बतलानेका सङ्केत किया है ।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें जो ज्ञान, कर्म और कर्ताके सात्त्विक, राजस और तामस भेद क्रमशः बतलानेकी प्रस्तावना की थी—उसके अनुसार पहले सात्त्विक ज्ञानके लक्षण बतलाते हैं—

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥२०॥

जिस ज्ञानसे मनुष्य पृथक्-पृथक् सब भूतोंमें एक अविनाशी परमात्मभावको विभागरहित समभावसे स्थित देखता है, उस ज्ञानको तो तू सात्त्विक जान ॥ २० ॥

प्रश्न—'येन' पद यहाँ किसका वाचक है तथा उसके द्वारा पृथक्-पृथक् भूतोंमें एक अविनाशी परमात्मभावको विभागरहित देखना क्या है ?

उत्तर—'येन' पद यहाँ सांख्ययोगके साधनसे होनेवाले उस अनुभवका वाचक है, जिसका वर्णन छठे अध्यायके उन्तीसवें श्लोकमें और तेरहवें अध्यायके सत्ताईसवें श्लोकमें किया गया है । तथा जिस प्रकार आकाश-तत्त्वको जाननेवाला मनुष्य घड़ा, मकान, गुफा, स्वर्ग, पाताल और समस्त वस्तुओंके सहित सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें, एक ही आकाश-तत्त्वको देखता है—वैसे ही लोकदृष्टिसे भिन्न-भिन्न प्रतीत होनेवाले समस्त चराचर प्राणियोंमें उस अनुभवके द्वारा जो एक अद्वितीय, अविनाशी, निर्विकार, ज्ञानस्वरूप परमात्मभावको विभागरहित समभावसे व्याप्त देखना है—अर्थात् लोकदृष्टिसे भिन्न-भिन्न प्रतीत होनेवाले समस्त प्राणियोंको और स्वयं अपनेको एक अविनाशी परमात्मासे अभिन्न समझना है—यही पृथक्-पृथक् भूतोंमें एक अविनाशी परमात्मभावको विभागरहित देखना है ।

प्रश्न—उस ज्ञानको तू सात्त्विक जान—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि जो ऐसा यथार्थ अनुभव है, वही वास्तवमें सात्त्विक ज्ञान यानी सच्चा ज्ञान है । अतः कल्याणकामी मनुष्यको इसे ही प्राप्त करनेकी चेष्टा करनी चाहिये । इसके अतिरिक्त जितने भी सांसारिक ज्ञान हैं, वे नाममात्रके ही ज्ञान हैं—वास्तविक ज्ञान नहीं हैं ।

सम्बन्ध—अब राजस ज्ञानके लक्षण बतलाते हैं—

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥२१॥

और जो ज्ञान अर्थात् जिस ज्ञानके द्वारा मनुष्य सम्पूर्ण भूतोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारके नाना भावोंको अलग-अलग जानता है, उस ज्ञानको तू राजस जान ॥ २१ ॥

प्रश्न—सम्पूर्ण भूतोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारके नाना भावोंको अलग-अलग जानना क्या है ?

उत्तर—कीट, पतङ्ग, पशु, पक्षी, मनुष्य, राक्षस और देवता आदि जितने भी प्राणी हैं—उन सबमें आत्माको उनके शरीरोंकी आकृतिके भेदसे और स्वभावके भेदसे भिन्न-भिन्न प्रकारके, अनेक और अलग-अलग समझना—अर्थात् यह समझना कि प्रत्येक शरीरमें आत्मा अलग-अलग है और वे बहुत हैं तथा सब

परस्पर विलक्षण हैं—यही सम्पूर्ण भूतोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारके नाना भावोंको अलग-अलग देखना है।

प्रश्न—उस ज्ञानको तू राजस जान—इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि उपर्युक्त प्रकारका जो अनुभव है, वह राजस ज्ञान है—अर्थात् नाममात्रका ही ज्ञान है, वास्तविक ज्ञान नहीं है। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार आकाशके तत्त्वको न जाननेवाला मनुष्य भिन्न-भिन्न घट, मठ आदिमें अलग-अलग परिच्छिन्न आकाश समझता है और उसमें स्थित सुगन्ध-दुर्गन्धादिसे उसका सम्बन्ध मानकर एकसे दूसरेको विलक्षण समझता है; किन्तु उसका यह समझना भ्रम है—उसी प्रकार आत्म-तत्त्वको न जाननेके कारण समस्त प्राणियोंके शरीरोंमें अलग-अलग और अनेक आत्मा समझना भी भ्रममात्र है।

सम्बन्ध—अब तामस ज्ञानका लक्षण बतलाते हैं—

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम्॥२२॥

और जो ज्ञान एक कार्यरूप शरीरमें ही सम्पूर्णके सदृश आसक्त है; तथा जो बिना युक्तिवाला, तात्त्विक अर्थसे रहित और तुच्छ है—वह तामस कहा गया है॥२२॥

प्रश्न—'तु'पदका यहाँ क्या भाव है?

उत्तर—पूर्वोक्त सात्त्विक ज्ञानसे और राजस ज्ञानसे भी इस ज्ञानको अत्यन्त निकृष्ट दिखलानेके लिये यहाँ 'तु' अव्ययका प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—जो ज्ञान एक कार्यरूप शरीरमें ही सम्पूर्णकी भाँति आसक्त है—इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इस कथनसे तामस ज्ञानका प्रधान लक्षण बतलाया गया है। अभिप्राय यह है कि जिस विपरीत ज्ञानके द्वारा मनुष्य प्रकृतिके कार्यरूप शरीरको ही अपना स्वरूप समझ लेता है और ऐसा समझकर उस क्षणभङ्गुर नाशवान् शरीरमें सर्वस्वकी भाँति आसक्त रहता है—अर्थात् उसके सुखसे सुखी एवं उसके दुःखसे दुःखी होता है तथा उसके नाशसे ही सर्वनाश मानता है, आत्माको उससे भिन्न या सर्वव्यापी नहीं समझता—वह ज्ञान वास्तवमें ज्ञान नहीं है। इसलिये भगवान्‌ने इस श्लोकमें 'ज्ञान' पदका प्रयोग भी नहीं किया है, क्योंकि यह विपरीत ज्ञान वास्तवमें अज्ञान ही है।

प्रश्न—इस ज्ञानको 'अहैतुकम्' यानी बिना युक्तिवाला बतलानेका क्या भाव है?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि इस प्रकारकी समझ विवेकशील मनुष्यमें नहीं होती, थोड़ा भी समझनेवाला मनुष्य विचार करनेसे जड शरीरके और चेतन आत्माके भेदको समझ लेता है; अतः जहाँ युक्ति और विवेक है, वहाँ ऐसा ज्ञान नहीं रह सकता।

प्रश्न—इस ज्ञानको तात्त्विक अर्थसे रहित और अल्प बतलानेका क्या भाव है?

उत्तर—इसे तात्त्विक अर्थसे रहित और अल्प बतलाकर यह भाव दिखलाया है कि इस ज्ञानके द्वारा जो बात समझी जाती है, वह यथार्थ नहीं है। अर्थात् यह वस्तुके स्वरूपको यथार्थ समझानेवाला ज्ञान नहीं है, विपर्यय-ज्ञान है और बहुत तुच्छ है; इसीलिये यह त्याज्य है।

प्रश्न—वह ज्ञान तामस कहा गया है—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इस कथनसे यह भाव दिखलाया गया है कि उपर्युक्त लक्षणोंवाला जो विपर्यय-ज्ञान है, वह तामस है—अर्थात् अत्यन्त तमोगुणी मनुष्योंकी समझ है; उन लोगोंकी समझ ऐसी ही हुआ करती है, क्योंकि तमोगुणका कार्य अज्ञान बतलाया गया है।

सम्बन्ध—अब सात्त्विक कर्मके लक्षण बतलाते हैं—

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥२३॥

जो कर्म शास्त्रविधिसे नियत किया हुआ और कर्तापनके अभिमानसे रहित हो तथा फल न चाहनेवाले पुरुषद्वारा बिना राग-द्वेषके किया गया हो—वह सात्त्विक कहा जाता है ॥२३॥

प्रश्न—'नियतम्' विशेषणके सहित 'कर्म' पद यहाँ किन कर्मोंका वाचक है तथा 'नियतम्' विशेषणके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—वर्ण, आश्रम, प्रकृति और परिस्थितिकी अपेक्षासे जिस मनुष्यके लिये जो कर्म अवश्यकर्तव्य बतलाये गये हैं—उन शास्त्रविहित यज्ञ, दान, तप तथा जीविकाके और शरीरनिर्वाहके सभी श्रेष्ठ कर्मोंका वाचक यहाँ 'नियतम्' विशेषणके सहित 'कर्म' पद है; तथा 'नियतम्' विशेषणका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया गया है कि केवल शास्त्रविहित नित्य-नैमित्तिक आदि कर्तव्यकर्म ही सात्त्विक हो सकते हैं, काम्य कर्म और निषिद्ध कर्म सात्त्विक नहीं हो सकते।

प्रश्न—'सङ्गरहितम्' विशेषणका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—यहाँ 'सङ्ग' नाम आसक्तिका नहीं है, क्योंकि आसक्तिका अभाव 'अरागद्वेषतः' पदसे अलग बतलाया गया है। इसलिये यहाँ जो कर्मोंमें कर्तापन-का अभिमान करके उन कर्मोंसे अपना सम्बन्ध जोड़ लेना है, उसका नाम 'सङ्ग' समझना चाहिये; और जिन कर्मोंमें ऐसा सङ्ग नहीं है, अर्थात् जो बिना कर्तापनके और बिना देहाभिमानके किये हुए हैं—उन कर्मोंको सङ्गरहित कर्म समझना चाहिये। इसीलिये 'सङ्गरहितम्' विशेषणसे यह भाव दिखलाया गया है कि उपर्युक्त शास्त्रविहित कर्म भी 'सङ्गरहित' होनेसे ही सात्त्विक होते हैं, नहीं तो उनकी 'सात्त्विक' संज्ञा नहीं होती।

प्रश्न—'अफलप्रेप्सुना' पद किसका वाचक है और ऐसे पुरुषद्वारा बिना राग-द्वेषके किया हुआ कर्म कैसे कर्मको कहते हैं ?

उत्तर—कर्मोंके फलरूप इस लोक और परलोकके जितने भी भोग हैं, उनमें ममता और आसक्तिका अभाव हो जानेके कारण जिसको किञ्चिन्मात्र भी उन भोगोंकी आकाङ्क्षा नहीं रही है, जो किसी भी कर्मसे अपना कोई भी स्वार्थ सिद्ध करना नहीं चाहता, जो अपने लिये किसी भी वस्तुकी आवश्यकता नहीं समझता—ऐसे स्वार्थ-बुद्धिरहित पुरुषका वाचक 'अफलप्रेप्सुना' पद है। ऐसे पुरुषद्वारा किये जाने-वाले जिन कर्मोंमें कर्ताकी आसक्ति और द्वेष नहीं है, अर्थात् जिनका अनुष्ठान राग-द्वेषके बिना केवल लोकसंग्रहके लिये किया जाता है—उन कर्मोंको 'बिना राग-द्वेषके किया हुआ कर्म' कहते हैं।

प्रश्न—उस कर्मको सात्त्विक कहते हैं—इस कथन-का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—उस कर्मको सात्त्विक कहते हैं—इस कथनसे यह भाव दिखलाया गया है कि जिस कर्ममें उपर्युक्त समस्त लक्षण पूर्णरूपसे पाये जाते हों, वही कर्म पूर्ण सात्त्विक है। यदि उपर्युक्त भावोंमेंसे किसी भावकी कमी हो, तो उसकी सात्त्विकतामें उतनी कमी समझनी चाहिये। इसके सिवा इससे यह भाव भी समझना चाहिये कि सत्त्वगुणसे और सात्त्विक कर्मसे ही ज्ञान उत्पन्न होता है; अतः परमात्माके तत्त्वको जाननेकी इच्छावाले मनुष्योंको उपर्युक्त सात्त्विक कर्मोंका ही आचरण करना चाहिये, राजस-तामस कर्मोंका आचरण करके कर्मबन्धनमें नहीं पड़ना चाहिये।

प्रश्न—इस श्लोकमें बतलाये हुए सात्त्विक कर्ममें और नवें श्लोकमें बतलाये हुए सात्त्विक त्यागमें क्या भेद है ?

उत्तर—इस श्लोकमें सांख्यनिष्ठाकी दृष्टिसे सात्त्विक कर्मके लक्षण किये गये हैं, इस कारण 'सङ्गरहितम्' पदसे उनमें कर्तापनके अभिमानका और 'अरागद्वेषतः' पदसे राग-द्वेषका भी अभाव दिखलाया गया है। किन्तु नवें श्लोकमें कर्मयोगकी दृष्टिसे किये जानेवाले कर्मोंमें आसक्ति और फलेच्छाके त्यागका नाम ही सात्त्विक त्याग बतलाया गया है; इस कारण वहाँ कर्तापनके अभावकी बात नहीं कही गयी है, बल्कि कर्तव्य-बुद्धिसे कर्मोंको करनेके लिये कहा है। यही इन दोनोंका भेद है। दोनोंका ही फल तत्त्वज्ञानके द्वारा परमात्माकी प्राप्ति है; इस कारण इनमें वास्तवमें भेद नहीं है, केवल अनुष्ठानके प्रकारका भेद है।

सम्बन्ध—अब राजस कर्मके लक्षण बतलाते हैं—

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्॥२४॥

और जो कर्म बहुत परिश्रमसे युक्त होता है तथा भोगोंको चाहनेवाले पुरुषद्वारा या अहङ्कारयुक्त पुरुषद्वारा किया जाता है, वह कर्म राजस कहा गया है॥२४॥

प्रश्न—'बहुलायासम्' विशेषणके सहित 'कर्म' पद किन कर्मोंका वाचक है तथा इस विशेषणके प्रयोगका यहाँ क्या भाव है ?

उत्तर—जिन कर्मोंमें नाना प्रकारकी बहुत-सी क्रियाओंका विधान है तथा शरीरमें अहङ्कार रहनेके कारण जिन कर्मोंको मनुष्य भाररूप समझकर बड़े परिश्रम और दुःखके साथ पूर्ण करता है, ऐसे काम्य कर्मों और व्यावहारिक कर्मोंका वाचक यहाँ 'बहुलायासम्' विशेषणके सहित 'कर्म' पद है। इस विशेषणका प्रयोग करके सात्त्विक कर्मसे राजस कर्मका भेद स्पष्ट किया गया है। अभिप्राय यह है कि सात्त्विक कर्मोंके कर्ताका शरीरमें अहङ्कार नहीं होता और कर्मोंमें कर्तापन नहीं होता; अतः उसे किसी भी क्रियाके करनेमें किसी प्रकारके परिश्रम या क्लेशका बोध नहीं होता। इसलिये उसके कर्म आयासयुक्त नहीं हैं। किन्तु राजस कर्मके कर्ताका शरीरमें अहङ्कार होनेके कारण वह शरीरके परिश्रम और दुःखोंसे स्वयं दुखी होता है, इस कारण उसे प्रत्येक क्रियामें परिश्रमका बोध होता है। इसके सिवा सात्त्विक कर्मोंके कर्ताद्वारा केवल शास्त्रदृष्टिसे या

लोकदृष्टिसे कर्तव्यरूपमें प्राप्त हुए कर्म ही किये जाते हैं, अतः उसके द्वारा कर्मोंका विस्तार नहीं होता; किन्तु राजस कर्मका कर्ता आसक्ति और कामनासे प्रेरित होकर प्रतिदिन नये-नये कर्मोंका आरम्भ करता रहता है, इससे उसके कर्मोंका बहुत विस्तार हो जाता है। इस कारण भी 'बहुलायासम्' विशेषणका प्रयोग करके बहुत परिश्रमवाले कर्मोंको राजस बतलाया गया है।

प्रश्न—'कामेप्सुना' पद कैसे पुरुषका वाचक है ?

उत्तर—इन्द्रियोंके भोगोंमें ममता और आसक्ति रहनेके कारण जो निरन्तर नाना प्रकारके भोगोंकी कामना करता रहता है तथा जो कुछ क्रिया करता है—स्त्री, पुत्र, धन, मकान, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा आदि इस लोक और परलोकके भोगोंके लिये ही करता है—ऐसे स्वार्थपरायण पुरुषका वाचक यहाँ 'कामेप्सुना' पद है।

प्रश्न—'वा' पदके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—'वा' पदका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया गया है कि जो कर्म भोगोंकी प्राप्तिके लिये किये जाते हैं, वे भी राजस हैं और जिनमें भोगोंकी इच्छा नहीं है, किन्तु जो अहङ्कारपूर्वक किये जाते हैं—वे भी राजस हैं। अभिप्राय यह है कि जिस पुरुषमें भोगोंकी कामना और अहङ्कार दोनों हैं, उसके द्वारा किये हुए कर्म राजस हैं—इसमें तो कहना ही क्या है; किन्तु इनमेंसे किसी एक दोषसे युक्त पुरुष-द्वारा किये हुए कर्म भी राजस ही हैं।

प्रश्न—'साहङ्कारेण' पद कैसे मनुष्यका वाचक है ?

उत्तर—जिस मनुष्यका शरीरमें अभिमान है और जो प्रत्येक कर्म अहङ्कारपूर्वक करता है तथा मैं अमुक कर्मका करनेवाला हूँ, मेरे समान दूसरा कौन है; मैं यह कर सकता हूँ, वह कर सकता हूँ—इस प्रकारके भाव मनमें रखनेवाला और वाणीद्वारा इस तरहकी बातें करनेवाला है, उसका वाचक यहाँ 'साहङ्कारेण' पद है।

प्रश्न—वह कर्म राजस कहा गया है—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि उपर्युक्त भावोंसे किया जानेवाला कर्म राजस है और राजस कर्मका फल दुःख बतलाया गया है (१४। १६) तथा रजोगुण कर्मोंके सङ्गसे मनुष्यको बाँधनेवाला है (१४। ७); अतः मुक्ति चाहनेवाले मनुष्यको ऐसे कर्म नहीं करने चाहिये।

सम्बन्ध—अब तामस कर्मके लक्षण बतलाते हैं—

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥२५॥

जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा और सामर्थ्यको न विचारकर केवल अज्ञानसे आरम्भ किया जाता है—वह तामस कहा जाता है ॥ २५ ॥

प्रश्न—परिणाम, हानि, हिंसा और सामर्थ्यका विचार करना क्या है और इनका विचार बिना किये केवल मोहसे कर्मका आरम्भ करना क्या है ?

उत्तर—किसी भी कर्मका आरम्भ करनेसे पहले अपनी बुद्धिसे विचार करके जो यह सोच लेना है कि अमुक कर्म करनेसे उसका भावी परिणाम अमुक

प्रकारसे सुखकी प्राप्ति या अमुक प्रकारसे दुःखकी प्राप्ति होगा, यह उसके अनुबन्धका यानी परिणामका विचार करना है। तथा जो यह सोचना है कि अमुक कर्ममें इतना धन व्यय करना पड़ेगा, इतने बलका प्रयोग करना पड़ेगा, इतना समय लगेगा, अमुक अंशमें धर्मकी हानि होगी और अमुक-अमुक प्रकारकी दूसरी हानियाँ होंगी—यह क्षयका यानी हानिका विचार करना है। और जो यह सोचना है कि अमुक कर्मके करनेसे अमुक मनुष्योंको या अन्य प्राणियोंको अमुक प्रकारसे इतना कष्ट पहुँचेगा, अमुक मनुष्योंका या अन्य प्राणियोंका जीवन नष्ट होगा——यह हिंसाका विचार करना है। इसी तरह जो यह सोचना है कि अमुक कर्म करनेके लिये इतने सामर्थ्यकी आवश्यकता है, अतः इसे पूरा करनेकी सामर्थ्य हममें है या नहीं——यह पौरुषका यानी सामर्थ्यका विचार करना है। इस तरह परिणाम, हानि, हिंसा और पौरुष——इन चारोंका या चारोंमेंसे किसी एकका विचार किये बिना ही 'जो कुछ होगा सो देखा जायगा' इस प्रकार दुःसाहस करके जो अज्ञानतासे किसी कर्मका आरम्भ कर देना है—यही परिणाम, हानि, हिंसा और पौरुषका विचार न करके केवल मोहसे कर्मका आरम्भ करना है।

प्रश्न—वह कर्म तामस कहा जाता है—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इस कथनसे यह भाव दिखलाया गया है कि इस प्रकार बिना सोचे-समझे जिस कर्मका आरम्भ किया जाता है, वह कर्म तमोगुणके कार्य मोहसे आरम्भ किया हुआ होनेके कारण तामस कहा जाता है। तामस कर्मका फल अज्ञान यानी सूकर, कूकर, वृक्ष आदि ज्ञानरहित योनियोंकी प्राप्ति या नरकोंकी प्राप्ति बतलाया गया है (१४।१८); अतः कल्याण चाहनेवाले मनुष्योंको कभी ऐसा कर्म नहीं करना चाहिये।

सम्बन्ध—अब सात्त्विक कर्ताके लक्षण बतलाते हैं——

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥२६॥

जो कर्ता आसक्तिसे रहित, अहङ्कारके वचन न बोलनेवाला, धैर्य और उत्साहसे युक्त तथा कार्यके सिद्ध होने और न होनेमें हर्ष-शोकादि विकारोंसे रहित है—वह सात्त्विक कहा जाता है ॥ २६ ॥

प्रश्न—'मुक्तसङ्ग' कैसे मनुष्यको कहते हैं ?

उत्तर—जिस मनुष्यका कर्मोंसे और उनके फलरूप समस्त भोगोंसे किञ्चिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं रहा है—अर्थात् मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा जो कुछ भी कर्म किये जाते हैं उनमें और उनके फलरूप मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा, स्त्री, पुत्र, धन, मकान आदि इस लोक और परलोकके समस्त भोगोंमें जिसकी किञ्चिन्मात्र भी ममता, आसक्ति और कामना नहीं रही है——ऐसे मनुष्यको 'मुक्तसङ्ग' कहते हैं।

प्रश्न—'अनहंवादी'का क्या भाव है ?

उत्तर—मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ और शरीर—इन अनात्म-पदार्थोंमें आत्मबुद्धि न रहनेके कारण जो किसी भी कर्ममें कर्तापनका अभिमान नहीं करता तथा इसी कारण जो आसुरी प्रकृतिवालोंकी भाँति, मैंने अमुक मनोरथ सिद्ध कर लिया है, अमुकको और सिद्ध कर लूँगा; मैं ईश्वर हूँ, भोगी हूँ, बलवान् हूँ, सुखी हूँ; मेरे समान दूसरा कौन है; मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा (१६। १३, १४, १५) इत्यादि अहङ्कारके वचन कहनेवाला नहीं है, किन्तु

सरलभावसे अभिमानशून्य वचन बोलनेवाला है— ऐसे मनुष्यको 'अनहंवादी' कहते हैं।

प्रश्न—'धृत्युत्साहसमन्वितः' पदमें 'धृति' और 'उत्साह' शब्द किन भावोंके वाचक हैं और इन दोनोंसे युक्त पुरुषके क्या लक्षण हैं ?

उत्तर—शास्त्रविहित स्वधर्मपालनरूप किसी भी कर्मके करनेमें बड़ी-से-बड़ी विघ्न-बाधाओंके उपस्थित होनेपर भी विचलित न होना 'धृति' है। और कर्म-सम्पादनमें सफलता न प्राप्त होनेपर या ऐसा समझकर कि यदि मुझे फलकी इच्छा नहीं है तो कर्म करनेकी क्या आवश्यकता है— किसी भी कर्मसे न उकताना, किन्तु जैसे कोई सफलता प्राप्त कर चुकनेवाला और कर्मफलको चाहनेवाला मनुष्य करता है, उसी प्रकार श्रद्धापूर्वक उसे करनेके लिये उत्सुक रहना 'उत्साह' है। इन दोनों गुणोंसे युक्त पुरुष बड़े-से-बड़ा विघ्न उपस्थित होनेपर भी अपने कर्तव्यका त्याग नहीं करता, बल्कि अत्यन्त उत्साहपूर्वक समस्त कठिनाइयोंको पार करता हुआ अपने कर्तव्यमें डटा रहता है। ये ही उसके लक्षण हैं।

प्रश्न—'सिद्ध्यसिद्ध्योः निर्विकारः' यह विशेषण कैसे मनुष्यका वाचक है ?

उत्तर—साधारण मनुष्योंकी जिस कर्ममें आसक्ति होती है और जिस कर्मको वे अपने इष्ट फलका साधन समझते हैं, उसके पूर्ण हो जानेसे उनके मनमें बड़ा भारी हर्ष होता है और किसी प्रकारका विघ्न उपस्थित होकर उसके अधूरा रह जानेपर उनको बड़ा भारी कष्ट होता है; इसी तरह उनके अन्तःकरणमें कर्मकी सिद्धि-असिद्धिके सम्बन्धसे और भी बहुत प्रकारके विकार होते हैं। अतः अहंता, ममता, आसक्ति और फलेच्छा न रहनेके कारण जो मनुष्य न तो किसी भी कर्मके पूर्ण होनेमें हर्षित होता है और न उसमें विघ्न उपस्थित होनेपर शोक ही करता है; तथा इसी तरह जिसमें अन्य किसी प्रकारका भी कोई विकार नहीं होता, जो हरेक अवस्थामें सदा-सर्वदा सम रहता है— ऐसे समतायुक्त पुरुषका वाचक 'सिद्ध्यसिद्ध्योः निर्विकारः' यह विशेषण है।

प्रश्न—वह कर्ता सात्त्विक कहा जाता है—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि जिस कर्तामें उपर्युक्त समस्त भावोंका समावेश है, वही पूर्ण सात्त्विक है और जिसमें जिस भावकी कमी है, उतनी ही उसकी सात्त्विकतामें कमी है। इस प्रकारका सात्त्विक भाव परमात्माके तत्त्वज्ञानको प्रकट करनेवाला है, इसलिये मुक्ति चाहनेवाले मनुष्यको सात्त्विक कर्ता ही बनना चाहिये।

सम्बन्ध—अब राजस कर्ताके लक्षण बतलाते हैं—

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः॥ २७॥

जो कर्ता आसक्तिसे युक्त, कर्मोंके फलको चाहनेवाला और लोभी है तथा दूसरोंको कष्ट देनेके स्वभाववाला, अशुद्धाचारी और हर्ष-शोकसे लिपायमान है—वह राजस कहा गया है॥ २७॥

प्रश्न—'रागी' पद कैसे मनुष्यका वाचक है ?

उत्तर—जिस मनुष्यकी कर्मोंमें और उनके फलरूप इस लोक और परलोकके भोगोंमें ममता और आसक्ति है—अर्थात् जो कुछ क्रिया करता है, उसमें और उसके

फलमें जो आसक्त रहता है—ऐसे मनुष्यको 'रागी' कहते हैं ।

प्रश्न—'कर्मफलप्रेप्सुः' पद कैसे मनुष्यका वाचक है ?

उत्तर—जो कर्मोंके फलरूप स्त्री, पुत्र, धन, मकान, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा आदि इस लोक और परलोकके नाना प्रकारके भोगोंकी निरन्तर इच्छा करता रहता है तथा जो कुछ कर्म करता है, उन भोगोंकी प्राप्तिके लिये ही करता है—ऐसे स्वार्थपरायण पुरुषका वाचक 'कर्मफलप्रेप्सुः' पद है ।

प्रश्न—'लुब्धः' पद कैसे मनुष्यका वाचक है ?

उत्तर—धनादि पदार्थोंमें आसक्ति रहनेके कारण जो न्यायसे प्राप्त अवसरपर भी अपनी शक्तिके अनुरूप धनका व्यय नहीं करता तथा न्याय-अन्यायका विचार न करके सदा ही दूसरोंके स्वत्वको हड़पनेकी इच्छा रखता है और वैसी ही चेष्टा करता है—ऐसे लोभी मनुष्यका वाचक 'लुब्धः' पद है ।

प्रश्न—'हिंसात्मकः' पद कैसे मनुष्यका वाचक है ?

उत्तर—जिस किसी भी प्रकारसे दूसरोंको कष्ट पहुँचाना ही जिसका स्वभाव है, जो अपनी अभिलाषाकी पूर्तिके लिये राग-द्वेषपूर्वक कर्म करते समय दूसरोंके कष्टकी किञ्चिन्मात्र भी परवा न करके अपने आराम तथा भोगके लिये दूसरोंको कष्ट देता रहता है—ऐसे हिंसापरायण मनुष्यका वाचक यहाँ 'हिंसात्मकः' पद है ।

प्रश्न—'अशुचिः' पद कैसे मनुष्यका वाचक है ?

उत्तर—जिसमें शौचाचार और सदाचारका अभाव है अर्थात् जो न तो शास्त्रविधिके अनुसार जल-मृत्तिकादिसे शरीर और वस्त्रादिको शुद्ध रखता है और न यथायोग्य बर्ताव करके अपने आचरणोंको ही शुद्ध रखता है, किन्तु भोगोंमें आसक्त होकर नाना प्रकारके भोगोंकी प्राप्तिके लिये शौचाचारका त्याग कर देता है—ऐसे मनुष्यका वाचक यहाँ 'अशुचिः' पद है ।

प्रश्न—'हर्षशोकान्वितः' पद कैसे मनुष्यका वाचक है ?

उत्तर—प्रत्येक क्रियामें और उसके फलमें राग-द्वेष रहनेके कारण हरेक कर्म करते समय तथा हरेक घटनामें जो कभी हर्षित होता है और कभी शोक करता है—इस प्रकार जिसके अन्तःकरणमें हर्ष और शोक निरन्तर होते रहते हैं, ऐसे मनुष्यका वाचक यहाँ 'हर्षशोकान्वितः' पद है ।

प्रश्न—वह कर्ता राजस कहा गया है—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इस कथनसे यह भाव दिखलाया गया है कि जो मनुष्य उपर्युक्त समस्त भावोंसे या उनमेंसे कितने ही भावोंसे युक्त होकर क्रिया करनेवाला है, वह 'राजस कर्ता' है । 'राजस कर्ता' बार-बार नाना योनियोंमें जन्मता और मरता रहता है, वह संसारचक्रसे मुक्त नहीं होता । इसलिये मुक्ति चाहनेवाले मनुष्यको 'राजस कर्ता' नहीं बनना चाहिये ।

सम्बन्ध—अब तामस कर्ताके लक्षण बतलाते हैं—

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥ २८ ॥

जो कर्ता अयुक्त, शिक्षासे रहित, घमंडी, धूर्त और दूसरोंकी जीविकाका नाश करनेवाला तथा शोक करनेवाला, आलसी और दीर्घसूत्री है—वह तामस कहा जाता है ॥ २८ ॥

प्रश्न—'अयुक्तः' पद कैसे मनुष्यका वाचक है ?

उत्तर—जिसके मन और इन्द्रियाँ वशमें किये हुए नहीं हैं, बल्कि जो स्वयं उनके वशीभूत हो रहा है तथा जिसमें श्रद्धा और आस्तिकताका अभाव है—ऐसे पुरुषका वाचक 'अयुक्तः' पद है।

प्रश्न—'प्राकृतः' पद कैसे मनुष्यका वाचक है ?

उत्तर—जिसको किसी प्रकारकी सुशिक्षा नहीं मिली है, जिसका स्वभाव बालकके समान है, जिसको अपने कर्तव्यका कुछ भी ज्ञान नहीं है (१६ । ७), जिसके अन्तःकरण और इन्द्रियोंका सुधार नहीं हुआ है—ऐसे संस्काररहित स्वाभाविक मूर्खका वाचक 'प्राकृतः' पद है।

प्रश्न—'स्तब्धः' पद कैसे मनुष्यका वाचक है ?

उत्तर—जिसका स्वभाव अत्यन्त कठोर है, जिसमें विनयका अत्यन्त अभाव है, जो निरन्तर घमंडमें चूर रहता है—अपने सामने दूसरोंको कुछ भी नहीं समझता—ऐसे घमंडी मनुष्यका वाचक 'स्तब्धः' पद है।

प्रश्न—'शठः' पद किसका वाचक है ?

उत्तर—जो दूसरोंको ठगनेवाला वञ्चक है, द्वेषको छिपाये रखकर गुप्तभावसे दूसरोंका अपकार करनेवाला है, मन-ही-मन दूसरोंका अनिष्ट करनेके लिये दाव-पेंच सोचता रहता है—ऐसे धूर्त मनुष्यका वाचक 'शठः' पद है।

प्रश्न—'नैष्कृतिकः' पद कैसे मनुष्यका वाचक है ?

उत्तर—जो नाना प्रकारसे दूसरोंकी जीविकाका नाश करनेवाला है, दूसरोंकी वृत्तिमें बाधा डालना ही जिसका स्वभाव है—ऐसे मनुष्यका वाचक 'नैष्कृतिकः' पद है।

प्रश्न—'अलसः' पद कैसे मनुष्यका वाचक है ?

उत्तर—जिसका रात-दिन पड़े रहनेका स्वभाव है, किसी भी शास्त्रीय या व्यावहारिक कर्तव्य-कर्ममें उसकी प्रवृत्ति और उत्साह नहीं होते, जिसके अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें आलस्य भरा रहता है—ऐसे आलसी मनुष्यका वाचक 'अलसः' पद है।

प्रश्न—'विषादी' किसको कहते हैं ?

उत्तर—जो रात-दिन शोक करता रहता है, जिसकी चिन्ताओंका कभी अन्त नहीं आता (१६ । ११)—ऐसे चिन्तापरायण पुरुषको 'विषादी' कहते हैं।

प्रश्न—'दीर्घसूत्री' किसको कहते हैं ?

उत्तर—जो किसी कार्यका आरम्भ करके बहुत कालतक उसे पूरा नहीं करता—आज कर लेंगे, कल कर लेंगे, इस प्रकार विचार करते-करते एक रोजमें हो जानेवाले कार्यके लिये बहुत समय निकाल देता है और फिर भी उसे पूरा नहीं कर पाता—ऐसे शिथिल प्रकृतिवाले मनुष्यको 'दीर्घसूत्री' कहते हैं।

प्रश्न—वह कर्ता तामस कहा जाता है, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि उपर्युक्त विशेषणोंमें बतलाये हुए सभी अवगुण तमोगुणके कार्य हैं; अतः जिस पुरुषमें उपर्युक्त समस्त लक्षण घटते हों या उनमेंसे कितने ही लक्षण घटते हों, उसे तामस कर्ता समझना चाहिये। तामसी मनुष्योंकी अधोगति होती है (१४ । १८); वे नाना प्रकारकी पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग आदि नीच योनियोंमें उत्पन्न होते हैं (१४ । १५)—अतः कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको अपनेमें तामसी कर्ताके लक्षणोंका कोई भी अंश न रहने देना चाहिये।

सम्बन्ध—इस प्रकार तत्त्वज्ञानमें सहायक सात्त्विक भावको ग्रहण करानेके लिये और उसके विरोधी राजस-तामस भावोंका त्याग करानेके लिये कर्म-प्रेरणा और कर्म-संग्रहमेंसे ज्ञान, कर्म और कर्ताके सात्त्विक आदि तीन-तीन भेद क्रमसे बतलाकर अब बुद्धि और धृतिके सात्त्विक, राजस और तामस—इस प्रकार त्रिविध भेद क्रमशः बतलानेकी प्रस्तावना करते हैं—

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय ॥२९॥

हे धनञ्जय ! अब तू बुद्धिका और धृतिका भी गुणोंके अनुसार तीन प्रकारका भेद मेरेद्वारा सम्पूर्णतासे विभागपूर्वक कहा जानेवाला सुन ॥ २९ ॥

प्रश्न—इस श्लोकमें 'बुद्धि' और 'धृति' शब्द किन तत्त्वोंके वाचक हैं तथा उनके गुणोंके अनुसार तीन-तीन प्रकारके भेद सम्पूर्णतासे विभागपूर्वक सुननेके लिये कहनेका क्या भाव है ?

उत्तर—'बुद्धि' शब्द यहाँ निश्चय करनेकी शक्ति-विशेषका वाचक है, इसे अन्तःकरण भी कहते हैं। २०वें, २१वें और २२वें श्लोकोंमें जिस ज्ञानके तीन भेद बतलाये गये हैं, वह बुद्धिसे उत्पन्न होनेवाला विवेक यानी बुद्धिकी वृत्तिविशेष है और यह बुद्धि उसका कारण है। अठारहवें श्लोकमें 'ज्ञान' शब्द कर्म-प्रेरणाके अन्तर्गत आया है और बुद्धिका ग्रहण 'करण' के नामसे कर्म-संग्रहमें किया गया है। यही ज्ञानका और बुद्धिका भेद है । यहाँ कर्म-संग्रहमें वर्णित करणोंके सात्त्विक-राजस-तामस भेदोंको भलीभाँति समझानेके लिये प्रधान 'करण' बुद्धिके तीन भेद बतलाये जाते हैं।

'धृति' शब्द धारण करनेकी शक्तिविशेषका वाचक है; यह भी बुद्धिकी ही वृत्ति है। मनुष्य किसी भी क्रिया या भावको इसी शक्तिके द्वारा दृढ़तापूर्वक धारण करता है । इस कारण वह 'करण' के ही अन्तर्गत है। २६वें श्लोकमें सात्त्विक कर्ताके लक्षणोंमें 'धृति' शब्दका प्रयोग हुआ है, इससे यह समझानेकी गुंजाइश हो जाती है कि 'धृति' केवल सात्त्विक ही होती है; किन्तु ऐसी बात नहीं है, इसके भी तीन भेद होते हैं—यही बात समझानेके लिये इस प्रकरणमें 'धृति' के तीन भेद बतलाये गये हैं।

यहाँ गुणोंके अनुसार बुद्धि और धृतिके तीन-तीन भेद सम्पूर्णतासे विभागपूर्वक सुननेके लिये कहकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि मैं तुम्हें बुद्धि-तत्त्वके और धृतितत्त्वके लक्षण—जो सत्त्व, रज और तम, इन तीनों गुणोंके सम्बन्धसे तीन प्रकारके होते हैं—पूर्णरूपसे और अलग-अलग बतलाता हूँ। अतः सात्त्विक बुद्धि और सात्त्विक धृतिको धारण करनेके लिये तथा राजस-तामसका त्याग करनेके लिये तुम इन दोनों तत्त्वोंके समस्त लक्षणोंको सावधानीके साथ सुनो।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें जो बुद्धि और धृतिके सात्त्विक, राजस और तामस तीन-तीन भेद क्रमशः बतलानेकी प्रस्तावना की है, उसके अनुसार पहले सात्त्विक बुद्धिके लक्षण बतलाते हैं—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३०॥

हे पार्थ ! जो बुद्धि प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्गको, कर्तव्य और अकर्तव्यको, भय और अभयको तथा बन्धन और मोक्षको यथार्थ जानती है--वह बुद्धि सात्त्विकी है ॥ ३० ॥

प्रश्न—'प्रवृत्तिमार्ग' किस मार्गको कहते हैं और उसको यथार्थ जानना क्या है ?

उत्तर—गृहस्थ-वानप्रस्थादि आश्रमोंमें रहकर ममता, आसक्ति, अहङ्कार और फलेच्छाका त्याग करके परमात्माकी प्राप्तिके लिये शास्त्रविहित यज्ञ, दान और तप आदि शुभ कर्मोंका, अपने वर्णाश्रमधर्मके अनुसार जीविकाके कर्मोंका और शरीरसम्बन्धी खान-पान आदि कर्मोंका निष्कामभावसे आचरणरूप जो परमात्माको प्राप्त करनेका मार्ग है—वह प्रवृत्तिमार्ग है । और राजा जनक, अम्बरीष, महर्षि वसिष्ठ और याज्ञवल्क्य आदिकी भाँति उसे ठीक-ठीक समझकर उसके अनुसार चलना ही उसको यथार्थ जानना है ।

प्रश्न—'निवृत्तिमार्ग' किसको कहते हैं और उसे यथार्थ जानना क्या है ?

उत्तर—समस्त कर्मोंका और भोगोंका बाहर-भीतरसे सर्वथा त्याग करके, संन्यास-आश्रममें रहकर, परमात्माकी प्राप्तिके लिये सब प्रकारकी सांसारिक झंझटोंसे विरक्त होकर अहंता, ममता और आसक्तिके त्यागपूर्वक शम, दम, तितिक्षा आदि साधनोंके सहित निरन्तर श्रवण, मनन, निदिध्यासन करना या केवल भगवान्‌के भजन, स्मरण, कीर्तन आदिमें ही लगे रहना—इस प्रकार जो परमात्माको प्राप्त करनेका मार्ग है, उसका नाम निवृत्तिमार्ग है । और श्रीसनकादि, नारदजी, ऋषभदेवजी और शुकदेवजीकी भाँति उसे ठीक-ठीक समझकर उसके अनुसार चलना ही उसको यथार्थ जानना है ।

प्रश्न—'कर्तव्य' क्या है और 'अकर्तव्य' क्या है ? तथा इन दोनोंको यथार्थ जानना क्या है ?

उत्तर—वर्ण, आश्रम, प्रकृति और परिस्थितिकी तथा देश-कालकी अपेक्षासे जिसके लिये जिस समय जो कर्म करना उचित है—वही उसके लिये कर्तव्य है और जिस समय जिसके लिये जिस कर्मका त्याग उचित है, वही उसके लिये अकर्तव्य है । इन दोनोंको भलीभाँति समझ लेना—अर्थात् किसी भी कार्यके सामने आनेपर यह मेरे लिये कर्तव्य है या अकर्तव्य, इस बातका तत्काल यथार्थ निर्णय कर लेना ही कर्तव्य और अकर्तव्यको यथार्थ जानना है ।

प्रश्न—'भय' किसको और 'अभय' किसको कहते हैं ? तथा इन दोनोंको यथार्थ जानना क्या है ?

उत्तर—किसी दुःखप्रद वस्तुके या घटनाके उपस्थित हो जानेपर या उसकी सम्भावना होनेसे मनुष्यके अन्तःकरणमें जो एक आकुलताभरी कम्पवृत्ति होती है, उसे भय कहते हैं और इससे विपरीत जो भयके अभावकी वृत्ति है, उसे 'अभय' कहते हैं । इन दोनोंके तत्त्वको जान लेना अर्थात् भय क्या है और अभय क्या है तथा किन-किन कारणोंसे मनुष्यको भय होता है और किस प्रकार उसकी निवृत्ति होकर 'अभय' अवस्था प्राप्त हो सकती है, इस विषयको भलीभाँति समझ लेना ही भय और अभय—इन दोनोंको यथार्थ जानना है ।

प्रश्न—बन्धन और मोक्ष क्या है ?

उत्तर—शुभाशुभ कर्मोंके फलस्वरूप जीवको जो अनादिकालसे निरन्तर परवश होकर जन्म-मृत्युके चक्रमें भटकना पड़ रहा है, यही बन्धन है; और सत्सङ्गके प्रभावसे कर्मयोग, भक्तियोग तथा ज्ञानयोगादि साधनोंमेंसे किसी साधनके द्वारा भगवत्कृपासे समस्त शुभाशुभ कर्मबन्धनोंका कट जाना और जीवका भगवत्प्राप्त हो जाना ही मोक्ष है ।

प्रश्न—बन्धन और मोक्षको यथार्थ जानना क्या है ?

उत्तर—बन्धन क्या है, किस कारणसे इस जीवका बन्धन है और किन-किन कारणोंसे पुनः इसका बन्धन दृढ़ हो जाता है—इन सब बातोंको भलीभाँति समझ लेना बन्धनको यथार्थ जानना है और उस बन्धनसे मुक्त होना क्या है तथा किन-किन उपायोंसे किस प्रकार मनुष्य बन्धनसे मुक्त हो सकता है, इन सब बातोंको ठीक-ठीक जान लेना ही मोक्षको यथार्थ जानना है ।

प्रश्न—वह बुद्धि सात्त्विक है, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि जो बुद्धि उपर्युक्त बातोंका एवं इसी प्रकार अन्यान्य समस्त ज्ञातव्य विषयोंका ठीक-ठीक निर्णय कर सकती है, किसी भी विषयका निर्णय करनेमें न तो उससे भूल होती है और न संशय ही रहता है—जब जिस बातका निर्णय करनेकी जरूरत पड़ती है, तत्काल यथार्थ निर्णय कर लेती है—वह बुद्धि सात्त्विकी है । सात्त्विकी बुद्धि मनुष्यको संसारबन्धनसे छुड़ाकर परमपदकी प्राप्ति करानेवाली होती है, अतः कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको अपनी बुद्धि सात्त्विकी बना लेनी चाहिये ।

सम्बन्ध—अब राजसी बुद्धिके लक्षण बतलाते हैं—

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥३१॥

हे पार्थ ! मनुष्य जिस बुद्धिके द्वारा धर्म और अधर्मको तथा कर्तव्य और अकर्तव्यको भी यथार्थ नहीं जानता, वह बुद्धि राजसी है ॥ ३१ ॥

प्रश्न—'धर्म' किसको कहते हैं और 'अधर्म' किसको कहते हैं तथा इन दोनोंको यथार्थ न जानना क्या है ?

उत्तर—अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, शम, दम, तितिक्षा तथा यज्ञ, दान, तप एवं अध्ययन, अध्यापन, प्रजापालन, कृषि, पशुपालन और सेवा आदि जितने भी वर्णाश्रमके अनुसार शास्त्रविहित शुभ कर्म हैं—जिन आचरणोंका फल शास्त्रोंमें इस लोक और परलोकके सुख-भोग बतलाया गया है—तथा जो दूसरोंके हितके कर्म हैं, उन सबका नाम धर्म है* एवं झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार, हिंसा, दम्भ, अभक्ष्यभक्षण आदि जितने भी पापकर्म हैं—जिनका फल शास्त्रोंमें दुःख-भोग बतलाया है—उन सबका नाम अधर्म है । किस समय किस परिस्थितिमें कौन-सा कर्म धर्म है और कौन-सा कर्म अधर्म है—इसका ठीक-ठीक निर्णय करनेमें बुद्धिका कुण्ठित हो जाना, भ्रममें पड़ जाना या संशययुक्त हो जाना आदि उन दोनोंका यथार्थ न जानना है ।

* शास्त्रोंमें धर्मकी बड़ी महिमा है । बृहद्धर्मपुराणमें कहा है—

अधार्मिकमुखं दृष्ट्वा पश्येत् सूर्यं सदा नरः । नाधर्मे रमतां बुद्धिर्यतो धर्मस्ततो जयः ॥

'अधार्मिक व्यक्तिका मुँह देखकर मनुष्यको सदा सूर्यके दर्शन करने चाहिये । बुद्धिको कभी अधर्ममें न लगाना चाहिये । जहाँ धर्म है वहीं जय है ।'

प्रश्न—'कार्य' किसका नाम है और 'अकार्य' किसका ? तथा धर्म-अधर्ममें और कर्तव्य-अकर्तव्यमें क्या भेद है एवं कर्तव्य और अकर्तव्यको यथार्थ न जानना क्या है ?

उत्तर— वर्ण, आश्रम, प्रकृति, परिस्थिति तथा देश और कालकी अपेक्षासे जिस मनुष्यके लिये जो शास्त्र-विहित करनेयोग्य कर्म हैं—वह कार्य (कर्तव्य) है और जिसके लिये शास्त्रमें जिस कर्मको न करनेयोग्य—निषिद्ध बतलाया है, बल्कि जिसका न करना ही उचित है—वह अकार्य (अकर्तव्य) है। शास्त्रनिषिद्ध पापकर्म तो सबके लिये अकार्य हैं ही, किन्तु शास्त्र-विहित शुभ कर्मोंमें भी किसीके लिये कोई कर्म कार्य होता है और किसीके लिये कोई अकार्य। जैसे शूद्रके लिये सेवा करना कार्य है और यज्ञ, वेदाध्ययन आदि करना अकार्य है; संन्यासीके लिये विवेक, वैराग्य, शम, दमादिका साधन कार्य है और यज्ञ-दानादिका आचरण अकार्य है; ब्राह्मणके लिये यज्ञ करना-कराना, दान देना-लेना, वेद पढ़ना-पढ़ाना कार्य है और नौकरी करना अकार्य है; वैश्यके लिये कृषि, गोरक्षा और वाणिज्यादि कार्य है और दान लेना अकार्य है। इसी तरह स्वर्गादिकी कामनावाले मनुष्यके लिये काम्य-कर्म कार्य हैं और मुमुक्षुके लिये अकार्य

इस विश्वकी रक्षा करनेवाले वृषभरूप धर्मके चार पैर माने गये हैं। सत्ययुगमें चारों पैर पूरे रहते हैं; त्रेतामें तीन, द्वापरमें दो और कलियुगमें एक ही पैर रह जाता है।

धर्मके चार पैर हैं—सत्य, दया, शान्ति और अहिंसा।

सत्यं दया तथा शान्तिरहिंसा चेति कीर्तिताः। धर्मस्यावयवास्तात चत्वारः पूर्णतां गताः॥

इनमें सत्यके बारह भेद हैं—

अमिथ्यावचनं सत्यं स्वीकारप्रतिपालनम्। प्रियवाक्यं गुरोः सेवा दृढं चैव व्रतं कृतम्॥
आस्तिक्यं साधुसङ्गश्च पितुर्मातुः प्रियङ्करः। शुचित्वं द्विविधं चैव ह्रीरसञ्चय एव च॥

'झूठ न बोलना, स्वीकार किये हुएका पालन करना, प्रिय वचन बोलना, गुरुकी सेवा करना, नियमोंका दृढ़तासे पालन करना, आस्तिकता, साधुसङ्ग, माता-पिताका प्रियकार्य, बाह्यशौच, आन्तरशौच, लज्जा और अपरिग्रह।'

दयाके छः प्रकार हैं—

परोपकारो दानं च सर्वदा स्मितभाषणम्। विनयो न्यूनताभावस्वीकारः समतामतिः॥

'परोपकार, दान, सदा हँसते हुए बोलना, विनय, अपनेको छोटा समझना और समत्वबुद्धि।'

शान्तिके तीस लक्षण हैं—

अनसूयाल्पसन्तोष इन्द्रियाणां च संयमः। असङ्गमो मौनमेवं देवपूजाविधौ मतिः॥
अकुतश्चिद्भयत्वं च गाम्भीर्यं स्थिरचित्तता। अरूक्षभावः सर्वत्र निःस्पृहत्वं दृढा मतिः॥
विवर्जनं ह्यकार्याणां समः पूजापमानयोः। श्लाघा परगुणेऽस्तेयं ब्रह्मचर्यं धृतिः क्षमा॥
आतिथ्यं च जपो होमस्तीर्थसेवाऽऽर्यसेवनम्। अमत्सरो बन्धमोक्षज्ञानं संन्यासभावना॥
सहिष्णुता सुदुःखेषु अकार्पण्यममूर्खता।

'किसीमें दोष न देखना, थोड़ेमें सन्तोष करना, इन्द्रिय-संयम, भोगोंमें अनासक्ति, मौन, देवपूजामें मन लगाना, निर्भयता, गम्भीरता, चित्तकी स्थिरता, रूखेपनका अभाव, सर्वत्र निःस्पृहता, निश्चयात्मिका बुद्धि, न करनेयोग्य कार्योंका त्याग, मानापमानमें समता, दूसरेके गुणमें श्लाघा, चोरीका अभाव, ब्रह्मचर्य, धैर्य, क्षमा, अतिथिसत्कार, जप, होम, तीर्थसेवा, श्रेष्ठ पुरुषोंकी सेवा, मत्सरहीनता, बन्ध-मोक्षका ज्ञान, संन्यास-भावना, अति दुःखमें भी सहिष्णुता, कृपणताका अभाव और मूर्खताका अभाव।'

हैं; विरक्त ब्राह्मणके लिये संन्यास ग्रहण करना कार्य है और भोगासक्तके लिये अकार्य है। इससे यह सिद्ध है कि शास्त्रविहित धर्म होनेसे ही वह सबके लिये कर्तव्य नहीं हो जाता। इस प्रकार धर्म कार्य भी हो सकता है और अकार्य भी। यही धर्म-अधर्म और कार्य-अकार्यका भेद है। किसी भी कर्मके करनेका या त्यागनेका अवसर आनेपर 'अमुक कर्म मेरे लिये कर्तव्य है या अकर्तव्य, मुझे कौन-सा कर्म किस प्रकार करना चाहिये और कौन-सा नहीं करना चाहिये'—इसका ठीक-ठीक निर्णय करनेमें जो बुद्धिका किंकर्तव्यविमूढ हो जाना, भ्रममें पड़ जाना या संशययुक्त हो जाना है—यही कर्तव्य और अकर्तव्यको यथार्थ न जानना है।

प्रश्न—वह बुद्धि राजसी है, इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इस कथनसे यह भाव दिखलाया गया है कि जिस बुद्धिसे मनुष्य धर्म-अधर्मका और कर्तव्य-अकर्तव्यका ठीक-ठीक निर्णय नहीं कर सकता, जो बुद्धि इसी प्रकार अन्यान्य बातोंका भी ठीक-ठीक निर्णय करनेमें समर्थ नहीं होती—वह रजोगुणके सम्बन्धसे विवेकमें अप्रतिष्ठित, विक्षिप्त और अस्थिर रहती है; इसी कारण वह राजसी है। राजस भावका फल दुःख बतलाया गया है; अतएव कल्याणकामी पुरुषको सत्सङ्ग, सद्ग्रन्थोंके अध्ययन और सद्विचारोंके पोषणद्वारा बुद्धिमें स्थित राजस भावोंका त्याग करके सात्त्विक भावोंको उत्पन्न करने और बढ़ानेकी चेष्टा करनी चाहिये।

सम्बन्ध—अब तामसी बुद्धिके लक्षण बतलाते हैं—

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसाऽऽवृता।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥३२॥

हे अर्जुन! जो तमोगुणसे घिरी हुई बुद्धि अधर्मको भी 'यह धर्म है' ऐसा मान लेती है तथा इसी प्रकार अन्य सम्पूर्ण पदार्थोंको भी विपरीत मान लेती है, वह बुद्धि तामसी है ॥३२॥

अहिंसाके सात भाव हैं—

अहिंसा त्वासनजयः परपीडाविवर्जनम्।
श्रद्धा चातिथ्यसेवा च शान्तरूपप्रदर्शनम्॥
आत्मीयता च सर्वत्र आत्मबुद्धिः परात्मसु।

'आसनजय, दूसरेको मन-वाणी-शरीरसे दुःख न पहुँचाना, श्रद्धा, अतिथिसत्कार, शान्तभावका प्रदर्शन, सर्वत्र आत्मीयता और परायेमें भी आत्मबुद्धि।'

यह धर्म है। इस धर्मका थोड़ा-सा भी आचरण परम लाभदायक और इसके विपरीत आचरण महान् हानिकारक है—

यथा स्वल्पमधर्मं हि जनयेत् तु महाभयम्। स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥
(बृहद्धर्मपुराण, पूर्वखण्ड १।४७)

'जैसे थोड़े-से अधर्मका आचरण महान् भयको उत्पन्न करनेवाला होता है, वैसे ही थोड़ा-सा भी इस धर्मका आचरण महान् भयसे रक्षा करता है।'

इस चतुष्पाद धर्मके साथ-साथ ही अपने-अपने वर्णाश्रमानुसार धर्मोंका आचरण करना चाहिये।

प्रश्न—अधर्मको धर्म मानना क्या है और धर्मको अधर्म मानना क्या है ?

उत्तर—ईश्वरनिन्दा, देवनिन्दा, शास्त्रविरोध, माता-पिता-गुरु आदिका अपमान, वर्णाश्रमधर्मके प्रतिकूल आचरण, असन्तोष, दम्भ, कपट, व्यभिचार, असत्य भाषण, परपीडन, अभक्ष्यभोजन, यथेच्छाचार और पर-सत्त्वापहरण आदि निषिद्ध पापकर्मोंको धर्म मान लेना और धृति, क्षमा, मनोनिग्रह, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य, अक्रोध, ईश्वरपूजन, देवोपासना, शास्त्रसेवन, वर्णाश्रमधर्मानुसार आचरण, माता-पिता आदि गुरुजनोंकी आज्ञाका पालन, सरलता, ब्रह्मचर्य, सात्त्विक भोजन, अहिंसा और परोपकार आदि शास्त्रविहित पुण्यकर्मोंको अधर्म मानना—यही अधर्मको धर्म और धर्मको अधर्म मानना है ।

प्रश्न—अन्य सब पदार्थोंको विपरीत मान लेना क्या है ?

उत्तर—अधर्मको धर्म मान लेनेकी भाँति ही अकर्तव्यको कर्तव्य, दुःखको सुख, अनित्यको नित्य, अशुद्धको शुद्ध और हानिको लाभ मान लेना आदि जितना भी विपरीत ज्ञान है—वह सब अन्य पदार्थोंको विपरीत मान लेनेके अन्तर्गत है ।

प्रश्न—वह बुद्धि तामसी है, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इस कथनसे यह भाव दिखलाया गया है कि तमोगुणसे ढकी रहनेके कारण जिस बुद्धिकी विवेक-शक्ति सर्वथा लुप्त-सी हो गयी है, इसी कारण जिसके द्वारा प्रत्येक विषयमें बिल्कुल उलटा निश्चय होता है—वह बुद्धि तामसी है । ऐसी बुद्धि मनुष्यको अधोगतिमें ले जानेवाली है; इसलिये कल्याण चाहनेवाले मनुष्योंको इस प्रकारकी विपरीत बुद्धिका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ।

सम्बन्ध—अब सात्त्विकी धृतिके लक्षण बतलाते हैं—

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३३॥

हे पार्थ ! जिस अव्यभिचारिणी धारणशक्तिसे मनुष्य ध्यानयोगके द्वारा मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको धारण करता है, वह धृति सात्त्विकी है ॥३३॥

प्रश्न—यहाँ 'अव्यभिचारिण्या' विशेषणके सहित 'धृत्या' पद किसका वाचक है ? और उससे ध्यान-योगके द्वारा मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको धारण करना क्या है ?

उत्तर—किसी भी क्रिया, भाव या वृत्तिको धारण करनेकी—उसे दृढ़तापूर्वक स्थिर रखनेकी जो शक्ति-विशेष है, जिसके द्वारा धारण की हुई कोई भी क्रिया, भावना या वृत्ति विचलित नहीं होती, प्रत्युत चिरकाल-तक स्थिर रहती है, उस शक्तिका नाम 'धृति' है । परन्तु इसके द्वारा मनुष्य जबतक भिन्न-भिन्न उद्देश्योंसे, नाना विषयोंको धारण करता रहता है, तबतक इसका व्यभिचार-दोष नष्ट नहीं होता; जब इसके द्वारा मनुष्य अपना एक अटल उद्देश्य स्थिर कर लेता है, उस समय यह 'अव्यभिचारिणी' हो जाती है । सात्त्विक धृतिका एक ही उद्देश्य होता है—परमात्माको प्राप्त करना । इसी कारण उसे 'अव्यभिचारिणी' कहते हैं । इस प्रकारकी धारणशक्तिका वाचक यहाँ 'अव्यभि-चारिण्या' विशेषणके सहित 'धृत्या' पद है । ऐसी धारण-शक्तिसे जो परमात्माको प्राप्त करनेके लिये ध्यानयोग-द्वारा मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको अटलरूपसे

परमात्मामें रोके रखना है—यही उपर्युक्त धृतिसे ध्यानयोगके द्वारा मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको धारण करना है।

प्रश्न—वह धृति सात्त्विकी है, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि जो धृति परमात्माकी प्राप्तिरूप एक ही उद्देश्यमें सदा स्थिर रहती है, जो अपने लक्ष्यसे कभी विचलित नहीं होती, जिसके भिन्न-भिन्न उद्देश्य नहीं हैं तथा जिसके द्वारा मनुष्य परमात्माकी प्राप्तिके लिये मन और इन्द्रिय आदिको परमात्मामें लगाये रखता है और किसी भी कारणसे उनको विषयोंमें आसक्त और चञ्चल न होने देकर सदा-सर्वदा अपने वशमें रखता है—ऐसी धृति सात्त्विक है। इस प्रकारकी धारणशक्ति मनुष्यको शीघ्र ही परमात्माकी प्राप्ति करानेवाली होती है। अतएव कल्याण चाहनेवाले पुरुषको चाहिये कि वह अपनी धारणशक्तिको इस प्रकार सात्त्विक बनानेकी चेष्टा करे।

सम्बन्ध—अब राजस धृतिके लक्षण बतलाते हैं—

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥३४॥

और हे पृथापुत्र अर्जुन! फलकी इच्छावाला मनुष्य जिस धारणशक्तिके द्वारा अत्यन्त आसक्तिसे धर्म, अर्थ और कामोंको धारण किये रहता है, वह धारणशक्ति राजसी है ॥ ३४ ॥

प्रश्न—'फलाकाङ्क्षी' पद कैसे मनुष्यका वाचक है तथा ऐसे मनुष्यका धारणशक्तिके द्वारा अत्यन्त आसक्तिसे धर्म, अर्थ और काम—इन तीनोंको धारण किये रहना क्या है?

उत्तर—'फलाकाङ्क्षी' पद कर्मोंके फलरूप इस लोक और परलोकके विभिन्न प्रकारके भोगोंकी इच्छा करनेवाले सकामी मनुष्यका वाचक है। ऐसे मनुष्यका जो अपनी धारणशक्तिके द्वारा अत्यन्त आसक्तिपूर्वक धर्मका पालन करते रहना और विविध विघ्न-बाधाओंके उपस्थित होनेपर भी उसका त्याग न करना है—यही उसका धृतिके द्वारा धर्मको धारण करना है एवं जो धनादि पदार्थोंको और उनसे सिद्ध होनेवाले भोगोंको ही जीवनका लक्ष्य बनाकर अत्यन्त आसक्तिके कारण दृढ़तापूर्वक उनको पकड़े रखना है—यही उसका धृतिके द्वारा अर्थ और कामोंको धारण किये रहना है।

प्रश्न—वह धारणशक्ति राजसी है, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इस कथनसे यह भाव दिखलाया गया है कि जिस धृतिके द्वारा मनुष्य मोक्षके साधनोंकी ओर कुछ भी ध्यान न देकर केवल उपर्युक्त प्रकारसे धर्म, अर्थ और काम—इन तीनोंको ही धारण किये रहता है, वह 'धृति' रजोगुणसे सम्बन्ध रखनेवाली होनेके कारण राजसी है; क्योंकि आसक्ति और कामना—ये सब रजोगुणके ही कार्य हैं। इस प्रकारकी धृति मनुष्यको कर्मोंद्वारा बाँधनेवाली है; अतएव कल्याणकामी मनुष्यको चाहिये कि अपनी धारणशक्तिको राजसी न होने देकर सात्त्विकी बनानेकी चेष्टा करे।

सम्बन्ध—अब तामसी धृतिका लक्षण बतलाते हैं—

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥३५॥

हे पार्थ ! दुष्ट बुद्धिवाला मनुष्य जिस धारणशक्तिके द्वारा निद्रा, भय, चिन्ता और दुःखको तथा उन्मत्तताको भी नहीं छोड़ता अर्थात् धारण किये रहता है—वह धारणशक्ति तामसी है ॥ ३५ ॥

प्रश्न—'दुर्मेधाः' पद कैसे मनुष्यका वाचक है तथा यहाँ इसके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—जिसकी बुद्धि अत्यन्त मन्द और मलिन हो, जिसके अन्तःकरणमें दूसरोंका अनिष्ट करने आदिके भाव भरे रहते हों—ऐसे दुष्टबुद्धि मनुष्यका वाचक 'दुर्मेधाः' पद है; इसका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया गया है कि ऐसे मनुष्योंमें तामसी 'धृति' हुआ करती है ।

प्रश्न—स्वप्न, भय, शोक, विषाद और मद—ये शब्द अलग-अलग किन-किन भावोंके वाचक हैं तथा धृतिके द्वारा इनको न छोड़ना अर्थात् धारण किये रहना क्या है ?

उत्तर—निद्रा, आलस्य और तन्द्रा आदि जो मन और इन्द्रियोंको तमसाच्छन्न, बाह्य क्रियासे रहित और मूढ़ बनानेवाले भाव हैं—उन सबका नाम स्वप्न है; धन आदि पदार्थोंके नाशकी, मृत्युकी, दुःखप्राप्तिकी, सुखके नाशकी अथवा इसी तरह अन्य किसी प्रकारके इष्टके नाश और अनिष्ट-प्राप्तिकी आशङ्कासे अन्तःकरणमें जो एक आकुलता और घबड़ाहटभरी वृत्ति होती है—उसका नाम भय है; मनमें होनेवाली नाना प्रकारकी दुश्चिन्ताओंका नाम शोक है; उसके द्वारा जो इन्द्रियोंमें सन्ताप हो जाता है, उसे विषाद कहते हैं; यह शोकका ही स्थूल भाव है । तथा जो धन, जन और बल आदिके कारण होनेवाली—विवेक, भविष्यके विचार और दूरदर्शितासे रहित—उन्मत्तवृत्ति है, उसे मद कहते हैं; इसीका नाम गर्व, घमंड और उन्मत्तता भी है । इन सबको तथा प्रमाद आदि अन्यान्य तामस भावोंको जो अन्तःकरणसे दूर हटानेकी चेष्टा न करके इन्हींमें डूबे रहना है, यही धृतिके द्वारा इनको न छोड़ना अर्थात् धारण किये रहना है ।

प्रश्न—वह धारणशक्ति तामसी है, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि त्याग करनेयोग्य उपर्युक्त तामस भावोंको जिस धृतिके कारण मनुष्य छोड़ नहीं सकता, अर्थात् जिस धारणशक्तिके कारण उपर्युक्त भाव मनुष्यके अन्तःकरणमें स्वभावसे ही धारण किये हुए रहते हैं—वह धृति तामसी है । यह धृति सर्वथा अनर्थमें हेतु है, अतएव कल्याणकामी मनुष्यको इसका तुरंत और सर्वतोभावसे त्याग कर देना चाहिये ।

सम्बन्ध—इस प्रकार सात्त्विकी बुद्धि और धृतिका ग्रहण तथा राजसी-तामसीका त्याग करानेके लिये बुद्धि और धृतिके सात्त्विक आदि तीन-तीन भेद क्रमसे बतलाकर अब, जिसके लिये मनुष्य समस्त कर्म करता है उस सुखके भी सात्त्विक, राजस और तामस—इस प्रकार तीन भेद क्रमसे बतलाना आरम्भ करते हुए पहले सात्त्विक सुखके लक्षणोंका निरूपण करते हैं—

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥३६॥

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥३७॥

हे भरतश्रेष्ठ ! अब तीन प्रकारके सुखको भी तू मुझसे सुन । जिस सुखमें साधक मनुष्य भजन, ध्यान और सेवादिके अभ्यासले रमण करता है और जिससे दुःखोंके अन्तको प्राप्त हो जाता है—॥ ३६ ॥ जो ऐसा सुख है, वह प्रथम अर्थात् साधनकालमें यद्यपि विषके तुल्य प्रतीत होता है, परन्तु परिणाममें अमृतके तुल्य है; इसलिये वह परमात्मविषयक बुद्धिके प्रसादसे उत्पन्न होनेवाला सुख सात्त्विक कहा गया है ॥ ३७ ॥

प्रश्न—अब तीन प्रकारके सुखको भी तू मुझसे सुन, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि जिस प्रकार मैंने ज्ञान, कर्म, कर्ता, बुद्धि और धृतिके सात्त्विक, राजस और तामस भेद बतलाये हैं, उसी प्रकार सात्त्विक सुखको प्राप्त करानेके लिये और राजस-तामसका त्याग करानेके लिये अब तुम्हें सुखके भी तीन भेद बतलाता हूँ; उनको तुम सावधानीके साथ सुनो ।

प्रश्न—'यत्र' पद किस सुखका वाचक है तथा अभ्याससे रमण करता है, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—जो सुख प्रशान्त मनवाले योगीको मिलता है (६ । २७), उसी उत्तम सुखका वाचक यहाँ 'यत्र' पद है । मनुष्यको इस सुखका अनुभव तभी होता है, जब वह इस लोक और परलोकके समस्त भोग-सुखोंको क्षणिक समझकर उन सबसे आसक्ति हटाकर निरन्तर परमात्म-स्वरूपके चिन्तनका अभ्यास करता है (५ । २१); बिना साधनके इसका अनुभव नहीं हो सकता—यही भाव दिखलानेके लिये इस सुखका 'जिसमें अभ्याससे रमण करता है' यह लक्षण किया गया है ।

प्रश्न—जिससे दुःखोंके अन्तको प्राप्त हो जाता है, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह दिखलाया गया है कि जिस सुखमें रमण करनेवाला मनुष्य आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—सब प्रकारके दुःखोंके सम्बन्धसे सदाके लिये छूट जाता है; जिस सुखके अनुभवका फल निरतिशय सुखस्वरूप सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति बतलाया गया है (५।२१, २४; ६।२८)—वही सात्त्विक सुख है ।

प्रश्न—यहाँ 'अग्रे' पद किस समयका वाचक है और सात्त्विक सुखका विषके तुल्य प्रतीत होना क्या है ?

उत्तर—जिस समय मनुष्य सात्त्विक सुखकी महिमा सुनकर उसको प्राप्त करनेकी इच्छासे, उसकी प्राप्तिके उपायभूत विवेक, वैराग्य, शम, दम और तितिक्षा आदि साधनोंमें लगता है—उस समयका वाचक यहाँ 'अग्रे' पद है । उस समय जिस प्रकार बालक अपने घरवालोंसे विद्याकी महिमा सुनकर विद्याभ्यासकी चेष्टा करता है, पर उसके महत्त्वका यथार्थ अनुभव न होनेके कारण अभ्यास करते समय उसे खेल-कूदको छोड़कर विद्याभ्यासमें लगे रहना अत्यन्त कष्टप्रद और कठिन प्रतीत होता है, उसी प्रकार सात्त्विक सुखके लिये अभ्यास करनेवाले मनुष्यको भी विषयोंका त्याग करके संयमपूर्वक विवेक, वैराग्य, शम, दम और तितिक्षा आदि साधनोंमें लगे रहना अत्यन्त श्रमपूर्ण और कष्टप्रद प्रतीत होता है; यही आरम्भकालमें सात्त्विक सुखका विषके तुल्य प्रतीत होना है ।

प्रश्न—वह सुख परिणाममें अमृतके तुल्य है—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह दिखलाया गया है कि जब सात्त्विक सुखकी प्राप्तिके लिये साधन करते-करते साधकको उस ध्यानजनित सुखका अनुभव होने लगता है, तब उसे वह अमृतके तुल्य प्रतीत होता है; उस समय उसके सामने संसारके समस्त भोग-सुख तुच्छ, नगण्य और दुःखरूप प्रतीत होने लगते हैं ।

प्रश्न—वह परमात्मविषयक बुद्धिके प्रसादसे होनेवाला सुख सात्त्विक कहा गया है, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—उपर्युक्त प्रकारसे अभ्यास करते-करते निरन्तर परमात्माका ध्यान करनेके फलस्वरूप अन्तःकरणके स्वच्छ होनेपर इस सुखका अनुभव होता है, इसीलिये इस सुखको परमात्मबुद्धिके प्रसादसे उत्पन्न होनेवाला बतलाया गया है । और वह सुख सात्त्विक है—इस कथनसे यह भाव दिखलाया गया है कि यही सुख उत्तम सुख है, राजस और तामस सुख वास्तवमें सुख ही नहीं हैं । वे तो नाममात्रके ही सुख हैं, परिणाममें दुःखरूप ही हैं; अतएव अपना कल्याण चाहनेवाले पुरुषको राजस-तामस सुखोंमें न फँसकर निरन्तर सात्त्विक सुखमें ही रमण करना चाहिये ।

सम्बन्ध—अब राजस सुखके लक्षण बतलाते हैं—

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥३८॥

जो सुख विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे होता है, वह पहले—भोगकालमें अमृतके तुल्य प्रतीत होनेपर भी परिणाममें विषके तुल्य है; इसलिये वह सुख राजस कहा गया है ॥ ३८ ॥

प्रश्न—'अग्रे' पद किस समयका वाचक है तथा उस समय इन्द्रिय और विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सुखका अमृतके तुल्य प्रतीत होना क्या है ?

उत्तर—जिस समय राजस सुखकी प्राप्तिके लिये मनुष्य मन और इन्द्रियोंके द्वारा किसी विषयका सेवन करता है, उस समयका वाचक यहाँ 'अग्रे' पद है । इस सुखकी उत्पत्ति इन्द्रिय और विषयोंके संयोगसे होती है—इसका अभिप्राय यह है कि जबतक मनुष्य मनसहित इन्द्रियोंद्वारा किसी विषयका सेवन करता है, तभीतक उसे उस सुखका अनुभव होता है और आसक्तिके कारण वह उसे अत्यन्त प्रिय मालूम होता है; उस समय वह उसके सामने किसी भी अदृष्ट सुखको कोई चीज नहीं समझता । यही उस सुखका भोगकालमें अमृतके तुल्य प्रतीत होना है ।

प्रश्न—राजस सुख परिणाममें विषके तुल्य है, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि इस राजस सुख-भोगका परिणाम विषकी भाँति दुःखप्रद है; यह राजस सुख प्रतीतिमात्रका ही सुख है, वस्तुतः सुख नहीं है । अभिप्राय यह है कि मन और इन्द्रियोंद्वारा आसक्तिपूर्वक सुखबुद्धिसे विषयोंका सेवन करनेसे उनके संस्कार अन्तःकरणमें जम जाते हैं, जिनके कारण मनुष्य पुनः उन्हीं विषय-भोगोंकी प्राप्तिकी इच्छा करता है और उसके लिये आसक्तिवश अनेक प्रकारके पापकर्म कर बैठता है तथा उन पापकर्मोंका फल भोगनेके लिये उसे कीट, पतङ्ग, पशु, पक्षी आदि नीच योनियोंमें जन्म लेना पड़ता है तथा यन्त्रणामय नरकोंमें पड़कर भीषण दुःख भोगने पड़ते हैं ।

विषयोंमें आसक्ति बढ़ जानेसे पुनः उनकी प्राप्ति न होनेपर अभावके दुःखका अनुभव होता है तथा उनसे वियोग होते समय भी अत्यन्त दुःख होता है । दूसरोंके पास अपनेसे अधिक सुख-सम्पत्ति देखकर ईर्ष्यासे जलन होती है; तथा भोगके अनन्तर शरीरमें बल, वीर्य, बुद्धि, तेज और शक्तिके ह्राससे और थकावटसे भी महान् कष्टका अनुभव होता है । इसी प्रकार और भी बहुत-से दुःखप्रद परिणाम होते हैं । इसलिये विषय और इन्द्रियों-के संयोगसे होनेवाला यह क्षणिक सुख यद्यपि वस्तुतः सब प्रकारसे दुःखरूप ही है, तथापि जैसे रोगी मनुष्य आसक्तिके कारण स्वादके लोभसे परिणामका विचार न करके कुपथ्यका सेवन करता है और परिणाममें रोग बढ़ जानेसे दुखी होता है या मृत्यु हो जाती है; अथवा जैसे पतङ्ग नेत्रोंके विषय रूपमें आसक्त होनेके कारण प्रयत्नपूर्वक सुखबुद्धिसे दीपककी लौके साथ टकरानेमें सुख मानता है किन्तु परिणाममें जलकर कष्ट-भोग करता है और मर जाता है—उसी प्रकार विषयासक्त मनुष्य भी मूर्खता और आसक्तिवश परिणामका विचार न करके सुखबुद्धिसे विषयोंका सेवन करता है और परिणाममें अनेकों प्रकारसे भाँति-भाँतिके भीषण दुःख भोगता है ।

प्रश्न—वह सुख राजस कहा गया है, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि उपर्युक्त लक्षणोंवाला जो प्रतीतिमात्रका क्षणिक सुख है, वह राजस है और आसक्तिके द्वारा मनुष्यको बाँधनेवाला है । इसलिये कल्याण चाहनेवालेको ऐसे सुखमें नहीं फँसना चाहिये ।

सम्बन्ध—अब तामस सुखका लक्षण बतलाते हैं—

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥

जो भोगकालमें तथा परिणाममें भी आत्माको मोहित करनेवाला है—वह निद्रा, आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न हुआ सुख तामस कहा गया है ॥ ३९ ॥

प्रश्न—निद्रा, आलस्य और प्रमादजनित सुख कौन-सा है और वह भोगकालमें तथा परिणाममें आत्माको मोहित करनेवाला कैसे है ?

उत्तर—निद्राके समय मन और इन्द्रियोंकी क्रिया बंद हो जानेके कारण थकावटसे होनेवाले दुःखका अभाव होनेसे तथा मन और इन्द्रियोंको विश्राम मिलनेसे जो सुखकी प्रतीति होती है, उसे निद्राजनित सुख कहते हैं । वह सुख जितनी देरतक निद्रा रहती है उतनी ही देरतक रहता है, निरन्तर नहीं रहता—इस कारण क्षणिक है । इसके अतिरिक्त उस समय मन, बुद्धि और इन्द्रियोंमें प्रकाशका अभाव हो जाता है, किसी भी वस्तुका अनुभव करनेकी शक्ति नहीं रहती । इस कारण वह सुख भोग-कालमें आत्माको यानी अन्तःकरण और इन्द्रियोंको तथा इनके अभिमानी पुरुषको मोहित करनेवाला है । और इस सुखकी आसक्तिके कारण परिणाममें मनुष्यको अज्ञानमय वृक्ष, पहाड़ आदि जड योनियोंमें जन्म ग्रहण करना पड़ता है, अतएव यह परिणाममें भी आत्माको मोहित करनेवाला है ।

इसी तरह समस्त क्रियाओंका त्याग करके पड़े रहनेके समय जो मन, इन्द्रिय और शरीरके परिश्रमका

त्याग कर देनेसे आरामकी प्रतीति होती है, वह आलस्यजनित सुख है। वह भी निद्राजनित सुखकी भाँति मन, इन्द्रियोंमें ज्ञानके प्रकाशका अभाव करके भोगकालमें उन सबको मोहित करनेवाला है तथा मोह और आसक्तिके कारण जड योनियोंमें प्रेरित करनेवाला होनेसे परिणाममें भी मोहित करनेवाला है।

मन बहलानेके लिये आसक्तिवश की जानेवाली व्यर्थ क्रियाओंका और अज्ञानवश कर्तव्य-कर्मोंकी अवहेलना करके उनके त्याग कर देनेका नाम प्रमाद है। व्यर्थ क्रियाओंके करनेमें मनकी प्रसन्नताके कारण और कर्तव्यका त्याग करनेमें परिश्रमसे बचनेके कारण मूर्खतावश जो सुखकी प्रतीति होती है, वह प्रमादजनित सुख है। जिस समय मनुष्य किसी प्रकार मन बहलानेकी व्यर्थ क्रियामें संलग्न हो जाता है, उस समय उसे कर्तव्य-अकर्तव्यका कुछ भी ज्ञान नहीं रहता, उसकी विवेकशक्ति मोहसे ढक जाती है। और विवेक-शक्तिके आच्छादित हो जानेसे ही कर्तव्यकी अवहेलना होती है, इस कारण यह प्रमादजनित सुख भोगकालमें आत्माको मोहित करनेवाला है। और उपर्युक्त व्यर्थ कर्मोंमें अज्ञान और आसक्तिवश होनेवाले झूठ, कपट, हिंसा आदि पापकर्मोंका और कर्तव्य-कर्मोंके त्यागका फल भोगनेके लिये ऐसा करनेवालोंको सूकर-कूकर आदि नीच योनियोंकी और नरकोंकी प्राप्ति होती है; इससे यह परिणाममें भी आत्माको मोहित करनेवाला है।

प्रश्न—वह सुख तामस है, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि निद्रा, प्रमाद और आलस्य—ये तीनों ही तमोगुणके कार्य हैं (१४। १७); अतएव इनसे उत्पन्न होनेवाला सुख तामस सुख है। और इन निद्रा, आलस्य और प्रमाद आदिमें सुखबुद्धि करवाकर ही यह तमोगुण मनुष्यको बाँधता है (१४। ८); इसलिये कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको इस क्षणिक, मोहकारक और प्रतीतिमात्रके तामस सुखमें नहीं फँसना चाहिये।

सम्बन्ध—इस प्रकार अठारहवें श्लोकमें वर्णित मुख्य-मुख्य पदार्थोंके सात्त्विक, राजस और तामस—ऐसे तीन-तीन भेद बतलाकर अब इस प्रकरणका उपसंहार करते हुए भगवान् सृष्टिके समस्त पदार्थोंको तीनों गुणोंसे युक्त बतलाते हैं—

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः॥ ४०॥

पृथ्वीमें या आकाशमें अथवा देवताओंमें तथा इनके सिवा और कहीं भी ऐसा कोई भी सत्त्व नहीं है, जो प्रकृतिसे उत्पन्न इन तीनों गुणोंसे रहित हो॥ ४०॥

प्रश्न—यहाँ 'पृथिव्याम्', 'दिवि' और 'देवेषु' पद अलग-अलग किन-किन पदार्थोंके वाचक हैं तथा 'पुनः' पदके प्रयोगका क्या भाव है?

उत्तर—'पृथिव्याम्' पद पृथ्वीलोकका, उसके अंदरके समस्त पातालादि लोकोंका और उन लोकोंमें स्थित समस्त स्थावर-जङ्गम प्राणियों तथा पदार्थोंका वाचक है। 'दिवि' पद पृथ्वीसे ऊपर अन्तरिक्षलोकका तथा उसमें स्थित समस्त प्राणियों और पदार्थोंका वाचक है। एवं 'देवेषु' पद समस्त देवताओंका और उनके भिन्न-भिन्न समस्त लोकोंका तथा उनसे सम्बन्ध

रखनेवाले समस्त पदार्थोंका वाचक है। इनके सिवा और भी समस्त सृष्टिमें जो कुछ भी वस्तु या जो कोई प्राणी हैं, उन सबका ग्रहण करनेके लिये 'पुनः' पदका प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—'सत्त्वम्' पद किसका वाचक है और ऐसा कोई भी सत्त्व नहीं है जो प्रकृतिसे उत्पन्न इन तीनों गुणोंसे रहित हो, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—'सत्त्वम्' पद यहाँ सब प्रकारके प्राणियोंका और समस्त पदार्थोंका वाचक है तथा 'ऐसा कोई भी सत्त्व नहीं है जो प्रकृतिसे उत्पन्न इन तीनों गुणोंसे रहित हो' इस कथनसे यह भाव दिखलाया गया है कि सम्पूर्ण पदार्थ प्रकृतिजनित सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंके कार्य हैं तथा प्रकृतिजनित गुणोंके सम्बन्धसे ही प्राणियोंका नाना योनियोंमें जन्म होता है (१३। २१)। इसलिये पृथ्वीलोक, अन्तरिक्षलोक तथा देवलोकके एवं अन्य सब लोकोंके प्राणियों एवं पदार्थोंमें कोई भी पदार्थ या प्राणी ऐसा नहीं है जो इन तीनों गुणोंसे रहित वा अतीत हो। क्योंकि समस्त जडवर्ग तो गुणोंका कार्य होनेसे गुणमय है ही; और समस्त प्राणियोंका उन गुणोंसे और गुणोंके कार्यरूप पदार्थोंसे सम्बन्ध है, इससे ये सब भी तीनों गुणोंसे युक्त ही हैं।

प्रश्न—सृष्टिके अंदर गुणातीत पुरुष भी तो हैं, फिर यह बात कैसे कही कि कोई भी प्राणी गुणोंसे रहित नहीं है ?

उत्तर—यद्यपि लोकदृष्टिसे गुणातीत पुरुष सृष्टिके अंदर हैं, परन्तु वास्तवमें उनकी दृष्टिमें न तो सृष्टि है और न सृष्टिके या शरीरके अंदर उनकी स्थिति ही है; वे तो परमात्मस्वरूप हैं और परमात्मामें ही अभिन्नभावसे नित्य स्थित हैं। अतएव उनकी गणना साधारण प्राणियोंमें नहीं की जा सकती। उनके मन, बुद्धि और इन्द्रिय आदिके संघातरूप शरीरको—जो कि सबके प्रत्यक्ष है—लेकर यदि उन्हें प्राणी कहा जाय तो आपत्ति नहीं है; क्योंकि वह संघात तो गुणोंका ही कार्य है, अतएव उसे गुणोंसे अतीत कैसे कहा जा सकता है। इसलिये यह कहनेमें कुछ भी आपत्ति नहीं है कि सृष्टिके अंदर कोई भी प्राणी या पदार्थ तीनों गुणोंसे रहित नहीं है।

सम्बन्ध—इस अध्यायके पहले श्लोकमें अर्जुनने संन्यास और त्यागका तत्त्व अलग-अलग जाननेकी इच्छा प्रकट की थी, अतः दोनोंका तत्त्व समझानेके लिये पहले इस विषयपर विद्वानोंकी सम्मति बतलाकर ४थेसे १२वें श्लोकतक भगवान्‌ने अपने मतके अनुसार त्याग और त्यागीके लक्षण बतलाये। तदनन्तर १३वेंसे १७वें श्लोकतक संन्यास (सांख्य) के स्वरूपका निरूपण करके संन्यासमें सहायक सत्त्वगुणका ग्रहण और उसके विरोधी रज एवं तमका त्याग करानेके उद्देश्यसे १८वेंसे ४०वें श्लोकतक गुणोंके अनुसार ज्ञान, कर्म और कर्ता आदि मुख्य-मुख्य पदार्थोंके भेद समझाये और अन्तमें समस्त सृष्टिको गुणोंसे युक्त बतलाकर उस विषयका उपसंहार किया।

वहाँ त्यागका स्वरूप बतलाते समय भगवान्‌ने यह बात कही थी कि नियत कर्मका स्वरूपसे त्याग उचित नहीं है (१८। ७) अपितु नियत कर्मोंको आसक्ति और फलके त्यागपूर्वक करते रहना ही वास्तविक त्याग है (१८। ९), किन्तु वहाँ यह बात नहीं बतलायी कि किसके लिये कौन-सा कर्म नियत है। अतएव अब संक्षेपमें नियत कर्मोंका स्वरूप, त्यागके नामसे वर्णित कर्मयोगमें भक्तिका सहयोग और उसका फल परम सिद्धिकी प्राप्ति बतलानेके लिये पुनः उसी त्यागरूप कर्मयोगका प्रकरण आरम्भ करते हुए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंके स्वाभाविक नियत कर्म बतलानेकी प्रस्तावना करते हैं—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥४१॥

हे परंतप! ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंके तथा शूद्रोंके कर्म स्वभावसे उत्पन्न गुणोंद्वारा विभक्त किये गये हैं॥४१॥

प्रश्न—'ब्राह्मणक्षत्रियविशाम्' इस पदमें ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—इन तीन शब्दोंका समास करनेका तथा 'शूद्राणाम्' पदसे शूद्रोंको अलग करके कहनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—ये तीनों ही द्विज हैं। तीनोंका ही यज्ञोपवीतधारणपूर्वक वेदाध्ययन-में और यज्ञादि वैदिक कर्मोंमें अधिकार है; इसी हेतुसे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—इन तीनों शब्दोंका समास किया गया है। शूद्र द्विज नहीं हैं, अतएव उनका यज्ञोपवीतधारणपूर्वक वेदाध्ययनमें और यज्ञादि वैदिक कर्मोंमें अधिकार नहीं है—यह भाव दिखलानेके लिये 'शूद्राणाम्' पदसे उनको अलग कहा गया है।

प्रश्न—'गुणैः' पदके साथ 'स्वभावप्रभवैः' विशेषण देनेका क्या भाव है और उन गुणोंके द्वारा उपर्युक्त चारों वर्णोंके कर्मोंका विभाग किया गया है, इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—प्राणियोंके जन्म-जन्मान्तरोंमें किये हुए कर्मोंके जो संस्कार हैं, उनका नाम स्वभाव है; उस स्वभावके अनुरूप ही प्राणियोंके अन्तःकरणमें सत्त्व रज और तम—इन तीनों गुणोंकी वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, यह भाव दिखलानेके लिये 'गुणैः' पदके साथ 'स्वभावप्रभवैः' विशेषण दिया गया है। तथा 'गुणोंके द्वारा चारों वर्णोंके कर्मोंका विभाग किया गया है' इस कथनका यह भाव है कि उन गुणवृत्तियोंके अनुसार ही ब्राह्मण आदि वर्णोंमें मनुष्य उत्पन्न होते हैं; इस कारण उन गुणोंकी अपेक्षासे ही शास्त्रमें चारों वर्णोंके कर्मोंका विभाग किया गया है। जिसके स्वभावमें केवल सत्त्वगुण अधिक होता है, वह ब्राह्मण होता है; इस कारण उसके स्वाभाविक कर्म शम-दमादि बतलाये गये हैं। जिसके स्वभावमें सत्त्वमिश्रित रजोगुण अधिक होता है, वह क्षत्रिय होता है; इस कारण उसके स्वाभाविक कर्म शूरवीरता, तेज आदि बतलाये गये हैं। जिसके स्वभावमें तमोमिश्रित रजोगुण अधिक होता है, वह वैश्य होता है; इसलिये उसके स्वाभाविक कर्म कृषि, गोरक्षा आदि बतलाये गये हैं। और जिसके स्वभावमें रजोमिश्रित तमोगुण प्रधान होता है, वह शूद्र होता है; इस कारण उसका स्वाभाविक कर्म तीनों वर्णोंकी सेवा करना बतलाया गया है। यही बात चौथे अध्यायके तेरहवें श्लोककी व्याख्यामें विस्तारपूर्वक समझायी गयी है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें की हुई प्रस्तावनाके अनुसार पहले ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्म बतलाते हैं—

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥४२॥

अन्तःकरणका निग्रह करना; इन्द्रियोंका दमन करना; धर्मपालनके लिये कष्ट सहना; बाहर-भीतरसे शुद्ध रहना; दूसरोंके अपराधोंको क्षमा करना; मन, इन्द्रिय और शरीरको सरल रखना; वेद, शास्त्र, ईश्वर और परलोक आदिमें श्रद्धा रखना; वेद-शास्त्रोंका अध्ययन-अध्यापन करना और परमात्माके तत्त्वका अनुभव करना—ये सब-के-सब ही ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्म हैं ॥ ४२ ॥

प्रश्न—'शम' किसको कहते हैं ?

उत्तर—अन्तःकरणको अपने वशमें करके उसे विक्षेपरहित—शान्त बना लेना तथा सांसारिक विषयोंके चिन्तनका त्याग कर देना 'शम' है ।

प्रश्न—'दम' किसको कहते हैं ?

उत्तर—समस्त इन्द्रियोंको वशमें कर लेना तथा वशमें की हुई इन्द्रियोंको बाह्य विषयोंसे हटाकर परमात्माकी प्राप्तिके साधनोंमें लगाना 'दम' है ।

प्रश्न—'तप' का यहाँ क्या अर्थ समझना चाहिये ?

उत्तर—स्वधर्मपालनके लिये कष्ट सहन करना—अर्थात् अहिंसादि महाव्रतोंका पालन करना, भोग-सामग्रियोंका त्याग करके सादगीसे रहना, एकादशी आदि व्रत-उपवास करना और वनमें निवास करना—ये सब 'तप' के अन्तर्गत हैं ।

प्रश्न—'शौच' किसको कहते हैं ?

उत्तर—सोलहवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें 'शौच' की व्याख्यामें बाहरकी शुद्धि बतलायी गयी है और पहले श्लोकमें सत्त्वशुद्धिके नामसे अन्तःकरणकी शुद्धि बतलायी गयी है; उन दोनोंका नाम यहाँ 'शौच' है । तेरहवें अध्यायके सातवें श्लोकमें भी इसी शुद्धिका वर्णन है । अभिप्राय यह है कि मन, इन्द्रिय और शरीरको तथा उनके द्वारा की जानेवाली क्रियाओंको पवित्र रखना, उनमें किसी प्रकारकी अशुद्धिको प्रवेश न होने देना ही 'शौच' है ।

प्रश्न—'क्षान्ति' किसको कहते हैं ?

उत्तर—दूसरोंके द्वारा किये हुए अपराधोंको क्षमा कर देनेका नाम क्षान्ति है; दसवें अध्यायके चौथे श्लोककी व्याख्यामें क्षमाके नामसे और तेरहवें अध्यायके सातवें श्लोककी व्याख्यामें क्षान्तिके नामसे इस भावको भलीभाँति समझाया गया है ।*

* एक बार गाधिपुत्र महाराजा विश्वामित्र महर्षि वसिष्ठके आश्रममें जा पहुँचे । उनके साथ बहुत बड़ी सेना थी । नन्दिनीनामक कामधेनु गौके प्रसादसे वसिष्ठजीने सेनासमेत राजाको भाँति-भाँतिके भोजन कराये और रत्न तथा वस्त्राभूषण दिये । विश्वामित्रका मन गौके लिये ललचा गया और उन्होंने वसिष्ठसे गौको माँगा । वसिष्ठने कहा—इस गौको मैंने देवता, अतिथि, पितृगण और यज्ञके लिये रख छोड़ा है; अतः इसे मैं नहीं दे सकता । विश्वामित्रको अपने जनबल और शस्त्रबलका गर्व था, उन्होंने जबरदस्ती नन्दिनीको ले जाना चाहा । नन्दिनीने रोते हुए कहा—भगवन् ! विश्वामित्रके निर्दयी सिपाही मुझे बड़ी क्रूरताके साथ कोड़ों और डंडोंसे मार रहे हैं, आप इनके इस अत्याचारकी उपेक्षा कैसे कर रहे हैं ! वसिष्ठजीने कहा—

क्षत्रियाणां बलं तेजो ब्राह्मणानां क्षमा बलम् ।
क्षमा मां भजते यस्माद्गम्यतां यदि रोचते ॥ (महा० आदि० १७५ । २८)

'क्षत्रियोंका बल तेज है और ब्राह्मणोंका बल क्षमा । मैं क्षमाको नहीं छोड़ सकता, तुम्हारी इच्छा हो तो चली जाओ ।' नन्दिनी बोली—'यदि आप त्याग न करें तो बलपूर्वक मुझको कोई भी नहीं ले जा सकता ।' वसिष्ठने कहा—'मैं त्याग नहीं करता, तुम रह सकती हो तो रह जाओ ।'

इसपर नन्दिनीने रौद्र रूप धारण किया; उसकी पूँछसे आग बरसने लगी; इसके बाद उसकी पूँछसे अनेकों म्लेच्छ जातियाँ उत्पन्न हुईं । विश्वामित्रकी सेनाके छक्के छूट गये । नन्दिनीकी सेनाने विश्वामित्रके एक भी सिपाहीको नहीं मारा,

प्रश्न–'आर्जवम्' क्या है ?

उत्तर–मन, इन्द्रिय और शरीरको सरल रखना–अर्थात् मनमें किसी प्रकारका दुराग्रह और ऐंठ नहीं रखना; जैसा मनका भाव हो, वैसा ही इन्द्रियोंद्वारा प्रकट करना; इसके अतिरिक्त शरीरमें भी किसी प्रकारकी ऐंठ नहीं रखना–यह सब आर्जवके अन्तर्गत है।

प्रश्न–'आस्तिक्यम्' पदका क्या अर्थ है ?

उत्तर–'आस्तिक्यम्' पद आस्तिकताका वाचक है। वेद, शास्त्र, ईश्वर और परलोक–इन सबकी सत्तामें पूर्ण विश्वास रखना; वेद-शास्त्रोंके और महात्माओंके वचनोंको यथार्थ मानना और धर्मपालनमें दृढ़ विश्वास रखना–ये सब आस्तिकताके लक्षण हैं।

प्रश्न–'ज्ञान' किसको कहते हैं ?

उत्तर–वेद-शास्त्रोंके श्रद्धापूर्वक अध्ययन-अध्यापन करनेका और उनमें वर्णित उपदेशको भलीभाँति समझनेका नाम यहाँ 'ज्ञान' है।

प्रश्न–'विज्ञानम्' पद किसका वाचक है ?

उत्तर–वेद-शास्त्रोंमें बतलाये हुए और महापुरुषोंसे सुने हुए साधनोंद्वारा परमात्माके स्वरूपका साक्षात्कार कर लेनेका नाम यहाँ 'विज्ञान' है।

प्रश्न–ये सब ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्म हैं, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर–इससे यह भाव दिखलाया गया है कि ब्राह्मणमें केवल सत्त्वगुणकी प्रधानता होती है, इस कारण उपर्युक्त कर्मोंमें उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है; उसका स्वभाव उपर्युक्त कर्मोंके अनुकूल होता है, इस कारण उपर्युक्त कर्मोंके करनेमें उसे किसी प्रकारकी कठिनता नहीं होती। इन कर्मोंमें बहुत-से सामान्य धर्मोंका भी वर्णन हुआ है। इससे यह समझना चाहिये कि क्षत्रिय आदि अन्य वर्णोंके वे स्वाभाविक कर्म तो नहीं हैं; परन्तु परमात्माकी प्राप्तिमें सबका अधिकार है, अतएव उनके लिये वे प्रयत्नसाध्य कर्तव्य-कर्म हैं।

प्रश्न–मनुस्मृतिमें* तो ब्राह्मणके कर्म स्वयं अध्ययन करना और दूसरोंको अध्ययन कराना, स्वयं यज्ञ करना और दूसरोंको यज्ञ कराना तथा स्वयं दान लेना और दूसरोंको दान देना–इस प्रकार छः बतलाये गये हैं; और यहाँ शम, दम आदि प्रायः सामान्य धर्मोंको ही ब्राह्मणोंके कर्म बतलाया गया है। इसका क्या अभिप्राय है ?

वे सब डरके मारे भाग गये। विश्वामित्रको अपनी रक्षा करनेवाला कोई भी नहीं देख पड़ा। तब उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने कहा—

धिग्बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजोबलं बलम्। (महा० आदि० १७५। ४४)

'क्षत्रियके बलको धिक्कार है, असलमें ब्राह्मण-तेजका बल ही बल है।' इसके बाद शापवश राक्षस हुए राजा कल्माषपादने विश्वामित्रकी प्रेरणासे वसिष्ठके सभी पुत्रोंको मार डाला, तो भी वसिष्ठने उनसे बदला लेनेकी चेष्टा न की।

वाल्मीकि-रामायणमें आता है कि तदनन्तर विश्वामित्र राज्य छोड़कर महान् तप करने लगे और हजारों वर्षके उग्र तपके प्रतापसे क्रमशः राजर्षि और महर्षिके पदको प्राप्त करके अन्तमें ब्रह्मर्षि हुए। देवताओंके अनुरोधसे क्षमाशील महर्षि वसिष्ठने भी उनको 'ब्रह्मर्षि' मान लिया। अन्तमें—

विश्वामित्रोऽपि धर्मात्मा लब्ध्वा ब्राह्मण्यमुत्तमम्।
पूजयामास ब्रह्मर्षिं वसिष्ठं जपतां वरम्॥ (वा० रामा० १। ६५। २७)

'धर्मात्मा विश्वामित्रने भी उत्तम ब्राह्मणपद पाकर मन्त्र-जप करनेवालोंमें श्रेष्ठ ब्रह्मर्षि श्रीवसिष्ठजीकी पूजा की।'

* अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा। दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्॥ (मनु० १। ८८)

उत्तर—यहाँ बतलाये हुए कर्म केवल सात्त्विक हैं, इस कारण ब्राह्मणके स्वभावसे इनका विशेष सम्बन्ध है; इसीलिये ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्मोंमें इनकी ही गणना की गयी है, अधिक विस्तार नहीं किया गया। इनके सिवा जो मनुस्मृति आदिमें अधिक बतलाये गये हैं, उनको भी इनके साथ समझ लेना चाहिये।

सम्बन्ध—इस प्रकार ब्राह्मणोंके स्वाभाविक कर्म बतलाकर अब क्षत्रियोंके स्वाभाविक कर्म बतलाते हैं—

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥४३॥

शूरवीरता, तेज, धैर्य, चतुरता और युद्धमें न भागना, दान देना और स्वामिभाव—ये सब-के-सब ही क्षत्रियके स्वाभाविक कर्म हैं ॥ ४३ ॥

प्रश्न—'शूरवीरता' किसको कहते हैं ?

उत्तर—बड़े-से-बड़े बलवान् शत्रुका न्याययुक्त सामना करनेमें भय न करना तथा न्याययुक्त युद्ध करनेके लिये सदा ही उत्साहित रहना और युद्धके समय साहसपूर्वक गम्भीरतासे लड़ते रहना 'शूरवीरता' है। भीष्मपितामहका जीवन इसका ज्वलंत उदाहरण है।*

* बालब्रह्मचारी पितामह भीष्ममें क्षत्रियोचित सब गुण प्रकट थे। उन्होंने प्रसिद्ध क्षत्रियशत्रु भगवान् परशुरामजीसे शस्त्रविद्या सीखी थी। जिस समय परशुरामजीने काशिराजकी कन्या अम्बासे विवाह कर लेनेके लिये भीष्मपर बहुत दबाव डाला, उस समय उन्होंने बड़ी नम्रतासे अपनी सत्यकी रक्षाके लिये ऐसा करनेसे बिल्कुल इन्कार कर दिया; परन्तु जब परशुरामजी किसी तरह न माने और बहुत धमकाने लगे, तब उन्होंने साफ कह दिया—

न भयान्नाप्यनुक्रोशान्नार्थलोभान्न काम्यया।
क्षात्रं धर्ममहं जह्यामिति मे व्रतमाहितम् ॥
यच्चापि कत्थसे राम बहुशः परिवत्सरे।
निर्जिताः क्षत्रिया लोके मयैकेनेति तच्छृणु ॥
न तदा जातवान् भीष्मः क्षत्रियो वापि मद्विधः।
पश्चाज्जातानि तेजांसि तृणेषु ज्वलितं त्वया ॥
व्यपनेष्यामि ते दर्पं युद्धे राम न संशयः।

(महा० उद्योग० १७८)

'भय, दया, धनके लोभ और कामनासे मैं कभी क्षात्र-धर्मका त्याग नहीं कर सकता—यह मेरा धारण किया हुआ व्रत है। हे परशुरामजी! आप जो बड़ी डींग हाँका करते हैं कि 'मैंने बहुत वर्षोंतक अकेले ही क्षत्रियोंका अनेकों बार (इक्कीस बार) संहार किया है तो उसके लिये भी सुनिये—उस समय भीष्म या भीष्मके समान कोई क्षत्रिय पैदा नहीं हुआ था। आपने तिनकोंपर ही अपना प्रताप दिखाया है! क्षत्रियोंमें तेजस्वी तो पीछेसे प्रकट हुए हैं। हे परशुरामजी! इस समय युद्धमें मैं आपके घमंडको निःसन्देह चूर्ण कर दूँगा।'

परशुरामजी कुपित हो गये। युद्ध छिड़ गया और लगातार तेईस दिनोंतक भयानक युद्ध होता रहा, परन्तु परशुरामजी भीष्मको परास्त न कर सके। आखिर नारद आदि देवर्षियोंके और भीष्मजननी श्रीगङ्गाजीके प्रकट होकर बीचमें पड़नेपर तथा परशुरामजीके धनुष छोड़ देनेपर ही युद्ध समाप्त हुआ। भीष्मने न तो रणसे पीठ दिखायी और न पहले शस्त्रको ही छोड़ा (महा० उद्योग० १८५)।

प्रश्न—'तेज' किसका नाम है ?

उत्तर—जिस शक्तिके प्रभावसे मनुष्य दूसरोंका दबाव मानकर किसी भी कर्तव्यपालनसे कभी विमुख नहीं होता; और दूसरे लोग न्यायके और उसके प्रतिकूल व्यवहार करनेमें डरते रहते हैं, उस शक्तिका नाम तेज है । इसीको प्रताप और प्रभाव भी कहते हैं ।

प्रश्न—'धैर्य' किसको कहते हैं ?

उत्तर—बड़े-से-बड़ा सङ्कट उपस्थित हो जानेपर—युद्धस्थलमें शरीरपर भारी-से-भारी चोट लग जानेपर, अपने पुत्र-पौत्रादिके मर जानेपर, सर्वस्वका नाश हो जानेपर या इसी तरह अन्य किसी प्रकारकी भारी-से-भारी विपत्ति आ पड़नेपर भी व्याकुल न होना और अपने

महाभारतके अठारह दिनोंके संग्राममें दस दिनोंतक अकेले भीष्मजीने कौरवपक्षके सेनापतित्वके पदको सुशोभित किया । शेष आठ दिनोंमें कई सेनापति बदले ।

भगवान् श्रीकृष्णने महाभारत-युद्धमें शस्त्र ग्रहण न करनेकी प्रतिज्ञा की थी । कहते हैं भीष्मने किसी कारणवश प्रण कर लिया कि मैं भगवान्‌को शस्त्र ग्रहण करवा दूँगा । महाभारतमें यह कथा इस रूपमें न होनेपर भी सूरदासने भीष्मप्रतिज्ञाका बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है—

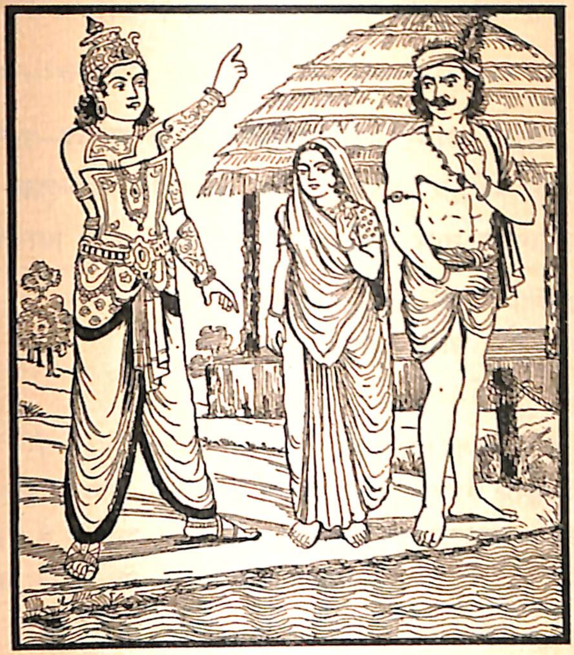
आज जो हरिहि न सस्त्र गहाऊँ ।
तौ लाजौं गंगा जननी को, सांतनु सुत न कहाऊँ ॥
स्यंदन खंडि महारथ खंडौं, कपिध्वज सहित डुलाऊँ ।
इती न करौं सपथ मोहि हरि की, छत्रिय गतिहि न पाऊँ ॥
पाँडवदल सनमुख ह्वै धाऊँ, सरिता रुधिर बहाऊँ ।
सूरदास रनभूमि बिजय बिन जियत न पीठ दिखाऊँ ॥

जो कुछ भी हो; महाभारतमें लिखा है—युद्धारम्भके तीसरे दिन भीष्मपितामहने जब बड़ा ही प्रचण्ड संग्राम किया तब भगवान्‌ने कुपित होकर घोड़ोंकी रास हाथसे छोड़ दी और सूर्यके समान प्रभायुक्त अपने चक्रको हाथमें लेकर उसे घुमाते हुए रथसे कूद पड़े । श्रीकृष्णको चक्र हाथमें लिये हुए देखकर सब लोग ऊँचे स्वरसे हाहाकार करने लगे । भगवान् प्रलयकालकी अग्निके समान भीष्मकी ओर बड़े वेगसे दौड़े । श्रीकृष्णको चक्र लिये अपनी ओर आते देखकर महात्मा भीष्म तनिक भी नहीं डरे और अविचलितभावसे अपने धनुषकी डोरीको बजाते हुए कहने लगे—'हे देवदेव ! हे जगन्निवास ! हे माधव ! हे चक्रपाणि ! पधारिये । मैं आपको प्रणाम करता हूँ । हे सबको शरण देनेवाले ! मुझे बलपूर्वक इस श्रेष्ठ रथसे नीचे गिरा दीजिये । हे श्रीकृष्ण ! आज आपके हाथसे मारे जानेपर मेरा इस लोक और परलोकमें बड़ा कल्याण होगा । हे यदुनाथ ! आप स्वयं मुझे मारने दौड़े, इससे मेरा गौरव तीनों लोकोंमें बढ़ गया ।'

अर्जुनने दौड़कर पीछेसे भगवान्‌के पैर पकड़ लिये और किसी तरह उन्हें लौटाया (महा० भीष्म० ५९) ।

नवें दिनकी बात है, भगवान्‌ने देखा—भीष्मने पाण्डवसेनामें प्रलय-सा मचा रक्खा है । भगवान् घोड़ोंकी रास छोड़कर कोड़ा हाथमें लिये फिर भीष्मकी ओर दौड़े । भगवान्‌के तेजसे पग-पगपर मानो पृथ्वी फटने लगी । कौरवपक्षके वीर घबड़ा उठे और 'भीष्म मरे ! भीष्म मरे !' कहकर चिल्लाने लगे । हाथीपर झपटते हुए सिंहकी भाँति भगवान्‌को अपनी ओर आते देखकर भीष्म तनिक भी विचलित न हुए और उन्होंने धनुष खींचकर कहा—

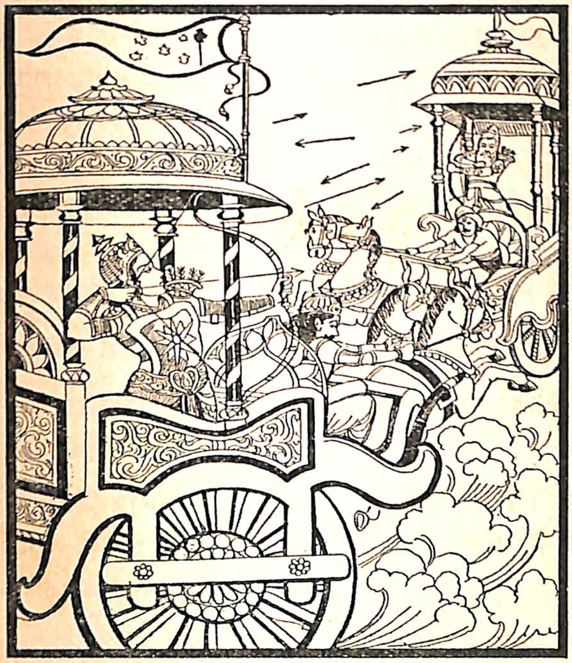
एह्येहि पुण्डरीकाक्ष देवदेव नमोऽस्तु ते ।
मामद्य सात्वतश्रेष्ठ पातयस्व महाहवे ॥
त्वया हि देव संग्रामे हतस्यापि ममानघ ।
श्रेय एव परं कृष्ण लोके भवति सर्वतः ॥



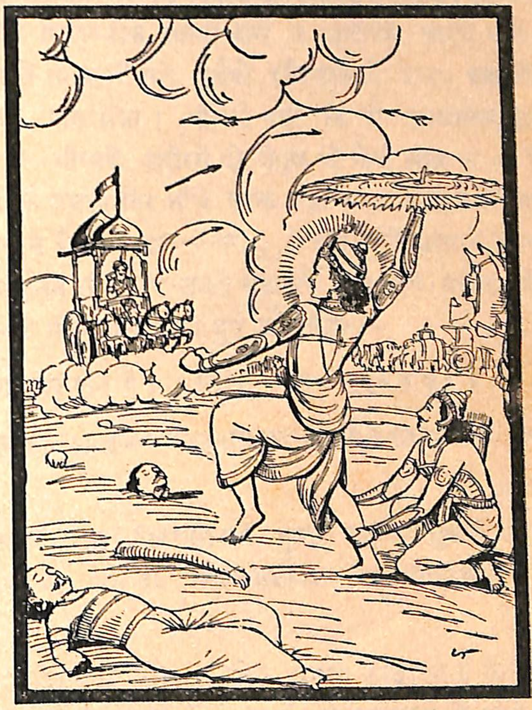
भीष्म-प्रतिज्ञा



अम्बादि-हरण



भीष्म-परशुराम-युद्ध



भीष्मका गौरव

कर्तव्यपालनसे कभी विचलित न होकर न्यायानुकूल कर्तव्यपालनमें संलग्न रहना—इसीका नाम 'धैर्य' है।

प्रश्न—'चतुरता' क्या है ?

उत्तर—परस्पर झगड़ा करनेवालोंका न्याय करनेमें, अपने कर्तव्यका निर्णय और पालन करनेमें, युद्ध करनेमें तथा मित्र, वैरी और मध्यस्थोंके साथ यथायोग्य व्यवहार करने आदिमें जो कुशलता है, उसीका नाम 'चतुरता' है।

प्रश्न—युद्धमें न भागना किसको कहते हैं ?

उत्तर—युद्ध करते समय भारी-से-भारी सङ्कट आ पड़नेपर भी पीठ न दिखलाना, हर हालतमें न्यायपूर्वक सामना करके अपनी शक्तिका प्रयोग

सम्भावितोऽस्मि गोविन्द त्रैलोक्येनाद्य संयुगे।
प्रहरस्व यथेष्टं वै दासोऽस्मि तव चानघ॥

(महा० भीष्म० १०६। ६४-६६)

'हे पुण्डरीकाक्ष ! हे देवदेव ! आपको नमस्कार है। हे यादवश्रेष्ठ ! आइये, आइये, आज इस महायुद्धमें मेरा वध करके मुझे वीरगति दीजिये। हे अनघ ! हे देवदेव श्रीकृष्ण ! आज आपके हाथसे मरनेपर मेरा लोकमें सर्वथा कल्याण हो जायगा। हे गोविन्द ! युद्धमें आपके इस व्यवहारद्वारा आज मैं त्रिभुवनसे सम्मानित हो गया। हे निष्पाप ! मैं आपका दास हूँ, आप मुझपर जी भरकर प्रहार कीजिये।'

अर्जुनने दौड़कर भगवान्‌के हाथ पकड़ लिये, पर भगवान् रुके नहीं और उन्हें घसीटते हुए आगे बढ़े। अन्तमें अर्जुनके प्रतिज्ञाकी याद दिलाने और सत्यकी शपथ खाकर भीष्मको मारनेकी प्रतिज्ञा करनेपर भगवान् लौटे।

दस दिन महायुद्ध करनेपर जब भीष्म मृत्युकी बात सोच रहे थे, तब आकाशमें स्थित ऋषियों और वसुओंने भीष्मसे कहा—'हे तात ! तुम जो सोच रहे हो वही हमें पसंद है।' इसके बाद शिखण्डीके सामने बाण न चलानेके कारण बाल-ब्रह्मचारी भीष्म अर्जुनके बाणोंसे बिंधकर शर-शय्यापर गिर पड़े। गिरते समय भीष्मने सूर्यको दक्षिणायनमें देखा, इसलिये उन्होंने प्राणत्याग नहीं किया। गङ्गाजीने महर्षियोंको हंसरूपमें उनके पास भेजा। भीष्मने कहा कि 'मैं उत्तरायण सूर्य आनेतक जीवित रहूँगा और उपयुक्त समयपर ही प्राणत्याग करूँगा।' भीष्मके शरीरमें दो अंगुल भी ऐसी जगह न बची थी जहाँ अर्जुनके बाण न बिंध गये हों (महा० भीष्म० ११९)। सिर्फ उनका सिर नीचे लटक रहा था। उन्होंने तकिया माँगा। दुर्योधन आदि बढ़िया कोमल तकिये लेकर दौड़े आये। भीष्मने हँसकर कहा—'वीरो ! ये तकिये वीरशय्याके योग्य नहीं हैं।' अन्तमें अर्जुनसे कहा—'बेटा ! मेरे योग्य तकिया दो।' अर्जुनने तीन बाण उनके मस्तकके नीचे इस प्रकार मारे कि सिर ऊँचा उठ गया और वे बाण तकियेका काम देने लगे। इसपर भीष्म बड़े प्रसन्न हुए और कहा—

एवमेव महाबाहो धर्मेषु परितिष्ठता। स्वप्तव्यं क्षत्रियेणाजौ शरतल्पगतेन वै॥ (महा० भीष्म० १२०। ४९)

'हे महाबाहो ! क्षात्रधर्ममें दृढ़तापूर्वक स्थित रहनेवाले क्षत्रियोंको रणाङ्गणमें प्राणत्याग करनेके लिये शरशय्यापर इसी प्रकार सोना चाहिये।'

भीष्मजी बाणोंसे घायल शर-शय्यापर पड़े थे। यह देखकर बाण निकालनेवाले कुशल शस्त्रवैद्य बुलाये गये। इसपर भीष्मजीने कहा कि मुझको तो क्षत्रियोंकी परमगति मिल चुकी है, अब इन चिकित्सकोंकी क्या आवश्यकता है ? (महा० भीष्म० १२०)।

घावके कारण भीष्मको बड़ी पीड़ा हो रही थी। उन्होंने ठण्ढा पानी माँगा। लोग घड़ोंमें ठण्ढा पानी ले-लेकर दौड़े। भीष्मने कहा—'मैं शरशय्यापर लेट रहा हूँ और उत्तरायणकी बाट देख रहा हूँ। आप मेरे लिये यह क्या ले आये ?' अन्तमें अर्जुनको बुलाकर कहा—'बेटा ! मेरा मुँह सूख रहा है। तुम समर्थ हो, पानी पिलाओ।' अर्जुनने रथपर सवार होकर गाण्डीवपर प्रत्यञ्चा चढ़ायी और भीष्मकी दाहिनी ओर पृथ्वीमें पार्जन्यास्त्र मारा। उसी क्षण वहाँसे अमृतके समान

करते रहना और प्राणोंकी परवा न करके युद्धमें डटे रहना ही 'युद्धमें न भागना' है। इसी धर्मको ध्यानमें रखते हुए वीर बालक अभिमन्युने छः महारथियोंसे अकेले युद्ध करके प्राण दे दिये, किन्तु शस्त्र नहीं छोड़े (महा० द्रोण० ४९ । २२)। आधुनिक कालमें भी राजस्थानके इतिहासमें ऐसे अनेकों उदाहरण मिलते हैं जिनमें वीर राजपूतोंने युद्धमें हार जानेपर भी शत्रुको पीठ नहीं दिखायी और अकेले सैकड़ों-हजारों सैनिकोंसे जूझकर प्राण दे दिये।

प्रश्न—दान देना क्या है ?

उत्तर—अपने स्वत्वको उदारतापूर्वक यथावश्यक योग्य पात्रोंको देते रहना दान देना है (१७ । २०)।

प्रश्न—'ईश्वरभाव' किसको कहते हैं ?

उत्तर—शासनके द्वारा लोगोंको अन्यायाचरणसे रोककर सदाचारमें प्रवृत्त करना, दुराचारियोंको दण्ड देना, लोगोंसे अपनी आज्ञाका न्याययुक्त पालन करवाना तथा समस्त प्रजाका हित सोचकर निःस्वार्थभावसे

सुगन्धित और उत्तम जलकी धारा निकली और भीष्मके मुँहमें गिरने लगी। भीष्मजी उस जलको पीकर तृप्त हो गये (महा० भीष्म० १२१)।

महाभारत-युद्ध समाप्त हो जानेके बाद युधिष्ठिर श्रीकृष्ण महाराजको साथ लेकर भीष्मके पास गये। सब बड़े-बड़े ब्रह्मवेत्ता ऋषि-मुनि वहाँ उपस्थित थे। भीष्मने भगवान्‌को देखकर प्रणाम और स्तवन किया। श्रीकृष्णने भीष्मसे कहा कि 'उत्तरायण आनेमें अभी देर है; इतनेमें आपने धर्मशास्त्रका जो ज्ञान सम्पादन किया है, वह युधिष्ठिरको सुनाकर इनके शोकको दूर कीजिये।' भीष्मने कहा—'प्रभो ! मेरा शरीर बाणोंके घावोंसे व्याकुल हो रहा है, मन-बुद्धि चञ्चल है, बोलनेकी शक्ति नहीं है, बारंबार मूर्च्छा आती है, केवल आपकी कृपासे अबतक जी रहा हूँ; फिर आप जगद्‌गुरुके सामने मैं शिष्य यदि कुछ कहूँ तो वह भी अविनय ही है। मुझसे बोला नहीं जाता, क्षमा करें।' प्रेमसे छलकती हुई आँखोंसे भगवान् गद्गद होकर बोले—'भीष्म ! तुम्हारी ग्लानि, मूर्च्छा, दाह, व्यथा, क्षुधाक्लेश और मोह—सब मेरी कृपासे अभी नष्ट हो जायँगे; तुम्हारे अन्तःकरणमें सब प्रकारके ज्ञानकी स्फुरणा होगी; तुम्हारी बुद्धि निश्चयात्मिका हो जायगी; तुम्हारा मन नित्य सत्त्वगुणमें स्थिर हो जायगा; तुम धर्म या जिस किसी भी विद्याका चिन्तन करोगे, उसीको तुम्हारी बुद्धि बताने लगेगी।' श्रीकृष्णने फिर कहा कि 'मैं स्वयं इसीलिये उपदेश न करके तुमसे करवाता हूँ जिससे मेरे भक्तकी कीर्ति और यश बढ़े !' भगवत्प्रसादसे भीष्मके शरीरकी सारी वेदनाएँ उसी समय नष्ट हो गयीं, उनका अन्तःकरण सावधान और बुद्धि सर्वथा जाग्रत् हो गयी। ब्रह्मचर्य, अनुभव, ज्ञान और भगवद्भक्तिके प्रतापसे अगाध ज्ञानी भीष्म जिस प्रकार दस दिनोंतक रणमें तरुण उत्साहसे झूमे थे, उसी प्रकारके उत्साहसे युधिष्ठिरको अपने धर्मके सब अङ्गोंका पूरी तरह उपदेश दिया और उनके शोक-सन्तप्त हृदयको शान्त कर दिया (महा० शान्ति और अनुशासनपर्व)।

अट्ठावन दिन शरशय्यापर रहनेके बाद सूर्यके उत्तरायण होनेपर भीष्मने प्राणत्यागका निश्चय किया और उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णसे कहा—हे भगवन् ! हे देवदेवेश ! हे सुरासुरोंके द्वारा वन्दित ! हे त्रिविक्रम ! हे शङ्ख-चक्र-गदाधारी ! मैं आपको प्रणाम करता हूँ ! हे वासुदेव ! हिरण्यात्मा, परम पुरुष, सविता, विराट्, जीवरूप, अणुरूप, परमात्मा और सनातन आप ही हैं। हे पुण्डरीकाक्ष ! हे पुरुषोत्तम ! आप मेरा उद्धार कीजिये। हे श्रीकृष्ण ! हे वैकुण्ठ ! हे पुरुषोत्तम ! अब मुझे जानेके लिये आज्ञा दीजिये। मैंने मन्दबुद्धि दुर्योधनको बहुत समझाया था—

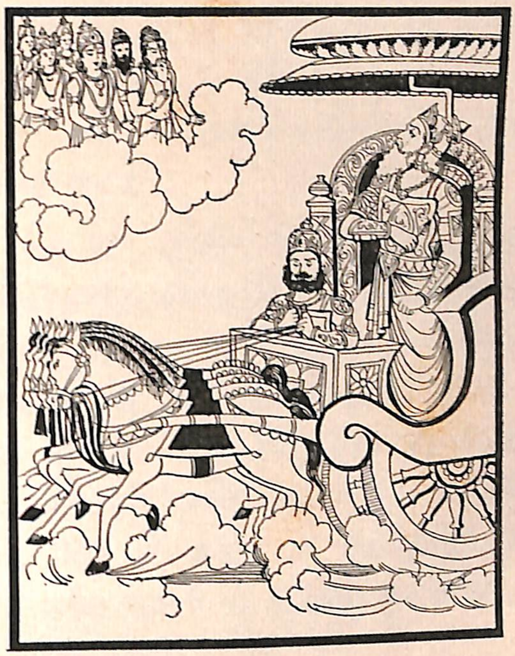
यतः कृष्णस्ततो धर्मो यतो धर्मस्ततो जयः।

'जहाँ श्रीकृष्ण हैं, वहीं धर्म है और जहाँ धर्म है, वहीं विजय है' परन्तु उस मूर्खने मेरी बात नहीं मानी। मैं आपको पहचानता हूँ, आप ही पुराणपुरुष हैं। आप नारायण ही अवतीर्ण हुए हैं।

स मां त्वमनुजानीहि कृष्ण मोक्ष्ये कलेवरम्। त्वयाहं समनुज्ञातो गच्छेयं परमां गतिम्॥ (महा० अनु० १६७ । ४५)



भीष्मपर दुबारा कृपा



भीष्मसे वसुओं और ऋषियोंकी बातचीत



भीष्मसे हंसोंकी बातचीत



भीष्मके लिये बाणोंका तकिया

उसकी रक्षा और पालन-पोषण करना—यह 'ईश्वरभाव' है।

प्रश्न—ये सब क्षत्रियोंके स्वाभाविक कर्म हैं, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया है कि क्षत्रियोंके स्वभावमें सत्त्वमिश्रित रजोगुणकी प्रधानता होती है; इस कारण उपर्युक्त कर्मोंमें उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है, इनका पालन करनेमें उन्हें किसी प्रकारकी कठिनाई नहीं होती। इन कर्मोंमें भी जो धृति, दान आदि सामान्य धर्म हैं, उनमें सबका अधिकार होनेके कारण वे अन्य वर्णवालोंके लिये अधर्म या परधर्म नहीं हैं; किन्तु ये उनके स्वाभाविक कर्म नहीं हैं, इसी कारण ये उनके लिये प्रयत्नसाध्य हैं।

प्रश्न—मनुस्मृतिमें* तो प्रजाकी रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, वेदोंका अध्ययन करना और विषयोंमें आसक्त न होना—ये क्षत्रियोंके कर्म बतलाये गये हैं और यहाँ प्रायः दूसरे ही बतलाये गये हैं; इसका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—यहाँ क्षत्रियोंके स्वभावसे विशेष सम्बन्ध रखनेवाले कर्मोंका वर्णन है; अतः मनुस्मृतिमें बतलाये हुए कर्मोंमेंसे क्षत्रियोंके स्वभावसे विशेष सम्बन्ध रखनेवाले प्रजापालन और दान—इन दो कर्मोंको तो यहाँ ले लिया गया है, किन्तु उनके अन्य कर्तव्य-कर्मोंका यहाँ विस्तारपूर्वक वर्णन नहीं किया गया। इसलिये इनके सिवा जो अन्यान्य कर्म क्षत्रियोंके लिये दूसरी जगह कर्तव्य बतलाये गये हैं, उनको भी इनके साथ ही समझ लेना चाहिये।

सम्बन्ध—इस प्रकार क्षत्रियोंके स्वाभाविक कर्मोंका वर्णन करके अब वैश्य और शूद्रोंके स्वाभाविक कर्म बतलाते हैं—

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥४४॥

खेती, गोपालन और क्रय-विक्रयरूप सत्य व्यवहार—ये वैश्यके स्वाभाविक कर्म हैं। तथा सब वर्णोंकी सेवा करना शूद्रका भी स्वाभाविक कर्म है ॥ ४४ ॥

प्रश्न—'कृषि' यानी खेती करना क्या है ?

उत्तर—न्यायानुकूल जमीनमें बीज बोकर गेहूँ, जौ, चने, मूँग, धान, मक्की, उड़द, हल्दी, धनियाँ आदि समस्त खाद्य पदार्थोंको, कपास और नाना प्रकारकी ओषधियोंको और इसी प्रकार देवता, मनुष्य और पशु आदिके उपयोगमें आनेवाली अन्य पवित्र वस्तुओंको उत्पन्न करनेका नाम 'कृषि' यानी खेती करना है।

'हे श्रीकृष्ण! आप मुझे आज्ञा दीजिये कि मैं शरीर त्याग करूँ। आपकी आज्ञासे शरीर त्यागकर मैं परम गतिको प्राप्त करूँगा !'

भगवान्‌ने आज्ञा दी, तब भीष्मने योगके द्वारा वायुको रोककर क्रमशः प्राणोंको ऊपर चढ़ाना आरम्भ किया। प्राणवायु जिस अङ्गको छोड़कर ऊपर चढ़ता था, उस अङ्गके बाण उसी क्षण निकल जाते और घाव भर जाते थे। क्षणभरमें भीष्मजीके शरीरसे सब बाण निकल गये, शरीरपर एक भी घाव न रहा और प्राण ब्रह्मरन्ध्रको भेदकर ऊपर चले गये। लोगोंने देखा, ब्रह्मरन्ध्रसे निकला हुआ तेज देखते-देखते आकाशमें विलीन हो गया !

* प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च। विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ॥ (मनु० १।८९)

प्रश्न—'गौरक्ष्य' यानी 'गोपालन' किसको कहते हैं ?

उत्तर—नन्द आदि गोपोंकी भाँति गौओंको अपने घरमें रखना; उनको जङ्गलमें चराना, घरमें भी यथावश्यक चारा देना, जल पिलाना तथा व्याघ्र आदि हिंसक जीवोंसे उनको बचाना; उनसे दूध, दही, घृत आदि पदार्थोंको उत्पन्न करके उन पदार्थोंसे लोगोंकी आवश्यकताओंको पूर्ण करना और उसके परिवर्तनमें प्राप्त धनसे अपनी गृहस्थीके सहित उन गौओंका भली-भाँति न्यायपूर्वक निर्वाह करना 'गौरक्ष्य' यानी गोपालन है। पशुओंमें 'गौ' प्रधान है तथा मनुष्यमात्रके लिये सबसे अधिक उपकारी पशु भी 'गौ' ही है; इसलिये भगवान्‌ने यहाँ 'पशुपालनम्' पदका प्रयोग न करके उसके बदलेमें 'गौरक्ष्य' पदका प्रयोग किया है। अतएव यह समझना चाहिये कि मनुष्यके उपयोगी भैंस, ऊँट, घोड़े और हाथी आदि अन्यान्य पशुओंका पालन करना भी वैश्योंका कर्म है; अवश्य ही गोपालन उन सबकी अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण कर्तव्य है।

प्रश्न—वाणिज्य यानी क्रय-विक्रयरूप सत्य व्यवहार क्या है ?

उत्तर—मनुष्योंके और देवता, पशु, पक्षी आदि अन्य समस्त प्राणियोंके उपयोगमें आनेवाली समस्त पवित्र वस्तुओंको धर्मानुकूल खरीदना और बेचना, तथा आवश्यकतानुसार उनको एक स्थानसे दूसरे स्थानमें पहुँचाकर लोगोंकी आवश्यकताओंको पूर्ण करना वाणिज्य यानी क्रय-विक्रयरूप व्यवहार है। वाणिज्य करते समय वस्तुओंके खरीदने-बेचनेमें तौल, नाप और गिनती आदिसे कम दे देना या अधिक ले लेना; वस्तुको बदलकर या एक वस्तुमें दूसरी वस्तु मिलाकर अच्छीके बदले खराब दे देना या खराबके बदले अच्छी ले लेना; नफा, आढ़त और दलाली आदि ठहराकर उससे अधिक लेना या कम देना; इसी तरह किसी भी व्यापारमें झूठ, कपट, चोरी और जबरदस्तीका या अन्य किसी प्रकारके अन्यायका प्रयोग करके दूसरोंके स्वत्वको हड़प लेना—ये सब वाणिज्यके दोष हैं। इन सब दोषोंसे रहित जो सत्य और न्याययुक्त पवित्र वस्तुओंका खरीदना और बेचना है, वही क्रय-विक्रयरूप सत्य व्यवहार है। तुलाधारने इस व्यवहारसे ही सिद्धि प्राप्त की थी।*

प्रश्न—ये वैश्योंके स्वाभाविक कर्म हैं, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह दिखलाया गया है कि वैश्यके स्वभावमें तमोमिश्रित रजोगुण प्रधान होता है, इस कारण उसकी उपर्युक्त कर्मोंमें स्वाभाविक प्रवृत्ति हो जाती है। उसका स्वभाव उपर्युक्त कर्मोंके अनुकूल होता है, अतएव इनके करनेमें उसे किसी प्रकारकी कठिनता नहीं मालूम होती।

प्रश्न—मनुस्मृतिमें तो उपर्युक्त कर्मोंके सिवा यज्ञ, अध्ययन और दान तथा ब्याज लेना—ये चार कर्म

* काशीमें तुलाधार नामके एक वैश्य व्यापारी थे। वे महान् तपस्वी और धर्मात्मा थे। न्याय और सत्यका आश्रय लेकर क्रय-विक्रयरूप व्यापार करते थे।

जाजलिनामक एक ब्राह्मण समुद्रतटपर कठिन तपस्या करते थे। उनकी जटाओंमें चिड़ियोंने घोंसले बना लिये थे; इससे उनको अपनी तपस्यापर गर्व हो गया। तब आकाशवाणी हुई कि 'हे जाजलि ! तुम तुलाधारके समान धार्मिक नहीं हो, वे तुम्हारी भाँति गर्व नहीं करते।' जाजलि काशी आये और उन्होंने देखा—तुलाधार फल, मूल, मसाले, घी आदि बेंच रहे हैं। तुलाधारने स्वागत, सत्कार और प्रणाम करके जाजलिसे कहा—'आपने समुद्रके किनारे बड़ी तपस्या की है। आपके सिरकी जटाओंमें चिड़ियोंने बच्चे पैदा कर दिये, इससे आपको गर्व हो गया और अब आप आकाशवाणी



वैश्य तुलाधार

वैश्यके लिये अधिक बतलाये गये हैं;*यहाँ उनका वर्णन क्यों नहीं किया गया ?

उत्तर—यहाँ वैश्यके स्वभावसे विशेष सम्बन्ध रखनेवाले कर्मोंका वर्णन है; यज्ञादि शुभकर्म द्विजमात्रके कर्म हैं, अतः उनको उसके स्वाभाविक कर्मोंमें नहीं बतलाया है और ब्याज लेना वैश्यके कर्मोंमें अन्य कर्मोंकी अपेक्षा नीचा माना गया है, इस कारण उसकी भी स्वाभाविक कर्मोंमें गणना नहीं की गयी है। इनके सिवा शम-दमादि और भी जो मुक्तिके साधन हैं, उनमें सबका अधिकार होनेके कारण वे वैश्यके स्वधर्मसे अलग नहीं हैं; किन्तु उनमें वैश्यकी स्वाभाविक प्रवृत्ति नहीं होती, इस कारण उसके स्वाभाविक कर्मोंमें उनकी गणना नहीं की गयी है।

प्रश्न—'परिचर्यात्मकम्' यानी सब वर्णोंकी सेवा करना किसको कहते हैं ?

उत्तर—उपर्युक्त द्विजाति वर्णों अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंकी दासवृत्तिसे रहना; उनकी आज्ञाओंका पालन करना; घरमें जल भर देना, स्नान करा देना, उनके जीवननिर्वाहके कार्योंमें सुविधा कर देना, दैनिक कार्यमें यथायोग्य सहायता करना, उनके पशुओंका पालन करना, उनकी वस्तुओंको सम्हालकर रखना, कपड़े साफ करना, क्षौरकर्म करना आदि जितने भी सेवाके कार्य हैं, उन सबको करके उनको सन्तुष्ट रखना; अथवा सबके काममें आनेवाली वस्तुओंको कारीगरीके द्वारा तैयार करके उन वस्तुओंसे उनकी सेवा करके अपनी जीविका चलाना—ये सब 'परिचर्यात्मकम्' यानी सब वर्णोंकी सेवा करनारूप कर्मके अन्तर्गत हैं।

प्रश्न—यह शूद्रका भी स्वाभाविक कर्म है, इस कथनका क्या भाव है तथा यहाँ 'अपि' पदका प्रयोग किसलिये किया गया है ?

उत्तर—शूद्रके स्वभावमें रजोमिश्रित तमोगुण प्रधान होता है, इस कारण उपर्युक्त सेवाके कार्योंमें उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति हो जाती है। ये कर्म उसके स्वभावके अनुकूल पड़ते हैं, अतएव इनके करनेमें उसे किसी प्रकारकी कठिनताका बोध नहीं होता। यहाँ 'अपि' का प्रयोग करके भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि जैसे दूसरे वर्णोंके लिये उनके अनुरूप अन्य कर्म स्वाभाविक हैं, इसी तरह शूद्रके लिये भी सेवारूप कर्म स्वाभाविक है; साथ ही यह भाव भी दिखलाया है कि शूद्रका केवल एक सेवारूप कर्म ही कर्तव्य है† और वही उसके लिये स्वाभाविक है, अतएव उसके लिये इसका पालन करना बहुत ही सरल है।‡

सुनकर यहाँ पधारे हैं, बतलाइये मैं आपकी क्या सेवा करूँ।' तुलाधारका ऐसा ज्ञान देखकर जाजलिको बड़ा आश्चर्य हुआ। जाजलिने तुलाधारसे पूछा, तब उन्होंने धर्मका बहुत ही सुन्दर निरूपण किया। जाजलिने तुलाधारके मुखसे धर्मका रहस्य सुनकर बड़ी शान्ति प्राप्त की। महाभारत, शान्तिपर्वमें २६१ से २६४ अध्यायतक यह सुन्दर कथा है।

* पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च। वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च॥ (मनु० १।९०)

† एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्। एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया॥ (मनु० १।९१)

‡ आजकल ऐसी बात कही जाती है कि वर्णविभाग उच्च वर्णके अधिकारारूढ लोगोंकी स्वार्थपूर्ण रचना है, परन्तु ध्यान देनेपर पता लगता है कि समाज-शरीरकी सुव्यवस्थाके लिये वर्णधर्म बहुत ही आवश्यक है और यह मनुष्यकी रचना है भी नहीं। वर्णधर्म भगवान्‌के द्वारा रचित है। स्वयं भगवान्‌ने कहा है—'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।' (४।१३)

'गुण और कर्मोंके विभागसे चारों वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) मेरेहीद्वारा रचे हुए हैं। भारतके दिव्य दृष्टिप्राप्त त्रिकालज्ञ महर्षियोंने भगवान्‌के द्वारा निर्मित इस सत्यको प्रत्यक्षरूपसे प्राप्त किया और इसी सत्यपर समाजका निर्माण करके उसे सुव्यवस्थित, शान्ति, शीलमय, सुखी, कर्मप्रवण, स्वार्थदृष्टिशून्य और सुरक्षित बना दिया। सामाजिक

सम्बन्ध—इस प्रकार चारों वर्णोंके स्वाभाविक कर्मोंका वर्णन करके अब भक्तियुक्त कर्मयोगका स्वरूप और फल बतलानेके लिये, उन कर्मोंका किस प्रकार आचरण करनेसे मनुष्य अनायास परम सिद्धिको प्राप्त कर लेता है—यह बात दो श्लोकोंमें बतलाते हैं—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥४५॥

अपने-अपने स्वाभाविक कर्मोंमें तत्परतासे लगा हुआ मनुष्य भगवत्प्राप्तिरूप परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है। अपने स्वाभाविक कर्ममें लगा हुआ मनुष्य जिस प्रकारसे कर्म करके परम सिद्धिको प्राप्त होता है, उस विधिको तू सुन ॥ ४५ ॥

सुव्यवस्थाके लिये मनुष्योंके चार विभागकी सभी देशों और सभी कालोंमें आवश्यकता हुई है ओर सभीमें चार विभाग रहे और रहते भी हैं। परन्तु इस ऋषियोंके देशमें वे जिस सुव्यवस्थितरूपसे रहे, वैसे कहीं नहीं रहे।

समाजमें धर्मकी स्थापना और रक्षाके लिये और समाज-जीवनको सुखी बनाये रखनेके लिये, जहाँ समाजकी जीवन-पद्धतिमें कोई बाधा उपस्थित हो, वहाँ प्रयत्नके द्वारा उस बाधाको दूर करनेके लिये, कर्मप्रवाहके भँवरको मिटानेके लिये, उलझनोंको सुलझानेके लिये और धर्मसङ्कट उपस्थित होनेपर समुचित व्यवस्था देनेके लिये परिष्कृत और निर्मल मस्तिष्ककी आवश्यकता है। धर्मकी और धर्ममें स्थित समाजकी भौतिक आक्रमणोंसे रक्षा करनेके लिये बाहुबलकी आवश्यकता है। मस्तिष्क और बाहुका यथायोग्य रीतिसे पोषण करनेके लिये धनकी और अन्नकी आवश्यकता है। और उपर्युक्त कर्मोंको यथायोग्य सम्पन्न करानेके लिये शारीरिक परिश्रमकी आवश्यकता है।

इसीलिये समाज—शरीरका मस्तिष्क ब्राह्मण है, बाहु क्षत्रिय है, ऊरु वैश्य है और चरण शूद्र है। चारों एक ही समाज-शरीरके चार आवश्यक अङ्ग हैं और एक-दूसरेकी सहायतापर सुरक्षित और जीवित हैं। घृणा या अपमानकी तो बात ही क्या है, इनमेंसे किसीकी तनिक भी अवहेलना नहीं की जा सकती। न इनमें नीच-ऊँचकी ही कल्पना है। अपने-अपने स्थान और कार्यके अनुसार चारों ही बड़े हैं। ब्राह्मण ज्ञानबलसे, क्षत्रिय बाहुबलसे, वैश्य धनबलसे और शूद्र जनबल या श्रमबलसे बड़ा है। और चारोंकी ही पूर्ण उपयोगिता है। इनकी उत्पत्ति भी एक ही भगवान्‌के शरीरसे हुई है—ब्राह्मणकी उत्पत्ति भगवान्‌के श्रीमुखसे, क्षत्रियकी बाहुसे, वैश्यकी ऊरुसे और शूद्रकी चरणोंसे हुई है।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥ (ऋ० सं० १०।९०।१२)

परन्तु इनका यह अपना-अपना बल न तो स्वार्थसिद्धिके लिये है और न किसी दूसरेको दबाकर स्वयं ऊँचा बननेके लिये ही है। समाज-शरीरके आवश्यक अङ्गोंके रूपमें इनका योग्यतानुसार कर्मविभाग है। और यह है केवल धर्मके पालने-पलवानेके लिये ही! ऊँच-नीचका भाव न होकर यथायोग्य कर्मविभाग होनेके कारण ही चारों वर्णोंमें एक शक्ति-सामञ्जस्य रहता है। कोई भी किसीकी न अवहेलना कर सकता है, न किसीके न्याय्य अधिकारपर आघात कर सकता है। इस कर्मविभाग और कर्माधिकारके सुदृढ़ आधारपर रचित यह वर्णधर्म ऐसा सुव्यवस्थित है कि इसमें शक्ति-सामञ्जस्य अपने-आप ही रहता है। स्वयं भगवान्‌ने और धर्मनिर्माता ऋषियोंने प्रत्येक वर्णके कर्मोंका अलग-अलग स्पष्ट निर्देश करके तो सबको अपने-अपने धर्मका निर्विघ्न पालन करनेके लिये और भी सुविधा कर दी है और स्वकर्मका पूरा पालन होनेसे शक्ति-सामञ्जस्यमें कभी बाधा आ ही नहीं सकती।

यूरोप आदि देशोंमें स्वाभाविक ही मनुष्य-समाजके चार विभाग रहनेपर भी निर्दिष्ट नियम न होनेके कारण शक्ति-सामञ्जस्य नहीं है। इसीसे कभी ज्ञानबल सैनिक बलको दबाता है और कभी जनबल धनबलको परास्त करता है। भारतीय वर्णविभागमें ऐसा न होकर सबके लिये पृथक्-पृथक् कर्म निर्दिष्ट हैं।

प्रश्न—इस वाक्यमें 'स्वे' पदका दो बार प्रयोग करके क्या भाव दिखलाया गया है तथा 'संसिद्धिम्' पद किस सिद्धिका वाचक है ?

उत्तर—यहाँ 'स्वे' पदका दो बार प्रयोग करके भगवान्ने यह दिखलाया है कि जिस मनुष्यका जो स्वाभाविक कर्म है, उसीका अनुष्ठान करनेसे उसे परमपदकी प्राप्ति हो जाती है । अर्थात् ब्राह्मणको अपने शम-दमादि कर्मोंसे, क्षत्रियको शूरवीरता, प्रजापालन और दानादि कर्मोंसे और वैश्यको कृषि आदि कर्मोंसे जो फल मिलता है, वही शूद्रको सेवाके कर्मोंसे मिल जाता है । इसलिये जिसका जो स्वाभाविक कर्म है, उसके लिये वही परम कल्याणप्रद है; कल्याणके

ऋषिसेवित वर्णधर्ममें ब्राह्मणका पद सबसे ऊँचा है, वह समाजके धर्मका निर्माता है, उसीकी बनायी हुई विधिको सब मानते हैं । वह सबका गुरु और पथप्रदर्शक है; परन्तु वह धन-संग्रह नहीं करता, न दण्ड ही देता है, न भोग-विलासमें ही रुचि रखता है । स्वार्थ तो मानो उसके जीवनमें है ही नहीं । धनैश्वर्य और पद-गौरवको धूलके समान समझकर वह फल-मूलोंपर निर्वाह करता हुआ सपरिवार शहरसे दूर वनमें रहता है । दिन-रात तपस्या, धर्मसाधन और ज्ञानार्जनमें लगा रहता है और अपने शम, दम, तितिक्षा, क्षमा आदिसे समन्वित महान् तपोबलके प्रभावसे दुर्लभ ज्ञाननेत्र प्राप्त करता है और उस ज्ञानकी दिव्य ज्योतिसे सत्यका दर्शन कर उस सत्यको बिना किसी स्वार्थके सदाचारपरायण, साधु-स्वभाव पुरुषोंके द्वारा समाजमें वितरण कर देता है । बदलेमें कुछ भी चाहता नहीं । समाज अपनी इच्छासे जो कुछ दे देता है या भिक्षासे जो कुछ मिल जाता है, उसीपर वह बड़ी सादगीसे अपनी जीवनयात्रा चलाता है । उसके जीवनका यही धर्ममय आदर्श है ।

क्षत्रिय सबपर शासन करता है । अपराधीको दण्ड और सदाचारीको पुरस्कार देता है । दण्डबलसे दुष्टोंको सिर नहीं उठाने देता और धर्मकी तथा समाजकी दुराचारियों, चोरों, डाकुओं और शत्रुओंसे रक्षा करता है । क्षत्रिय दण्ड देता है, परन्तु कानूनकी रचना स्वयं नहीं करता । ब्राह्मणके बनाये हुए कानूनके अनुसार ही वह आचरण करता है । ब्राह्मणरचित कानूनके अनुसार ही वह प्रजासे कर वसूल करता है और उसी कानूनके अनुसार प्रजाहितके लिये व्यवस्थापूर्वक उसे व्यय कर देता है । कानूनकी रचना ब्राह्मण करता है और धनका भंडार वैश्यके पास है । क्षत्रिय तो केवल विधिके अनुसार व्यवस्थापक और संरक्षकमात्र है ।

धनका मूल वाणिज्य, पशु और अन्न सब वैश्यके हाथमें है । वैश्य धन उपार्जन करता है और उसको बढ़ाता है, किन्तु अपने लिये नहीं । वह ब्राह्मणके ज्ञान और क्षत्रियके बलसे संरक्षित होकर धनको सब वर्णोंके हितमें उसी विधानके अनुसार व्यय करता है । न शासनपर उसका कोई अधिकार है और न उसे उसकी आवश्यकता ही है । क्योंकि ब्राह्मण और क्षत्रिय उसके वाणिज्यमें कभी कोई हस्तक्षेप नहीं करते, स्वार्थवश उसका धन कभी नहीं लेते, वरं उसकी रक्षा करते हैं और ज्ञानबल और बाहुबलसे ऐसी सुव्यवस्था करते हैं कि जिससे वह अपना व्यापार सुचारुरूपसे निर्विघ्न चला सकता है । इससे उसके मनमें कोई असन्तोष नहीं है । और वह प्रसन्नताके साथ ब्राह्मण और क्षत्रियका प्राधान्य मानकर चलता है और मानना आवश्यक भी समझता है, क्योंकि इसीमें उसका हित है । वह खुशीसे राजाको कर देता है, ब्राह्मणकी सेवा करता है । और विधिवत् आदरपूर्वक शूद्रको भरपूर अन्न-वस्त्रादि देता है ।

अब रहा शूद्र, शूद्र स्वाभाविक ही जनसंख्यामें अधिक है । शूद्रमें शारीरिक शक्ति प्रबल है, परन्तु मानसिक शक्ति कुछ कम है । अतएव शारीरिक श्रम ही उसके हिस्सेमें रक्खा गया है । और समाजके लिये शारीरिक शक्तिकी बड़ी आवश्यकता भी है । परन्तु इसकी शारीरिक शक्तिका मूल्य किसीसे कम नहीं है । शूद्रके जनबलके ऊपर ही तीनों वर्णोंकी प्रतिष्ठा है । यही आधार है । पैरके बलपर ही शरीर चलता है । अतएव शूद्रको तीनों वर्ण अपना प्रिय अङ्ग मानते हैं । उसके श्रमके बदलेमें वैश्य प्रचुर धन देता है, क्षत्रिय उसके धन-जनकी रक्षा करता है और ब्राह्मण उसको धर्मका, भगवत्-प्राप्तिका मार्ग दिखाता है । न तो स्वार्थसिद्धिके लिये कोई वर्ण शूद्रकी वृत्ति हरण करता है, न स्वार्थवश उसे कम पारिश्रमिक देता है और न उसे अपनेसे नीचा मानकर किसी प्रकारका दुर्व्यवहार ही करता है । सब यही समझते हैं कि सब अपना-अपना स्वत्व ही पाते हैं, कोई किसीपर उपकार नहीं करता । परन्तु सभी एक-दूसरेकी सहायता करते हैं और सब अपनी

लिये एक वर्णको दूसरे वर्णके कर्मोंके ग्रहण करनेकी जरूरत नहीं है।

'संसिद्धिम्' पद यहाँ अन्तःकरणकी शुद्धिरूप सिद्धिका या स्वर्गप्राप्तिका अथवा अणिमादि सिद्धियोंका वाचक नहीं है; यह उस परम सिद्धिका वाचक है, जिसे परमात्माकी प्राप्ति, परम गतिकी प्राप्ति, शाश्वत पदकी प्राप्ति, परमपदकी प्राप्ति और निर्वाण ब्रह्मकी प्राप्ति कहते हैं। गीतामें 'सम्' उपसर्गके सहित 'सिद्धि' शब्दका जहाँ कहीं भी प्रयोग हुआ है, इसी अर्थमें हुआ है। इसके सिवा ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्मोंमें ज्ञान और विज्ञान भी हैं, अतः उनका फल परम गतिके सिवा दूसरा मानना बन भी नहीं सकता।

प्रश्न—यहाँ 'नरः' पद किसका वाचक है और उसका प्रयोग करके 'अपने-अपने कर्ममें लगा हुआ मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है' यह कहनेका क्या भाव है?

उत्तर—यहाँ 'नरः' पद चारों वर्णोंमेंसे प्रत्येक वर्णके प्रत्येक मनुष्यका वाचक है; अतएव इसका प्रयोग करके 'अपने-अपने कर्मोंमें लगा हुआ मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है'—इस कथनसे मनुष्यमात्रका मोक्षप्राप्तिमें अधिकार दिखलाया गया है। साथ ही यह भाव भी दिखलाया गया है कि परमात्माकी प्राप्तिके लिये कर्तव्य-कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करनेकी आवश्यकता नहीं है, परमात्माको लक्ष्य बनाकर सदा-सर्वदा वर्णाश्रमोचित कर्म करते-करते ही मनुष्य परमात्माको प्राप्त हो सकता है (१८।५६)।

प्रश्न—अपने स्वाभाविक कर्मोंमें लगा हुआ मनुष्य जिस प्रकारसे कर्म करता हुआ परम सिद्धिको प्राप्त होता

उन्नतिके साथ उसकी उन्नति करते हैं और उसकी उन्नतिमें अपनी उन्नति और अवनतिमें अपनी अवनति मानते हैं। ऐसी अवस्थामें जनबलयुक्त शूद्र सन्तुष्ट रहता है, चारोंमें कोई किसीसे ठगा नहीं जाता, कोई किसीसे अपमानित नहीं होता। एक ही घरके चार भाइयोंकी तरह एक ही घरकी सम्मिलित उन्नतिके लिये चारों भाई प्रसन्नता और योग्यताके अनुसार बाँटे हुए अपने-अपने पृथक्-पृथक् आवश्यक कर्तव्यपालनमें लगे रहते हैं। यों चारों वर्ण परस्पर—ब्राह्मण धर्म-स्थापनके द्वारा, क्षत्रिय बाहुबलके द्वारा, वैश्य धनबलके द्वारा और शूद्र शारीरिक श्रमबलके द्वारा एक-दूसरेकी सेवा करते हुए समाजकी शक्ति बढ़ाते हैं। न तो सब एक-सा कर्म करना चाहते हैं और न अलग-अलग कर्म करनेमें कोई ऊँच-नीच भाव ही मनमें लाते हैं। इसीसे उनका शक्ति-सामञ्जस्य रहता है और धर्म उत्तरोत्तर बलवान् और पुष्ट होता है। यह है वर्णधर्मका स्वरूप।

इस प्रकार गुण और कर्मके विभागसे ही वर्णविभाग बनता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि मनमाने कर्मसे वर्ण बदल जाता है। वर्णका मूल जन्म है और कर्म उसके स्वरूपकी रक्षामें प्रधान कारण है। इस प्रकार जन्म और कर्म दोनों ही वर्णमें आवश्यक हैं। केवल कर्मसे वर्णको माननेवाले वस्तुतः वर्णको मानते ही नहीं। वर्ण यदि कर्मपर ही माना जाय तब तो एक दिनमें एक ही मनुष्यको न मालूम कितनी बार वर्ण बदलना पड़ेगा। फिर तो समाजमें कोई श्रृङ्खला या नियम ही न रहेगा। सर्वथा अव्यवस्था फैल जायगी। परन्तु भारतीय वर्णधर्ममें ऐसी बात नहीं है। यदि केवल कर्मसे वर्ण माना जाता तो युद्धके समय ब्राह्मणोचित कर्म करनेको तैयार हुए अर्जुनको गीतामें भगवान् क्षत्रियधर्मका उपदेश न करते। मनुष्यके पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मोंके अनुसार ही उसका विभिन्न वर्णोंमें जन्म हुआ करता है। जिसका जिस वर्णमें जन्म होता है, उसको उसी वर्णके निर्दिष्ट कर्मोंका आचरण करना चाहिये। क्योंकि वही उसका 'स्वधर्म' है। और स्वधर्मका पालन करते-करते मर जाना भगवान् श्रीकृष्णने कल्याणकारक बतलाया है। 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः।' साथ ही परधर्मको 'भयावह' भी बतलाया है। यह ठीक ही है; क्योंकि सब वर्णोंके स्वधर्म-पालनसे ही सामाजिक शक्ति-सामञ्जस्य रहता है और तभी समाज-धर्मकी रक्षा और उन्नति होती है। स्वधर्मका त्याग और परधर्मका ग्रहण व्यक्ति और समाज दोनोंके लिये ही हानिकर है। खेदकी बात है, विभिन्न कारणोंसे आर्यजातिकी यह वर्ण-व्यवस्था इस समय शिथिल हो चली है। आज कोई भी वर्ण अपने धर्मपर आरूढ़ नहीं रहना चाहता। सभी मनमाने आचरण करनेपर उतर रहे हैं और इसका कुफल भी प्रत्यक्ष ही दिखायी दे रहा है!

है, उस विधिको तू सुन—इस वाक्यका क्या भाव है?

उत्तर—पूर्वार्द्धमें यह बात कही गयी कि अपने-अपने कर्मोंमें लगा हुआ मनुष्य परम सिद्धिको पा लेता है; इसपर यह शङ्का होती है कि कर्म तो मनुष्यको बाँधनेवाले हैं, उनमें तत्परतासे लगा हुआ मनुष्य परम सिद्धिको कैसे पाता है। अतः उसका समाधान करनेके लिये भगवान्‌ने यह वाक्य कहा है। अभिप्राय यह है कि उन कर्मोंमें लगे रहकर परमपदको प्राप्त कर लेनेका उपाय मैं तुम्हें अगले श्लोकमें स्पष्ट बतलाता हूँ, तुम सावधानीके साथ उसे सुनो।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥४६॥

जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परमसिद्धिको प्राप्त हो जाता है ॥४६॥

प्रश्न—जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—अपने-अपने कर्मोंद्वारा भगवान्‌की पूजा करनेकी विधि बतलानेके लिये पहले इस कथनके द्वारा भगवान्‌के गुण, प्रभाव और शक्तिके सहित उनके सर्वव्यापी स्वरूपका लक्ष्य कराया गया है। अभिप्राय यह है कि मनुष्यको अपने प्रत्येक कर्तव्य-कर्मका पालन करते समय इस बातका ध्यान रहना चाहिये कि सम्पूर्ण चराचर प्राणियोंके सहित यह समस्त विश्व भगवान्‌से ही उत्पन्न हुआ है और भगवान्‌से ही व्याप्त है, अर्थात् भगवान् ही अपनी योगमायासे जगत्‌के रूपमें प्रकट हुए हैं। यह समस्त विश्व भगवान्‌से किस प्रकार व्याप्त है, यह बात नवें अध्यायके चौथे श्लोककी व्याख्यामें समझायी गयी है।

प्रश्न—अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा उस परमेश्वरकी पूजा करना क्या है?

उत्तर—भगवान् इस जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करनेवाले, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सबके प्रेरक, सबके आत्मा, सर्वान्तर्यामी और सर्वव्यापी हैं; यह सारा जगत् उन्हींकी रचना है और वे स्वयं ही अपनी योगमायासे इस जगत्‌के रूपमें प्रकट हुए हैं, अतएव यह सम्पूर्ण जगत् भगवान्‌का है; मेरे शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा मेरेद्वारा जो कुछ भी यज्ञ, दान आदि स्ववर्णोचित कर्म किये जाते हैं—वे सब भी भगवान्‌के हैं और मैं स्वयं भी भगवान्‌का ही हूँ; समस्त देवताओंके एवं अन्य प्राणियोंके आत्मा होनेके कारण वे ही समस्त कर्मोंके भोक्ता हैं (५।२९)—परम श्रद्धा और विश्वासके साथ इस प्रकार समझकर समस्त कर्मोंमें ममता, आसक्ति और फलेच्छाका सर्वथा त्याग करके भगवान्‌के आज्ञानुसार उन्हींकी प्रसन्नताके लिये अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा जो समस्त जगत्‌की सेवा करना है—अर्थात् समस्त प्राणियोंको सुख पहुँचानेके लिये उपर्युक्त प्रकारसे स्वार्थका त्याग करके जो अपने कर्तव्यका पालन करना है, यही अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा परमेश्वरकी पूजा करना है।

प्रश्न—उपर्युक्त प्रकारसे अपने कर्मोंद्वारा भगवान्‌की पूजा करके मनुष्य परमसिद्धिको प्राप्त होता है, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इस कथनसे यह भाव दिखलाया गया है कि प्रत्येक मनुष्य, चाहे वह किसी भी वर्ण या आश्रममें

स्थित हो, अपने कर्मोंसे भगवान्‌की पूजा करके परमसिद्धिरूप परमात्माको प्राप्त कर सकता है; परमात्माको प्राप्त करनेमें सबका समान अधिकार है । अपने शम, दम आदि कर्मोंको उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्‌के समर्पण करके उनके द्वारा भगवान्‌की पूजा करनेवाला ब्राह्मण जिस पदको प्राप्त होता है, अपने शूरवीरता आदि कर्मोंके द्वारा भगवान्‌की पूजा करनेवाला क्षत्रिय भी उसी पदको प्राप्त होता है; उसी प्रकार अपने कृषि आदि कर्मोंद्वारा भगवान्‌की पूजा करनेवाला वैश्य तथा अपने सेवा-सम्बन्धी कर्मोंद्वारा भगवान्‌की पूजा करनेवाला शूद्र भी उसी परमपदको प्राप्त होता है । अतएव कर्मबन्धनसे छूटकर परमात्माको प्राप्त करनेका यह बहुत ही सुगम मार्ग है । इसलिये मनुष्यको उपर्युक्त भावसे अपने कर्तव्यका पालन करके परमेश्वरकी पूजा करनेका अभ्यास करना चाहिये ।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें यह बात कही गयी कि मनुष्य अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा परमेश्वरकी पूजा करके परमसिद्धिको पा लेता है; इसपर यह शङ्का होती है कि यदि कोई क्षत्रिय अपने युद्धादि क्रूर कर्मोंको न करके ब्राह्मणोंकी भाँति अध्यापनादि शान्तिमय कर्मोंसे अपना निर्वाह करके परमात्माको प्राप्त करनेकी चेष्टा करे या इसी तरह कोई वैश्य या शूद्र अपने कर्मोंको उच्च वर्णोंके कर्मोंसे हीन समझकर उनका त्याग कर दे और अपनेसे ऊँचे वर्णकी वृत्तिसे अपना निर्वाह करके परमात्माको प्राप्त करनेका प्रयत्न करे तो क्या हानि है । अतएव इसका समाधान दो श्लोकोंद्वारा करते हैं—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥४७॥

अच्छी प्रकार आचरण किये हुए दूसरेके धर्मसे गुणरहित भी अपना धर्म श्रेष्ठ है, क्योंकि स्वभावसे नियत किये हुए स्वधर्मरूप कर्मको करता हुआ मनुष्य पापको नहीं प्राप्त होता ॥४७॥

प्रश्न—'स्वनुष्ठितात्' विशेषणके सहित 'परधर्मात्' पद किसका वाचक है और उससे गुणरहित स्वधर्मको श्रेष्ठ बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जिस धर्ममें अहिंसा और शान्ति आदि गुण अधिक हों तथा जिसका अनुष्ठान साङ्गोपाङ्ग किया जाय, उसको 'सु-अनुष्ठित' कहते हैं । वैश्य और क्षत्रिय आदिकी अपेक्षा ब्राह्मणके विशेष धर्मोंमें अहिंसादि सद्गुणोंकी अधिकता है, गृहस्थकी अपेक्षा संन्यास-आश्रमके धर्मोंमें सद्गुणोंकी बहुलता है, इसी प्रकार शूद्रकी अपेक्षा वैश्य और क्षत्रियके कर्म गुणयुक्त हैं । अतएव जो कर्म गुणयुक्त हों और जिनका अनुष्ठान भी पूर्णतया किया गया हो, किन्तु वे अनुष्ठान करनेवालेके लिये विहित न हों, दूसरोंके लिये ही विहित हों—वैसे कर्मोंका वाचक यहाँ 'स्वनुष्ठितात्' विशेषणके सहित 'परधर्मात्' पद है । उस परधर्मकी अपेक्षा गुणरहित स्वधर्मको श्रेष्ठ बतलाकर यह भाव दिखलाया गया है कि जैसे देखनेमें कुरूप होनेपर भी स्त्रीके लिये अपने पतिका सेवन करना ही कल्याणप्रद है—उसी प्रकार देखनेमें सद्गुणोंसे हीन होनेपर भी तथा उसके अनुष्ठानमें अङ्गवैगुण्य हो जानेपर भी

जिसके लिये जो कर्म विहित है, वही उसके लिये कल्याणप्रद है ।

प्रश्न—'स्वधर्मः' पद किसका वाचक है ?

उत्तर—वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिकी अपेक्षासे जिस मनुष्यके लिये जो कर्म विहित है, उसके लिये वही स्वधर्म है । अभिप्राय यह है कि झूठ, कपट, चोरी, हिंसा, ठगी, व्यभिचार आदि निषिद्ध कर्म तो किसीके भी स्वधर्म नहीं हैं और काम्यकर्म भी किसीके लिये अवश्यकर्तव्य नहीं हैं; इस कारण उनकी गणना यहाँ किसीके स्वधर्मोंमें नहीं है । इनको छोड़कर जिस वर्ण और आश्रमके जो विशेष धर्म बतलाये गये हैं, जिनमें एकसे दूसरे वर्ण-आश्रमवालोंका अधिकार नहीं है—वे तो उन-उन वर्ण-आश्रमवालोंके अलग-अलग स्वधर्म हैं और जिन कर्मोंमें द्विजमात्रका अधिकार बतलाया गया है, वे वेदाध्ययन और यज्ञादि कर्म द्विजोंके लिये स्वधर्म हैं । तथा जिनमें सभी वर्णाश्रमोंके स्त्री-पुरुषोंका अधिकार है, वे ईश्वर-भक्ति, सत्य-भाषण, माता-पिताकी सेवा, इन्द्रियोंका संयम, ब्रह्मचर्य-पालन और विनय आदि सामान्य धर्म सबके स्वधर्म हैं ।

प्रश्न—'स्वधर्मः' के साथ 'विगुणः' विशेषण देनेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'विगुणः' पद गुणोंकी कमीका द्योतक है । क्षत्रियका स्वधर्म युद्ध करना और दुष्टोंको दण्ड देना आदि है; उसमें अहिंसा और शान्ति आदि गुणोंकी कमी मालूम होती है । इसी तरह वैश्यके 'कृषि' आदि कर्मोंमें भी हिंसा आदि दोषोंकी बहुलता है, इस कारण ब्राह्मणोंके शान्तिमय कर्मोंकी अपेक्षा वे भी विगुण यानी गुणहीन हैं एवं शूद्रोंके कर्म तो वैश्यों और क्षत्रियोंकी अपेक्षा भी निम्न श्रेणीके हैं । इसके सिवा उन कर्मोंके पालनमें किसी अङ्गका छूट जाना भी गुणकी कमी है । उपर्युक्त प्रकारसे स्वधर्ममें गुणोंकी कमी रहनेपर भी वह परधर्मकी अपेक्षा श्रेष्ठ है, यही भाव दिखलानेके लिये 'स्वधर्मः' के साथ 'विगुणः' विशेषण दिया गया है ।

प्रश्न—'स्वभावनियतम्' विशेषणके सहित 'कर्म' पद किसका वाचक है और उसको करता हुआ मनुष्य पापको नहीं प्राप्त होता, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जिस वर्ण और आश्रममें स्थित मनुष्यके लिये उसके स्वभावके अनुसार जो कर्म शास्त्रद्वारा विहित हैं, वे ही उसके लिये 'स्वभावनियत' कर्म हैं । अतः उपर्युक्त स्वधर्मका ही वाचक यहाँ 'स्वभावनियतम्' विशेषणके सहित 'कर्म' पद है । उन कर्मोंको करता हुआ मनुष्य पापको नहीं प्राप्त होता—इस कथनका यहाँ यह भाव है कि उन कर्मोंका न्यायपूर्वक आचरण करते समय उनमें जो आनुषङ्गिक हिंसादि पाप बन जाते हैं, वे उसको नहीं लगते; और दूसरेका धर्म पालन करनेसे उसमें हिंसादि दोष कम होनेपर भी परवृत्तिच्छेदन आदि पाप लगते हैं । इसलिये गुणरहित होनेपर भी स्वधर्म गुणयुक्त परधर्मकी अपेक्षा श्रेष्ठ है ।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥४८॥

अतएव हे कुन्तीपुत्र ! दोषयुक्त होनेपर भी सहज कर्मको नहीं त्यागना चाहिये, क्योंकि धूएँसे अग्निकी भाँति सभी कर्म किसी-न-किसी दोषसे ढके हुए हैं ॥४८॥

प्रश्न—'सहजम्' विशेषणके सहित 'कर्म' पद किन कर्मोंका वाचक है तथा दोषयुक्त होनेपर भी सहज कर्मोंको नहीं त्यागना चाहिये, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिकी अपेक्षासे जिसके लिये जो कर्म बतलाये गये हैं, उसके लिये वे ही सहज कर्म हैं। अतएव इस अध्यायमें जिन कर्मोंका वर्णन स्वधर्म, स्वकर्म, नियतकर्म, स्वभावनियत-कर्म और स्वभावज कर्मके नामसे हुआ है, उन्हींका वाचक यहाँ 'सहजम्' विशेषणके सहित 'कर्म' पद है।

दोषयुक्त होनेपर भी सहज कर्मको नहीं त्यागना चाहिये—इस वाक्यसे यह भाव दिखलाया गया है कि जो स्वाभाविक कर्म श्रेष्ठ गुणोंसे युक्त हों, उनका त्याग न करना चाहिये—इसमें तो कहना ही क्या है; पर जिनमें साधारणतः हिंसादि दोषोंका मिश्रण दीखता हो, वे भी शास्त्रविहित एवं न्यायोचित होनेके कारण दोष-युक्त दीखनेपर भी वास्तवमें दोषयुक्त नहीं हैं। इसलिये उन कर्मोंका भी त्याग न करना चाहिये, अर्थात् उनका आचरण करना चाहिये; क्योंकि उनके करनेसे मनुष्य पापका भागी नहीं होता बल्कि उलटा उनका त्याग करनेसे पापका भागी होता है।

प्रश्न—'हि' अव्ययका प्रयोग करके सभी कर्मोंको धूएँसे अग्निकी भाँति दोषसे युक्त बतलानेका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'हि' पद यहाँ हेतुके अर्थमें है, इसका प्रयोग करके समस्त कर्मोंको धूएँसे अग्निकी भाँति दोषसे युक्त बतलानेका यहाँ यह अभिप्राय है कि जिस प्रकार धूएँसे अग्नि ओतप्रोत रहता है, धूआँ अग्निसे सर्वथा अलग नहीं हो सकता—उसी प्रकार आरम्भमात्र दोषसे ओतप्रोत हैं, क्रियामात्रमें किसी-न-किसी प्रकारसे किसी-न-किसी प्राणीकी हिंसा हो ही जाती है; क्योंकि संन्यास-आश्रममें भी शौच, स्नान और भिक्षाटनादि कर्मद्वारा किसी-न-किसी अंशमें प्राणियोंकी हिंसा होती ही है और ब्राह्मणके यज्ञादि कर्मोंमें भी आरम्भकी बहुलता होनेसे क्षुद्र प्राणियोंकी हिंसा होती है। इसलिये किसी भी वर्ण-आश्रमके कर्म साधारण दृष्टिसे सर्वथा दोषरहित नहीं हैं और कर्म किये बिना कोई रह नहीं सकता (३ । ५); इस कारण स्वधर्मका त्याग कर देनेपर भी कुछ-न-कुछ कर्म तो मनुष्यको करना ही पड़ेगा तथा वह जो कुछ करेगा, वही दोषयुक्त होगा। इसीलिये अमुक कर्म नीचा है या दोषयुक्त है—ऐसा समझकर मनुष्यको स्वधर्मका त्याग नहीं करना चाहिये; बल्कि उसमें ममता, आसक्ति और फलेच्छारूप दोषोंका त्याग करके उनका न्याययुक्त आचरण करना चाहिये। ऐसा करनेसे मनुष्यका अन्तःकरण शुद्ध होकर उसे शीघ्र ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

सम्बन्ध—अर्जुनकी जिज्ञासाके अनुसार त्याग और संन्यासके तत्त्वको समझानेके लिये भगवान्‌ने ४ थेसे १२वें श्लोकतक त्यागका विषय कहा और १३वेंसे ४०वें श्लोकतक संन्यास यानी सांख्यका निरूपण किया। फिर ४१वें श्लोकसे यहाँतक कर्मयोगरूप त्यागका तत्त्व समझानेके लिये स्वाभाविक कर्मोंका स्वरूप और उनकी अवश्य-कर्तव्यताका निर्देश करके तथा कर्मयोगमें भक्तिका सहयोग दिखलाकर उसका फल भगवत्प्राप्ति बतलाया। किन्तु वहाँ संन्यासके प्रकरणमें यह बात नहीं कही गयी कि संन्यासका क्या फल होता है और कर्मोंमें कर्तापनका अभिमान त्यागकर उपासनाके सहित सांख्ययोगका किस प्रकार साधन करना चाहिये ? अतः यहाँ उपासनाके सहित

विवेक और वैराग्यपूर्वक एकान्तमें रहकर साधन करनेकी विधि और उसका फल बतलानेके लिये पुनः सांख्ययोगका प्रकरण आरम्भ करते हैं—

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥ ४९ ॥

सर्वत्र आसक्तिरहित बुद्धिवाला, स्पृहारहित और जीते हुए अन्तःकरणवाला पुरुष सांख्ययोगके द्वारा भी परम नैष्कर्म्यसिद्धिको प्राप्त होता है ॥ ४९ ॥

प्रश्न—'सर्वत्र असक्तबुद्धिः', 'विगतस्पृहः' और 'जितात्मा'—इन तीनों विशेषणोंका अलग-अलग क्या अर्थ है और यहाँ इनका प्रयोग किसलिये किया गया है ?

उत्तर—अन्तःकरण और इन्द्रियोंके सहित शरीरमें, उनके द्वारा किये जानेवाले कर्मोंमें तथा समस्त भोगोंमें और चराचर प्राणियोंके सहित समस्त जगत्‌में जिसकी आसक्तिका सर्वथा अभाव हो गया है; जिसके मन, बुद्धिकी कहीं किञ्चिन्मात्र भी संलग्नता नहीं रही है—वह 'सर्वत्र असक्तबुद्धिः' है । जिसकी स्पृहाका सर्वथा अभाव हो गया है, जिसको किसी भी सांसारिक वस्तुकी किञ्चिन्मात्र भी परवा न रही है, उसे 'विगतस्पृहः' कहते हैं और जिसका इन्द्रियोंके सहित अन्तःकरण अपने वशमें किया हुआ है, उसे 'जितात्मा' कहते हैं । यहाँ संन्यासयोगके अधिकारीका निरूपण करनेके लिये इन तीनों विशेषणोंका प्रयोग किया गया है । अभिप्राय यह है कि जो उपर्युक्त तीनों गुणोंसे सम्पन्न होता है, वही मनुष्य सांख्ययोगके द्वारा परमात्माकी प्राप्ति कर सकता है; हरेक मनुष्यका इस साधनमें अधिकार नहीं है ।

प्रश्न—यहाँ 'संन्यासेन' पद किस साधनका वाचक है और 'परमाम्' विशेषणके सहित 'नैष्कर्म्यसिद्धिम्' पद किस सिद्धिका वाचक है तथा संन्यासके द्वारा उसे प्राप्त होना क्या है ?

उत्तर—'संन्यासेन' पद यहाँ ज्ञानयोगका वाचक है, इसीको सांख्ययोग भी कहते हैं। इसका स्वरूप भगवान्‌ने ५१ वेंसे ५४वें श्लोकतक बतलाया है । इस साधनका फल जो कि कर्मबन्धनसे सर्वथा छूटकर सच्चिदानन्दघन निर्विकार परमात्माको प्राप्त हो जाना है, उसका वाचक यहाँ 'परमाम्' विशेषणके सहित 'नैष्कर्म्यसिद्धिम्' पद है तथा उपर्युक्त सांख्ययोगके द्वारा जो परमात्माको प्राप्त कर लेना है, वह संन्यासके द्वारा इस सिद्धिको प्राप्त होना है ।

सम्बन्ध—उपर्युक्त श्लोकमें यह बात कही गयी कि संन्यासके द्वारा मनुष्य परम नैष्कर्म्यसिद्धिको प्राप्त होता है; इसपर यह जिज्ञासा होती है कि उस संन्यास (सांख्ययोग) का क्या स्वरूप है और उसके द्वारा मनुष्य किस क्रमसे सिद्धिको प्राप्त होता है तथा उसका प्राप्त होना क्या है ? अतः इन सब बातोंको बतलानेकी प्रस्तावना करते हुए भगवान् अर्जुनको सुननेके लिये सावधान करते हैं—

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाऽऽप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥ ५० ॥

हे कुन्तीपुत्र ! अन्तःकरणकी शुद्धिरूप सिद्धिको प्राप्त हुआ मनुष्य जिस प्रकारसे सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त होता है, जो ज्ञानयोगकी परा निष्ठा है, उसको तू मुझसे संक्षेपमें ही जान ॥ ५० ॥

प्रश्न—'सिद्धिं प्राप्तः' पद किसके वाचक हैं और इनके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—अन्तःकरणमें स्थित समस्त पाप-संस्कारोंका नाश होकर उसका शुद्ध हो जाना ही यहाँ 'सिद्धि' शब्दका अर्थ है । अतएव यज्ञ, दान, जप, तप, तीर्थ, व्रत, उपवास और प्राणायामादि पुण्यकर्मोंके आचरणसे जिसका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है, जिसके अन्तःकरणमें पापोंके संस्कार नष्ट हो गये हैं—ऐसे शुद्ध अन्तःकरणवाले मनुष्यके वाचक 'सिद्धिं प्राप्तः' पद हैं । इक्यावनवें श्लोकमें इसी बातको 'बुद्ध्या विशुद्धया युक्तः' से व्यक्त किया है । यहाँ 'सिद्धिं प्राप्तः' पदका प्रयोग करके यह दिखलाया गया है कि शुद्ध अन्तःकरणवाला मनुष्य ही ज्ञानयोगके द्वारा परमात्माको प्राप्त कर सकता है, वही उसका अधिकारी है ।

प्रश्न—'यथा' पदका क्या अर्थ है ?

उत्तर—शुद्ध अन्तःकरणवाला अधिकारी पुरुष जिस विधिसे परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होता है, उस विधिका अर्थात् अङ्ग-प्रत्यङ्गोंसहित ज्ञानयोगका वाचक यहाँ 'यथा' पद है ।

प्रश्न—'ब्रह्म' पद किसका वाचक है और उसको प्राप्त होना क्या है ?

उत्तर—नित्य-निर्विकार, निर्गुण-निराकार, सच्चिदानन्दघन, पूर्णब्रह्म परमात्माका वाचक यहाँ 'ब्रह्म' पद है और तत्त्वज्ञानके द्वारा पचपनवें श्लोकके वर्णनानुसार अभिन्नभावसे उसमें प्रविष्ट हो जाना ही उसको प्राप्त होना है ।

प्रश्न—'परा' विशेषणके सहित यहाँ 'निष्ठा' पद किसका वाचक है ?

उत्तर—जो ज्ञानयोगकी अन्तिम स्थिति है, जिसको पराभक्ति और तत्त्वज्ञान भी कहते हैं, जो समस्त साधनोंकी अवधि है, उसका वाचक यहाँ 'परा' विशेषणके सहित 'निष्ठा' पद है । ज्ञानयोगके साधनसमुदायको ज्ञाननिष्ठा कहते हैं और उन साधनोंके फलरूप तत्त्वज्ञानको ज्ञानकी 'परा निष्ठा' कहते हैं ।

प्रश्न—'तथा' पद किसका वाचक है और उसे तू मुझसे संक्षेपमें ही जान, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—'यथा' पदसे और 'परा' विशेषणके सहित 'निष्ठा' पदसे अङ्ग-प्रत्यङ्गोंसहित और अन्तिम स्थितिके सहित जिस ज्ञानयोगका लक्ष्य कराया गया है, उसीका वाचक यहाँ 'तथा' पद है । एवं उसे तू मुझसे संक्षेपमें ही जान—इस कथनसे यह भाव दिखलाया गया है कि वह विषय मैं तुम्हें संक्षेपमें ही बतलाऊँगा, विस्तारपूर्वक उसका वर्णन नहीं करूँगा । इसलिये सावधानीके साथ उसे सुनो, नहीं तो उसे समझ नहीं सकोगे ।

सम्बन्ध—पूर्व श्लोकमें की हुई प्रस्तावनाके अनुसार अब तीन श्लोकोंमें अङ्ग-प्रत्यङ्गोंके सहित ज्ञानयोगका वर्णन करते हैं—

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्याऽऽत्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥ ५१ ॥

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥५२॥
अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥५३॥

विशुद्ध बुद्धिसे युक्त तथा हलका, सात्त्विक और नियमित भोजन करनेवाला, शब्दादि विषयोंका त्याग करके एकान्त और शुद्ध देशका सेवन करनेवाला, सात्त्विक धारणशक्तिके द्वारा अन्तःकरण और इन्द्रियोंका संयम करके मन, वाणी और शरीरको वशमें कर लेनेवाला, राग-द्वेषको सर्वथा नष्ट करके भलीभाँति दृढ़ वैराग्यका आश्रय लेनेवाला तथा अहङ्कार, बल, घमंड, काम, क्रोध और परिग्रहका त्याग करके निरन्तर ध्यानयोगके परायण रहनेवाला, ममतारहित और शान्तियुक्त पुरुष सच्चिदानन्द ब्रह्ममें अभिन्नभावसे स्थित होनेका पात्र होता है ॥५१-५२-५३॥

प्रश्न—'विशुद्ध बुद्धि' किसे कहते हैं और उससे युक्त होना क्या है ?

उत्तर—पूर्वार्जित पापके संस्कारोंसे रहित अन्तःकरण-को 'विशुद्ध बुद्धि' कहते हैं और जिसका अन्तःकरण इस प्रकार शुद्ध हो गया हो, वह विशुद्ध बुद्धिसे युक्त कहलाता है ।

प्रश्न—'लघ्वाशी' किसको कहते हैं ?

उत्तर—जो साधनके उपयुक्त अनायास हजम हो जानेवाले सात्त्विक पदार्थोंका (१७ । ८) तथा अपनी प्रकृति, आवश्यकता और शक्तिके अनुरूप नियमित और परिमित भोजन करता है—ऐसे युक्त आहारके करनेवाले (६ । १७) पुरुषको 'लघ्वाशी' कहते हैं ।

प्रश्न—शब्द आदि विषयोंका त्याग करके एकान्त और शुद्ध देशका सेवन करना क्या है ?

उत्तर—समस्त इन्द्रियोंके जितने भी सांसारिक भोग हैं, उन सबका त्याग करके—अर्थात् उनको भोगनेमें अपने जीवनका अमूल्य समय न लगाकर—निरन्तर साधन करनेके लिये, जहाँका वायुमण्डल पवित्र हो, जहाँ बहुत लोगोंका आना-जाना न हो, जो स्वभावसे ही एकान्त और स्वच्छ हो या झाड़-बुहारकर और धोकर जिसे स्वच्छ बना लिया गया हो—ऐसे नदीतट, देवालय, वन और पहाड़की गुफा आदि स्थानोंमें निवास करना ही शब्दादि विषयोंका त्याग करके एकान्त और शुद्ध देशका सेवन करना है ।

प्रश्न—सात्त्विक धारणशक्तिके द्वारा अन्तःकरण और इन्द्रियोंका संयम करना क्या है तथा ऐसा करके मन, वाणी और शरीरको वशमें कर लेना क्या है ?

उत्तर—इसी अध्यायके तैंतीसवें श्लोकमें जिसके लक्षण बतलाये गये हैं, उस अटल धारणशक्तिके द्वारा शुद्ध आग्रहसे अन्तःकरणको सांसारिक विषयोंके चिन्तनसे रहित बनाकर इन्द्रियोंको सांसारिक भोगोंमें प्रवृत्त न होने देना ही सात्त्विक धारणासे अन्तःकरण और इन्द्रियोंका संयम करना है । और इस प्रकारके संयमसे जो मन, इन्द्रिय और शरीरको अपने अधीन बना लेना है—उनमें इच्छाचारिताका और बुद्धिके विचलित करनेकी शक्तिका अभाव कर देना है—यही मन, वाणी और शरीरको वशमें कर लेना है ।

प्रश्न—राग और द्वेष—इन दोनोंका सर्वथा नाश करके भलीभाँति वैराग्यका आश्रय लेना क्या है ?

उत्तर—इन्द्रियोंके प्रत्येक भोगमें राग और द्वेष—ये दोनों छिपे रहते हैं, ये साधकके महान् शत्रु हैं (३ । ३४) । अतएव इस लोक या परलोकके किसी भी भोगमें, किसी भी प्राणीमें तथा किसी भी पदार्थ, क्रिया अथवा घटनामें किञ्चिन्मात्र भी आसक्ति या द्वेष न रहने देना राग-द्वेषका सर्वथा नाश कर देना है; और इस प्रकार राग-द्वेषका नाश करके जो निरन्तर सन्तुष्ट और निःस्पृहभावसे रहना है, यही राग-द्वेषका नाश करके भलीभाँति वैराग्यका आश्रय लेना है ।

प्रश्न—अहङ्कार, बल, घमंड, काम, क्रोध और परिग्रहका त्याग करना तथा इन सबका त्याग करके निरन्तर ध्यानयोगके परायण रहना क्या है ?

उत्तर—शरीर, इन्द्रियों और अन्तःकरणमें जो आत्मबुद्धि है—उसका नाम अहङ्कार है; इसीके कारण मनुष्य मन, बुद्धि और शरीरद्वारा किये जानेवाले कर्मोंमें अपनेको कर्ता मान लेता है । अतएव इस देहाभिमानका सर्वथा त्याग कर देना अहङ्कारका त्याग कर देना है । अन्यायपूर्वक बलात्कारसे जो दूसरोंपर प्रभुत्व जमानेका साहस है, उसका नाम 'बल' है; इस प्रकारके दुःसाहसका सर्वथा त्याग कर देना बलका त्याग कर देना है । धन, जन, विद्या, जाति और शारीरिक शक्तिके कारण होनेवाला जो गर्व है—उसका नाम दर्प यानी घमंड है; इस भावका सर्वथा त्याग कर देना घमंडका त्याग कर देना है । इस लोक और परलोकके भोगोंको प्राप्त करनेकी इच्छाका नाम 'काम' है, इसका सर्वथा त्याग कर देना कामका त्याग कर देना है । अपने मनके प्रतिकूल आचरण करनेवालेपर और नीतिविरुद्ध व्यवहार करनेवालेपर जो अन्तःकरणमें उत्तेजनाका भाव उत्पन्न होता है—जिसके कारण मनुष्यके नेत्र लाल हो जाते हैं, होंठ फड़कने लगते हैं, हृदयमें जलन होने लगती है और मुख विकृत हो जाता है—उसका नाम क्रोध है; इसका सर्वथा त्याग कर देना, किसी भी अवस्थामें ऐसे भावको उत्पन्न न होने देना क्रोधका त्याग कर देना है । सांसारिक भोगोंकी सामग्रीका नाम 'परिग्रह' है, अतएव सांसारिक भोगोंको भोगनेके उद्देश्यसे किसी भी वस्तुका संग्रह न करना परिग्रहका त्याग कर देना है । इस प्रकार इन सबका त्याग करके पूर्वोक्त प्रकारसे सात्त्विक धृतिके द्वारा मन-इन्द्रियोंकी क्रियाओंको रोककर समस्त स्फुरणाओंका सर्वथा अभाव करके, नित्य-निरन्तर सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका अभिन्नभावसे चिन्तन करना (६ । २५) तथा उठते-बैठते, सोते-जागते एवं शौच-स्नान, खान-पान आदि आवश्यक क्रिया करते समय भी नित्य-निरन्तर परमात्माके स्वरूपका चिन्तन करते रहना एवं उसीको सबसे बढ़कर परम कर्तव्य समझना ध्यानयोगके परायण रहना है ।

प्रश्न—'ममतासे रहित होना' क्या है ?

उत्तर—मन और इन्द्रियोंके सहित शरीरमें, समस्त प्राणियोंमें, कर्मोंमें, समस्त भोगोंमें एवं जाति, कुल, देश, वर्ण और आश्रममें ममताका सर्वथा त्याग कर देना; किसी भी वस्तु, क्रिया या प्राणीमें 'अमुक पदार्थ या प्राणी मेरा है और अमुक पराया है' इस प्रकारके भेदभावको न रहने देना 'ममतासे रहित होना' है ।

प्रश्न—'शान्तः' पद कैसे मनुष्यका वाचक है ?

उत्तर—उपर्युक्त साधनोंके कारण जिसके अन्तःकरणमें विक्षेपका सर्वथा अभाव हो गया है और इसीसे जिसका अन्तःकरण अटल शान्ति और शुद्ध, सात्त्विक प्रसन्नतासे व्याप्त रहता है—'शान्तः' पद ऐसे मनुष्यका वाचक है ।

प्रश्न—उपर्युक्त विशेषणोंका वर्णन करके ऐसा पुरुष सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें अभिन्नभावसे स्थित होनेका पात्र होता है—यह कहनेका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि उपर्युक्त प्रकारसे साधन करनेवाला मनुष्य इन साधनोंसे सम्पन्न होनेपर ब्रह्मभावको प्राप्त होनेका अधिकारी बन जाता है और तत्काल ही ब्रह्मरूप बन जाता है, अर्थात् उसकी दृष्टिमें आत्मा और परमात्माका भेदभाव सर्वथा नष्ट होकर सर्वत्र आत्मबुद्धि हो जाती है। उस समय वह समस्त जगत्‌में अपनेको व्याप्त समझता है और समस्त जगत्‌को अपने अन्तर्गत देखता है (६ । २९)।

सम्बन्ध—इस प्रकार अङ्ग-प्रत्यङ्गोंसहित संन्यासका यानी सांख्ययोगका स्वरूप बतलाकर अब उस साधनद्वारा ब्रह्मभावको प्राप्त हुए योगीके लक्षण और उसे ज्ञानयोगकी परा निष्ठारूप परा भक्तिका प्राप्त होना बतलाते हैं—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥५४॥

फिर वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें एकीभावसे स्थित, प्रसन्न मनवाला योगी न तो किसीके लिये शोक करता है और न किसीकी आकाङ्क्षा ही करता है। ऐसा समस्त प्राणियोंमें समभाववाला योगी मेरी परा भक्तिको प्राप्त हो जाता है ॥ ५४ ॥

प्रश्न—'ब्रह्मभूतः' पद किस स्थितिवाले योगीका वाचक है ?

उत्तर—जो सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें अभिन्नभावसे स्थित हो जाता है; जिसकी दृष्टिमें एक सच्चिदानन्दघन ब्रह्मसे भिन्न किसी भी वस्तुकी सत्ता नहीं रहती; 'अहं ब्रह्मास्मि'—मैं ब्रह्म हूँ (बृह० उ० १ । ४ । १०), 'सोऽहमस्मि'—वह ब्रह्म ही मैं हूँ, आदि महावाक्योंके अनुसार जिसको आत्मा और परमात्माकी अभिन्नताका अटल निश्चय हो जाता है, इस निश्चयमें कभी किञ्चिन्मात्र भी व्यवधान नहीं होता—ऐसे सांख्ययोगीका वाचक यहाँ 'ब्रह्मभूतः' पद है। पाँचवें अध्यायके २४ वें श्लोकमें और छठे अध्यायके २७वें श्लोकमें भी इस स्थितिवाले योगीको 'ब्रह्मभूत' कहा है।

प्रश्न—'प्रसन्नात्मा' पदका क्या भाव है ?

उत्तर—जिसका मन पवित्र, स्वच्छ और शान्त हो तथा निरन्तर शुद्ध प्रसन्नतासे व्याप्त रहता हो—उसे 'प्रसन्नात्मा' कहते हैं; इस विशेषणका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया है कि ब्रह्मभावको प्राप्त हुए पुरुषकी दृष्टिमें एक सच्चिदानन्दघन ब्रह्मसे भिन्न किसी भी वस्तुकी सत्ता न रहनेके कारण उसका मन निरन्तर प्रसन्न रहता है, कभी किसी भी कारणसे क्षुब्ध नहीं होता।

प्रश्न—ब्रह्मभूत योगी न तो शोक करता है और न आकाङ्क्षा ही करता है, इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इस कथनसे ब्रह्मभूत योगीका लक्षण किया गया है। अभिप्राय यह है कि ब्रह्मभूत योगीकी सर्वत्र ब्रह्मबुद्धि हो जानेके कारण संसारकी किसी भी वस्तुमें उसकी भिन्नत्व-प्रतीति, रमणीयत्व-बुद्धि और

ममता नहीं रहती । अतएव शरीरादिके साथ किसीका संयोग-वियोग होनेमें उसका कुछ भी बनता-बिगड़ता नहीं । इस कारण वह किसी भी हालतमें किसी भी कारणसे किञ्चिन्मात्र भी चिन्ता या शोक नहीं करता । और वह पूर्णकाम हो जाता है, क्योंकि किसी भी वस्तुमें उसकी ब्रह्मसे भिन्न दृष्टि नहीं रहती, इस कारण वह कुछ भी नहीं चाहता ।

प्रश्न—'सर्वेषु भूतेषु समः' इस विशेषणका क्या भाव है ?

उत्तर—इस विशेषणसे उस ब्रह्मभूत योगीका समस्त प्राणियोंमें समभाव दिखलाया गया है । अभिप्राय यह है कि वह किसी भी प्राणीको अपनेसे भिन्न नहीं समझता—इस कारण उसका किसीमें भी विषमभाव नहीं रहता, सबमें समभाव हो जाता है; यही भाव छठे अध्यायके उन्तीसवें श्लोकमें 'सर्वत्र समदर्शनः' पदसे दिखलाया गया है ।

प्रश्न—'पराम्' विशेषणके सहित यहाँ 'मद्भक्तिम्' पद किसका वाचक है ?

उत्तर—जो ज्ञानयोगका फल है, जिसको ज्ञानकी परा निष्ठा और तत्त्वज्ञान भी कहते हैं, उसका वाचक यहाँ 'पराम्' विशेषणके सहित 'मद्भक्तिम्' पद है; क्योंकि वह भगवान्‌के यथार्थ स्वरूपका साक्षात् कराकर उनमें अभिन्नभावसे प्रविष्ट करा देता है । उससे युक्त पुरुष भगवान्‌का आत्मा हो जाता है और आत्मा ही सबसे अधिक प्रिय है, इस कारण यहाँ इस तत्त्वज्ञानको 'परा भक्ति' नाम दिया गया है ।

सम्बन्ध—इस प्रकार ब्रह्मभूत योगीको परा भक्तिकी प्राप्ति बतलाकर अब उसका फल बतलाते हैं—

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥५५॥

उस परा भक्तिके द्वारा वह मुझ परमात्माको, मैं जो हूँ और जितना हूँ, ठीक वैसा-का-वैसा तत्त्वसे जान लेता है; तथा उस भक्तिसे मुझको तत्त्वसे जानकर तत्काल ही मुझमें प्रविष्ट हो जाता है ॥५५॥

प्रश्न—'भक्त्या' पद यहाँ किसका वाचक है ?

उत्तर—पूर्वके श्लोकमें जिसका 'परा' विशेषणके सहित 'मद्भक्तिम्' पदसे और पचासवें श्लोकमें ज्ञानकी परा निष्ठाके नामसे वर्णन किया गया है, उसी तत्त्वज्ञानका वाचक यहाँ 'भक्त्या' पद है । यही ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग और ध्यानयोग आदि समस्त साधनोंका फल है; इसके द्वारा ही सब साधकोंको परमात्माके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान होकर उनकी प्राप्ति होती है । इस प्रकार समस्त साधनोंके फलकी एकता करनेके लिये ही यहाँ ज्ञानयोगके प्रकरणमें 'भक्त्या' पदका प्रयोग किया गया है ।

प्रश्न—इस भक्तिके द्वारा योगी मुझको, मैं जो हूँ और जितना हूँ, ठीक वैसा-का-वैसा तत्त्वसे जान लेता है—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया है कि इस परा भक्तिरूप तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति होनेके साथ ही वह योगी उस तत्त्वज्ञानके द्वारा मेरे यथार्थ रूपको जान लेता है; मेरा निर्गुण-निराकार रूप क्या है,

सगुण-निराकार और सगुण-साकार रूप क्या है, मैं निराकारसे साकार कैसे होता हूँ और पुनः साकारसे निराकार कैसे होता हूँ—इत्यादि कुछ भी जानना उसके लिये शेष नहीं रहता। अतएव फिर उसकी दृष्टिमें किसी प्रकारका भेदभाव नहीं रहता। इस प्रकार ज्ञानयोगके साधनसे प्राप्त होनेवाले निर्गुण-निराकार ब्रह्मके साथ सगुण ब्रह्मकी एकता दिखलानेके लिये यहाँ ज्ञानयोगके प्रकरणमें भगवान्‌ने ब्रह्मके स्थानमें 'माम्' पदका प्रयोग किया है।

प्रश्न—'ततः' का अर्थ परा भक्ति कैसे किया गया ?

उत्तर—परमात्माके स्वरूपका ज्ञान होनेके साथ ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है—उसमें कालका व्यवधान नहीं है—और जिसका प्रकरण हो, उसका वाचक 'ततः' पद स्वभावसे ही होता है; तथा यहाँ 'ज्ञात्वा' पदके साथ उसके हेतुका अनुवाद करनेकी आवश्यकता भी थी—इस कारण 'ततः' पदका अर्थ पूर्वार्द्धमें वर्णित 'परा भक्ति' किया गया है।

प्रश्न—यहाँ 'तदनन्तरम्' पदका अर्थ तत्काल कैसे किया गया ? 'ज्ञात्वा' पदके साथ 'तदनन्तरम्' पदका प्रयोग किया गया है, इससे तो 'विशते' क्रियाका यह भाव लेना चाहिये कि पहले मनुष्य भगवान्‌के स्वरूपको यथार्थ जानता है और उसके बाद उसमें प्रविष्ट होता है।

उत्तर—ऐसी बात नहीं है; किन्तु 'ज्ञात्वा' पदसे जो कालके व्यवधानकी आशङ्का होती थी, उसे दूर करनेके लिये ही यहाँ 'तदनन्तरम्' पदका प्रयोग किया गया है। अभिप्राय यह है कि भगवान्‌के तत्त्वज्ञान और उनकी प्राप्तिमें अन्तर यानी व्यवधान नहीं होता, भगवान्‌के स्वरूपको यथार्थ जानना और उनमें प्रविष्ट होना—दोनों एक साथ होते हैं। भगवान् सबके आत्मरूप होनेसे वास्तवमें किसीको अप्राप्त नहीं हैं, अतः उनके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान होनेके साथ ही उनकी प्राप्ति हो जाती है। इसलिये यह भाव समझानेके लिये ही यहाँ 'तदनन्तरम्' पदका अर्थ 'तत्काल' किया गया है; क्योंकि कालान्तरका बोध तो 'ज्ञात्वा' पदसे ही हो जाता है, उसके लिये 'तदनन्तरम्' पदके प्रयोगकी आवश्यकता न थी।

सम्बन्ध—इस प्रकार अर्जुनकी जिज्ञासाके अनुसार त्यागका यानी कर्मयोगका और संन्यासका यानी सांख्ययोगका तत्त्व अलग-अलग समझाकर यहाँतक उस प्रकरणको समाप्त कर दिया; किन्तु इस वर्णनमें भगवान्‌ने यह बात नहीं कही कि दोनोंमेंसे तुम्हारे लिये अमुक साधन कर्तव्य है, अतएव अर्जुनको भक्तिप्रधान कर्मयोग ग्रहण करानेके उद्देश्यसे अब भक्तिप्रधान कर्मयोगकी महिमा कहते हैं—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥५६॥

मेरे परायण हुआ कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परमपदको प्राप्त हो जाता है॥५६॥

प्रश्न—'मद्व्यपाश्रयः' पद किसका वाचक है ?

उत्तर—समस्त कर्मोंका और उनके फलरूप समस्त भोगोंका आश्रय त्याग कर जो भगवान्‌के ही आश्रित हो गया है; जो अपने मन-इन्द्रियोंसहित शरीरको, उसके द्वारा किये जानेवाले समस्त कर्मोंको और उनके फलको भगवान्‌के समर्पण करके उन सबसे ममता, आसक्ति और कामना हटाकर भगवान्‌के ही परायण हो गया है; भगवान्‌को ही अपना परम प्राप्य, परम प्रिय, परम हितैषी, परमाधार और सर्वस्व समझकर जो भगवान्‌के विधानमें सदैव प्रसन्न रहता है—किसी भी सांसारिक वस्तुके संयोग-वियोगमें और किसी भी घटनामें कभी हर्ष-शोक नहीं करता तथा जो कुछ भी कर्म करता है, भगवान्‌के आज्ञानुसार उन्हींकी प्रसन्नताके लिये, अपनेको केवल निमित्तमात्र समझकर, उन्हींकी प्रेरणा और शक्तिसे, जैसे भगवान् कराते हैं वैसे ही करता है, एवं अपनेको सर्वथा भगवान्‌के अधीन समझता है—ऐसे भक्तिप्रधान कर्मयोगीका वाचक यहाँ 'मद्व्यपाश्रयः' पद है ।

प्रश्न—'सर्वकर्माणि' पद यहाँ किन कर्मोंका वाचक है ?

उत्तर—अपने वर्ण और आश्रमके अनुसार जितने भी शास्त्रविहित कर्तव्यकर्म हैं—जिनका वर्णन पहले 'नियतं कर्म' और 'स्वभावजं कर्म' के नामसे किया गया है तथा जो भगवान्‌की आज्ञा और प्रेरणाके अनुकूल हैं—उन समस्त कर्मोंका वाचक यहाँ 'सर्व-कर्माणि' पद है ।

प्रश्न—यहाँ 'अपि' अव्ययके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—'अपि' अव्ययका प्रयोग करके यहाँ भक्ति-प्रधान कर्मयोगीकी महिमा की गयी है और कर्मयोगकी सुगमता दिखलायी गयी है । अभिप्राय यह है कि सांख्ययोगी समस्त परिग्रहका और समस्त भोगोंका त्याग करके एकान्त देशमें निरन्तर परमात्माके ध्यानका साधन करता हुआ जिस परमात्माको प्राप्त करता है, भगवदाश्रयी कर्मयोगी स्ववर्णोचित समस्त कर्मोंको सदा करता हुआ भी उसी परमात्माको प्राप्त हो जाता है; दोनोंके फलमें किसी प्रकारका भेद नहीं होता ।

प्रश्न—'शाश्वतम्' और 'अव्ययम्' विशेषणोंके सहित 'पदम्' पद किसका वाचक है और भक्तिप्रधान कर्मयोगीका भगवान्‌की कृपासे उसको प्राप्त हो जाना क्या है ?

उत्तर—जो सदासे है और सदा रहता है, जिसका कभी अभाव नहीं होता—उस सच्चिदानन्दघन, पूर्णब्रह्म, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार परमेश्वरका वाचक यहाँ उपर्युक्त विशेषणोंके सहित 'पदम्' पद है । वही परम प्राप्य है, यह भाव दिखलानेके लिये उसे 'पद' के नामसे कहा गया है । ४५वें श्लोकमें जिसे 'संसिद्धि' की प्राप्ति, ४६वेंमें 'सिद्धि' की प्राप्ति, ४९वेंमें 'परम नैष्कर्म्यसिद्धि' की प्राप्ति और ५५वें श्लोकमें 'माम्' पदवाच्य परमेश्वरकी प्राप्ति कहा गया है, उसीको यहाँ 'शाश्वतम्' और 'अव्ययम्' विशेषणोंके सहित 'पदम्' पदवाच्य भगवान्‌की प्राप्ति कहा गया है । अभिप्राय यह है कि भिन्न-भिन्न नामोंसे एक ही तत्त्वका वर्णन किया गया है । उपर्युक्त भक्तिप्रधान कर्मयोगीके भावसे भावित और प्रसन्न होकर, उसपर अतिशय अनुग्रह करके भगवान् स्वयं ही उसे परा भक्तिरूप बुद्धियोग प्रदान कर देते हैं (१० । १०); उस बुद्धियोगके द्वारा भगवान्‌के यथार्थ स्वरूपको जानकर जो उस भक्तका भगवान्‌में तन्मय हो जाना है—अपनेको सर्वथा भूल जाना है—यही उसका उपर्युक्त परमपदको प्राप्त हो जाना है ।

सम्बन्ध—इस प्रकार भक्तिप्रधान कर्मयोगीकी महिमाका वर्णन करके अब अर्जुनको वैसा भक्तिप्रधान कर्मयोगी बननेके लिये आज्ञा देते हैं—

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥ ५७ ॥

सब कर्मोंको मनसे मुझमें अर्पण करके तथा समत्वबुद्धिरूप योगको अवलम्बन करके मेरे परायण और निरन्तर मुझमें चित्तवाला हो ॥ ५७ ॥

प्रश्न—समस्त कर्मोंको मनसे भगवान्‌में अर्पण करना क्या है ?

उत्तर—अपने मन, इन्द्रिय और शरीरको, उनके द्वारा किये जानेवाले कर्मोंको और संसारकी समस्त वस्तुओंको भगवान्‌की समझकर उन सबमें ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग कर देना तथा मुझमें कुछ भी करनेकी शक्ति नहीं है, भगवान् ही सब प्रकारकी शक्ति प्रदान करके मेरेद्वारा अपने इच्छानुसार समस्त कर्म करवाते हैं, मैं कुछ भी नहीं करता—ऐसा समझकर भगवान्‌के आज्ञानुसार उन्हींके लिये, उन्हींकी प्रेरणासे, जैसे वे करावें वैसे ही, निमित्तमात्र बनकर समस्त कर्मोंको कठपुतलीकी भाँति करते रहना—यही समस्त कर्मोंको मनसे भगवान्‌में अर्पण कर देना है।

प्रश्न—'बुद्धियोगम्' पद किसका वाचक है और उसका अवलम्बन करना क्या है ?

उत्तर—सिद्धि और असिद्धिमें, सुख और दुःखमें, हानि और लाभमें, इसी प्रकार संसारके समस्त पदार्थोंमें और प्राणियोंमें जो समबुद्धि है—उसका वाचक 'बुद्धियोगम्' पद है । इसलिये जो कुछ भी होता है, सब भगवान्‌की ही इच्छा और इशारेसे होता है—ऐसा समझकर समस्त वस्तुओंमें, समस्त प्राणियोंमें और समस्त घटनाओंमें राग-द्वेष, हर्ष-शोकादि विषमभावोंसे रहित होकर सदा-सर्वदा समभावसे युक्त रहना ही उपर्युक्त बुद्धियोगका अवलम्बन करना है ।

प्रश्न—भगवान्‌के परायण होना क्या है ?

उत्तर—भगवान्‌को ही अपना परम प्राप्य, परम गति, परम हितैषी, परम प्रिय और परमाधार मानना, उनके विधानमें सदा ही सन्तुष्ट रहना और उनकी प्राप्तिके साधनोंमें तत्पर रहना भगवान्‌के परायण होना है ।

प्रश्न—निरन्तर भगवान्‌में चित्तवाला होना क्या है ?

उत्तर—मन-बुद्धिको अटलभावसे भगवान्‌में लगा देना; भगवान्‌के सिवा अन्य किसीमें किञ्चिन्मात्र भी प्रेमका सम्बन्ध न रखकर अनन्य प्रेमपूर्वक निरन्तर भगवान्‌का ही चिन्तन करते रहना; क्षणमात्रके लिये भी भगवान्‌की विस्मृतिका असह्य हो जाना; उठते-बैठते, चलते-फिरते, खाते-पीते, सोते-जागते और समस्त कर्म करते समय भी नित्य-निरन्तर मनसे भगवान्‌के दर्शन करते रहना—यही निरन्तर भगवान्‌में चित्तवाला होना है । नवें अध्यायके अन्तिम श्लोकमें और यहाँ ६५ वें श्लोकमें 'मन्मना भव' से भी यही बात कही गयी है ।

सम्बन्ध—इस प्रकार भगवान् अर्जुनको भक्तिप्रधान कर्मयोगी बननेकी आज्ञा देकर अब उस आज्ञाके पालन करनेका फल बतलाते हुए उसे न माननेमें बहुत बड़ी हानि दिखलाते हैं—

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहङ्कारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥ ५८ ॥

उपर्युक्त प्रकारसे मुझमें चित्तवाला होकर तू मेरी कृपासे समस्त सङ्कटोंको अनायास ही पार कर जायगा और यदि अहङ्कारके कारण मेरे वचनोंको न सुनेगा तो नष्ट हो जायगा अर्थात् परमार्थसे भ्रष्ट हो जायगा ॥ ५८ ॥

प्रश्न—मुझमें चित्तवाला होकर तू मेरी कृपासे समस्त सङ्कटोंको अनायास ही पार कर जायगा, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इस वाक्यसे भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि पूर्व श्लोकमें कहे हुए प्रकारसे समस्त कर्म मुझमें अर्पण करके और मेरे परायण होकर निरन्तर मुझमें मन लगा देनेके बाद तुम्हें और कुछ भी न करना पड़ेगा, मेरी दयाके प्रभावसे अनायास ही तुम्हारे इस लोक और परलोकके समस्त दुःख टल जायँगे, तुम सब प्रकारके दुर्गुण और दुराचारोंसे रहित होकर सदाके लिये जन्म-मरणरूप महान् सङ्कटसे मुक्त हो जाओगे और मुझ नित्य-आनन्दघन परमेश्वरको प्राप्त कर लोगे ।

प्रश्न—'*अथ*' और '*चेत्*'—इन दोनों अव्ययोंका क्या भाव है और 'अहङ्कारके कारण मेरे वचनोंको न सुनेगा तो नष्ट हो जायगा'—इस कथनका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'*अथ*' पक्षान्तरका बोधक है और '*चेत्*' 'यदि' के अर्थमें प्रयुक्त हुआ है । इन दोनों अव्ययोंके सहित उपर्युक्त वाक्यसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि तुम मेरे भक्त और प्रिय सखा हो, इस कारण अवश्य ही मेरी आज्ञाका पालन करोगे; तथापि तुम्हें सावधान करनेके लिये मैं बतला देता हूँ कि जिस प्रकार मेरी आज्ञाका पालन करनेसे महान् लाभ होता है, उसी प्रकार उसके त्यागसे महती हानि भी होती है । इसलिये यदि तुम अहङ्कारके वशमें होकर अर्थात् अपनेको बुद्धिमान् या समर्थ समझकर मेरे वचनोंको न सुनोगे, मेरी आज्ञाका पालन न करके अपनी मनमानी करोगे तो तुम नष्ट हो जाओगे; फिर तुम्हें इस लोकमें या परलोकमें कहीं भी वास्तविक सुख और शान्ति न मिलेगी और तुम अपने कर्तव्यसे भ्रष्ट होकर वर्तमान स्थितिसे गिर जाओगे ।

प्रश्न—भगवान् अर्जुनसे पहले यह कह चुके हैं कि तुम मेरे भक्त हो (४ । ३) और यह भी कह आये हैं कि 'न मे भक्तः प्रणश्यति' अर्थात् मेरे भक्तका कभी पतन नहीं होता (९ । ३१) और यहाँ यह कहते हैं कि तुम नष्ट हो जाओगे अर्थात् तुम्हारा पतन हो जायगा; इस विरोधका क्या समाधान है ?

उत्तर—भगवान्‌ने स्वयं ही उपर्युक्त वाक्यमें '*चेत्*' पदका प्रयोग करके इस विरोधका समाधान कर दिया है । अभिप्राय यह है कि भगवान्‌के भक्तका कभी पतन नहीं होता, यह ध्रुव सत्य है और यह भी सत्य है कि अर्जुन भगवान्‌के परम भक्त हैं; इसलिये वे भगवान्‌की बात न सुनें, उनकी आज्ञाका पालन न करें—यह हो ही नहीं सकता; किन्तु इतनेपर भी यदि अहङ्कारके वशमें होकर वे भगवान्‌की आज्ञाकी अवहेलना कर दें तो फिर भगवान्‌के भक्त नहीं समझे जा सकते, इसलिये फिर उनका पतन होना भी युक्तिसङ्गत ही है ।

सम्बन्ध—पूर्व श्लोकमें जो अहङ्कारवश भगवान्‌की आज्ञाको न माननेसे नष्ट हो जानेकी बात कही है, उसीकी पुष्टि करनेके लिये अब भगवान् दो श्लोकोंद्वारा अर्जुनकी मान्यतामें दोष दिखलाते हुए उसका भावी परिणाम बतलाते हैं—

यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥५९॥

जो तू अहङ्कारका आश्रय लेकर यह मान रहा है कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा', तेरा यह निश्चय मिथ्या है; क्योंकि तेरा स्वभाव तुझे जबर्दस्ती युद्धमें लगा देगा ॥५९॥

प्रश्न—जो तू अहङ्कारका आश्रय लेकर यह मान रहा है कि मैं युद्ध नहीं करूँगा, इस वाक्यका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—पहले भगवान्‌के द्वारा युद्ध करनेकी आज्ञा दी जानेपर (२ । ३) जो अर्जुनने भगवान्‌से यह कहा था कि 'न योत्स्ये'—मैं युद्ध नहीं करूँगा (२ । ९), उसी बातको स्मरण कराते हुए भगवान्‌ने यहाँ उपर्युक्त वाक्य कहा है । अभिप्राय यह है कि तुम जो यह मानते हो कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा', तुम्हारा यह मानना केवल अहङ्कारमात्र है; युद्ध करना या न करना तुम्हारे हाथकी बात नहीं है । अतएव इस प्रकार अज्ञानजनित अहङ्कारके वशीभूत होकर अपनेको पण्डित, समर्थ और स्वतन्त्र समझना एवं उसके बलपर यह निश्चय कर लेना कि अमुक कार्य मैं इस प्रकार कर लूँगा और अमुक कार्य नहीं करूँगा, बहुत ही अनुचित है ।

प्रश्न—तेरा यह निश्चय मिथ्या है, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इस कथनसे भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि तुम्हारी यह मान्यता टिक न सकेगी; अर्थात् तुम बिना युद्ध किये रह न सकोगे; क्योंकि तुम स्वतन्त्र नहीं हो, प्रकृतिके अधीन हो ।

प्रश्न—यहाँ 'प्रकृतिः' पद किसका वाचक है और तेरी प्रकृति तुझे जबर्दस्ती युद्धमें लगा देगी, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—जन्म-जन्मान्तरमें किये हुए कर्मोंके संस्कार जो वर्तमान जन्ममें स्वभावरूपसे प्रादुर्भूत हुए हैं, उनके समुदायका वाचक यहाँ 'प्रकृतिः' पद है; इसीको स्वभाव भी कहते हैं । इस स्वभावके अनुसार ही मनुष्यका भिन्न भिन्न कर्मोंके अधिकारी समुदायमें जन्म होता है और उस स्वभावके अनुसार ही भिन्न-भिन्न मनुष्योंकी भिन्न-भिन्न कर्मोंमें प्रवृत्ति हुआ करती है । अतएव यहाँ उपर्युक्त वाक्यसे भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि जिस स्वभावके कारण तुम्हारा क्षत्रिय-कुलमें जन्म हुआ है, वह स्वभाव तुम्हारी इच्छा न रहनेपर भी तुमको जबर्दस्ती युद्धमें प्रवृत्त करा देगा । योग्यता प्राप्त होनेपर वीरतापूर्वक युद्ध करना, युद्धसे डरना या भागना नहीं—यह तुम्हारा सहज कर्म है; अतएव तुम इसे किये बिना रह न सकोगे, तुमको युद्ध अवश्य करना पड़ेगा । यहाँ क्षत्रियके नाते अर्जुनको युद्धके विषयमें जो बात कही है, वही बात अन्य वर्णवालोंको अपने-अपने स्वाभाविक कर्मोंके विषयमें समझ लेनी चाहिये ।

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥६०॥

हे कुन्तीपुत्र ! जिस कर्मको तू मोहके कारण करना नहीं चाहता, उसको भी अपने पूर्वकृत स्वाभाविक कर्मसे बँधा हुआ परवश होकर करेगा ॥६०॥

प्रश्न–'कौन्तेय' सम्बोधनका क्या भाव है ?

उत्तर–अर्जुनकी माता कुन्ती बड़ी वीर महिला थी, उसने स्वयं श्रीकृष्णके हाथ सँदेसा भेजते समय पाण्डवोंको युद्धके लिये उत्साहित किया था । अतः भगवान् यहाँ अर्जुनको 'कौन्तेय' नामसे सम्बोधित करके यह भाव दिखलाते हैं कि तुम वीर माताके पुत्र हो, स्वयं भी शूरवीर हो, इसलिये तुमसे युद्ध किये बिना नहीं रहा जायगा ।

प्रश्न–जिस कर्मको तू मोहके कारण करना नहीं चाहता, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर–इससे भगवान्ने यह दिखलाया है कि तुम क्षत्रिय हो, युद्ध करना तुम्हारा स्वाभाविक धर्म है; अतएव वह तुम्हारे लिये पापकर्म नहीं है । इसलिये उसे न करनेकी इच्छा करना किसी प्रकार भी उचित नहीं है । इसपर भी जो तुम न्यायसे प्राप्त युद्धरूप सहजकर्मको करना नहीं चाहते हो, इसमें केवलमात्र तुम्हारा अविवेक ही हेतु है; दूसरा कोई युक्तियुक्त कारण नहीं है ।

प्रश्न–उसको भी तू अपने स्वाभाविक कर्मोंसे बँधा हुआ परवश होकर करेगा, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर–इससे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि युद्ध करना तुम्हारा स्वाभाविक कर्म है–इस कारण तुम उससे बँधे हुए हो अर्थात् उससे तुम्हारा घनिष्ठ सम्बन्ध है । इसलिये तुम्हारी इच्छा न रहनेपर भी वह तुमको बलात्कारसे अपनी ओर आकर्षित कर लेगा और तुम्हें अपने स्वभावके वशमें होकर उसे करना ही पड़ेगा । इसलिये यदि मेरी आज्ञाके अनुसार–अर्थात् ५७वें श्लोकमें बतलायी हुई विधिके अनुसार उसे करोगे तो कर्मबन्धनसे मुक्त होकर मुझे प्राप्त हो जाओगे, नहीं तो राग-द्वेषके जालमें फँसकर जन्म-मृत्युरूप संसारसागरमें गोते लगाते रहोगे । जिस प्रकार नदीके प्रवाहमें बहता हुआ मनुष्य उस प्रवाहका सामना करके नदीके पार नहीं जा सकता वरं अपना नाश कर लेता है; और जो किसी नौका या काठका आश्रय लेकर या तैरनेकी कलासे जलके ऊपर तैरता रहकर उस प्रवाहके अनुकूल चलता है, वह किनारे लगकर उसको पार कर जाता है; उसी प्रकार प्रकृतिके प्रवाहमें पड़ा हुआ जो मनुष्य प्रकृतिका सामना करता है, यानी हठसे कर्तव्य-कर्मोंका त्याग कर देता है, वह प्रकृतिसे पार नहीं हो सकता वरं उसमें अधिक फँसता जाता है; और जो परमेश्वरका या कर्मयोगका आश्रय लेकर या ज्ञानमार्गके अनुसार अपनेको प्रकृतिसे ऊपर उठाकर प्रकृतिके अनुकूल कर्म करता रहता है, वह कर्मबन्धनसे मुक्त होकर प्रकृतिके पार चला जाता है अर्थात् परमात्माको प्राप्त हो जाता है ।

सम्बन्ध–पूर्व श्लोकोंमें कर्म करने और न करनेमें मनुष्यको स्वभावके अधीन बतलाया गया; इसपर यह शङ्का हो सकती है कि प्रकृति या स्वभाव जड है, वह किसीको अपने वशमें कैसे कर सकता है ? इसलिये भगवान् कहते हैं–

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥६१॥

हे अर्जुन ! शरीररूप यन्त्रमें आरूढ हुए सम्पूर्ण प्राणियोंको अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी मायासे उनके कर्मोंके अनुसार भ्रमण कराता हुआ सब प्राणियोंके हृदयमें स्थित है ॥ ६१ ॥

प्रश्न—यहाँ शरीरको यन्त्रका रूपक देनेका क्या अभिप्राय है और ईश्वरको समस्त प्राणियोंके हृदयमें स्थित बतलानेका क्या भाव है ?

उत्तर—यहाँ शरीरको यन्त्रका रूपक देकर भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि जैसे किसी यन्त्रपर चढ़ा हुआ मनुष्य स्वयं न चलता हुआ भी उस यन्त्रके चलनेसे चलनेवाला कहा जाता है—जैसे रेलगाड़ी आदि यन्त्रोंपर बैठा हुआ मनुष्य स्वयं नहीं चलता, तो भी रेलगाड़ी आदि यन्त्रके चलनेसे उसका चलना हो जाता है—उसी प्रकार यद्यपि आत्मा निश्चल है, उसका किसी भी क्रियासे वास्तवमें कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, तो भी अनादिसिद्ध अज्ञानके कारण उसका शरीरसे सम्बन्ध होनेसे उस शरीरकी क्रिया उसकी क्रिया मानी जाती है । और ईश्वरको सब भूतोंके हृदयमें स्थित बतलाकर यह भाव दिखलाया है कि यन्त्रको चलानेवाला प्रेरक जैसे स्वयं भी उस यन्त्रमें रहता है, उसी प्रकार ईश्वर भी समस्त प्राणियोंके अन्तःकरणमें स्थित हैं और उनके हृदयमें स्थित रहते हुए ही उनके कर्मानुसार उनको भ्रमण कराते रहते हैं । इसलिये ईश्वरके किसी भी विधानमें जरा भी भूल नहीं हो सकती; क्योंकि वे सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी, सर्वज्ञ परमेश्वर उनके समस्त कर्मोंको भलीभाँति जानते हैं ।

प्रश्न—'यन्त्रारूढानि' विशेषणके सहित 'भूतानि' पद किनका वाचक है और भगवान्का उनको अपनी मायासे भ्रमण कराना क्या है ?

उत्तर—शरीररूप यन्त्रमें स्थित समस्त प्राणियोंका वाचक यहाँ 'यन्त्रारूढानि' विशेषणके सहित 'भूतानि' पद है तथा उन सबको उनके पूर्वार्जित कर्म-संस्कारोंके अनुसार फल भुगतानेके लिये बार-बार नाना योनियोंमें उत्पन्न करना तथा भिन्न-भिन्न पदार्थोंसे, क्रियाओंसे और प्राणियोंसे उनका संयोग-वियोग कराना और उनके स्वभाव (प्रकृति) के अनुसार उन्हें पुनः चेष्टा करनेमें लगाना—यही भगवान्का उन प्राणियोंको अपनी माया-द्वारा भ्रमण कराना है ।

प्रश्न—कर्म करनेमें और न करनेमें मनुष्य स्वतन्त्र है या परतन्त्र ? यदि परतन्त्र है तो किस रूपमें है तथा किसके परतन्त्र है—प्रकृतिके या स्वभावके अथवा ईश्वरके ? क्योंकि कहीं तो मनुष्यका कर्मोंमें अधिकार बतलाकर (२ । ४७) उसे स्वतन्त्र, कहीं प्रकृतिके अधीन (३ । ३३) और कहीं ईश्वरके अधीन बतलाया है (१० । ८) । इस अध्यायमें भी ५९ वें और ६० वें श्लोकोंमें प्रकृतिके और स्वभावके अधीन बतलाया है तथा इस श्लोकमें ईश्वरके अधीन बतलाया है, इसलिये इसका स्पष्टीकरण होना चाहिये ।

उत्तर—कर्म करने और न करनेमें मनुष्य परतन्त्र है, इसीलिये यह कहा गया है कि कोई भी प्राणी क्षणमात्र भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता (३ । ५)। मनुष्यका जो कर्म करनेमें अधिकार बतलाया गया है, उसका अभिप्राय भी उसको स्वतन्त्र बतलाना नहीं है, बल्कि परतन्त्र बतलाना ही है; क्योंकि उससे कर्मोंके

त्यागमें अशक्यता सूचित की गयी है। अब रह गया यह प्रश्न कि मनुष्य किसके अधीन होकर कार्य करता है, तो इसके सम्बन्धमें यह बात है कि मनुष्यको प्रकृतिके अधीन बतलाना, स्वभावके अधीन बतलाना और ईश्वरके अधीन बतलाना—ये तीनों बातें एक ही हैं। क्योंकि स्वभाव और प्रकृति तो पर्यायवाची शब्द हैं और ईश्वर स्वयं निरपेक्षभावसे अर्थात् सर्वथा निर्लिप्त रहते हुए ही उन जीवोंकी प्रकृतिके अनुरूप अपनी मायाशक्तिके द्वारा उनको कर्मोंमें नियुक्त करते हैं, इसलिये ईश्वरके अधीन बतलाना प्रकृतिके ही अधीन बतलाना है। दूसरे पक्षमें ईश्वर ही प्रकृतिके स्वामी और प्रेरक हैं, इस कारण प्रकृतिके अधीन बतलाना भी ईश्वरके ही अधीन बतलाना है। रही यह बात कि यदि मनुष्य सर्वथा ही परतन्त्र है तो फिर उसके उद्धार होनेका क्या उपाय है और उसके लिये कर्तव्य-अकर्तव्यका विधान करनेवाले शास्त्रोंकी क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर यह है कि कर्तव्य-अकर्तव्यका विधान करनेवाले शास्त्र मनुष्यको उसके स्वाभाविक कर्मोंसे हटानेके लिये या उससे स्वभावविरुद्ध कर्म करवानेके लिये नहीं हैं, किन्तु उन कर्मोंको करनेमें जो राग-द्वेषके वशमें होकर वह अन्याय कर लेता है—उस अन्यायका त्याग कराकर उसे न्यायपूर्वक कर्तव्य-कर्मोंमें लगानेके लिये हैं। इसलिये मनुष्य कर्म करनेमें स्वभावके परतन्त्र होते हुए भी उस स्वभावका सुधार करनेमें परतन्त्र नहीं है। अतएव यदि वह शास्त्र और महापुरुषोंके उपदेशसे सचेत होकर प्रकृतिके प्रेरक सर्वशक्तिमान् परमेश्वरकी शरण ग्रहण कर ले और राग-द्वेषादि विकारोंका त्याग करके शास्त्रविधिके अनुसार न्यायपूर्वक अपने स्वाभाविक कर्मोंको करता हुआ अपना जीवन बिताने लगे तो उसका उद्धार हो सकता है।

सम्बन्ध—उपर्युक्त श्लोकमें यह बात सिद्ध की गयी कि मनुष्य कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करनेमें स्वतन्त्र नहीं है, उसे अपने स्वभावके वश होकर स्वाभाविक कर्मोंमें प्रवृत्त होना ही पड़ता है, क्योंकि सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी परमेश्वर स्वयं सब प्राणियोंके हृदयमें स्थित होकर उनकी प्रकृतिके अनुसार उनको भ्रमण कराते हैं और उनकी प्रेरणाका प्रतिवाद करना मनुष्यके लिये अशक्य है। इसपर यह प्रश्न उठता है कि यदि ऐसी ही बात है तो फिर कर्मबन्धनसे छूटकर परम शान्तिलाभ करनेके लिये मनुष्यको क्या करना चाहिये? इसपर भगवान् अर्जुनको उसका कर्तव्य बतलाते हुए कहते हैं—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥६२॥

हे भारत! तू सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही शरणमें जा। उस परमात्माकी कृपासे ही तू परम शान्तिको तथा सनातन परम धामको प्राप्त होगा ॥ ६२ ॥

प्रश्न—'तम्' पद किसका वाचक है और सब प्रकारसे उसकी शरणमें जाना क्या है?

उत्तर—जिन सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सबके प्रेरक, सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापी परमेश्वरको पूर्वश्लोकमें समस्त

प्राणियोंके हृदयमें स्थित बतलाया गया है, उन्हींका वाचक यहाँ 'तम्' पद है और अपने मन, बुद्धि, इन्द्रियोंको, प्राणोंको और समस्त धन, जन आदिको उनके समर्पण करके उन्हींपर निर्भर हो जाना सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी शरणमें चले जाना है। अर्थात् बुद्धिके द्वारा भगवान्के गुण, प्रभाव, तत्त्व और स्वरूपका श्रद्धापूर्वक निश्चय करके भगवान्को ही परम प्राप्य, परम गति, परम आश्रय और सर्वस्व समझना तथा उनको अपना स्वामी, भर्ता, प्रेरक, रक्षक और परम हितैषी *समझकर सब प्रकारसे उनपर निर्भर और निर्भय हो जाना एवं सब कुछ भगवान्का समझकर और भगवान्को सर्वव्यापी जानकर समस्त कर्मोंमें ममता, अभिमान, आसक्ति और कामनाका त्याग करके भगवान्के आज्ञानुसार अपने कर्मोंद्वारा समस्त प्राणियोंके हृदयमें स्थित परमेश्वरकी सेवा करना; जो कुछ भी दुःख-सुखके भोग प्राप्त हों, उनको भगवान्का भेजा हुआ पुरस्कार समझकर सदा ही सन्तुष्ट रहना; भगवान्के किसी भी विधानमें कभी किञ्चिन्मात्र भी असन्तुष्ट न होना; मान, बड़ाई और प्रतिष्ठाका त्याग करके भगवान्के सिवा किसी भी सांसारिक वस्तुमें ममता और आसक्ति न रखना; अतिशय श्रद्धा और अनन्य प्रेमपूर्वक भगवान्के गुण, प्रभाव, तत्त्व और स्वरूपका नित्य-निरन्तर चिन्तन करते रहना—ये सभी भाव तथा क्रियाएँ सब प्रकारसे परमेश्वरकी शरण ग्रहण करनेके अन्तर्गत हैं।

प्रश्न—परमेश्वरकी दयासे परम शान्तिको और सनातन परम धामको प्राप्त होना क्या है?

उत्तर—उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्की शरण ग्रहण करनेवाले भक्तपर परम दयालु, परम सुहृद्, सर्वशक्तिमान् परमेश्वरकी अपार दयाका स्रोत बहने लगता है—जो उसके समस्त दुःखों और बन्धनोंको सदाके लिये बहा ले जाता है। इस प्रकार भक्तका जो समस्त दुःखोंसे और समस्त बन्धनोंसे छूटकर सदाके लिये परमानन्दसे युक्त हो जाना और सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म सनातन परमेश्वरको प्राप्त हो जाना है, यही परमेश्वरकी कृपासे परम शान्तिको और सनातन परम धामको प्राप्त हो जाना है।

सम्बन्ध—इस प्रकार अर्जुनको अन्तर्यामी परमेश्वरकी शरण ग्रहण करनेके लिये आज्ञा देकर अब भगवान् उक्त उपदेशका उपसंहार करते हुए कहते हैं—

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥६३॥

इस प्रकार यह गोपनीयसे भी अति गोपनीय ज्ञान मैंने तुझसे कह दिया। अब तू इस रहस्ययुक्त ज्ञानको पूर्णतया भलीभाँति विचारकर, जैसे चाहता है वैसे ही कर ॥६३॥

प्रश्न—'इति' पदका यहाँ क्या भाव है?

उत्तर—'इति' पद यहाँ उपदेशकी समाप्तिका बोधक है तथा दूसरे अध्यायके ग्यारहवें श्लोकसे लेकर यहाँतक भगवान्ने जो कुछ कहा है, उसका समाहार करके लक्ष्य करानेवाला है।

प्रश्न—'ज्ञानम्' पद यहाँ किस ज्ञानका वाचक है और उसके साथ 'गुह्यात् गुह्यतरम्' विशेषण देकर क्या भाव दिखलाया है?

उत्तर—भगवान्ने दूसरे अध्यायके ग्यारहवें श्लोकसे आरम्भ करके यहाँतक अर्जुनको अपने गुण, प्रभाव,

तत्त्व और स्वरूपका रहस्य भलीभाँति समझानेके लिये जितनी बातें कही हैं—उस समस्त उपदेशका वाचक यहाँ 'ज्ञानम्' पद है; वह सारा-का-सारा उपदेश भगवान्‌का प्रत्यक्ष ज्ञान करानेवाला है, इसलिये उसका नाम ज्ञान रक्खा गया है। संसारमें और शास्त्रोंमें जितने भी गुप्त रखनेयोग्य रहस्यके विषय माने गये हैं—उन सबमें भगवान्‌के गुण, प्रभाव और स्वरूपका यथार्थ ज्ञान करा देनेवाला उपदेश सबसे बढ़कर गुप्त रखनेयोग्य माना गया है; इसलिये इस उपदेशका महत्त्व समझानेके लिये और यह बात समझानेके लिये कि अनधिकारीके सामने इन बातोंको प्रकट नहीं करना चाहिये, यहाँ 'ज्ञानम्' पदके साथ 'गुह्यात् गुह्यतरम्' विशेषण दिया गया है।

प्रश्न—'मया', 'ते' और 'आख्यातम्' इन पदोंका क्या भाव है ?

उत्तर—'मया' पदसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि मुझ परमेश्वरके गुण, प्रभाव और स्वरूपका तत्त्व जितना और जैसा मैं कह सकता हूँ वैसा दूसरा कोई नहीं कह सकता; इसलिये यह मेरेद्वारा कहा हुआ ज्ञान बहुत ही महत्त्वकी वस्तु है। तथा 'ते' पदसे यह भाव दिखलाया है कि तुम्हें इसका अधिकारी समझकर तुम्हारे हितके लिये मैंने यह उपदेश सुनाया है और 'आख्यातम्' पदसे यह भाव दिखलाया है कि मुझे जो कुछ कहना था, वह सब मैं कह चुका; अब और कुछ कहना बाकी नहीं रहा है।

प्रश्न—इस रहस्ययुक्त ज्ञानको पूर्णतया भलीभाँति विचारकर जैसे चाहता है वैसे ही कर, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—दूसरे अध्यायके ११वें श्लोकसे उपदेश आरम्भ करके भगवान्‌ने अर्जुनको सांख्ययोग और कर्मयोग, इन दोनों ही साधनोंके अनुसार स्वधर्मरूप युद्ध करना जगह-जगह (२।१८,३७; ३।३०; ८।७; ११।३४) कर्तव्य बतलाया तथा अपनी शरण ग्रहण करनेके लिये कहा। उसके बाद १८वें अध्यायमें उसकी जिज्ञासाके अनुसार संन्यास और त्याग (योग)का तत्त्व भलीभाँति समझानेके अनन्तर पुनः ५६ वें और ५७ वें श्लोकोंमें भक्तिप्रधान कर्मयोगकी महिमाका वर्णन करके अर्जुनको अपनी शरणमें आनेके लिये कहा। इतनेपर भी अर्जुनकी ओरसे कोई स्वीकृतिकी बात नहीं कहे जानेपर भगवान्‌ने पुनः उस आज्ञाके पालन करनेका महान् फल दिखलाया और उसे न माननेसे बहुत बड़ी हानि भी बतलायी। इसपर भी कोई उत्तर न मिलनेसे पुनः अर्जुनको सावधान करनेके लिये परमेश्वरको सबका प्रेरक और सबके हृदयमें स्थित बतलाकर उसकी शरण ग्रहण करनेके लिये कहा। इतनेपर भी जब अर्जुनने कुछ नहीं कहा तब इस श्लोकके पूर्वार्द्धमें उपदेशका उपसंहार करके एवं कहे हुए उपदेशका महत्त्व दिखलाकर इस वाक्यसे पुनः उसपर विचार करनेके लिये अर्जुनको सावधान करते हुए अन्तमें यह कहा कि 'यथेच्छसि तथा कुरु' अर्थात् उपर्युक्त प्रकारसे विचार करनेके उपरान्त तुम जैसा ठीक समझो, वैसा ही करो। अभिप्राय यह है कि मैंने जो कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग आदि बहुत प्रकारके साधन बतलाये हैं, उनमेंसे तुम्हें जो साधन अच्छा मालूम पड़े, उसीका पालन करो अथवा और जो कुछ तुम ठीक समझो, वही करो।

सम्बन्ध—इस प्रकार अर्जुनको सारे उपदेशपर विचार करके अपना कर्तव्य निर्धारित करनेके लिये कहे जानेपर भी जब अर्जुनने कुछ भी उत्तर नहीं दिया और वे अपनेको अनधिकारी तथा कर्तव्य-निश्चय करनेमें

असमर्थ समझकर खिन्नचित्त और चकित-से हो गये, तब सबके हृदयकी बात जाननेवाले अन्तर्यामी भगवान् स्वयं ही अर्जुनपर दया करके उसे समस्त गीताके उपदेशका सार बतलानेका विचार करके कहने लगे—

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥६४॥

सम्पूर्ण गोपनीयोंसे अति गोपनीय मेरे परम रहस्ययुक्त वचनको तू फिर भी सुन । तू मेरा अतिशय प्रिय है, इससे यह परम हितकारक वचन मैं तुझसे कहूँगा ॥ ६४ ॥

प्रश्न—'वचः' के साथ 'सर्वगुह्यतमम्' और 'परमम्' इन दोनों विशेषणोंके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—भगवान्‌ने यहाँतक अर्जुनको जितनी बातें कहीं, वे सभी बातें गुप्त रखनेयोग्य हैं; अतः उनको भगवान्‌ने जगह-जगह 'परम गुह्य' और 'उत्तम रहस्य' नाम दिया है । उस समस्त उपदेशमें भी जहाँ भगवान्‌ने खास अपने गुण, प्रभाव, स्वरूप, महिमा और ऐश्वर्यको प्रकट करके यानी मैं ही स्वयं सर्वव्यापी, सर्वाधार, सर्वशक्तिमान्, साक्षात् सगुण-निर्गुण परमेश्वर हूँ—इस प्रकार कहकर अर्जुनको अपना भजन करनेके लिये और अपनी शरणमें आनेके लिये कहा है, वे वचन अधिक-से-अधिक गुप्त रखनेयोग्य हैं । इसीलिये भगवान्‌ने नवें अध्यायके पहले श्लोकमें 'गुह्यतमम्' और दूसरेमें 'राजगुह्यम्' विशेषणका प्रयोग किया है; क्योंकि उस अध्यायमें भगवान्‌ने अपने गुण, प्रभाव, स्वरूप, रहस्य और ऐश्वर्यका भलीभाँति वर्णन करके अर्जुनको स्पष्ट शब्दोंमें अपना भजन करनेके लिये और अपनी शरणमें आनेके लिये कहा है । इसी तरह दसवें अध्यायमें पुनः उसी प्रकार अपनी शरणागतिका विषय आरम्भ करते समय पहले श्लोकमें 'वचः' के साथ 'परमम्' विशेषण दिया है । अतएव यहाँ भगवान् 'वचः' पदके साथ 'सर्वगुह्यतमम्' और 'परमम्' विशेषण देकर यह भाव दिखलाते हैं कि मेरे कहे हुए उपदेशमें भी जो अत्यन्त गुप्त रखनेयोग्य सबसे अधिक महत्त्वकी बात है, वह मैं तुम्हें अगले दो श्लोकोंमें कहूँगा ।

प्रश्न—उस उपदेशको पुनः सुननेके लिये कहनेका क्या भाव है ?

उत्तर—उसे पुनः सुननेके लिये कहकर यह भाव दिखलाया गया है कि अब जो बात मैं तुम्हें बतलाना चाहता हूँ, उसे पहले भी कह चुका हूँ; (९।३४; १२।६-७; १८।५६-५७) किन्तु तुम उसे विशेषरूपसे धारण नहीं कर सके, अतएव उस अत्यन्त महत्त्वके उपदेशको समस्त उपदेशमेंसे अलग करके मैं तुम्हें फिर बतलाता हूँ । तुम उसे सावधानीके साथ सुनकर धारण करो ।

प्रश्न—'दृढम्' के सहित 'इष्टः' पदसे क्या भाव दिखलाया है ?

उत्तर—६३वें श्लोकमें भगवान्‌ने अर्जुनको अपने कर्तव्यका निश्चय करनेके लिये स्वतन्त्र विचार करनेको कह दिया, उसका भार उन्होंने अपने ऊपर नहीं रक्खा; इस बातको सुनकर अर्जुनके मनमें उदासी छा गयी, वे सोचने लगे कि भगवान् ऐसा क्यों कह रहे हैं,—क्या मेरा भगवान्‌पर विश्वास नहीं है, क्या मैं इनका भक्त और प्रेमी नहीं हूँ । अतः 'दृढम्' और 'इष्टः' इन दोनों पदोंसे भगवान् अर्जुनका शोक दूर करनेके लिये उन्हें उत्साहित करते हुए यह भाव

दिखलाते हैं कि तुम मेरे अत्यन्त प्रिय हो, तुम्हारा और मेरा प्रेमका सम्बन्ध अटल है; अतः तुम किसी तरहका शोक मत करो।

प्रश्न—'ततः' अव्ययके प्रयोगका तथा मैं तुझसे परम हितकी बात कहूँगा, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—'ततः' पद यहाँ हेतुवाचक है, इसका प्रयोग करके और अर्जुनको उसके हितका वचन कहनेकी प्रतिज्ञा करके भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि तुम मेरे घनिष्ठ प्रेमी हो; इसीलिये मैं तुमसे किसी प्रकारका छिपाव न रखकर गुप्तसे भी अतिगुप्त बात तुम्हारे हितके लिये, तुम्हारे सामने प्रकट करूँगा और मैं जो कुछ भी कहूँगा वह तुम्हारे लिये अत्यन्त हितकी बात होगी।

सम्बन्ध—पूर्व श्लोकमें जिस सर्वगुह्यतम बातको कहनेकी भगवान्‌ने प्रतिज्ञा की, उसे अब कहते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥६५॥

हे अर्जुन! तू मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो और मुझको प्रणाम कर। ऐसा करनेसे तू मुझे ही प्राप्त होगा, यह मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ; क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय है ॥६५॥

प्रश्न—भगवान्‌में मनवाला होना क्या है?

उत्तर—भगवान्‌को सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापी, सर्वेश्वर तथा अतिशय सौन्दर्य, माधुर्य और ऐश्वर्य आदि गुणोंके समुद्र समझकर अनन्य प्रेमपूर्वक निश्चलभावसे मनको भगवान्‌में लगा देना, क्षणमात्र भी भगवान्‌की विस्मृतिको न सह सकना 'भगवान्‌में मनवाला' होना है। इसकी विशेष व्याख्या नवें अध्यायके अन्तिम श्लोकमें की गयी है।

प्रश्न—भगवान्‌का भक्त बनना क्या है?

उत्तर—भगवान्‌को ही एकमात्र अपना भर्त्ता, स्वामी, संरक्षक, परम गति और परम आश्रय समझकर सर्वथा उनके अधीन हो जाना, किञ्चिन्मात्र भी अपनी स्वतन्त्रता न रखना, सब प्रकारसे उनपर निर्भर रहना, उनके प्रत्येक विधानमें सदा ही सन्तुष्ट रहना और उनकी आज्ञाका सदा पालन करना तथा उनमें अतिशय श्रद्धापूर्वक अनन्य प्रेम करना 'भगवान्‌का भक्त बनना' है।

प्रश्न—भगवान्‌का पूजन करना क्या है?

उत्तर—नवें अध्यायके २६वें श्लोकके वर्णनानुसार पत्र-पुष्पादिसे श्रद्धा, भक्ति और प्रेमपूर्वक भगवान्‌के विग्रहका पूजन करना; मनसे भगवान्‌का आवाहन करके उनकी मानसिक पूजा करना; उनके वचनोंका, उनकी लीलाभूमिका और उनके विग्रहका सब प्रकारसे आदर-सम्मान करना तथा सबमें भगवान्‌को व्याप्त समझकर या समस्त प्राणियोंको भगवान्‌का स्वरूप समझकर उनकी यथायोग्य सेवा-पूजा, आदर-सत्कार करना आदि सब भगवान्‌की पूजा करनेके अन्तर्गत हैं। इसका वर्णन नवें अध्यायके २६वेंसे २८वें श्लोकतककी व्याख्यामें तथा ३४वें श्लोककी व्याख्यामें देखना चाहिये।

प्रश्न—'माम्' पद किसका वाचक है और उसको नमस्कार करना क्या है?

उत्तर—जिन परमेश्वरके सगुण-निर्गुण, निराकार-साकार आदि अनेक रूप हैं; जो अर्जुनके सामने

श्रीकृष्णरूपमें प्रकट होकर गीताका उपदेश सुना रहे हैं; जिन्होंने रामरूपमें प्रकट होकर संसारमें धर्मकी मर्यादाका स्थापन किया और नृसिंहरूप धारण करके भक्त प्रह्लादका उद्धार किया——उन्हीं सर्वशक्तिमान्, सर्वगुणसम्पन्न, अन्तर्यामी, परमाधार, समग्र पुरुषोत्तम भगवान्का वाचक यहाँ 'माम्' पद है। उनके किसी भी रूपको, चित्रको, चरणचिह्नोंको या चरणपादुकाओं-को तथा उनके गुण, प्रभाव और तत्त्वका वर्णन करने-वाले शास्त्रोंको साष्टाङ्ग प्रणाम करना या समस्त प्राणियोंमें उनको व्याप्त या समस्त प्राणियोंको भगवान्का स्वरूप समझकर सबको प्रणाम करना 'भगवान्को नमस्कार करना' है। इसका भी विस्तार नवें अध्यायके अन्तिम श्लोकमें देखना चाहिये।

प्रश्न—ऐसा करनेसे तू मुझे ही प्राप्त होगा, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि उपर्युक्त प्रकारसे साधन करनेके उपरान्त तू अवश्य ही मुझ सच्चिदानन्दघन सर्वशक्तिमान् परमेश्वरको प्राप्त हो जायगा, इसमें कुछ भी संशय नहीं है। भगवान्को प्राप्त होना क्या है, यह बात भी नवें अध्यायके अन्तिम श्लोककी व्याख्यामें बतलायी गयी है।

प्रश्न—मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ, इसका क्या भाव है?

उत्तर—अर्जुन भगवान्के प्रिय भक्त और सखा थे, अतएव उनपर प्रेम और दया करके उनका अपने ऊपर अतिशय दृढ़ विश्वास करानेके लिये और अर्जुनके निमित्तसे अन्य अधिकारी मनुष्योंका विश्वास दृढ़ कराने-के लिये भगवान्ने उपर्युक्त वाक्य कहा है। अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त प्रकारसे साधन करनेवाला भक्त मुझे प्राप्त हो जाता है, इस बातपर दृढ़ विश्वास करके मनुष्यको वैसा बननेके लिये अधिक-से-अधिक चेष्टा करनी चाहिये।

प्रश्न—तू मेरा प्रिय है, इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इस कथनसे प्रेममय भगवान्ने उपर्युक्त प्रतिज्ञा करनेका हेतु बतलाया है। अभिप्राय यह है कि तुम मुझको बहुत ही प्यारे हो; तुम्हारे प्रति मेरा जो प्रेम है, उस प्रेमसे ही बाध्य होकर तुम्हारा विश्वास दृढ़ करानेके लिये मैं तुमसे यह प्रतिज्ञा करता हूँ; नहीं तो इस प्रकार प्रतिज्ञा करनेकी मुझे कोई आवश्यकता न थी।*

---

* जिन महात्मा अर्जुनके लिये भगवान्ने स्वयं अपने श्रीमुखसे गीताका दिव्य उपदेश किया, उनकी महिमाका कौन वर्णन कर सकता है। महाभारत, उद्योगपर्वमें कहा है——

एष नारायणः कृष्णः फाल्गुनश्च नरः स्मृतः।
नारायणो नरश्चैव सत्त्वमेकं द्विधा कृतम्॥ (४९।२०)

'ये श्रीकृष्ण साक्षात् नारायण हैं और अर्जुन नर कहे गये हैं; ये नारायण और नर दो रूपोंमें प्रकट एक ही सत्त्व हैं।'

यहाँ संक्षेपमें यह दिखलाना है कि अर्जुनके प्रति भगवान्का कितना प्रेम था। इसीसे पता लग जायगा कि अर्जुन भगवान्से कितना प्रेम करते थे।

वनविहार, जलविहार, राजदरबार, देवानुष्ठान आदिमें भी भगवान् श्रीकृष्ण प्रायः अर्जुनके साथ रहते थे। उनका परस्पर इतना मेल था कि अन्तःपुरतकमें पवित्र और विशुद्ध प्रेमके सङ्कोचरहित दृश्य देखे जाते थे। सञ्जयने पाण्डवोंके यहाँसे लौटकर धृतराष्ट्रसे कहा था——'श्रीकृष्ण-अर्जुनका मैंने विलक्षण प्रेम देखा है; मैं उन दोनोंसे बातें करनेके लिये बड़े ही विनीत भावसे उनके अन्तःपुरमें गया। मैंने जाकर देखा वे दोनों महात्मा उत्तम वस्त्राभूषणोंसे भूषित होकर

प्रश्न—इस श्लोकमें भगवान्ने जो चार साधन बतलाये हैं, उन चारोंके करनेसे ही भगवान्की प्राप्ति होती है या इनमेंसे एक-एकसे भी हो जाती है?

उत्तर—जिसमें चारों साधन पूर्णरूपसे होते हैं, उसको भगवान्की प्राप्ति हो जाय—इसमें तो कहना ही क्या है; परन्तु इनमेंसे एक-एक साधनसे भी भगवान्की प्राप्ति हो सकती है। क्योंकि भगवान्ने स्वयं ही आठवें अध्यायके चौदहवें श्लोकमें केवल अनन्य-चिन्तनसे अपनी प्राप्तिको सुलभ बतलाया है; सातवें अध्यायके तेईसवें और नवेंके पचीसवेंमें अपने भक्तको अपनी प्राप्ति बतलायी है और नवें अध्यायके २६वेंसे २८वेंतक एवं इस अध्यायके छियालीसवें श्लोकमें केवल

महामूल्यवान् आसनोंपर विराजमान थे। अर्जुनकी गोदमें श्रीकृष्णके चरण थे और द्रौपदी तथा सत्यभामाकी गोदमें अर्जुनके दोनों पैर थे! मुझे देखकर अर्जुनने अपने पैरके नीचेका सोनेका पीढ़ा सरकाकर मुझे बैठनेको कहा, मैं अदबके साथ उसे छूकर नीचे ही बैठ गया।'

वनमें भगवान् श्रीकृष्ण पाण्डवोंसे मिलने गये और वहाँ बातचीतके सिलसिलेमें उन्होंने अर्जुनसे कहा—

ममैव त्वं तवैवाहं ये मदीयास्तवैव ते।
यस्त्वां द्वेष्टि स मां द्वेष्टि यस्त्वामनु स मामनु॥ (महा० वन० १२। ४५)

'हे अर्जुन! तुम मेरे हो और मैं तुम्हारा हूँ। जो मेरे हैं, वे तुम्हारे ही हैं। अर्थात् जो कुछ मेरा है, उसपर तुम्हारा अधिकार है। जो तुमसे शत्रुता रखता है, वह मेरा शत्रु है और जो तुम्हारा अनुवर्ती (साथ देनेवाला) है, वह मेरा भी है।'

भीष्मको पाण्डवसेनाका संहार करते जब नौ दिन बीत गये, तब रात्रिके समय युधिष्ठिरने बहुत ही चिन्तित होकर भगवान्से कहा—'हे श्रीकृष्ण! भीष्मसे हमारा लड़ना वैसा ही है जैसा जलती हुई आगकी ज्योतिपर पतङ्गोंका मरनेके लिये टूट पड़ना। आप कहिये अब क्या करें।' इसपर भगवान् श्रीकृष्णने युधिष्ठिरको आश्वासन देते हुए कहा—'आप चिन्ता न करें, मुझे आज्ञा दें तो मैं भीष्मको मार डालूँ। आप निश्चय मानिये कि अर्जुन भीष्मको मार देंगे।' फिर अर्जुनके साथ अपने प्रेमका सम्बन्ध जताते हुए भगवान्ने कहा—

तव भ्राता मम सखा सम्बन्धी शिष्य एव च।
मांसान्युत्कृत्य दास्यामि फाल्गुनार्थे महीपते॥
एष चापि नरव्याघ्रो मत्कृते जीवितं त्यजेत्।
एष नः समयस्तात तारयेम परस्परम्॥

(महा० भीष्म० १०७। ३३-३४)

'हे राजन्! आपके भाई अर्जुन मेरे मित्र हैं, सम्बन्धी हैं और शिष्य हैं। मैं अर्जुनके लिये अपने शरीरका मांसतक काटकर दे सकता हूँ। पुरुषसिंह अर्जुन भी मेरे लिये प्राण दे सकते हैं। हे तात! हम दोनों मित्रोंकी यह प्रतिज्ञा है कि परस्पर एक-दूसरेको सङ्कटसे उबारें।'

इससे पता लग सकता है कि भगवान् श्रीकृष्णका अर्जुनके साथ कैसे विलक्षण प्रेमका सम्बन्ध था!

इन्द्रसे प्राप्त एक अमोघ शक्ति कर्णके पास थी। इन्द्रने कह दिया था कि 'इस शक्तिको तुम जिसपर छोड़ोगे, उसकी निश्चय ही मृत्यु हो जायगी। परन्तु इसका प्रयोग एक ही बार होगा।' कर्णने वह शक्ति अर्जुनको मारनेके लिये रख छोड़ी थी। दुर्योधनादि उनसे बार-बार कहते कि 'तुम शक्तिका प्रयोग करके अर्जुनको मार क्यों नहीं डालते?' कर्ण अर्जुनको मारनेकी इच्छा भी करते, परन्तु सामने आते ही अर्जुनके रथपर सारथिरूपमें बैठे हुए भगवान् श्रीकृष्ण कर्णपर ऐसी मोहिनी डालते कि जिससे वे शक्तिका प्रयोग करना भूल जाते। जब भीमपुत्र घटोत्कचने राक्षसी मायासे

पूजनसे अपनी प्राप्ति बतलायी है। यह बात अवश्य है कि उपर्युक्त एक-एक साधनको प्रधानरूपसे करनेवालेमें दूसरी सब बातें भी आनुषङ्गिकरूपसे रहती ही हैं और श्रद्धा-भक्तिका भाव तो सभीमें रहता है।

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥६६॥

सम्पूर्ण धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको मुझमें त्याग कर तू केवल एक मुझ सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार परमेश्वरकी ही शरणमें आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर ॥६६॥

प्रश्न—'सर्वधर्मान्' पद यहाँ किन धर्मोंका वाचक है और उनका त्याग क्या है ?

उत्तर—वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिके अनुसार जिस मनुष्यके लिये जो-जो कर्म कर्तव्य बतलाये गये हैं; बारहवें अध्यायके छठे श्लोकमें 'सर्वाणि' विशेषणके सहित 'कर्माणि' पदसे और इस अध्यायके सत्तावनवें श्लोकमें 'सर्वकर्माणि' पदसे जिनका वर्णन किया गया है—उन शास्त्रविहित समस्त

कौरवसेनाका भीषणरूपसे संहार किया, तब दुर्योधन आदि सब घबड़ा गये। सभीने कर्णको पुकारकर कहा—'इन्द्रकी शक्तिका प्रयोग कर पहले इसे मारो, जिससे हमलोगोंके प्राण तो बचें। इस आधी रातके समय यदि यह राक्षस हम सबको मार ही डालेगा तब अर्जुनको मारनेके लिये रक्खी हुई शक्ति हमारे किस काम आवेगी ?' अतः कर्णको वह शक्ति घटोत्कचपर छोड़नी पड़ी और शक्तिके लगते ही घटोत्कच मर गया। घटोत्कचकी मृत्युसे सारा पाण्डव-परिवार दुखी हो गया, परन्तु भगवान् श्रीकृष्ण बड़े प्रसन्न हुए और वे हर्षोन्मत्त-से होकर बार-बार अर्जुनको हृदयसे लगाने लगे। आगे चलकर उन्होंने सात्यकिसे कहा—'हे सात्यके ! युद्धके समय कर्णको मैं ही मोहित कर रखता था। इसीसे आजतक वह अर्जुनपर उस शक्तिका प्रयोग न कर सका। अर्जुनको मारनेमें समर्थ वह शक्ति जबतक कर्णके पास थी, हे सात्यके ! तबतक मैं सदा चिन्तित रहता था। चिन्ताके मारे न मुझे रातको नींद आती थी और न चित्तमें कभी हर्ष ही होता था। आज उस अमोघ शक्तिको व्यर्थ हुई जानकर मैं अर्जुनको कालके मुखसे बचा हुआ समझता हूँ। देखो—माता-पिता, तुमलोग, भाई-बन्धु और मेरे प्राण भी मुझे अर्जुनसे बढ़कर प्रिय नहीं हैं। मैं जिस प्रकार रणमें अर्जुनकी रक्षा करना आवश्यक समझता हूँ, उस प्रकार किसीकी नहीं समझता। तीनों लोकोंके राज्यकी अपेक्षा भी अधिक दुर्लभ कोई वस्तु हो तो उसे भी मैं अर्जुनको छोड़कर नहीं चाहता। इस समय अर्जुनका पुनर्जन्म-सा हो गया देखकर मुझे बड़ा भारी हर्ष हो रहा है।'

त्रैलोक्यराज्याद्यत्किञ्चिद्भवेदन्यत्सुदुर्लभम्।
नेच्छेयं सात्वताहं तद्विना पार्थं धनञ्जयम्॥
अतः प्रहर्षः सुमहान् युयुधानाद्य मेऽभवत्।
मृतं प्रत्यागतमिव दृष्ट्वा पार्थं धनञ्जयम्॥

(महा० द्रोण० १८२। ४४, ४५)

श्रीकृष्ण और अर्जुनकी मैत्री इतनी प्रसिद्ध थी कि स्वयं दुर्योधनने भी एक बार ऐसा कहा था—

आत्मा हि कृष्णः पार्थस्य कृष्णस्यात्मा धनञ्जयः।
यद् ब्रूयादर्जुनः कृष्णं सर्वं कुर्यादसंशयम्॥
कृष्णो धनञ्जयस्यार्थे स्वर्गलोकमपि त्यजेत्।
तथैव पार्थः कृष्णार्थे प्राणानपि परित्यजेत्॥

(महा० सभा० ५२। ३१—३३)

कर्मोंका वाचक यहाँ 'सर्वधर्मान्' पद है। उन समस्त कर्मोंका जो उन दोनों श्लोकोंकी व्याख्यामें बतलाये हुए प्रकारसे भगवान्‌में समर्पण कर देना है, वही उनका 'त्याग' है। क्योंकि भगवान् इस अध्यायमें त्यागका स्वरूप बतलाते समय सातवें श्लोकमें स्पष्ट कह चुके हैं कि नियत कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करना न्यायसङ्गत नहीं है; इसलिये उनका जो मोहपूर्वक त्याग है, वह तामस त्याग है। अतः यहाँ 'परित्यज्य' पदसे समस्त कर्मोंका स्वरूपसे त्याग मानना नहीं बन सकता। इसके सिवा अर्जुनको भगवान्‌ने क्षात्रधर्मरूप युद्धका परित्याग न करनेके लिये एवं समस्त कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण करके युद्ध करनेके लिये जगह-जगह आज्ञा दी है (३।३०; ८।७; ११।३४) और समस्त गीताको भलीभाँति सुन लेनेके बाद इस अध्यायके तिहत्तरवें श्लोकमें स्वयं अर्जुनने भगवान्‌को यह स्वीकृति देकर कि 'करिष्ये वचनं तव' (मैं आपकी आज्ञाका पालन करूँगा) फिर स्वधर्मरूप युद्ध ही किया है। इसलिये यहाँ समस्त कर्मोंको भगवान्‌में समर्पण कर देना अर्थात् सब कुछ भगवान्‌का समझकर मन, इन्द्रिय और शरीरमें तथा उनके द्वारा किये जानेवाले कर्मोंमें और उनके फलरूप समस्त भोगोंमें ममता, आसक्ति, अभिमान और कामनाका सर्वथा त्याग कर देना और केवल भगवान्‌के ही लिये भगवान्‌की आज्ञा और प्रेरणाके अनुसार, जैसे वे करवावें वैसे, कठपुतलीकी भाँति उनको करते रहना—यही यहाँ समस्त धर्मोंका परित्याग करना है, उनका स्वरूपसे त्याग करना नहीं।

प्रश्न—इस प्रकार समस्त धर्मोंका परित्याग करके उसके बाद केवल एकमात्र परमेश्वरकी शरणमें चले जाना क्या है ?

उत्तर—उपर्युक्त प्रकारसे समस्त कर्मोंको भगवान्‌में

'श्रीकृष्ण अर्जुनके आत्मा हैं और अर्जुन श्रीकृष्णके। अर्जुन श्रीकृष्णको जो कुछ भी करनेको कहें, श्रीकृष्ण वह सब कर सकते हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। श्रीकृष्ण अर्जुनके लिये दिव्यलोकका भी त्याग कर सकते हैं तथा इसी प्रकार अर्जुन भी श्रीकृष्णके लिये प्राणोंका परित्याग कर सकते हैं।'

श्रीकृष्ण और अर्जुनकी आदर्श प्रीतिके और भी बहुत-से उदाहरण हैं। इसके लिये महाभारत और श्रीमद्भागवतके उन-उन स्थलोंको देखना चाहिये।

अर्जुनके इस विलक्षण प्रेमका ही प्रभाव है, जिसके कारण भगवान्‌को गुह्याद्गुह्यतर ज्ञानकी अपेक्षा भी अत्यन्त गुह्य—सर्वगुह्यतम अपने पुरुषोत्तमस्वरूपका रहस्य अर्जुनके सामने खोल देना पड़ा और इस प्रेमका ही प्रताप है कि परम धाममें भी अर्जुनको भगवान्‌की अत्यन्त दुर्लभ सेवाका ही सौभाग्य प्राप्त हुआ, जिसके लिये बड़े-बड़े ब्रह्मवादी महापुरुष भी ललचाते रहते हैं। स्वर्गारोहणके अनन्तर धर्मराज युधिष्ठिरने दिव्य देह धारण कर परम धाममें देखा—

ददर्श तत्र गोविन्दं ब्राह्मेण वपुषान्वितम् ॥
दीप्यमानं स्ववपुषा दिव्यैरस्त्रैरुपस्थितम् ।
चक्रप्रभृतिभिर्घोरैर्दिव्यैः पुरुषविग्रहैः ॥
उपास्यमानं वीरेण फाल्गुनेन सुवर्चसा ।

(महा० स्वर्गा० ४ । २—४)

'भगवान् श्रीगोविन्द वहाँ अपने ब्राह्मशरीरसे युक्त हैं। उनका शरीर देदीप्यमान है। उनके समीप चक्र आदि दिव्य शस्त्र और अन्यान्य घोर अस्त्र दिव्य पुरुष-शरीर धारण कर उनकी सेवा कर रहे हैं। महान् तेजस्वी वीर अर्जुनके द्वारा भी भगवान् सेवित हो रहे हैं।' यही 'परम फल' है गीतातत्त्वके भलीभाँति सुनने, समझने और धारण करनेका। एवं अर्जुन-सरीखे इन्द्रियसंयमी, महान् त्यागी, विचक्षण ज्ञानी—विशेषकर भगवान्‌के परम प्रिय सखा, सेवक और शिष्यको इस 'परम फल' का प्राप्त होना सर्वथा उचित ही है!

समर्पण करके बारहवें अध्यायके छठे श्लोकमें, नवें अध्यायके अन्तिम श्लोकमें तथा इसी अध्यायके सत्तावनवें श्लोकमें कहे हुए प्रकारसे भगवान्‌को ही अपना परम प्राप्य, परम गति, परमाधार, परम प्रिय, परम हितैषी, परम सुहृद्, परम आत्मीय तथा भर्ता, स्वामी, संरक्षक समझकर, उठते-बैठते, खाते-पीते, चलते-फिरते, सोते-जागते और हरेक प्रकारसे उनकी आज्ञाओंका पालन करते समय परम श्रद्धापूर्वक अनन्य प्रेमसे नित्य-निरन्तर उनका चिन्तन करते रहना और उनके विधानमें सदा ही सन्तुष्ट रहना एवं सब प्रकारसे केवलमात्र एक भगवान्‌पर ही भक्त प्रह्लादकी भाँति निर्भर रहना एकमात्र परमेश्वरकी शरणमें चला जाना है।

प्रश्न—मैं तुझे सब पापोंसे मुक्त कर दूँगा, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—शुभाशुभ कर्मोंका फलरूप जो कर्मबन्धन है—जिससे बँधा हुआ मनुष्य जन्म-जन्मान्तरसे नाना योनियोंमें घूम रहा है, उस कर्मबन्धनका वाचक यहाँ 'पाप' है और उस कर्मबन्धनसे मुक्त कर देना ही पापोंसे मुक्त कर देना है। इसलिये तीसरे अध्यायके ३१वें श्लोकमें 'कर्मभिः मुच्यन्ते' से, बारहवें अध्यायके ७ वें श्लोकमें 'मृत्युसंसारसागरात् समुद्धर्त्ता भवामि' से और इस अध्यायके ५८वें श्लोकमें 'मत्प्रसादात् सर्वदुर्गाणि तरिष्यसि' से जो बात कही गयी है—वही बात यहाँ 'मैं तुझे सब पापोंसे मुक्त कर दूँगा' इस वाक्यसे कही गयी है।

प्रश्न—'मा शुचः' अर्थात् तू शोक मत कर, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इस कथनसे भगवान्‌ने अर्जुनको आश्वासन देते हुए गीताके उपदेशका उपसंहार किया है। तथा दूसरे अध्यायके ११वें श्लोकमें 'अशोच्यान्' पदसे जिस उपदेशका उपक्रम किया था, उसका 'मा शुचः' पदसे उपसंहार करके यह दिखलाया है कि दूसरे अध्यायके सातवें श्लोकमें तुम मेरी शरणागति स्वीकार कर ही चुके हो, अब पूर्णरूपसे शरणागत होकर तुम कुछ भी चिन्ता न करो और शोकका सर्वथा त्याग करके सदा-सर्वदा मुझ परमेश्वरपर निर्भर हो रहो। यह शोकका सर्वथा अभाव और भगवत्साक्षात्कार ही गीताका मुख्य तात्पर्य है।

सम्बन्ध—इस प्रकार भगवान् गीताके उपदेशका उपसंहार करके अब उस उपदेशके अध्यापन और अध्ययनका माहात्म्य बतलानेके लिये पहले अनधिकारीके लक्षण बतलाकर उसे गीताका उपदेश सुनानेका निषेध करते हैं—

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥६७॥

तुझे यह गीतारूप रहस्यमय उपदेश किसी भी कालमें न तो तपरहित मनुष्यसे कहना चाहिये, न भक्तिरहितसे और न बिना सुननेकी इच्छावालेसे ही कहना चाहिये; तथा जो मुझमें दोषदृष्टि रखता है, उससे भी कभी नहीं कहना चाहिये ॥ ६७ ॥

प्रश्न—'इदम्' पद यहाँ किसका वाचक है तथा यह तपरहित मनुष्यसे किसी कालमें भी नहीं कहना चाहिये, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—दूसरे अध्यायके ११वें श्लोकसे लेकर उपर्युक्त श्लोकतक अर्जुनको अपने गुण, प्रभाव, रहस्य और स्वरूपका तत्त्व समझानेके लिये भगवान्‌ने जो

उपदेश दिया है, उस समस्त उपदेशका वाचक यहाँ 'इदम्' पद है। इसके अधिकारीका निर्णय करनेके लिये भगवान्‌ने चार दोषोंसे युक्त मनुष्योंको यह उपदेश सुनानेकी मनाही की है; उनमेंसे उपर्युक्त वाक्यके द्वारा तपरहित मनुष्यको इसे सुनानेकी मनाही की गयी है। अभिप्राय यह है कि यह गीताशास्त्र बड़ा ही गुप्त रखनेयोग्य विषय है; तुम मेरे अतिशय प्रेमी भक्त और दैवीसम्पदासे युक्त हो, इसलिये इसका अधिकारी समझकर मैंने तुम्हारे हितके लिये तुम्हें यह उपदेश दिया है। अतः जो मनुष्य स्वधर्मपालनरूप तप करनेवाला न हो, भोगोंकी आसक्तिके कारण सांसारिक विषय-सुखके लोभसे अपने धर्मका त्याग करके पापकर्मोंमें प्रवृत्त हो—ऐसे मनुष्यको मेरे गुण, प्रभाव और तत्त्वके वर्णनसे भरपूर यह गीताशास्त्र नहीं सुनाना चाहिये; क्योंकि वह इसको धारण नहीं कर सकेगा, इससे इस उपदेशका और साथ-ही-साथ मेरा भी अनादर होगा।

प्रश्न—भक्तिरहित मनुष्यसे भी कभी नहीं कहना चाहिये, इस कथनका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—इससे भक्तिरहित मनुष्यको उपर्युक्त उपदेश सुनानेकी मनाही की है। अभिप्राय यह है कि जिसका मुझ परमेश्वरमें विश्वास, प्रेम और पूज्यभाव नहीं है; जो अपनेको ही सर्वेसर्वा समझनेवाला नास्तिक है—ऐसे मनुष्यको भी यह अत्यन्त गोपनीय गीताशास्त्र नहीं सुनाना चाहिये। क्योंकि वह इसे सुनकर इसके भावोंको न समझनेके कारण इस गीताशास्त्रका और मेरा मजाक उड़ायेगा, इसलिये वह उलटा पापका भागी होगा।

प्रश्न—'अशुश्रूषवे' पद किसका वाचक है और उसे गीतोक्त उपदेश न सुनानेके लिये कहनेका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—जिसकी गीताशास्त्रको सुननेकी इच्छा न हो, उसका वाचक यहाँ 'अशुश्रूषवे' पद है। उसे सुनानेकी मनाही करके भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि यदि कोई अपने धर्मका पालनरूप तप भी करता हो और ईश्वरमें उसकी श्रद्धा-भक्ति भी हो, किन्तु किसी कारणसे गीताशास्त्रमें श्रद्धा और प्रेम न होनेके कारण वह उसे सुनना न चाहता हो, तो उसे भी यह परम गोपनीय शास्त्र नहीं सुनाना चाहिये; क्योंकि ऐसा मनुष्य उसको सुननेसे ऊब जाता है और उसे ग्रहण नहीं कर सकता, इससे मेरे उपदेशका और मेरा अनादर होता है।

प्रश्न—जो मुझमें दोषदृष्टि रखता है, उसे भी कभी नहीं कहना चाहिये—इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि संसारका उद्धार करनेके लिये सगुण रूपसे प्रकट मुझ परमेश्वरमें जिसकी दोषदृष्टि है, जो मेरे गुणोंमें दोषारोपण करके मेरी निन्दा करनेवाला है—ऐसे मनुष्यको तो किसी भी हालतमें इशारेमात्रसे भी यह उपदेश नहीं सुनाना चाहिये; क्योंकि वह मेरे गुण, प्रभाव और ऐश्वर्यको न सह सकनेके कारण इस उपदेशको सुनकर मेरी पहलेसे भी अधिक अवज्ञा करेगा, इससे अधिक पापका भागी होगा।

प्रश्न—उपर्युक्त चारों दोष जिसमें हों, उसीको यह उपदेश नहीं कहना चाहिये या चारोंमेंसे जिसमें एक, दो या तीन दोष हों—उसको भी नहीं सुनाना चाहिये?

उत्तर—चारोंमेंसे एक भी दोष जिसमें हो, वह भी इस उपदेशका अधिकारी नहीं है; फिर अधिक दोषवालोंकी तो बात ही क्या है।

सम्बन्ध—इस प्रकार गीतोक्त उपदेशके अनधिकारीके लक्षण बतलाकर अब भगवान् दो श्लोकोंद्वारा अपने भक्तोंको इस उपदेशका वर्णन करनेका और उसे धारण करानेका फल और माहात्म्य बतलाते हैं—

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥६८॥

जो पुरुष मुझमें परम प्रेम करके इस परम रहस्ययुक्त गीताशास्त्रको मेरे भक्तोंमें कहेगा, वह मुझको ही प्राप्त होगा—इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥६८॥

प्रश्न—'इमम्' पद किसका वाचक है तथा उसके साथ 'परमम्' और 'गुह्यम्'—इन दो विशेषणोंके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—'इमम्' पद यहाँ गीतोक्त समस्त उपदेशका वाचक है। उसके साथ 'परमम्' और 'गुह्यम्' विशेषण देकर भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि यह उपदेश मनुष्यको संसारबन्धनसे छुड़ाकर साक्षात् मुझ परमेश्वरकी प्राप्ति करानेवाला होनेसे अत्यन्त ही श्रेष्ठ और गुप्त रखनेयोग्य है ।

प्रश्न—'मद्भक्तेषु' पद किनका वाचक है और इसका प्रयोग करके यहाँ क्या भाव दिखलाया गया है ?

उत्तर—जिनकी भगवान्में श्रद्धा है; जो भगवान्को समस्त जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और पालन करनेवाले, सर्वशक्तिमान् और सर्वेश्वर समझकर उनमें प्रेम करते हैं; जिनके चित्तमें भगवान्के गुण, प्रभाव, लीला और तत्त्वकी बातें सुननेकी उत्सुकता रहती है और सुनकर प्रसन्नता होती है—उनका वाचक यहाँ 'मद्भक्तेषु' पद है। इसका प्रयोग करके यहाँ गीताके अधिकारीका निर्णय किया गया है। अभिप्राय यह है कि जो मेरा भक्त होता है, उसमें पूर्व श्लोकमें वर्णित चारों दोषोंका अभाव अपने-आप हो जाता है । इसलिये जो मेरा भक्त है, वही इसका अधिकारी है तथा सभी मनुष्य—चाहे किसी भी वर्ण और जातिके क्यों न हों—मेरे भक्त बन सकते हैं (९ । ३२); अतः वर्ण और जाति आदिके कारण इसका कोई भी अनधिकारी नहीं है ।

प्रश्न—भगवान्में परम प्रेम करके भगवान्के भक्तोंमें इस उपदेशका कथन करना क्या है ?

उत्तर—स्वयं भगवान्में या उनके वचनोंमें अतिशय श्रद्धायुक्त होकर एवं भगवान्के गुण, प्रभाव और स्वरूपकी स्मृतिसे उनके प्रेममें विह्वल होकर केवल भगवान्की प्रसन्नताके ही लिये निष्कामभावसे उपर्युक्त भगवद्भक्तोंमें इस गीताशास्त्रका वर्णन करना अर्थात् भगवान्के भक्तोंको इसके मूल श्लोकोंका अध्ययन कराना, उनकी व्याख्या करके अर्थ समझाना, शुद्ध पाठ करवाना, उनके भावोंको भलीभाँति प्रकट करना और समझाना, श्रोताओंकी शङ्काओंका समाधान करके गीताके उपदेशको उनके हृदयमें जमा देना और गीताके उपदेशानुसार चलनेकी उनमें दृढ़ भावना उत्पन्न कर देना आदि सभी क्रियाएँ भगवान्में परम प्रेम करके भगवान्के भक्तोंमें गीताका उपदेश कथन करनेके अन्तर्गत आ जाती हैं ।

प्रश्न—वह मुझको ही प्राप्त होगा—इसमें कोई सन्देह नहीं है, इस वाक्यका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि इस प्रकार जो भक्त केवल मेरी भक्तिके ही उद्देश्यसे निष्कामभावसे मेरे भावोंका अधिकारी पुरुषोंमें विस्तार करता है, वह मुझे प्राप्त होता है—इसमें किञ्चिन्मात्र भी सन्देह

नहीं है—अर्थात् यह मेरी प्राप्तिका ऐकान्तिक उपाय है; इसलिये मेरी प्राप्ति चाहनेवाले अधिकारी भक्तोंको इस गीताशास्त्रके कथन तथा प्रचारका कार्य अवश्य करना चाहिये ।

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥६९॥

मेरा उससे बढ़कर प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्योंमें कोई भी नहीं है; तथा मेरा पृथ्वीभरमें उससे बढ़कर प्रिय दूसरा कोई भविष्यमें होगा भी नहीं ॥ ६९ ॥

प्रश्न—'तस्मात्' पद यहाँ किसका वाचक है और उससे बढ़कर मेरा प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्योंमें कोई भी नहीं है, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—'तस्मात्' पद यहाँ पूर्व श्लोकोंमें वर्णित, इस गीताशास्त्रका भगवान्‌के भक्तोंमें कथन करनेवाले, गीताशास्त्रके मर्मज्ञ, श्रद्धालु और प्रेमी भगवद्भक्तका वाचक है । 'उससे बढ़कर मेरा प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्योंमें कोई भी नहीं है ।' इस वाक्यसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि यज्ञ, दान, तप, सेवा, पूजा और जप, ध्यान आदि जितने भी मेरे प्रिय कार्य हैं—उन सबसे बढ़कर 'मेरे भावोंको मेरे भक्तोंमें विस्तार करना' मुझे प्रिय है; इस कार्यके बराबर मेरा प्रिय कार्य संसारमें कोई है ही नहीं । इस कारण जो मेरा प्रेमी भक्त मेरे भावोंका श्रद्धा-भक्तिपूर्वक मेरे भक्तोंमें विस्तार करता है, वही सबसे बढ़कर मेरा प्रिय है; उससे बढ़कर दूसरा कोई नहीं । चूँकि वह अपने स्वार्थको सर्वथा त्याग कर केवल मेरा ही प्रिय कार्य करता है, इस कारण वह मुझे आत्मासे भी बढ़कर अत्यन्त प्रिय है ।

प्रश्न—पृथ्वीभरमें उससे बढ़कर मेरा प्रिय दूसरा कोई भविष्यमें होगा भी नहीं, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह घोषणा कर दी है कि केवल इस समय ही उससे बढ़कर मेरा कोई प्रिय नहीं है, यह बात नहीं है; किन्तु उससे बढ़कर मेरा प्यारा कोई हो सकेगा, यह भी सम्भव नहीं है । क्योंकि जब उसके कार्यसे बढ़कर दूसरा कोई मेरा प्रिय कार्य ही नहीं है, तब किसी भी साधनके द्वारा कोई भी मनुष्य मेरा उससे बढ़कर प्रिय कैसे हो सकता है ! इसलिये मेरी प्राप्तिके जितने भी साधन हैं, उन सबमें यह 'भक्तिपूर्वक मेरे भक्तोंमें मेरे भावोंका विस्तार करना' रूप साधन सर्वोत्तम है—ऐसा समझकर मेरे भक्तोंको यह कार्य करना चाहिये ।

सम्बन्ध—इस प्रकार उपर्युक्त दो श्लोकोंमें गीताशास्त्रका श्रद्धा-भक्तिपूर्वक भगवद्भक्तोंमें विस्तार करनेका फल और माहात्म्य बतलाया; किन्तु सभी मनुष्य इस कार्यको नहीं कर सकते, इसका अधिकारी तो कोई विरला ही होता है । इसलिये अब गीताशास्त्रके अध्ययनका माहात्म्य बतलाते हैं—

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥७०॥

तथा जो पुरुष इस धर्ममय हम दोनोंके संवादरूप गीताशास्त्रको पढ़ेगा, उसके द्वारा मैं ज्ञानयज्ञसे पूजित होऊँगा—ऐसा मेरा मत है ॥ ७० ॥

प्रश्न—'आवयोः संवादम्' के सहित 'इमम्' पद किसका वाचक है और उसके साथ 'धर्म्यम्' विशेषण देनेका क्या भाव है ?

उत्तर—अर्जुन और भगवान् श्रीकृष्णके प्रश्नोत्तरके रूपमें जो यह गीताशास्त्र है, जिसको ६८ वें श्लोकमें 'परम गुह्य' बतलाया गया है—उसीका वाचक यहाँ 'आवयोः संवादम्' के सहित 'इमम्' पद है। इसके साथ 'धर्म्यम्' विशेषण देकर भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि यह साक्षात् मुझ परमेश्वरके द्वारा कहा हुआ शास्त्र है; इस कारण इसमें जो कुछ उपदेश दिया गया है वह सब-का-सब धर्मसे ओत-प्रोत है, कोई भी बात धर्मसे विरुद्ध या व्यर्थ नहीं है। इसलिये इसमें बतलाये हुए उपदेशका पालन करना मनुष्यका परम कर्तव्य है।

प्रश्न—गीताशास्त्रका अध्ययन करना क्या है ?

उत्तर—गीताका मर्म जाननेवाले भगवान्के भक्तोंसे इस गीताशास्त्रको पढ़ना, इसका नित्य पाठ करना, इसके अर्थका पाठ करना, अर्थपर विचार करना और इसके अर्थको जाननेवाले भक्तोंसे इसके अर्थको समझनेकी चेष्टा करना आदि सभी अभ्यास गीताशास्त्रका अध्ययन करनेके अन्तर्गत हैं। श्लोकोंका अर्थ बिना समझे इस गीताको पढ़ने और उसका नित्य पाठ करनेकी अपेक्षा उसके अर्थको भी साथ-साथ पढ़ना और अर्थज्ञानके सहित उसका नित्य पाठ करना अधिक उत्तम है; तथा उसके अर्थको समझकर पढ़ते या पाठ करते समय प्रेममें विह्वल होकर भावान्वित हो जाना उससे भी अधिक उत्तम है।

प्रश्न—उसके द्वारा मैं ज्ञानयज्ञसे पूजित होऊँगा, यह मेरा मत है—इस वाक्यका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे भगवान्ने गीताशास्त्रके उपर्युक्त प्रकारसे अध्ययनका माहात्म्य बतलाया है। अभिप्राय यह है कि इस गीताशास्त्रका अध्ययन करनेसे मनुष्यको मेरे सगुण-निर्गुण और साकार-निराकार तत्त्वका भलीभाँति यथार्थ ज्ञान हो जाता है। अतः जो कोई मनुष्य मेरा तत्त्व जाननेके लिये इस गीताशास्त्रका अध्ययन करेगा, मैं समझूँगा कि वह ज्ञानयज्ञके द्वारा मेरी पूजा करता है। यह ज्ञानयज्ञरूप साधन अन्य द्रव्यमय साधनोंकी अपेक्षा बहुत ही उत्तम माना गया है (४ । ३३); क्योंकि सभी साधनोंका अन्तिम फल भगवान्के तत्त्वको भलीभाँति जान लेना है; और वह फल इस ज्ञानयज्ञसे अनायास ही मिल जाता है, इसलिये कल्याणकामी मनुष्यको तत्परताके साथ गीताका अध्ययन करना चाहिये।

सम्बन्ध—इस प्रकार गीताशास्त्रके अध्ययनका माहात्म्य बतलाकर, अब जो उपर्युक्त प्रकारसे अध्ययन करनेमें असमर्थ हैं—ऐसे मनुष्योंके लिये उसके श्रवणका फल बतलाते हैं—

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान् प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥७१॥

जो पुरुष श्रद्धायुक्त और दोषदृष्टिसे रहित होकर इस गीताशास्त्रका श्रवण भी करेगा, वह भी पापोंसे मुक्त होकर उत्तम कर्म करनेवालोंके श्रेष्ठ लोकोंको प्राप्त होगा ॥ ७१ ॥

प्रश्न—यहाँ 'नरः' पदके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—यहाँ 'नरः' पदका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया गया है कि जिसके अंदर इस गीताशास्त्रको श्रद्धापूर्वक श्रवण करनेकी भी रुचि नहीं है, वह तो मनुष्य कहलानेयोग्य भी नहीं है; क्योंकि उसका मनुष्यजन्म पाना व्यर्थ हो रहा है। इस कारण वह मनुष्यके रूपमें पशुके ही तुल्य है।

प्रश्न—श्रद्धायुक्त और दोषदृष्टिसे रहित होकर इस गीताशास्त्रका श्रवण करना क्या है ?

उत्तर—भगवान्‌की सत्तामें और उनके गुण-प्रभावमें विश्वास करके तथा यह गीताशास्त्र साक्षात् भगवान्‌की ही वाणी है, इसमें जो कुछ भी कहा गया है सब-का-सब यथार्थ है—ऐसा निश्चयपूर्वक मानकर और उसके वक्तापर विश्वास करके प्रेम और रुचिके साथ गीताजीके मूल श्लोकोंके पाठका या उसके अर्थकी व्याख्याका श्रवण करना, यह श्रद्धासे युक्त होकर गीताशास्त्रका श्रवण करना है। और उसका श्रवण करते समय भगवान्‌पर या भगवान्‌के वचनोंपर किसी प्रकारका दोषारोपण न करना एवं गीताशास्त्रकी किसी रूपमें भी अवज्ञा न करना—यह दोषदृष्टिसे रहित होकर उसका श्रवण करना है।

प्रश्न—'शृणुयात्' के साथ 'अपि' पदके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—'शृणुयात्' के साथ 'अपि' पदका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया गया है कि जो ६८ वें श्लोकके वर्णनानुसार इस गीताशास्त्रका दूसरोंको अध्ययन कराता है तथा जो ७०वें श्लोकके कथनानुसार स्वयं अध्ययन करता है, उन लोगोंकी तो बात ही क्या है; पर जो इसका श्रद्धापूर्वक श्रवणमात्र भी कर पाता है, वह भी पापोंसे छूट जाता है। इसलिये जिससे इसका अध्यापन अथवा अध्ययन भी न बन सके, उसे इसका श्रवण तो अवश्य ही करना चाहिये।

प्रश्न—श्रवण करनेवालेका पापोंसे मुक्त होकर उत्तम कर्म करनेवालोंके श्रेष्ठ लोकोंको प्राप्त होना क्या है तथा यहाँ 'सः' के साथ 'अपि' पदके प्रयोगका क्या भाव है ?

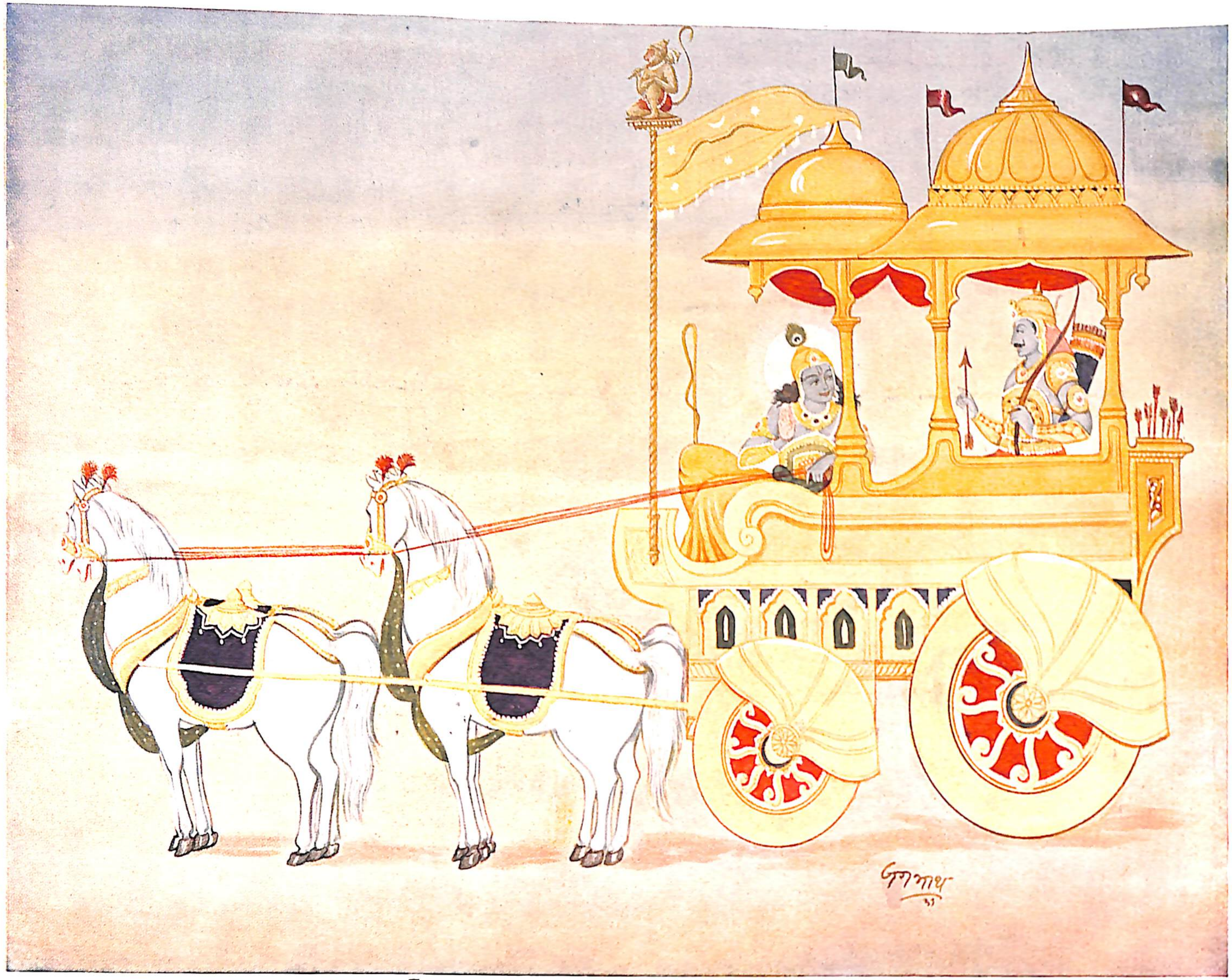
उत्तर—जन्म-जन्मान्तरोंमें किये हुए जो पशु-पक्षी आदि नीच योनियोंके और नरकके हेतुभूत पापकर्म हैं, उन सबसे छूटकर जो इन्द्रलोकसे लेकर भगवान्‌के परमधामपर्यन्त अपने-अपने प्रेम और श्रद्धाके अनुरूप भिन्न-भिन्न लोकोंमें निवास करना है—यही उनका पापोंसे मुक्त होकर पुण्यकर्म करनेवालोंके श्रेष्ठ लोकोंको प्राप्त होना है।

'सः' के साथ 'अपि' पदका प्रयोग करके यहाँ यह भाव दिखलाया गया है कि जो मनुष्य इसका अध्यापन और अध्ययन न कर सकनेके कारण उपर्युक्त प्रकारसे केवल श्रवणमात्र भी कर लेगा, वह भी पापोंके फलसे मुक्त हो जायगा—जिससे उसे पशु, पक्षी आदि योनियोंकी और नरकोंकी प्राप्ति न होगी; बल्कि वह उत्तम कर्म करनेवालोंके श्रेष्ठ लोकोंको प्राप्त करेगा।

सम्बन्ध—इस प्रकार गीताशास्त्रके कथन, पठन और श्रवणका माहात्म्य बतलाकर अब भगवान् स्वयं सब कुछ जानते हुए भी अर्जुनको सचेत करनेके लिये उससे उसकी स्थिति पूछते हैं—

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय ॥७२॥

मोह-नाश



नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत । स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥ (१८ । ७३)

हे पार्थ ! क्या मेरेद्वारा कहे हुए इस उपदेशको तूने एकाग्रचित्तसे श्रवण किया ? और हे धनञ्जय ! क्या तेरा अज्ञानजनित मोह नष्ट हो गया ? ॥ ७२ ॥

प्रश्न—'एतत्' पद यहाँ किसका वाचक है और 'क्या इसको तूने एकाग्रचित्तसे श्रवण किया ?' इस प्रश्नका क्या भाव है ?

उत्तर—दूसरे अध्यायके ११ वें श्लोकसे आरम्भ करके इस अध्यायके ६६ वें श्लोकपर्यन्त भगवान्‌ने जो दिव्य उपदेश दिया है, उस परम गोपनीय समस्त उपदेशका वाचक यहाँ 'एतत्' पद है। उस उपदेशका महत्त्व प्रकट करनेके लिये ही भगवान्‌ने यहाँ अर्जुनसे उपर्युक्त प्रश्न किया है। अभिप्राय यह है कि मेरा यह उपदेश बड़ा ही दुर्लभ है, मैं हरेक मनुष्यके सामने 'मैं ही साक्षात् परमेश्वर हूँ, तू मेरी ही शरणमें आ जा' इत्यादि बातें नहीं कह सकता; इसलिये तुमने मेरे उपदेशको भलीभाँति ध्यानपूर्वक सुन तो लिया है न ? क्योंकि यदि कहीं तुमने उसपर ध्यान न दिया होगा तो तुमने निःसन्देह बड़ी भूल की है।

प्रश्न—क्या तेरा अज्ञानजनित मोह नष्ट हो गया ?— इस प्रश्नका क्या भाव है ?

उत्तर—इस प्रश्नसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि यदि तुमने उस उपदेशको भलीभाँति सुना है तो उसका फल भी अवश्य होना चाहिये। इसलिये तुम जिस मोहसे व्याप्त होकर धर्मके विषयमें अपनेको मूढचेता बतला रहे थे (२ । ७) तथा अपने स्वधर्मका पालन करनेमें पाप समझ रहे थे (१ । ३६) और समस्त कर्तव्यकर्मोंका त्याग करके भिक्षाके अन्नसे जीवन बिताना श्रेष्ठ समझ रहे थे (२ । ५) एवं जिसके कारण तुम स्वजन-वधके भयसे व्याकुल हो रहे थे (१।४५-४७) और अपने कर्तव्यका निश्चय नहीं कर पाते थे (२ । ६-७)—तुम्हारा वह अज्ञानजनित मोह अब नष्ट हो गया या नहीं ? यदि मेरे उपदेशको तुमने ध्यानपूर्वक सुना होगा तो अवश्य ही तुम्हारा मोह नष्ट हो जाना चाहिये। और यदि तुम्हारा मोह नष्ट नहीं हुआ है, तो यही मानना पड़ेगा कि तुमने उस उपदेशको एकाग्रचित्तसे नहीं सुना।

यहाँ भगवान्‌के इन दोनों प्रश्नोंमें यह उपदेश भरा हुआ है कि मनुष्यको इस गीताशास्त्रका अध्ययन और श्रवण बड़ी सावधानीके साथ एकाग्रचित्तसे तत्पर होकर करना चाहिये और जबतक अज्ञानजनित मोहका सर्वथा नाश न हो जाय तबतक यह समझना चाहिये कि अभीतक मैं भगवान्‌के उपदेशको यथार्थ नहीं समझ सका हूँ, अतः पुनः उसपर श्रद्धा और विवेकपूर्वक विचार करना आवश्यक है।

सम्बन्ध—इस प्रकार भगवान्‌के पूछनेपर अब अर्जुन भगवान्‌से कृतज्ञता प्रकट करते हुए अपनी स्थितिका वर्णन करते हैं—

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥७३॥

अर्जुन बोले—हे अच्युत ! आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया और मैंने स्मृति प्राप्त कर ली है; अब मैं संशयरहित होकर स्थित हूँ, अतः आपकी आज्ञाका पालन करूँगा ॥ ७३ ॥

प्रश्न—यहाँ 'अच्युत' सम्बोधनका क्या भाव है ?

उत्तर—भगवान्‌को 'अच्युत' नामसे सम्बोधित करके यहाँ अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आप साक्षात् निर्विकार परब्रह्म, परमात्मा, सर्वशक्तिमान्, अविनाशी परमेश्वर हैं—इस बातको अब मैं भलीभाँति जान गया हूँ।

प्रश्न—आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे अर्जुनने कृतज्ञता प्रकट करते हुए भगवान्‌के प्रश्नका उत्तर दिया है। अर्जुनके कहनेका अभिप्राय यह है कि आपने यह दिव्य उपदेश सुनाकर मुझपर बड़ी भारी दया की है, आपके उपदेशको भलीभाँति सुननेसे मेरा अज्ञानजनित मोह सर्वथा नष्ट हो गया है अर्थात् आपके गुण, प्रभाव, ऐश्वर्य और स्वरूपको यथार्थ न जाननेके कारण जिस मोहसे व्याप्त होकर मैं आपकी आज्ञाको माननेके लिये तैयार न होता था (२। ९) और बन्धु-बान्धवोंके विनाशका भय करके शोकसे व्याकुल हो रहा था (१।२८ से ४७ तक)—वह सब मोह अब सर्वथा नष्ट हो गया है।

प्रश्न—मैंने स्मृति प्राप्त कर ली है, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि मेरा अज्ञानजनित मोह नष्ट हो जानेसे मेरे अन्तःकरणमें दिव्य ज्ञानका प्रकाश हो गया है; इससे मुझे आपके गुण, प्रभाव, ऐश्वर्य और स्वरूपकी पूर्ण स्मृति प्राप्त हो गयी है और आपका समग्र रूप मेरे प्रत्यक्ष हो गया है—मुझे कुछ भी अज्ञात नहीं रहा है।

प्रश्न—'मैं संशयरहित होकर स्थित हूँ' इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे अर्जुनने यह भाव प्रकट किया है कि अब आपके गुण, प्रभाव, ऐश्वर्य और सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार स्वरूपके विषयमें तथा धर्म-अधर्म और कर्तव्य-अकर्तव्यके विषयमें मुझे किञ्चिन्मात्र भी संशय नहीं रहा है। मेरे सब संशय नष्ट हो गये हैं तथा समस्त संशयोंका नाश हो जानेके कारण मेरे अन्तःकरणमें चञ्चलताका सर्वथा अभाव हो गया है।

प्रश्न—'करिष्ये वचनं तव' अर्थात् मैं आपकी आज्ञाका पालन करूँगा, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आपकी दयासे मैं कृतकृत्य हो गया हूँ, मेरे लिये अब कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं रहा; अतएव आपके कथनानुसार लोकसंग्रहके लिये युद्धादि समस्त कर्म जैसे आप करवावेंगे, निमित्तमात्र बनकर लीलारूपसे मैं वैसे ही करूँगा।

सम्बन्ध—इस प्रकार धृतराष्ट्रके प्रश्नानुसार भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादरूप गीताशास्त्रका वर्णन करके अब उसका उपसंहार करते हुए सञ्जय धृतराष्ट्रके सामने गीताका महत्त्व प्रकट करते हैं—

सञ्जय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम्॥७४॥

सञ्जय बोले—इस प्रकार मैंने श्रीवासुदेवके और महात्मा अर्जुनके इस अद्भुत रहस्ययुक्त, रोमाञ्चकारक संवादको सुना॥७४॥

प्रश्न—'इति' पदका क्या भाव है ?

उत्तर—'इति' पदसे यहाँ गीताके उपदेशकी समाप्ति दिखलायी गयी है।

प्रश्न—भगवान्‌के 'वासुदेव' नामका प्रयोग करके और 'पार्थ' के साथ 'महात्मा' विशेषण देकर क्या भाव दिखलाया गया है ?

उत्तर—इससे सञ्जयने गीताका महत्त्व प्रकट किया है। अभिप्राय यह है कि साक्षात् नर ऋषिके अवतार महात्मा अर्जुनके पूछनेपर सबके हृदयमें निवास करनेवाले सर्वव्यापी परमेश्वर श्रीकृष्णके द्वारा यह उपदेश दिया गया है, इस कारण यह बड़े ही महत्त्व-का है। दूसरा कोई भी शास्त्र इसकी बराबरी नहीं कर सकता, क्योंकि यह समस्त शास्त्रोंका सार है (महा० भीष्म० ४३।१, २)।

प्रश्न—यहाँ 'संवादम्' पदके साथ 'अद्भुतम्' और 'रोमहर्षणम्' विशेषण देनेका क्या भाव है ?

उत्तर—इन दोनों विशेषणोंका प्रयोग करके सञ्जयने यह भाव दिखलाया है कि यह साक्षात् परमेश्वरके द्वारा कहा हुआ उपदेश बड़ा ही अद्भुत अर्थात् आश्चर्यजनक और असाधारण है; इससे मनुष्यको भगवान्‌के दिव्य अलौकिक गुण, प्रभाव और ऐश्वर्ययुक्त समग्ररूपका पूर्ण ज्ञान हो जाता है तथा मनुष्य इसे जैसे-जैसे सुनता और समझता है, वैसे-ही-वैसे हर्ष और आश्चर्यके कारण उसका शरीर पुलकित हो जाता है, उसके समस्त शरीरमें रोमाञ्च हो जाता है, उसे अपने शरीरकी भी सुध-बुध नहीं रहती।

प्रश्न—'अश्रौषम्' पदका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे सञ्जयने यह भाव दिखलाया है कि ऐसे अद्भुत आश्चर्यमय उपदेशको मैंने सुना, यह मेरे लिये बड़े ही सौभाग्यकी बात है।

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद् गुह्यमहं परम्।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥७५॥

श्रीव्यासजीकी कृपासे दिव्य दृष्टि पाकर मैंने इस परम गोपनीय योगको अर्जुनके प्रति कहते हुए स्वयं योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णसे प्रत्यक्ष सुना है ॥७५॥

प्रश्न—'व्यासप्रसादात्' पदका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे सञ्जयने व्यासजीके प्रति कृतज्ञताका भाव प्रकट किया है। अभिप्राय यह है कि भगवान् व्यासजीने दया करके जो मुझे दिव्य दृष्टि अर्थात् दूरदेशमें होनेवाली समस्त घटनाओंको देखने, सुनने और समझने आदिकी अद्भुत शक्ति प्रदान की है— उसीके कारण आज मुझे भगवान्‌का यह दिव्य उपदेश सुननेके लिये मिला; नहीं तो मुझे ऐसा सुयोग कैसे मिलता ?

प्रश्न—'एतत्' पद यहाँ किसका वाचक है तथा उसके साथ 'परम्', 'गुह्यम्' और 'योगम्'—इन तीनों विशेषणोंके प्रयोगका क्या भाव है ?

उत्तर—'एतत्' पद यहाँ श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादरूप इस गीताशास्त्रका वाचक है, इसके साथ 'परम्' विशेषण देकर यह भाव दिखलाया है कि यह अतिशय उत्तम है; 'गुह्यम्' विशेषण देकर यह भाव दिखलाया है कि यह अत्यन्त गुप्त रखनेयोग्य है, अतः अनधिकारीके सामने इसका वर्णन नहीं करना

चाहिये; तथा 'योगम्' विशेषण देकर यह भाव दिखलाया है कि भगवान्‌की प्राप्तिके उपायभूत कर्मयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग और भक्तियोग आदि साधनोंका इसमें भलीभाँति वर्णन किया गया है तथा वह स्वयं (अर्थात् श्रद्धापूर्वक इसका पाठमात्र) भी परमात्माकी प्राप्तिका साधन होनेसे योगरूप ही है ।

प्रश्न—उपर्युक्त विशेषणोंसे युक्त इस उपदेशको मैंने अर्जुनके प्रति कहते हुए स्वयं योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णसे प्रत्यक्ष सुना है, इस वाक्यका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे सञ्जयने धृतराष्ट्रके प्रति यह भाव प्रकट किया है कि यह गीताशास्त्र—जो मैंने आपको सुनाया है—किसी दूसरेसे सुनी हुई बात नहीं है, किन्तु समस्त योगशक्तियोंके अध्यक्ष, सर्वशक्तिमान् स्वयं भगवान् श्रीकृष्णके ही मुखारविन्दसे—उस समय जब कि वे उसे अर्जुनसे कह रहे थे—मैंने प्रत्यक्ष सुना है ।

सम्बन्ध—इस प्रकार अति दुर्लभ गीताशास्त्रके सुननेका महत्त्व प्रकट करके अब सञ्जय अपनी स्थितिका वर्णन करते हुए उस उपदेशकी स्मृतिका महत्त्व प्रकट करते हैं—

राजन् संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥७६॥

हे राजन् ! भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनके इस रहस्ययुक्त, कल्याणकारक और अद्भुत संवादको पुनः-पुनः स्मरण करके मैं बारंबार हर्षित हो रहा हूँ ॥ ७६ ॥

प्रश्न—'पुण्यम्' और 'अद्भुतम्'—इन दोनों विशेषणोंका क्या भाव है ?

उत्तर—'पुण्यम्' और 'अद्भुतम्'—इन दोनों विशेषणों-का प्रयोग करके सञ्जयने यह भाव दिखलाया है कि भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनका संवादरूप यह गीता-शास्त्र अध्ययन, अध्यापन, श्रवण, मनन और वर्णन आदि करनेवाले मनुष्यको परम पवित्र करके उसका सब प्रकार-से कल्याण करनेवाला तथा भगवान्‌के आश्चर्यमय गुण, प्रभाव, ऐश्वर्य और स्वरूपको बतानेवाला है; अतः यह अत्यन्त ही पवित्र, दिव्य एवं अलौकिक है ।

प्रश्न—इसे पुनः-पुनः स्मरण करके मैं बार-बार हर्षित हो रहा हूँ—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे सञ्जयने अपनी स्थितिका वर्णन करके गीतोक्त उपदेशकी स्मृतिका महत्त्व प्रकट किया है। अभिप्राय यह है कि भगवान्‌द्वारा वर्णित इस उपदेशने मेरे हृदयको इतना आकर्षित कर लिया है कि अब मुझे दूसरी कोई बात ही अच्छी नहीं लगती; मेरे मनमें बार-बार उस उपदेशकी स्मृति हो रही है और उन भावोंके आवेशमें मैं असीम हर्षका अनुभव कर रहा हूँ, प्रेम और हर्षके कारण विह्वल हो रहा हूँ ।

सम्बन्ध—इस प्रकार गीताशास्त्रकी स्मृतिका महत्त्व बतलाकर अब सञ्जय अपनी स्थितिका वर्णन करते हुए भगवान्‌के स्वरूपकी स्मृतिका महत्त्व दिखलाते हैं—

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः ॥७७॥

हे राजन्! श्रीहरिके उस अत्यन्त विलक्षण रूपको भी पुनः-पुनः स्मरण करके मेरे चित्तमें महान् आश्चर्य होता है और मैं बारंबार हर्षित हो रहा हूँ॥ ७७॥

प्रश्न—भगवान्के 'हरि' नामका क्या भाव है?

उत्तर—भगवान् श्रीकृष्णके गुण, प्रभाव, ऐश्वर्य, महिमा, नाम और स्वरूपका श्रवण, मनन, कीर्तन, दर्शन और स्पर्श आदि करनेसे मनुष्यके समस्त पापोंका नाश हो जाता है; उनके साथ किसी प्रकारका भी सम्बन्ध हो जानेसे वे मनुष्यके समस्त पापोंको, अज्ञानको और दुःखको हरण कर लेते हैं तथा वे अपने भक्तोंके मनको चुरानेवाले हैं। इसलिये उन्हें 'हरि' कहते हैं।

प्रश्न—'तत्' और 'अति अद्भुतम्' विशेषणके सहित 'रूपम्' पद भगवान्के किस रूपका वाचक है?

उत्तर—जिस आश्चर्यमय दिव्य विश्वरूपका भगवान्ने अर्जुनको दर्शन कराया था और जिसके दर्शनका महत्त्व भगवान्ने ११ वें अध्यायके ४७ वें और ४८ वें श्लोकोंमें स्वयं बतलाया है, उसी विराट् स्वरूपका वाचक यहाँ 'तत्' और 'अति अद्भुतम्' विशेषणोंके सहित 'रूपम्' पद है।

प्रश्न—उस रूपको पुनः-पुनः स्मरण करके मुझे महान् आश्चर्य होता है—इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे सञ्जयने यह भाव दिखलाया है कि भगवान्का वह रूप मेरे चित्तसे उतरता ही नहीं, उसे मैं बार-बार स्मरण करता रहता हूँ और मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है कि भगवान्के अतिशय दुर्लभ उस दिव्य रूपका दर्शन मुझे कैसे हो गया। मेरा तो ऐसा कुछ भी पुण्य नहीं था जिससे मुझे ऐसे रूपके दर्शन हो सकते। अहो! इसमें केवलमात्र भगवान्की अहैतुकी दया ही कारण है। साथ ही उस रूपके अति अद्भुत दृश्योंको और घटनाओंको याद कर-करके भी मुझे बड़ा आश्चर्य होता है कि अहो! भगवान्की कैसी विचित्र योगशक्ति है।

प्रश्न—मैं बार-बार हर्षित हो रहा हूँ—इस कथनका क्या भाव है?

उत्तर—इससे यह भाव दिखलाया गया है कि मुझे केवल आश्चर्य ही नहीं होता है, उसे बार-बार याद करके मैं हर्ष और प्रेममें विह्वल भी हो रहा हूँ; मेरे आनन्दका पारावार नहीं है।

सम्बन्ध—इस प्रकार अपनी स्थितिका वर्णन करते हुए गीताके उपदेशकी और भगवान्के अद्भुत रूपकी स्मृतिका महत्त्व प्रकट करके, अब सञ्जय धृतराष्ट्रसे पाण्डवोंकी विजयकी निश्चित सम्भावना प्रकट करते हुए इस अध्यायका उपसंहार करते हैं—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥७८॥

हे राजन्! जहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण भगवान् हैं और जहाँ गाण्डीव-धनुषधारी अर्जुन हैं, वहींपर श्री, विजय, विभूति और अचल नीति है—ऐसा मेरा मत है॥ ७८॥

प्रश्न—श्रीकृष्णको योगेश्वर कहकर और अर्जुनको धनुर्धर कहकर इस श्लोकमें सञ्जयने क्या भाव दिखलाया है ?

उत्तर—धृतराष्ट्रके मनमें सन्धिकी इच्छा उत्पन्न करनेके उद्देश्यसे इस श्लोकमें सञ्जय उपर्युक्त विशेषणोंके द्वारा भगवान् श्रीकृष्णका और अर्जुनका प्रभाव बतलाते हुए पाण्डवोंके विजयकी निश्चित सम्भावना प्रकट करते हैं। अभिप्राय यह है कि भगवान् श्रीकृष्ण समस्त योगशक्तियोंके स्वामी हैं; वे अपनी योगशक्तिसे क्षणभरमें समस्त जगत्की उत्पत्ति, पालन और संहार कर सकते हैं। वे साक्षात् नारायण भगवान् श्रीकृष्ण जिस धर्मराज युधिष्ठिरके सहायक हैं, उसकी विजयमें क्या शङ्का है। इसके सिवा अर्जुन भी नर ऋषिके अवतार, भगवान्के प्रिय सखा और गाण्डीव-धनुषके धारण करनेवाले महान् वीर पुरुष हैं; वे भी अपने भाई युधिष्ठिरकी विजयके लिये कटिबद्ध हैं। अतः आज उस युधिष्ठिरकी बराबरी दूसरा कौन कर सकता है; क्योंकि जिस प्रकार जहाँ सूर्य रहता है, प्रकाश उसके साथ ही रहता है—उसी प्रकार जहाँ योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन रहते हैं वहीं सम्पूर्ण शोभा, सारा ऐश्वर्य और अटल न्याय (धर्म)—ये सब उनके साथ-साथ रहते हैं और जिस पक्षमें धर्म रहता है, उसीकी विजय होती है। अतः पाण्डवोंकी विजयमें किसी प्रकारकी शङ्का नहीं है। यदि अब भी तुम अपना कल्याण चाहते हो तो अपने पुत्रोंको समझाकर पाण्डवोंसे सन्धि कर लो।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसंन्यासयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

'श्रीमद्भगवद्गीता' आनन्दचिद्घन, षडैश्वर्यपूर्ण, चराचरवन्दित, परमपुरुषोत्तम, साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णकी दिव्य वाणी है। यह अनन्त रहस्योंसे पूर्ण है। परम दयामय भगवान् श्रीकृष्णकी कृपासे ही किसी अंशमें इसका रहस्य समझमें आ सकता है। जो पुरुष परम श्रद्धा और प्रेमोन्मुखी विशुद्ध भक्तिसे अपने हृदयको भरकर भगवत्-कृपाकी आशासे गीताका मनन करते हैं वे ही भगवत्कृपाका प्रत्यक्ष अनुभव करके गीताके स्वरूपकी किसी अंशमें झाँकी कर सकते हैं। अतएव अपना कल्याण चाहनेवाले नर-नारियोंको उचित है कि वे भक्तवर अर्जुनको आदर्श मानकर अपनेमें अर्जुनके-से दैवीगुणोंका अर्जन करते हुए श्रद्धा-भक्तिपूर्वक गीताका श्रवण, मनन और अध्ययन करें एवं भगवान्के आज्ञानुसार यथायोग्य तत्परताके साथ साधनमें लग जायँ। जो पुरुष इस प्रकार करते हैं, उनके अन्तःकरणमें नित्य नये-नये परमानन्ददायक अनुपम और दिव्य भावोंकी स्फुरणाएँ होती रहती हैं और सर्वथा शुद्धान्तःकरण होकर भगवान्की अलौकिक कृपा-सुधाका रसास्वादन करते हुए वे शीघ्र ही भगवान्को प्राप्त हो जाते हैं।

गीता-माहात्म्य

(१)

शौनक उवाच

गीतायाश्चैव माहात्म्यं यथावत्सूत मे वद ।
पुरा नारायणक्षेत्रे व्यासेन मुनिनोदितम् ॥ १ ॥

श्रीशौनकजी बोले—हे सूतजी ! पहले किसी समय नारायणक्षेत्रमें श्रीव्यासमुनिने जो गीताका माहात्म्य बताया था, उसे आप मुझसे ज्यों-का-त्यों कहिये ॥ १ ॥

सूत उवाच

भद्रं भगवता पृष्टं यद्धि गुप्ततमं परम् ।
शक्यते केन तद्वक्तुं गीतामाहात्म्यमुत्तमम् ॥ २ ॥
कृष्णो जानाति वै सम्यक् किञ्चित्कुन्तीसुतः फलम् ।
व्यासो वा व्यासपुत्रो वा याज्ञवल्क्योऽथ मैथिलः ॥ ३ ॥
अन्ये श्रवणतः श्रुत्वा लेशं सङ्कीर्तयन्ति च ।
तस्मात्किञ्चिद्वदाम्यत्र व्यासस्यास्यान्मया श्रुतम् ॥ ४ ॥

सूतजीने कहा—आपने यह बहुत उत्तम मङ्गलमय प्रश्न किया है; किन्तु जो बहुत ही गुप्त है, उस परम उत्तम गीता-माहात्म्यका ठीक-ठीक वर्णन कौन कर सकता है ? ॥ २ ॥ इसके माहात्म्यको ठीक-ठीक तो भगवान् श्रीकृष्ण ही जानते हैं; उनके बाद कुन्तीपुत्र अर्जुनको कुछ-कुछ इसका ज्ञान है; इनके अतिरिक्त व्यासजी, शुकदेवजी, याज्ञवल्क्य मुनि और मिथिलानरेश जनक भी थोड़ा-थोड़ा जानते हैं ॥ ३ ॥ इनके सिवा दूसरे लोग तो केवल कानोंसे सुनकर लेशमात्र ही वर्णन करते हैं । अतः मैं भी गुरुदेव श्रीव्यासजीके मुखसे सुने हुए इस गीतामाहात्म्यका यहाँ किञ्चिन्मात्र वर्णन कर रहा हूँ ॥ ४ ॥

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥ ५ ॥
सारथ्यमर्जुनस्यादौ कुर्वन् गीतामृतं ददौ ।
लोकत्रयोपकाराय तस्मै कृष्णात्मने नमः ॥ ६ ॥
संसारसागरं घोरं तर्तुमिच्छति यो नरः ।
गीतानावं समासाद्य पारं यातु सुखेन सः ॥ ७ ॥
गीताज्ञानं श्रुतं नैव सदैवाभ्यासयोगतः ।
मोक्षमिच्छति मूढात्मा याति बालकहास्यताम् ॥ ८ ॥
ये शृण्वन्ति पठन्त्येव गीताशास्त्रमहर्निशम् ।
न ते वै मानुषा ज्ञेया देवरूपा न संशयः ॥ ९ ॥

सम्पूर्ण उपनिषद् गौएँ हैं और गोपालनन्दन श्रीकृष्ण उन्हें दुहनेवाले (ग्वाले) हैं, अर्जुन उन गौओंके बछड़े हैं, तथा यह महत्त्वपूर्ण गीतारूप अमृत ही उसका दूध है और सुन्दर बुद्धिवाले विचारवान् पुरुष ही उस दूधका पान करनेवाले हैं ॥ ५ ॥ जिन्होंने पूर्वकालमें अर्जुनके सारथिका काम करते हुए ही उन्हें गीतारूपी अमृत प्रदान किया और इस प्रकार तीनों लोकोंका उपकार किया, उन परमात्मा श्रीकृष्णको नमस्कार है ॥ ६ ॥ जो मनुष्य इस घोर संसार-समुद्रके पार होना चाहे, वह गीतारूपी नावका सहारा लेकर सुखपूर्वक इसके पार चला जाय ॥ ७ ॥ जो मूर्ख सदा ही अभ्यासमें लगे रहकर गीता-ज्ञानका श्रवण [और अनुभव] तो नहीं कर सका, किन्तु केवल उस अभ्यास-योगके द्वारा ही मोक्षकी अभिलाषा रखता है, वह बच्चोंका उपहासपात्र होता है ॥ ८ ॥ जो लोग दिन-रात नियमपूर्वक गीताका पाठ और श्रवण करते ही रहते हैं उन्हें मनुष्य नहीं समझना चाहिये, वे देवतारूप हैं—इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ॥ ९ ॥

गीताज्ञानेन सम्बोधं कृष्णः प्राहार्जुनाय वै ।
भक्तितत्त्वं परं तत्र सगुणं चाथ निर्गुणम् ॥ १० ॥
सोपानाष्टादशैरेव भुक्तिमुक्तिसमुच्छ्रितैः ।
क्रमशः चित्तशुद्धिः स्यात्प्रेमभक्त्यादिकर्मसु ॥ ११ ॥
साधु गीताम्भसि स्नानं संसारमलनाशनम् ।
श्रद्धाहीनस्य तत्कार्यं हस्तिस्नानं वृथैव तत् ॥ १२ ॥
गीतायाश्च न जानाति पठनं नैव पाठनम् ।
स एव मानुषे लोके मोघकर्मकरो भवेत् ॥ १३ ॥
यस्माद्गीतां न जानाति नाधमस्तत्परो जनः ।
धिक् तस्य मानुषं देहं विज्ञानं कुलशीलताम् ॥ १४ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके प्रति गीता-ज्ञानके द्वारा सम्यक् बोध और भक्तिके उत्तम रहस्यका उपदेश किया तथा उसमें अपने सगुण-निर्गुण स्वरूपका विवेचन किया ॥ १० ॥ भोग और मोक्षकी प्राप्तिके उपदेशोंसे जो अत्यन्त ऊँची हैं, उन गीताके अठारह अध्यायरूपी अठारह सीढ़ियोंसे ही क्रमशः आगे बढ़कर प्रेमपूर्वक भगवद्भजन आदि कर्मोंमें लगनेसे चित्त-शुद्धि होती है ॥ ११ ॥ [श्रद्धापूर्वक] गीतारूपी सरोवरके जलमें स्नान करना बहुत ही अच्छा है; क्योंकि वह संसार-मलको नष्ट करनेवाला है । परन्तु श्रद्धाहीन

पुरुषके लिये यह कार्य हाथीके स्नानकी भाँति व्यर्थ ही है। (जैसे हाथी नहानेके बाद अपने शरीरपर धूल डाल लेता है, जिससे उसे स्नानका लाभ नहीं मिलता, उसी प्रकार श्रद्धाहीनके चित्तमें गीताके उपदेशका असर नहीं होता) ॥ १२ ॥ जो गीताका पाठ करना या कराना नहीं जानता, वही इस मनुष्यलोकमें व्यर्थ (जिनसे आत्माका कल्याण नहीं होता ऐसे) कर्म करनेवाला है ॥ १३ ॥ क्योंकि वह गीता नहीं जानता, अतः उससे बढ़कर अधम मनुष्य दूसरा कोई नहीं है; उसके मानव-देह, विज्ञान, कुल और शीलको धिक्कार है ! ॥ १४ ॥

गीतार्थं न विजानाति नाधमस्तत्परो जनः।
धिक्छरीरं शुभं शीलं विभवं तद्गृहाश्रमम् ॥ १५ ॥
गीताशास्त्रं न जानाति नाधमस्तत्परो जनः।
धिक् प्रारब्धं प्रतिष्ठां च पूजां मानं महत्तमम् ॥ १६ ॥
गीताशास्त्रे मतिर्नास्ति सर्वं तन्निष्फलं जगुः।
धिक् तस्य ज्ञानदातारं व्रतं निष्ठां तपो यशः ॥ १७ ॥
गीतार्थपठनं नास्ति नाधमस्तत्परो जनः।
गीतागीतं न यज्ज्ञानं तद्विद्ध्यासुरसम्भवम् ॥ १८ ॥
तन्मोघं धर्मरहितं वेदवेदान्तगर्हितम्।
तस्माद्धर्ममयी गीता सर्वज्ञानप्रयोजिका।
सर्वशास्त्रसारभूता विशुद्धा सा विशिष्यते ॥ १९ ॥

जो गीताका अर्थ नहीं जानता, उससे बढ़कर नीच मनुष्य दूसरा कोई नहीं है; उसके सुन्दर शरीर, अच्छे स्वभाव, वैभव और गृहस्थ-आश्रमको भी धिक्कार है ! ॥ १५ ॥ जिसे गीता-शास्त्रका ज्ञान नहीं है, उससे बढ़कर अधम मनुष्य दूसरा कोई नहीं है; उसके प्रारब्ध, प्रतिष्ठा, पूजा और बहुत बड़े सम्मानको भी धिक्कार है ! ॥ १६ ॥ गीताशास्त्रमें जिसकी बुद्धि नहीं लगती, उसका उपर्युक्त सब कुछ निष्फल बताया गया है; गीताके विरुद्ध ज्ञान देनेवाले गुरुको तथा उसके व्रत, निष्ठा, तप और यशको भी धिक्कार है ! ॥ १७ ॥ जिसके यहाँ गीताके अर्थका पठन-पाठन नहीं होता, उससे बढ़कर अधम मनुष्य दूसरा कोई नहीं है। जिस ज्ञानका गीता अनुमोदन नहीं करती, वह आसुरी प्रकृतिके लोगोंके मस्तिष्ककी उपज है—ऐसा समझना चाहिये ॥ १८ ॥ वह (गीताविरुद्ध) ज्ञान वेदवेदान्तोंद्वारा निन्दित, धर्मसे रहित और व्यर्थ है; इसलिये सम्पूर्ण ज्ञानका उपदेश करनेवाली, समस्त शास्त्रोंकी सारभूत, धर्ममयी एवं परम विशुद्ध होनेके कारण यह गीता ही सबसे बढ़कर है ॥ १९ ॥

योऽधीते विष्णुपर्वाहे गीतां श्रीहरिवासरे।
स्वपञ्जाग्रच्चलंस्तिष्ठञ्छत्रुभिर्न स हीयते ॥ २० ॥
शालग्रामशिलायां वा देवागारे शिवालये।
तीर्थे नद्यां पठन् गीतां सौभाग्यं लभते ध्रुवम् ॥ २१ ॥
देवकीनन्दनः कृष्णो गीतापाठेन तुष्यति।
यथा न वेदैर्दानेन यज्ञतीर्थव्रतादिभिः ॥ २२ ॥
गीताधीता च येनापि भक्तिभावेन चोत्तमा।
वेदशास्त्रपुराणानि तेनाधीतानि सर्वशः ॥ २३ ॥

जो वैष्णव-पर्वोंके दिन अथवा एकादशी आदिमें गीताका पाठ करता है तथा जो सोते-जागते, चलते, खड़े होते, सब समयमें गीताका स्वाध्याय करता रहता है, वह लौकिक शत्रुओं तथा काम-क्रोध आदि मानसिक वैरियोंसे भी पराभवको नहीं प्राप्त होता ॥ २० ॥ शालग्राम-शिलाके निकट, देवालय, शिवमन्दिर और तीर्थमें अथवा नदीके तटपर गीताका पाठ करनेवाला मनुष्य अवश्य ही सौभाग्य प्राप्त करता है ॥ २१ ॥ देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण गीताका पाठ करनेसे जैसे प्रसन्न होते हैं वैसे वेदोंके स्वाध्याय, दान, यज्ञ और व्रत आदिसे भी नहीं होते ॥ २२ ॥ जिसने उत्तम गीताशास्त्रका भक्तिभावसे अध्ययन किया है उसने मानो सभी वेद, शास्त्र और पुराणोंका अध्ययन कर लिया ॥ २३ ॥

योगिस्थाने सिद्धपीठे शिलाग्रे सत्सभासु च।
यज्ञे च विष्णुभक्ताग्रे पठन् सिद्धिं परां लभेत् ॥ २४ ॥
गीतापाठं च श्रवणं यः करोति दिने दिने।
क्रतवो वाजिमेधाद्याः कृतास्तेन सदक्षिणाः ॥ २५ ॥
यः शृणोति च गीतार्थं कीर्तयत्येव यः परम्।
श्रावयेच्च परार्थं वै स प्रयाति परं पदम् ॥ २६ ॥
गीतायाः पुस्तकं शुद्धं योऽर्पयत्येव सादरात्।
विधिना भक्तिभावेन तस्य भार्या प्रिया भवेत् ॥ २७ ॥
यशःसौभाग्यमारोग्यं लभते नात्र संशयः।
दयितानां प्रियो भूत्वा परमं सुखमश्नुते ॥ २८ ॥
अभिचारोद्भवं दुःखं वरशापागतं च यत्।
नोपसर्पन्ति तत्रैव यत्र गीतार्चनं गृहे ॥ २९ ॥
तापत्रयोद्भवा पीडा नैव व्याधिर्भवेत्क्वचित्।
न शापो नैव पापं च दुर्गतिर्नरकं न च ॥ ३० ॥

योगियोंके स्थानमें, सिद्धपीठमें, शालग्राम-शिलाके सम्मुख, संतोंकी गोष्ठीमें, यज्ञमें तथा किसी विष्णुभक्त पुरुषके

आगे गीताका पाठ करनेवाला मनुष्य शीघ्र ही परम सिद्धिको प्राप्त कर लेता है ॥ २४ ॥ जो प्रतिदिन गीताका पाठ और श्रवण करता है, उसने मानो अश्वमेध आदि सभी यज्ञ दक्षिणासहित सम्पन्न कर लिये ॥ २५ ॥ जो गीताके अर्थका श्रवण करता है और जो दूसरोंके सामने उसका वर्णन करता है तथा जो दूसरोंके लिये गीता सुनाया करता है, वह परमपदको प्राप्त होता है ॥ २६ ॥ जो विधिपूर्वक बड़े आदर-सत्कार और भक्तिभावसे गीताकी शुद्ध पुस्तक किसी विद्वान्‌को केवल अर्पणमात्र करता है, उसकी पत्नी सदा उसके अनुकूल रहती है ॥ २७ ॥ और वह यश, सौभाग्य एवं आरोग्य लाभ करता है तथा प्यारी पत्नी आदिका प्रेमभाजन होकर उत्तम सुख भोगता है—इसमें तनिक भी संशय नहीं है ॥ २८ ॥ जिस घरमें प्रतिदिन गीताकी पूजा होती है, [शत्रुद्वारा किये हुए मारण-उच्चाटन आदि] अभिचार-यज्ञोंसे प्राप्त हुए दुःख तथा किसी श्रेष्ठ पुरुषके शापसे होनेवाले कष्ट, उस घरके समीप ही नहीं जाते ॥२९॥ इतना ही नहीं, वहाँ आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक——इन त्रिविध तापोंसे होनेवाली पीडा तथा रोग किसीको नहीं होते । शाप, पाप, दुर्गति और नरकका कष्ट भी किसीको नहीं भोगना पड़ता ॥ ३० ॥

विस्फोटकादयो देहे न बाधन्ते कदाचन।
लभेत् कृष्णपदे दास्यं भक्तिं चाव्यभिचारिणीम् ॥ ३१ ॥
जायते सततं सख्यं सर्वजीवगणैः सह।
प्रारब्धं भुञ्जतो वापि गीताभ्यासरतस्य च ॥ ३२ ॥
स मुक्तः स सुखी लोके कर्मणा नोपलिप्यते।
महापापादिपापानि गीताध्यायी करोति चेत्।
न किञ्चित् स्पृश्यते तस्य नलिनीदलमम्भसा ॥ ३३ ॥
अनाचारोद्भवं पापमवाच्यादिकृतं च यत्।
अभक्ष्यभक्षजं दोषमस्पृश्यस्पर्शजं तथा ॥ ३४ ॥
ज्ञानाज्ञानकृतं नित्यमिन्द्रियैर्जनितं च यत्।
तत्सर्वं नाशमायाति गीतापाठेन तत्क्षणात् ॥ ३५ ॥
सर्वत्र प्रतिभोक्ता च प्रतिगृह्य च सर्वशः।
गीतापाठं प्रकुर्वाणो न लिप्येत कदाचन ॥ ३६ ॥
रत्नपूर्णां महीं सर्वां प्रतिगृह्याविधानतः।
गीतापाठेन चैकेन शुद्धस्फटिकवत्सदा ॥ ३७ ॥

जो गीताके अभ्यासमें लगा रहता है, उसके शरीरमें चेचकके फोड़े आदि कभी बाधा नहीं पहुँचाते; वह भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें दासभाव तथा अनन्यभक्ति प्राप्त कर लेता है । प्रारब्ध-भोग करते हुए भी उसका सभी जीवोंके साथ सदा सख्यभाव बना रहता है ॥ ३१-३२ ॥ गीताका स्वाध्याय करनेवाला मनुष्य यदि [कभी] महापातक आदि पाप भी कर बैठता है तो उन पापोंसे उसका कुछ भी स्पर्श नहीं होता, जैसे कमलका पत्ता जलसे कभी लिप्त नहीं होता ॥ ३३ ॥ अनाचार, दुर्वचन (गाली आदि), अभक्ष्य-भक्षण तथा नहीं छूनेयोग्य वस्तुके स्पर्शसे होनेवाले, जानकर अथवा अनजानमें किये हुए और प्रतिदिन इन्द्रियोंद्वारा घटित होनेवाले जितने भी पाप हैं—वे सब-के-सब गीताका पाठ करनेसे तत्काल नष्ट हो जाते हैं ॥ ३४-३५ ॥ जो सब जगह भोजन कर लेता है और सबसे दान लेता है, वह भी यदि गीताका पाठ करता है तो उन पापोंसे लिप्त नहीं होता ॥ ३६ ॥ रत्नोंसे युक्त सम्पूर्ण पृथ्वीका अविधिपूर्वक दान स्वीकार करके भी गीताका एक ही बार पाठ करनेसे मनुष्य सदा शुद्ध स्फटिकके समान निर्मल बना रहता है ॥ ३७ ॥

यस्यान्तःकरणं नित्यं गीतायां रमते सदा।
स साग्निकः सदा जापी क्रियावान् स च पण्डितः ॥ ३८ ॥
दर्शनीयः स धनवान् स योगी ज्ञानवानपि।
स एव याज्ञिको याजी सर्ववेदार्थदर्शकः ॥ ३९ ॥
गीतायाः पुस्तकं यत्र नित्यपाठश्च वर्तते।
तत्र सर्वाणि तीर्थानि प्रयागादीनि भूतले ॥ ४० ॥
निवसन्ति सदा देहे देहशेषेऽपि सर्वदा।
सर्वे देवाश्च ऋषयो योगिनो देहरक्षकाः ॥ ४१ ॥
गोपालो बालकृष्णोऽपि नारदध्रुवपार्षदैः।
सहायो जायते शीघ्रं यत्र गीता प्रवर्तते ॥ ४२ ॥
यत्र गीताविचारश्च पठनं पाठनं तथा।
मोदते तत्र भगवान् कृष्णो राधिकया सह ॥ ४३ ॥

जिसका चित्त सदा ही गीतामें रमा रहता है, वही अग्निहोत्री है, वही सदा मन्त्र-जप करनेवाला है और वही कर्मनिष्ठ एवं पण्डित है ॥ ३८ ॥ वही दर्शनीय है, वही धनी है, वही योगी और ज्ञानवान् है तथा वही यज्ञ करानेवाला, यजमान और सम्पूर्ण वेदोंके अर्थका ज्ञाता है ॥ ३९ ॥ जहाँ गीताकी पुस्तक रहती है तथा जहाँ गीताका नित्य पाठ होता रहता है, उस स्थानपर और पाठ करनेवालेके शरीरमें प्रयाग आदि सभी तीर्थ सदा निवास करते हैं । उसका देहान्त हो जानेपर भी उसके शवमें उक्त तीर्थ वास करते हैं । तथा जीवनकालमें सभी देवता, ऋषि और योगीजन उसके शरीरकी रक्षा करते रहते हैं ॥४०-४१॥ जहाँ गीता-पाठ होता रहता है, वहाँ गोपालक भगवान्

बालकृष्ण भी नारद, ध्रुव आदि अपने पार्षदोंके साथ शीघ्र ही सहायताके लिये उपस्थित हो जाते हैं ॥ ४२ ॥ जहाँ गीतासम्बन्धी विचार और उसका पठन-पाठन होता रहता है, वहाँ भगवान् श्रीकृष्ण श्रीराधिकाजीके साथ विराजमान हो अत्यन्त प्रसन्न होते हैं ॥ ४३ ॥

श्रीभगवानुवाच

गीता मे हृदयं पार्थ गीता मे सारमुत्तमम् ।
गीता मे ज्ञानमत्युग्रं गीता मे ज्ञानमव्ययम् ॥ ४४ ॥
गीता मे चोत्तमं स्थानं गीता मे परमं पदम् ।
गीता मे परमं गुह्यं गीता मे परमो गुरुः ॥ ४५ ॥
गीताश्रयेऽहं तिष्ठामि गीता मे परमं गृहम् ।
गीताज्ञानं समाश्रित्य त्रिलोकीं पालयाम्यहम् ॥ ४६ ॥
गीता मे परमा विद्या ब्रह्मरूपा न संशयः ।
अर्द्धमात्रा परा नित्यमनिर्वाच्यपदात्मिका ॥ ४७ ॥
गीतानामानि वक्ष्यामि गुह्यानि श्रृणु पाण्डव ।
कीर्तनात्सर्वपापानि विलयं यान्ति तत्क्षणात् ॥ ४८ ॥
गङ्गा गीता च गायत्री सीता सत्या सरस्वती ।
ब्रह्मवल्ली ब्रह्मविद्या त्रिसन्ध्या मुक्तिगेहिनी ॥ ४९ ॥
अर्द्धमात्रा चिदानन्दा भवघ्नी भ्रान्तिनाशिनी ।
वेदत्रयी परानन्दा तत्त्वार्थज्ञानमञ्जरी ॥ ५० ॥
इत्येतानि जपेन्नित्यं नरो निश्चलमानसः ।
ज्ञानसिद्धिं लभेन्नित्यं तथान्ते परमं पदम् ॥ ५१ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन ! गीता मेरा हृदय है, गीता मेरा उत्तम तत्त्व है, गीता मेरा अत्यन्त तेजस्वी और अविनाशी ज्ञान है, गीता मेरा उत्तम स्थान है, गीता मेरा परमपद है, गीता मेरा परम गोपनीय रहस्य है और मेरी यह गीता [श्रद्धालु जिज्ञासुओंके लिये] अत्युत्तम गुरु है ॥ ४४-४५ ॥ मैं गीताके ही आश्रयमें रहता हूँ, गीता मेरा उत्तम गृह है, गीता-ज्ञानका ही आश्रय लेकर मैं तीनों लोकोंका पालन करता हूँ ॥ ४६ ॥ इसमें कोई भी सन्देह नहीं कि मेरी यह गीता परा विद्या एवं ब्रह्मस्वरूपिणी है; यह अर्धमात्रा, सर्वोत्कृष्ट तथा नित्य अनिर्वचनीयस्वरूपा है ॥ ४७ ॥ हे पाण्डुनन्दन अर्जुन ! अब मैं तुमसे गीताके गोपनीय नाम बताऊँगा, तुम ध्यान देकर सुनो। इन नामोंका कीर्तन करनेसे सारे पाप तत्काल नष्ट हो जाते हैं ॥ ४८ ॥ [वे नाम ये हैं—] गङ्गा, गीता, गायत्री, सीता, सत्या, सरस्वती, ब्रह्मवल्ली, ब्रह्मविद्या, त्रिसन्ध्या, मुक्तिगेहिनी, अर्धमात्रा, चिदानन्दा, भवघ्नी, भ्रान्तिनाशिनी, वेदत्रयी, परानन्दा और तत्त्वार्थज्ञानमञ्जरी ॥ ४९-५० ॥ जो मनुष्य स्थिरचित्त होकर इन नामोंका नित्य जप करता है, वह ज्ञानरूपा सिद्धिको प्राप्त कर लेता है और शरीरका अन्त होनेपर परमपदको पाता है ॥ ५१ ॥

पाठेऽसमर्थः सम्पूर्णे तदर्धं पाठमाचरेत् ।
तदा गोदानजं पुण्यं लभते नात्र संशयः ॥ ५२ ॥
त्रिभागं पठमानस्तु सोमयागफलं लभेत् ।
षडंशं जपमानस्तु गङ्गास्नानफलं लभेत् ॥ ५३ ॥
तथाध्यायद्वयं नित्यं पठमानो निरन्तरम् ।
इन्द्रलोकमवाप्नोति कल्पमेकं वसेद् ध्रुवम् ॥ ५४ ॥
एकमध्यायकं नित्यं पठते भक्तिसंयुतः ।
रुद्रलोकमवाप्नोति गणो भूत्वा वसेच्चिरम् ॥ ५५ ॥
अध्यायार्धं च पादं वा नित्यं यः पठते जनः ।
प्राप्नोति रविलोकं स मन्वन्तरसमाः शतम् ॥ ५६ ॥
गीतायाः श्लोकदशकं सप्तपञ्चचतुष्टयम् ।
त्रिद्व्येकमेकमर्धं वा श्लोकानां यः पठेन्नरः ।
चन्द्रलोकमवाप्नोति वर्षाणामयुतं तथा ॥ ५७ ॥
गीतार्थमेकपादं च श्लोकमध्यायमेव च ।
स्मरंस्त्यक्त्वा जनो देहं प्रयाति परमं पदम् ॥ ५८ ॥
गीतार्थमपि पाठं वा श्रृणुयादन्तकालतः ।
महापातकयुक्तोऽपि मुक्तिभागी भवेज्जनः ॥ ५९ ॥

यदि कोई गीताका प्रतिदिन पूरा पाठ करनेमें असमर्थ हो तो उसे आधी गीताका पाठ कर लेना चाहिये; ऐसा करनेसे उसे नित्य गोदान करनेका पुण्य प्राप्त होता है—इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ॥ ५२ ॥ प्रतिदिन एक तिहाई गीताका पाठ करनेवाला मनुष्य सोमयागका फल प्राप्त करता है। छठे अंशका नित्य पाठ करनेवाला मनुष्य गङ्गा-स्नानका फल पाता है ॥ ५३ ॥ दो अध्यायोंका नित्य-निरन्तर पाठ करनेवाला मनुष्य इन्द्रलोकको प्राप्त करता है और वहाँ निश्चितरूपसे एक कल्पतक निवास करता रहता है ॥ ५४ ॥ जो प्रतिदिन भक्तियुक्त होकर एक अध्यायका भी पाठ करता है, उसे रुद्रलोक प्राप्त होता है और वहाँ वह रुद्रका गण होकर चिरकालतक निवास करता है ॥ ५५ ॥ जो मनुष्य आधे या चौथाई अध्यायका भी नित्य पाठ करता है, वह सौ मन्वन्तरके वर्षोंतक सूर्यलोकमें निवास प्राप्त करता है ॥ ५६ ॥ जो मनुष्य गीताके दस, सात, पाँच, चार, तीन, दो, एक अथवा आधे श्लोकका भी नित्य पाठ करता है, वह दस हजार वर्षोंतक चन्द्रलोकमें निवास पाता है ॥ ५७ ॥ गीताके एक

अध्याय, एक श्लोक अथवा एक पादके अर्थका स्मरण करते हुए देह-त्याग करनेवाला मनुष्य परमपदको प्राप्त कर लेता है ॥ ५८ ॥ जो मनुष्य अन्तकालमें गीताके अर्थ या मूलपाठका भी श्रवण कर लेता है, वह महापातकसे युक्त होनेपर भी मोक्षका भागी हो जाता है ॥ ५९ ॥

गीतापुस्तकसंयुक्तः प्राणांस्त्यक्त्वा प्रयाति यः ।
स वैकुण्ठमवाप्नोति विष्णुना सह मोदते ॥ ६० ॥
गीताध्यायसमायुक्तो मृतो मानुषतां व्रजेत् ।
गीताभ्यासं पुनः कृत्वा लभते मुक्तिमुत्तमाम् ॥ ६१ ॥
गीतेत्युच्चारसंयुक्तो म्रियमाणो गतिं लभेत् ।
यद्यत्कर्म च सर्वत्र गीतापाठप्रकीर्तिमत् ।
तत्तत्कर्म च निर्दोषं भूत्वा पूर्णत्वमाप्नुयात् ॥ ६२ ॥

जो गीताकी पुस्तक लिये हुए प्राणोंको त्यागकर महाप्रस्थान करता है, वह वैकुण्ठ-धामको प्राप्त होता और श्रीभगवान् विष्णुके साथ आनन्द भोगता है ॥ ६० ॥ गीताका पाठ होते समय मरा हुआ जीव मरकर पुनः मनुष्य-योनिमें जन्म लेता है और उसमें गीताका पुनः अभ्यास करके उत्तम मोक्ष-गतिको प्राप्त होता है ॥ ६१ ॥ 'गीता' इस शब्दका उच्चारणमात्र करके मरनेवाला मनुष्य भी सद्गतिको प्राप्त हो जाता है । सभी जगह जो-जो कर्म गीताका पाठ और उच्च-स्वरसे कीर्तन करते हुए सम्पन्न किया जाता है, वह सारा कर्म दोषरहित होकर पूर्णताको प्राप्त हो जाता है ॥ ६२ ॥

पितॄनुद्दिश्य यः श्राद्धे गीतापाठं करोति हि ।
सन्तुष्टाः पितरस्तस्य निरयाद्यान्ति स्वर्गतिम् ॥ ६३ ॥
गीतापाठेन सन्तुष्टाः पितरः श्राद्धतर्पिताः ।
पितृलोकं प्रयान्त्येव पुत्राशीर्वादतत्पराः ॥ ६४ ॥
गीतापुस्तकदानं च धेनुपुच्छसमन्वितम् ।
कृत्वा च तद्दिने सम्यक् कृतार्थो जायते जनः ॥ ६५ ॥
पुस्तकं हेमसंयुक्तं गीतायाः प्रकरोति यः ।
दत्त्वा विप्राय विदुषे जायते न पुनर्भवम् ॥ ६६ ॥
शतपुस्तकदानं च गीतायाः प्रकरोति यः ।
स याति ब्रह्मसदनं पुनरावृत्तिदुर्लभम् ॥ ६७ ॥
गीतादानप्रभावेण सप्तकल्पमिताः समाः ।
विष्णुलोकमवाप्यान्ते विष्णुना सह मोदते ॥ ६८ ॥
सम्यक्छ्रुत्वा च गीतार्थं पुस्तकं यः प्रदापयेत् ।
तस्मै प्रीतः श्रीभगवान् ददाति मानसेप्सितम् ॥ ६९ ॥

जो श्राद्धमें पितरोंके उद्देश्यसे गीताका पाठ करता है; उसके पितर सन्तुष्ट होकर नरकसे स्वर्गको चले जाते हैं ॥ ६३ ॥ श्राद्धमें तृप्त किये हुए पितृगण गीतापाठसे सन्तुष्ट होकर अपने पुत्रोंको आशीर्वाद देते हुए ही पितृलोकको जाते हैं ॥ ६४ ॥ गायकी पूँछसहित गीताकी पुस्तक हाथमें ले सङ्कल्पपूर्वक उसका सम्यक् प्रकारसे दान करके मनुष्य उसी दिन कृतार्थ हो जाता है ॥ ६५ ॥ जो गीताकी पुस्तकको सुवर्णसे मढ़कर उसे विद्वान् ब्राह्मणको दान देता है, उसका संसारमें पुनर्जन्म नहीं होता ॥ ६६ ॥ जो गीताकी सौ पुस्तकें दान कर देता है, वह पुनरावृत्तिसे रहित ब्रह्मधामको प्राप्त होता है ॥ ६७ ॥ गीतादानके प्रभावसे अन्तमें मनुष्य विष्णुलोकको पाकर वहाँ सात कल्पके बराबर वर्षोंतक भगवान् विष्णुके साथ आनन्दपूर्वक रहता है ॥ ६८ ॥ जो गीताके अर्थको भली प्रकार सुनकर पुस्तकदान करता है, उसपर प्रसन्न होकर श्रीभगवान् उसे मनोवाञ्छित वस्तु प्रदान करते हैं ॥ ६९ ॥

देहं मानुषमाश्रित्य चातुर्वर्ण्येषु भारत ।
न शृणोति न पठति गीताममृतरूपिणीम् ।
हस्तात्त्यक्त्वामृतं प्राप्तं स नरो विषमश्नुते ॥ ७० ॥
जनः संसारदुःखार्तो गीताज्ञानं समालभेत् ।
पीत्वा गीतामृतं लोके लब्ध्वा भक्तिं सुखी भवेत् ॥ ७१ ॥
गीतामाश्रित्य बहवो भूभुजो जनकादयः ।
निर्धूतकल्मषा लोके गतास्ते परमं पदम् ॥ ७२ ॥
गीतासु न विशेषोऽस्ति जनेषूच्चावचेषु च ।
ज्ञानेष्वेव समग्रेषु समा ब्रह्मस्वरूपिणी ॥ ७३ ॥

हे अर्जुन ! जो ब्राह्मणादि चार वर्णोंके अंदर मानव-शरीर धारण कर इस अमृतरूपिणी गीताका श्रवण और पाठ नहीं करता, वह मनुष्य मानो मिले हुए अमृतको अपने हाथसे फेंककर विष-भक्षण करता है ॥ ७० ॥ संसारके दुःखसे सन्तप्त हुए मनुष्यको चाहिये कि वह गीताका ज्ञान प्राप्त करे और इस जगत्में गीतामयी सुधाका पान करके भगवान्की भक्ति पाकर सुखी हो जाय ॥ ७१ ॥ जनक आदि बहुत-से राजालोग इस जगत्में गीताका आश्रय लेकर पापरहित हो परमपदको प्राप्त हो गये हैं ॥ ७२ ॥ गीताका अध्ययन करनेके विषयमें ऊँच-नीच मनुष्योंका कोई भेद नहीं है (इसके सभी समानरूपसे अधिकारी हैं)। गीता सम्पूर्ण ज्ञानोंमें समान तथा ब्रह्मस्वरूपिणी है ॥ ७३ ॥

योऽभिमानेन गर्वेण गीतानिन्दां करोति च ।
स याति नरकं घोरं यावदाभूतसंप्लवम् ॥ ७४ ॥
अहङ्कारेण मूढात्मा गीतार्थं नैव मन्यते ।
कुम्भीपाकेषु पच्येत यावत्कल्पक्षयो भवेत् ॥ ७५ ॥

गीतार्थं वाच्यमानं यो न शृणोति समीपतः ।
स शूकरभवां योनिमनेकामधिगच्छति ॥ ७६ ॥
चौर्यं कृत्वा च गीतायाः पुस्तकं यः समानयेत् ।
न तस्य सफलं किञ्चित् पठनं च वृथा भवेत् ॥ ७७ ॥
यः श्रुत्वा नैव गीतार्थं मोदते परमार्थतः ।
नैव तस्य फलं लोके प्रमत्तस्य यथा श्रमः ॥ ७८ ॥

जो अहङ्कार और गर्वसे गीताकी निन्दा करता है, वह जबतक समस्त भूतोंका प्रलय नहीं हो जाता तबतक घोर नरकमें पड़ा रहता है ॥ ७४ ॥ जो मूर्ख अहङ्कार-वश गीताके अर्थका आदर नहीं करता, वह जबतक कल्पका अन्त न हो जाय तबतक कुम्भीपाकमें पकाया जाता है ॥ ७५ ॥ निकट ही कहे जानेवाले गीताके अर्थको जो नहीं सुनता, वह अनेकों बार सूअरकी योनिमें जन्म लेता है ॥ ७६ ॥ जो गीताकी पुस्तक कहींसे चोरी करके लाता है, उसका कुछ भी सफल नहीं होता, उसका गीता-पाठ व्यर्थ होता है ॥ ७७ ॥ जो गीताका अर्थ सुनकर वस्तुतः प्रसन्न नहीं होता, उसके अध्ययनका इस जगत्में कोई फल नहीं है, पागलकी भाँति उसे खाली परिश्रम ही होता है ॥ ७८ ॥

गीतां श्रुत्वा हिरण्यं च भोज्यं पट्टाम्बरं तथा ।
निवेदयेत् प्रदानार्थं प्रीतये परमात्मनः ॥ ७९ ॥
वाचकं पूजयेद्भक्त्या द्रव्यवस्त्राद्युपस्करैः ।
अनेकैर्बहुधा प्रीत्या तुष्यतां भगवान् हरिः ॥ ८० ॥

गीता सुनकर परमात्माकी प्रसन्नताके लिये दान करनेके उद्देश्यसे वाचकको सोना, उत्तम भोजन और रेशमी वस्त्र अर्पण करने चाहिये ॥ ७९ ॥ 'भगवान् श्रीहरि प्रसन्न हों' इस उद्देश्यसे द्रव्य और वस्त्र आदि भाँति-भाँतिके अनेकों उपकरणोंद्वारा प्रसन्नतापूर्वक भक्ति-भावसे वाचककी पूजा करनी चाहिये ॥ ८० ॥

सूत उवाच

माहात्म्यमेतद्गीतायाः कृष्णप्रोक्तं पुरातनम् ।
गीतान्ते पठते यस्तु यथोक्तफलभाग्भवेत् ॥ ८१ ॥
गीतायाः पठनं कृत्वा माहात्म्यं नैव यः पठेत् ।
वृथा पाठफलं तस्य श्रम एव ह्युदाहृतः ॥ ८२ ॥
एतन्माहात्म्यसंयुक्तं गीतापाठं करोति यः ।
श्रद्धया यः शृणोत्येव परमां गतिमाप्नुयात् ॥ ८३ ॥
श्रुत्वा गीतामर्थयुक्तां माहात्म्यं यः शृणोति च ।
तस्य पुण्यफलं लोके भवेत् सर्वसुखावहम् ॥ ८४ ॥

सूतजी बोले—भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा कहे हुए इस प्राचीन गीता-माहात्म्यको जो गीताके अन्तमें पढ़ता है, वह उपर्युक्त समस्त फलोंका भागी होता है ॥ ८१ ॥ जो गीता पढ़कर माहात्म्यका पाठ नहीं करता, उसके गीतापाठका फल व्यर्थ एवं परिश्रममात्र बताया गया है ॥ ८२ ॥ जो इस माहात्म्यके सहित गीताका पाठ करता है अथवा जो श्रद्धापूर्वक श्रवण ही करता है, वह परम गतिको प्राप्त होता है ॥ ८३ ॥ जो अर्थसहित गीताका श्रवण करके फिर इस माहात्म्यको सुनता है, उसके पुण्यका फल इस जगत्में सबको सुख देनेवाला होता है ॥ ८४ ॥

इति श्रीवैष्णवीयतन्त्रसारे श्रीमद्भगवद्गीतामाहात्म्यं सम्पूर्णम् ।

श्रीकृष्णार्पणमस्तु ।

(२)

श्रीभगवानुवाच

न बन्धोऽस्ति न मोक्षोऽस्ति ब्रह्मैवास्ति निरामयम् ।
नैकमस्ति न च द्वित्वं सच्चित्कारं विजृम्भते ॥ १ ॥
गीतासारमिदं शास्त्रं सर्वशास्त्रसुनिश्चितम् ।
यत्र स्थितं ब्रह्मज्ञानं वेदशास्त्रसुनिश्चितम् ॥ २ ॥
इदं शास्त्रं मया प्रोक्तं गुह्यवेदार्थदर्पणम् ।
यः पठेत्प्रयतो भूत्वा स गच्छेद्विष्णुशाश्वतम् ॥ ३ ॥

श्रीभगवान् बोले—न बन्धन है, न मोक्ष; केवल निरामय ब्रह्म ही सर्वत्र विराजमान है । न अद्वैत है, न द्वैत; केवल सच्चिदानन्द ही सब ओर परिपूर्ण हो रहा है ॥ १ ॥ गीताका सारभूत यह शास्त्र सम्पूर्ण शास्त्रोंद्वारा भलीभाँति निश्चित सिद्धान्त है, जिसमें वेद-शास्त्रोंसे अच्छी तरह निश्चित किया हुआ ब्रह्मज्ञान विद्यमान है ॥२॥ मेरेद्वारा कहा हुआ यह गीताशास्त्र वेदके गूढ अर्थको दर्पणकी भाँति प्रकाशित करनेवाला है; जो पवित्र हो मन-इन्द्रियोंको वशमें रखकर इसका पाठ करता है, वह मुझ सनातनदेव भगवान् विष्णुको प्राप्त होता है ॥३॥

एतत्पुण्यं पापहरं धन्यं दुःखप्रणाशनम् ।
पठतां शृण्वतां वापि विष्णोर्माहात्म्यमुत्तमम् ॥ ४ ॥
अष्टादशपुराणानि नवव्याकरणानि च ।
निर्मथ्य चतुरो वेदान् मुनिना भारतं कृतम् ॥ ५ ॥
भारतोदधिनिर्मथ्यगीतानिर्मथितस्य च ।
सारमुद्धृत्य कृष्णेन अर्जुनस्य मुखे धृतम् ॥ ६ ॥

मलनिर्मोचनं पुंसां गङ्गास्नानं दिने दिने ।
सकृद्गीताम्भसि स्नानं संसारमलनाशनम् ॥ ७ ॥
गीतानामसहस्रेण स्तवराजो विनिर्मितः ।
यस्य कुक्षौ च वर्तेत सोऽपि नारायणः स्मृतः ॥ ८ ॥

भगवान् विष्णुका यह उत्तम माहात्म्य (गीताशास्त्र) पढ़ने और सुननेवालोंके पुण्यको बढ़ानेवाला, पापनाशक, धन्यवादके योग्य और समस्त दुःखोंको दूर करनेवाला है ॥४॥ मुनिवर व्यासने अठारह पुराण, नौ व्याकरण और चार वेदोंका मन्थन करके महाभारतकी रचना की ॥ ५ ॥ फिर महाभारतरूपी समुद्रका मन्थन करनेसे प्रकट हुई गीताका भी मन्थन करके [उपर्युक्त गीतासारके रूपमें] उसके अर्थका सार निकालकर उसे भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके मुखमें डाल दिया ॥ ६ ॥ गङ्गामें प्रतिदिन स्नान करनेसे मनुष्योंका मैल दूर होता है, परन्तु गीतारूपिणी गङ्गाके जलमें एक ही बारका स्नान सम्पूर्ण संसारमलको नष्ट करनेवाला है ॥७॥ गीताके सहस्र नामोंद्वारा जो स्तवराज निर्मित हुआ है, वह जिसकी कुक्षि (हृदय) में वर्तमान हो अर्थात् जो उसका मन-ही-मन स्मरण करता हो, वह भी साक्षात् नारायणका स्वरूप कहा गया है ॥ ८ ॥

सर्ववेदमयी गीता सर्वधर्ममयो मनुः ।
सर्वतीर्थमयी गङ्गा सर्वदेवमयो हरिः ॥ ९ ॥
पादस्याप्यर्धपादं वा श्लोकं श्लोकार्धमेव वा ।
नित्यं धारयते यस्तु स मोक्षमधिगच्छति ॥ १० ॥
कृष्णवृक्षसमुद्भूता गीतामृतहरीतकी ।
मानुषैः किं न खाद्येत कलौ मलविरेचिनी ॥ ११ ॥
गङ्गा गीता तथा भिक्षुः कपिलाश्वत्थसेवनम् ।
वासरं पद्मनाभस्य पावनं किं कलौ युगे ॥ १२ ॥
गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ॥ १३ ॥
आपदं नरकं घोरं गीताध्यायी न पश्यति ॥ १४ ॥

गीता सम्पूर्ण वेदमयी है, मनुस्मृति सर्वधर्ममयी है, गङ्गा सर्वतीर्थमयी है तथा भगवान् विष्णु सर्वदेवमय हैं ॥९॥ जो गीताका पूरा एक श्लोक, आधा श्लोक, एक चरण अथवा आधा चरण भी प्रतिदिन धारण करता है, वह अन्तमें मोक्ष प्राप्त कर लेता है ॥१०॥ मनुष्य श्रीकृष्णरूपी वृक्षसे प्रकट हुई गीतारूप अमृतमयी हरीतकीका भक्षण क्यों नहीं करते, जो समस्त कलिमलको शरीरसे बाहर निकालनेवाली है ॥११॥ कलियुगमें श्रीगङ्गाजी, गीता, सच्चे संन्यासी, कपिला गौ, अश्वत्थवृक्षका सेवन और भगवान् विष्णुके पर्व-दिन (एकादशी आदि) इनसे बढ़कर पवित्र करनेवाली और क्या वस्तु हो सकती है ? ॥१२॥ अन्य शास्त्रोंके विस्तारसे क्या प्रयोजन ? केवल गीताका ही सम्यक् प्रकारसे गान (पठन और मनन) करना चाहिये; जो कि साक्षात् भगवान् विष्णुके मुख-कमलसे प्रकट हुई है ॥१३॥ गीताका स्वाध्याय करनेवाले मनुष्यको आपत्ति और घोर नरकको नहीं देखना पड़ता ॥१४॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रीगीतासारे भगवद्गीतामाहात्म्यं सम्पूर्णम् ।

(३)

धरोवाच

भगवन् परमेशान भक्तिरव्यभिचारिणी ।
प्रारब्धं भुज्यमानस्य कथं भवति हे प्रभो ॥ १ ॥

पृथ्वी बोली--हे भगवन् ! हे परमेश्वर ! हे प्रभो ! प्रारब्ध-भोग करते हुए मनुष्यको आपकी अनन्य भक्ति कैसे प्राप्त हो सकती है ? ॥ १ ॥

श्रीविष्णुरुवाच

प्रारब्धं भुज्यमानो हि गीताभ्यासरतः सदा ।
स मुक्तः स सुखी लोके कर्मणा नोपलिप्यते ॥ २ ॥
महापापादिपापानि गीताध्यायी करोति चेत् ।
क्वचित्स्पर्शं न कुर्वन्ति नलिनीदलमम्बुवत् ॥ ३ ॥
गीतायाः पुस्तकं यत्र यत्र पाठः प्रवर्तते ।
तत्र सर्वाणि तीर्थानि प्रयागादीनि तत्र वै ॥ ४ ॥
सर्वे देवाश्च ऋषयो योगिनः पन्नगाश्च ये ।
गोपाला गोपिका वापि नारदोद्धवपार्षदैः ।
समायान्ति तत्र शीघ्रं यत्र गीता प्रवर्तते ॥ ५ ॥

श्रीविष्णुभगवान् बोले--प्रारब्धभोग करते हुए भी जो मनुष्य सदा गीताके अभ्यासमें तत्पर रहता है, संसारमें वही मुक्त और वही सुखी है । वह कभी कर्मोंसे लिप्त नहीं होता ॥ २ ॥ गीताका स्वाध्याय करनेवाला मनुष्य यदि कभी दैवात् महापातक आदि पाप भी कर बैठता है, तो वे पाप उसका कहीं भी स्पर्श नहीं करते; जैसे कमलके पत्तेपर जल नहीं ठहर सकता ॥ ३ ॥ जहाँ गीताकी पुस्तक रहती है, जहाँ उसका नित्य पाठ होता है, वहाँ-वहाँ अवश्य ही प्रयाग आदि सभी तीर्थ वास करते हैं ॥ ४ ॥ जहाँ गीताका पाठ होता है वहाँ सभी देवता, सम्पूर्ण ऋषि,

सर्पगण तथा गोप और गोपियाँ भी नारद और उद्धव आदि पार्षदोंके साथ शीघ्र ही एकत्रित हो जाते हैं ॥ ५ ॥

यत्र गीताविचारश्च पठनं पाठनं श्रुतम् ।
तत्राहं निश्चितं पृथ्वि निवसामि सदैव हि ॥ ६ ॥
गीताश्रयेऽहं तिष्ठामि गीता मे चोत्तमं गृहम् ।
गीताज्ञानमुपाश्रित्य त्रींल्लोकान् पालयाम्यहम् ॥ ७ ॥
गीता मे परमा विद्या ब्रह्मरूपा न संशयः ।
अर्धमात्राक्षरा नित्या स्वानिर्वाच्यपदात्मिका ॥ ८ ॥
चिदानन्देन कृष्णेन प्रोक्ता स्वमुखतोऽर्जुनम् ।
वेदत्रयी परानन्दा तत्त्वार्थज्ञानसंयुता ॥ ९ ॥
योऽष्टादशजपो नित्यं नरो निश्चलमानसः ।
ज्ञानसिद्धिं स लभते ततो याति परं पदम् ॥१०॥

हे पृथ्वि ! जहाँ गीताका विचार, पठन, पाठन अथवा श्रवण होता है, वहाँ मैं सदा ही निश्चितरूपसे वास करता हूँ ॥ ६ ॥ मैं गीताके आश्रयमें ही रहता हूँ, गीता मेरा उत्तम गृह है। गीता-ज्ञानका ही सहारा लेकर मैं तीनों लोकोंका पालन करता हूँ ॥ ७ ॥ मेरी गीता परा विद्या एवं परब्रह्मरूपिणी है; यह अर्धमात्रा, अविनाशिनी, नित्या एवं अनिर्वचनीयस्वरूपा है ॥ ८ ॥ चिदानन्दमय भगवान् श्रीकृष्णने साक्षात् अपने मुखसे ही अर्जुनके प्रति इसका उपदेश दिया है। यह वेदत्रयीरूपा, परमानन्द-स्वरूपिणी और तत्त्वार्थज्ञानसे युक्त है ॥ ९ ॥ जो मनुष्य स्थिरचित्त होकर नित्य ही अठारह अध्यायका जप करता है, वह ज्ञानरूपा सिद्धिको प्राप्त कर लेता है और उससे परमपद-को प्राप्त हो जाता है ॥ १० ॥

पाठेऽसमर्थः सम्पूर्णे ततोऽर्धं पाठमाचरेत् ।
तदा गोदानजं पुण्यं लभते नात्र संशयः ॥ ११ ॥
त्रिभागं पठमानस्तु गङ्गास्नानफलं लभेत् ।
षडंशं जपमानस्तु सोमयागफलं लभेत् ॥ १२ ॥
एकाध्यायं तु यो नित्यं पठते भक्तिसंयुतः ।
रुद्रलोकमवाप्नोति गणो भूत्वा वसेच्चिरम् ॥ १३ ॥
अध्यायं श्लोकपादं वा नित्यं यः पठते नरः ।
स याति नरतां यावन्मन्वन्तरं वसुन्धरे ॥ १४ ॥
गीतायाः श्लोकदशकं सप्त पञ्च चतुष्टयम् ।
द्वौ त्रीनेकं तदर्धं वा श्लोकानां यः पठेन्नरः ।
चन्द्रलोकमवाप्नोति वर्षाणामयुतं ध्रुवम् ॥ १५ ॥

यदि कोई सम्पूर्ण गीताका प्रतिदिन पाठ करनेमें असमर्थ हो तो आधेका ही पाठ करे, ऐसा करनेपर वह गोदानजन्य फलको प्राप्त करता है—इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ॥ ११ ॥ तिहाई भागका पाठ करनेवालेको गङ्गा-स्नानका फल मिलता है। छठे अंशका जप करनेवाला सोमयागका फल पाता है ॥ १२ ॥ जो नित्यप्रति भक्तियुक्त होकर एक अध्यायका पाठ करता है, वह रुद्रलोकको प्राप्त होता है और वहाँ रुद्रका गण होकर चिरकालतक निवास करता है ॥ १३ ॥ जो मनुष्य एक अध्याय अथवा श्लोकके एक पादका ही नित्य पाठ करता है, हे वसुन्धरे ! वह जबतक मन्वन्तर रहता है तबतक मनुष्य-जन्मको ही प्राप्त होता है [अधम-योनिमें नहीं जाता] ॥१४॥ गीताके दस, सात, पाँच, चार, तीन, दो, एक अथवा आधे श्लोकका ही जो मनुष्य पाठ करता है, वह अवश्य ही चन्द्रलोकको प्राप्त होता है और वहाँ दस हजार वर्षोंतक वास करता है ॥ १५ ॥

गीतापाठसमायुक्तो मृतो मानुषतां व्रजेत् ।
गीताभ्यासं पुनः कृत्वा लभते मुक्तिमुत्तमाम् ॥ १६ ॥
गीतेत्युच्चारसंयुक्तो म्रियमाणो गतिं लभेत् ॥ १७ ॥
गीतार्थश्रवणासक्तो महापापयुतोऽपि वा ।
वैकुण्ठं समवाप्नोति विष्णुना सह मोदते ॥ १८ ॥
गीतार्थं ध्यायते नित्यं कृत्वा कर्माणि भूरिशः ।
जीवन्मुक्तः स विज्ञेयो देहान्ते परमं पदम् ॥ १९ ॥
गीतामाश्रित्य बहवो भूभुजो जनकादयः ।
निर्धूतकल्मषा लोके गीता याताः परं पदम् ॥२०॥
गीतायाः पठनं कृत्वा माहात्म्यं नैव यः पठेत् ।
वृथा पाठो भवेत्तस्य श्रम एव ह्युदाहृतः ॥ २१ ॥
एतन्माहात्म्यसंयुक्तं गीताभ्यासं करोति यः ।
स तत्फलमवाप्नोति दुर्लभां गतिमाप्नुयात् ॥ २२ ॥

जो गीताका पाठ सुनते-सुनते मरता है वह दूसरे जन्ममें भी मनुष्य ही होता है और पुनः गीताका अभ्यास करके उत्तम गति—मोक्षको पा लेता है ॥ १६ ॥ 'गीता' इस शब्दमात्रका उच्चारण करके मरनेवाला मनुष्य सद्गतिको प्राप्त होता है ॥ १७ ॥ गीताके अर्थके श्रवणमें लगा हुआ मनुष्य महान् पापसे युक्त होनेपर भी वैकुण्ठलोकको प्राप्त होता है और वहाँ वह



जाम्बवान्‌पर कृपा



पारिजात-हरण



नृग-उद्धार



पौण्ड्रक-उद्धार

भगवान् विष्णुके साथ आनन्दित होता है ॥ १८ ॥ जो बहुत-से कर्म करते हुए भी नित्य गीताके अर्थका चिन्तन करता रहता है, उसे जीवन्मुक्त समझना चाहिये, वह देहान्त होनेपर तो परमपदको प्राप्त हो ही जाता है ॥ १९ ॥ गीताका आश्रय लेकर जनक आदि बहुत-से राजालोग पापरहित हो संसारमें अपना यशोगान सुनते हुए अन्तमें परमपदको प्राप्त हो गये ॥ २० ॥ गीताका पाठ करके जो इसके माहात्म्यको नहीं पढ़ता, उसका वह पाठ व्यर्थ एवं परिश्रममात्र कहा गया है ॥ २१ ॥ जो इस माहात्म्यसे युक्त गीताका अभ्यास करता है, उसे इसका पूरा फल मिलता है और वह परम दुर्लभ गति (मोक्ष) को प्राप्त कर लेता है ॥ २२ ॥

सूत उवाच

माहात्म्यमेतद्गीताया मया प्रोक्तं सनातनम् ।
गीतान्ते च पठेद्यस्तु यदुक्तं तत्फलं लभेत् ॥ २३ ॥

सूतजी बोले—मेरे कहे हुए इस सनातन गीता-माहात्म्यका जो गीताके अन्तमें पाठ करता है, उसे जैसा बताया गया है, वह सभी फल प्राप्त होता है ॥ २३ ॥

इति श्रीवाराहपुराणे श्रीमद्भगवद्गीतामाहात्म्यं समाप्तम् ।
ॐ तत्सत् ।

(४)

गीताशास्त्रमिदं पुण्यं यः पठेत्प्रयतः पुमान् ।
विष्णोः पदमवाप्नोति भयशोकादिवर्जितः ॥ १ ॥
गीताध्ययनशीलस्य प्राणायामपरस्य च ।
नैव सन्ति हि पापानि पूर्वजन्मकृतानि च ॥ २ ॥
मलनिर्मोचनं पुंसां जलस्नानं दिने दिने ।
सकृद्गीताम्भसि स्नानं संसारमलनाशनम् ॥ ३ ॥
भारतामृतसर्वस्वं विष्णुवक्त्राद्विनिःसृतम् ।
गीतागङ्गोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते ॥ ४ ॥
सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥ ५ ॥

जो पुरुष पवित्रचित्त होकर इस पावन गीताशास्त्रका पाठ करता है, वह भय और शोक आदिसे रहित होकर भगवान् विष्णुके पदको प्राप्त कर लेता है ॥ १ ॥ जो बराबर गीताका अध्ययन किया करता है तथा जो प्राणायामके अभ्यासमें तत्पर रहता है, उसके पूर्वजन्मके किये हुए पाप भी नहीं रह जाते ॥ २ ॥ जलमें प्रतिदिन स्नान करनेसे मनुष्योंका मैल दूर होता है, परन्तु इस गीताज्ञानरूपी जलमें एक ही बारका किया हुआ स्नान सम्पूर्ण संसार-मलको नष्ट करनेवाला है ॥ ३ ॥ जो महाभारतका अमृतमय सर्वस्व है, भगवान् विष्णुके मुखसे प्रकट हुआ है, उस गीतामयी गङ्गाके जलको पी लेनेपर मनुष्यका पुनर्जन्म नहीं होता ॥ ४ ॥ सम्पूर्ण उपनिषदें गौके समान हैं, गोपालनन्दन श्रीकृष्ण दूध दुहनेवाले (ग्वाले) हैं, पार्थ (अर्जुन) बछड़ा हैं, महत्त्वपूर्ण गीतामय अमृत ही दूध है और सुन्दर बुद्धिवाले जिज्ञासु एवं ज्ञानी पुरुष ही उसके पीनेवाले हैं ॥ ५ ॥

(५)

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रसङ्ग्रहैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ॥ १ ॥
सर्वशास्त्रमयी गीता सर्वदेवमयो हरिः ।
सर्वतीर्थमयी गङ्गा सर्ववेदमयो मनुः ॥ २ ॥
गीता गङ्गा च गायत्री गोविन्देति हृदि स्थिते ।
चतुर्गकारसंयुक्ते पुनर्जन्म न विद्यते ॥ ३ ॥
भारतामृतसर्वस्वगीताया मथितस्य च ।
सारमुद्धृत्य कृष्णेन अर्जुनस्य मुखे हुतम् ॥ ४ ॥

अन्य शास्त्रोंके संग्रहकी क्या आवश्यकता है ? केवल गीताका ही भली प्रकारसे गान (पठन और मनन) करना चाहिये; क्योंकि यह भगवान् पद्मनाभ (विष्णु) के साक्षात् मुखसे प्रकट हुई है ॥ १ ॥ गीता समस्त शास्त्रमयी है, श्रीहरि सर्वदेवमय हैं, गङ्गाजी सर्वतीर्थमयी हैं और मनु सर्ववेदमय हैं ॥ २ ॥ गीता, गङ्गा, गायत्री और गोविन्द ये चार गकारसे युक्त नाम जिसके हृदयमें बसते हैं, उसका पुनर्जन्म नहीं होता ॥ ३ ॥ महाभारतरूपी अमृतके सर्वस्व गीताको मथकर और उनमेंसे सार निकालकर भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके मुखमें उसका हवन किया है ॥ ४ ॥

इति श्रीमहाभारते श्रीमद्भगवद्गीतामाहात्म्यं सम्पूर्णम् ।

श्रीमद्भगवद्गीताके ऋषि, छन्द, देवता और विनियोग

(लेखक—पं० श्रीगोपालचन्द्रजी मिश्र गौड, वेदशास्त्री)

श्रीमद्भगवद्गीता हिंदू-समाजमें एक परम आदरणीय पुस्तक है। यह मन्त्रस्वरूप है, क्योंकि पूर्वाचार्योंने मन्त्रका लक्षण यह किया है—'मन्त्रा मननात्' (निरुक्त ७।१२।१) मननसे अर्थात् सब सत्य विद्याओंके जाननेसे मन्त्र है। 'मन्यन्ते ज्ञायन्ते सर्वा विद्या यैस्ते मन्त्राः।' 'मन्त्र' शब्द 'मनु अवबोधने' धातुसे 'ष्ट्रन्' प्रत्यय करनेपर अथवा 'मत्रि गुप्तपरिभाषणे' धातुसे नुमागमद्वारा सिद्ध होता है। गीताके श्लोकोंमें गुप्त रहस्य तथा विद्याओंका वर्णन है, अतः गीता-भगवतीके श्लोक मन्त्र हैं।

गीता मन्त्रमय है, अतः इसके पाठके आदिमें 'ऋषि, छन्द, देवता और विनियोग' के भी होनेकी परम आवश्यकता है। ऋषि आदिके बिना जाने, बिना प्रयोग किये पाठ सफल नहीं होता तथा दोष होता है। कात्यायनने कहा है—

एतान्यविदित्वा मन्त्रं योऽधीतेऽनुब्रूते जपति जुहोति यजते याजयते तस्य ब्रह्म निर्वीर्यं यातयामं भवति। अथान्तरा श्वगर्तं वापद्यते स्थाणुं वर्च्छति प्रमीयते वा पापीयान् भवति। (सर्वानुक्रमसूत्र १)

जो ऋषि, छन्द, देवता और विनियोगको न जानकर मन्त्र पढ़ता, पढ़ाता, जपता, हवन करता, याग करता या कराता है, उसका मन्त्ररूपी ब्रह्म फलशक्तिसे हीन होकर अनिष्टका उत्पादक होता है। ऋषि आदिके बिना मन्त्रोंका उपयोग करनेवाला नरकमें जाता है, या शुष्क वृक्ष (स्थावर-योनिमें) होता है अथवा अल्पायु होता है, इत्यादि। 'बृहद्देवता' में भी कहा है—

अविदित्वा ऋषिं छन्दो दैवतं योगमेव च।
योऽध्यापयेज्जपेद्वापि पापीयाञ्जायते तु सः॥

(८। १३२)

अतः गीताके ऋषि, छन्द, देवता तथा विनियोग जानना परम आवश्यक है।

ऋषि

'ऋषि' शब्द गत्यर्थक 'ऋषू' धातुसे 'इगुपधात् कित्' (उणा० ४। ११९) इस सूत्रसे 'इन्' प्रत्यय करनेपर सिद्ध होता है। मन्त्रके देखनेवाले वा स्मरण करनेवाले उस मन्त्रके ऋषि कहलाते हैं। निरुक्तकार यास्काचार्यने कहा है—'ऋषिर्दर्शनात्' (निरुक्त २। ११)। कात्यायनने भी कहा है—'द्रष्टार ऋषयः स्मर्तारः' (सर्वा० १) याज्ञवल्क्यजीने भी कहा है—

येन यदृषिणा दृष्टं सिद्धिः प्राप्ता च येन वै।
मन्त्रेण तस्य तत्प्रोक्तमृषेर्भावस्तदार्षकम्॥

इस गीताके वक्ता भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र हैं तथा स्मर्ता श्रीवेदव्यास हैं, अतः इस मन्त्ररूपी गीताके श्रीवेदव्यास ऋषि हैं।

छन्द

पाणिनिके मतमें 'चदि आह्लादे' धातुसे 'चन्देरादेश्च छः' इस औणादिक (४।२१८) सूत्रसे 'छन्दस्' शब्दकी सिद्धि होती है। निरुक्तकारके 'छन्दांसि छादनात्' इस कथनसे उनके मतमें 'छदि' धातुसे असुन् प्रत्यय करके नुमागम करनेपर 'छन्दः' पदकी सिद्धि होती है। पाप-दुःखादिकोंको जो आच्छादन (नष्ट) करे उसे छन्द कहते हैं। याज्ञवल्क्यने भी कहा है—

छादनाच्छन्द उद्दिष्टं वाससी इव चाकृतेः।

छन्द गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप् आदि सात प्रकारके हैं। इन सात छन्दोंके अवान्तर भेद बहुत हैं। इस गीतामें अन्य छन्दोंके होनेपर भी अनुष्टुप् छन्दकी प्रधानता होनेके कारण छत्रिन्यायसे इसका अनुष्टुप् छन्द है।

छत्रिन्याय—जैसे बहुत-से मनुष्य जा रहे हैं, उनमें अधिक मनुष्य छाता लिये हुए हैं और कुछ नहीं भी लिये हैं, पर वहाँ 'छातावाले जा रहे हैं' ऐसा व्यवहार होता है, वैसे ही यहाँ अन्य छन्दोंके होते हुए भी अनुष्टुप् छन्दके विशेषतया रहनेसे अनुष्टुप् छन्द ही है।

देवता

'दिव्' धातुसे 'हलश्च' (पा० ३। ३। १२१) सूत्रसे 'घञ्' प्रत्यय करके गुण करनेसे देव शब्द सिद्ध होता है उससे 'देवात्तल्' (पा० सू० ५। ४। २७) इस सूत्रके अनुसार स्वार्थमें 'तल्' प्रत्यय करके स्त्रीत्वमें

'टाप्' करनेपर 'देवता' शब्दकी निष्पत्ति होती है। नैरुक्त यास्कने 'दा' धातु, 'दीप्' धातु और 'द्युत' धातुसे 'देव' शब्दका निर्वचन किया है। जो 'देव' शब्दका अर्थ है, वही स्वार्थमें 'तल्' प्रत्यय करनेपर 'देवता' शब्दका भी अर्थ होता है।

देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा। यो देवः सा देवता। (निरुक्त ७। १५)

जो वृष्टयादिद्वारा भक्ष्य, भोज्य आदि पदार्थ देवे या जो प्रकाशित हो या जो द्युलोकमें रहे, उसे देवता कहते हैं। इस विषयपर याज्ञवल्क्यजीने कहा है—

यस्य यस्य तु मन्त्रस्य उद्दिष्टा देवता तु या।
तदाकारं भवेत्तस्य देवत्वं देवतोच्यते॥

जिस मन्त्रमें जिस देवताका उद्देश हो, उसका वह देवता होता है। इस गीताका अन्तिम उपदेश तथा उद्देश 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' है, अर्थात् परम पुरुष परमात्मा श्रीकृष्ण ही हैं; अतः इस श्रीगीताके 'श्रीकृष्ण परमात्मा' देवता हैं।

विनियोग

जिसके लिये जिस मन्त्रका प्रयोग किया जाय, उसका सङ्कल्प ही विनियोग कहलाता है। याज्ञवल्क्यने कहा है—

पुरा कल्पे समुत्पन्ना मन्त्राः कर्मार्थमेव च।
अनेन चेदं कर्तव्यं विनियोगः स उच्यते॥

जिस कामनासे श्रीगीताजप (पाठ) करना हो, उस कामनाका नाम विनियोगमें लेना चाहिये।

उच्चारण-क्रम

ऋषि आदिका उच्चारण किस क्रमसे करना चाहिये, यह 'बृहद्देवता' में कहा है—

ऋषिं तु प्रथमं ब्रूयाच्छन्दस्तु तदनन्तरम्।
देवतामथ मन्त्राणां कर्मस्वेवमिति श्रुतिः॥ (८।१३४)

गृह्यगङ्गाधरपद्धतिमें भी कहा है—

ऋषिमादौ प्रयुञ्जीत छन्दो मध्ये निवेशयेत्।
देवतामवसाने च मन्त्रज्ञो मन्त्रसिद्धये॥

मन्त्र-सिद्धिकी अभिलाषा रखनेवाला ऋषिको आदिमें कहे और छन्दको मध्यमें उच्चारण करे। तथा देवताका अन्तमें उच्चारण करे। बृहद्देवतामें इस क्रमके अन्यथा करनेपर फलका नहीं होना कहा है—

'अन्यथा चेत्प्रयुञ्जानस्तत्फलाच्चात्र हीयते।'

यह ऋष्यादिका कथन कर्मके आरम्भमें ही करना चाहिये।

फल

इन ऋषि, छन्द, देवता और विनियोगको जानकर पाठ आदि करनेका फल कात्यायनने अपने सर्वानुक्रममें कहा है—

अथ विज्ञायैतानि योऽधीते तस्य वीर्यवत्। अथ योऽर्थवित्तस्य वीर्यवत्तरं भवति। जपित्वा हुत्वेष्ट्वा तत्फलेन युज्यते।

जो मन्त्रोंके ऋष्यादिके साथ विनियोग करता है, उसके लिये पाठका पूर्ण फल और जो उसका अर्थ जानकर पाठ आदि करता है, उसे अतिशय फलकी प्राप्ति होती है।

बृहद्देवतामें भी कहा है—

न हि कश्चिदविज्ञाय याथातथ्येन दैवतम्।
लौकिकानां वैदिकानां कर्मणां फलमश्नुते॥
(१।४)

जो इसको नहीं जानता, वह लौकिक वा वैदिक कर्मके फलको नहीं प्राप्त करता।

अतः इनका जानना तथा प्रयोग करना परम आवश्यक है।

इसलिये गीताप्रेमियोंको पाठ करते समय 'ॐ श्रीमद्भगवद्गीतामहामन्त्राणां श्रीवेदव्यास ऋषिः अनुष्टुप् छन्दः श्रीकृष्णः परमात्मा देवता श्रीकृष्णप्रीत्यर्थे (.....कामनासिद्धये) जपे विनियोगः' कह देना चाहिये।

ब्राकिटमें '.....' यह चिह्न है। यदि पाठ किसी कामनासे किया जाय तो कामनाका नाम '.....' इस जगह उच्चारण कर देना चाहिये।

निष्कामपाठमें कामनाका उच्चारण नहीं करना चाहिये।

गुणोंके स्वरूप और उनका फल; गुणोंके अनुसार आहार-यज्ञादिके लक्षण

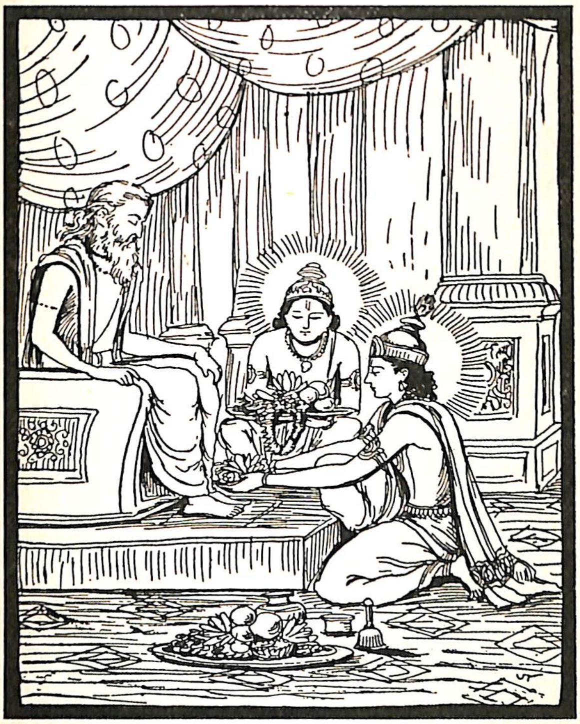
विषय	सत्त्वगुण	रजोगुण	तमोगुण
गुणोंका स्वरूप तथा उनकी वृद्धिका प्रभाव।	शरीर, अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें चेतनता, बोधशक्तिका प्रकाश। (१४ । ११)	लोभ, सांसारिक कर्मोंमें प्रवृत्ति; कर्मोंका स्वार्थबुद्धिसे आरम्भ; मनकी चञ्चलता और भोगोंकी कामना। (१४ । १२)	शरीर, अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें अप्रकाश, कर्तव्यकर्ममें प्रवृत्त न होना, प्रमाद, (न करनेयोग्य कार्यमें प्रवृत्ति), मोह। (१४ । १३)
गुणोंके द्वारा प्रवृत्ति।	सुखमें लगाया जाना (१४ । ९)	कर्ममें लगाया जाना। (१४।९)	प्रमादमें लगाया जाना। (१४ । ९)
गुणोंके द्वारा जीवका बन्धन।	सत्त्वगुण निर्विकार, प्रकाशमय, निर्मल होनेके कारण सुखकी आसक्तिसे और ज्ञानके अभिमान-से बाँधता है। (१४ । ६)	रागरूप रजोगुण कामना और आसक्तिसे उत्पन्न होनेके कारण कर्म और उनके फलकी आसक्तिसे बाँधता है। (१४ । ७)	सब देहाभिमानियोंको मोहने-वाला, अज्ञानसे उत्पन्न तमोगुण प्रमाद, आलस्य और निद्रासे बाँधता है। (१४ । ८)
गुणोंसे उत्पन्न भाव।	ज्ञान (१४ । १७) ···	लोभ। (१४ । १७) ···	प्रमाद, मोह, अज्ञान। (१४।१७)
गुणोंके फल।	निर्मल सुख-ज्ञान-वैराग्यादि (१४ । १६)	दुःख। (१४ । १६) ···	अज्ञान। (१४ । १६)
किस गुणकी वृद्धिमें मरनेवाला किस लोक या योनिमें जाता है।	दिव्य देवलोकमें देवयोनिको प्राप्त होता है। (१४ । १४)	मनुष्यलोकमें मनुष्ययोनिको प्राप्त होता है। (१४ । १५)	पशु-पक्षी कीट-पतङ्ग आदि मूढ़-योनियोंमें जन्म ग्रहण करता है। (१४ । १५)
किस गुणसे सम्पन्न पुरुषोंकी क्या गति होती है ?	ऊर्ध्वगति; भगवदभिमुखी श्रेष्ठ कुलमें जन्म लेते हैं अथवा देवता बनते हैं। (१४ । १८)	बीचकी गति; कर्मासक्त मनुष्य बनते हैं। (१४ । १८)	नीचेकी गति; पशु आदि योनियोंमें, नारकी योनिमें या भूत-प्रेतादि पापयोनियोंमें जन्म लेते हैं। (१४ । १९)
उपासना।	देवताओंका पूजन। (१७ । ४)	यक्ष-राक्षसोंका पूजन। (१७।४)	भूत-प्रेतादिका पूजन। (१७।४)
आहार।	आयु, बुद्धि, बल, नीरोगता, सुख और प्रीति बढ़ाने-वाले, रस-युक्त, स्निग्ध, स्थिर रहनेवाले और हृदयके अनुकूल पदार्थ। (१७ । ८)	बहुत कड़वे, बहुत खट्टे, बहुत नमकीन, बहुत गरम, बहुत तीखे, रूखे, दाहकारी, दुःख, शोक और रोग उत्पन्न करनेवाले पदार्थ। (१७ । ९)	अधपके, रसरहित, दुर्गन्ध-युक्त, बासी, जूँठे और अपवित्र पदार्थ (१७ । १०)



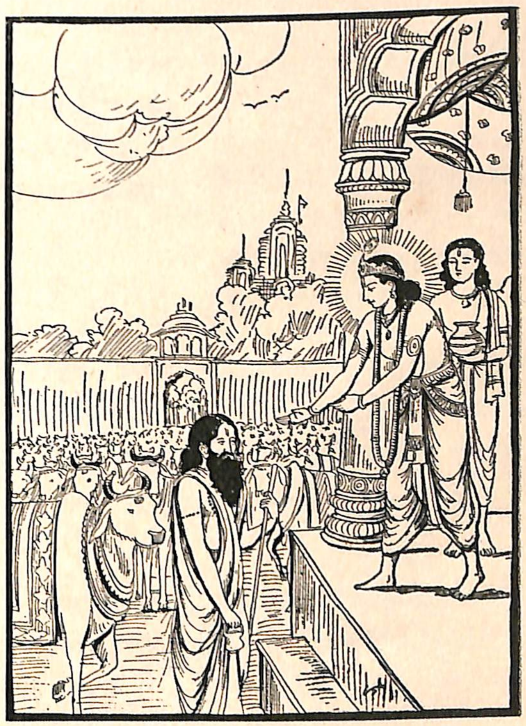
नारदका आश्चर्य



दैनिक ध्यान



दैनिक ब्राह्मणपूजन



दैनिक गोदान

विषय	सत्त्वगुण	रजोगुण	तमोगुण
यज्ञ। ...	विधिसंगत हो तथा कर्तव्य और निष्काम बुद्धिसे किया जाय। (१७।११)	विधिसंगत हो, पर फलकी इच्छासे या दम्भसे किया जाय। (१७।१२)	विधिहीन, अन्नदानरहित, मन्त्रहीन, दक्षिणारहित और श्रद्धारहित यज्ञ। (१७।१३)
तप। ... (क) शारीरिक	परम श्रद्धा और निष्कामभावसे देवता, ब्राह्मण, गुरुजन और ज्ञानीजनोंकी सेवा, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा। (१७।१७)	सत्कार, मान या पूजा पानेके लिये दम्भसे किये जानेवाले अनिश्चित और क्षणिक फलवाले शारीरिक तपका प्रदर्शन। (१७।१८)	मूर्खतासे, दुराग्रहसे, शरीरको सताकर दूसरोंका अनिष्ट करनेके लिये घोर शारीरिक कष्टसहनकी क्रिया। (१७।१९)
(ख) वाणीका तप	परम श्रद्धा और निष्कामभावसे ऐसे वचन बोलना, जो किसीके मनमें उद्वेग न करें, सुननेमें प्रिय लगें, हित करनेवाले हों और सच्चे हों। तथा वेदशास्त्रोंका स्वाध्याय और भगवन्नाम-गुणका जप-कीर्तन करना। (१७।१५)	सत्कार, मान या पूजा पानेके लिये अनिश्चित और क्षणिक फलवाले वाणीके तपका प्रदर्शन।	मूर्खतासे और हठसे स्वयं कष्ट पाकर दूसरोंका अनिष्ट करनेके लिये वाणीके तपका मिथ्या प्रदर्शन या शास्त्र-विपरीत, दम्भ और अहङ्कार बढ़ानेवाला, काम और क्रोधसे प्रेरित, अज्ञानमय, नाना प्रकारसे क्लेश पहुँचानेवाला मिथ्या भाषण।
(ग) मनका तप	परम श्रद्धा और निष्कामभावसे होनेवाली मनकी प्रसन्नता, शान्ति, भगवच्चिन्तनको छोड़कर व्यर्थ सङ्कल्प-विकल्पका अभाव, मनका निग्रह और भावोंकी पवित्रता। (१७।१६)	सत्कार, मान या पूजा पानेके लिये या दम्भके भावसे मनमें सात्त्विक गुण न रहनेपर भी उनके दिखलानेका प्रयत्न करना।	मूर्खता, हठ और कष्टपूर्वक दूसरोंका बुरा करनेके लिये मनके तपका ढोंग करना और वास्तवमें विषाद, अशान्ति, विषय-चिन्तन, नाना प्रकारकी उधेड़-बुन, मनकी अनियन्त्रित गति और अशुभ चिन्तन-स्मरणमें लगे रहना।
दान ...	देश, काल और पात्रका विचार करके कर्त्तव्य-बुद्धिसे, बदला पानेकी इच्छा न रखकर दिया हुआ दान। (१७।२०)	बदला पानेके लिये, किसी लौकिक-पारलौकिक फलकी आशासे और मनमें कष्ट पाकर देना। (१७।२१)	देश, काल और पात्रका बिना विचार किये हुए ही, मनमाने तौरपर, अपमान और अनादर करके देना! (१७।२२)
त्याग ...	नियत कर्मको कर्त्तव्य-बुद्धिसे करना और उसमें आसक्ति तथा फलेच्छाका सर्वथा त्याग कर देना। (१८।९)	कर्मको दुःखरूप अर्थात् झंझट समझकर शारीरिक क्लेशके भयसे उसे स्वरूपसे त्याग देना। (१८।८)	शास्त्रविहित नियत कर्मका मोहसे त्याग कर देना। (१८।७)
कर्म-फल	उत्तम (१८।१२)	मिश्रित	निकृष्ट

विषय	सत्त्वगुण	रजोगुण	तमोगुण
ज्ञान ...	समस्त भूत-प्राणियोंमें पृथक्-पृथक् दीखनेवाले एक ही अविनाशी परमात्मभावको सबमें विभागरहित समभावसे स्थित देखना। (१८।२०)	समस्त भूत-प्राणियोंमें भिन्न-भिन्न अनेक भावोंको अलग-अलग देखना! (१८।२१)	शरीरको ही आत्मा समझनेवाला बिना ही युक्तिका, तत्त्वार्थरहित, तुच्छ सीमाबद्ध ज्ञान।(१८।२२)
कर्म ...	जो नियत कर्म कर्त्तापनके अभिमानसे रहित, फल न चाहनेवाले पुरुषद्वारा राग-द्वेष छोड़कर किया जाता है। (१८।२३)	जो विशेष परिश्रमसाध्य कर्म फल चाहनेवाले, कर्त्तापनके अहङ्कारसे युक्त पुरुषके द्वारा किया जाता है (१८।२४)	जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा और अपनी शक्तिका कुछ भी विचार किये बिना मूर्खतासे जोशमें आकर किया जाता है। (१८।२५)
कर्त्ता ...	जो सिद्धि-असिद्धिमें हर्ष-शोकको न प्राप्त होकर, आसक्ति और अहङ्काररहित होकर, धीरज और उत्साहसे कर्त्तव्य-कर्म करता है। (१८।२६)	जो लोभी, आसक्तियुक्त, हिंसात्मक एवं अपवित्र है तथा कर्मफलकी इच्छासे कर्म करता है और सिद्धि पाकर हर्षमें और असिद्धि पाकर शोकमें डूब जाता है। (१८।२७)	जो अव्यवस्थितचित्त, मूर्ख, घमंडी, धूर्त्त, शोकग्रस्त, आलसी, दीर्घसूत्री और दूसरेकी आजीविकाको नष्ट करनेवाला है। (१८।२८)
बुद्धि ...	जो प्रवृत्ति और निवृत्तिमार्गको, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यको, भय-अभयको तथा बन्धन और मोक्षको यथार्थरूपसे पहचानती है। (१८।३०)	जो धर्म-अधर्म, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यका निर्णय नहीं कर सकती। (१८।३१)	जो अधर्मको धर्म मानती है और सभी बातोंमें विपरीत निर्णय करती है। (१८।३२)
धृति ...	जो सब विषयोंको छोड़कर केवल भगवान्‌में ही लगकर मन, प्राण और इन्द्रियोंकी सारी क्रियाओंको भगवत्-सन्निधिके योगद्वारा भगवदर्थ ही करवाती है। (१८।३३)	जो फल चाहनेवाले मनुष्यको अत्यन्त आसक्तिसे धर्म, अर्थ और कामरूप विषयोंमें लगाती है। (१८।३४)	जिससे दुष्टबुद्धि मनुष्य केवल सोये रहने, डरने, शोक करने, उदास रहने और मतवाला बने रहनेमें ही अपनेको लगाये रखता है। (१८।३५)
सुख ...	जिसका अनुभव अभ्याससे होता है, जो अन्तमें दुःखको नष्ट कर डालता है, जो आरम्भमें जहर-सा लगता है परन्तु भगवद्विषयक बुद्धिके प्रसादसे उत्पन्न होनेके कारण परिणाममें अमर कर देता है, मोक्षकी प्राप्ति करवा देता है। (१८।३६-३७)	जो विषयोंके साथ इन्द्रियोंका सम्बन्ध होनेपर आरम्भमें अमृत-सा सुहावना लगता है, परन्तु परिणाममें लोक-परलोकका नाश करनेवाला होनेके कारण विषके सदृश है। (१८।३८)	जो आरम्भ और अन्त दोनोंमें ही आत्माको मोहमें डालता है और जो निद्रा, आलस्य तथा प्रमादसे प्राप्त होनेवाला है। (१८।३९)

सेवा और सहानुभूतिमें भगवान्

(लेखक—श्री 'माधव')

श्रीमद्भगवद्गीताके उपदेशमें भगवान्ने एक जगह कहा है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

'हे अर्जुन! जो सम्पूर्ण प्राणियोंमें अपनी ही भाँति अपने आत्माको और सुख-दुःखको समान देखता है वही योगी परम श्रेष्ठ माना गया है।'

इस समताके साथ ही भगवान् अद्वैतज्ञानके पथपर चलनेवालेके लिये 'सर्वभूतहिते रताः' कहकर और भक्तोंके लिये 'अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च' कहकर ज्ञानी और भक्त सभीके लिये 'भूतप्राणियोंके हितमें रत रहना और सबके साथ द्वेषरहित, मित्रतापूर्ण तथा दुःखकी अवस्थामें दयायुक्त बर्ताव करना' आवश्यक बतलाते हैं। और यह सिद्ध करते हैं कि ऐसा करना भगवान्का ही पूजन है। आज गीताके उस उपदेशको भूलकर हम इसके विपरीत ही आचरण कर रहे हैं। यह सत्य है कि यह दुनिया सुख-दुःखकी एक विचित्र रंगस्थली है। पर्देपर सुखकी तस्वीरें देखकर हम लुभा जाते हैं, उसके प्रति एक आसक्ति-सी हो जाती है। परन्तु जब दुःखकी दर्दभरी तस्वीरें आती हैं, तो हम काँप जाते हैं। इस अशिव, असुन्दरके लिये हम कभी अपनेको तैयार नहीं पाते। सुखके प्रति मनुष्यकी सहज ही आसक्ति है और दुःखके प्रति द्वेष। इसके मूलमें जानेपर कारण यही प्रतीत होता है कि मनुष्य जानता नहीं कि सुख और दुःखका आवरण डाले स्वयं लीलामय हरि ही यह सारा अभिनय कर रहे हैं। मनुष्यको पता नहीं कि सुख और दुःख प्रभुकी दो भुजाएँ हैं जिनके आलिङ्गनमें उन्होंने जीवमात्रको चर-अचर सबको बाँध रक्खा है। अस्तु

सुख और दुःखमें समानरूपसे हरिके स्पर्शका, हरिकी करुणा और प्रीतिका रस पाना एक बहुत बड़ी साधनाका चरम फल है। मानव-जीवनकी यह एक अत्यन्त मधुर रसानुभूति है। यह सर्वथा सत्य और साध्य होनेपर गीताके उपदेशानुसार संसारकी व्यवस्थाके लिये, सब लोगोंके हितके लिये और सबके साथ ही अपने भी हितके लिये भी हमारा समाजके प्रति, जगत्के प्रति भी तो कुछ कर्त्तव्य है जिसकी अवहेलना करके हम धर्मकी समस्त साधनाओंसे स्खलित हो जाते हैं। अपने सुखमें सुखी और अपने दुःखमें दुःखी तो पशु भी हो लेते हैं, राक्षस भी हो लेते हैं। मनुष्यका मनुष्यत्व तो इसमें है कि वह अपने सुख-दुःखको बिसारकर दूसरेके सुख-दुःखमें अपना सुख-दुःख माने, समझे। और जिस प्रकार अपने ऊपर दुःख पड़नेपर उससे छुटकारेके लिये मनुष्य उत्कंठित हो जाता है, एक क्षणका विलम्ब भी उसके लिये असह्य हो उठता है, ठीक उसी प्रकार दूसरेपर दुःख पड़नेपर भी उसे हल्का करनेके लिये जी-जानसे तत्पर हो जाय और होना तो यह चाहिये कि दूसरोंके दुःखका दंशन हमारे हृदयमें अपने दुःखकी अपेक्षा अधिक तीव्र हो। मनुष्यकी मनुष्यता इसीमें है। नहीं तो, वह पशु है, राक्षस है।

आज समाजमें जो उत्पीडन, अनाचार, अनय, अत्याचारका नंगा नाच हो रहा है, दीन-दुखियों, अनाथ-अनाश्रितों, बेवा-बेकसोंपर जितना कुछ जुल्म ढाया जा रहा है उसका एकमात्र कारण यह है कि मनुष्य भगवान्को और भगवान्की आज्ञाको भूलकर दैवीसम्पत्तिको ठुकराकर और अपने मानव-कर्त्तव्यसे च्युत होकर—एक शब्दमें मनुष्यतासे गिरकर दानवताकी ओर बढ़ रहा है, वह राक्षस हो रहा है। मनुष्य मनुष्यका रक्त पीकर अपनी प्यास बुझाना चाहता है और उसे इस जघन्य कृत्यमें एक दानवी सुखका बोध होता है। क्षुधा और तृषासे आर्त अस्थि-चर्मावशिष्ट नर-कङ्कालोंकी आहोंसे संसारका समस्त वातावरण उत्तप्त और क्षुब्ध हो उठा है। और यह घोर विषमता! यह लोमहर्षक दारुण विरोध! एक ओर तो विलासिताके तुच्छ सामानोंके संग्रहमें धन बहाया जा रहा है और दूसरी ओर निरीह मासूम बच्चा माँड़की एक बूँदके बिना तड़प-तड़पकर प्राण गँवा रहा है। ऊँचे-ऊँचे महल और अट्टालिकाएँ, उनमें होनेवाले हास्य-विलास; मोटर, सिनेमा, नाचघर आदिका मनोरञ्जन और बगलमें ही टूटी, ध्वस्त फूसकी झोपड़ियाँ जिनमें बरसातकी एक बूँद भी बाहर नहीं जाती, भूख और प्याससे बिलबिलाते हुए बच्चे, माँके सूखे स्तनको चूसते हुए, दूधकी एक बूँदके लिये तरसते-तड़पते शिशुका करुणाक्रन्दन और अभागिनी माँका आर्त चीत्कार, भीषण हाहाकार! एक ओर सुख-विलासमें

इतराया हुआ गर्वोन्मत्त मानव, दूसरी ओर दुःख-दारिद्र्यमें डूबा हुआ गरीब नरकङ्काल नर !!

काश मनुष्य 'मनुष्य' होता ! संसार आज कितना सुखी होता ! मनुष्यने अपने आसुरभावसे इस संसारको नरक बना दिया है, नरकसे भी भयानक ! पर-पीड़ा ही धर्म हो रही है ! दूसरोंको सताना और लूटना ही सुखका एकमात्र साधन रह गया है । कहना नहीं होगा कि इस सारे अनर्थोंके मूलमें है भगवद्-विस्मृति, भगवान्के उपदेशकी अवहेलना । भगवान्को भुलाकर उनकी दिव्य वाणीका अनादर कर आज मनुष्य अपने अहङ्कारमें कह रहा है—

ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी ।
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ॥

'मैं ही ईश्वर हूँ, मैं नाना प्रकारके भोग और विलासोंका आनन्द लेनेवाला हूँ, समस्त सिद्धियाँ मेरा पैर चूमती हैं, बल-पराक्रममें मेरा मुकाबला कौन कर सकता है और सुख ? सुखको तो मैं जब चाहूँ, जैसे चाहूँ मनमाना नाच नचाता हूँ । मैं सम्पन्न हूँ, मेरा धनबल और जनबल अपार है । मेरे समान दूसरा है ही कौन ?' इसे विनाशकालकी विपरीत बुद्धिका प्रमाण न समझा जाय तो और क्या समझा जाय ?

दुःखोंसे जलती हुई इस दुनियामें सेवाकी तनिक-सी चेष्टा, आश्वासनका एक शब्द, सहानुभूतिकी एक बात ही हृदयको शान्त और शीतल कर देती है । परन्तु हम ऐसे अधम हैं जो इतना-सा भी नहीं करना चाहते ! जगत्के लिये यह परम सन्तोषका हेतु है कि अभी हमारे बीच ऐसे भगवत्-जन हैं जो दुःखकी चादर ओढ़कर आये हुए भगवान् वासुदेवको ठीक-ठीक पहचान लेते हैं और मन-ही-मन उनका स्वागत करते हुए कहते हैं, 'अच्छा प्रभो ! यदि आप इस रूपमें ही कृपा कर आये तो आपका इसी रूपमें मैं स्वागत कर रहा हूँ । आपके सभी रूप भले लगते हैं । दीन, हीन, कङ्गाल, निरीह और पददलितोंके रूपमें आये हुए मेरे दीनबन्धु हरि ! तुमने सेवाका सुअवसर प्रदान कर मुझे कृतार्थ कर दिया ! भूखमरोंमें छिपे हुए तुम्हीं तो अन्न माँग रहे हो, रोगीके भीतर बैठे तुम्हीं तो सेवा और परिचर्याकी प्रतीक्षा कर रहे हो, बेवा-बेकसोंमें छिपे हुए तुम ही तो समाश्वासनकी बाट जोह रहे हो ! तुमने यह अवसर प्रदान किया यह तुम्हारी अपार कृपा ! परन्तु नाथ ! मुझे बल दो, अपनी दिव्य वाणीका अनुसरण करनेकी शक्ति प्रदान करो । ऐसे नेत्र दो कि मैं तुम्हें इन रूपोंमें देखकर कभी भूल न जाऊँ ! ऐसा हृदय दो कि मैं तुम्हारा ही दिया हुआ और वास्तवमें तुम्हारा ही तन, मन, धन सब तुम्हारी ही सेवामें लगाकर अपनेको तुम्हारा तुच्छातितुच्छ 'जन' प्रमाणित कर सकूँ । मुझमें शक्ति नहीं है । तुम्हीं मुझसे करवा लो नाथ ! अपनी यह सेवा ।

प्रार्थना

निर्विकार निर्लेप नियन्ता निखिल ब्रह्मपर हे स्वामी !
अच्युत अलख अनादि अगोचर हे अनन्त अन्तर्यामी !
सुन्दर मधुर सकल सुखकर मुरली धर अधर बजाते हो ।
द्वेष दम्भ दारुण दुख दरते दीनबन्धु कहलाते हो ॥
लकुट ललाम, ललित लट धारे, लीला लय करनेवाले ।
पावन परम पीतपट पहिने; पापोंके हरनेवाले ॥
केशव कृष्ण किशोर कन्हैया, केवल तुम्हरी है आशा ।
शरण गहेकी लाज रहे, अब हूँ तव दर्शनका प्यासा ॥

—'अरुण'

श्रीगीता-तत्त्व

(लेखक—महात्मा श्रीबालकरामजी विनायक)

श्रीमद्भगवद्गीता भागवत-धर्मका ग्रन्थ है, भक्ति-शास्त्र है। धर्मके पुत्र नर, नारायण—ये ही आदिमें भागवत-धर्मके प्रवर्तक हुए हैं। अर्थात् स्वयं भगवान् ही इसके सर्वे-सर्वा हैं। वर्णाश्रमधर्मकी कठोर नीतिके कारण परमार्थसे वञ्चित हुए लोगोंके कल्याणार्थ भगवान्हीने इस धर्मको प्रवृत्त किया *। भगवान्हीने इस गुह्य तत्त्वका सूर्यनारायणको इसलिये उपदेश किया कि सब प्रकारके, सब योनियोंके जीवोंमें अध्यात्मज्ञानका सरलतासे प्रचार हो जाय। सूर्यने वैवस्वत मनु (वर्तमान समयके मन्वन्तरके अधिपति) को इसका उपदेश किया—जिसका परिणाम यह हुआ कि मानव-सृष्टिमें, इस हृदयके धर्मकी (भागवत-धर्मकी) सबके अन्तःकरणोंमें प्रतिष्ठा हो गयी; सबके हृदयमें प्रेमके उज्ज्वलरूपमें भगवान् ही प्रतिष्ठित हो गये। उसी प्रेमके सोतेसे पातिव्रत्यरूपमें ऐसी गङ्गा बही जिसमें नारी-जाति (वेदसे वञ्चित जाति) का कल्याण हुआ। उनकी प्रेम-निष्ठा, पति-प्रेमकी ऐकान्तिक छटाके सामने बड़े-बड़े वेदज्ञ मुनियोंके जप-तप हलके जँचने लगे। भ्रातृप्रेम, पिताके प्रति प्रेम, गुरुनिष्ठा आदि उसी पवित्र गङ्गाकी भिन्न-भिन्न शाखाएँ हैं। क्योंकि वैवस्वत मनुने अपने पुत्र इक्ष्वाकुको भागवत-धर्मका उपदेश किया। वे ही प्रथमतः नरनायक हुए थे। उनके द्वारा रघुवंशियोंमें एवं निमिवंशियोंमें इस प्रेम-तत्त्वका (गीता-तत्त्वका) अच्छा प्रचार हुआ, जिससे आगे चलकर मिथिलाके रङ्गमञ्चपर परम ज्ञानी जनकराजद्वारा भागवत-धर्मकी अधिष्ठात्री-देवी परमा आह्लादिनी शक्तिका प्रादुर्भाव हुआ। तदनन्तर राम-राज्यके कारण सुप्रतिष्ठित वर्णाश्रमधर्म—'बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेदपथ लोग' के प्रबल प्रवाहमें, इस पृथ्वीलोकमें उस भक्ति-योगका लोप हो गया। भगवान् कहते हैं—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप।

(गीता ४। १-२)

इसका सच्चा अर्थ नारायणीय-धर्मकी समस्त परम्परा देखनेसे स्पष्ट मालूम हो जाता है। ब्रह्माके कुल सात जन्म हैं। इनमेंसे पहले छः जन्मोंकी, नारायणीय-धर्ममें कथित, परम्पराका वर्णन हो चुकनेपर, जब ब्रह्माके सातवें, अर्थात् वर्तमान जन्मका कृतयुग समाप्त हुआ, तब—

त्रेतायुगादौ च ततो विवस्वान्मनवे ददौ।
मनुश्च लोकभृत्यर्थं सुतायेक्ष्वाकवे ददौ॥
इक्ष्वाकुणा च कथितो व्याप्य लोकानवस्थितः।
गमिष्यति क्षयान्ते च पुनर्नारायणं नृप॥
यतीनां चापि यो धर्मः स ते पूर्वं नृपोत्तम।
कथितो हरिगीतासु समासविधिकल्पितः॥

(म० भा० शा० ३४८। ५१-५३)

'त्रेतायुगके आरम्भमें विवस्वान्ने मनुको (यह धर्म) दिया, मनुने लोकधारणार्थ यह अपने पुत्र इक्ष्वाकुको दिया और इक्ष्वाकुसे आगे सब लोगोंमें फैल गया। हे राजन्! सृष्टिका क्षय होनेपर (यह धर्म) फिर नारायणके पास चला जायगा। यह धर्म और 'यतीनां चापि' अर्थात् इसके साथ ही संन्यासधर्म भी तुझे पहले भगवद्गीतामें कह दिया गया है।'

श्रद्धेय लोकमान्य तिलकजीने 'गीता-रहस्य'में उपर्युक्त दोनों परम्पराओंको देकर अपनी अकाट्य युक्तियोंसे सिद्ध कर दिया है कि गीता भागवतधर्मीय ग्रन्थ है—अर्थात् ऐसा भक्तिशास्त्र है जिसका विरोध किसीसे नहीं, मेल सबसे है और जिसमें सम्पूर्ण ब्रह्मज्ञान और भगवदनुरागपरक अपूर्व वैराग्य ओत-प्रोत—भरा है। आपने यह भी कहा है—'यदि इस विषयमें कुछ शङ्का हो, तो महाभारतमें दिये गये वैशम्पायनके इस वाक्य—'गीतामें भागवतधर्म ही बतलाया गया है' (म० भा० शा० ३४६। १०) से वह दूर हो

---

* यह सिद्धान्त नहीं किया जा सकता कि केवल पहले तीन वर्णोंके पुरुषोंको ही मुक्ति मिलती है, प्रत्युत यह देखा गया है कि स्त्री, शूद्र आदि सभी लोगोंको मुक्ति मिल सकती है; तो अब बतलाना चाहिये कि उन्हें किस साधनसे ज्ञानकी प्राप्ति होगी। बादरायणाचार्य कहते हैं—'विशेषानुग्रहश्च' (वे० सू० ३।४।३८)। यह भागवतधर्मपरक है।

जाती है ।' परन्तु 'गीता-रहस्यकार' ने नारदपाञ्चरात्रमें बताये हुए चतुर्व्यूह-प्रकरणको गीताशास्त्रके विरुद्ध बतलाया है । इसपर इतना ही कहना है कि उस प्रसङ्गको सृष्टि-विकासकी ओर न खींचकर अद्वैतवादियोंकी प्रिय उपनिषद् 'माण्डूक्योपनिषद्' की चार अवस्थाओंके विभु-प्रकरणके साथ विचार करने और श्रीरामावतारके श्रीराम (वासुदेव), श्रीलक्ष्मण (सङ्कर्षण), श्रीभरत (प्रद्युम्न) और श्रीशत्रुघ्न (अनिरुद्ध) के चरित-विशेषपर मनन करनेसे अच्छा समाधान हो जाता है और गीतामें प्रतिपादित भागवतधर्मके अनुकूल हो जाता है। बढ़ते हुए साम्प्रदायिक द्वेषको रोकनेके लिये यह आवश्यक हो गया है कि निष्पक्षविचारक संतजन इसपर ध्यान दें और अपनी स्वाभाविक शान्तिके साथ विचार करके इसकी सङ्गति उपर्युक्त रीतिसे लगा दें । गीताजीमें चार महापुरुषोंकी चर्चा है, यथा—(१) स्थितप्रज्ञ पुरुष, (२) त्रिगुणातीत पुरुष, (३) भक्तिमान् पुरुष और (४) निष्कामकर्मयोगी पुरुष । इन्हींको प्रकारान्तरसे चतुर्व्यूह समझ लीजिये तो अच्छी सङ्गति लग जाती है ।

कुछ ज्ञानी यह कहा करते हैं कि वेदमें भक्तिवाद नहीं है, परन्तु उनका कहना ठीक नहीं है । शाण्डिल्य-सूत्रके टीकाकार स्वप्नेश्वराचार्यने छान्दोग्य उपनिषद्से एक मन्त्र उद्धृत किया है । उसमें 'भक्ति' शब्दका व्यवहार न होनेपर भी भक्तिवादका सार-मर्म निहित है । वह मन्त्र है—'आत्मैवेदं सर्वमिति स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवतीति ।' अर्थात् (पहले जो कुछ कहा गया है) आत्मा यह सभी है । जो इसे देखकर, इसे सोचकर, इसे जानकर, आत्मामें रत होता है, आत्मामें खेलता है, आत्मा ही जिसका मिथुन (सहचर) है, आत्मा ही जिसका आनन्द है, वह स्वराट् है, अपना राजा या अपने द्वारा रञ्जित होता है । यह यथार्थ भक्तिवाद है । इस मन्त्रके ऋषि सूत्रकार शाण्डिल्य ही हैं । महर्षि घोरआङ्गिरस और देवकीपुत्र श्रीकृष्णका वैदिक प्रसङ्ग भी भक्तिपरक ही है और उसी उपदेशका विकास गीतामें हुआ है ।

गीता-तत्त्वके व्याख्याता स्वयं भगवान् ही हैं और भगवान् सर्वत्र व्यापक हैं । इसलिये गीता-ज्ञान भी सर्वत्र व्यापक हो गया । क्या सनातनी, क्या जैनी, क्या बौद्ध, क्या मूसाई, क्या ईसाई, क्या मुहम्मदी—सभी नररूपधारी भगवान्‌को माननेवालोंमें जो भक्ति-तत्त्व है, वह गीताहीका है । 'आगे विचित्र घटना' के पठनसे यह बात प्रकट हो जायगी ।

विचित्र घटना

भगवान् बुद्धके अवतारसे बहुत पहलेसे ही भागवत-धर्मका प्रचार चला आ रहा था । सनातनी विचारसे तो अनादिकालसे किन्तु लोकमान्य तिलकमहाराजकी विवेचनाके अनुसार १४०० वर्ष पहलेसे तो उसका प्रचार हो ही चुका था । अस्तु, बुद्ध भगवान्‌के निर्वाणके पश्चात् जो निर्मल भक्तिकी धारा जनताके हृदयमें उदय हुई, उससे प्रेरित होकर घर-घर भगवान् बुद्धकी मूर्तिकी अनेक रूपसे प्रतिष्ठा हो गयी और ठीक भागवत-धर्मीय रीतिसे बिना सोचे-समझे पूजा भी जारी हो गयी । यह ऐसी लहर थी जिसका प्रतिबन्ध करना काल-कर्मके लिये भी असम्भव था । विचारशील बौद्धाचार्य—जैसे सुप्रसिद्ध नागार्जुनजी इस प्राकृतिक परिवर्तनपर गम्भीरतापूर्वक विचार करने लगे । उन्होंने यह निश्चय किया कि वास्तवमें यह प्राकृतिक परिवर्तन भगवान् बुद्धकी ही अद्भुत लीला है । क्योंकि भगवान् बुद्धने दया करके अपनी 'उपायचातुरी' से इस भक्तिमार्गको निर्मित किया है (सद्धर्म-पुण्डरीक ३ । ४) । यह गुप्त-तत्त्व है और महायान है ।

वहींपर भागवत-धर्मीय श्रीवासुदेवोपासक श्यामभद्रजी रहते थे । सिद्ध नागार्जुनजीमें और उनमें सौहार्दसम्बन्ध बहुत दिनोंसे स्थापित था । श्यामभद्रजी संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओंके पण्डित, सदाचारी, मिताहारी, मितभाषी और राग-द्वेषरहित ब्राह्मण थे । वे श्रीमद्भगवद्गीताका पाठ मन-ही-मन सदा करते रहते थे और उन्हें नर-नारायणके दर्शन उभयरूपसे प्रत्यक्ष होते थे । ऐसे सुहृद्, निर्दम्भ, सात्त्विक महात्माके समक्ष एक दिन नागार्जुनजीने उपरिलिखित प्रश्नको उपस्थित किया । श्यामभद्रजीने उस प्रश्नके समाधानमें कहा—'भगवान् बुद्धकी शिक्षाएँ जो संग्रह की गयी हैं, उनके तात्पर्यको समझना बहुत कठिन है । पहले तो इसीपर विचार कीजिये—'बुद्धं शरणं गच्छ', 'सङ्घं शरणं गच्छ' इन साङ्केतिक मन्त्रोंका क्या तात्पर्य है ! यह नररूपधारी भगवान्‌की पूजा-आराधना नहीं है तो और क्या है ! मानवरूप भगवान् ही भागवत-धर्मके इष्ट हैं, क्योंकि भागवत-धर्म प्रत्यक्षवादी धर्म है, जैसे ज्योतिष्शास्त्र ही सब शास्त्रोंमें प्रत्यक्ष शास्त्र है । अब इस घटनासे आप लोग भी अपनेको भागवत-धर्मावलम्बी उसी तरह स्वीकार कीजिये

जिस तरह सैकड़ों वर्ष पहलेसे ही जैनाचार्योंने स्वीकार किया है। श्रीमद्भागवतमें पहलेसे ही भगवान् बुद्धको नवम अवतार माना है। महर्षि व्यासदेवकी वाणी प्रमाण है, इसका अनुभव आज आप लोगोंको प्रत्यक्ष हो रहा है। अस्तु, जब उपनिषदोंमें प्रतिपादित वैराग्य, कामना और वासनाका त्याग, जन्म-मरणका चक्र एवं ब्रह्मा, इन्द्र, महेश्वर, ईश्वर, यम आदि अनेक देवता और उनके भिन्न-भिन्न स्वर्ग, पाताल आदि लोकोंका अस्तित्व भगवान् बुद्धको मान्य है, तब अपने जीवन-कालमें अपने भगवदीय तत्त्वको छिपानेके लिये यदि विज्ञानवादका समर्थन भगवान्‌ने किया है तो यह भी उपासकोंकी दृष्टिमें भगवान्‌की अद्भुत लीला ही है। असली बुद्धका कभी नाश नहीं होता, वह तो सदैव ही अचल रहता है; तब सब उपनिषदोंके सार गीता-तत्त्वके अनुसार क्यों न कहा जाय कि असली बुद्ध सारे जगत्‌का पिता है और जन-समूह उसकी सन्तान हैं, अतएव वह सभीके लिये समान है। न वह किसीपर प्रेम ही करता है और न किसीसे द्वेष ही करता है; धर्मकी व्यवस्था बिगड़नेपर वह 'धर्मकृत्य' के लिये समय-समयपर बुद्धके रूपमें प्रकट हुआ करता है। तब इन देवादिदेव बुद्धकी भक्ति करनेसे, उनके ग्रन्थोंकी पूजा करनेसे और उनके डागोवाके सम्मुख कीर्तन करनेसे अथवा उनके चरणोंमें भक्तिपूर्वक दो-चार कमल या एक फूल समर्पण कर देनेहीसे मनुष्यको सद्गति प्राप्त होती है, इसमें तो कुछ सन्देह नहीं। किसी मनुष्यकी सम्पूर्ण आयु दुराचरणोंमें क्यों न बीत गयी हो, परन्तु मृत्युके समय यदि वह बुद्धकी शरणमें चला जाय तो उसे स्वर्गकी प्राप्ति अवश्य ही होगी। क्योंकि 'तेविज्जसुत्त'में स्वयं भगवान् बुद्धने 'ब्रह्मसहव्यताय' स्थितिका वर्णन किया है और 'सेलसुत्त' तथा 'थेरगाथा' में उन्होंने स्वयं कहा है कि 'मैं ब्रह्मभूत हूँ' (सेलसु० १४; थेरगा० ८३१)।

यह समाधान करते-करते परम भागवत श्यामभद्रको आवेश आ गया। आँखें तन गयीं, सामने ज्योति जगमगा उठी। उस प्रकाशपुञ्जसे विचित्र ध्वनि भी निकलने लगी। सिद्ध नागार्जुन सावधान थे। ध्वनिके स्पष्टार्थको समझनेकी उत्सुकता बढ़ती जाती थी। परन्तु उस ज्योतिने सीधे श्यामभद्रके मुखमण्डलको आवृत किया—उसी तरह ढक लिया जिस तरह सुषुप्तिमें अज्ञान चित्स्वरूपको ढक लेता है। और वह दिव्य ध्वनि उनके कर्णरन्ध्रोंसे होकर अन्तः-करणमें प्रवेश कर गयी। वहाँ उसने परामें प्रवेश किया; फिर अपरा, मध्यमा और पश्यन्तीको मँझाती हुई वैखरीमें पहुँची। कण्ठ खुल गया। वर्णात्मक ध्वनि निकली—'मैं राहुल हूँ, भगवान् बुद्धका उत्तराधिकारी।'

नक़शा पलट गया। नाम बदल गया। अब श्यामभद्रसे 'राहुलभद्र' हो गये, तबसे इसी नामसे प्रसिद्ध हुए। महायान (अर्थात् भागवत-धर्म) सम्प्रदायके ये ही प्रवर्त्तक और आचार्य हुए। उसी समय सिद्ध नागार्जुन उनके शिष्य हो गये। अनन्तर भागवत-धर्मके तीनों प्रस्थानोंसे सम्पन्न होकर उन्होंने गीता-तत्त्वका—नर-रूपधारी भगवान्‌की आराधनाका भक्ति-मार्ग सम्पूर्ण भूमण्डलमें प्रसिद्ध और प्रचारित कर दिया। राहुलभद्रकी अध्यात्मशक्तिका प्रभाव देखिये कि ऐसे-ऐसे धुरन्धर प्रचारक इस सम्प्रदायमें उत्पन्न हुए, जिन्होंने जल-थलकी सब बाधाओंपर विजय प्राप्त करते हुए पृथ्वी-गोलकको छान डाला, सर्वत्र धर्मका प्रचार किया। इस धर्मने एक ऐसा अद्वितीय सम्प्रदाय विकसित किया, जिससे शासित होकर 'आर्य-सत्य' और 'शील' खूब फूले-फले।* अनन्तर राहुलभद्रको एक दिन स्वप्नमें माता यशोधराने दर्शन देकर कहा—'वत्स, चलो, अब धर्म-प्रचारके लिये विदेशों-में जन्म धारण करें।' इस स्वप्नके बाद राहुलभद्रने सिद्ध नागार्जुनको धर्ममें निष्ठित करके शरीरत्याग कर दिया।

यवन डियनका पुत्र हीलियोडोरस, यवनराज एन्टिआ-ल्किड्सका दूत—जो विदिशाके राजा काशीपुत्र भागभद्रके यहाँ रहता था—भागवत-धर्मानुयायी था। वह भगवान् वासुदेव-का बड़ा भक्त था। उसने वासुदेव-मंदिरमें अपनी श्रद्धासे

---

* Dr. Kern says in the 'Manual of Indian Buddhism':—Not the Arhat, who has shaken off all human feeling, but the generous, self-sacrificing, active Bodhisattva is the ideal of the Mahayanists and this attractive side of the creed has, more than anything else, contributed to their wide conquests. Mahayanism lays a great stress on Devotion, in this respect as in many others harmonizing with the current of feeling in India which led the growing importance of *Bhakti*.

गरुड़-ध्वज स्थापित किया था।* भारतीय उसे हलधरदास कहते थे। वह कुछ-कुछ संस्कृत भी जानता था; उपनिषद्, वेदान्तसूत्र और भगवद्गीताको उसने परिश्रमपूर्वक पढ़ा था। वह एक ब्राह्मणसे महाभारतकी कथा सुना करता था। प्राकृत भाषाका तो वह पण्डित ही था। उसने अपने शिला-लेखको स्वकल्पित स्वतन्त्र भाषामें लिखकर यूनानी प्राकृतको जन्म दिया था। एक दिन वह राजा भागभद्रकी सभामें बैठा हुआ ही समाधिस्थ हो गया। उसके मुखमण्डलपर अपूर्व तेज छा गया। राजा टकटकी लगाये देखते रहे। समाधिभङ्ग होनेपर उसने कहा कि—'राजन्! अब मैं अपने देशको जाऊँगा और वहाँसे यहूदियोंके देशमें जाकर उस यज्ञकर्मप्रधान जातिमें भक्तितत्त्वका प्रचार करूँगा। मुझे भगवान्‌की ऐसी ही आज्ञा हुई है।' इस समाचारको सुनकर सभासद्‌समेत राजा विस्मित हुए। कुछ कहना चाहते थे, किन्तु न कह सके।

हीलियोडोरस अपने देशको गया। वहाँ उसने 'ऐशकम्मिन' लोगोंका एक दल बनाया। भारतीय भागवत 'ऐश-धम्मा' को उसका मुखिया बनाया। यह भागवत-धर्मीय संन्यासी बड़ा पराक्रमी था। वह बीसों वर्षसे प्रति-वर्ष यहूदियोंके देशमें जाता था† और कुछ दिन रहकर अपने धर्मका प्रचार करता था। वह यहूदी-भाषाका पण्डित हो गया था। ऐसे निष्काम योगीके नेतृत्वमें और हीलियोडोरस-जैसे भागवतकी प्रेरणासे यह दल लाल-सागरके निकट पहुँचा। मार्गमें महायान-सम्प्रदायी बौद्ध भिक्षु भी मिल गये थे। इन लोगोंने वहाँसे प्रस्थान कर मृतसमुद्र (Dead Sea) के पश्चिमी किनारेपर एंगुंदीमें अपना प्रधान मठ स्थापित किया। धीरे-धीरे यहूदीलोग श्रद्धापूर्वक इस मठमें दीक्षा और शिक्षाके लिये आने लगे।

भागवत ऐश-धम्माने 'ऐशी, एसी अथवा एसीन' नामक संन्यासप्रधान भक्तिमार्गका प्रचार किया। मीमांसा-शास्त्रानुसार कर्मके 'सहज', 'ऐश' और 'जैव'—तीन भेद हैं। सहज कर्मद्वारा ब्रह्माण्ड-गोलककी जडमयी सृष्टि उत्पन्न होती है। उस जडतामें चैतन्यका योग लानेके लिये 'ऐश-कर्मप्रवाह'-आरम्भ हो जाता है और उसके द्वारा विशाल दैवी राज्य (Kingdom of God) उत्पन्न हो जाता है। जिस तरह ब्रह्माण्डमें, उसी तरह पिण्डमें भी 'ऐशकर्म-प्रवाह'—भागवत-कर्म, ईश्वरीय-कर्मप्रवाहसे, भगवद्भजनसे, बैजी (मैथुनी) सृष्टिवाले जीवोंका अतिशय कल्याण होता है। 'ऐश-कर्म' के विषयमें भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

ऐशीमतमें यहूदियोंको तुरंत दीक्षा नहीं दी जाती थी। तीन वर्षतक लगातार संयमित जीवन बितानेपर और कठिन प्रतिज्ञा करनेके अनन्तर उन्हें दीक्षा दी जाती थी। इसलिये चुने हुए लोग, सच्चे जिज्ञासु ही इस मतमें प्रविष्ट हो सकते थे। दीक्षाके प्रार्थीसे कहा जाता था—(१) शान्त स्थानमें बैठकर परमेश्वरके चिन्तनमें समय बिताना, (२) हिंसात्मक यज्ञ-याग कभी न करना, (३) नैष्ठिक ब्रह्मचारी रहना, विवाह कभी न करना, (४) जीवन-निर्वाहके लिये यदि कुछ उद्योग करना पड़े तो खेती करना उत्तम है, (५) मद्य-मांसको छूना नहीं, (६) हिंसा मनसा-वाचा-कर्मणा कभी न करना, (७) शपथ मत खाना, (८) सङ्घके साथ मठमें रहना और (९) यदि किसीसे कुछ द्रव्य प्राप्त हो तो उसे सङ्घकी सम्पत्ति समझना, अपनी नहीं। इन नौ नियमोंका पालन तीन वर्षतक करनेके अनन्तर जिज्ञासुको दीक्षा दी जाती थी। दीक्षाके पहले स्नान कराया जाता था और (१) दैन्यभाव, (२) सहनशीलता

* वेसनगर (विदिशा) के गरुड़ध्वजका सिन्दूर उतर जानेसे उसपर एक बड़े महत्त्वका लेख सर जान मार्शलके हाथ लगा। डाक्टर फोजलने १९०८-९ के 'ऐनुअल आफ दी डायरेक्टर जनरल आफ आर्कियालाजी इन 'इंडिया'में छपवाया है। शुद्ध पाठ इस प्रकार है—

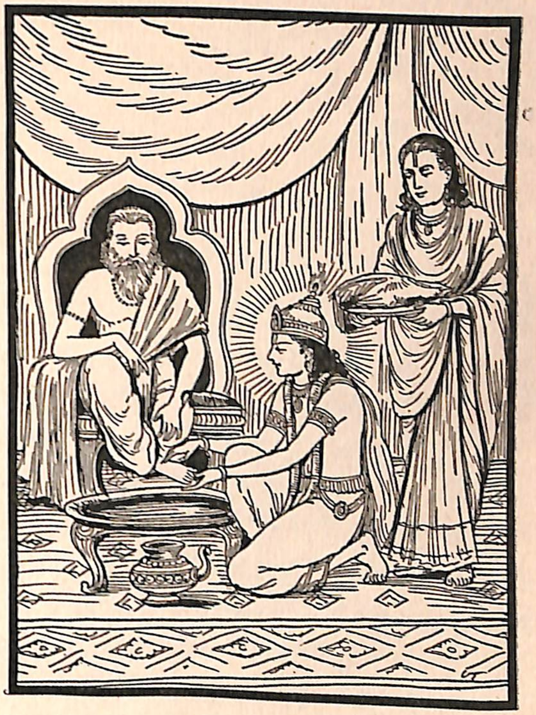
(१) देवदेवास वा [सुदे] वस गरुड़ध्वजे अयं (२) कारितो हिलिओदोरेणा भाग (३) वतेन दिवसपुत्रेण ताक्ष-शिलाकेन (४) योनदूतेन आगतेन महाराजस (५) अ [ं] तलि [ि] कतस उपंता सकासं रञो (६) कासीपुतस भागभद्रस त्रातास (७) वसेन चतुदसेन राजेन वधमानस॥

अर्थ यह है कि तक्षशिलाके निवासी दियाके पुत्र, भागवत हिलियोदोर, योनदूतने, जो राज्यके चौदहवें वर्षमें विराजमान राजा काशीपुत्र भागभद्र त्राताके यहाँ महाराज अंतलिकितके पाससे आया हुआ था, देवदेव वासुदेवका यह गरुडध्वज बनवाया।

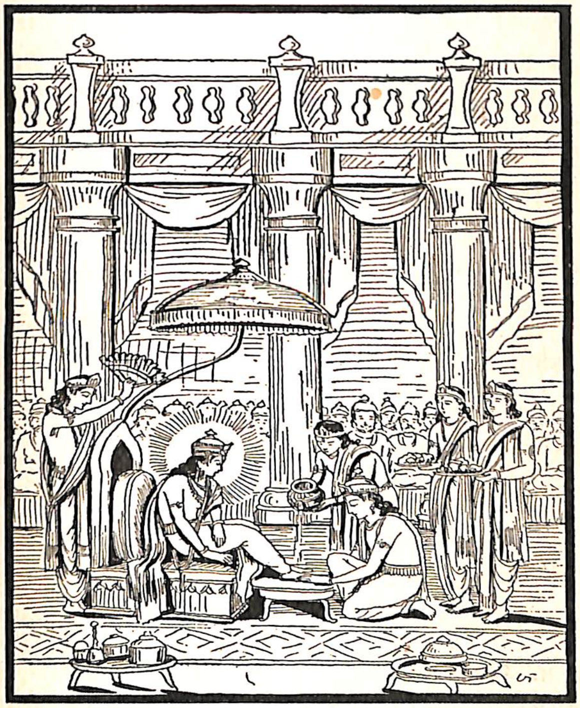
† See Plutarch's Morals—Theosophical Essays, translated by C. N. King, pp. 96-97.



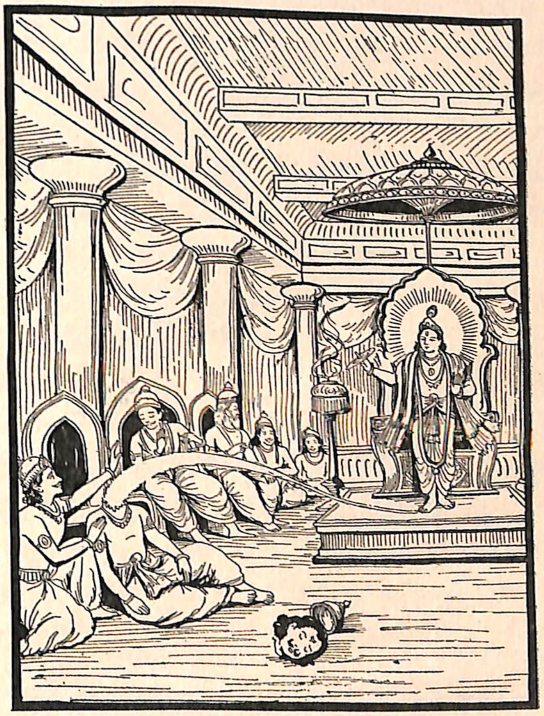
राजाओंकी बन्धन-मुक्ति



चरण-प्रक्षालन

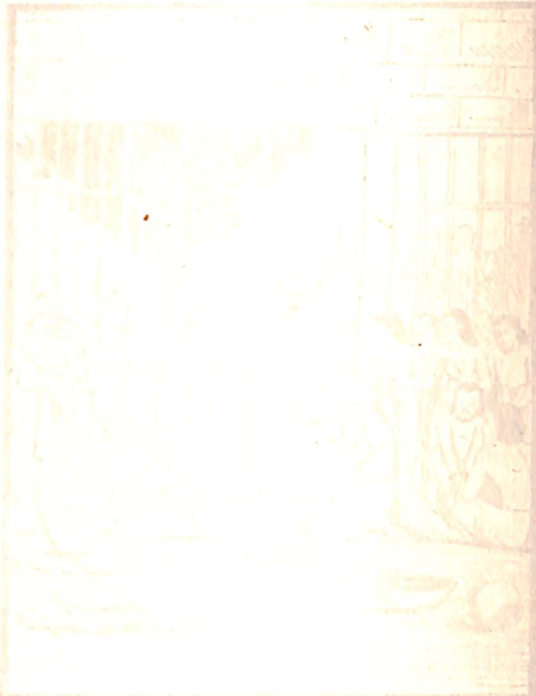


अग्रपूजा

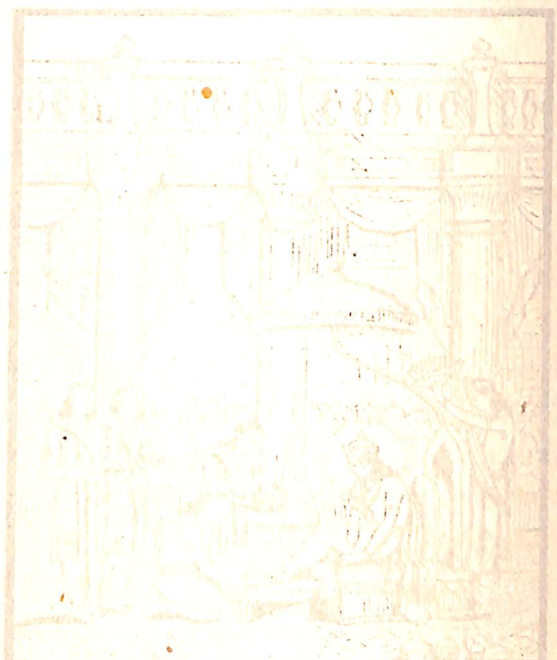


शिशुपाल-उद्धार









एवं (३) दयाभावसम्बन्धी प्रतिज्ञाएँ करवायी जाती थीं। उस समयका दृश्य अपूर्व होता था। भगवान्‌में अटल प्रीति और प्रतीतिकी लहर सच्चे अन्तःकरणसे निकलकर दिशा-विदिशामें व्याप्त हो जाती थी। सबका हृदय भगवत्-चरणारविन्दोंमें अर्पित होनेके लिये उतावला हो उठता था। दीक्षा प्राप्त होनेके पश्चात् नामकरण होता था और वह सङ्घमें सम्मिलित कर लिया जाता था। इस प्रकार सङ्घका प्रचार यहूदियोंमें, देशभरमें, पर्याप्तरूपसे हो गया। एंगुंदी-मठका भी सम्पूर्ण अधिकार यहूदी भक्तोंको मिल गया और भारतीय प्रचारक परम भागवत ऐश-धम्मा अपने दलके साथ ईरानको चले गये। वहाँ जाकर शीराज़में उन्होंने अपना मठ स्थापित किया। वेदान्त-परिभाषाका उल्था पहलवी भाषामें हुआ और हीलियोडोरस भागवतकी प्रेरणासे उसका नाम 'तसउफ़' रक्खा गया। उसीपर सूफ़ीमतकी स्थापना हुई।

विक्रम संवत् ४०में गालील-झीलके पश्चिमी तटपर एक शिशु-कन्या लहरियोंसे खेलती हुई पायी गयी। एक दयालु व्यक्तिने उसे निकालकर पाला-पोसा। उसका नाम मरियम रक्खा। वह बचपनसे ही एकान्त पसंद करती थी। वह न किसीसे बात करना चाहती थी, न मिलना-जुलना। उसके मनमें किसी वस्तुकी इच्छा ही न थी। सयानी हुई, तब भी वही ऐकान्तिक रंग-ढंग। उसने विवाह नहीं किया, ऐशी-पंथकी शिक्षाके अनुसार। परन्तु विक्रम संवत् ५३में वह पुत्रवती हुई और उसके ही जठरसे खुदावंद ईसू-मसीहका जन्म हुआ। मरियमके चरित्रके सम्बन्धमें किसीको भी सन्देह न हुआ। सबने इसको अलौकिक घटना माना। क्योंकि ऐशी-पंथके लोगोंको इसका रहस्य पहलेहीसे मालूम था और वे यर्दन नदीके आस-पास तप करनेवाले तपस्वी योहनके द्वारा लोगोंको आनेवाले मसीहको स्वीकार करनेके लिये तैयार करा रहे थे। इतनेमें ईरानसे ऐश-धम्माके अनुयायियोंका एक दल पहुँचा। भागवत हीलियोडोरसके नाती निगारियसके नेतृत्वमें यह दल आया था। शिशुके आगे भेंट चढ़ानेके पश्चात् इस दलने पहला काम यही किया कि ४०वें दिन, मरियमके सूतिकागृह-त्याग और बच्चेको सुलेमान-के मन्दिरमें ले जाने और आशीष प्राप्त करनेके अनन्तर, शिशु परिवारको गुप्तरीतिसे मिश्रमें पहुँचा दिया। जबतक यहूदियोंका बादशाह हिरोद मरा नहीं, तबतक माता मरियम अपने प्यारे शिशुके साथ मिश्र देशमें ही रहीं। जब मसीह बारह वर्षके हुए, तब निगारियसके साथ अनेक देशोंका भ्रमण करते हुए वे भारतके तक्षशिला प्रदेशमें पहुँचे। भागवत निगारियसकी संरक्षामें उन्होंने भागवत-धर्मका अच्छा अध्ययन किया। पूर्व संस्कारकी जागृति हुई।* श्रीमद्भगवद्गीता, धम्मपद और सद्धर्म-पुण्डरीक—यही तीनों ग्रन्थ उनके अध्ययनके विषय थे। उन्होंने मुनि योगश्रीसे योगाभ्यास भी सीखा, समाधि लगा सकनेतककी योग्यता प्राप्त कर ली। इसी तरह उन्होंने दिव्य उपासक श्रीरङ्गजीसे पञ्चरसात्मिका भक्तिका रहस्य-ज्ञान और अनुष्ठान-क्रम भी प्राप्त करके वात्सल्य-रसात्मिका भक्तिका अनुसरण किया और रससिद्ध हुए। भगवान्‌ने प्रकट होकर उन्हें 'वत्स' कहा। तबसे भगवान्‌में उनकी निर्भ्रान्त दृढ निष्ठा हो गयी। इस प्रकार आध्यात्मिक सामग्रियों और सम्पत्तियोंसे सम्पन्न होकर और भागवत निगारियसको बार-बार धन्यवाद देकर खुदावंद ईसूमसीह अकेले स्वदेशको लौट गये। भगवदीय प्रेरणासे अनुशीलित होकर उनको ऐसा करना ही पड़ा। किसीसे मिले नहीं कि लोग रोक लेंगे, जाने न देंगे। नासरतमें पहुँचनेपर अपने घरपर माता-पिताके आश्रयमें रहने लगे, परन्तु परम पिताको नहीं भूले। तीस वर्षकी अवस्थातक वे उसी ग्राममें रहे। तीसवें वर्ष उन्होंने साधु 'योहन'से (जिसकी चर्चा पहले हो चुकी है) बपतिस्मा लिया। जब वह बपतिस्माके लिये यर्दन नदीमें स्नान कर रहे थे, उसी समय एक ईश्वरीय दिव्य ज्योतिने उनके शरीरमें प्रवेश किया। उसी आवेशकी अवस्थामें वे वहाँसे जङ्गलको चले गये और ४० दिनोंतक भूखे-प्यासे तपस्यामें लीन रहे। केवल उस अलौकिक तेजोबलसे यह तपस्या हुई। उस तेजसे पराभूत होकर हिंस्र जन्तु भी पलायमान हो गये थे। सोना जब अग्निमें तपाया जाता है, तभी वह निखरता है, उसमें तेजस्विता आती है; उसी तरह आध्यात्मिक निखारके लिये रामजी अपने भक्तोंको खूब तपाते हैं, देहाभिमान छुड़ानेके लिये भक्तोंकी अग्नि-परीक्षा लेते हैं, और कसौटीपर कसकर खरा स्वर्ण लोगोंको दिखा देते हैं। तब वह भक्त 'महापुरुष' कहलाता है। वह पृथ्वीपर भगवान्‌का प्रतिनिधि समझा जाता है। इसी अग्नि-परीक्षाके लिये वे

* नैपालके एक बौद्धमठके ग्रन्थमें मसीहके भारतागमनका स्पष्ट उल्लेख है। यह ग्रन्थ निकोलस नोटोविश नामके एक रूसीके हाथ लग गया था। उसने इसका अनुवाद फ्रेंचभाषामें सन् १८९४ ई० में प्रकाशित किया था।

भारतसे खींचकर नासरतमें लाये गये। तपके अनन्तर जब वे धर्मोपदेश करने लगे तब स्वग्रामवासियोंने उन्हें मार भगाया। फिर वे लौटकर अपने ग्रामपर नहीं गये। घूम-फिरकर सिर-इशलीममें रहते थे। उपदेश देनेके अतिरिक्त उन्होंने भगवत्प्रेरणासे कुछ चमत्कार भी दिखलाये। मुरदेको जिलाया, रोगियोंको चंगा किया, अंधोंको आँखें दीं, कितनोंको प्रेतमुक्त किया, पानीको मदिरा बनाया, केवल पाँच रोटियोंसे पाँच हज़ार लोगोंको खिलाया। इसपर यरूशलीमके पुरोहित बिगड़ गये और उनके जानी दुश्मन बन गये। मसीह देहातोंमें भ्रमण करके उपदेश देने लगे। उपदेशका सार यह था—'हमें हिंसात्मक यज्ञ नहीं करना चाहिये; मैं ईश्वरकी कृपा चाहता हूँ। ईश्वर तथा द्रव्य दोनोंको साथ लेना सम्भव नहीं। जिसे अमृतत्वकी प्राप्ति कर लेनी हो, उसे पुत्र, कलत्र सबकी ममता छोड़कर—'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'—मेरा भक्त होना चाहिये। उस दिन तुम जानोगे कि मैं अपने पितामें, तुम मुझमें और मैं तुममें हूँ। जो मुझपर प्रेम करता है, उसीपर मैं प्रेम करता हूँ। तू अपने पड़ोसियों और शत्रुओं-पर भी प्रेम कर।' ये गीता और धम्मपदके उपदिष्ट तत्त्व स्वार्थमें सने हुए यहूदियोंकी समझमें कैसे आवें। ईसाने देखा कि कोई उन्हें माननेको तैयार नहीं है। क्या नासरत, क्या गालीलके बाशिंदे, क्या कफर्नाहुम और क्या बथसैदाके मछुए, किसीके यहाँ इनकी रसाई नहीं हुई। सब जगहसे उन्हें निराश होना पड़ा। रह गये बारह चेले। इनमेंसे तीन ही अर्थात् जेम्स, जान और पिटर प्रिय शिष्य थे। ये पुरातन राहुलभद्रके विश्वासपात्र अनुयायी थे। ये धर्म-प्रचारार्थ इस देशमें जन्मे थे; और राहुलभद्रका जानी दुश्मन यादव अपना बदला लेनेके लिये यहूदा नामसे जन्मा था और ईसाकी शिष्यमण्डलीमें भरती हो गया था।

ईसाने हर जगहसे निराश हो, तैंतीस वर्षकी आयुमें अपने चेलोंसमेत यरूशलीमकी आखिरी यात्रा की। यहूदियोंके जातीय त्योहार 'निस्तारपर्व' की धूम थी। यह एक अठवारेका त्योहार था। सुलेमानके मन्दिरमें यात्रियोंकी अपार भीड़ थी। ईसा भी, जो पास ही कुछ समयके लिये अपने मित्र लजेरसके यहाँ बैथनियनामक कसबेमें ठहरे हुए थे, रविवारके दिन अपने चेलोंसहित एक जलूसके साथ यरूशलीम पहुँचे। दिनभर वहाँ मन्दिरमें उपदेश देकर रात जैतून-पर्वतपर भगवत्-भजनमें बितायी। सोमवार और मङ्गलवार भी यरूशलीममें उपदेश देते बीते। हाँ, रात शहरके बाहर ही कटती थी। इसी मङ्गलके दिन यहूदी पुरोहितोंसे आखिरी अनबन हुई और इसी समयसे उनका षड्यन्त्र भी शुरू हुआ। यहूदा केवल तीस रुपयोंके बदले ईसाको फँसा देनेको राज़ी हो गया। बुधका दिन ईसाने ईश्वरके ध्यानमें बिताया, यरूशलीमका जाना बंद रक्खा और बृहस्पतिवारको निस्तारपर्वकी अन्तिम तैयारी की। रातको चेलोंसमेत आखिरी भोजन किया गया। वहींसे यहूदा तो पुरोहितोंके यहाँ निकल भागा और ईसा चेलोंसमेत चाँदनीमें शहरके बाहर गेत्त-शिमनीके बागमें निकल आये। वहाँ चेले तो सो गये, पर ईसाने तीन घंटे बड़ी यातना-यन्त्रणासे काटे। आखिर इन्हें नैसर्गिक शान्ति मिली। इधर बेवफ़ा यहूदा भी पुरोहितोंके झुंडके साथ आ धमका। ईसाको गिरफ्तार कर शहरके अंदर ले गये। चेलोंकी बुरी गति हुई। कुछ तो भाग निकले और कुछ छिप-लुककर तमाशा देखने लगे। पकड़ानेके डरसे खुद पीटरने, जो पीछे एक बड़ा महंत कहलाया, ईसासे तीन दफे इन्कार किया। पुरोहितोंने ईसाकी बड़ी बेइज्जती की, मारा-पीटा-घसीटा और अन्तमें शुक्रवारके दिन न्यायका ढोंग रचकर एक निरपराध संतकी जान ली! दोपहर होते-होते इन लोगोंने शहरके बाहर गलगथामें ले जाकर ईसाको सलीबपर चढ़ा दिया। ईसाने इस अवसरपर प्राणायाम साधकर समाधि लगा ली। सन्ध्या होनेके पहले ही युसफ नामके एक भले आदमीने बड़ी हिम्मत करके पास ही अपने बाग़में क़ब्र दी। कड़ा पहरा रहनेपर भी, रविवारके सबेरे क़ब्रसे लाश लापता हो गयी। समाधि भङ्ग हुई, ईसा-मसीह जी उठे। योगबलसे अन्तरिक्षमें अलक्षित रहते हुए उन्होंने ४० दिनतक वास किया। इस बीचमें उनके भक्तों और चेलोंने कई बार दर्शन पाये और उपदेश सुने। अनन्तर वे भारतको चले आये। काश्मीरके पवित्र पहाड़ोंमें रहकर भजन करते रहे और चौंसठ वर्षकी अवस्थामें सबके देखते-देखते सदेह स्वर्गको चले गये।

उधर यरूशलीम तथा कुचक्रियोंपर खुदाकी मार पड़ी। निरपराध खुदाके बेटेकी हत्यामें जो-जो शामिल थे, सब बेमौत मरे। यहूदियोंका वह पवित्र शहर भी रोमनोंके हाथसे तबाह हुआ। उनके खुदाके मन्दिरके रोड़े-रोड़े ढह गये, हजारों-लाखों यहूदियोंकी जानें गयीं और उनकी

जातीयता और उनका जातीय राष्ट्र तो इस तरह तबाह हुआ कि नामोनिशान भी न बचने पाया ! अपना कहनेको उन्हें कोई जगह न रही । आज प्रायः दो हजार वर्ष बीत चुके हैं, फिर भी वे मारे-मारे फिरते हैं । संतके अपमानका फल उन्हें हाथों-हाथ मिल गया । जिस तरह पुराकालमें भक्तराज विभीषणके अपमान करनेका फल रावण आदि राक्षसोंको भोगना पड़ा था और जिस तरह भगवान् श्रीकृष्ण-का अपमान करनेसे दुर्योधन आदि कौरवोंका नाश हुआ था, उसी तरह यहूदियोंकी दुर्दशा हुई—

जो अपराध भगत कर करई । राम रोष पावक सो जरई ॥

इस वृत्तान्तको इतने विस्तारके साथ लिखनेका हेतु यह है कि गीता और बाइबलके जो सैकड़ों अर्थ-सादृश्य और शब्द-सादृश्य दृष्टिगोचर होते हैं, उसका कारण क्या है ? इससे निश्चय हो जाता है कि गीताके तत्त्वोंके समान जो कुछ तत्त्व ईसाइयोंकी बाइबलमें पाये जाते हैं, उन तत्त्वोंको स्वयं ईसाने गीता और बौद्धधर्महीसे बाइबलमें लिया है । क्योंकि वे भारतीय भागवत-धर्मके अनुयायी थे । इस लेखसे हमारे 'कल्याण' के पाठकोंको संत ईसाका, हिन्दू दृष्टिकोणसे, असली जीवन-वृत्तान्त विदित हो जायगा, जो लद्दाखकी गुहामें सुरक्षित शाक्तागमने ४९वें परिच्छेदके तीसरे अध्यायमें अङ्कित है ।

एक दोहेमें गीता

(लेखक—'श्रीविन्दु' ब्रह्मचारी)

निज स्वरूप मोहि जानि कै सुमिरत रत इकतार ।
धर्म आपनो निर्वहै यहि हरिगीता-सार ॥

द्वैतपरक अर्थ—

'निज स्वरूप' मोहि जानि कै । अपना स्वरूप (जीव-स्वरूप) और मेरा स्वरूप (ईश-स्वरूप) अथवा निज-स्वरूप अर्थात् अपना सर्वस्वरूप मुझे जानकर ।

सुमिरत रत इकतार । अभङ्ग तदाकारवृत्तिसे अनुराग-पूर्वक तल्लीन (रत) होकर मेरा स्मरण करता हुआ ।

धर्म आपनो निर्वहै । सब धर्मोंको छोड़कर (उनकी उपेक्षा कर) एकमात्र श्रीभगवान्‌की शरणमें जाना ।

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।

—ऐसा जीवका जो परम धर्म है, उसका पालन करे । भाव यह कि अनन्यभावसे मुझमें निरत हो ।

श्रीभगवान् कहते हैं, अपना और मेरा स्वरूप जानकर अथवा अपना सर्वस्व मुझे समझकर अनुरागपूर्वक तल्लीन वृत्तिसे अनवरत मेरा स्मरण करता हुआ अपने स्वरूप-धर्मका पालन करे । जीवकुलका यह परम धर्म है कि वह अपने अंशी भगवान्‌में अनन्यभावसे निरत हो, अपने अंशीसे कभी पृथक् न होना अंशका स्वाभाविक धर्म है । यही मुख्य भजन है और वास्तविक योग है ।

किसीको अपना सर्वस्व मान लेना और उसके लिये अपना सब कुछ त्याग करना ही भक्तिका तत्त्व है; प्रेमका महत्त्व उत्सर्गहीमें है । भगवद्भक्ति एवं भगवत्प्रपत्ति ही भागवत-धर्मका सार है । तयोक्त आस्तिक-नास्तिक सभी सम्प्रदायों और धर्म-संस्थाओंमें उसकी व्याप्ति है । भिन्न-भिन्न नाम-रूपोंमें भगवान्‌की तरह उनकी भक्तिभगवती भी रमी हुई है, जो भागवतधर्मकी शक्ति है—

बाग़में बुलबुलो गुरू बज़्ममें परवाना-शमा ।
भेस बदले हुए फिरती है मुहब्बत तेरी ॥

'बुद्धं शरणं गच्छ' इत्यादि साम्प्रदायिक दीक्षावाक्योंमें शरणागति और भक्तिके भावोंकी ही तो व्यञ्जना है । चाहे वह गुरु-भक्ति हो अथवा इष्टदेव-भक्ति । किसीपर पूर्ण विश्वास करना और उसे अपना त्राता या नेता मानना ही किसी आचार्य या इष्टमें निष्ठ होना है । यही भक्ति है और यही भागवत-धर्म है । भागवत-धर्म भी गुरु और संतको भगवद्रूप ही मानता है । जहाँ-जहाँ भगवान्, वहाँ-वहाँ उनकी भक्ति और जहाँ-जहाँ भक्ति, वहाँ-वहाँ भगवान्—नाम-रूप कोई भी हो ।

'सुमिरत रत इकतार' का दूसरा अन्वय—सुमिर तरत इकतार । इकतार=एकतार तारक ।

उपर्युक्त अन्वयसे यह अर्थ हुआ कि अपना स्वरूप (परम रूप) मुझे जानकर एकाक्षर अद्वितीय तारकका अभङ्ग वृत्ति-प्रवाहसे स्मरणकर तरता हुआ, भवबन्धनिवृत्तिपूर्वक जीवन्मुक्त होता हुआ अपने प्राप्त धर्मका निर्वाह करे ।

अद्वैतपरक अर्थ--

निज स्वरूप मोहि जानि कै। अपना शुद्ध आत्मस्वरूप मुझे जानकर—भाव यह कि जो तेरा चिदानन्दस्वरूप है, वह मैं ही हूँ और जो मैं हूँ, वही तेरा वास्तविक स्वरूप है; तुझमें और मुझमें भेद नहीं है। ऐसा जानकर 'तत्त्वमसि' के उदारभावसे भावित होकर।

सुमिरत रत इकतार। अखण्ड ज्ञानाकार (ब्रह्माकार) वृत्तिसे अपने शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वरूपमें अथवा मुझमें पूर्णतया निष्ठ होता हुआ। स्मरणका भाव ज्ञानाकार वृत्तिमें सङ्गत होता है, जो अन्तःकरणके उज्ज्वल होनेपर स्वतः जाग्रत होती है।

भगवान् कहते हैं, अपना स्वरूप (ब्रह्मरूप) मुझे जानकर अखण्ड सोऽहमस्मीति वृत्तिसे मेरा स्मरण करता हुआ भगवद्भावभावित तथा तद्गत होता हुआ अपने अधिगत और अधिकृत धर्म (सामान्य और विशेष) का निर्वाह करे। यही भगवद्गीताका सारतारोपदेश, अतएव तत्त्व है।

विज्ञानघ्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवतीति।

यही वह रमणीय आनन्दलक्षणा आत्म-संस्थिति है, जिसमें जीव और ब्रह्मके साथ ज्ञान और प्रेम एक हो जाते हैं।

सरग नरक अपबरग समाना। जहँ-तहँ दीख धरें धनु बाना॥

इसे ही 'तद्गति' कहते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीताका विज्ञानभाष्य

(लेखक—महामहोपाध्याय पं० श्रीगिरधरजी शर्मा चतुर्वेदी)

हमारे 'आर्यसाहित्य' में श्रीमद्भगवद्गीताका बहुत उच्च स्थान है। यों तो पक्षपातरहित दृष्टिसे देखनेवाले विद्वान् स्पष्ट कहेंगे कि इसकी तुलनाकी पुस्तक 'विश्वसाहित्य' में भी कहीं नहीं है, किन्तु भारतीय जनता इसे साक्षात् जगदीश्वरके मुखनिःसृत वाक्यसमूहके रूपमें मानती हुई इसपर अलौकिक श्रद्धा प्रकट करती है, यही हमारी विशेषता है। विषयकी दृष्टिसे तो इसका महत्त्व भूमण्डलभरके विवेचक विद्वानोंको मानना ही पड़ता है। जहाँ स्वयं इसके प्रवक्ता भगवान् यह प्रतिज्ञा करते हैं कि—

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते॥

'अर्जुन! मैं तुझे वह ज्ञान और विज्ञान निःशेषरूपसे कह दूँगा—जिसे जानकर संसारमें और कोई जाननेकी बात बाकी नहीं रहती।'

तब इसकी तुलनामें कौन साहित्य आगे आनेका साहस करेगा? श्रीमद्भगवद्गीताका अलौकिक गाम्भीर्य इससे भी प्रकट है कि जबसे इसका प्रकाश हुआ है, तभीसे इसके भाष्य, व्याख्यान, अनुवाद, टिप्पण और विवेचन हो रहे हैं और वे आजतक भी होते ही जाते हैं; फिर भी अभीतक इसकी थाह नहीं मिली। यह एक न्याय प्रसिद्ध है—

'पतन्ति खे ह्यात्मसमं पतत्रिणः'

अर्थात् अनन्त आकाशमें हरेक पक्षी अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार उड़ लेता है, गरुड़ अपनी शक्तिभर उड़ता है, तो चिड़िया अपनी शक्तिभर। हंस अपनी मनोहर गति उसीमें दिखाता है, तो कौआ भी वहाँ फुदक लेता है। आकाशका पार किसीने आजतक पाया नहीं। ठीक यही बात गीताके विषयमें अक्षरशः चरितार्थ होती है। बड़े-बड़े महानुभाव आचार्योंसे लेकर साधारण कथाभट्ट विद्वान्तक अपनी-अपनी विवेचना इसपर लिखते और सुनाते हैं, किन्तु गीताका गाम्भीर्य अब भी वैसा ही अटल है। अब भी उसमें बहुत कुछ कहने-सुनने और समझनेकी गुंजाइश बनी हुई है और वह सदा बनी ही रहेगी, मनुष्यबुद्धि इसका थाह पा नहीं सकती। ईश्वरीय ज्ञान मनुष्यबुद्धिमें पूर्णरूपसे समा नहीं सकता। अस्तु—

गुरुवर विद्यावाचस्पति श्रीमधुसूदनजी ओझाका नाम विश्वविदित है, आपके वेदसम्बन्धी अन्वेषणकार्यका लोहा क्या भारतके और क्या विदेशोंके; सभी वैदिक विद्वानोंको मान लेना पड़ा है। जिस प्रकार पुराने वैदिक सम्प्रदायोंके आचार्य महानुभावोंने प्रस्थानत्रय (उपनिषद्, भगवद्गीता और ब्रह्मसूत्र) पर अपनी लेखनीका पुरुषार्थ प्रकट किया है, उसी प्रकार श्रीविद्यावाचस्पतिजीने भी प्रस्थानत्रयपर भी अपनी विवेचना लिखी है। श्रीभगवद्गीतापर आपकी विवेचना 'विज्ञानभाष्य' नामसे प्रकाशित हो रही है। उसीका संक्षिप्त परिचय हम यहाँ पाठकोंको देना चाहते हैं।

विज्ञानभाष्यमें गीताके मुख्य प्रतिपाद्य विषय दो माने गये हैं—ज्ञातव्य विषयोंमें मुख्य अव्यय पुरुष और कर्तव्यमें

मुख्य बुद्धियोग । इन दोनोंका विस्पष्ट विवरण अन्यत्र कहीं प्राप्त नहीं । गीताने ही इन्हें परिमार्जित रूपमें संसारके सामने रक्खा है; इसीसे गीता 'उपनिषद्' कही जाती है, यद्यपि ब्रह्मसूत्रमें भगवद्गीताका उल्लेख 'स्मृति' पदसे ही बहुधा हुआ है । आचार्यप्रवर श्री १०८ श्रीवल्लभाचार्यजीने यह प्रश्न भी अपने 'अणुभाष्य' में उठाया है कि ईश्वरनिःश्वासको तो 'श्रुति' कहा जाता है और इस ईश्वरके साक्षात् मुखारविन्द-विनिःसृत अमृतको 'स्मृति'—यह कैसी बात है ? किन्तु उसका उत्तर उन्होंने यही दिया है कि वक्ता और श्रोताकी उस परिस्थितिमें श्रुतिका आविर्भाव उचित नहीं था, इसलिये इसे स्मृतिरूपमें रखना ही भगवान्‌ने उपयुक्त समझा । एकान्त स्थानमें जब ऋषि तपस्यानिरत हुए थे, तब उनके अन्तःकरणमें श्रुतिका प्रकाश हुआ है । यहाँ समराङ्गणमें मार-काटके लिये उद्यत और स्वयं अधिपति—रथीरूपसे बैठकर वक्ताको सारथिरूपमें रखता हुआ सांसारिक झंझटोंसे व्याकुल अर्जुन श्रुतिके प्रकाशका उस परिस्थितिमें उपयुक्त पात्र नहीं था । यह भी कारण हो सकता है कि श्रुति 'शब्द-प्रधान' उपदेश है; वहाँ प्रश्नोत्तर, तर्क, वितर्क, जिज्ञासा, निरूपण आदिकी प्रक्रियाका स्थान नहीं है । किन्तु अर्जुन जैसी परिस्थितिमें था, उससे उसका उद्धार प्रश्नोत्तर आदिकी प्रक्रिया बिना हो नहीं सकता था । शब्दप्रधान उपदेशका वह उस समय पात्र नहीं था । तभी तो परम हितकर भगवद्वाक्योंमें भी उसे बार-बार सन्देह हुआ—

'व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।'

'आप तो अस्पष्ट वचनोंसे मेरी बुद्धिको धोखेमें डाल रहे हैं—ऐसा मालूम होता है ।'

इसलिये अर्थप्रधान सुहृत्सम्मित उपदेशका ही अवसर देखकर भगवान्‌ने स्मृतिरूप उपदेश ही उपयुक्त माना । अस्तु, यों भगवद्गीता स्मृति कहकर ही शिष्टसमाजमें आदृत है । किन्तु यह एक विचित्र बात है कि 'स्मृति' रूपमें मानते हुए भी शिष्टजन उसे 'उपनिषद्' भी कहते हैं । प्रत्येक अध्यायके अन्तकी पुष्पिकामें 'इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु' लिखा है । 'उपनिषद्' शब्द श्रुतिके लिये ही निरूढ है, वह स्मृतिके लिये कहीं व्यवहृत नहीं होता । फिर भगवद्गीता स्मृति भी है और उपनिषद् भी, इस जटिल समस्याका विज्ञानभाष्यमें यही समाधान किया गया है कि मौलिक ज्ञान जहाँ हो, उसे श्रुति वा 'उपनिषद्' कहा जाता है और अन्यत्र कथितका अनुवाद जहाँ हो, उसे 'स्मृति' कहते हैं । उक्त दोनों विषयों ('अव्यय पुरुष' और 'बुद्धियोग') का भगवद्गीतामें मौलिक ज्ञान है । यद्यपि उपनिषदोंमें यत्र-तत्र अव्यय पुरुषका संक्षिप्त निरूपण है—यदि न होता तो फिर अश्रौत होनेसे अव्यय पुरुष अप्रामाणिक हो जाता—तथापि उस संक्षिप्त निरूपणपर विचारक विद्वानोंका ध्यान ही नहीं गया था। इससे पुराने आचार्य 'अक्षर पुरुष' को ही पराकाष्ठा मानते चले आये । भगवद्गीतामें ही उसका इस प्रकार विशद विवेचन और स्पष्टीकरण हुआ है कि हम उसे अव्यय पुरुषका 'मौलिक विवेचन' कह सकते हैं । उसकी प्राप्तिका मुख्य साधन 'बुद्धियोग' भी गीताका 'मौलिक विवेचन' है । इसलिये अर्थप्रधान होनेके कारण, वक्ता-श्रोताकी परिस्थितिके कारण वा प्रश्नोत्तरादि प्रक्रियाके कारण चाहे भगवद्गीताको 'स्मृति' कहा जाय; किन्तु वह हमें 'मौलिक ज्ञान' देती है, इसलिये शिष्टसमाजने उसे 'उपनिषद्' नाम देनेमें कोई सङ्कोच नहीं किया ।

गीताके प्रतिपाद्य ज्ञेय विषयमें बहुधा आचार्योंका मत-भेद है; अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत आदि सभी सिद्धान्त गीतासे निकाले गये हैं और यत्र-तत्र अर्थकी खींच-तान भी हुई है, यह भी विद्वानोंसे छिपा नहीं है । किन्तु यह स्मरण रहे कि मतभेद वा मतविरोध दर्शनमें ही रहता है, विज्ञानमें नहीं । वैज्ञानिक प्रक्रियापर आते ही मतैक्य आवश्यक होगा । अतः यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि अव्यय पुरुषको मुख्य प्रतिपाद्य मान लेनेपर द्वैत, अद्वैत आदिका विवाद नहीं रहता । मायावच्छिन्न रसका नाम अव्यय पुरुष है, मायाके अनेक भेद हैं । उनमें 'महामाया' प्रधान है । महामायावच्छिन्न पुरुष सब जगत्‌का आलम्बन है; वह एक है, उसमें द्वैत हो नहीं सकता । और योगमायावच्छिन्न रस जीवाव्यय बनता है, वे अनन्त हैं, उनमें एकता नहीं हो सकती । इस प्रकार विषयभेदसे सबकी व्यवस्था बन जाती है । इस विषयका विस्तार इस स्वल्प लेखमें नहीं किया जा सकता, विज्ञानभाष्यके पर्यालोचनसे ही यह विषय प्रस्फुट हो जाता है कि वैज्ञानिक मार्गमें मतविरोध नहीं रहता ।

इसी प्रकार कर्तव्यके सम्बन्धमें भी गीताके व्याख्याताओं-में गहरा मतभेद है । अनेक महानुभाव व्याख्याता गीताका मुख्य प्रतिपाद्य 'कर्मसंन्यास' या 'सांख्ययोग' बतलाते हैं, दूसरे कई एक महानुभाव 'कर्मयोग' को गीताका मुख्य ध्येय मानते हैं । अनेक भगवद्भक्तिपरायणोंने 'भक्तियोग'को गीताका लक्षण माना है । सबहीको गीतामें अपने समर्थनके लिये यथेष्ट

प्रमाण मिलते हैं, सभीकी युक्तियाँ प्रबल हैं, सबसे ही अधिकारियोंका मनस्तोष होता है। किन्तु चाहे 'छोटे मुँह बड़ी बात' समझी जाय, इतना कहना ही पड़ता है कि सब ही सिद्धान्तोंमें गीताके कुछ वचन अड़चन भी डालते हैं। अतः सभी व्याख्याकारोंको कई श्लोकोंकी व्याख्यामें खींच-तान करनी पड़ती है। निष्पक्ष विचारककी अन्तरात्मा स्पष्ट कह देती है कि यहाँ बलात् अपने सिद्धान्तकी अनुकूलता लायी जाती है। कुछ उदाहरण देना अप्रासङ्गिक न होगा। 'कर्मसंन्यास' वा 'ज्ञानयोग' (सांख्ययोग) को सामने रखते ही यह जटिल समस्या अन्तःकरणको चञ्चल करती है कि कर्मसंन्यास अर्थात् युद्धरूप धर्मकार्यका परित्याग कर संग्रामभूमिसे भागते हुए अर्जुनको युद्धरूप धर्मकार्यमें प्रवृत्त करनेके लिये गीताका अवतार है। अब यदि इसका मुख्य लक्ष्य कर्मसंन्यास ही हो, तो वह तो अर्जुन स्वयं ही कर रहा था, फिर इतने लंबे-चौड़े उपदेशकी आवश्यकता क्या थी ? उपसंहारमें अर्जुन कहता है—

'स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव।'

'मेरा सन्देह निवृत्त हो गया, मैं आपकी आज्ञा माननेको तैयार हूँ।' यह कहकर आगे वह करता क्या है—'युद्ध'। भगवान्‌का उपदेश 'कर्मसंन्यास' था, तो या तो उसे अर्जुनने समझा ही नहीं, या विपरीत आचरण किया। दोनों पक्षोंमें ग्रन्थकी सङ्गति नहीं लगती। इसका समाधान एकमात्र यही किया जाता है कि अर्जुन अभी कर्मसंन्यासका अधिकारी नहीं था, इसलिये भगवान्‌ने उसे कर्ममें ही प्रवृत्त किया और वह भी आज्ञानुसार कर्ममें लगा; किन्तु फिर प्रश्न उठता है कि यह उपदेश अर्जुनको ही तो लक्ष्य करके दिया गया है; अर्जुन यदि कर्मसंन्यासका अधिकारी नहीं था, तो भगवान् उसे कर्मसंन्यासका उपदेश क्यों देने लगे ?

'न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।'

—की घोषणा करनेवाले भगवान् क्या स्वयं इतनी भूल करते कि अनधिकारीको कर्मसंन्यास सिखलाते। इससे यह मानना पड़ेगा कि भगवान् कर्मसंन्यासको ऊँचा दरजा मानते भी हों, तो भी गीताका मुख्य प्रतिपाद्य तो कर्म-संन्यास नहीं हो सकता; क्योंकि उसका श्रोता उसका अधिकारी नहीं है। सम्भव है कि उस ऊँचे दरजेका क्वचित् इशारा भगवान्‌ने किया हो; किन्तु उपदेशमें मुख्य जोर तो उसी बातपर रहता है, जिसका श्रोता अधिकारी हो। अतः गीताका मुख्य लक्ष्य कर्मसंन्यास माननेमें अन्तःकरण जरूर हिचकता है।

'तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥'
न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥
'काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।'

—इत्यादि बहुत-से वचन भी ऐसे हैं, जिनकी व्याख्या संन्यासके पक्षमें क्लिष्टतासे होती है।

'भक्तियोग' को प्रधान प्रतिपाद्य माननेवालोंके लिये भी पूर्वोक्त अड़चन आती ही है। वहाँ अर्जुनमें नास्तिक्य-भावका उदय नहीं था कि जिसके निराकरणके लिये भगवद्भक्तिपर बल दिया जाता; वह तो कर्म छोड़ता था और कर्ममें उसे लगाना ही भगवान्‌का लक्ष्य था। फिर उस उपदेशमें—

'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।'

—के यथाश्रुत अर्थके अनुसार ही कर्मकी निःसारता और शरणागतिकी मुख्यता ही प्रधान हो, तो परिस्थिति-की श्रृङ्खला जुड़ नहीं सकती। इससे वही बात यहाँ भी लागू होगी कि चाहे भगवान्‌को भक्तिमार्गकी श्रेष्ठता कितनी भी अभिमत हो, किन्तु गीताको भक्तिप्रधान कहनेसे परिस्थितिकी सङ्गति कठिन है। इन्हीं सब अनुपपत्तियोंको सामने रखकर इस युगके व्याख्याकार गीताको 'कर्मयोग'-प्रधान ही स्थापित करते हैं; किन्तु स्मरण रहे कि गीतामें बहुत-से वचन ऐसे हैं, जो सर्वथा कर्मयोगकी प्रधानतामें सीधे नहीं लगते—

'दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय।'
'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥'
आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥
यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येवात्मना तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥
'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।'

—इत्यादि-इत्यादि।

मुख्य प्रतिपाद्य विषयको इस प्रकार नीचा दिखाना ग्रन्थकारोंकी कहीं शैली नहीं है। इन वचनोंका अर्थ कर्मयोगवादियोंको क्लिष्ट कल्पनासे ही करना पड़ता है।

अब विज्ञानभाष्यकी बात सुनिये—इसमें भगवद्गीताका ध्येय 'बुद्धियोग' माना गया है। 'बुद्धियोग'का नाम गीतामें कई जगह आता है और आदरके साथ आता है—

'दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय ।'
'बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।'
'बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥'

—आदि-आदि ।

किन्तु पुराने व्याख्याकार प्रायः बुद्धियोगका अर्थ ज्ञानयोग ही करते हैं । विज्ञानभाष्यमें 'बुद्धियोग' को स्वतन्त्र माना गया है और उसे ही गीताका मुख्य प्रतिपाद्य कहा है । बुद्धियोगका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

सांख्यदर्शनका परिशीलन करनेवाले जानते हैं कि निर्लेप पुरुषको बन्धनमें लानेवाली बुद्धि ही है । पुरुषके संसार और अपवर्ग दोनों बुद्धिसे ही होते हैं । इस बुद्धिके आठ रूप सांख्यदर्शनमें बतलाये हैं—चार सात्त्विक और चार तामस । तामस रूप हैं—अज्ञान, अनैश्वर्य, अवैराग्य और अधर्म । इन्हींको योगदर्शनमें 'पञ्चक्लेश' कहा है । अज्ञानको अविद्या-शब्दसे, अनैश्वर्यको अस्मिता-शब्दसे, अवैराग्यको 'राग, द्वेष' दो शब्दोंसे और अधर्मको 'अभिनिवेश' शब्दसे कहकर पाँचों क्लेशोंकी गणना पतञ्जलि भगवान्ने की है । ये ही पाँच क्लेश जीवकी विशेषताएँ हैं । ईश्वरमें ये नहीं होते । सुतरां पञ्चक्लेशोंसे विनिर्मुक्त हो जानेपर जीव और ईश्वरमें कोई वैषम्य वा भेद नहीं रहता । इन तामस बुद्धिधर्मोंका प्राबल्य रहनेपर सबका आलम्बन और सबमें अनुस्यूत 'अव्यय पुरुष' आवृत हो जाता है, उसकी कलाओंका प्रकाश नहीं रहता । यही जीवकी सबसे बुरी दुर्गति है । यही जीवका विषाद है, जिसमें अर्जुन पड़ा हुआ है । इससे उद्धार पानेके लिये इन क्लेशोंको दबाकर अव्यय पुरुषका प्रकाश अभीष्ट है । इन क्लेशोंके दबानेका उपाय इनके प्रतिद्वन्द्वी भावोंका उदय है, प्रतिद्वन्द्वी भाव बुद्धिके चारों सात्त्विक रूप हैं—जिनके नाम ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य और धर्म हैं । इनके प्राबल्यद्वारा अविद्यादि क्लेशोंका निराकरण होकर बुद्धिका 'अव्यय पुरुष'में योग होता है, अर्थात् अव्ययकी कलाओंका आवरण हटकर बुद्धिमें उनका प्रकाश हो जाता है—यही बुद्धियोगका संक्षिप्त स्वरूप है । अव्यय पुरुषकी कलाएँ आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण और वाक् नामसे हैं । इनमें मन, विज्ञान और आनन्द निवृत्तिका रूप है और मन, प्राण और वाक् प्रवृत्तिका । मन दोनों ओर मिला हुआ है । यह मन इन्द्रियसहचारी मन नहीं है—यह उच्च कोटिका मन है, जो अव्यय पुरुषका मध्यस्थ मुख्य रूप है । तात्पर्य यही है कि ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य और धर्म—इन चारों बुद्धिके सात्त्विक रूपोंके द्वारा अव्यय पुरुषकी विज्ञान और आनन्द नामकी कलाओंका विकास होता है और यही जीवकी कृतकृत्यता है । इन्हीं बुद्धिरूपोंके उद्भवके लिये श्रीभगवद्गीतामें चार योग उपदिष्ट हुए हैं—वैराग्ययोग, ज्ञानयोग, ऐश्वर्ययोग और धर्मयोग । इनके ही दूसरे नाम हैं—राजर्षिविद्या, सिद्धविद्या, राजविद्या और आर्षविद्या । इन चारोंमें बुद्धियोगका परिपूर्ण स्वरूप विकसित हो गया है ।

अर्जुनका इस समयका मोह राग-द्वेषमूलक है, इसलिये सबसे पहले वैराग्ययोग वा राजर्षिविद्याका उपदेश भगवान्ने किया है । द्वितीयाध्यायसे षष्ठाध्यायके अन्ततक वैराग्ययोग है, इसे ही अनासक्तियोग भी कहते हैं । संसारमें रहकर सब प्रकारके कर्म करते हुए भी उनके बन्धनमें न आना—यह युक्ति वैराग्ययोग है । अन्य व्याख्याकारोंने इसे कर्मयोग ही माना है । परिस्थितिके लिये इतना ही उपदेश पर्याप्त था । किन्तु बिना ज्ञान आदि दूसरे रूपोंके वैराग्य दृढ़ वा स्थायी नहीं हो सकता, न इतनेमात्रसे अर्जुनका सन्तोष ही हुआ; इसलिये आगे ज्ञानयोग वा सिद्धविद्याका दो अध्यायोंमें (७,८) प्रतिपादन है । इससे आगे चार अध्यायोंमें (९से १२) ऐश्वर्ययोग वा राजविद्याका प्रकरण है, जिसे प्राचीन व्याख्याकार भक्तियोग नामसे समझाते हैं और आगेके छः अध्याय (१३से १८)के अन्तके कुछ श्लोकोंको छोड़कर धर्मयोग वा आर्षविद्याके प्रतिपादक हैं । यों पूर्ण गीतामें पूर्ण बुद्धियोगका स्वरूप प्रस्फुट हुआ है । इन चार विद्याओंमें अवान्तर २४ उपनिषद् और उनमें सब मिलाकर १६० उपदेश श्रीभगवद्गीतामें हैं—यह विभाग विज्ञानभाष्यमें किया गया है, जिसे विस्तारभयसे यहाँ स्पष्ट नहीं किया जा सकता ।

भगवद्गीतामें जो कई जगह पुनरुक्तिका आभास होता है, उसका भी ठीक समाधान विज्ञानभाष्यकी रीतिसे हो जाता है । एक मुख्यविद्यामें अवान्तररूपसे जहाँ दूसरी विद्याके किसी विषयकी आवश्यकता हुई है, वहाँ उस विद्याकी पूर्णताके लिये उस विषयको पुनः दोहराया गया है । विशेषकर अन्तके अध्यायोंकी (१३से १८) सुसङ्गति इस प्रकारसे बहुत अच्छी होती है । प्राचीन व्याख्याकार कई-एक पूर्वषट्कको कर्मकाण्ड, मध्यषट्कको भक्तिकाण्ड और उत्तरषट्कको ज्ञानकाण्ड कहते हैं; किन्तु उत्तरषट्कमें कर्मका ही गुणत्रयविभागद्वारा अधिक वर्णन है, इससे यह विभाग समञ्जस नहीं होता । कई-एकने पूर्वषट्कमें 'तत्त्वमसि' महावाक्यका

त्वं-शब्दार्थ, मध्यषट्कमें तत्-शब्दार्थ और अन्तिम षट्कमें असि-शब्दार्थ माना है। किन्तु उत्तरषट्क निदिध्यासन-प्रधान भी नहीं दीखता; उसमें धर्माधर्मके बहुत भेद हैं, जिनका सामञ्जस्य 'असि' शब्दके अर्थमें कठिनतासे हो सकता है। विज्ञानभाष्यके अनुसार आर्षविद्यामें धर्मकी उपनिषद् (प्रिंसिपल, उसूल) बतलानेके लिये क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ, गुणत्रय आदिकी आवश्यकता है और गुणत्रयके अनुसार कर्मोंकी धर्मानुकूलता वा प्रतिकूलता इस विद्याका मुख्य रूप है ही। यों अठारहवें अध्यायके कुछ भागतक आर्षविद्या है और आगे सारोद्धार है। यह भी विज्ञानभाष्यमें प्रतिपादित हुआ है कि गीता कर्म, उपासना और ज्ञान—तीनोंका सामञ्जस्य रखती है, किसी एककी प्रधानता वा अन्यका बाध उसे कभी इष्ट नहीं है। प्रत्येकमें जो दोष हैं, उन्हें हटाकर बुद्धियोगकी अनुकूलतासे तीनोंको गीताने उचित स्थानपर रक्खा है।

इस विज्ञानभाष्यके चार काण्ड हैं। प्रथममें भूमिका-रूपसे शास्त्ररहस्य वा मौलिक सिद्धान्तोंका संक्षिप्त स्वरूप है। द्वितीयमें विद्या, उपनिषद् और उपदेशोंके विभागपूर्वक शीर्षक लगाकर श्रीभगवद्गीताका मूल पाठ रक्खा गया है। स्थान-स्थानपर रहस्यपूर्ण टिप्पणियाँ इसमें हैं। तृतीयमें गीतामें आये हुए अहं-शब्दोंके अर्थपर विचार करते हुए गीताचार्य भगवान् श्रीकृष्णका विशद विवेचन है और चतुर्थ काण्डमें १६० उपदेशोंका स्वतन्त्र भाषामें (अपने संस्कृतमें) व्याख्यान वा स्पष्टीकरण है। पहले दो काण्ड प्रकाशित हो चुके हैं और तृतीय यन्त्रस्थ है, इसके बाद चतुर्थकी पारी आवेगी।

यह श्रीभगवद्गीताका एक नये ढंगका व्याख्यान है, इस-लिये इसका संक्षिप्त परिचय पाठकोंको दे दिया गया है। भावुक विद्वानोंको यह कितना रुचिकर होगा, इसका उत्तर तो समय ही देगा। ॐ तत् सत्।

श्रीमद्भगवद्गीतामें वर्णधर्म

(लेखक—श्रीवैष्णवाचार्य श्रीस्वामीजी श्रीमहंत रामदासजी महाराज)

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥

आजकल धार्मिक विचारों तथा धर्मके प्रति श्रद्धाका अभाव होनेके कारण वर्ण-व्यवस्थाको लोग देशके लिये हानिकारक तथा जातीय एकताके लिये बाधक समझ रहे हैं। बहुतेरे इसको अनावश्यक बतलाकर इसको छिन्न-भिन्न करनेके लिये आन्दोलन कर रहे हैं। परन्तु विचार करने-पर ज्ञात होता है कि—

'वर्णाश्रमविभागो हि भारतस्य विशिष्टता।'

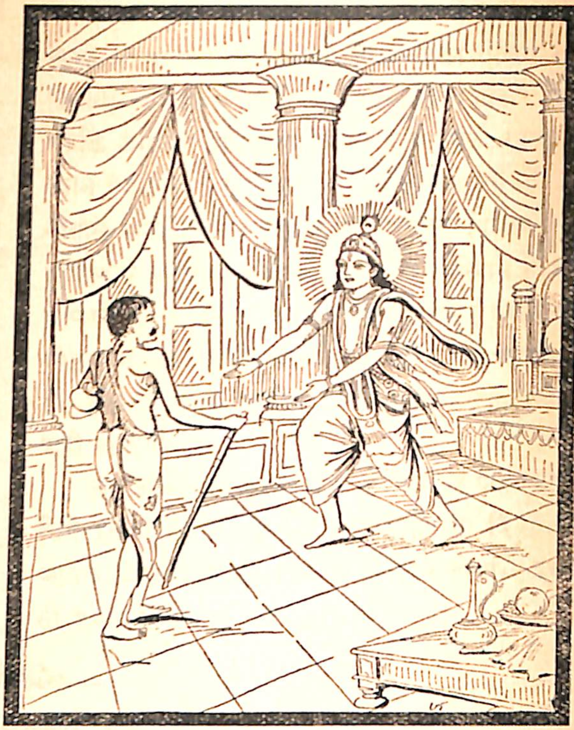
वर्णाश्रमविभाग ही भारतकी विशिष्टता है। अतएव यह उन्नतिका बाधक नहीं, बल्कि साधक ही है। भारत जो आज कई शताब्दियोंसे विजातीय अत्याचार और आक्रमणका शिकार होकर भी जीवित है, इसका मूल कारण केवल वर्णाश्रमव्यवस्था ही है। और जबतक वर्णाश्रमव्यवस्थाका कवच यह जाति धारण किये रहेगी, तबतक इसका जीवन अक्षुण्ण बना रहेगा; अन्यथा इसके सर्वनाशकी आशङ्का है। इसी आशङ्काका विचार कर वीरश्रेष्ठ अर्जुन कुरुक्षेत्रकी रणभूमिमें स्थित दोनों सेनाओंको देखकर भगवान् श्रीकृष्णसे कहते हैं—'हे मधुसूदन! मैं इन दोनों सेनाओंमें अपने ही सम्बन्धियोंको देखता हूँ, जो जीवनकी आशाका त्याग कर युद्धके लिये उपस्थित हैं। मैं युद्ध करके अपने कुलका सर्वनाश नहीं कराना चाहता; क्योंकि कुलके नाशसे सनातन कुलधर्म नष्ट हो जायँगे और कुलधर्मके नष्ट होनेसे पापकी अधिकता होगी, जिससे स्त्रियाँ दूषित होकर वर्णसङ्कर सन्तान उत्पन्न करेंगी। वर्णसङ्करके द्वारा जल और पिण्डकी क्रियाके लोप हो जानेसे पितरलोग अधःपतनको प्राप्त होंगे।' कारण यह है कि मृत पितरोंके आत्माके साथ श्राद्ध-तर्पण करनेवाले पुत्रकी आत्मा और मनका गहरा सम्बन्ध होता है, इससे श्राद्धकालमें पितर श्राद्धको ग्रहण करते हैं; परन्तु वर्णसङ्कर सन्तानमें माता-पिताके एक वर्ण न होनेके कारण वह सम्बन्ध कदापि नहीं हो सकता। अतएव वर्णसङ्करके किये हुए श्राद्ध-तर्पण पितरोंको तृप्ति और मुक्ति नहीं प्रदान करते, इससे उनका पतन होता है। इस पतनसे देशमें दुर्भिक्ष और महामारी उत्पन्न होती है। यही नहीं,

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः॥

'इन वर्णसङ्कर उत्पन्न करनेवाले दोषोंसे कुलका नाश करनेवालोंके सनातन जातिधर्म और कुलधर्म नष्ट हो जाते



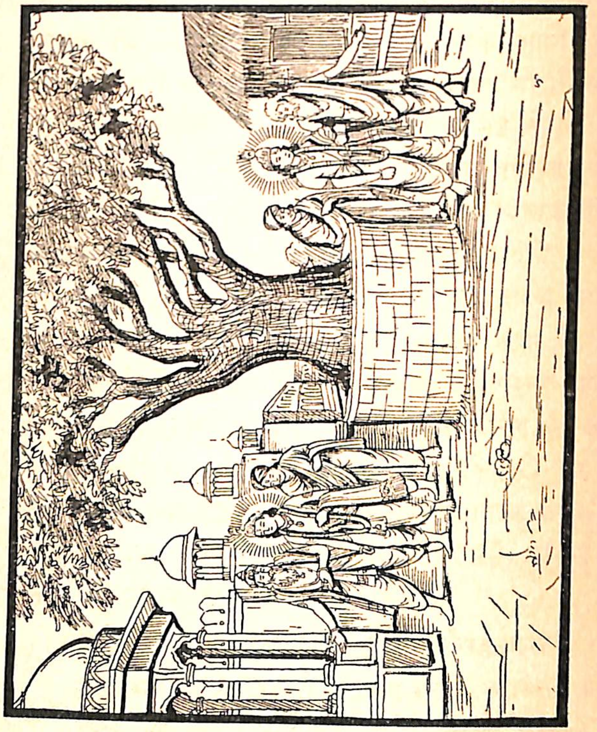
शाल्व-उद्धार



सुदामासे प्यार



वसुदेवजीको ज्ञान-प्रदान



बहुलाश्व और श्रुतदेवके घर एक साथ

हैं ।' यहाँ विचारनेकी बात है कि देश और जातिके साथ वर्णाश्रमका कैसा सम्बन्ध है, जिसके टूटनेसे जाति और देश विनाशको प्राप्त हो जाते हैं ।

स्थूलरूपसे विचार करनेपर ज्ञात होता है कि जिस प्रकार मानवशरीरके मुख, भुजा, उदर और पाद—चार मुख्य भाग होते हैं और शरीरकी रक्षाके लिये इन चारोंकी आवश्यकता होती है—एकके भी शिथिल होनेसे सारा शरीर रोगग्रस्त होकर कार्य-शक्तिको खो बैठता है, उसी प्रकार समाजरूपी शरीरको चातुर्वर्ण्यरूपी चार अङ्गोंकी आवश्यकता पड़ती है। इसीलिये भगवान्ने वर्णविभागकी मर्यादा स्थापित की है। यजुर्वेद, अध्याय ३१, मन्त्र ११में वेद भगवान्ने इसका समर्थन किया है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥

'ब्राह्मण विराट् पुरुषका मुख है, क्षत्रिय बाहु, वैश्य जङ्घा और शूद्र पाद ।' इसके अनुसार समाजको सुरक्षित और उन्नत करनेके लिये प्रत्येक वर्णकी और उनके स्व-स्व-कर्मानुसार आचरणकी परम आवश्यकता है। यदि एक वर्ण अपने कर्मको छोड़कर अन्य वर्णके कर्मोंको अपनाता है, तो कर्मगत वर्णसङ्करता उत्पन्न होनेके कारण उसका जीवन निष्फल हो जाता है; वह न तो स्वकर्ममें सफलता प्राप्त करता है और न अन्य वर्णके कर्ममें । कालान्तरमें यही जातिके नाशका कारण बनता है। इसी विचारको सामने रखकर परमात्माने सृष्टिके आदिमें वर्णविभाग किया है । भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥
(गीता ४ । १३)

'हे अर्जुन ! गुण और कर्मोंके विभागसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र मेरेहीद्वारा रचे गये हैं; उनके कर्ता भी मुझको अविनाशी और अकर्ता ही जान ।' इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं है कि भगवान् अनादि और अविनाशी हैं तथा उनके द्वारा स्थापित प्रत्येक मर्यादा भी अनादि और नाशरहित है; इसलिये जो मनुष्य या जाति इसके विरुद्ध आचरण करती है, वह विनाशको प्राप्त होती है ।

सूक्ष्मरूपसे विचार करनेपर ज्ञात होता है कि भगवान्ने वर्णविभाग प्रकृतिके गुण और कर्मके आधारपर किया है। 'कर्म' शब्दका अभिप्राय यहाँ अदृष्ट, प्रारब्ध एवं प्रकृतिके स्वाभाविक कर्मसे है। प्रकृतिके तीन गुण होते हैं। जैसे गीतामें भगवान्ने कहा है—

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः ।

प्रकृतिके तीन गुण हैं—सत्त्व, रज और तम । ये तीनों न्यून या अधिक परिमाणमें सर्वत्र और सब जीवोंमें विद्यमान हैं। श्रीभगवान् कहते हैं—

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥

'हे अर्जुन ! पृथ्वी या स्वर्ग अथवा देवताओंमें कोई भी ऐसा नहीं है जो प्रकृतिसे उत्पन्न इन तीनों गुणोंसे रहित हो ।' क्योंकि सारा जगत् त्रिगुणमयी मायाका ही विकार है। इन्हीं गुणोंके द्वारा जीव विभिन्न वर्णोंको प्राप्त करता है। जिसमें जिस गुणकी प्रधानता होती है, उसका जन्म वैसे ही वर्णमें होता है। ब्राह्मण सत्त्वगुणप्रधान होता है, क्षत्रिय सत्त्वमिश्रित रजोगुणप्रधान, वैश्य रजोमिश्रित तमोगुणप्रधान और शूद्र तमोगुणप्रधान होता है । इस प्रकार इन गुणोंके आधारपर प्रत्येक वर्णके कर्म नियत किये गये हैं। जैसे ब्राह्मणोंमें सत्त्वगुणकी प्रधानतासे सात्त्विक कर्मोंका विधान उनके लिये किया गया है, वैसे ही क्षत्रियादि वर्णोंमें उनके प्राकृतिक गुणोंके अनुसार कर्म-विधान किये गये हैं।

गुण और कर्मका परस्पर बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। जिस मनुष्यका जैसा स्वभाव होता है, वह वैसा ही कर्म करता है और जैसा वह कर्म करता है वैसा ही उसका स्वभाव बनता है। श्रीभगवान्ने गीतामें कहा है—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥

'हे परंतप ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंके कर्म स्वभावसे उत्पन्न गुणोंके द्वारा विभक्त किये गये हैं।' सारांश यह है कि पूर्वकृत कर्मोंके संस्काररूप स्वभावसे उत्पन्न गुणोंके अनुसार कर्म-विभाग होता है । श्रीभगवान् कर्म-विभागका इस प्रकार निर्देश करते हैं—

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥
कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥
(गीता १८ । ४२-४४)

'मनःसंयम, इन्द्रियोंका दमन, तप, शौच, क्षमा, सरलता, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिकता—ये ब्राह्मणोंके स्वाभाविक कर्म हैं। शौर्य, तेज, धैर्य, चातुर्य, युद्धमें डटे रहना, दान और स्वामिभाव—ये क्षत्रियके स्वाभाविक कर्म हैं। कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य वैश्यके स्वाभाविक कर्म हैं और सबकी परिचर्या (सेवा) शूद्रका स्वाभाविक कर्म है।'

इनमें प्रत्येक वर्णके लिये अपने स्वाभाविक कर्मको करना ही श्रेयस्कर है। वर्णान्तरके कर्मोंमें लगनेसे कर्मगत वर्णसङ्करता आ जाती है और वह उन्नतिके मार्गमें बाधक है। श्रीभगवान्‌ने भी कहा है—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।

'अपने-अपने कर्मोंमें लगे रहनेसे ही मनुष्य सिद्धिको प्राप्त होता है।' अतएव यह निश्चित हुआ कि किसी देश, जाति या पुरुषकी उन्नति उसके स्वाभाविक कर्मोंके अनुसार चलनेसे ही हो सकती है, अन्यथा कदापि नहीं हो सकती। मानव-जीवनकी कृतकार्थता अपने वर्णानुसार स्वाभाविक कर्मोंके करनेमें ही है। श्रीभगवान्‌ने कहा है—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥

'दूसरेके धर्म (कर्म) का भलीभाँति अनुष्ठान करनेकी अपेक्षा अपना येन-केन-प्रकारेण अनुष्ठित धर्म (कर्म) भी श्रेष्ठ होता है। अपने स्वभावके अनुसार नियत कर्मोंको करता हुआ मनुष्य पापको नहीं प्राप्त होता।'

श्रीमद्भगवद्गीताका सिद्धान्त

(लेखक—श्रीनारायणाचार्य गोविन्दाचार्य वरखेडकर)

मनुष्यकी समस्त कामनाओंको सिद्ध करनेवाली श्रीमद्भगवद्गीताके अमृत-रसका पान आजतक विभिन्न प्रणालियोंके द्वारा कितने भक्तोंने किया, कितने संतोंको उसका पान कराया, आज कितने कर रहे हैं तथा भविष्यमें कितने पानकर तृप्त होंगे—इसकी गणना नहीं, सीमा नहीं।

श्रीमद्भगवद्गीता तो मानो समस्त भूमण्डलके मत-मतान्तरों तथा सिद्धान्तोंका आश्रय-सी हो रही है। इसका प्रधान कारण यही है कि विश्वव्यापक जगन्मोहन नन्दनन्दनकी जगदाकर्षक मुरलीकी मधुरतम मीठी तानसे श्रीमद्भगवद्गीताका प्रत्येक शब्द परिप्लावित हो रहा है। इसकी विश्वप्रियता ही इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। विभिन्न देशनिवासी, विभिन्न मत-मतान्तरके अनुयायी, विभिन्न भाषाभाषी, अपनी-अपनी देशभाषामें श्रीमद्भगवद्गीताका अनुवाद कर इसके प्रति अपना अत्यन्त सम्मान प्रकट करते हैं तथा अपने अभीष्ट सिद्धान्तोंके अनुसार इसकी व्याख्या करते हैं। ऐसी अवस्थामें समस्त पाठकोंके लिये कोई एक निश्चित सिद्धान्त सामने रखना धृष्टता-सी जान पड़ती है। तथापि जिन प्रमाणोंके अवलम्बनसे सभी ग्रन्थकार अपने सिद्धान्तोंका प्रतिपादन करते हैं, उन्हींका आश्रय लेकर संक्षेपमें यथामति गीताके सिद्धान्तका विवेचन किया जाता है—

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये॥
श्रुतिलिङ्गसमाख्या च वाक्यं प्रकरणं तथा।
पूर्वं पूर्वं बलीयः स्यादेवमागमनिर्णये॥

ये तेरह प्रकारके प्रमाण सिद्धान्तकी परीक्षा करनेवालोंके लिये निकष (कसौटी) का काम देते हैं। इन सब प्रमाणोंके साथ समन्वय करते हुए गीताके श्लोकोंकी यदि विस्तृत विवेचना की जाय तो लेख बहुत बड़ा हो जायगा। अतएव इन्हीं प्रमाणोंके अनुसार संक्षेपमें गीताके तात्पर्यका निरूपण किया जाता है।

यह तो सभी जानते हैं कि भक्तवत्सल, आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने गीताका उपदेश किसी प्रयोजनसे किया और उपदेशके अनन्तर वह प्रयोजन सिद्ध हुआ। उपक्रम-उपसंहारकी दृष्टिसे जान पड़ता है कि कुरुक्षेत्रके बीच अर्जुन उभयपक्षमें अपने आत्मीय जनोंको देखकर मोहको प्राप्त होते हैं और युद्धसे विरत होना चाहते हैं। ऐसी अवस्थामें श्रीभगवान्‌का प्रयोजन यही है कि अर्जुन-जैसे क्षत्रियसे अधर्ममें रत दुष्ट कौरवोंका तथा उनके सहायकोंका नाश करावें—चाहे वे उसके सम्बन्धी, गुरु, बन्धु, पुत्र, पितामह आदि ही क्यों न हों। क्षत्रियके लिये उचित

भी यही था, जिसे अर्जुन मोहवश अधर्म समझते थे। परन्तु सत्यसङ्कल्प भगवान् कब माननेवाले थे, वे अपनी मनोमोहिनी वाणी श्रीगीताके द्वारा युद्ध-पराङ्मुख अर्जुनको रास्तेपर लाये और उसके मुँहसे अन्ततः यह वाक्य निकल पड़ा—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥

'आप सत्यसे कदापि च्युत नहीं होनेवाले हैं—और गिरते हुएको बचानेवाले हैं। इसीसे आपको अच्युत कहते हैं। आपके प्रसादसे मेरा मोह नष्ट हो गया है, मुझे निर्मल ज्ञान प्राप्त हुआ है; अब मुझे किसी प्रकारका सन्देह नहीं है, आपके आदेशानुसार धर्म-युद्ध करनेके लिये मैं तैयार हूँ।'

यहाँ 'करिष्ये वचनं तव'—मैं तुम्हारे आदेशका पालन करूँगा, यही गीताके उपदेशका फल है। यही सिद्धान्त है। आरम्भमें ही श्रीभगवान्‌ने सङ्केत किया है—

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥

'प्रकृतिसे उत्पन्न सत्त्व, रज, तम,—इन तीनों गुणोंके वशीभूत होकर मनुष्यको कर्म करना ही पड़ता है; वह कदाचित् एक क्षण भी बिना काम किये नहीं रह सकता।' परन्तु जब उसे कर्म करना ही है, तो वह काम कैसा होना चाहिये—वैसा न करनेका फल क्या होगा?—इस विषयमें श्रीभगवान् कहते हैं—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥
अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥

मनुष्य मनमाना काम नहीं कर सकता; क्योंकि 'जो शास्त्रविधिको छोड़कर अपने इच्छानुसार काम करता है, उसे न तो सिद्धि ही मिलती है, न सुख और न श्रेष्ठ गति। अतएव यदि तुम अपने क्षात्रधर्मके अनुकूल संग्राम न करोगे, तो स्वधर्म और कीर्तिका नाश करके पापको प्राप्त होओगे।' इस प्रकार अर्थवाद और उपपत्तिके द्वारा श्रीभगवान्‌ने एक ही फलकी निष्पत्तिकी ओर ध्यान रक्खा है। जैसे—

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।

'मनुष्य अपने (वर्णाश्रमानुकूल) कर्मोंके द्वारा उसकी पूजा कर सिद्धिको प्राप्त होता है।' तथा—

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।

'अपने धर्ममें (वर्णाश्रमधर्मका आचरण करते हुए) मर जाना श्रेष्ठ है, परन्तु परधर्मका आचरण करना भयावह है।' अतएव अपने वर्णाश्रमधर्मसे अतिरिक्त धर्मको नहीं स्वीकार करना चाहिये, फिर विदेशीय धर्मान्तरका स्वीकार करना तो और भी भयावह होता है। तथा—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।

'मनुष्य अपने-अपने वर्णाश्रमविहित कर्मोंमें लगे रहनेपर उत्तम सिद्धिको प्राप्त करता है।' जैसे—

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।

'कर्मके द्वारा ही जनक आदि परम ज्ञानियोंने परम सिद्धिको प्राप्त किया।' परन्तु स्व-स्व-कर्मका निश्चय कैसे होगा, इसका उत्तर श्रीभगवान् देते हैं—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥

'क्या करना चाहिये और क्या न करना चाहिये, इस विषयमें शास्त्र ही प्रमाण है; अतएव शास्त्रके विधानको समझकर ही तुम कर्म कर सकते हो।' परन्तु स्मरण रहे कि—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

कर्म करते समय फलकी अभिलाषा कदापि नहीं होनी चाहिये; क्योंकि 'तुम्हारा अधिकार कर्म करनेमें ही है, फलमें कदापि नहीं।' फलप्रदान करना तो मेरे अधिकारमें है। फलकी अभिलाषा रखकर कर्म करनेसे वे कर्म बन्धनके कारण बनेंगे तथा तुमको सुख-दुःखका अनुभव करानेवाले और जन्मान्तर प्रदान करानेवाले बन जायँगे। परन्तु बिना उद्देश्य या प्रयोजनके कर्म हो नहीं सकता, ऐसी स्थितिमें फलाभिलाषाके न होते हुए भी कोई उद्देश्य होना चाहिये। इसके लिये श्रीभगवान् कहते हैं—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥

'जो मनुष्य सर्वभूतोंमें वैरकी भावना न रख, मेरे लिये कर्म करता हुआ, मुझमें रत होकर, फलकी कामनाको छोड़, अनासक्त होकर, मेरी भक्ति करता हुआ कर्म करता है,

हे अर्जुन ! वह मुझको प्राप्त होता है ।' परन्तु किसी भी कर्मका आचरण करनेसे अदृष्ट उत्पन्न होता है, जो जन्मान्तरका कारण बनता है और सदा पुरुषके पास ही रहता है; ऐसी अवस्थामें मानवकर्मकी निष्पत्तिका संकेत करते हुए भगवान् कहते हैं—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

'हे अर्जुन ! तुम जो कुछ करते हो, खाते हो, हवन करते हो, देते हो, जो तपस्या करते हो, वह सब मुझे अर्पण करो ।' इससे अदृष्ट तुम्हारे पास न रहेगा और तुम कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाओगे ।

अर्जुन सोचता है कि 'शुभ कर्मोंको भगवदर्पण करना ठीक है; परन्तु युद्ध हिंसात्मक होनेके कारण अशुभ है, अतः अशुभ कर्मोंका अदृष्ट कहाँ जायगा ? मङ्गलमय भगवान्को अशुभ कर्म कैसे अर्पण किये जायँगे ?' श्रीभगवान् समाधान करते हैं—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

'समस्त धर्मोंका त्याग कर मेरी शरणमें आओ, ('मत्कर्मकृत्०' के द्वारा सङ्केत किये हुए मेरे शरणागत-धर्मका आश्रय लेनेसे) मैं अपनी अघटितघटनापटीयसी शक्तिके द्वारा सब पापोंसे तुमको मुक्त कर दूँगा । तुम शोक मत करो ।'

इस संक्षिप्त पर्यालोचनासे यही सारांश निकलता है कि 'श्रीभगवान्के चरणारविन्दमें चित्तको तन्मय करके प्रेमपूर्वक वर्णाश्रमोचित कर्मोंका शास्त्रविधिके अनुसार फलकी इच्छा न करते हुए भगवत्प्रीत्यर्थ अनुष्ठान करना और उनको भगवान्के अर्पण करना ही सर्वश्रेष्ठ मानवधर्म है; क्योंकि श्रीभगवान् ही सर्वश्रेष्ठ हैं, उन्हींके अधीन अखिल सचराचर जगत् है, जगत्के कल्याणके लिये वेद-शास्त्ररूपी विधान उन्हींकी आज्ञा है ।'—यही गीताका प्रधान सिद्धान्त है, अन्य समस्त सिद्धान्त इसीके अङ्गाङ्गीभूत और पोषक हैं ।

गीताका तत्त्व, साधन और फल

(लेखक—पं० श्रीलक्ष्मण नारायणजी गर्दे)

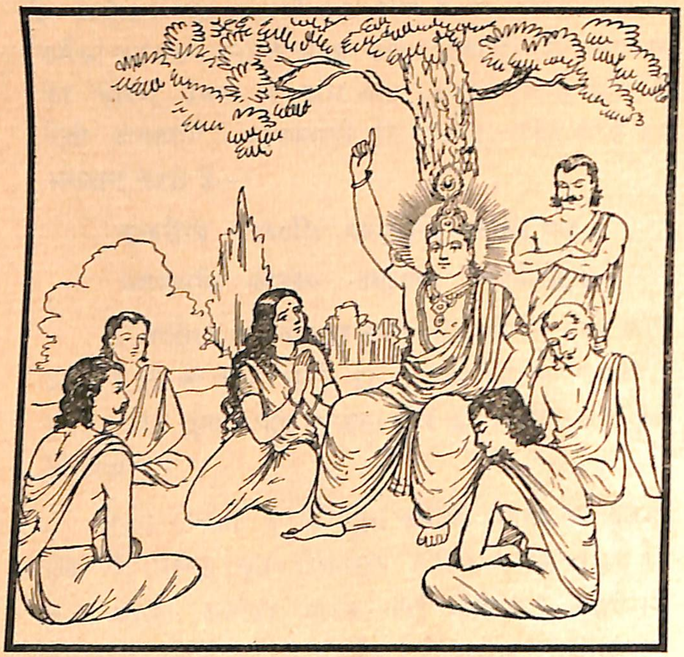
सम्पूर्ण गीता पढ़नेके पश्चात् साररूपसे एक साधारण मनुष्यके चित्तमें जो बात रह जाती है, उसीको गीता-तत्त्वाङ्कमें लिखना समुचित प्रतीत होता है ।

गीताका तत्त्व क्या है ? वह कौन-सी चीज है जिसे गीता ज्ञानदृष्टिसे परम सत्य और जगत् तथा उसके अखिल कर्मका कारण बतलाती है; जिसे जाननेके लिये बुद्धिमान् मनुष्यका चित्त बेचैन रहता या छटपटाया करता है । गीताका वह परम तत्त्व है, भगवान्—वह परब्रह्म जो अनन्त, अव्यक्तमूर्त्ति है और फिर भी जगत्में जो किसी भी समय एकांशसे ही प्रकट होता है; जो निर्गुण-निराकार है और फिर भी सब गुणों और कर्मोंका आधार है, सब गुण-कर्म जिसके ही गुण-कर्म और सब आकार जिसके ही आकार हैं ।

'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।'

हम कर्म क्यों करें ? इसका एक ही जवाब है और वह यह कि भगवान् कर्म करते हैं । ब्रह्म अकर्ता है, प्रकृति कर्त्री है और ये दोनों भाव एक ही भगवान्के हैं—एकको अक्षर भाव कहते हैं, दूसरेको क्षर; और ये दोनों जिन भगवान्के दो भाव हैं, वे क्षरसे अतीत और अक्षरसे उत्तम भगवान् पुरुषोत्तम हैं । यही पुरुषोत्तम-तत्त्व गीताका परमतत्त्व है । गीता जो युद्ध करनेको कहती है, वह इन्हीं पुरुषोत्तमका आदेश है—मामनुस्मर युध्य च । गीताद्वारा प्रतिपादित युद्ध कोई सामान्य युद्ध नहीं है; इस युद्धके प्रवर्तक भगवान् हैं, इसका हेतु कोई भगवत्सङ्कल्प है और इसका फल भी कोई भगवदुद्दिष्ट है । ये भगवान् कोई मायाविशिष्ट ब्रह्म नहीं हैं; ये वे भगवान् हैं—ब्रह्म जिनका धाम है और प्रकृतिके जो स्वामी हैं, ब्रह्म जिनकी अन्तःस्थिति है और प्रकृति जिनका अन्तर्बाह्य करण और कार्य है । इसलिये जगत्का अखिल कर्म भगवत्कर्म है, अथवा यों कहिये कि प्रकृतिद्वारा होनेवाला सारा कर्म परमपुरुष श्रीभगवान्के प्रीत्यर्थ होनेवाला महान् यज्ञ है । भगवान्का यह स्वरूप और अखिल जगत्कर्मका यह मूलभूत तत्त्व ही गीताका परम तत्त्व प्रतीत होता है ।

ऐसे भगवान् और जगत्के इस भगवत्कर्म या यज्ञस्वरूपको प्राप्त होनेका साधन क्या है ? साधन है, अर्जुन । प्रथमाध्यायमें अर्जुनका जो रूप हम देखते हैं, वह एक ऐसे मनुष्यका



द्रौपदीको आश्वासन



पाण्डवोंकी दुर्वासासे रक्षा



द्रौपदीका सन्देश



हस्तिनापुरकी राहमें

रूप है जो जगत्को कालका ग्रास बना हुआ देखकर इस जगत् और इसके सारे कर्मोंसे विरक्त हो जाता है। जगत्का स्वरूप सचमुच ही इतना भयङ्कर है कि संक्षेपमें इतना ही कहना पर्याप्त है कि इस जगत्के सब प्राणी और पदार्थ अन्तमें नष्ट होनेवाले हैं। हमारा जीवन जो हमें इतना प्यारा है, हमारे स्वजन जिनके बिना हम जी नहीं सकते, ये सभी तो अन्तमें नष्ट होनेवाले हैं। जिस जीवनका अन्त मौत है और जिस जगत्का अन्त श्मशान है—उस जीवनसे, उस जगत्से विरक्ति, विचारक्षेत्रमें तो, स्वाभाविक ही मालूम होती है। अर्जुनके सामने तो वह संग्राम उपस्थित है जिसमें उसके स्वजनोंका केवल संहार ही होनेवाला नहीं है, बल्कि उस संहारमें उसे स्वयं सहायक होना है। इसलिये ऐसे संहारपरिणामी संसारसे उसका चित्त शोकाकुल होकर हट जाता है—कर्तव्यपरायण अर्जुन किङ्कर्त्तव्यविमूढ हो जाता, उसका सारा ज्ञान खो जाता और उसकी सारी शक्ति नष्ट हो जाती है और वह एक ऐसे पुरुषकी शरण लेता है जो सदा सङ्कटकालमें उसकी सहायता करता आया है। यह शरणागति ही गीताका साधनारम्भ है, यही शरणागति इसका साधनमध्य है और यही इसकी साधनसमाप्ति है। शरणागति—कितना बड़ा शब्द है, कितना अर्थ इसमें भरा हुआ है! यह अर्थका महोदधि है, जिसके किनारे भी पहुँचना साधारण काम नहीं है। एक महान् साधन-संग्राम है, जिसमें पद-पदपर युद्ध करना है—पद-पदपर अज्ञान और मोहका त्याग और ज्ञान तथा ज्ञानयुक्त कर्मका ग्रहण है; सारा यज्ञकर्म है, आत्म-बलिदान है, अंदर और बाहर युद्ध-ही-युद्ध है और यही योग है।

इस शरणागति और युद्ध या योगका फल क्या है? मनुष्य-जीवनकी परम चरितार्थता और जगत्का परम सुखसाधन।

यही गीताको साद्यन्त देखनेसे प्रतीत होता है। परन्तु ये सारी बातें ऐसे पुरुषसे ही जाननी होती हैं जिन्होंने इन सब बातोंका अनुभव किया हो। केवल विचार करनेसे तत्त्व अधिगत नहीं होता; भगवत्कृपासे जब सत्सङ्ग लाभ होता है तभी कोई-कोई बात खुलती है और उससे, कहते हैं कि वह आनन्द लाभ होता है जो इस साधनपथमें अमृतका काम करता और साधकको आगे बढ़ाता है।

बिनु सतसंग बिबेक न होई। रामकृपा बिनु सुलभ न सोई॥

गीताका ज्ञान अपार है, उसका तत्त्व बहुत गहराईमें है, उसका साधनपथ अति दुर्गम है और फल भी इतना महान् है कि जगत्में विरले ही उसकी इच्छा करते हैं। ऐसे महामहिम ग्रन्थके विषयमें मेरा कुछ लिखना साहस ही है; पर भगवच्चर्चा किसी भी अवस्थामें पतितपावनी सुरधुनी है और इसमें क्षणकालका निमज्जन भी परम सुखदायक है, इसीलिये यह साहस किया गया है।

पवित्र जलाशय

प्राचीन युगकी सभी स्मरणीय वस्तुओंमें भगवद्गीतासे श्रेष्ठ कोई भी वस्तु नहीं है। ×××× भगवद्गीतामें इतना उत्तम और सर्वव्यापी ज्ञान है कि उसके लिखनेवाले देवताको हुए अगणित वर्ष हो जानेपर भी उसके समान दूसरा एक भी ग्रन्थ अभीतक नहीं लिखा गया। ×××× गीताके साथ तुलना करनेपर जगत्का आधुनिक समस्त ज्ञान मुझे तुच्छ लगता है; विचार करनेसे इस ग्रन्थका महत्त्व मुझे इतना अधिक जान पड़ता है कि यह तत्त्वज्ञान किसी और ही युगमें लिखा हुआ होना चाहिये। ××× मैं नित्य प्रातःकाल अपने हृदय और बुद्धिको गीतारूपी पवित्र जलाशयमें अवगाहन करवाता हूँ।

—महात्मा थारो

श्रीस्वामिनारायण-सम्प्रदायमें गीताका स्थान

(लेखक—पं० 'श्रीकृष्णवल्लभाचार्य' स्वामिनारायण, दार्शनिक-पञ्चानन, षड्दर्शनाचार्य, नव्यन्यायाचार्य, सांख्य-योग-वेदान्त-मीमांसातीर्थ)

जैसे सब सरिताओंका समावेशस्थान समुद्र है, जड-चेतनसृष्टिका उपादान-स्थान ब्रह्म है, विज्ञानोंका उद्भव-स्थान नित्यविज्ञान है, वैसे ही सारी दार्शनिक विद्याओंका समावेश-स्थान, सार्वभौम भक्ति-सृष्टिका उपादान-स्थान और मोक्ष-साधनीभूत विविध विज्ञानोंका उद्भव-स्थान गीता है; क्योंकि गीता और गीतातत्त्व, ये दोनों पराकाष्ठापन्न दिव्य वस्तु हैं। गीता है—परमात्मोचरित दिव्य शब्द-समूह, उसका तत्त्व है—तज्जन्य भावार्थ। एतादृश भावार्थ-बोधमें वक्ताका तात्पर्यज्ञान कारण होता है; वक्ताकी मति जिस विज्ञापनीय अर्थको प्रकाशित करनेकी इच्छासे शब्दोच्चारणमें प्रयोजक होती है, वह इच्छा ही तात्पर्य कहलाता है। श्रीकृष्ण परमात्माने समग्र गीतोपदेश जिस मतिसे दिया है, उस मतिको गीता-व्यासने गीतोपदेशसे ग्रहण करके सञ्जयको दिया; सञ्जय स्वयं भगवन्मतिको प्रकाशित करते हैं—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥

जिसके हृदय-स्थानमें चित्तवृत्तिनिरोधात्मक योगके प्राप्तिकारण समर्थ परमात्मा श्रीकृष्ण भक्तिगृहमें बसते हों और लोक, शास्त्र तथा हृदयकी अनुमत पृथाका अपत्य पुमान् स्व-स्व धर्म, ज्ञान-वैराग्यात्मक धनुषसहित हो, वहीं सर्वविध श्री—निरतिशय सुखात्मक सम्पत्ति और मायातरणात्मक विजय और समग्र विभूति है—यह मेरी ध्रुवा—तर्काप्रतिहत, त्रिकालाबाधित नीतिः—सर्वत्र नीयते अर्थात् शास्त्रपुराणादिमें अनुस्यूत, मम मतिः—भगवद्वाक्य-जन्या भगवत्तात्पर्यज्ञानावबोधिनी बुद्धि है। श्रीकृष्ण परमात्माकी मति और गीताभावार्थ, ये दोनों नित्य-सम्बद्ध हैं; अतएव सब दार्शनिक विद्याओंका समावेश गीतामें सुसम्भवित है।

हेय, हेयसाधन, हान और हानसाधन—इन चतुर्व्यूहको लक्ष्य कर सब दर्शनशास्त्र प्रवृत्त हुए हैं। हेय है—दुःख; हेयका हेतु है—अज्ञानादि; हान है—दुःखकी आत्यन्तिकी निवृत्ति या नित्यसुखावाप्ति; हानहेतु है—तत्त्वज्ञानादि या भक्ति। न्याय-वैशेषिकाचार्योंने शरीर, श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण, मन—ये छः इन्द्रिय; शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, प्रवृत्ति—ये छः विषय; इनके छः ज्ञान, सुख और दुःख—ये इकीस दुःख हेय बतलाये हैं। सांख्याचार्य कपिलजीने 'दुःखत्रयाभिघातात्' इस वाक्यसे आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक त्रिविध दुःख बतलाये हैं। योगाचार्य पतञ्जलिने—

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।

—इस सूत्रसे परिणामदुःख, तापदुःख और संस्कारदुःखसे प्रयोज्य सर्वविध दुःख बतलाया है। वेदान्तकारने अन्योन्याध्यासव्याप्य दुःख बतलाया है। मीमांसाकारने अभ्युदय-प्रतिद्वन्द्विकर्मजन्य दुरितसे दुःख बतलाया है। इन सबको गीतामें—

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।

—इत्यादि वाक्योंसे हेयरूपमें बतलाया है।

उन दर्शनकारोंमेंसे नैयायिक वैशेषिकोंने—

'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये'

—इत्यादि सूत्रसे मिथ्याज्ञानको, सांख्य-योगने द्रष्टृ-दृश्यके संयोगको और मीमांसकोंने अभिचारादि कर्मको हेयहेतु कहा है। वेदान्ती अविद्यात्मकोपाधिको हेयहेतु कहते हैं। गीताजी-में इन सबको—

एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।
कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः।
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।

—इत्यादि वाक्योंसे प्रकाशित किया गया है।

सब दर्शनकारोंने दुःखकी आत्यन्तिकी निवृत्तिको या किसीने नित्यसुखको हान कहा है। गीताजीमें—

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते।

जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥

—इन वचनोंसे हानका स्वरूप दिखलाया है ।

सब दर्शनकारोंने हानहेतु तत्त्वज्ञानको बतलाया है, किसी-किसीने भक्तिको बतलाया है । गीताजीमें—

सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा ॥
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥
देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ।
मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।

—इत्यादि वाक्योंसे हानहेतुका स्वरूप बतलाया है ।

इसके अतिरिक्त व्यासजीका ब्रह्मतत्त्व, जैमिनिका यागतत्त्व, नारदजीका भक्तितत्त्व, कपिलका सांख्यतत्त्व, पतञ्जलिका यम-नियमादिसमाध्यन्ततत्त्व, मनुका आश्रमाद्यनुसार धर्मतत्त्व, उपनिषदोंकी गत्यगती तथा सर्वत्र ब्रह्मभाव, त्रिगुणानुसार उपासक-उपास्य-तत्प्राप्त्यादि और वेद-शास्त्रादिकी विविध विद्याएँ तत्त्वरूपसे गीताजीमें सङ्कलित हैं; अतः सब विद्याओंका समावेशस्थान गीता है । गीताभ्यासीकी अनन्यशरणागति सुदृढ हो जाती है, क्योंकि परमात्माने—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः ॥
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ।

—इत्यादि वाक्योंसे मुक्तिदातृत्वकी प्रतिज्ञा की है, अतः सब वैष्णवाचार्योंका सिद्धान्त भी इसीमें समन्वित है । अतएव सब प्रकारकी भक्तिका—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।

—इत्यादि वाक्योंसे उपादान-स्थान गीता ही है । प्रत्येक अध्यायमें विविध विज्ञानोंका उद्भवस्थान गीताजी हैं । समग्र गीतामें परब्रह्म समीरित है । षट्कत्रयमें प्रथम ज्ञान-कर्मात्मक निष्ठा बतलायी गयी है, भगवत्तत्त्व-याथात्म्यसिद्धिके लिये भक्तियोग दिखलाया गया और प्रधानपुरुष, व्यक्त आदिका विवेचन, कर्म, बुद्धि, भक्ति आदि विशेषरूपसे दिखलाये गये । जगज्जन्मादिकारण परमात्माके वाक्यात्मक गीतामें किसका समावेश न हो ? विश्वरूपमें सर्वविधसमावेशवत् गीतामें सब प्रमाण-प्रमेयका समावेश है ।

संस्कृत गीताजीपर श्रीस्वामिनारायणसम्प्रदायके भगवान् श्रीस्वामिनारायणके शिष्य योगीन्द्र विद्वद्वर्य श्रीगोपालानन्द-स्वामीने संस्कृतभाष्य श्रीस्वामिनारायणसम्प्रदाय-विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्तानुकूल रचा है ।

श्रीश्रीस्वामिनारायणने स्वरचित 'शिक्षापत्री' ग्रन्थमें तथा 'श्रीभगवद्गीता', श्लोक ९४ में गीताजीको सच्छास्त्ररूपमें स्वीकार किया है ।

संसारका सम्मान्य ग्रन्थ

गीताका तत्त्व बहुत ही गहन है, इसके एक-एक श्लोकपर महाभारतके समान बड़े ग्रन्थ लिखे जा सकते हैं । गीताकी विमल विवेचनाओंको देखकर चाहे किसी देशका विद्वान् हो, चकित हो जाता है—सुरभारतीसेवकोंका तो कहना ही क्या है ! जिस गीताको सारा संसार सम्मानकी दृष्टिसे देखता है, वह गीता साधारण वस्तु नहीं है ।

—महामहोपाध्याय पण्डितप्रवर श्रीलक्ष्मण शास्त्री द्राविड़

शरणागति ही गीताका परम तत्त्व है

(लेखक—पं० श्रीनारायणचरणजी शास्त्री, तर्क-वेदान्त-मीमांसा-सांख्यतीर्थ)

श्रीमद्भगवद्गीता ही सर्वसम्मत गुह्यातिगुह्य, सारातिसार, प्रमाणातिप्रमाण ब्रह्मविद्याका भंडार है। उसके लिये कहा भी गया है—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

गोपालनन्दन भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने समस्त उपनिषद्-रूपी गौओंसे, महाबुद्धिशाली पार्थको बछड़ा बनाकर गीतारूप महान् अमृतका दोहन किया है, जिसको पी-पीकर मुमुक्षुजन आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक—इन त्रिविध दुःखोंसे मुक्त होते तथा निर्वाण-पदको प्राप्त करते हैं। यही कारण है कि सम्पूर्ण संसारमें गीताका महत्त्व अनुपम, अलौकिक और अपरिमित समझा जाता है। यद्यपि विभिन्न सम्प्रदायोंके अनेकों विद्वान् आचार्योंने अपनी-अपनी शक्ति और सिद्धान्तके अनुसार सकलसच्छास्त्रशिरोमणि गीताको विविध भाष्यों, टीकाओं और टिप्पणियोंसे विभूषित करके अपना-अपना इष्ट-साधन किया है, तथापि गीताका प्रतिपाद्य तत्त्व अत्यन्त गम्भीर होनेके कारण समग्ररूपसे ज्ञानका विषय हो ही नहीं सकता—यही उसकी महत्ता है। परन्तु फिर भी मानवगण अपनी-अपनी प्रतिभा एवं साधनाभूत अन्तःकरणके अनुसार गीता-तत्त्वको अंशतः समझकर भी अजर-अमर होकर चिर-शान्तिका आस्वादन करते हैं। अतः हताश होनेकी कोई बात नहीं है। **'अथावाच्यः सर्वः स्वमतिपरिणामावधि गृणन्'** इस वचनके अनुसार गीता-तत्त्वके विषयमें यथाशक्ति विचार करना उचित ही है।

यह तो विदित ही है कि सत्-चित्-आनन्दघन परब्रह्मपरमात्मस्वरूपकी प्राप्ति करानेके लिये तीन काण्डोंवाले वेदोंका आविर्भाव हुआ है। उनसे मनुष्य अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्डका अवलम्बन करके अभीष्ट सिद्ध करते हैं। परन्तु वेदोंके अर्थ इतने दुरधिगम्य हैं कि स्वल्पबुद्धिवाले साधारणजन उनसे सम्यक् लाभ नहीं उठा पाते। इसीलिये परब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्णने कृपा-परवश होकर अर्जुनको निमित्त बनाया तथा सबके हितके लिये गीतोपदेशका आविष्कार किया। जिस प्रकार वेदोंमें काण्डत्रयका प्रतिपादन किया गया है, उसी तरह गीताजीमें भी है। क्योंकि 'कारणगुणा हि कार्यगुणानारभन्ते' इस न्यायसे कारणका गुण कार्यमें अन्वित होता ही है। अस्तु, गीताके प्रथम षट्कमें कर्मकाण्ड अर्थात् कर्मयोग अथवा कर्मनिष्ठाका, द्वितीय षट्कमें उपासनाकाण्ड अर्थात् भक्तियोगका और तृतीय षट्कमें ज्ञानकाण्ड अर्थात् ज्ञानयोगका निरूपण किया गया है। इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतामें वेदोक्त त्रिकाण्डोंका अत्यन्त साररूपसे निरूपण होनेके कारण वह वेदोंसे भी अधिक ग्राह्य है। जिस प्रकार दूधके ग्राह्य होनेपर भी उसका साररूप घृत अत्यधिक ग्राह्य अथवा ग्राह्यतम होता है, उसी प्रकार गीता भी निःश्रेयसकी आकांक्षा रखनेवाले मुमुक्षुजनोंके लिये अतीव उपादेय है।

गीताप्रतिपादित काण्डत्रयमें कौन काण्ड विशेषतः भगवान्के तात्पर्यका विषय है, इसका निर्णय करना बड़ा ही दुष्कर है। तथापि कतिपय आचार्योंने अपनी-अपनी रुचिके अनुसार ज्ञाननिष्ठाको ही भगवान्का तात्पर्यविषय माना है और कर्मयोग तथा भक्तियोगको ज्ञानयोगका अङ्ग बतलाया है। उन्होंने—

'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।'

'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।'

'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।'

'सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि।'

—इत्यादि श्रुति-स्मृतिवाक्योंके आधारपर ज्ञानयोगकी ही प्रधानता सिद्ध की है। कुछ आचार्य कहते हैं कि भक्तियोग ही गीताकी पराकाष्ठा है, उसीसे साक्षात् मोक्षकी प्राप्ति होती है। ज्ञानयोग और कर्मयोग भक्तियोगके अङ्गभूत हैं, अतएव उनका कोई स्वतन्त्र फल नहीं होता; क्योंकि 'अङ्गिनः फलमङ्गे' इस न्यायसे अङ्गीकी सफलतासे अङ्ग भी सफल माना जाता है। इस विषयमें गीताके ही वाक्य प्रमाणभूत हैं—

'भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।'

'मद्भक्तिं लभते पराम्।'

'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।'

—इत्यादि। इस प्रकार कुछ आचार्योंके मतसे

भक्तियोग ही निःश्रेयसका साधन सिद्ध होता है। इन दोनों मतोंके अतिरिक्त आधुनिक कालके पण्डितप्रवर महात्मा तिलकने अपने 'गीतारहस्य' नामक ग्रन्थमें कर्मयोगको ही भगवान् श्रीकृष्णका परम तात्पर्य सिद्ध किया है। उनकी इस मान्यताके आधार ये वचन हैं, जो गीताके ही हैं—

'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।'
'न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।'
'नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।'
'असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः।'
'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।'
नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥

इन सबके अलावा कई आचार्योंने कर्मयोग तथा ज्ञानयोगमें कोई विरोध न मानकर समुच्चयवाद ही गीताका तात्पर्य-विषय है, यह सिद्ध करनेके लिये श्रुति-स्मृतिके निम्नाङ्कित प्रमाण दिये हैं—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥
कर्मणा सहिताज्ज्ञानात्सम्यग्योगोऽभिजायते।
ज्ञानं च कर्मसहितं जायते दोषवर्जितम्॥

इन वचनोंसे कुछ आचार्य कर्म-ज्ञानसमुच्चयको ही मोक्षका साधन मानते हैं। इन सम्पूर्ण मतोंमें कौन मत ठीक है और कौन मत ठीक नहीं है, यह बतलानेकी चेष्टा करना सर्वथा अनुचित है। क्योंकि गीता साक्षात् श्रीभगवान्‌की वाणी है; उससे जिसकी जैसी भावना रहती है एवं जिसको जो अच्छा लगता है, वह वैसा ही अर्थ निकालता है और उसीके द्वारा अपनी इष्टसिद्धि करता है। ज्ञानके पक्षपाती ज्ञानयोगको ही उत्कृष्ट मानते हैं, भक्तिके पक्षपाती भक्तियोगकी ही प्रशंसा करते हैं, कर्मके पक्षपाती कर्मयोगको ही सर्वोत्तम बतलाते हैं और समुच्चयके पक्षपाती ज्ञान तथा कर्मके समुच्चयको ही अच्छा समझते हैं। वस्तुतः सभी मत शास्त्रप्रतिपादित एवं युक्तियुक्त होनेके कारण ठीक हैं। शास्त्रोंमें सब तरहके लोगोंके लिये विविध प्रकारके वाक्य मिलते भी हैं। तभी तो विभिन्न-विभिन्न सम्प्रदायोंका आविष्कार हुआ है, अन्यथा होता ही कैसे!

किन्तु फिर भी विचार करनेपर यही सुसङ्गत, सुसमन्वित एवं समीचीन प्रतीत होता है कि गीतामें स्थान-स्थानपर कर्मयोग, भक्तियोग एवं ज्ञानयोगका निरूपण होनेपर भी स्वरूपनिष्ठा अर्थात् शरणागति ही गीता-गायक परमात्मा श्रीकृष्णका परम तात्पर्य-विषय है। शरणागति ही गीताकी आत्मा है, अन्य सब उसीके अङ्ग हैं। यह बात केवल कथनमात्रसे नहीं, अपितु युक्तियों और प्रमाणोंसे सिद्ध होती है। वक्ताका तात्पर्य किस विषयसे है, इसका निर्णय करनेके लिये मीमांसकोंने तात्पर्यबोधक प्रमाणोंका संग्रह इस प्रकार किया है—

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये॥

अर्थात् उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद, उपपत्ति—इन सात प्रमाणोंसे तात्पर्यका निर्णय होता है। ये सातों प्रमाण शरणागतिमें मिल जाते हैं। गीतामें जब उपदेशोंका आरम्भ होता है, तब अर्जुन भगवान्‌से कहते हैं—

'यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥'

'जो निश्चितरूपसे श्रेयस्कर हो, वह मुझ शरणागतको बतलाइये।' इस वाक्यमें जो 'प्रपन्न' शब्द आया है, वह स्पष्ट ही शरणागतिका बोध कराता है; अतएव उपक्रम शरणागतिका ही हुआ। जिसका उपक्रम, उसीका निरूपण होता है। यदि शरणागतिका उपक्रम हुआ है तो प्रसङ्गवशात् अन्यान्य विषयोंका वर्णन करके शरणागतिकी ही पुष्टि की जायगी, अन्यथा असङ्गतिके कारण विचारवान् पुरुषोंकी उसमें प्रवृत्ति ही नहीं होगी। अतः उपसंहारमें तो शरणागति प्रसिद्ध ही है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

भगवान् कहते हैं कि 'हे अर्जुन! तुम सम्पूर्ण धर्मोंको छोड़कर मेरी शरणमें आ जाओ। मैं तुमको सब पापोंसे मुक्त कर दूँगा; शोक करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।' इस कथनमें भी शरणागतिका विधान स्पष्ट शब्दोंमें किया गया है। इसी प्रकार अभ्यास भी शरणागतिका ही है—

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते.....................।'
'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥'

—इत्यादि अनेक स्थलोंपर शरणागतिका पुनः-पुनः कथन किया गया है—जैसा कि उपनिषद्‌में 'तत्त्वमसि' का

नौ बार उपदेश आया है । अपूर्वता भी शरणागतिकी ही है; क्योंकि प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमानादि तत्तत्प्रमाणोंसे शरणागतिकी उपलब्धि नहीं होती, केवल शास्त्रोंसे ही शरणागतिकी प्राप्ति होती है—शास्त्रोंमें भी विशेषतः गीताके ही वाक्योंसे ! अतः अबाधित, अनधिगतविषय होनेके कारण गीताका परम तात्पर्य शरणागतिमें ही है । फल तो प्रसिद्ध ही है—

'मायामेतां तरन्ति ते ।'

'......सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।'

—इन वाक्योंमें जो अविद्यातरण, समस्त पापोंसे विमुक्ति और शोकापनोदनका उल्लेख है—ये सब शरणागतिके ही फल हैं । ऐसे ही अर्थवाद भी शरणागतिके लिये प्रस्तुत है—

'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ।'

जब शरणागतिका एक अंश भी जन्म-मरणके महान् भयसे रक्षा करता है, तब समग्र शरणागति कौन फल नहीं दे सकती ? और वास्तवमें बात तो यह है कि जो वस्तु स्वतन्त्र इच्छाका विषय अर्थात् मुख्य पुरुषार्थरूप नहीं है, उसीके लिये अर्थवादकी आवश्यकता है । शरणागति तो स्वयं पुरुषार्थरूप है, उसमें प्रशंसारूप अर्थवादकी आवश्यकता ही क्या है ?

अब रही उपपत्ति, सो शरणागतिमें बहुत अच्छी है । सांख्याचार्योंको छोड़कर प्रायः सभी दार्शनिकोंने स्वीकार किया है कि मायाके अधिष्ठाता परब्रह्म परमात्मा ही हैं । ब्रह्मसूत्रमें भी कहा गया है—'तदधीनत्वादर्थवत् ।' अर्थात् माया परमात्माके अधीन होकर ही विविध कार्य कर सकती है । अतः जिस मायासे बन्धन होता है, वह माया परमात्माकी एक शक्ति है और यदि उस मायासे छुटकारा पाना हो तो परमात्माकी शरणमें जाना अनिवार्य ही है; अन्यथा कभी मुक्ति नहीं हो सकती । इसके अतिरिक्त समस्त साधन भी परमात्माकी प्रसन्नता या अनुग्रहद्वारा ही फलित होते हैं, अन्यथा नहीं । अस्तु, इन सातों प्रमाणोंसे शरणागति ही गीताका तत्त्व है, यह निर्विवाद सिद्ध होता है ।

भगवत्स्वरूपके बलका नाम ही शरणागति है । मुमुक्षुके लिये शरणागतिसे बढ़कर सुन्दर, सरल एवं शास्त्रप्रतिपादित उपाय और कोई नहीं है । गीतामें उसी शरणागतिका विधान किया गया है । अतः वही गीताका सर्वोत्कृष्ट तत्त्व है । क्योंकि स्वयं श्रीभगवान्‌ने—

'इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ।'

—इस वाक्यसे गुह्यातिगुह्यतर ज्ञानकी प्रशंसा की है और पुनः—

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥

—यह प्रतिज्ञा करके 'सर्वधर्मान् परित्यज्य......' इस श्लोकसे शरणागतिको ही अत्यन्त गुह्यतम बतलाया है । अतः शरणागति ही गीताका परम तत्त्व है; और सब उसीके शेष हैं ।

सर्वप्रिय काव्य

इतने उच्च कोटिके विद्वानोंके पश्चात् जो मैं इस आश्चर्यजनक काव्यके अनुवाद करनेका साहस कर रहा हूँ, वह केवल उन विद्वानोंके परिश्रमसे उठाये हुए लाभकी स्मृतिमें है । और इसका दूसरा कारण यह भी है कि भारतवर्षके इस सर्वप्रिय काव्यमय दार्शनिक ग्रन्थके बिना अंगरेजी साहित्य निश्चय ही अपूर्ण रहेगा ।

—सर एडविन आरनल्ड

गीतामें क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम-तत्त्व

(लेखक—श्रीमन्निजानन्द-सम्प्रदायके आद्य धर्मपीठस्थ आचार्य श्रीश्रीधनीदासजी महाराज)

गीताका गौरव, उसके विषयकी महत्ता एवं उसके स्वरूपका गाम्भीर्य अत्यन्त ही दुरूह और उत्कृष्ट है; इसको तत्त्वतः तो केवल गोपालजी ही कह सकते हैं। यह निर्विवाद है कि गीता गोविन्दका हृदय है और उसमें परम तत्त्व ओत-प्रोत होकर प्रवाहित हो रहा है। उसके अन्तस्तलसे आजतकके अनेक विद्वानों एवं संत-महात्माओंने अगणित रत्नोंको हस्तगत किया है और अभी भी करते जा रहे हैं। फिर भी सम्भव है कि उसकी तहमें अभी बहुत-से अमूल्य और अनूठे रत्न भरे पड़े हों और उनकी ओर अन्तर्दृष्टि करनेका हमें अवकाश ही न प्राप्त हुआ हो ! क्योंकि—

'शर्करा कर्करा न स्यादमृतं न विषं भवेत्।'

अस्तु, यों तो गीता-तत्त्वके प्रतिबिम्बको शब्दोंमें उतारना—उसकी रूप-रेखाका चित्र खड़ा करना प्रभु-कृपापर ही अवलम्बित है; तथापि अमृत और मिश्रीको चाहे जैसे और जिधरसे चाटिये, उसके माधुर्य-रसमें न्यूनता न प्रतीत होगी। बस, यही बात गीतामृतके सम्बन्धमें भी समझनी चाहिये। गीतारूपी अमृत-सिन्धुमें चाहे जितनी बार गोता लगाया जाय, खाली न जायगा और न कभी उसका माधुर्य ही कम होगा। यद्यपि गीतामें अनेक विवादास्पद तत्त्वोंका गौरवके साथ सरल एवं संक्षिप्तरूपमें सङ्कलन किया गया है, परन्तु उन सबका अन्वेषण-गवेषण आज गहन बन गया है। गीताके एक-एक शब्दपर हमारे इतिहास-पुराणोंमें निर्वचन भरे पड़े हैं। अतः उन्हींके अनुसार इस लेखमें गीताके 'क्षर, अक्षर' शब्दोंपर यत्किञ्चित् प्रकाश डालनेका प्रयत्न किया जा रहा है।

गीताने लौकिक-अलौकिक सम्पूर्ण तत्त्वोंको 'क्षर', 'अक्षर' और 'पुरुषोत्तम'—इन तीन भागोंमें विभक्त करके जीवात्माको अक्षर (अविनाशी)-तत्त्वके* साथ जोड़ दिया है; अतः जीवात्म-तत्त्वके विषयमें यहाँपर पृथक् विवेचन करनेकी आवश्यकता नहीं है।

क्षर—विद्वान् पुरुष जिसको विश्व, विराट्, ब्रह्माण्ड, समष्टि-व्यष्टि, व्यक्त आदि नामोंसे सम्बोधित करते हैं; जितने पदार्थ विनश्वर और अनित्य हैं एवं जिस जगत्का उदय-लय होता है—गीता उसे 'क्षर पुरुष' कहकर पुकारती है।

अक्षर—जो निर्विकार एवं अविनाशी तत्त्व है, जिसकी प्रेरणासे यह व्यक्त विश्व प्रतीत होता है, जो इस सर्ग-विसर्ग-का सृजन करके पुनः इसे अपनेमें लीन कर लेता है, जिसकी इच्छामात्रसे असंख्य जीव इस आवर्तमें प्रवृत्त-निवृत्त होते हैं, जो पदार्थमात्रमें उत्कृष्ट चेतनरूपसे ओतप्रोत है, जिसमें यह विनश्वर विश्व स्थूल-सूक्ष्मरूपसे प्रतीत होता है—उस कारणोंके भी कारण, अनन्त ऐश्वर्यसम्पन्न चतुष्पाद विभूतिके अधिष्ठातृदेवके लिये गीतामें 'अक्षर पुरुष' संज्ञा-का प्रयोग किया गया है।

पुरुषोत्तम—जो क्षर और अक्षर—इन दोनोंसे पर, सर्व-शक्तिमान्, सच्चिदानन्दस्वरूप, पूर्णात्पूर्ण, परब्रह्म परमात्मा है—उसको गीता 'पुरुषोत्तम' कहती है। इस प्रकार लौकिक-अलौकिक सम्पूर्ण तत्त्वोंको तीन भागोंमें विभक्त करके गीताने दर्शनोंकी जटिल समस्याको सरल और संक्षिप्त-रूपमें समझाकर महान् उपकार किया है। भगवान् श्रीकृष्ण आदेश करते हैं—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥

अर्थात् विश्वमें क्षर और अक्षर नामक दो पुरुष हैं। सम्पूर्ण भूतमात्रको क्षर कहते हैं; और जो कूटस्थ निर्विकार अविनाशी ब्रह्म है, उसे अक्षर कहा जाता है। क्षर अर्थात् व्यष्टि-समष्टिमय सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड; और अक्षर अर्थात् कूटस्थ। इस कूटस्थसे भी परे 'उत्तम पुरुष' है, जिसे सब लोग 'परमात्मा'के नामसे पुकारते हैं। वह क्षर—कार्यलोक, अक्षर—ब्रह्मलोक और दिव्य ब्रह्मपुर—उत्तमपुरुष-लोक, इन तीनों

---

* ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
(गीता १५। ७)

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥
(गीता ७। ५)

लोकोंमें अपनी सत्तासे प्रविष्ट होकर सबका नियमन एवं संरक्षण करता है ।

महाभारतके शान्तिपर्वमें युधिष्ठिरके पूछनेपर भीष्मपितामह क्षर पुरुषके स्वरूपको इस प्रकार समझाते हैं—

यच्च मूर्तिमयं किञ्चित्सर्वं चैतन्निदर्शनम् ।
जले भुवि तथाकाशे नान्यत्रेति विनिश्चयः ॥
कृत्स्नमेतावतस्तात क्षरते व्यक्तसंज्ञितम् ।
अहन्यहनि भूतात्मा ततः क्षर इति स्मृतः ॥

अर्थात् 'हे युधिष्ठिर ! जल, स्थल तथा आकाशमें जो कुछ मूर्तिमान् दृष्टिगोचर होता है; समस्त विश्वमें जो कुछ व्यक्त है, वह सब क्षरके अतिरिक्त नहीं—यह निश्चय जानो । अक्षरके अतिरिक्त विश्वके सम्पूर्ण पदार्थ, समस्त प्राणिमात्र प्रतिदिन नाश होते हैं; अतएव उन्हें क्षर कहा गया है ।' इसी प्रकार पुराणसंहितामें श्रीव्यासजीका भी वचन है—

अव्याकृतविहारोऽसौ क्षर इत्यभिधीयते ।
तत्परं त्वक्षरं ब्रह्म वेदगीतं सनातनम् ॥

तात्पर्य यह है कि अव्याकृतका विहार अर्थात् अव्यक्तसे जो उदय-लयरूपमें विकास पाता है, उसे क्षर कहते हैं । उससे परे अक्षर ब्रह्म है, जिसे वेदने सनातन प्रतिपादित किया है । इसके अतिरिक्त भागवतके तृतीय स्कन्धमें भी यही बात आयी है—

अण्डकोशो बहिरयं पञ्चाशत्कोटिविस्तृतः ।
दशोत्तराधिकैर्यत्र प्रविष्टः परमाणुवत् ॥
लक्ष्यन्तेऽन्तर्गताश्चान्ये कोटिशो ह्यण्डराशयः ।
तमाहुरक्षरं ब्रह्म सर्वकारणकारणम् ॥

'जिसमें पचास करोड़ योजन विस्तारवाला यह विश्व उत्तरोत्तर दसगुने सात आवरणोंसहित परमाणुवत् भासता है एवं जिसके अन्तर्गत और भी ऐसे करोड़ों ब्रह्माण्ड लक्षित होते हैं—उसी सब कारणोंके कारणको 'अक्षर ब्रह्म' कहते हैं ।'

महाभारतके शान्तिपर्वमें अक्षर पुरुषका निर्वचन करते हुए भीष्मपितामह कहते हैं—

अक्षरं ध्रुवमेवोक्तं पूर्णं ब्रह्म सनातनम् ।
अनादिमध्यनिधनं निर्द्वन्द्वं कर्तृ शाश्वतम् ॥
कूटस्थं चैव नित्यं च यद्वदन्ति मनीषिणः ।
यतः सर्वाः प्रवर्तन्ते सर्गप्रलयविक्रियाः ॥

'निश्चय ही अविनाशी सनातन ब्रह्मका नाम अक्षर है । उसीको नित्य और कूटस्थ भी कहते हैं । उसी नित्य एवं शाश्वत कर्ताके द्वारा सृष्टि, प्रलय आदि क्रियाएँ होती हैं ।'

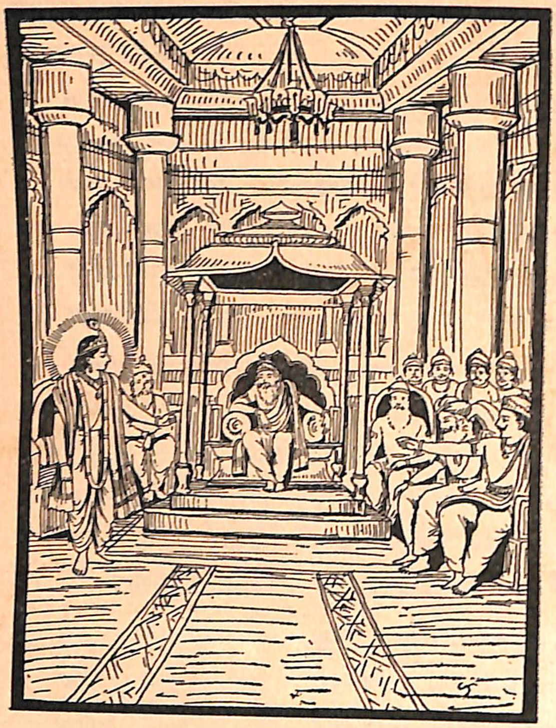
'अक्षर' और 'कूटस्थ' पदोंका इतना सुन्दर एवं शुद्ध निर्वचन अन्यत्र कहीं नहीं मिलेगा । पूर्ण, ब्रह्म, सनातन आदि शब्द यह भलीभाँति स्पष्ट कर देते हैं कि कूटस्थका अर्थ शुद्धब्रह्म है; ब्रह्ममें मायाका होना किसी प्रकार सम्भव नहीं है । कतिपय विद्वान् 'अक्षर' शब्दसे जीवको ग्रहण करते हैं; परन्तु पूर्ण, ब्रह्म, कर्तृ आदि शब्दोंसे उनकी मान्यताका स्वतः निराकरण हो जाता है । कई विद्वान् अक्षरका अर्थ प्रकृति करते हैं, पर वह भी 'अक्षरमम्बरान्तधृतेः' और 'सा च प्रशासनात्' (१ । ३ । १०-११) इत्यादि ब्रह्मसूत्रों एवं 'एतस्य वाक्षरस्य प्रशासने गार्गि !' इत्यादि अनेक श्रुति-वचनोंके प्रतिकूल होनेके कारण अमान्य है । अस्तु, शतशः प्रमाणोंसे यह स्पष्ट होता है कि गीतोक्त 'अक्षर' तथा 'कूटस्थ' पद केवल ब्रह्मके लिये ही हैं ।

'उत्तम पुरुष' पदसे गीताको अक्षरातीत परमात्मा ही अभिप्रेत है, जो पूर्णातपूर्ण सर्वोत्कृष्ट चिदानन्दघन सच्चिदानन्द-स्वरूप परम धाममें अविचल विराजमान है, जिसका वर्णन मुण्डक श्रुतिने 'अक्षरात्परतः परः' कहकर किया है एवं जो श्वेताश्वतरोपनिषद्के अनुसार 'स वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकः' अर्थात् ब्रह्मधाममें विविध पराशक्तियोंके सहित पूर्णातिपूर्ण तथा अविचलरूपसे विद्यमान है । इस प्रकार गीताने नित्य, अनित्य सम्पूर्ण तत्त्वोंको तीन भागोंमें विभक्त करके 'क्षर', 'अक्षर' एवं 'पुरुषोत्तम' शब्दोंको स्पष्ट कर दिया है ।

यहाँ पाठकगण 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इस सिद्धान्त-वचनके विरुद्ध दो ब्रह्मोंकी व्याख्या पढ़कर आश्चर्यमें न पड़ें । 'एकमेवाद्वितीयम्' इस श्रुतिमें 'एक' पद 'एके मुख्यान्य-केवलाः' के अनुसार मुख्यार्थक है । वस्तुतः अक्षर पुरुष और पुरुषोत्तम ब्रह्म अङ्गाङ्गि-भावसे एक ही हैं, लीला-भेदसे ही स्वरूप-भेदका वर्णन किया गया है । यही बात पुराण-संहितामें भी लिखी गयी है—

अक्षरः परमात्मा च पुरुषोत्तमसंज्ञकः ।
एकमेवाद्वयं ब्रह्म द्विधा लीलाविभेदतः ॥

अस्तु, परमात्माका स्वरूप 'सत्, चित्, आनन्द' इस प्रकार त्रिवृत्त है । 'स एकधा भवति त्रिधा भवति' इत्यादि श्रुतियाँ इसी ओर सङ्केत करती हैं । 'सदंशविश्वरूपाय' अर्थात् सदंशद्वारा विश्वकी रचना होती है । चिदंश स्वयं प्रतिष्ठित



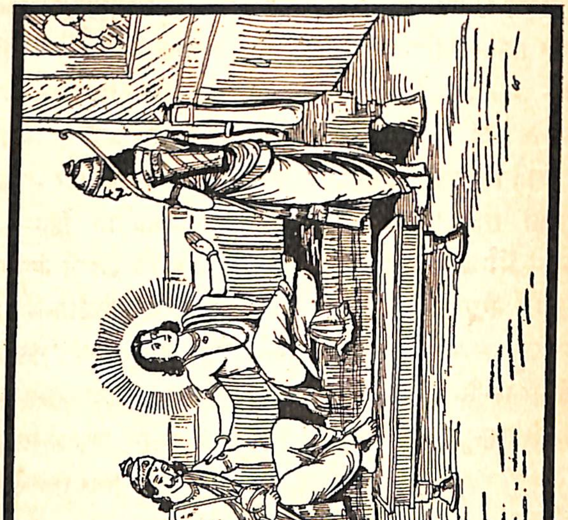
कौरव-सभामें भाषण



राजसभामें विराट् रूप



विदुरके घर



समदर्शिता

है । एवं आनन्दांश ब्रह्मानन्द-लीलाके लिये है । 'रसो वै सः' इत्यादि श्रुति-वचन उपर्युक्त अभिप्रायको पुष्ट करते हैं ।

अक्षरे सृष्टिकर्तृत्वान्न शृङ्गाररसोदयः ।

'अक्षरमें सृष्टिका कर्तृत्व होनेसे उसमें शृङ्गार-रसका उदय नहीं होता ।'

उपर्युक्त अक्षर, अक्षरातीतके गूढ़ रहस्यको गीतामें अनेक स्थानोंपर व्यक्त किया गया है । 'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव' इत्यादि वचनोंसे भगवान्‌ने अपने सृष्टिकर्ता स्वरूपकी ओर सङ्केत किया है । और 'यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः' इन वचनोंसे उस लीला-पुरुषोत्तम विग्रहकी ओर सङ्केत है, जिसने व्रज-रासादिमें 'रसो वै सः' को अक्षरशः चरितार्थ किया है । इस प्रकार लीला-विग्रह भगवान् श्रीकृष्णमें गीताके पुरुषोत्तम और अक्षर आदि सभी पद अविरोधरूपसे घट जाते हैं !

रहस्यमयी गीता

(लेखक--परमहंस श्रीस्वामी योगानन्दजी महाराज, योगदा सत्संग, कैलिफोर्निया)

दर्शन तथा आचार-शास्त्रके इतिहासमें भगवद्गीताके गूढार्थ अर्थात् इसके अंदर आये हुए रूपकका मर्म समझना बहुत ही आनन्ददायक तथा रहस्यमय कार्य है । पहले, संक्षेपमें, हम महाभारतकी कथाका उल्लेख कर लें—जिससे इसके मर्मको समझनेमें सरलता हो जाय ।

धृतराष्ट्र और पाण्डु, दो भाई थे । धृतराष्ट्र बड़ा था, पाण्डु छोटा । धृतराष्ट्रके सौ लड़के थे, पाण्डुके पाँच; परन्तु ये पाँचों थे बड़े ही वीर और योद्धा । धृतराष्ट्र गद्दीपर बैठे, पर ये थे जन्मके अन्धे; इसलिये उनका ज्येष्ठ पुत्र दुर्योधन ही उनकी जगहपर राज्य करता था । जूएके खेलमें एक बार दुर्योधनने पाण्डवोंसे उनका राज्य जीत लिया और उन बेचारोंको बारह वर्षके लिये वनवास भोगना पड़ा । वनवासका समय समाप्त हो चुकनेपर पाण्डव जब लौटे और उन्होंने जब अपने हिस्सेका राज्य माँगा तो कौरवोंने साफ 'ना' कर दिया और यह कहा कि युद्धके बिना सूईकी नोकके बराबर भी जमीन नहीं मिलेगी ।

इस कारण पाँचों पाण्डवोंने अपने नीतिगुरु भगवान् श्रीकृष्णसे राय ली और श्रीकृष्णने स्नेहवश अर्जुनका सारथी होना स्वीकार कर लिया । धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्रके मैदानमें दुष्ट दुर्योधनके अधिनायकत्वमें कौरवोंकी सेना तथा पाँचों पाण्डवोंके अधिनायकत्वमें पाण्डवोंकी सेना जुटी ।

राजा धृतराष्ट्र थे अन्धे, इसलिये उन्होंने व्याससे प्रार्थना की कि वे उन्हें युद्धकी सारी बातें सुनाते चलें । अपने स्थानमें व्यासने सञ्जयको दिया । सञ्जयके हृदयमें किसी भी दलके लिये पक्षपात नहीं था और उन्हें व्यासकी कृपासे

आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि प्राप्त थी, इससे वे हस्तिनापुरमें बैठे-बैठे ही युद्धके सारे दृश्यको देख सकते थे ।

गीताका श्रीगणेश धृतराष्ट्रके द्वारा सञ्जयसे पूछे हुए इस प्रश्नसे होता है, 'हे सञ्जय ! धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्रमें युद्धके लिये जुटे हुए मेरे बच्चे कौरव और पाण्डव क्या कर रहे हैं ?'

भगवान् व्यासद्वारा प्रणीत श्रीमद्भगवद्गीतामें वस्तुतः एक ऐसे युद्धका वर्णन मिलता है, जो ऐतिहासिक दृष्टिसे सचमुच कुरुक्षेत्रके मैदानमें लड़ा गया था । व्यासजीने कतिपय योद्धाओंके नाम भी लिखे हैं और वे सब सत्य हैं । परन्तु साथ ही वे कुछ ऐसे मनोवैज्ञानिक चरित्र भी हैं जिनमें मनुष्यके अंदर होनेवाले सत्-असत्, शुभ-अशुभ भावों और विचारोंमें होते रहनेवाले संघर्षकी स्पष्ट ध्वनि है । पात्रोंके नामोंमें जो संस्कृतके शब्द व्यवहृत हुए हैं, उनके अर्थ और भावपर जब हम विचार करते हैं तो उन नामोंके द्वारा ही उन पात्रोंकी सैनिक क्षमताका पता लग जाता है । उदाहरणार्थ, धृतराष्ट्रका अर्थ है 'धृतम् राष्ट्रम् येन' अर्थात् जो लगाम पकड़े हुए हो--अर्थात् बुद्धिहीन मन । शरीर है रथ, इन्द्रियाँ हैं घोड़े, मन है लगाम, बुद्धि है सारथी और आत्मा है रथी । बुद्धिकी सहायता अथवा प्रकाशके बिना मन इन्द्रियोंका गुलाम हो जाता है, ठीक जैसे सारथीके अभावमें घोड़े लगामको लिये-दिये भाग जाते हैं । इसीलिये बुद्धिरहित मन अन्धा होता है; उसका कोई ठिकाना नहीं कहाँ जा गिरे, कहाँ जा धँसे ।

गीताके पात्र निखिल ब्रह्माण्डके प्रतीक

व्यास–निखिल सृष्टिके स्रष्टा–दो रूपोंमें, दोनोंमें समानरूपसे व्याप्त हमारे सामने आते हैं । उनकी दो सन्तान हैं—

धृतराष्ट्र और पाण्डु; धृतराष्ट्र जड पार्थिव जगत्‌का प्रतीक है और पाण्डु चेतन आत्मसत्ताका प्रतीक। चेतन ही जडपर अपना शासन रखता है। इसीको यदि बाइबिलकी भाषामें व्यक्त करना चाहें तो कह सकते हैं कि व्यास हैं जगत्पिता प्रभु (God, the Father) के स्थानपर, पाण्डु हैं चेतन सत्ता 'ईसा'के स्थानपर और धृतराष्ट्र हैं 'होली गोस्ट' के स्थानपर।

गीताके पात्रोंकी सूक्ष्म मीमांसा

व्यास आत्मा हैं, जो परमात्माके ही प्रतिबिम्ब हैं। प्रतिबिम्ब बिम्बका कुछ ही आभास दे सकता है। जैसे सूर्य और उसका प्रतिबिम्ब, ठीक इसी प्रकारसे परमात्मा और आत्मा। व्यास विचित्रवीर्यके सहोदर भाई हैं। हजारों जलभरे प्यालोंमें जिस प्रकार एक ही सूर्यके हजारों प्रतिबिम्ब होते हैं, उसी प्रकार एक ही परमात्मा भिन्न-भिन्न शरीरोंमें अनेक आत्माओं-के रूपमें प्रकट होता है। व्यास उस आदिम निष्क्रिय परन्तु सचेष्ट आत्माके प्रतीक हैं, जिसकी द्विधा शक्तियोंके दो रूप प्रकट होते हैं—एक है मन अर्थात् अन्धे नरेश धृतराष्ट्र और दूसरे हैं विवेकसम्पन्न नरेश पाण्डु। 'पाण्डु' शब्दका धात्वर्थ है विवेकबलसम्पन्न चेतन सत्ता। इसी शरीरमें हमारा यह पागल मन, प्रमथन करनेवाली इन्द्रियाँ, और विशुद्ध विवेक-इन सभीका डेरा है। कुरुक्षेत्रका अर्थ है हमारा यह शरीर, हमारा यह कर्मक्षेत्र।

बचपनमें हमारा यह शरीर कितना शुद्ध, निर्मल और पवित्र रहता है—कितनी पवित्र विवेकशक्ति तथा शान्तिका साम्राज्य रहता है! पाँचों पाण्डवोंमें सर्वश्रेष्ठ युधिष्ठिर हैं-'युधि स्थिरः' अर्थात् जो मनकी लड़ाईमें स्थिर हो, दृढ़ हो, सावधान हो। इस प्रकार विवेककी सर्वश्रेष्ठ सन्तान है शान्ति। अन्य चार भाइयोंके नाम हैं-भीम (प्राणशक्ति), अर्जुन (आत्मसंयम, अनासक्त), नकुल (उत्तम आदर्शोंका पालनेवाला) और सहदेव (बुराइयोंको जीतनेवाला)। बचपन समाप्त होते ही हमें अहङ्कार आ दबाता है—यही अहङ्कार है दुर्योधन, अशान्त मनका जेठा पुत्र और वही जुएके छलभरे खेलमें इन्द्रियोंका आकर्षण और जगत्-की इच्छाएँ जगाकर, शरीरको विवेक, सुबुद्धि, सदाचारसे भ्रष्ट कर बारह वर्षके लिये निर्वासित कर देता है।

एक बार जब हमारे अंदर दुराचार तथा अशुभ विचारोंकी प्रतिष्ठा हो जाती है तो सदाचार और शुभ विचार कम-से-कम बारह वर्षके लिये भाग ही जाते हैं, लुप्त ही हो जाते हैं। ऐसी दशामें शरीर तथा मनका पूर्णतः शुद्धीकरण और साथ ही सुन्दर एवं पवित्र भावोंकी पुनः प्राणप्रतिष्ठामें कम-से-कम बारह वर्ष तो लग ही जाते हैं। श्रीमद्भगवद्गीताकी कथा रूपकके बहाने हमें यह बतलाती है कि जब असद्विचार एवं अशुभ भाव बारह वर्षतक हमारे शरीरपर शासन कर चुकते हैं तो विवेकसे जाग्रत् होकर सद्विचार और शुभ भाव अपने बारह वर्षके निर्वासन-कालको समाप्त कर भगवान् श्रीकृष्ण अर्थात् आत्म-शक्तिके सहारे लौटते हैं। ठीक इसी तरह, चढ़ती हुई जवानीमें जब हम दुर्विचारों और अशुभ भावोंके शिकंजेमें बारह वर्ष बिता चुकते हैं और काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, ईर्ष्या, वासना और अहङ्कारके थपेड़े खाते-खाते थक जाते हैं तब विवेकका उदय होता है और उसके साथ ही शान्ति, शक्ति, संयमका हमारे जीवनमें बारह वर्षका निर्वासन समाप्त कर पुनरावर्तन होता है और पुनः ये अपना खोया हुआ साम्राज्य प्राप्त करना चाहते हैं। परन्तु दुष्ट कौरव—अर्थात् हमारे भीतरके दुष्ट भाव इन्हें धक्का देकर बाहर कर देना चाहते हैं और वस्तुतः सदाचार और सद्विवेकके साम्राज्यपर अपना अनुचित अधिकार जमाये रखते हैं।

इस प्रकार श्रीकृष्ण अर्थात् गुरु—जाग्रत्, उद्बोधित आत्मा—ध्यानसे उद्भूत अन्तश्चेतना, अर्जुनको अर्थात् आत्मसंयमको सहायता पहुँचाकर शान्ति, प्राणायाम (प्राणोंको इन्द्रियोंसे पृथक् करना) को सचेष्ट करते हैं और बुरे भावोंको विवेकके राज्यसे बहिष्कृत कर, अहङ्कार तथा इसके अन्य साथी—जैसे लोभ, मोह, घृणा, ईर्ष्या, दुष्टता, विषयोन्माद, नीचता, नृशंसता, परछिद्रान्वेषण, परदोषदर्शन, आध्यात्मिक आलस्य, शरीरको सुख पहुँचाने-की अति व्यग्रता, जाति, मत, पंथ और सम्प्रदायका आग्रह तथा अहङ्कार, अनाचार-अत्याचार, शारीरिक सुस्ती, आध्यात्मिक विषयोंसे उदासीनता, ध्यानसे उपरति, आध्यात्मिक साधनाको भविष्यपर छोड़े रखनेकी प्रवृत्ति, कामासक्ति, शरीर-मन-बुद्धिकी अपवित्रता, क्रोध, दूसरेको दुखी देखकर प्रसन्न होनेका स्वभाव, दूसरेको चोट पहुँचाने-की इच्छा, भगवान्‌में अश्रद्धा, भगवान्‌के प्रति अकृतज्ञता, उद्दण्डता, निर्दयता, अज्ञान, दूरदृष्टिका अभाव, शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक जडता, विषमता, वाणीकी कटुता, स्वार्थ, विचारकी रूक्षता, दुष्कर्म, पापोंमें रति, विषय-व्यामोह, भ्रान्ति, अमर्ष, मनकी कटुता, पापदर्शन, पापचिन्तन, पापमनन, पापस्मरण, कायक्लेशचिन्ता, परपीडा, मृत्युभय, आत्मानन्दसे अपरिचय, कर्मकुशलताका

अभाव, झगड़ालू स्वभाव, शपथ खानेकी प्रवृत्ति, निन्दा-चुगली करनेकी आदत, शरीरका रोग, धर्मविरुद्ध कामाचरण, सब बातोंमें अति और अमर्यादा, प्रमाद, आलस्य, निद्राकी बहुलता, अपरिमित भोजन, अपनेको बहुत अच्छा प्रकट करना, भगवान्‌का तिरस्कार, ध्यान-धारणासे तटस्थता आदि दुष्ट प्रवृत्तियोंसे संग्राम करनेकी कला सिखला देते हैं।

इससे इतना तो स्पष्ट हो गया होगा कि धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र हमारा यह शरीर ही है और इसीके भीतर श्रीकृष्ण अर्थात् अध्यात्मशक्ति सद्विवेकके प्रतीक पाँचों पाण्डव तथा क्षात्र प्रवृत्तियोंकी सेना लेकर अपने खोये हुए साम्राज्यपर शासन स्थापित करना चाहते हैं और उसके भीतरसे दुष्ट भावोंकी विपुल सेनाको मार भगाना चाहते हैं। इन्द्रियोंने ज्ञानके अभावमें इस शरीर-साम्राज्यपर उच्छृङ्खल शासनद्वारा एकमात्र अस्वस्थता, मानसिक चिन्ताएँ, अज्ञानकी संक्रामक महामारी, आध्यात्मिक अकाल एवं दुर्भिक्षका जाल फैला रक्खा है।

उद्बोधित, जाग्रत् आत्मशक्ति तथा ध्यान-धारणासे उद्भूत आत्मसंयमका इस शरीर-साम्राज्यपर एकतन्त्र शासन होना चाहिये और तभी शान्ति, ज्ञान-विज्ञान, सुस्वस्थताकी पुनः स्थापना होगी और तभी अन्तरात्माकी विजय-पताका इसपर फहरायगी।

अपोहनमीमांसा

(लेखक—श्रीगौरीशंकरजी गोयनका)

सदा सदानन्दपदे निमग्नं मनो मनोभावमपाकरोति।
गतागतायासमपास्य सद्यः परापरातीतमुपैति तत्त्वम्॥

ज्ञानराशि भगवान् वेद सम्पूर्ण सत् शास्त्रोंके मूल, सम्पूर्ण सदाचारोंके स्रोत, सम्पूर्ण धर्मकृत्योंके आकर और सनातन धर्मके मूलाधार हैं—यह सबपर विदित ही है। उपनिषद् वेदोंके शीर्षभाग हैं अर्थात् कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञान-काण्ड——इन तीन काण्डोंमें विभक्त वेदका ज्ञानकाण्ड सर्वश्रेष्ठ है। उक्त उपनिषद् अर्थात् ज्ञानकाण्डका सार श्रीमद्भगवद्गीता है।

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

इसलिये गीताकी महत्ताके विषयमें कभी किसीको विवाद हो ही नहीं सकता।

गीताशास्त्रके वक्ता आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र हैं। भगवान्‌के मुखकमलसे विनिःसृत गीताका प्रत्येक पद, प्रत्येक वर्ण सारगर्भित तथा सुशिक्षासे सराबोर है। जैसे मूल गीता सर्वयोगिध्येय, श्रीवत्स-कौस्तुभ-वनमाला-किरीट-कुण्डलादि दिव्य उपकरणोंसे अलङ्कृत, विविधदिव्यलीलाविलासी, विधाताकी सृष्टिमें असम्भव-निरतिशय-सौन्दर्यसार-सर्वस्वमूर्त्ति, सूर्य-किरणोंके समान दिव्य पीताम्बरधारी, सुदामा आदि परम रंकोंको महावैभवशाली करनेवाले, नारद-मार्कण्डेय आदि महामुनियोंसे स्तुत, षड्गुणैश्वर्यसम्पन्न, षोडशकलापूर्ण भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके मुखकमलसे विनिःसृत हुई थी, वैसे ही उसकी व्याख्याएँ भी अनेक महापुरुषोंने की हैं। सभीने गीताकी ज्ञानगरिमाका एक स्वरसे प्रतिपादन किया है। आस्तिक या नास्तिक——जिस किसीने गीताका अध्ययन, मनन किया, उसीको शान्ति मिली, तृप्ति हुई।

गीताके प्रत्येक अध्याय, प्रत्येक श्लोक क्या—प्रत्येक पद, प्रत्येक वर्णपर बड़े-बड़े निबन्ध लिखे गये हैं और लिखे जा सकते हैं। 'गीतातत्त्वाङ्क'के लिये एक छोटा-सा नोट 'अपोहन' शब्दपर लिखनेकी मेरी भी इच्छा हुई है, आशा है उससे पाठकोंका भी कुछ मनोविनोद होगा।

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।

(गीता १५। १५)

'मैं सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें स्थित* हूँ अर्थात् सबका आत्मा हूँ; अतः मुझसे ही सम्पूर्ण पुण्यात्मा प्राणियोंकी स्मृति†, ज्ञान‡ और पापियोंकी स्मृति तथा ज्ञानका अपोहन§ होता

* इस विषयमें 'स एष इह प्रविष्टः', 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' इत्यादि श्रुतियाँ प्रमाण हैं।

† इस जन्ममें पहले अनुभूत पदार्थविषयिणी वृत्ति और योगियोंकी अन्य जन्ममें भी अनुभूत पदार्थविषयिणी वृत्ति स्मृति है।

‡ विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे उत्पन्न अनुभव और योगियोंका देश और कालसे व्यवहित विषयका भी अनुभव ज्ञान है।

§ काम, क्रोध, लोभ, शोक आदिसे व्याकुल चित्तवालोंकी स्मृति और ज्ञानका नाश।

है। अर्थात् आत्मभूत मुझसे ही सम्पूर्ण पुण्यात्माओंको, पुण्य कर्मोंके अनुरोधसे, स्मृति और ज्ञान होते हैं और पापियोंको पापकर्मके अनुरोधसे विस्मरण और अज्ञान होते हैं। उक्त 'अपोहन' शब्दका प्रायः सभी टीकाकारोंने स्मृति और ज्ञानका अपाय, अपगमन, नाश या लोप अर्थ किया है।

कुछ महानुभाव इस श्लोकमें प्रतिपादित 'भगवान्‌से ज्ञान और स्मृतिका लोप होता है' इस अर्थको सहन नहीं कर सकते। वे अज्ञानका बाध भगवान्‌से होता है, ऐसा अर्थ करते हैं। इस अर्थमें अज्ञानका ऊपरसे अध्याहार करना पड़ता है और वह शास्त्रसङ्गत भी प्रतीत नहीं होता। भगवान् जब सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयके प्रेरक हैं तब बुरे-से-बुरे कर्म करनेवाले जो पुरुष हैं, उनके प्रेरक कोई दूसरे होंगे—यह बात समझमें नहीं आती। यदि दूसरे ही हों, तो भगवान्‌के सदृश ही एक और दूसरी शक्ति भी माननी पड़ेगी; फिर भगवान्‌के—

'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।'

अथ च—ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

—इत्यादि वचनोंके अर्थमें बहुत सङ्कोच करना पड़ेगा। और ऐसे स्थलोंकी मूलभूत श्रुतियाँ भी उपलब्ध होती हैं—

'एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते। एष ह्येवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते, य आत्मनि तिष्ठन्नात्मानमन्तरो यमयति' इत्यादि।

यदि शुभ कर्मोंके ही प्रेरक भगवान् हैं, तो तमोगुण, रजोगुण अथवा तमोगुण-रजोगुण-मिश्रित जो कार्य हैं, उनकी प्रेरक किसी अन्य शक्तिको मानना पड़ेगा। परन्तु भगवान् गीतामें श्रीमुखसे कहते हैं—

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान् विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि॥
(गीता ७। १२)

'यों विशेषरूपसे परिगणनसे क्या लाभ, संक्षेपमें यह समझो कि जो प्राणियोंके सात्त्विक—शम, दम आदि, राजस—हर्ष, गर्व आदि, तामस—शोक, मोह आदि चित्तके विकार अविद्या, कर्म आदिके वश होते हैं, वे सब मुझसे ही उत्पन्न होते हैं। वे मुझसे उत्पन्न होते हैं सही, परन्तु मैं उनके वशमें नहीं हूँ; रज्जुमें सर्पकी नाईं वे मुझमें कल्पित हैं, अर्थात् उनकी सत्ता और स्फूर्ति मेरे अधीन हैं।'

श्रीमद्भागवतमें देखिये—

कृत्वा दैत्यवधं कृष्णः सरामो यदुभिर्वृतः।
भुवोऽवतारयद् भारं जविष्ठं जनयन् कलिम्॥
(११। १। ७)

'भगवान् श्रीकृष्णने बलराम और यादव वीरोंको साथ लेकर, दैत्योंको मारकर, कौरव और पाण्डवोंमें प्रबल कलह उत्पन्न कराकर भूमिका भार उतार दिया।'

त्वत्तो ज्ञानं हि जीवानां प्रमोषस्तेऽत्र शक्तितः।
त्वमेव ह्यात्ममायाया गतिं वेत्थ न चापरः॥

'आपके ही प्रसादसे जीवोंको ज्ञान होता है और आपकी ही मायासे ज्ञानका नाश होता है। भगवन्! आप ही अपनी मायाकी गतिविधि जानते हैं, दूसरा कोई नहीं जानता अर्थात् आपकी माया हमलोगोंके लिये दुर्विज्ञेय है।'

ये कोपिताः सुबहु पाण्डुसुताः सपत्नै-
र्दुर्द्यूतहेलनकचग्रहणादिभिस्तान्।
कृत्वा निमित्तमितरेतरतः समेतान्
हत्वा नृपान्निरहरत् क्षितिभारमीशः॥
(भा० ११। १। २)

'दुर्योधन आदि शत्रुओंने कपटद्यूतमें पाण्डवोंको हराकर भरी सभामें उनकी पत्नीके केश खींचने आदिके द्वारा अपमान किया था और विष देकर तथा लाक्षागृहमें आग लगाकर पाण्डवोंका नाश करना चाहा था। इन घटनाओंसे क्रुद्ध पाण्डवोंको निमित्त बनाकर भगवान् श्रीकृष्णने एकत्र हुए दोनों दलोंके राजाओंको आपसमें युद्ध कराकर, मारकर पृथ्वीका भार दूर किया।'

द्रौपदीके चीर-हरण और शकुनिकी द्यूतवञ्चनाके भी प्रेरक भगवान् ही थे, और इन बातोंको निमित्त बनाकर दोनों पक्षोंके वीरोंको मारनेवाले भी भगवान् ही थे—यह भगवान् व्यासदेव स्पष्ट कहते हैं।

जो महाशय 'अज्ञानका बाध' अर्थ करते हैं, वे अपने भगवान्‌को इस रूपमें देखना नहीं चाहते। उनके उपास्यदेव ज्ञानके नाशक हों, तो उनकी उपासनामें अन्तर आता है। उपासकके भगवान् उनकी भावनाके अनुसार ही बन जाते हैं। उनसे भी अधिक श्रेणीके मधुर रसके उपासकगण, भगवान् श्रीकृष्णने अन्यान्य राक्षसोंका वध किया था, इसको भी सहन नहीं कर सकते। वे कहते हैं कि 'नित्य क्रीड़ा, नित्य विहार और

नित्य वृन्दावनमें रमण करनेवाले भगवान्‌को भी कभी क्रोध आदि हो सकते हैं ? वे तो वृन्दावनको छोड़कर एक क्षणके लिये भी कभी कहीं नहीं जाते। राक्षस आदिका वध करनेवाले तथा छल-कपटद्वारा युद्धमें जय-पराजय करानेवाले महाभारतके श्रीकृष्ण हमारे उपास्यदेव नहीं हैं। वे कोई अवतारी दूसरे होंगे !' इसी प्रकार उपासकगण अपने-अपने उपास्य देवोंकी नाना प्रकारसे भावना करते हैं। और उनकी भावनाके अनुसार भगवान् भी उन्हीं रूपोंमें प्रकट होकर उनकी कामनाओंको पूर्ण करते हैं। भक्तोंके ये भाव बड़े सुन्दर हैं, परन्तु यही भगवत्तत्त्व नहीं है।

यहाँपर यह प्रश्न हो सकता है कि जब सबके प्रेरक भगवान् ही हैं, तो पुण्य-पाप कर्मोंके प्रेरक होनेके कारण भगवान्‌में वैषम्य और नैर्घृण्य दोष प्राप्त हुए। भगवान् तो सबके हितकर्ता हैं, अतः उन्हें दुःखद कर्मोंकी ओर अपने अनुकम्पनीय प्राणियोंको प्रवृत्त नहीं करना चाहिये। इसका उत्तर ब्रह्मसूत्रने दे रक्खा है—

'कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः।'
(२।३।४२)

अर्थात् जीवद्वारा किये गये धर्म और अधर्मकी अपेक्षा करके ही ईश्वर शुभ और अशुभ कर्म करवाता है, अतएव ईश्वरमें विषमता और अकरुणतारूप दोष लागू नहीं हो सकते। संसारके अनादि होनेके कारण पूर्वजन्ममें किये गये धर्म और अधर्मकी अपेक्षा उचित ही है। तभी 'ज्योतिष्टोमेन यजेत', 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्यादि विधि-निषेधशास्त्रकी सार्थकता होती है।

श्रीमद्भगवद्गीताके वास्तविक तात्पर्यको तो उसके कहनेवाले भगवान् जानें अथवा उनके कृपापात्र अर्जुन समझें; हमारा तो इतना ही कहना है कि यह श्लोक परमात्माके स्वरूपका प्रतिपादक है। यदि इसके अर्थमें थोड़ा भी हेरफेर किया जाय तो सर्वान्तर्यामी, सर्वसाक्षी, सर्वप्रेरक, परात्पर, पूर्णतम परमानन्दघनका सम्यक् बोध नहीं हो सकेगा;

'एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा कर्ता बोद्धा विज्ञानात्मा पुरुषः।'

'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता नान्योऽतोऽस्ति मन्ता'

—इत्यादि श्रुतियाँ ब्रह्मसे अतिरिक्त वस्तुके अभावका सम्यक् प्रतिपादन करती हैं। इन श्रुतियोंका तात्पर्य भी किस प्रकार लगाया जायगा ? दूसरी बात यह है कि क्या भगवान्‌को सत्त्वगुणप्रधान देवता ही प्रिय हैं, असुर नहीं ? हिरण्यकशिपु, रावण, बाणासुर, कंस, जरासन्ध आदिका ऐश्वर्य-भोग और मोक्ष देखकर मानना ही पड़ता है कि उनकी कृपाके प्रकारमें भेद होना तो आवश्यक है ही; किन्तु वे सभीके 'गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्'—गति, भर्त्ता, प्रभु, साक्षी, निवास, शरण और सुहृत् हैं। ऐसा न होता तो बेचारे नास्तिकोंका प्राणधारण करना भी कठिन हो जाता—

'को ह्येवान्यात् कः प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्।'

उनके चरित्रपर दृष्टिपात करनेसे यह भलीभाँति समझमें आ जाता है कि जितना वे नित्य सेवा करनेवाले अर्जुन, उद्धव आदिसे प्रेम करते थे, छातीमें लात मारनेवाले भृगुजीका भी आदर उन्होंने उससे कम नहीं किया था; तभी तो महात्मा सूरदासजीको लिखना पड़ा—

एक लोहा पूजामें राख्यो एक घर बधिक परो।
पारस गुन अवगुन नहिं चितवै कंचन करत खरो॥

आर्यजातिका जीवन-प्राण

गीता उस दिव्य सन्देशका इतिहास है, जो सदा-सर्वदासे आर्यजातिका जीवन-प्राण रहा है। इस ग्रन्थका निर्माण प्रधानतः आर्यजातिके ही लिये हुआ है और सारे संसारकी भलाईके लिये भारतीय आर्योंने शताब्दियोंसे इसकी रक्षा की है।

—डा० सर सुब्रह्मण्य अय्यर, के० सी० आई० ई०, एल्-एल्० डी०

गीताके अनुसार सृष्टिक्रम

(लेखक—दीवानबहादुर श्री के० एस्० रामस्वामी शास्त्री)

इस जगत्का सृजन कैसे हुआ, यह कहाँसे आया और कहाँ जा रहा है—ये प्रश्न और इनका उत्तर उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना यह जानना कि 'मैं' क्या हूँ, कहाँसे आया हूँ और कहाँ जा रहा हूँ। किसी भी धर्म अथवा धर्मशास्त्रकी महत्ता इन प्रश्नोंके समुचित समाधानपर ही निर्भर है। हिन्दूधर्मने इन प्रश्नोंके बहुत ही सुन्दर सुबोध उत्तर दिये हैं और उनसे हमारी आत्माको बड़ा ही सन्तोष और शान्ति मिलती है। और उनमें सबसे सुन्दर, सबसे अधिक सन्तोषजनक उत्तर श्रीमद्भगवद्गीताका है।

इस छोटे-से लेखमें भिन्न-भिन्न दर्शनोक्त सृष्टि-क्रमका विवरण सम्भव नहीं और न यही सम्भव है कि उन सबके सिद्धान्तोंका दिग्दर्शन कराते हुए उनकी तुलनामें गीताके सृष्टि-विन्यासकी विशेषताका वर्णन किया जाय। परन्तु सांख्य-दर्शनमें दिये हुए सृष्टिक्रमका उल्लेख यहाँ इस कारण आवश्यक है कि भगवान् श्रीकृष्णने उसीका ढाँचा लेकर गीतामें उसे एक नया रूप दिया है और इसीलिये गीतामें सृष्टि-विधानका इतना साङ्गोपाङ्ग वर्णन है कि उसके द्वारा भगवान्के परम दिव्य एवं शाश्वत सन्देशका सहज ही साक्षात्कार हो जाता है।

कपिलका सांख्यशास्त्र पुरुष और प्रकृतिका आधार लेकर चलता है और सृष्टि-तत्त्वोंका इसमें बहुत सूक्ष्म विश्लेषण हुआ है। हमारे छः दर्शनोंमेंसे प्रत्येकने नास्तिक धर्मके द्वारा प्रतिपादित 'निराशावाद', व्यक्तिवाद, शून्यवादका घोर विरोध किया है। सांख्यदर्शनने तो आत्माको पुरुषरूपमें पुनः प्रतिष्ठापित कर और उसे शुद्ध चैतन्यरूपमें स्वीकार कर तथा उसके साथ प्रकृतिकी प्रतिष्ठा कर बौद्धोंके शून्यवाद और व्यक्तिवादका मूल ही उच्छिन्न कर दिया।

सांख्यशास्त्रमें पुरुषके संयोगमें प्रकृति 'अव्यक्त' से 'व्यक्त' की ओर विकसित हो रही है। सांख्य-मतानुसार प्रकृतिसे प्रादुर्भूत होनेवाले तत्त्वोंका क्रम इस प्रकार है—महत् अथवा बुद्धि (समष्टि चेतना), समष्टि अहङ्कार, पञ्चतन्मात्राएँ, मन, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पञ्च महाभूत (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश)। ये तेईस तत्त्व और प्रकृति—इस प्रकार कुल मिलाकर चौबीस हुए। पचीसवाँ तत्त्व है पुरुष। सांख्यमतानुसार जीवात्मा असंख्य हैं और नित्य चेतन हैं। सांख्यने सुख-दुःखकी अनुभूतिको मन-बुद्धिके हवाले करके और साथ ही आत्माको गुणोंसे परे शुद्ध चेतन सत्ताके रूपमें स्वीकार करके न्याय और वैशेषिककी अपेक्षा एक कदम आगे पैर रक्खा है। सांख्य 'प्राण' को भिन्न तत्त्व नहीं मानता। जब सब इन्द्रियोंके व्यापार आरम्भ होने लगते हैं तब उसीको वह 'प्राण' कहता है। परन्तु वेदान्तियोंको यह मत मान्य नहीं है, उन्होंने 'प्राण' को स्वतन्त्र तत्त्व माना है।

सांख्यदर्शन एक महान् और मौलिक अध्यात्मशास्त्र है, इसे कोई कैसे अस्वीकार कर सकता है ? वेदान्तदर्शन अवश्य ही इसे अङ्गीभूत करके इससे आगे बढ़ जाता है, परन्तु सूक्ष्म विश्लेषण और सृष्टि-विन्यासके मूल तत्त्वोंकी अवधारणाके लिये वेदान्त सांख्यका ही ऋणी है। मैक्समूलर-का कथन है—'सांख्य और वेदान्तने सृष्टिकी महान् समस्याओंका जो समाधान किया है, उसके सम्बन्धमें हमारी जो भी धारणा हो; परन्तु कितना मौलिक, कितना साहसपूर्ण कार्य उन्होंने किया है ! विशेषतः जब हम उनकी दर्शन-शैलीको दूसरे प्राचीन अथवा नवीन दार्शनिकोंकी शैलियोंसे मिलाकर देखते हैं तो उनकी मौलिक सूझ और साहसपूर्ण कार्यपर गौरवका बोध होता है।' इतना ही क्यों, गीतामें स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—'सिद्धानां कपिलो मुनिः।' भगवान् इसके द्वारा कहते हैं कि कपिल उनकी ही एक विशिष्ट विभूति हैं। श्रीमद्भागवतके तीसरे स्कन्धमें (पचीससे तैंतीस अध्यायतक) जब हम माता देवहूतिको दिये हुए कपिलके दिव्य उपदेश पढ़ते हैं तो हमें यह स्पष्ट अनुभव होता है कि कपिल मुनि साक्षात् भगवान्के ही एक अवतार थे और उनके उपदेश प्रायः वे ही हैं जो गीतामें भगवान् श्रीकृष्णके हैं। कुछ प्रगल्भ विद्वानोंकी रायमें कपिल नामके दो सिद्ध मुनि हुए हैं, परन्तु उस प्रसङ्गकी अवतारणा यहाँ सर्वथा अनावश्यक है। सत्य तो यह है कि सांख्यशास्त्रमें कपिलने अपना सारा रहस्य खोलकर ठीक उसी प्रकार रख दिया है जैसे अन्य दर्शनकारोंने अपने-अपने विशिष्ट दर्शनग्रन्थोंमें किया है। दर्शनोंके अनुशीलनके सम्बन्धमें मधुसूदन सरस्वतीने 'प्रस्थानभेद' में इस प्रकार अपना मन्तव्य प्रकट किया है—

न हि ते मुनयो भ्रान्ताः सर्वज्ञत्वात्तेषाम्, किन्तु बहिर्विषयप्रवणानामापाततः पुरुषार्थे प्रवेशो न सम्भवतीति नास्तिक्यवारणाय तैः प्रकारभेदा दर्शिताः ।

'सिद्धानां कपिलो मुनिः' की व्याख्या करते हुए भगवान् श्रीशङ्कराचार्य कहते हैं—सिद्धानां जन्मनैव धर्म-ज्ञानवैराग्यैश्वर्यातिशयप्राप्तानां कपिलो मुनिः । अर्थात् जन्म-से ही धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्यको प्राप्त हुए सिद्ध मुनियोंमें कपिल मैं (भगवान्) हूँ ।

यह हम सभी जानते हैं कि सृष्टिक्रम-विन्यासमें गीताने कपिलके सांख्यदर्शनकी शैली और शब्दोंका प्रयोग किया है । गीताके तेरहवें अध्यायमें देखिये—

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥

इसके साथ ही कपिलने देवहूतिको उपदेश करनेमें जिस प्रकारकी भाषाका प्रयोग किया है, ठीक उसी प्रकारकी भाषा गीतामें भी आती है । तेरहवें अध्यायके बीसवें और इक्कीसवें श्लोक इसके प्रमाण हैं—

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥
पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥

भागवतके तीसरे स्कन्धके छब्बीसवें अध्यायमें कपिलने अपनी मातासे कहा है—

कार्यकारणकर्तृत्वे कारणं प्रकृतिं विदुः ।
भोक्तृत्वे सुखदुःखानां पुरुषं प्रकृतेः परम् ॥

भागवत और गीताके समयके पौर्वापर्यका विचार यहाँ आवश्यक नहीं । इतना ही जानना पर्याप्त है कि कपिल और श्रीकृष्णके वचन इतने समान हैं ।

ईश्वरकी सत्ताको न स्वीकार करना सांख्यकी सबसे बड़ी दुर्बलता है । सांख्य यह बतला नहीं सकता कि किस प्रकार निष्क्रिय आत्मा और जड प्रकृति एक साथ जुड़कर संसारका सृजन कर सके । सांख्यशास्त्र 'अंधपंगुन्याय' के द्वारा अपने मतका प्रतिपादन करता है । वह कहता है कि जिस प्रकार अन्धे आदमीके कन्धेपर बैठा हुआ कोई लँगड़ा आदमी रास्ता बतलाता जाय और अन्धा आदमी चलता जाय, ठीक उसी प्रकारका जोड़ा प्रकृति और पुरुषका है । इस दृष्टान्तसे इतना स्पष्ट है कि यदि अन्धे और लँगड़ेका जोड़ा टूट जाय तो सारी गति-विधि ही रुक जाय । इसी प्रकार प्रकृति और पुरुषकी भी जोड़ी है । परन्तु इस दृष्टान्तसे कोई मतलब नहीं निकलता, कारण कि वहाँ तो अन्धा और लँगड़ा दोनों ही चेतन एवं स्वेच्छासम्पन्न सत्ताएँ हैं । परन्तु सांख्यमतानुसार पुरुषको कोई सङ्कल्प नहीं, प्रकृतिको चेतना नहीं ।

सांख्यदर्शनमें और भी कई दुर्बल स्थल हैं । सांख्य यह बतलानेमें असमर्थ है कि जड प्रकृति-तत्त्वसे चेतन बुद्धिका किस प्रकार आविर्भाव हुआ । यह इतना भी नहीं समझा सकता कि जड, निश्चेष्ट प्रकृतिमें एक कल्पना एवं कार्य-सम्पादनका सङ्कल्प कहाँसे उदय हुए । उसका यह कथन है कि पुरुषका प्रतिबिम्ब जब बुद्धिमें पड़ता है तो बुद्धि जाग्रत् और उद्-बोधित हो जाती है और इसी कारण उसमें चेतना एवं क्रिया-शीलता आ जाती है । परन्तु निराकार पुरुष बुद्धिमें किस प्रकार प्रतिबिम्बित हो सकता है, यह सांख्य नहीं बतला सकता । इसके अतिरिक्त 'पुरुष' के सम्बन्धमें भी सांख्यका जो मत है, वह इतना कमजोर और लचर है कि उसे माननेमें सङ्कोच होता है । आत्माकी नित्य चेतन सत्ता तो यह स्वीकार करती है, परन्तु यह नहीं मानती कि वह नित्य आनन्दमय है । अतएव इन सारे कथनोंका निष्कर्ष यही निकलता है कि मुक्तिके सम्बन्धमें सांख्यका जो निर्णय है वह सर्वथा नीरस, शुष्क और असन्तोष-जनक है । सांख्यमतानुसार मुक्तिकी अवस्थामें पुरुष सनातन कालके लिये 'एकाकी' रह जाता है और प्रकृति पूर्णतः निश्चेष्ट-निष्क्रिय हो जाती है । भगवान्‌की सत्ता अस्वीकार करनेके कारण सांख्य एक और गहरे खंदकमें जा गिरा है और वह यह है कि कर्मसिद्धान्तका समर्थन करते हुए भी सांख्य यह नहीं बतला सकता कि नेत्रहीन प्रकृति और वैसा ही अंधा कर्मचक्र कर्म और उसके विपाकमें—जिनके बीच काल, देश और कई जन्मोंका व्यवधान पड़ जाता है—किस प्रकार सम्बन्ध बनाये रखता है । तदनन्तर आत्माकी असंख्यताको स्वीकार करते हुए वह उस मूल तत्त्वको भुला बैठता है जो इन सारी आत्माओंको अङ्गीभूत करके सबको एक सूत्रमें बाँधे हुए है ।

मैं सांख्यकी और भी दुर्बलताओंका वर्णन कर सकता था; परन्तु मेरा अभिप्राय यहाँ सांख्यदर्शनकी मीमांसा करना नहीं है; मैं तो यहाँ गीताके अनुसार सृष्टिक्रमका वर्णन करने बैठा हूँ । विज्ञानभिक्षुने कपिलके सांख्यमतकी दुर्बलताओंका यत्किञ्चित् अंशमें परिमार्जन किया है । उनका

कथन है कि कपिलने ईश्वरकी सत्ताको इसलिये अस्वीकार किया कि लोग ईश्वरके ध्यानमें अपनेको सर्वथा मिटाकर तदाकार न हो जायँ, क्योंकि उसमें यह भय है कि अपने और ईश्वरके बीच जो भेद है वह लुप्त हो जाता; इसके सिवा विज्ञानभिक्षुकी रायमें ईश्वरको अस्वीकार करनेमें कपिलका एक यह भी अभिप्राय रहा होगा कि वे प्रौढ़िवादकी प्रतिष्ठापना करना चाहते थे और यह सिद्ध करना चाहते थे कि ईश्वरकी व्याख्या किये बिना भी दर्शनशास्त्रकी स्थापना हो सकती है।

सातवें अध्यायमें यह बतलाकर कि जड सत्ता और चेतन सत्ता ईश्वरकी अपरा और परा प्रकृतियाँ हैं, गीताने सांख्यकी त्रुटियोंको सुधारा है, सँवारा है और सम्यक् रूपसे उनका परिमार्जन कर उन्हें परिपूर्ण कर दिया है।

श्रीभगवान् कहते हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश तथा मन, बुद्धि और अहङ्कार—ऐसे यह आठ प्रकारसे विभक्त हुई मेरी प्रकृति है। यह आठ प्रकारके भेदोंवाली तो अपरा है अर्थात् मेरी जड प्रकृति है; और इससे दूसरी मेरी जीवरूपा परा अर्थात् चेतन प्रकृति है, जिसके द्वारा यह सम्पूर्ण जगत् धारण किया जाता है। हे अर्जुन ! तुम ऐसा समझो कि सम्पूर्ण भूत इन दोनों प्रकृतियोंसे उत्पन्न हुए हैं और मैं सम्पूर्ण जगत्का उत्पत्ति तथा प्रलयरूप हूँ। इसलिये हे धनञ्जय ! मेरे अतिरिक्त कोई भी दूसरी वस्तु नहीं है, यह सम्पूर्ण जगत् सूत्रमें मणियोंके सदृश मुझहीमें गुँथा हुआ है। हे अर्जुन ! सम्पूर्ण भूतोंका सनातन कारण मुझको ही जानो (गीता ७ । ४–७,—१०)।

स्वतन्त्र और जड प्रकृतिसे सृष्टिका विकास नहीं हुआ है। सर्वथा परतन्त्र, भगवान्से नियन्त्रित, भगवान्से अनुप्राणित चेतन प्रकृति—जो भगवान्की अङ्गभूता शक्ति है, उसीसे इस सृष्टिका विन्यास और विकास हुआ है।

श्रीभगवान्के वचन हैं—जैसे आकाशसे उत्पन्न सर्वत्र विचरनेवाला महान् वायु सदा ही आकाशमें स्थित है, वैसे ही मेरे सङ्कल्पद्वारा उत्पन्न होनेसे सम्पूर्ण भूत मुझमें स्थित हैं—ऐसा जानो। कल्पके अन्तमें सब भूत मेरी प्रकृतिमें लय हो जाते हैं और कल्पके आदिमें उनको मैं फिर रचता हूँ। अपनी त्रिगुणमयी मायाको अङ्गीकार करके, स्वभाववश परतन्त्र हुए इस सम्पूर्ण भूत-समुदायको बारंबार उनके कर्मोंके अनुसार रचता हूँ। उन कर्मोंमें आसक्तिरहित और उदासीनके सदृश स्थित मुझ परमात्माको वे कर्म नहीं बाँधते और मुझ अधिष्ठाताके सकाशसे यह मेरी माया चराचर-सहित सारे जगत्को रचती है और इस ऊपर कहे हुए हेतुसे ही यह संसार आवागमनरूप चक्रमें घूमता है (९ । ६–१०)।

ईश्वरपर मायाका कोई प्रभाव अथवा शासन नहीं है। ईश्वर मायासे अतीत है और मायापर शासन करता है।

भावार्थ यह कि सत्त्वगुणसे, रजोगुणसे और तमोगुणसे होनेवाले जो भाव हैं, वे सब भगवान्से ही होते हैं। किन्तु गुणोंके कार्यरूप भावोंसे यह सारा संसार मोहित हो रहा है, इसीलिये इन तीनों गुणोंसे परे अविनाशी भगवान्को वह नहीं जानता (७ । १२-१३)।

सम्पूर्ण दृश्यमान भूतगण ब्रह्माके दिनके प्रवेशकालमें अव्यक्तसे उत्पन्न होते हैं और ब्रह्माकी रात्रिके प्रवेशकालमें उस अव्यक्तमें ही लय हो जाते हैं। यह भूतसमुदाय उत्पन्न हो-होकर, प्रकृतिके वश, रात्रिके प्रवेशकालमें लय हो जाता है और दिनके प्रवेशकालमें फिर उत्पन्न होता है। परन्तु उस अव्यक्तसे भी अति परे, दूसरा सनातन अव्यक्तभाव है; वह सच्चिदानन्दघन परमात्मा सब भूतोंके नष्ट होनेपर भी नष्ट नहीं होता (८ । १८–२०)।

संक्षेपमें कहना चाहें तो यों कह सकते हैं कि भगवान् विश्वके पिता हैं और प्रकृति विश्वकी माता है। गीता इसका प्रतिपादन करती है—

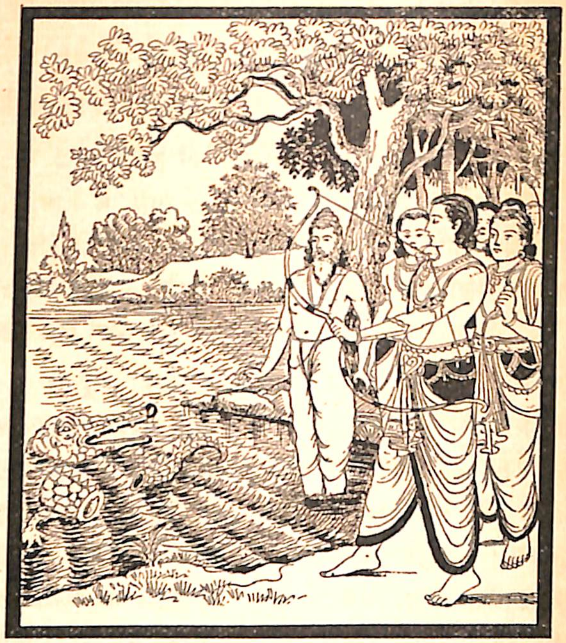
श्रीभगवान् कहते हैं—मेरी महत् ब्रह्मरूप प्रकृति सम्पूर्ण भूतोंकी योनि है और मैं उस योनिमें चेतनरूप बीजको स्थापन करता हूँ। उस जड-चेतनके संयोगसे सब भूतोंकी उत्पत्ति होती है। नाना प्रकारकी सब योनियोंमें जितने शरीर उत्पन्न होते हैं, उन सबकी त्रिगुणमयी माया तो गर्भको धारण करनेवाली माता है और मैं बीजको स्थापन करनेवाला पिता हूँ (१४ । ३–४)।

ऊपर लिखा हुआ यह सिद्धान्त गीताके सांख्य और कपिलके सांख्यमें मौलिक अन्तर डालता है। गीतामें 'सांख्य' शब्दका प्रयोग २।३९; ३।३; ५।४–५; १३।२४; और १८।१३में हुआ है। गीतामें 'सांख्य' का अर्थ है तत्त्वज्ञान। २।३९में आये हुए 'सांख्य' शब्दकी व्याख्या करते हुए श्रीशङ्कराचार्य उसका अर्थ 'परमार्थवस्तुविवेक' बतलाते हैं। ३।३ में आये हुए 'सांख्य'का अर्थ उन्होंने 'आत्मविषयविवेकज्ञान' किया है। १३।२४में आये हुए 'सांख्य' शब्दकी व्याख्या करते हुए वे पुनः लिखते हैं—

अर्जुन



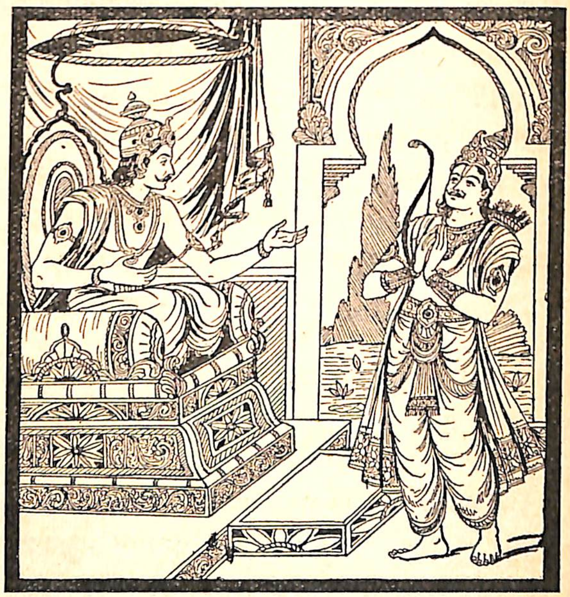
लक्ष्य-परीक्षा



गुरुको मगरसे बचाना



द्रुपदको बन्दी बनाकर लाना



बारह वर्ष वनवासके लिये धर्मराजसे आज्ञा माँगना

'इमे सत्त्वरजस्तमांसि गुणा मया दृश्या अहं तेभ्योऽन्यस्तद्व्यापारसाक्षिभूतो नित्यो गुणविलक्षण आत्मेति चिन्तनमेष सांख्यो योगः ।'

१८।१३में 'सांख्ये कृतान्ते' जो आया है उसे श्रीशङ्कराचार्यने 'वेदान्त' का पर्याय माना है । इस प्रकार गीताका सांख्य पूर्णतः आस्तिक है, वह वेदान्तका पर्यायवाची है ।

गीता पुरुष और प्रकृति दोनोंको ही अनादि मानती है—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥
कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥

प्रकृति ही शरीरका संघटन करती है और इस शरीरमें बसनेवाला आत्मा सुख-दुःख भोगता है । प्रकृतिका मूल तत्त्व सनातन है और इसी प्रकार शरीर धारणवाला आत्मा भी सनातन है । दोनोंमें ही जो चेतनता और सत्ता है—वह है ईश्वरके कारण और इसलिये ये सदा ईश्वरपर निर्भर हैं। जीवको सुख-दुःखकी अनुभूति क्यों होती है ? गीता कहती है—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥

गुणोंके साथ आसक्ति ही जीवके सुख-दुःखका कारण है । यह आसक्ति अनादि है परन्तु अनन्त नहीं है, इसका अन्त हो सकता है—यह डंकेकी चोट गीता घोषित करती है । हाँ, आसक्तिको उच्छिन्न करना आसान काम नहीं है, क्योंकि गुणोंने वासनाके पाशमें हमें बाँध रक्खा है । तेरहवें अध्यायमें भगवान्ने प्रकृति और पुरुषको क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ कहा है—

यावत्सञ्जायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥
(१३ । २६)

'यावन्मात्र, जो कुछ भी स्थावर-जङ्गम वस्तु उत्पन्न होती है, उसको तू क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे ही उत्पन्न हुई जान ।'

परन्तु ऐसा नहीं मान लेना चाहिये कि गुणजन्य वासनाके आकर्षणपाशसे हम कभी मुक्त हो ही नहीं सकते । हम कर्मयोग, ध्यानयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोगके सहारे धीरे-धीरे अपने समस्त बन्धनोंको काटकर भगवान्को प्राप्त कर सकते हैं । गीता कहती है—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥
(३ । ३४)

मनुष्यको चाहिये कि इन्द्रियोंके भोगोंमें जो राग और द्वेष हैं, उन दोनोंके वशमें नहीं होवे; क्योंकि वे दोनों ही कल्याणमार्गमें विघ्न करनेवाले महान् शत्रु हैं । तथा—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥
नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥
(५ ।१४-१५)

'परमेश्वर भूतप्राणियोंके न तो कर्त्तापनको और न कर्मको तथा न कर्मोंके फलके संयोगको ही वास्तवमें रचता है । गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं ।'

'सर्वव्यापी परमात्मा न किसीके पापकर्मको और न किसीके शुभकर्मको ही ग्रहण करता है । मायाके द्वारा ज्ञान ढका हुआ है, इससे सब जीव मोहित हो रहे हैं ।'

ज्ञानका सूर्य जब हृदयाकाशमें उगता है तो सारा अज्ञान छिन्न-भिन्न हो जाता है, ठीक जैसे सूर्यके उदय होनेपर अन्धकार मिट जाता है—

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥
(५ । १६)

यह त्रिगुणमयी जो माया है, वह भगवान्की है—ऐसा जानकर भगवान्की शरणमें जाना चाहिये; तभी हम उससे पार पा सकते हैं—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥
(७ । १४)

जबतक हम इच्छाओंसे आवृत हैं, तबतक माया हमारे और भगवान्के बीच पर्दा डाले रहती है—

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥
इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥
(३ । ३९-४०)

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥
(७।१३)

तथा—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥
(७।२५)

मायाके दिव्य और मोहक दोनों ही रूप हैं। मोहिनी प्रकृतिसे माया विषयासक्त पुरुषोंके ज्ञान-विवेकका हरण कर उन्हें पथभ्रष्ट कर देती है। और मायासे ज्ञानका हरण हो जानेके कारण ही आसुरभावमें हम चले जाते हैं और इसी कारण हम भगवान्‌से विमुख हो जाते हैं—

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥
(७।१५)

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः॥
(९।१२)

परन्तु जिन लोगोंने दैवीप्रकृतिका आश्रय ले लिया है, वे भगवान्‌की दया प्राप्त कर भगवत्प्रेम और जन्म-मृत्युसे मुक्ति प्राप्त करते हैं—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥

गीताके सोलहवें अध्यायसे लेकर अठारहवें अध्यायतक प्रकृतिके तीन गुणोंका विशेष वर्णन है। विश्वके अन्य किसी भी साहित्यमें गुणोंका इतना विशद और सुन्दर वर्णन देखनेको नहीं मिलता, जिसमें काव्य और दर्शनका इतना मधुर योग हो। चिन्तन और वर्णनशैलीके अद्भुत संयोगका यहाँ वर्णन करना सम्भव नहीं; परन्तु यह तो कहना ही है कि गुणोंकी इतनी विशद और मनोवैज्ञानिक व्याख्याका अभिप्राय एकमात्र यही है कि हम तमोगुण और रजोगुणके बन्धनोंको काटकर सत्त्वगुणमें प्रवेश करें। रजोगुण और तमोगुण अथवा आवरकशक्ति और मोहिनीप्रकृति भी भगवान्‌के उतने ही वशमें हैं जितना सत्त्वगुण, चित्‌शक्ति या दैवीप्रकृति। जो सत्त्वगुण अर्थात् चित्-शक्ति और दैवीप्रकृतिका आश्रय लेते हैं, वे ही भगवान्‌की भक्ति प्राप्त करते हैं तथा मायाको तर जाते हैं—

श्रीभगवान् कहते हैं—जो व्यक्ति मेरे परायण हुए सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण कर मुझ सगुण परमेश्वरको ही अनन्य ध्यानयोगसे निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं, उन प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसारसागरसे उद्धार कर देता हूँ (१२।६-७)।

गीताके पंद्रहवें अध्यायमें क्षर-अक्षर पुरुषोत्तमके नामसे प्रकृति, पुरुष और परमेश्वरकी बहुत ही पूर्ण व्याख्या है—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥
(१३।१६-१८)

भावार्थ यह कि इस संसारमें नाशवान् और अविनाशी, ये दो प्रकारके पुरुष हैं; उनमें सम्पूर्ण भूतप्राणियोंके शरीर नाशवान् और जीवात्मा अविनाशी कहा जाता है। इन दोनोंसे उत्तम पुरुष तो अन्य ही है, जो तीनों लोकोंमें प्रवेश करके सबका भरण-पोषण करता है; उसीको अविनाशी परमेश्वर और परमात्मा कहा गया है। भगवान् कहते हैं—चूँकि मैं नाशवान् जडवर्ग, क्षेत्रसे तो सर्वथा अतीत हूँ और मायामें स्थित अविनाशी जीवात्मासे भी उत्तम हूँ, इसलिये लोकमें और वेदमें भी मैं ही 'पुरुषोत्तम' नामसे प्रसिद्ध हूँ।

भगवान् इस जगत्‌में व्याप्त भी हैं और इससे अतीत भी हैं और वे अपने एक अंशमात्रसे सम्पूर्ण जगत्‌को धारण किये हुए हैं—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥
(९।४-५)

तथा—

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥
(१०।४२)

प्रकृति तथा इसके गुण सनातन होते हुए भी ईश्वरकी प्रेरणापर निर्भर हैं और जो कुछ इनमें प्राण-स्पन्दन है वह ईश्वरके ही कारण है—इसका उल्लेख कर अब मैं विस्तारसे गीतोक्त पुरुष तथा गीता-निर्दिष्ट ईश्वरके सम्बन्धमें कुछ निवेदन करूँगा । सांख्य पुरुषको साक्षी मानता है और उसका कथन है कि पुरुषको प्रकृतिसे मुक्ति अर्थात् 'कैवल्य' प्राप्त करना चाहिये । परन्तु गीता आत्माको भगवान्का एक अंश मानती है ।

जीवात्मा भगवान्का ही सनातन अंश है और वही इन त्रिगुणमयी मायामें स्थित मनसहित पाँचों इन्द्रियोंको आकृष्ट करता है । देहका स्वामी आत्मा एक शरीरको त्याग कर उससे मनसहित इन्द्रियोंको ग्रहण करके फिर जिस शरीरको प्राप्त करता है उसमें जाता है, ठीक उसी प्रकार जैसे वायु गन्धके स्थानसे गन्धको ग्रहण करके ले जाता है । यह जीवात्मा श्रोत्र, चक्षु और त्वचाको तथा रसना, घ्राण और मनका आश्रय लेकर इन सबके सहारेसे ही विषयोंका सेवन करता है । केवल ज्ञानरूप नेत्रोंवाले ज्ञानीजन ही इस रहस्यको जानते हैं । योगीजन भी अपने हृदयमें स्थित हुए इस आत्माको तत्त्वसे जानते हैं; किन्तु जिनका अन्तःकरण शुद्ध नहीं है, ऐसे अज्ञानी-जन तो यत्न करते हुए भी इस आत्माको नहीं जानते (१५ । ७–११) । ईश्वरका अंश यह जीव अविद्याके कारण मायामें आबद्ध है । वह प्रकृतिसे मन और इन्द्रियाँ लेकर एक शरीरसे दूसरे शरीरमें, एक जन्मसे दूसरे जन्ममें चलता जाता है । वह कर्ता और भोक्ता बनता है । वह या तो दैवीसम्पत्तिवाला होता है या आसुरीसम्पत्तिवाला । परन्तु क्या कर्त्ता-भोक्ता माननेसे वह वस्तुतः कर्त्ता-भोक्ता हो जाता है ? गीता इसका उत्तर देती है—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥
तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥
(३ । २७-२८)

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथाऽऽत्मानमकर्तारं स पश्यति ॥
(१३ । २९)

भावार्थ यह कि सम्पूर्ण कर्म वास्तवमें प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये हुए हैं, तो भी अहङ्कारसे मोहित अन्तःकरणवाला मनुष्य 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा मान लेता है; परन्तु ज्ञानी पुरुष यह जानता है कि गुण ही गुणोंमें बर्तते हैं, इसलिये वह आसक्त नहीं होता । और सच्चा देखना, सच्चा जानना तो यही है ही ।

सभी कर्म प्रकृतिके द्वारा हो रहे हैं, वही कर्ता और भोक्ता है; आत्माका स्वभाव तो सच्चिदानन्दमय है । प्रकृतिमें एकाकार होकर ही जीव भ्रमवश अपनेको कर्त्ता और भोक्ता माने बैठा है ।

तेरहवें अध्यायमें एक श्लोक है, जो आत्माके आवृत और अनावृत रूपका बड़ी सुन्दरतासे उद्घाटन करता है—

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ॥
(१३ । २२)

भावार्थ यह कि यह पुरुष इस देहमें स्थित होता हुआ भी है त्रिगुणमयी मायासे सर्वथा अतीत । यह केवल साक्षी होनेसे 'उपद्रष्टा', यथार्थ सम्मति देनेवाला होनेसे 'अनुमन्ता', सबको धारण करनेवाला होनेसे 'भर्ता', जीवरूपसे 'भोक्ता', ब्रह्मादिका भी स्वामी होनेसे 'महेश्वर' और शुद्ध सच्चिदानन्दघन होनेसे 'परमात्मा' कहा गया है ।

इस श्लोकका भाष्य लिखते हुए नीलकण्ठने आत्माके सम्बन्धमें विविध सिद्धान्तोंका बहुत सूक्ष्म विश्लेषण किया है । 'भोक्ता' चार्वाकके सिद्धान्तका निर्देश करता है, जहाँ शरीर ही आत्मा माना जाता है और 'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्' का आदर्श ही सम्मान पाता है । 'भर्ता' पद न्यायदर्शनकी ओर निर्देश करता है, जहाँ आत्मा कर्ता होनेके नाते कर्मफलका संग्रही माना जाता है । 'अनुमन्ता' सांख्यदर्शनका संकेत करता है, जहाँ आत्मा प्रकृतिके कार्यका समर्थक है । 'उपद्रष्टा' वेदान्तदर्शनका निर्देश करता है, जहाँ आत्मा केवल साक्षीरूपमें प्रकृतिके खेलको केवल देखा भर करता है । 'महेश्वर' ईश्वर और जीवकी एकताका बोधक है—जिस सिद्धान्तमें ईश्वर प्रकृतिके गुणोंका नियामक है । और 'परमात्मा' ब्रह्म और आत्माकी एकताका बोधक है, जो ब्रह्म त्रिगुणातीत है, जिसका माया और उसके गुणोंसे कोई सम्बन्ध ही नहीं । इस प्रकार जीवका स्वरूप मायाके साथ इसके सम्बन्धपर निर्भर है । जहाँ यह शरीरके साथ भोक्तारूपमें तदाकार हो जाता है, वहीं उसका भयानक पतन हो जाता है; क्योंकि जीवका प्रकृतिके साथ यह सबसे स्थूल सम्बन्ध है । जहाँ जीवात्मा अपनेको 'कर्त्ता' मानता

है, वहाँ उसका प्रकृतिके साथ सम्बन्ध कुछ सूक्ष्म होता है। इससे भी सूक्ष्म सम्बन्ध 'अनुमन्ता'का है; परन्तु इन सारे ही सम्बन्धोंमें आत्मा अपने ऊपर आवरण डाल लेता है और अपने सत्य-स्वरूपको भूल बैठता है। साक्षीरूपमें आत्मा अपने असली रूपमें प्रकट होता है। इस अवस्थामें वासनाओंका अथवा अज्ञानका आवरण उसपर नहीं होता; क्योंकि इस दशामें शुद्ध सत्त्वगुणसे उसका सम्बन्ध रहता है और चाहे वह पृथ्वीपर रहे, चाहे स्वर्गमें—उसका शुद्ध सच्चिदानन्दमय रूप अपने दिव्य भावमें चिर प्रकाशित रहता है। और सच तो यह है कि इस स्थितिमें आत्मा ईश्वरसे पृथक् रहते हुए उनकी महिमाका रसास्वादन कर सकता है तथा अखिल विश्वमें उनके शासन-साम्राज्यकी मधुर अनुभूति प्राप्त कर सकता है। यह वहाँ भी अनादि है, अनन्त है; परन्तु जगद्व्यापारमें उसका कोई हाथ नहीं होता। ऐसी अवस्थामें वह या तो सगुण ईश्वरमें या निर्गुण परमात्मामें मिलकर एक हो जाना चाहेगा। इस प्रकार एकीभूत होकर वह महेश्वर या परमात्मा हो जाता है।

प्रकृति और पुरुषके सम्बन्धमें इतना विचार कर चुकनेपर अब यह आवश्यक नहीं कि गीतोक्त ईश्वर और आत्माका अधिक विस्तारसे विवेचन किया जाय। कुछ लोगोंका यह सिद्धान्त है कि गीता 'तत्त्वमसि' महावाक्यकी व्याख्या है; पहले छः अध्याय आत्मा (त्वं) की व्याख्या करते हैं, सातवेंसे बारहवें अध्यायतक ईश्वर (तत्) की व्याख्या है और तेरहवें अध्यायसे अठारहवें अध्यायतकमें ईश्वर और जीव, परमात्मा और आत्माकी एकता (असि) का विवेचन है। ईश्वर सब भूतोंका स्वामी है (भूतानामीश्वरोऽपि सन्, यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्)। वह सबमें सर्वत्र ओतप्रोत होता हुआ भी सबसे परे है, अतीत है। स्वयं श्रीभगवान्‌की वाणी है—'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव'—सूतके धागेमें जिस प्रकार सूतकी मणियाँ गुँथी हुई होती हैं, उसी प्रकार समग्र संसार मुझमें पिरोया हुआ है; परन्तु फिर भी 'न त्वहं तेषु ते मयि'—वे मुझमें हैं, मैं उनमें नहीं और अन्ततः 'मामेभ्यः परमव्ययम्'—मैं इन सबसे परे हूँ।

इस समस्त ब्रह्माण्डको भगवान् अपने एक अंशमें धारण किये हुए हैं—

'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥'

दसवें अध्यायमें भगवान्‌ने अपनी विभूतियोंका वर्णन किया है। वह तो मनन करनेकी चीज है। ग्यारहवें अध्यायमें उन्होंने अपना विराट्‌रूप अर्जुनको दिव्यदृष्टि प्रदान कर दिखलाया है। चौथे अध्यायमें विशेषरूपसे और अन्य अध्यायोंमें गौणरूपसे भगवान्‌ने अपने अवतारका रहस्य समझाया है और उन्होंने स्पष्टवाणीमें घोषणा की है कि जो अवतार-तत्त्वको ठीक-ठीक हृदयङ्गम कर लेता है, वह भगवान्‌को प्राप्त कर लेता है।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—मेरा जन्म प्राकृत मनुष्योंके सदृश नहीं है। मैं अविनाशीस्वरूप एवं अजन्मा होनेपर भी तथा सब भूतप्राणियोंका ईश्वर होनेपर भी अपनी प्रकृतिको अपने अधीन करके अपनी मायासे प्रकट होता हूँ। जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब मैं प्रकट होता हूँ और मेरे प्रकट होनेका एकमात्र हेतु है साधुओंका उद्धार और दुष्टोंका संहार। मेरे इस दिव्य जन्म और कर्मको जो पुरुष तत्त्वसे जान जाता है वह शरीरको त्याग कर फिर जन्मको नहीं प्राप्त होता, अपितु मुझे ही प्राप्त होता है। (४। ६–९)

इस प्रकार सम्पूर्ण भूतोंके महान् ईश्वररूप भगवान् श्रीकृष्णके परमभावको न जाननेवाले मूढ़लोग यह समझते हैं कि भगवान् भी हम-जैसा ही जन्मता और मरता है—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥
(९। ११)

लोग चाहे जो अर्थ लगावें, परन्तु यह भूल न जाना चाहिये कि यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण सगुण और निर्गुण दोनों ही रूपोंका वर्णन कर रहे हैं। विशिष्टाद्वैत तथा द्वैतमतावलम्बी यहाँ निर्गुण ब्रह्मका प्रसङ्ग स्वीकार नहीं करते—यह उनका एकाङ्गदर्शन नहीं तो और क्या है ? और अद्वैतमतवाले सगुण ब्रह्मके प्रसङ्गको इसमेंसे निकाल देते हैं—यह उनकी प्रगल्भता ही समझी जानी चाहिये। गीताकी विशेषता यही है कि यह ब्रह्मके सगुण और निर्गुण दोनों ही रूपोंको स्वीकार करती है और इन दोनोंको 'एक'की ही दो दिशाएँ मानती है। इतना ही क्यों, स्वयं श्रीभगवान्‌ने अपनेको निर्गुण ब्रह्मका आधार—'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्' कहा है। जगत्‌के सम्बन्धसे वही परमात्मा सगुण ब्रह्म हैं, स्वयं अपने आपमें वे निर्गुण ब्रह्म हैं—

'मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।'
'न च मत्स्थानि भूतानि'

तथा

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥

गीता भगवान्‌के सम्बन्धमें क्या कहती है, इसपर कुछ और विचार करनेको जी चाहता है; परन्तु यह विषय मेरे लेखसे बाहरका हो जायगा और बात तो असलमें यह है कि बिना भगवान्‌की दयाके भगवान्‌का रहस्य जाना नहीं जा सकता। वे स्वयं कहते हैं-'मां तु वेद न कश्चन'। हाँ, जिसके हृदयमें भक्ति है, वह अलबत्ता उनके मर्मको तत्त्वतः जान जाता है और जान जानेपर उन्हीं श्रीवासुदेवमें वह समा जाता है, प्रवेश कर जाता है—

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥
(१८ । ५५)

यह सारे रहस्योंका रहस्य है। हमलोग उन्हें जान नहीं सकते, फिर भी वे हमें अपनेको जना सकते हैं। वे हमारे पापोंको मिटाकर अपने आपमें एकाकार कर ले सकते हैं। तब हमारा जीवन ही श्रीकृष्णमय हो जायगा, हम उन्हें ही जानेंगे, उन्हें ही देखेंगे और उन्हींमें मिल जायँगे।

भगवद्गीतामें विज्ञान

(लेखक—गीतावाचस्पति पं० श्रीसदाशिवजी शास्त्री भिडे)

गीताके किसी विषयको लेकर उसपर कुछ लिखनेका विचार करना बड़ा ही कठिन है; क्योंकि किस विषयपर लिखा जाय और किस विषयको छोड़ा जाय, यह समझमें नहीं आता—कितने ही विषय सामने आते हैं और सभी महत्त्वके होते हैं। फिर भी एक बात ऐसी है जिसका खटका आज लगा हुआ है और वह बात है मनुष्यके जीवनक्रममें प्राप्त होनेवाले ऐहिक सुख-दुःख। इस समय लोगोंका यह निश्चय हो चुका है कि विज्ञानके बिना मनुष्य-जीवन चल ही नहीं सकता। इसलिये धर्मशास्त्रने या सांस्कृतिक तत्त्वज्ञानने इस विषयकी मीमांसा करके जो सिद्धान्त स्थिर किये हों उनकी ओर ध्यान जाता है। विज्ञानके सम्बन्धमें प्राचीन ऋषियोंके विचार जानना इस प्रकार आवश्यक होनेसे, इस लेखमें यही विचार करना है कि इस सम्बन्धमें गीता-शास्त्रकी क्या विचारपद्धति है।

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥
(७ । २)

'मैं तुमसे विज्ञानसहित (विविध सृष्टिज्ञान अर्थात् व्यक्त स्वरूपके ज्ञानके साथ) यह ज्ञान (आत्मज्ञान अर्थात् अव्यक्त स्वरूपका ज्ञान) पूरे तौरपर बतलाता हूँ, जिसे जाननेपर इस लोकमें और कुछ भी जाननेकी बात नहीं रह जाती।'

विश्व ही भगवान्‌का व्यक्त स्वरूप है। इस स्वरूपका जबतक सोपपत्तिक ज्ञान नहीं होता तबतक आत्मज्ञान पूर्ण नहीं होता। इस श्लोकसे यह बात स्पष्ट होती है कि आधिभौतिक विज्ञानोंकी ज्यों-ज्यों अधिकाधिक उन्नति होगी, त्यों-ही-त्यों आध्यात्मिक ज्ञान अधिकाधिक सुगम होगा।

'द्वे विद्ये वेदितव्ये'

—इत्यादि वचनोंसे उपनिषदोंमें भी यह सिद्धान्त स्वीकृत हुआ है। गीताके सातवें अध्यायके प्रथम दो श्लोकोंमें, इसलिये, भगवान्‌ने यही बतलाया है कि उपासनापूर्वक कर्मयोगाचरणसे प्राप्त होनेवाला ज्ञान-विज्ञान ही पूर्ण ज्ञान है। गीताको दशोपनिषदोंका पूरा सहारा है और इसलिये गीताको भी आदरसे उपनिषद् कहा जाता है। मुण्डकोपनिषद्‌के आरम्भमें शौनक ऋषिने इसी प्रकार प्रश्न किया है—

'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति।'

इसपर अङ्गिरा उत्तर देते हैं—

'द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति।'

शौनक पूछते हैं, 'वह कौन-सा तत्त्व है जिसके जाननेसे यह सारा विश्व विज्ञात होता है? वह कौन-सा तत्त्व-ज्ञान है जिससे सब शास्त्रोंके ज्ञान एक सूत्रमें आ जाते हैं?' अङ्गिरा उत्तर देते हैं—'ब्रह्मज्ञानी पुरुष परा और अपरा नामसे जो दो विद्याएँ बतलाते हैं, उनका जानना आवश्यक है।' शौनकके प्रश्नका अभिप्राय जानकर ही अङ्गिरा ऋषिने उत्तर दिया है। और उनका उत्तर कोई अपनी कल्पना नहीं, बल्कि ब्रह्मवेत्तालोग परम्परासे ऐसा ही कहते आये हैं, यह सूचित करनेके लिये ही—

'इति ब्रह्मविदो वदन्ति स्म'

—कहा गया है । ब्रह्मवेत्ता जिन दो विद्याओंकी बात कहते हैं, वे दो विद्याएँ हैं परा और अपरा । इन्हीं दो विद्याओंको अन्य उपनिषदोंमें विद्या और अविद्या कहा गया है और श्रीमद्भगवद्गीतामें इन्हींके नाम हैं—ज्ञान और विज्ञान । इन दोनोंका ज्ञान ही पूर्ण ज्ञान है; इनमेंसे किसी एकका ज्ञान हो और दूसरेका नहीं, तो वह अपूर्ण है—यही अङ्गिराके कथनका अभिप्राय है । इसी मुण्डकोपनिषद्में आगे चलकर—

'अणुभ्यः अणुः'

—कहकर विद्युत्कणका स्पष्ट उल्लेख हुआ है । सम्पूर्ण मन्त्र इस प्रकार है—

'यदर्चिमद्यदणुभ्योऽणुश्च यस्मिन् लोका निहिता लोकिनश्च तदेतदक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तदु वाङ् मनः तदेतत्सत्यं तदमृतं तद्वेद्धव्यं सोम्य विद्धि ।'

अर्थात् 'हे वत्स ! जो तेजोमय है और परमाणुसे भी सूक्ष्म है, जिसमें सब भू आदि लोक और लोकी समाये हुए हैं—वही यह अक्षरब्रह्म है, वही प्राण है, वही वाणी और मन है, वही यह सत्य है, वही अमृत है, उसीको लक्ष्य बनाकर शरसन्धान करना चाहिये अर्थात् उसीका एकाग्र होकर अनुसन्धान करना चाहिये ।' इस मन्त्रके प्रथम वाक्यमें सृष्टिके कारण-स्वरूपका जो वर्णन है, वह बड़े महत्त्वका है । इस वर्णनको पढ़कर विद्युत्कणोंका स्मरण हुए बिना नहीं रहता । परमाणुसे भी अत्यन्त सूक्ष्म तेजोमय विद्युत्कणों (इलेक्ट्रन्स) को ही आधुनिक भौतिक विज्ञान सृष्टिके मूल कारण मानता है । सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक सर ऑलिवर लॉजने प्रत्यक्ष प्रयोग करके यह सिद्ध किया है कि सृष्टिके मूल कारण जो ९८ तत्त्व माने जाते हैं, उनके भी आदिकारण धन और ऋण विद्युत्कण (इलेक्ट्रन और प्रोटोन) अर्थात् अर्चिमत् परमाणु हैं ।

जड और चेतनके मिश्रणसे ही सारा विश्व बना है, यही आजतककी मान्यता है । पर केवल जड कोई भी तत्त्व नहीं है; जो तत्त्व जड प्रतीत होता है वह भी विद्युत्कणोंके मिश्रणसे ही बना हुआ है । इस मन्त्रके द्रष्टा अङ्गिरा भौतिक विज्ञानगत विद्युत्कणोंकी कोई खबर रखते हों या न रखते हों, पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि वे निश्चितरूपसे यह जानते थे कि परमाणुसे भी अति सूक्ष्म कोई तेजोमय तत्त्व अखिल सृष्टिका मूल कारण है । उपनिषदोंके मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंकी बुद्धि कितनी कुशाग्र और कितनी गहराईतक पहुँची हुई थी, इसका किञ्चित् परिचय इससे मिलता है । इनके सम्बन्धमें यदि कोई वैदिक धर्माभिमानी पुरुष यह कहे कि ये हमारे पूर्वपुरुष आधुनिक वैज्ञानिकोंसे भी आगे बढ़े हुए थे तो उसमें कुछ भी अत्युक्ति न होगी । आधुनिक साधनोंके न रहते हुए भी जिन्होंने केवल योगशक्तिसे सृष्टिका निरीक्षण करके सृष्टिके गूढ़ तत्त्वोंको ढूँढ निकाला था, वे वैदिक ऋषि सचमुच ही अत्यन्त धन्य हैं और धन्य है वह धर्म-परम्परा जो उन्होंने चलायी । ऐसे धन्योद्गार केवल भारतीय नहीं, बल्कि विदेशी विद्वानोंके मुखसे भी समय-समयपर निकला करते हैं । विज्ञानके विषयमें और भी बहुत-से उदाहरण उपनिषदोंसे लिये जा सकते हैं, पर विस्तारभयसे केवल तैत्तिरीय उपनिषद्का एक ही मन्त्र और देकर विषयको यहीं समेट लेते हैं । वह मन्त्र है—

'विज्ञानं यज्ञं तनुते । कर्माणि तनुतेऽपि च । विज्ञानं देवाः सर्वे । ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते ।'—इत्यादि

'विज्ञान उपासना-बल उत्पन्न करता है और कर्मकी सामर्थ्य उत्पन्न करता है, सब देवता इसीको ब्रह्म जानकर इसकी (विज्ञानकी) उपासना करते हैं ।' पुरुष जब विज्ञान ब्रह्मको जान लेता है और उस ज्ञानसे च्युत नहीं होता तो वह शरीरके सब दोषोंको नष्ट करके सब काम भोगता है और अभ्युदयको प्राप्त होता है । इस मन्त्रमें उपपत्तिके साथ बुद्धिका—विज्ञानका महत्त्व सिद्ध किया गया है । मनुष्यके शरीरमें सिर जैसे सबसे प्रधान अवयव है, वैसे ही मानवी जीवन-क्रममें बुद्धिका व्यापार सबसे श्रेष्ठ है । भावनावश भले ही यह कहा जाय कि बुद्धि भावनाकी दासी है, पर ऐसा समझना भ्रम है—केवल भ्रम नहीं, अत्यन्त अनिष्टकारक भ्रम है । यथार्थमें भावना ही बुद्धिकी दासी है । मनुष्यका सारा ऐहिक और पारमार्थिक पुरुषार्थ बुद्धिपर ही अवलम्बित है । उपासना पौरुषका ही एक भाग है । उपासना और कर्म पौरुषसे ही निकली हुई दो शाखाएँ हैं । पौरुष बुद्धिका बल है और बुद्धि स्वभावतः जड होनेके कारण स्वयं कुछ भी करनेमें समर्थ नहीं होती । जीवात्माकी सन्निधिसे उसका जो बल प्रकट होता है, वह सचमुच ही अत्यन्त दिव्य है । भक्ति, ज्ञान और पवित्र उज्ज्वल ध्येयनिष्ठादि साधनोंसे बुद्धि अतीव निर्मल और तेजस्विनी होती है । ऐसी योगयुक्त बुद्धिके द्वारा ही मनुष्य अत्युत्कट उपासना और यशःसम्पन्न पौरुष करनेमें समर्थ होता है । और इसीलिये देव अथवा तत्सम महान् पुरुष इस बुद्धिरूप श्रेष्ठ ब्रह्मकी उपासना करते हैं । अथवा यों कहिये कि जिन्हें ऐसी निर्मल और तेजस्विनी

बुद्धि प्राप्त होती है वे ही देवत्व लाभ करते हैं। नरसे नारायण बननेकी जो कुंजी है, वह इसी योगयुक्त बुद्धिमें है। इस पवित्र बुद्धियोगके प्राप्त होने और स्थिर होनेपर मनुष्यके सब मानसिक और शारीरिक दोष नष्ट हो जाते हैं। अर्थात् मन और शरीरके निर्दोष और बलसम्पन्न होनेके लिये जो कुछ करनेकी आवश्यकता है, उसे वह शान्ति और दृढ़ताके साथ करता है और इसीलिये इस बुद्धियोगके द्वारा सब अभीष्ट सिद्ध होते हैं। इसीको अभ्युदय कहते हैं। यहाँ 'विज्ञान' शब्दका प्रयोग न कर 'बुद्धि' शब्दका प्रयोग किया है। इस बुद्धिमें ही विज्ञानका समावेश होता है। ज्ञान और विज्ञान दोनों बुद्धिकी ही शक्तियाँ हैं, दोनों एक दूसरेके बिना अपूर्ण रहती हैं। 'ज्ञान-विज्ञान' शब्दोंका अर्थ अमरसिंह पण्डितने इस प्रकार किया है—

'मोक्षे धीर्ज्ञानमन्यत्र विज्ञानं शिल्पशास्त्रयोः।'

इस प्रकार श्रुतिसे लेकर अमरकोष-जैसे ग्रन्थोंतक 'ज्ञान-विज्ञान' शब्दोंके अर्थ निःसन्दिग्ध और स्पष्ट दिये हुए होनेपर भी केवल उपनिषदोंमें इनके अर्थ किसी कदर भ्रम उत्पन्न करनेवाले हैं। मुण्डकोपनिषद्में ज्ञान-विज्ञानको ही 'परा विद्या' और 'अपरा विद्या' कहा गया है। परन्तु ईशावास्योपनिषद्में 'विद्या' और 'अविद्या' शब्द आये हैं। यहाँ 'अविद्या' शब्दसे कुछ भ्रम होता है। पर श्वेताश्वतरोपनिषद्ने इस भ्रमका पूर्ण निरास किया है। कारण 'क्षरं त्वविद्या अमृतं तु विद्या' यह स्पष्ट वचन है और इसमें 'अविद्या' शब्दके अर्थके विषयमें कुछ भी सन्देह नहीं रह जाता—विद्या और अविद्याका सरल सयुक्तिक अर्थ ज्ञान-विज्ञान ही होता है। ईशावास्योपनिषद्में विज्ञानका बहुत बड़ा फल बताया है—विज्ञानसे मनुष्य मृत्युका अर्थात् मृत्यु-जैसे महान् सङ्कटोंका सामना करनेमें समर्थ होता है, विज्ञानके द्वारा ज्ञानमें एकसूत्रता आती है और मनुष्य सर्वज्ञ बनता है। वही ब्रह्मविद्यासे प्राप्त होनेवाली सर्वज्ञता है। ज्ञान-विज्ञानसम्पन्न मनुष्यको कैसी अलौकिक योग्यता प्राप्त होती है, इसका वर्णन ईशावास्योपनिषद्के आठवें मन्त्रमें पाठकोंको अवश्य देखना चाहिये। इस वर्णनको कपोल-कल्पित माननेका कोई कारण नहीं है। वशिष्ठ-विश्वामित्रसे लेकर शिवाजी-रामदासतकका इतिहास इसकी साक्षी बराबर दे ही रहा है।

वशिष्ठ ऋषिकी कामधेनुको जब राजा विश्वामित्र जबर्दस्ती ले जाने लगे, तब वशिष्ठजीने उनके इस कार्यका कोई प्रतीकार नहीं किया—यह कथा सर्वत्र प्रसिद्ध है। इसीसे यह धारणा रूढ हो गयी कि प्रतीकार करना भी एक प्रकारका दोष है। परन्तु वाल्मीकीय रामायणमें इस विषयमें कुछ दूसरी ही कथा है। वाल्मीकिका ग्रन्थ अति प्राचीन और प्रमाणभूत होनेके कारण इस ग्रन्थमें दी हुई कथाको अधिक प्रामाणिक मानना चाहिये। विश्वामित्र जब कामधेनुको छीन ले गये, तब वशिष्ठजी चुप नहीं बैठ रहे बल्कि उन्होंने अपना ब्रह्मदण्ड उठाया और—

'पश्य ब्रह्मबलं दिव्यं मम क्षत्रियपांसन।'

—कहकर विश्वामित्रको ललकारा और शुष्क तथा आर्द्र विद्युच्छक्तिका प्रयोग करके विश्वामित्रके छक्के छुड़ा दिये। इस युद्धमें वशिष्ठजीने मुख्यतः विद्युत्-शक्तिसे ही काम लिया और असंख्य चतुरङ्गिणीके अधिपति विश्वामित्रको पराजित किया। वशिष्ठजीको यह विजय विज्ञान-बलसे ही प्राप्त हुई। वशिष्ठ पूर्ण ब्रह्मज्ञानी थे, इस विषयमें तो कोई मतभेद ही नहीं हो सकता; पर उनके विज्ञानबलका उल्लेख प्रायः कहीं देखनेमें नहीं आता। वाल्मीकिजीने अवश्य ही इस कथामें उनके विज्ञानबलको प्रदर्शित किया है। ये शुष्क और आर्द्र विद्युत्प्रयोग क्या थे, यह ठीक समझमें नहीं आता। कदाचित् ये धन-विद्युत् और ऋण-विद्युत्के ही कोई रूप हों। वशिष्ठ ऋषि पूर्ण ज्ञानी होनेके साथ-साथ इस प्रकार पूर्ण विज्ञानी भी थे, यही बात इस कथासे स्पष्ट होती है।

ज्ञान-विज्ञानका उल्लेख गीतामें कई बार हुआ है और उसका पूर्ण विवेचन भी किया गया है। भगवान्ने विज्ञानसहित ज्ञान बतलाया है और ज्ञान-विज्ञानको ही सम्पूर्ण ज्ञान—सर्वज्ञता कहा है। पाश्चात्त्य देशवालोंने विज्ञानका महत्त्व जाना और उसे चरितार्थ भी किया। पर हम हिन्दू उसकी उपेक्षा ही करते गये, इसी कारण व्यावहारिक दुर्बलताको प्राप्त हुए हैं।

गीतान्तर्गत उपसंहारका विचार

(लेखक—पं० श्रीजनार्दन सखाराम करंदीकर, सम्पादक, 'केसरी', पूना)

श्रीमद्भगवद्गीताका अठारहवाँ अध्याय उपसंहारात्मक है। श्रीज्ञानेश्वर महाराजने इसे शिखराध्याय कहा है। इस शिखरकी वे इस प्रकार प्रशंसा करते हैं—'जो कार्य अत्युत्तम होता है, जिसमें चोरीकी कोई बात नहीं होती, उसका शिखर उसकी उज्ज्वल ख्यातिका कारण होता है। वैसा ही यह अठारहवाँ अध्याय है, इसमें गीताका साद्यन्त विवरण है। यह अठारहवाँ अध्याय नहीं, बल्कि एकाध्यायी गीता ही है।' इस प्रकार ज्ञानेश्वर महाराजके कथनानुसार अठारहवाँ अध्याय सम्पूर्ण गीताका विवरण है—यह एक अध्यायमें सम्पूर्ण गीता ही है। यह अठारहवें अध्यायकी बात हुई; पर इस अठारहवें अध्यायका अपना भी एक उपसंहार है, जिसके बिना इस अध्यायकी समाप्ति ही न होती।

अठारहवें अध्यायमें इस तरह यदि सम्पूर्ण गीताका सार आ गया हो और फिर इस अध्यायका भी कोई उपसंहार हो तो उस उपसंहारमें सम्पूर्ण गीताका सारमर्म अवश्य ही आ गया होगा। इस दृष्टिसे यह देखना बड़े महत्त्वका होगा कि इस अठारहवें अध्यायका उपसंहार कहाँसे आरम्भ होता है और उसमें किस प्रकार सम्पूर्ण गीताका सारमर्म आ गया है। अठारहवें अध्यायका यह श्लोक देखिये—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

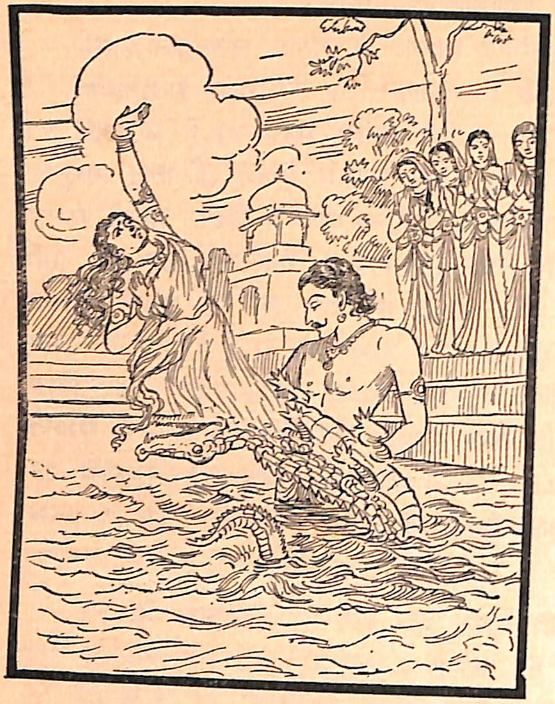
यह श्लोक केवल अठारहवें अध्यायका ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण गीताका उपसंहार सूचित करता है। इसके आगे इसी अध्यायमें जो श्लोक हैं वे इसी श्लोकका स्पष्टीकरण करनेवाले हैं और उनमें यहाँतकके गीताके सभी सिद्धान्त संक्षेपमें बताये गये हैं।

गीताशास्त्रका निष्कर्ष बतलानेवाले 'असक्तबुद्धिः सर्वत्र' इत्यादि ४९वें श्लोकसे लेकर 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' इत्यादि ६६वें श्लोकतक जो १८ श्लोक उपसंहारात्मक हैं, उनका अर्थ लगानेमें अनेक स्थानोंमें जो अर्थविपर्यास किया जाता है, उससे अर्थका अनर्थ होता है। 'असक्तबुद्धिः सर्वत्र' वाले श्लोकमें परा कोटिकी नैष्कर्म्यसिद्धि प्राप्त होनेकी बात कही गयी है और इस 'नैष्कर्म्यसिद्धि' का साधन 'संन्यासेन' पदसे सूचित किया गया है। प्रश्न यह है कि यहाँ 'संन्यासेन' पदका अर्थ क्या किया जाय? सब टीकाकारोंने इसका अलग-अलग अर्थ दिया है। श्रीमान् शङ्कराचार्य इसका अर्थ 'सर्वकर्मसंन्यास' अर्थात् सब कर्मोंका स्वरूपतः त्याग बतलाते हैं। श्रीमधुसूदन सरस्वतीने अपनी मधुसूदनी टीकामें इसके भी आगे बढ़कर 'शिखायज्ञोपवीतादिसहितसर्वकर्मत्यागेन' ऐसा अर्थ करके श्रीमान् शङ्कराचार्यके अर्थमें प्रत्यक्ष संन्यासाश्रम लाकर जोड़ दिया है! शङ्करानन्दी टीकामें 'संन्यास' पदका अर्थ समाधि अर्थात् निरन्तर ब्रह्मनिष्ठा किया गया है। श्रीधरी टीकामें संन्यासपदसे 'कर्मासक्ति और कर्मफलके त्याग' का अर्थ ग्रहण किया गया है। अन्य अनेक भाष्यकारों और टीकाकारोंके अर्थोंकी अपेक्षा श्रीधरस्वामीका अर्थ अधिक सरस और प्रकरणसे सुसङ्गत प्रतीत होता है।

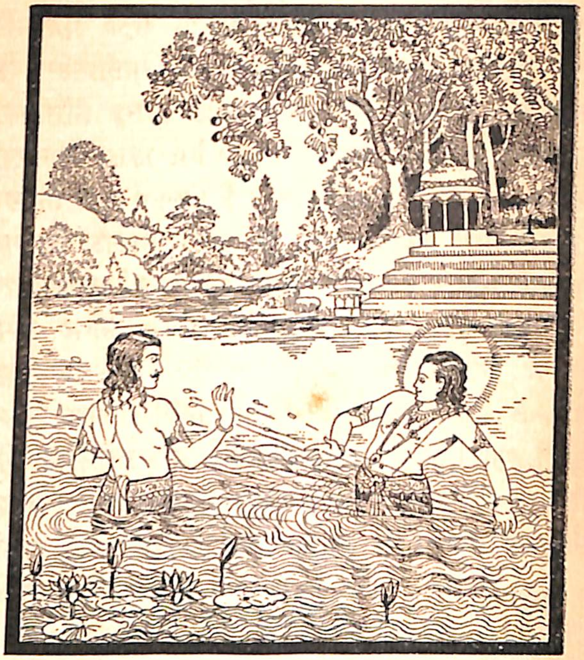
४५वें श्लोकके 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' से जो प्रकरण आरम्भ होता है, उसीको स्पष्ट करनेके लिये 'असक्तबुद्धिः सर्वत्र' आदि श्लोक आये हैं। इस प्रकरणमें यही बतलाना है कि स्वकर्मके द्वारा जो ईश्वराराधन होता है उससे किस प्रकार सिद्धि प्राप्त होती और कैसे फिर उसीमेंसे ब्रह्मप्राप्तिका मार्ग निकल आता है। ऐसी अवस्थामें 'संन्यासेन' पदसे सर्वकर्मत्याग या शिखा-सूत्रका त्याग कैसे ग्रहण किया जा सकता है? इसी प्रकार 'नैष्कर्म्यसिद्धि' से निष्क्रियताका अर्थ ग्रहण करना पूर्वापर प्रसङ्गके विरुद्ध होता है। इसलिये 'संन्यासेन' पदसे कर्मफलत्यागका ही अर्थ ग्रहण करना समुचित होगा। अठारहवें अध्यायके आरम्भमें 'संन्यास' पदका अर्थ 'काम्य कर्मोंका त्याग' बतलाया गया है, इसलिये वही अर्थ यहाँ भी माना जाय तो भी तात्पर्य एक ही निकलता है। 'काम्य कर्मोंका त्याग' इन पदोंसे निष्काम कर्मका ग्रहण आप ही सूचित होता है। निष्काम कर्म और कर्मफलत्याग एक ही चीज है। इस श्लोकके 'असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः' इन पदोंसे निष्काम कर्म ही वर्णित है और इसीलिये 'नैष्कर्म्यसिद्धि' पदोंसे भी निष्क्रियता नहीं बल्कि 'पद्मपत्रमिवाम्भसा'—'निर्लेपता' ही अभिप्रेत है।

इसी प्रकार 'यतः प्रवृत्तिर्भूतानाम्' इत्यादि वचनका स्पष्टीकरण करनेके पश्चात् सम्पूर्ण गीतोपदेशका स्वरूप स्पष्ट

अर्जुन



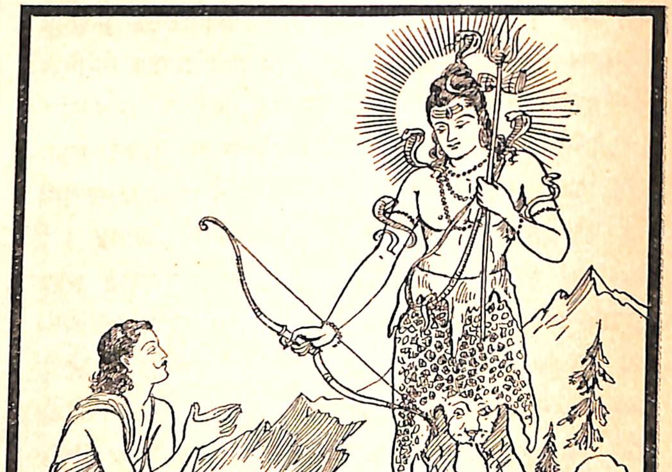
अप्सराओंका उद्धार



भगवान्‌के साथ जलविहार



इन्द्रसे वर-प्राप्ति



शङ्करसे पाशुपतास्त्रकी प्राप्ति

करनेके लिये भगवान् श्रीकृष्णने संक्षेपमें सिद्धिप्राप्तिके मार्ग और उन मार्गोंसे प्राप्त होनेवाली ब्रह्मप्राप्तिका स्वरूप 'सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म' इस श्लोकसे बतलाना आरम्भ किया है। जिस मार्गसे सिद्धि प्राप्त हुई हो, उसी मार्गके अनुसार किस प्रकार ब्रह्मप्राप्ति होती है—यही बतलानेका अभिवचन यहाँ संक्षेपमें दिया गया है। अर्थात् आगे जो सिद्धिप्राप्तिका त्रिविध मार्ग और ब्रह्मप्राप्तिका वर्णन किया गया है, वह इसी अभिवचनके अनुसार हो सकता है। परन्तु अधिकांश टीकाकारोंने 'सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म' इस श्लोकका भी ठीक अर्थ नहीं किया है और यह मान लिया है कि 'बुद्ध्या विशुद्धया युक्तः' से लेकर 'मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्' तक ब्रह्मप्राप्तिका मानो एक ही मार्ग वर्णन किया गया है। और ऐसा मान लेनेके कारण ही 'सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म' इस श्लोकके 'यथा' और 'तथा' इन पदोंका ठीक अन्वयार्थ भी उनसे नहीं बन पड़ा है।

तेरहवें अध्यायमें 'ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति' इत्यादि श्लोकसे जिस अधिकरणका आरम्भ हुआ है, उसमें आत्मज्ञानके ध्यान, सांख्ययोग, कर्मयोग और भक्तियोग—ये चार मार्ग बताये हैं। इनमेंसे सांख्यमार्गको अलग रखनेसे जो तीन मार्ग रह जाते हैं, उनका वर्णन यहाँ आगेके श्लोकोंमें किया गया है। पर टीकाकारोंने इसकी ओर ध्यान देकर यह देखनेकी कोई जरूरत ही न समझी कि ध्यानयोगका वर्णन कहाँ समाप्त हुआ, भक्तियोग कहाँसे आरम्भ हुआ और कहाँसे कर्मयोग।

बात यह है कि आत्मज्ञानके जिस प्रकार ध्यानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग—ये तीन मार्ग हैं, उसी प्रकार तत्तत्साधनसे प्राप्त होनेवाली ब्राह्मी स्थितिका स्वरूप भी भिन्न-भिन्न होता है; और इसी भिन्नता या पार्थक्यको दरसानेके लिये 'यथा सिद्धिं प्राप्तः यथा ब्रह्म प्राप्नोति तथा मे निबोध' ये पद प्रस्तावनाके तौरपर आये हैं और इसके बाद पहले ध्यानमार्गका वर्णन 'बुद्ध्या विशुद्धया युक्तः' से आरम्भ हुआ और 'ब्रह्मभूयाय कल्पते' के साथ समाप्त हुआ। इस साधनमार्गका वर्णन समाप्त होनेके साथ ही इस मार्गसे प्राप्त होनेवाली जो सिद्धारूढावस्था है, उसका वर्णन 'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति' इस श्लोकार्द्धमें किया गया है। यहीं ध्यानयोगके साधन और सिद्धिका वर्णन समाप्त हुआ।

इसके अनन्तर 'समः सर्वेषु भूतेषु' से 'समत्वबुद्धियोग' का वर्णन है, ध्यानयोगका नहीं। ध्यानयोग एक चीज है, समत्वबुद्धियोग दूसरी चीज। छठे अध्यायमें भी ध्यानयोग और समत्वबुद्धियोगके अलग-अलग प्रकरण हैं। छठे अध्यायमें 'शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः' (६।११) से जो वर्णन आरम्भ होता है, वह ध्यानयोगका वर्णन है और उसकी समाप्ति 'शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति' इस श्लोकार्द्धमें होती है। इसके अनन्तर 'सङ्कल्पप्रभवान् कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्' (६।२४) से लेकर 'सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते' (६।३१) तक समत्वयोगका वर्णन है। इसी पद्धतिके अनुसार अठारहवें अध्यायमें भी 'बुद्ध्या विशुद्धया युक्तः' से ध्यानयोगका और 'समः सर्वेषु भूतेषु' से समत्वयोगका वर्णन है और दोनोंकी फलश्रुति भी अलग-अलग है। कारण, समत्वयोगकी सिद्धारूढावस्था भक्तियोगपर अवलम्बित है और इसलिये उसकी परिणति भी—

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

—इस श्लोकार्द्धमें हुई है। इसमें भक्तिको ही ज्ञानका साधन बताया है और भक्तिके बलसे ही ब्रह्मकी प्राप्तिका निर्देश किया है।

ब्रह्मप्राप्ति होनेकी बात कह चुकनेपर प्रकरण वहीं समाप्त हो जाना चाहिये। सो तो हुआ और उसके बाद तीसरा प्रकरण आरम्भ हुआ। यह आरम्भ 'सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः' से हुआ है और यह कर्मयोगका प्रकरण है। इसमें सिद्धिप्राप्तिका साधन ईश्वरार्पणबुद्धिसे किया हुआ निष्काम कर्म है और उसका पर्यवसान भगवत्प्रसादसे शाश्वत पदकी प्राप्ति है—

'मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥'

इसी बातको और अच्छी तरहसे हृदयमें जमानेके लिये नीचे इसका एक नकशा देते हैं—

योगका नाम	साधनमार्गका स्वरूप	ब्रह्मप्राप्तिका स्वरूप
१ ध्यानयोग (श्लोक ५१ से श्लोक ५४ के पूर्वार्द्धतक)	पवित्र स्थानमें बैठकर ध्यान-धारणा करना।	ध्यानसाधनसे आत्मतत्त्वका प्रकट होना और साधकका शोक-मोहातीत होना।
२ भक्तियोग (श्लोक ५४ के उत्तरार्द्धसे श्लोक ५५ तक)	समबुद्धि होकर सब भूतोंमें भगवान्‌को देखना और इस भक्तिके बलसे आत्मज्ञानका उदय होना।	सब भूतोंमें भगवान्‌को देखनेसे भगवान्‌के सर्वव्यापकत्वकायथार्थरूपसे जँच जाना और सायुज्य-मुक्तिका मिलना।
३ कर्मयोग (श्लोक ५६)	ईश्वरार्पणबुद्धिसे कर्म करना।	भगवत्प्रसादसे संसारसे उद्धार पा जाना।

इस प्रकार ब्रह्मप्राप्तिके तीन अलग-अलग साधन हैं और उन साधनोंसे प्राप्त होनेवाली सिद्धावस्थाके तीन भिन्न-भिन्न स्वरूप हैं, इन्हींका वर्णन श्लोक ५१ से ५६ तक कर चुकनेपर ५७वें श्लोकमें तथा ५८वें श्लोकके पूर्वार्द्धमें अर्जुनको विशिष्टरूपसे यह उपदेश किया गया है कि तुम कर्मयोगका ही आश्रय करो। इससे अवश्य ही यह भी सूचित हो ही जाता है कि इन तीनों मार्गोंमें सबसे अच्छा मार्ग तीसरा यानी कर्मयोगका है। दूसरे अध्यायमें 'नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति' इत्यादि श्लोकसे कर्मयोगकी विशिष्टता वर्णित है। फिर ५वें अध्यायमें 'कर्मयोगो विशिष्यते' कहकर कर्मयोगको विशेष प्रमाणपत्र भी दिया गया है। इसी विशिष्टताके अनुसार अठारहवें अध्यायमें यह निर्णय किया गया है। बारहवें अध्यायमें भी 'श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासात्' इत्यादि श्लोकोंमें कर्मयोगका ही माहात्म्य वर्णित है। इसी अध्यायमें मोक्षप्राप्तिके पृथक्-पृथक् मार्ग बतलाते हुए पहले ध्यानयोगका आचरण बतलाया है। वह यदि न बन पड़े तो सबसे सुलभ मार्ग अन्तमें सर्वकर्मफलत्यागका बताया। इससे यह स्पष्ट है कि अठारहवें अध्यायके अन्तमें जो उपसंहार है, उसमें भी पहले वर्णन किये हुए विविध मार्गोंका तुलनात्मक वर्णन करके यही बतलाया है कि इनमें जो मार्ग सबसे सुलभ और श्रेयस्कर जँचे, उसीको तुम ग्रहण करो।

पूर्वाध्यायोंके विवेचन-क्रमको देखते हुए यही कहना पड़ता है कि उपसंहारमें भी तीन मार्गोंकी तुलना करके कर्मयोगकी सुलभता और श्रेष्ठताका बतलाया जाना ही प्रकरणके अनुकूल है और उपरिनिर्दिष्ट श्लोकोंमें वही हुआ है। यदि हम ऐसा न मानें और यही मानकर चलें कि ५१ से ५६ तकके श्लोकोंमें किसी एक ही मार्गका वर्णन है, तो अब देखिये कि यह सारा वर्णन कितना विसङ्गत हो जाता है। इस वर्णनके आरम्भमें ही 'विविक्तसेवी लघ्वाशी' इत्यादि वर्णन करके 'ब्रह्मभूयाय कल्पते' कहकर ब्राह्मी स्थितिकी 'न शोचति न काङ्क्षति' की अवस्थासे लेकर उसकी परमावस्था भी बतला दी गयी। इतना सब कह चुकनेके पश्चात् उसी साधकके सम्बन्धमें यह बतलाना कि 'मद्भक्तिं लभते पराम्', 'भक्त्या मामभिजानाति' कुछ प्रयोजन नहीं रखता। इसको भी किसी तरहसे मान लें तो भी परा कोटिकी भक्तिका यह फल कि 'ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्'—सायुज्य मुक्तिका यह वर्णन तो परम फल मानना ही होगा। पर यह भी नहीं बनता, क्योंकि इसके आगे 'सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः' अर्थात् कर्मयोगाचरण आता है। यह पूर्व वर्णनसे सुसङ्गत कैसे हो? फिर यह भी एक विचारणीय बात है कि सायुज्य मुक्ति जिसके करतलगत हो गयी, उसे 'मत्प्रसादात्' किसी सिफारिशकी क्या जरूरत? मतलब यह कि यह सारा वर्णन किसी एक मार्गका नहीं बल्कि तीन भिन्न-भिन्न मार्गोंका है। आरम्भमें ही जिस साधकका वर्णन 'ध्यानयोगपरो नित्यम्' कहकर किया गया, वही साधक, वही व्यक्ति 'सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणः' कैसे हो सकता है?

तात्पर्य, उपसंहारान्तर्गत इन श्लोकोंका सुसङ्गत अर्थ लगानेका ठीक तरीका यही है कि इस वर्णनको तीन विभिन्न मार्गोंका वर्णन जानना चाहिये और यह समझना चाहिये कि इनमें जो अन्तिम कर्मयोगका मार्ग है—वही 'सुसुखं कर्तुमव्ययम्' है और इसीलिये वही अर्जुनके लिये निर्दिष्ट किया गया है।

५७वें श्लोकमें अर्जुनको कर्मयोगका उपदेश किया गया और फिर उसी उपदेशको दृढ़ करनेके लिये ५८ वें श्लोकसे ६६वें श्लोकतक उसीकी अन्वयरूपसे और व्यतिरेकरूपसे पुनरुक्ति की गयी है। अपना प्रसङ्गसे प्राप्त तथा स्वाभाविक कर्म छोड़ देना किस प्रकार असम्भव है, यह बतलाकर ईश्वरार्पणबुद्धिसे अपने सब कर्म करनेसे किसी प्रकारका कोई दोष नहीं होता और ईश्वरकी कृपासे शाश्वत पद लाभ होता है, यही इसमें बतलाया गया है। और अन्तिम सारभूत उपदेशके तौरपर—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

—यह कहकर महान् आश्वासन भी दिया है।

सम्पूर्ण गीताके इस सारभूत श्लोकका अर्थ करते हुए भी बहुत-से टीकाकारोंने साम्प्रदायिक बुद्धिका आश्रय करके बड़ी गड़बड़ी कर दी है। सब धर्म छोड़कर मेरी शरणमें आ जाओ, यह कहनेसे ईश्वरार्पणबुद्धिका निषेध नहीं होता और न ईश्वरार्पणबुद्धिसे किये जानेवाले कर्मोंका निषेध होता है। सब पापोंसे मुक्त किये जानेका जो महान् आश्वासन इसमें है, उसीसे यह सिद्ध है कि जिन धर्मोंका परित्याग करनेको कहा गया वे पापविमोचक व्रताचरणादि कर्म ही होंगे। परन्तु ईश्वरार्पणबुद्धिसे किये जानेवाले निष्काम कर्ममें पापका कोई स्पर्श भी नहीं होता, इसलिये इसमें प्रायश्चित्तकी भी कोई आवश्यकता नहीं रहती। यज्ञार्थ किये जानेवाले कर्म बन्धनकारक नहीं होते, इसलिये बन्धमोचनार्थ किये जानेवाले पृथक् धर्मोंका वहाँ

प्रयोजन नहीं रहता । इसीलिये 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' इस वचनसे निष्काम कर्मयोगका निषेध नहीं होता और कर्म-बन्धके होनेका भय 'सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि' कहकर दूर किया जाता है । यह आश्वासन उसीके लिये हो सकता है जो कोई कर्माचरण करता हो । जो सब कर्मोंका सम्पूर्णतया त्याग कर चुका, उस संन्यासीके लिये इस आश्वासनकी क्या आवश्यकता ? पर जो 'सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणः' एवंविध कर्मयोगी हो, उसीके लिये ऐसे आश्वासनकी आवश्यकता हो सकती है । इसलिये जब भगवान् श्रीकृष्ण गीताके अन्तिम श्लोकमें ऐसा आश्वासन देते हैं, तब उनके सामने कर्माचरण करनेवाले कोई कर्मयोगी ही होंगे, कर्म त्यागनेवाले कोई संन्यासी नहीं । और इसीसे यह भी निश्चित होता है कि गीताका तात्पर्य कर्मयोगपरक—प्रवृत्तिपरक ही हो सकता है, संन्यासपरक–निवृत्तिपरक नहीं ।

गीतामें समन्वयका सिद्धान्त, आत्माकी एकता तथा ईश्वरप्राप्तिके मार्गोंकी एकता

(लेखक—रेवेरेंड आर्थर ई. मैसी)

जगद्गुरु श्रीकृष्णने भगवद्गीताके रूपमें जगत्को एक अनुपम देन दी है । कर्म, ज्ञान, भक्ति—ये शाश्वत आदर्श एक दूसरेको साथ लिये हुए चलते हैं; इनमेंसे प्रत्येक अन्य दोनोंके लिये आवश्यक है । इसी प्रकार जीवात्मा, बुद्धि तथा हृदयकी भी साथ-साथ उन्नति होनी चाहिये ।

गीताके उपदेशपर कोई शङ्का नहीं कर सकता, क्योंकि वह मानो ठीक मर्मस्थलको स्पर्श करता है । वह सबकी आवश्यकताओंकी समानरूपसे पूर्ति करता है, उसमें विकासकी प्रत्येक श्रेणीपर विचार किया गया है । यह एक ही ग्रन्थ है जिसमें छोटे-से-छोटा और बड़े-से-बड़ा मनुष्य, अतिशय प्रखर बुद्धिका विचारक और केवल बाह्यदृष्टिसे विचार करनेवाला, युवा एवं अनुभवी वृद्ध, महात्मा एवं पापात्मा, अमीर-गरीब, परोपकारी एवं स्वार्थी, शुचि-अशुचि, भक्त, विद्यार्थी, मनुष्यमात्रका बन्धु, इन्द्रियाराम तथा ज्ञानपिपासु, दार्शनिक एवं नास्तिक, प्रपञ्चानुरागी तथा ईश्वरानुरागी, जो इस व्यक्त जगत्से परे सत्में रहनेकी चेष्टा करता है और जो इस व्यक्त जगत्में ही रमता है, धार्मिक एवं पाखण्डी, ज्ञानी एवं छली, सभीको कुछ-न-कुछ जानने तथा सीखनेकी सामग्री मिल जाती है, मार्ग दिखलानेके लिये कोई-न-कोई ध्रुवतारा मिल जाता है और जिस वातावरणमें मनुष्य रहता है उसका वास्तविक महत्त्व समझनेका कोई-न-कोई साधन प्राप्त हो जाता है । यह दिव्य ईश्वरीय संगीत उसे अपने चारों ओर फैली हुई मायापर विजय प्राप्त करनेका सामर्थ्य प्रदान करता है और इस प्रकार उसे इस बातका ज्ञान हो जाता है कि मेरे जीवनका कोई-न-कोई ध्येय और लक्ष्य अवश्य है और मेरी स्थिति, चाहे वह कितनी ही बुरी क्यों न हो, ऐसी नहीं है कि जिसके लिये कोई उपाय अथवा सुधारका रास्ता न हो ।

भक्त-कवि सूरदासने क्या ही अच्छा गाया है !—

एक नदिया एक नार कहावत, मैलो नीर भरो ।
जब दोउ मिलि कै एक बरन भए, सुरसरि नाम परो ॥
एक लोहा पूजामें राख्यो, एक घर बधिक परो ।
पारस गुन अवगुन नहिं चितवै, कंचन करत खरो ॥

जीवात्माको मुक्तिका मार्ग दिखलानेवाले इस अनुपम एवं अनमोल ग्रन्थरत्नके उपदेशोंमें अनेक विचारधाराएँ दृष्टिगोचर होती हैं और मनुष्यकी आत्माके विकासके लिये, उसके ईश्वरत्वको उसके विनाशीभावसे मुक्त करनेके लिये, बहुत-सी नैतिक शिक्षा भरी हुई है ।

आध्यात्मिक जीवनकी इमारत धर्मके पायेपर खड़ी होती है और धर्मका अर्थ है—व्यष्टिकी विकासशील स्थितिका अनुभव, निश्चित मार्गपर आगे बढ़नेका निश्चयपूर्ण प्रयत्न और जिस प्रकार भी हो अपने शरीरके अंदर रहनेवाले कामरूपी राक्षसको दमन करनेका दृढ़ सङ्कल्प, जो पङ्ककी भाँति अमृतत्वके निर्मल जलको गँदला कर देता है । 'अर्जुन ! अपना गाण्डीव उठाकर खड़े हो जाओ और युद्ध करो' भगवान्के इन शब्दोंकी प्रतिध्वनि गीतामें बारंबार सुनायी देती है; युद्ध करो, जिससे कि तुम अपने चारों ओर फैले हुए अन्धकारके बादलोंको विलीन कर दो; युद्ध करो ताकि तुम अपनी इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त कर सको ।

पापके साथ युद्ध करना, यही सर्वोत्तम धर्म है । जगदीश्वरकी यही इच्छा है । ईसामसीहने बाइबलमें कहा है—'जो कोई भी स्वर्गमें रहनेवाला मेरे पिताके इच्छानुसार चलेगा, वही मेरा भाई, वही मेरी बहिन और वही मेरी माता है ।' अपनी निम्नवृत्तियोंको उदात्त बनाना होगा । इस परिवर्तनशील जगत्के तुमुल घमासान एवं सङ्घर्षमें जन्म लेनेके कारण,

जो मनुष्यकी आध्यात्मिक दृष्टिको धुँधली कर देते हैं, मनुष्य मायाके पर्देको और भी सघन बना देता है, जिसके कारण शाश्वत सत्य उसकी दृष्टिसे ओझल हो जाता है। कारण यह होता है कि मनुष्य अपनी इन्द्रियोंके हाथका खिलौना बना रहता है, वे सुखका झूठा एवं छलपूर्ण प्रलोभन देकर इसे लुभाये रहती हैं। जब कभी उसकी सत्कर्म करनेकी इच्छा होती है और वह अपनी शक्तियोंको भगवान्के अर्पण करना चाहता है, उस समय भी संसारके अनित्य सुखोंको छोड़नेमें असमर्थ होनेके कारण वह चूक जाता है और जल्दीमें ऐसे कर्म कर बैठता है जिन्हें वह जानता है कि ये मेरी उन्नतिमें बाधक हैं।

संत पॉलने कहा है—

'जो शुभ कर्म मैं करना चाहता हूँ उसे कर नहीं पाता, परन्तु जो दुष्कर्म मैं करना नहीं चाहता उसे कर बैठता हूँ। अब यदि मैं इच्छा न होते हुए भी कोई दुष्कर्म करता हूँ, तो इसका अर्थ यही है कि मैं स्वयं उसे नहीं करता बल्कि मेरे अंदर बैठा हुआ पाप उसे करवाता है।'*

अर्जुन भगवान्से पूछता है—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥

'भगवन्! कौन-सी शक्ति है जो मनुष्यसे उसकी इच्छा न होनेपर भी मानो बलपूर्वक पाप करवाती है?'

इसका उत्तर जो भगवान् देते हैं वह उनके अनुरूप ही है, क्योंकि वे ज्ञानके अवतार ही ठहरे!—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥
धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्॥

'यह काम है! यह क्रोध है! जो रजोगुणसे उत्पन्न हुआ है। इसका पेट बहुत बड़ा है (इसकी भूख जल्दी शान्त नहीं होती)। यह महान् पापी है, इसे शत्रु ही समझो। जिस प्रकार धुआँ अग्निको आच्छादित कर देता है, मैल दर्पणको अन्धा कर देता है और जेर गर्भस्थ शिशुको आच्छादित किये रहती है, उसी प्रकार इस कामनाने ज्ञानको ढक रक्खा है।'

अतः जीवात्माको अपने मूल स्रोत परमात्मामें मिल जानेसे पूर्व बड़ा भारी त्याग करना पड़ता है, उसे अपने दृढ़ सङ्कल्परूपी शस्त्रसे संसार, शरीर तथा कामनाके बन्धनको काटना होगा और नश्वर पदार्थोंके सम्बन्धमें अपनी चिन्ताओं तथा व्यग्रताको अनिर्वचनीय शान्ति तथा आनन्दके समुद्रमें डुबा देना होगा। इस समुद्रमें इच्छाएँ अपने-आप विलीन हो जाती हैं, क्योंकि इस समुद्रके प्राप्त हो जानेपर इच्छाकी कोई वस्तु रह नहीं जाती, ज्ञानका कोई विषय बाकी नहीं रहता और कोई ऐसी प्राप्तव्य वस्तु नहीं रह जाती जो आत्माके अंदर न हो।

यदि हम भूतदयाका निरन्तर अभ्यास करके तथा दैनिक पञ्चमहायज्ञका अनुष्ठान करके जीवनमें प्रतिदिन कुछ-न-कुछ त्याग नहीं करते—चाहे वह कितना ही स्वल्प क्यों न हो—हमारी ज्ञानचर्चा, हमारा महात्माओंके चरणोंमें बैठकर सत्सङ्ग करना तथा साधुताका हृदयसे सम्मान एवं पूजा करना व्यर्थ नहीं तो बहुत ही कम लाभदायक है। नित्य यज्ञ करना, चिन्तनका अभ्यास करना, नित्य कुछ-न-कुछ दान करना तथा दूसरोंसे कुछ न लेना—इसी प्रकारकी चेष्टा करनेसे हम उस आदर्श गुणको सीख सकेंगे जिसे बाह्य जगत् महान् त्याग कहता है।

भगवद्गीता कहती है—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥
न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥
बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥

'जिन लोगोंका मन समतामें स्थित है, उन्होंने इसी जीवनमें विश्वको जीत लिया। ब्रह्म निर्दोष एवं सम है, अतः वे लोग ब्रह्महीमें स्थित हैं। जो मनुष्य प्रिय वस्तुको पाकर हर्षित नहीं होता और अप्रिय वस्तुको पाकर दुखी नहीं होता—ऐसा स्थिरबुद्धि, संशयरहित ब्रह्मवेत्ता पुरुष सच्चिदानन्दघन परब्रह्ममें एकीभावसे नित्य स्थित है। जिस मनुष्यका अन्तःकरण बाह्य विषयोंमें अर्थात् सांसारिक भोगोंमें आसक्ति-रहित है, वह अपने अन्तःकरणमें भगवद्ध्यानजनित आनन्दको प्राप्त होता है और वह मनुष्य सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मारूप योगमें एकीभावसे स्थित हुआ अक्षय आनन्दका अनुभव करता है।'

* "For the good that I would I do not: but the evil which I would not, that I do. Now if I do that I would not, it is no more I that do it, but sin that dwelleth in me."

गीता सब धर्मोंके भ्रातृभावका जीता-जागता प्रमाण है

(लेखिका—बहिन जीन डिलेअर)

थियासाफिकल सोसाइटीमें सम्मिलित हुए मुझे बीस वर्षसे ऊपर हो गया। तबसे पहले-पहल मैंने जितनी पुस्तकें पढ़ीं, भगवद्गीता भी उनमेंसे एक थी। उस समय दो बातोंपर मेरा विशेषरूपसे ध्यान गया—एक तो उसके सनातन एवं सार्वभौम सिद्धान्तोंपर और दूसरे, सभी मुख्य बातोंमें ईसाईरहस्यवादके साथ उसके सादृश्यपर।

इन बीस वर्षोंमें मेरी यह धारणा सम्भवतः और भी दृढ़ हो गयी, यहाँतक कि अब मुझे उसके दिव्य भावोंसे भरे पन्नोंमें सारे धर्मोंके भ्रातृभावका जीता-जागता प्रमाण दृष्टिगोचर होता है। मुझे उसके अंदर इस बातका भी प्रमाण दृष्टिगोचर होता है कि उनमेंसे प्रत्येकके मूलसिद्धान्त हमें उन दिव्य आत्माओंसे प्राप्त हुए हैं जिन्हें हमलोग ईश्वरीय ज्ञानके अधिकारी कहते हैं।

उदाहरणतः जब मैं भगवान् श्रीकृष्णके इन वचनोंको पढ़ती हूँ कि 'ऐसा कोई समय न था जब मैं न रहा होऊँ' ('न त्वेवाहं जातु नासम्'), तब मुझे ईसामसीहके निम्नलिखित शब्द स्मरण हो आते हैं, जिन्हें वे सनातन पुरुषके नामसे कहते हैं—'हजरत इब्राहीमके पहलेसे मैं हूँ।' ('Before Abraham was, I am.') जब भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं—'जो कोई मेरे दिव्य जन्म-कर्मका रहस्य जान लेता है, वह शरीर छोड़नेपर मेरे अंदर प्रवेश कर जाता है, उसका पुनर्जन्म नहीं होता,' मुझे बाइबिलके Revelation नामक खण्डकी यह प्रतिज्ञा याद आ जाती है—'जो अपनी इच्छाशक्तिको दमन कर लेता है, उसे मैं साकार भगवान्के लीलानिकेतनका स्तम्भ बना देता हूँ और वह कभी वहाँसे अलग नहीं होता।' ('He who overcometh will I make a pillar into the house of the living God, and he shall go out no more').

इसी प्रकार श्रीकृष्णके ये शब्द—'मेरे भक्त मुझीको प्राप्त होते हैं। जो कोई प्रेमपूर्वक मुझे एक पत्ता, फूल, फल अथवा जल अर्पण करता है—उस शुद्ध अन्तःकरणवाले पुरुषके भक्तिपूर्ण उपहारको मैं सहर्ष अङ्गीकार करता हूँ··· ···जो कुछ तुम करो, जो कुछ खाओ, जो कुछ हवन करो और जो कुछ दान दो, वह सब मेरे नामपर एवं मेरे लिये करो, मुझे बाइबिलके ऐसे ही वचनोंका स्मरण दिलाते हैं। वहाँ भी सब कुछ भगवान्के निमित्त—न कि मनुष्यके निमित्त—करनेकी आज्ञा दी गयी है। एक गिलास ठंडा जल भी किसीको दो तो उनके नामपर दो, अन्तःकरणको शुद्ध रक्खो, सर्वप्रथम भगवान्के लोक तथा उन्हींके धर्मको प्राप्त करनेकी चेष्टा करो; ऐसा करनेसे जगत्के सारे पदार्थ अपने-आप प्राप्त हो जायँगे।

इस प्रकारके भावसादृश्य चाहे जितने बतलाये जा सकते हैं, फिर भी ये सादृश्य केवल शब्दोंको लेकर ही हैं—उनका भीतरी भाव तो भक्तके हृदयमें ही प्रकट होता है; और शास्त्रोंका यह भीतरी तात्पर्य यह सनातन भाव सदा एक है, ठीक जिस प्रकार सत्यस्वरूप भगवान् अपने विश्वरूपमें अनेक होनेपर भी एक हैं।

गीता नित्य नवीन है

जगत्के सम्पूर्ण साहित्यमें, यदि उसे सार्वजनिक लाभकी दृष्टिसे देखा जाय, भगवद्गीताके जोड़का अन्य कोई भी काव्य नहीं है। दर्शनशास्त्र होते हुए भी यह सर्वदा पद्यकी भाँति नवीन और रसपूर्ण है; इसमें मुख्यतः तार्किक शैली होनेपर भी यह एक भक्ति-ग्रन्थ है; यह भारतवर्षके प्राचीन इतिहासके अत्यन्त घातक युद्धका एक अभिनयपूर्ण दृश्य-चित्र होनेपर भी शान्ति तथा सूक्ष्मतासे परिपूर्ण है और सांख्य-सिद्धान्तोंपर प्रतिष्ठित होनेपर भी यह उस सर्वस्वामीकी अनन्य भक्तिका प्रचार करता है। अध्ययनके लिये इससे अधिक आकर्षक सामग्री अन्यत्र कहाँ उपलब्ध हो सकती है ?

—जे० एन्० फरक्यूहर एम्० ए०

जीवनकी त्रिवेणी

(लेखक—रेवरेंड एड्विन ग्रीव्ज)

भगवद्गीताके अठारह अध्यायोंमें विचारकी जो अनेक पद्धतियाँ प्रस्तुत की गयी हैं उनकी आलोचना करनेमें अपनेको असमर्थ समझते हुए भी, गीतामें मोक्षकी प्राप्तिके जो तीन मार्ग बतलाये गये हैं—ज्ञानमार्ग, कर्ममार्ग और भक्तिमार्ग—उनपर विचार करनेका साहस हम अवश्य करेंगे। यह प्रश्न बहुत व्यापक है और इस व्यापकरूपमें उसका सम्बन्ध किसी खास ग्रन्थ, राष्ट्र या युगसे नहीं है, किन्तु सार्वभौम जीवनसे है।

जीवन (मनुष्य-जीवन) की एक मुख्य विशेषता है—उसकी दृष्टिकी विविधता। इन दृष्टियोंके विविध होते हुए भी उन सबमें क्रिया समानरूपसे विद्यमान रहती है—यह क्रिया चाहे अधिक स्पष्ट हो या कम, उसका रूप चाहे नाड़ीकी सूक्ष्म गति हो, हृदयका स्पन्दन हो, विचार, भाव या वाणीका व्यापार हो अथवा शरीरके अवयवोंका सञ्चालनमात्र हो। जब ये सारी क्रियाएँ बंद हो जाती हैं तो हम कहते हैं कि शरीरका अवसान हो गया। इसके बाद उसे हम जीवित मनुष्य नहीं कह सकते; शरीर निर्जीव हो जाता है—जड हो जाता है। यद्यपि शरीरके सम्बन्धमें ऐसी ही बात है, तथापि उसमें जो जीवन था, उसके सम्बन्धमें हम निश्चितरूपसे यह नहीं कह सकते कि वह अब नहीं रहा, उसका भी अभाव हो गया; अन्यत्र तथा पहलेकी अपेक्षा भिन्न स्थितिमें वह विद्यमान एवं उत्साहपूर्वक क्रियाशील हो सकता है।

यहाँ एक अतिशय महत्त्वका प्रश्न यह उठता है—क्या व्यक्तित्वको बनाये रखना आवश्यक है? क्या मृत्युके बाद भी 'मैं अमुक हूँ' यह ज्ञान रहता है? या जीवन किसी अहङ्कार-रहित स्थितिमें काम करता रहता है? यह बात तो समझमें आ सकती है कि मृत्युके बाद भी जीवन क्रियाशील बना रह सकता है, परन्तु वह ऐसी परिवर्तित स्थितिमें रहेगा कि उसे पहलेके अनुभवोंका अनुसन्धान नहीं रहेगा; वह बिल्कुल ही नये अनुभवका श्रीगणेश कर सकता है अथवा किसी दूसरे व्यक्तिके अनुभवसे संयुक्त होकर रह सकता है; परन्तु जीवनकी इस प्रकारकी अहंज्ञानशून्य स्थिति कई लोगोंको बहुत महँगी प्रतीत होगी, जिसे वे स्वीकार करनेके लिये कभी तैयार न होंगे। जीवनकी सर्वोच्च स्थितिमें भी व्यक्तित्वको—अहङ्कारको कायम रखनेकी अपेक्षा रहती है। हम अपने मैंपनको, चाहे वह कितना ही छोटा क्यों न हो, त्यागनेके लिये कभी तैयार न होंगे। जीवन वास्तवमें वही है जिसमें मैंपनका बोध रहे और दूसरोंके साथ वर्तमान अथवा भावी सम्बन्ध रहे। इसके बिना जीवन जीवन नहीं रह जायगा, शून्य अस्तित्वमात्र रह जायगा।

एक बात और है, जिसपर विचार करना हमारे लिये आवश्यक है। जीवनमें बुद्धि, भाव और कर्मका क्या स्थान है और वे किस परिमाणमें जीवनके लिये उपयोगी हैं? कभी-कभी ज्ञान, कर्म और भक्ति मोक्षप्राप्तिके तीन पृथक्-पृथक् मार्ग बतलाये जाते हैं, मानो इनमेंसे किसी एकको चुनकर उसका अनुसरण किया जा सकता है। इस मतके साथ-साथ जो मुक्ति हमें प्राप्त करनी है, उसके स्वरूपके सम्बन्धमें भी कुछ मतभेद हो सकता है। अब इन मार्गोंके सम्बन्धमें यह सोचना कि ये तीनों एक दूसरेसे पृथक् हैं, इस बातको भूल जाना है कि प्रत्येक जीवनमें तीनोंका सम्मिश्रण रहता है। यह सत्य है कि प्रत्येक मनुष्यके जीवनमें बुद्धि, भाव और कर्म—इनमेंसे किसी एककी प्रधानता हो सकती है; परन्तु शेष दोकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। जीवनको सर्वाङ्गसुन्दर तथा पूर्ण बनानेके लिये इनमेंसे प्रत्येककी आवश्यकता है। इस प्रकारके जीवनमें तीनोंका पूर्ण एवं निर्बाध उपयोग होना चाहिये। बुद्धिका उपयोग किये बिना केवल कर्मशील अथवा प्रवृत्तिपरायण होना—चाहे वह प्रवृत्ति यज्ञ यागादि कर्मोंमें हो या दैनिक जीवनके सामान्य व्यवहारोंमें—जीवनको एक यन्त्रमात्र बना देना है। यदि केवल भावमय जीवन बिताना सम्भव होता तो उसका अर्थ होता बिना अन्न-जलके हवामें रहना और हवाके सहारे जीना और केवल बुद्धिके बलपर जीनेका अर्थ होगा, उसकी सारी प्राणशक्तिको हर लेना। बुद्धि जीवनके रूपमें वस्तुतः तभी कार्य कर सकती है जब वह भाव तथा कर्मके साथ व्यावहारिक सम्पर्कमें आकर विवेकके रूपमें परिणत हो जाय।

बाइबिल आदि धर्मग्रन्थोंमें जीवनका जो स्वरूप हमारे सामने रक्खा गया है, उसकी विशेषता यह है कि उसमें जीवनका कोई निश्चित कार्यक्रम निर्धारित करनेकी चेष्टा नहीं हुई है। उसमें मुक्तिका जो स्वरूप वर्णित है, वह बहुत ही उदार एवं व्यापक है। शरीरके मर जानेके बाद आत्माका क्या होता है, इस सम्बन्धमें वहाँ कुछ नहीं कहा गया है। मुक्तिका सम्बन्ध 'वर्तमान'से है, इसी जीवनसे है—मुक्तिकी

अवस्थामें जीवनका स्वरूप कुछ और ही हो जाता है, वह पुष्ट एवं स्वस्थ हो जाता है, वह प्रत्येक दिशामें कार्य करने लगता है और उन सारे सम्बन्धों और जिम्मेवारियोंको निबाहता है जिनसे हम घिरे रहते हैं। मुक्तिका अर्थ है प्रत्येक उत्तम शक्तिका उपयोग करना, अधिक लोगोंके साथ सम्पर्कमें आना, सहानुभूतिके क्षेत्रका विस्तार करना, समाजकी सेवा करना, कुटुम्बवालोंके साथ आत्मीयताका सम्बन्ध स्थापित करना, स्वदेशके प्रति प्रेम करना और विश्वके प्रति अपने कर्तव्योंका पालन करना।

यह बात दुहरायी जा सकती है तथा जोरके साथ कही जा सकती है कि ऊँचे स्तरके सभी जीवनोंमें कुछ बातें समान रहती ही हैं और कार्य करती हैं, यद्यपि यह आवश्यक नहीं है कि वे समान मात्रामें ही हों। विचार, भाव या कर्मकी किसी जीवनमें प्रधानता हो सकती है; परन्तु वह प्रधानता ऐसी नहीं होनी चाहिये जिसमें दूसरे अङ्गोंका स्वतन्त्रतापूर्वक उपयोग ही न हो सके। तीनों धाराओंकी मिलकर एक धारा बन जानी चाहिये। जीवन इन तीन धाराओंकी त्रिवेणी है। भावका स्पर्श हुए बिना, किसी प्रकारकी क्रियाके रूपमें अभिव्यक्त हुए बिना बुद्धि बिल्कुल जड तथा निर्जीव हो जाती है। जिस भावके मूलमें विचारकी भित्ति नहीं है और जो क्रियात्मक नहीं है वह जीवन नहीं है, जीवनका फेनमात्र है। सहानुभूति एवं विवेकपूर्ण समवेदनाके बिना कर्म एक जड क्रियामात्र हो जायगा और उसका कर्ता अथवा और किसीके लिये कोई वास्तविक महत्त्व नहीं रह जायगा। जीवनकी इस त्रिवेणीमें, यदि उसका पूर्ण विकास हुआ हो, यह बात बड़े आश्चर्यकी है कि उसका प्रत्येक अङ्ग दूसरे अङ्गोंसे किस तरह घुल-मिल जाता है और किसी अंशमें उनके सङ्गसे रूपान्तरित हो जाता है और उसके कार्य तथा प्रभावका क्षेत्र विस्तृत हो जाता है।

ईसामसीहको कभी-कभी लोग 'पैगंबर, धर्माचार्य और राजा' कहकर पुकारते हैं। ये उपाधियाँ उनके कार्यक्षेत्रका दिग्दर्शनमात्र कराती हैं, उनसे उनके कार्योंके विस्तारका पूरा परिचय नहीं मिलता। वे हमारे जीवनके प्रत्येक पहलूको स्पर्श करते हैं; वे निरे उपदेशक, मुक्तिदाता एवं आदर्श महापुरुष ही नहीं हैं, किन्तु जीवमात्रके सच्चे सुहृद्के रूपमें हमें अपने पास बुलाकर हमारे साथ बन्धुत्व एवं साहचर्य स्थापित करते हैं और हमें अधिकाधिक अपने समान बनानेमें सहायता देते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीताका परम तत्त्व भक्तितत्त्व ही है

(लेखक—श्री ह० भ० प० धुंडा महाराज देगलूरकर)

श्रीमद्भगवद्गीताका एक ही परम तत्त्व क्या है, यदि इस विषयपर विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि वह परम 'गीता-तत्त्व' केवल षड्गुणैश्वर्यसम्पन्न स्वयं श्रीकृष्ण-भगवान् ही हैं।

श्रीमद्भागवतमें श्रीशुकदेवजी कहते हैं—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

तत्त्वज्ञानी पुरुष जिस तत्त्वको अद्वय ज्ञान कहते हैं, वही ब्रह्म, परमात्मा, भगवान् आदि संज्ञाओंसे अभिहित होता है।' 'तत्त्व' शब्द तात्पर्य या सारवाचक है और यह परमात्मवाचक भी है। 'तस्य भावः तत्त्वम्।' 'तत्' शब्द जब परमात्मवाची होता है, तब उसका अर्थ होता है सत्ता; अखिल जगत्में एक ही सत्ता है, वह भगवान् हैं, वही तत्त्व हैं।

'मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।'
'बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।'
'अहं सर्वस्य प्रभवः—'
'गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी···निधानं बीजमव्ययम्।'

'सदसच्चाहमर्जुन—'

तथा—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८। ६५-६६)

—इन गीतोक्त प्रमाणोंसे यही निष्कर्ष निकलता है कि श्रीमद्भगवद्गीताका परम तत्त्व भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं।

तत्त्व दो प्रकारके होते हैं—साध्य-तत्त्व और साधन-तत्त्व। श्रीमद्भगवद्गीताका साध्यतत्त्व हैं भगवान् श्रीकृष्ण—यह बात उपर्युक्त 'अहम्, माम्, मम' इत्यादि शब्दोंसे सिद्ध होती है और साधनतत्त्वके रूपमें गीतामें कर्म, ज्ञान, यज्ञ,

उपासना, योग तथा तप, दान, श्रद्धा आदि विभिन्न साधनों-का विचार विस्तारपूर्वक किया गया है। इन साधन-तत्त्वोंमेंसे भक्तितत्त्वके विषयमें यहाँ यथामति कुछ विचार किया जायगा।

गीतामें जिस प्रकार कर्मयोग-ज्ञानयोगादिकी विस्तारपूर्वक विवेचना की गयी है, उससे कहीं अधिक विवेचना भक्तियोग-की हुई है। प्रेमावतार भगवान् श्रीकृष्णने अपने प्रिय सखा अर्जुनके सामने भक्ति-प्रेमके पूर्ण माहात्म्य और स्वरूपको व्यक्त कर दिया है। तात्त्विक दृष्टिसे विचार करनेपर गीतामें कर्म, ज्ञान आदि योगोंका अन्तर्भाव भक्तितत्त्वमें ही हो जाता है। अहङ्कारादि विकारोंके नाश और चित्तशुद्धिके बिना भक्तिकी—निर्विकार निरतिशय प्रेमकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। गीतामें स्वधर्मका विचार भी इसी उद्देश्यसे किया गया है। देहेन्द्रियादि सङ्घातसे तादात्म्यको प्राप्त होनेके कारण मनुष्य कर्मशील बनता है। कर्म बन्धनका कारण होता है—'लोकोऽयं कर्मबन्धनः'। फिर भी कर्म करना आवश्यक है। कर्मके बिना शरीरयात्रा भी कठिन हो जाती है। श्रीभगवान् भी आज्ञा देते हैं—

'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।'
'कर्मण्येवाधिकारस्ते,' 'नियतं कुरु कर्म त्वम्'
—इत्यादि।

परन्तु जिस पद्धतिसे श्रीभगवान् कर्माचरणकी आज्ञा देते हैं, उस पद्धतिका अनुसरण अत्यावश्यक है। ध्यान रखनेकी बात है कि कर्तृत्व और फलास्वादके अभिमानके कारण ही कर्म बन्धनकारक होता है और जीवमात्रकी कर्मप्रवृत्ति सामान्यतः फलास्वादकी इच्छा और कर्तृत्वाभिमानपूर्वक ही होती है। जैसे—

'अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥'
तथा—
'काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।'

इसी कारण श्रीभगवान् उपदेश करते हैं—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥
'योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।'

भगवान्‌के इस उपदेशके अनुसार कर्म करनेसे वह कर्म बन्धनकारक नहीं होता। निम्नाङ्कित भगवद्वाक्यसे यह और भी सुस्पष्ट हो जाता है—

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि॥
ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥
त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः॥

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार विषमें स्वभावतः मारक शक्ति होती है, परन्तु सिद्धहस्त वैद्यके क्रियाकौशलसे वही रसायन बनकर मरते हुएको जीवनदान करता है, उसी प्रकार उपर्युक्त रीतिसे कर्तृत्वाभिमान और फलासक्तिका त्याग करके किया हुआ कर्म बन्धनकारक नहीं होता, बल्कि बन्धनसे छुड़ानेवाला होता है।

अनादिकालसे फलासक्त होकर कर्म करनेका जीवका अभ्यास है, अतएव अकस्मात् कर्तृत्वाभिमान नष्ट होना सुगम नहीं है। इसलिये कर्मबन्धनसे छुटकारा पानेके उद्देश्यसे कर्मका भक्तिमें अन्तर्भाव करनेके लिये श्रीभगवान् कहते हैं—

'मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।'
'मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि।'
'सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।'
'चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।'
यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

देहेन्द्रियादि साधनोंद्वारा होनेवाले सारे कर्म भगवत्सत्ता-से ही होते हैं। जीव केवल निमित्तमात्र होता है, कर्म करनेवाले देहेन्द्रियादि साधन स्वभावतः जड हैं; इनके प्रेरक केवल भगवान् हैं, उन्हींकी सत्तासे सारी क्रिया होती है—

'यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।'
तथा—
'भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।'

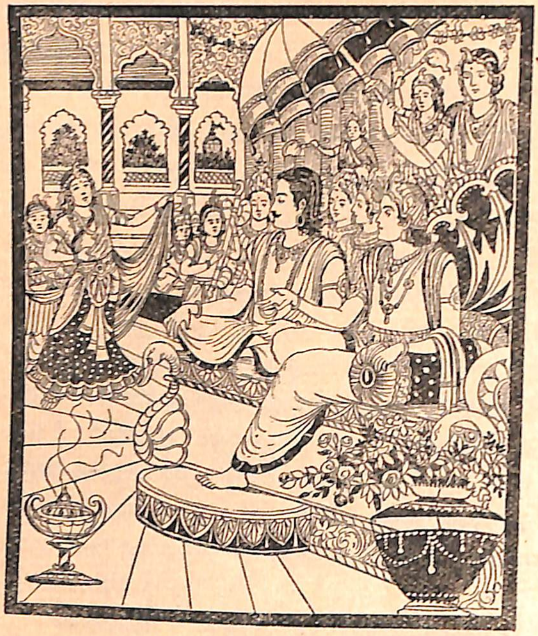
—इत्यादि वाक्योंसे यह बात सिद्ध है। अतएव जब स्वयं भगवान् प्रेरक हैं और जीव निमित्तमात्र कठपुतलीके समान पराधीन है, तब उसको (जीवको) कर्तृत्वाभिमान रखनेका कोई अधिकार नहीं। इसलिये सारे कर्म भगवदर्पणबुद्धिसे होने चाहिये। यह कर्मसमर्पण भक्तियोगका एक प्रधान अङ्ग है। देवर्षि नारद कहते हैं—

'तदर्पिताखिलाचारता'।

श्रीभगवान् भी कहते हैं—

'शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।'
सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥

अर्जुन



इन्द्रके दरबारमें सम्मान



स्वर्गमें सङ्गीत-शिक्षा



उर्वशीका कोप



भाइयोंसे मिलना

सारे कर्मोंको भगवदर्पण करनेसे जीव संसारसे मुक्त हो जाता है तथा भगवत्कृपासे शाश्वत और अव्ययस्वरूप परमपदको प्राप्त होता है। अतएव ऐहिक या पारलौकिक फलकी प्राप्तिके लिये कर्म करना गीतासम्मत नहीं है, बल्कि सब कर्मोंका भगवत्प्रीत्यर्थ भगवद्भावनामें पर्यवसित होना ही गीतोक्त कर्मयोगका मुख्य अभिप्राय है। इस प्रकार भक्तियोगमें कर्मयोगका पर्यवसान हो जाता है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याययज्ञ और ज्ञानयज्ञ आदि अनेकों यज्ञोंका वर्णन किया गया है। इनका भी अन्तर्भाव भगवद्भावनामें होना आवश्यक है। श्रीभगवान् कहते हैं—

'अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।'

तथा—

'अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।'

'न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते॥'

श्रीभगवान् ही सब यज्ञोंके भोक्ता और प्रभु हैं—यही क्यों, क्रतु, यज्ञ, स्वधा, औषध सब कुछ वही हैं। जो लोग भगवान्‌को इन रूपोंमें नहीं पहचानते, वे तत्त्वसे—आत्मकल्याणसे च्युत होते हैं। तात्पर्य यह है कि गीतोक्त यज्ञतत्त्वका पर्यवसान भी भक्तितत्त्वमें हो जाता है।

योगतत्त्वका वर्णन करते हुए श्रीभगवान्‌ने गीताके छठे अध्यायमें—

'शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।'

तथा—

'समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।'

—इत्यादि श्लोकोंद्वारा योगाभ्यासकी रीतिका निर्देश कर—

'युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी नियतमानसः।'

तथा—

'यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।'

एवं

'यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।'

—इत्यादि श्लोकोंद्वारा सिद्धि प्राप्त करनेवाले तथा मुक्त योगी पुरुषोंके लक्षण कहे हैं। आगे चलकर श्रीभगवान्‌ने बतलाया है कि तपस्वी, ज्ञानी और कर्मीसे योगी श्रेष्ठ होता है और अर्जुनको भी योगी बननेके लिये आज्ञा दी है। जैसे—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥

(गीता ६। ४६)

परन्तु इसी अध्यायके अन्तमें श्रीभगवान् कहते हैं—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

'सब योगियोंमें भी, जिसकी अन्तरात्मा मेरे स्वरूपमें स्थित है और जो श्रद्धासे मेरा अखण्ड भजन करता है, वही मेरी दृष्टिमें युक्ततम है।' सारांश यह है कि पूर्णतः सिद्ध योगीने भी यदि भगवान्‌में लीन होकर, श्रद्धावान् हो अन्तःकरणसे भगवद्भजन नहीं किया तो वह युक्ततम नहीं हो सकता। अन्तरात्माको भगवान्‌में लगाकर श्रद्धापूर्वक भजन करना ही भक्तितत्त्वका स्वरूप है। अतएव योगका भी अन्तर्भाव भक्तितत्त्वमें हो जाता है।

योगशास्त्रोंमें प्रणवोपासनाका बड़ा महत्त्व है। इसका भी विचार गीतामें किया गया है। श्रीभगवान् कहते हैं—

'वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक्साम यजुरेव च।'

ॐकार भगवान्‌का ही स्वरूप है। परन्तु—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥

'जो ॐकारका उच्चारण और भगवान्‌का निरन्तर स्मरण करता हुआ शरीरका त्याग करता है, वह परमपदको प्राप्त होता है।' अतएव ॐकारके जपके साथ-साथ भगवान्‌का स्मरण आवश्यक है। क्योंकि प्रणव (ॐकार) वाचक है और भगवान् वाच्य हैं, अतएव वाचकके साथ वाच्यकी भावना परमावश्यक है। इस प्रकार गीतोक्त प्रणवोपासनाका भी भक्तितत्त्वमें ही समावेश हो जाता है।

अब ज्ञानतत्त्व (ज्ञानयोग) की आलोचना करनी है। गीतोक्त ज्ञानकी महिमा महान् है, सर्व उपनिषद्रूप गौओंको दुहकर श्रीभगवान् कृष्ण गोपालने इसे प्रस्तुत किया है। ज्ञान और विज्ञानके विषयको विशेषरूपसे भगवान्‌ने गीताके सातवें और नवें अध्यायोंमें समझाया है। इसके अतिरिक्त—

'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।'

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि॥

'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।'

—इत्यादि चतुर्थ अध्यायगत वाक्योंद्वारा बतलाया है कि सब पापोंका नाश करनेवाला, और पवित्र बनानेवाला केवल ज्ञान ही है। अनिष्टकी निवृत्ति और इष्टकी प्राप्ति भी केवल ज्ञानसे होती है। जैसे—

'यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्', 'यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते'
—इत्यादि

क्षराक्षरयोग, गुणत्रयविचार, क्षेत्रक्षेत्रज्ञविचार, पुराण-पुरुषविचार आदि विषयोंका समावेश ज्ञानमें ही होता है। शोक और मोहकी निवृत्ति ज्ञानके बिना नहीं होती। ज्ञान-साधनसे युक्त शोक-मोहातीत पुरुषके लक्षण स्थितप्रज्ञ, गुणातीत, ज्ञानी आदि शब्दोंके द्वारा गीतामें अनेक स्थलोंपर वर्णित हैं। ज्ञानी कृतकृत्य होता है, उसे फलविशेषकी प्राप्तिके लिये कर्म करनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती। जैसे—

'नैव तस्य कृतेनार्थः', 'तस्य कार्यं न विद्यते' इत्यादि।

परन्तु मैं कृतकृत्य हूँ, अब मुझे कुछ करना नहीं है—ऐसा कहनेवाला निष्क्रिय अवस्थामें स्थित ज्ञानी भगवान्‌को प्रिय नहीं होता, बल्कि ज्ञानका भक्तिमें पर्यवसान करके ही वह भगवत्प्रियपात्र बनता है। गीताके सातवें अध्यायमें आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी—इस प्रकार चतुर्विध भक्तोंका भेद करते हुए श्रीभगवान्‌ने स्पष्ट कहा है—

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥
'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।'
'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥'

भक्तियुक्त होनेपर ही ज्ञानी भगवान्‌को प्रिय होता है, वह भगवान्‌का अङ्ग ही है; भगवान्‌को ही सर्वत्र देखनेवाला ज्ञानी महात्मा है, वह दुर्लभ होता है।

गीतामें अनेक स्थलोंपर ज्ञानी पुरुषोंका वर्णन मिलता है, किन्तु वहाँ 'वे मुझे प्रिय हैं' इस प्रकारके वाक्यका प्रयोग कहीं नहीं मिलता। जब द्वादश अध्यायमें ज्ञानी भक्तका लक्षण करते हैं, तब बार-बार कहते हैं—'वह भक्त मुझे प्रिय है।'

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी॥
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥
—इत्यादि

उपर्युक्त वर्णनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि भगवान्‌ने ज्ञानके लक्षणोंका भक्तिके लक्षणोंमें समावेश करके तद्विशिष्ट पुरुषको अपना प्रिय बतलाया है। गीतोक्त भक्तियोग ज्ञानसे साहचर्य रखता है। ज्ञानके द्वारा अज्ञान, कामादि विकारोंका नाश होनेके पश्चात् ही निरतिशय भगवत्-प्रेमका उदय होता है। साधनरूपा गौणी भक्तिका ज्ञानमें, और ज्ञानका 'पराभक्ति'में समावेश होता है।

'भक्त्या त्वनन्यया शक्यः' तथा 'भक्त्या मामभिजानाति' —इन श्लोकोंका यही अभिप्राय है। तथा—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥

—इस श्लोकमें स्पष्टतः बतलाया है कि 'परा भक्ति' का अधिकारी ब्रह्मभूत, प्रसन्नात्मा ज्ञानी ही हो सकता है। ज्ञानके बिना परा भक्तिका मनुष्य अधिकारी नहीं बनता और परा भक्तिमें लीन हुए बिना ज्ञानकी पूर्णता नहीं होती। परम-भक्त गोपिकाओंकी मधुर भक्तिमें भी भगवान्‌के माहात्म्य-ज्ञानकी विस्मृति नहीं होती। इसीलिये देवर्षि नारदने कहा है—

'न तु तत्र माहात्म्यज्ञानविस्मृत्यपवादः।'

तथा—

'न खलु गोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्'

—गोपिकाओंके इस उद्गारसे भी यही सिद्ध होता है। इसी दृष्टिसे गीतामें अनेक स्थलोंमें भक्तोंके लक्षणोंका प्रतिपादन किया गया है—

'महात्मानस्तु मां पार्थ', 'सततं कीर्तयन्तो माम्', 'अहं सर्वस्य प्रभवः', 'इति मत्वा भजन्ते माम्', 'मच्चित्ता मद्गतप्राणाः', 'यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।' 'स सर्वविद्भजति माम्'

—इत्यादि वाक्योंका भी यही रहस्य है। इन श्लोकोंमें आया हुआ 'भजति' क्रियापद भी परा भक्तिमें ज्ञानके अन्तर्भाव होनेका सूचक है। और यही गीताका परम सिद्धान्त है।

'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।'

तथा—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

यही भक्तितत्त्वकी चरम सीमा है। सर्वधर्मोंका, कर्म, योग, तप, ज्ञानादि साधनोंका भक्तियोगमें समावेश होना ही सर्वधर्मत्यागका अभिप्राय है। शरणागतियोग गीताका परमतत्त्व है। इस प्रकार सिद्ध होता है कि श्रीमद्भगवद्गीताका एकमात्र परम तत्त्व 'भक्तितत्त्व' ही है।

भगवद्गीताकी सार्वदेशिकता

(लेखक—डा० श्रीयुत मुहम्मद हाफ़िज़ सय्यद, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० लिट्०)

सभी युगोंमें और प्रत्येक देशमें ऐसे अनेकों धर्मगुरु हो चुके हैं जिन्होंने अपना शान्ति, प्रेम, एकता तथा परस्पर सौमनस्यका सन्देश उसी जातिको दिया है जिस जातिमें उनका जन्म हुआ था और उसीकी दृष्टिसे दिया है। उनमेंसे कुछका तो यह भी दावा रहा है कि जीवोंका उद्धार उन्हींके द्वारा हो सकता है। ईसामसीहने कहा है—'मैं ही मार्ग हूँ, मैं ही जीवन हूँ और मैं ही सत्य हूँ।' (I am the way, the life and the truth.)

यद्यपि गीताका उपदेश महाभारत-युद्धकी एक घटना-विशेष है और महाभारतका युद्ध भारतवर्षमें हुआ था, किन्तु गीतावक्ता भगवान् श्रीकृष्णने परमेश्वरभावसे उपदेश दिया और उनका उपदेश केवल आर्यजातिके लिये ही नहीं है बल्कि समस्त भूत-प्राणियोंके लिये है। अर्जुन अखिल मानवजातिके प्रतिनिधि हैं, इसीलिये उनका एक नाम 'नर' (मनुष्य) भी है।

ऐतिहासिक दृष्टिसे महाभारतका युद्ध एक पारिवारिक संग्राम था; आध्यात्मिक दृष्टिसे वह जीवात्माका निम्न विकारोंके साथ संग्राम है, जो मानवदेहमें निरन्तर होता रहता है।

साधक अथवा मुमुक्षुके लिये यह आवश्यक होता है कि वह अपने सम्बन्धियों, माता-पिता तथा बाल-बच्चोंके मोहका तथा विषय-वासनाका परित्याग कर दे—जिनके साथ उसका जन्म-जन्मान्तरसे सङ्ग रहा है। साधकको जब इन वस्तुओंका परित्याग करनेको कहा जाता है तो जबतक उसे अपनी उच्चतर शक्तियोंका ज्ञान नहीं होता तबतक वह एक प्रकारकी शून्यताका अनुभव करता है।

यह हम सब लोगोंको विदित है कि हममेंसे प्रत्येकको भगवत्-साक्षात्कारके मार्गपर चलनेके लिये अपनी निम्न वृत्तियों-के साथ घोर संग्राम करना पड़ता है। अनेक जन्मोंसे हमने कई बाह्य रूपोंको ही अपना वास्तविक स्वरूप समझ रक्खा है। निवृत्तिमार्गपर चलना आरम्भ करनेके पहले प्रवृत्ति-मार्गमें रहकर हमने जो कुछ किया है और जो कुछ सफलता प्राप्त की है, उससे हमें आगे बढ़ना होगा—उसपर पानी फेर देना होगा। मनुष्यके विकासका यह सनातन क्रम है, जो एक स्थिर एवं अपरिवर्तनीय नियमके आधारपर स्थित है।

'The Voice of Silence' (नीरवताकी वाणी) नामक अंग्रेज़ी पुस्तकमें एक जगह लिखा है कि 'जड और चेतनका स्वरूपतः मेल नहीं हो सकता। इनमेंसे एकको हटना ही पड़ेगा।'* इसी प्रकार जो लोग आध्यात्मिक जीवन बिताना चाहते हैं, उन्हें सभी भौतिक वासनाओंसे अपनेको मुक्त करना होगा।

भगवद्गीतामें जिस मोक्षमार्गका इतने स्पष्टरूपमें निर्देश किया गया है, वह हिन्दूधर्मकी अथवा अन्य किसी धर्मकी विशिष्ट सम्पत्ति नहीं है। वह वास्तवमें सार्वभौम है और आर्य अथवा अनार्य जातियोंके प्रत्येक धर्ममें इसका वर्णन मिलता है। महात्मा श्रीकृष्णप्रेमने लिखा है—'यही कारण है कि गीता यद्यपि निश्चित ही हिन्दुओंका धर्मग्रन्थ है—हिन्दू-शास्त्रोंका मुकुटमणि है, किन्तु वह जगत्‌भरके जिज्ञासुओंका पथ-प्रदर्शक बननेके योग्य है।'

'यद्यपि जिस रूपमें इसका गीतामें निरूपण हुआ है वह विशुद्ध भारतीय है, किन्तु वास्तवमें यह मार्ग न तो प्राच्य है, न पाश्चात्त्य। इसका सम्बन्ध किसी जाति या धर्मसे नहीं है, सारे धर्मोंकी मूल भित्ति यही है।'

आत्मा बिना किसी भेद-भावके सबके हृदयमें निवास करता है, इसीलिये यह मार्ग सबके लिये खुला है—इसमें जाति, वर्ण अथवा स्त्री-पुरुषका कोई भेद नहीं है। वैदिक मार्ग कुछ थोड़े-से विद्यासम्पन्न एवं उच्चवर्णके अधिकारी पुरुषोंके लिये ही था। हिन्दुओंके सामाजिक नियम स्त्री और शूद्रके लिये वेदाध्ययनकी आज्ञा नहीं देते।

किन्तु ईश्वर-साक्षात्कारके इस मार्गमें आत्मोत्सर्ग तथा आत्मसमर्पण ही अनिवार्यरूपसे अपेक्षित है। इसमें न तो वेदाध्ययनकी आवश्यकता है, न कर्मकाण्डकी; और यह मार्ग ऊँच-नीच, भले-बुरे, पापी-धर्मात्मा—सबके लिये खुला है।

इसीलिये गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

(९। ३०)

---

* The self of matter and the self of spirit cannot meet, one of the twain must go.

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझे भजता है, तो उसे साधु ही मानना चाहिये; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है ।'

इस जगत्में धार्मिक विचारोंका जो विकास हुआ है, उसके इतिहासमें हमें कई विशेष शक्तिसम्पन्न धर्मगुरुओंका उल्लेख मिलता है । उनमेंसे कुछने तो अपनेको ईश्वरके रूपमें प्रकट किया है और कुछने अपनेको ईश्वरका निकट सम्बन्धी बतलाया है; परन्तु उनमेंसे किसीका उपदेश भी ईश्वरके अनुरूप अर्थात् राग-द्वेष एवं भेद-भावसे शून्य नहीं है । हम सभी वाणीसे तो इस बातको स्वीकार करते हैं कि ईश्वर हम सबके परम पिता हैं, किन्तु फिर भी कई धर्मग्रन्थोंमें यह बात पायी जाती है कि भगवान् अपने अङ्गीकृत जनोंपर ही अनुग्रह करते हैं और जो जीव उनके अभिमत सम्प्रदायके सिद्धान्तको नहीं मानते उन्हें सदाके लिये नरकमें ढकेल देते हैं । यत्र-तत्र यह दुःखद दृश्य देखनेमें आता है कि एक धर्म दूसरे धर्मसे घृणा करता है । धार्मिक प्रतिस्पर्धा और मतभेदका सर्वत्र दौर-दौरा है ।

एक धर्म अपनेको दूसरे धर्मसे बड़ा कहता है और इस बातका दावा करता है कि ईश्वरीय सत्यका तो उसीने ठेका ले रक्खा है; दूसरे धर्म सब गलत मार्गपर ले जानेवाले हैं, अतएव उपेक्षणीय हैं । धार्मिक कलहोंने मानवजातिके इतिहासको कलङ्कित कर दिया है ।

हम देखते हैं कि मानवजातिके समस्त महान् धर्मगुरुओंमें अकेले श्रीकृष्णका ही उपदेश अत्यन्त उदार एवं व्यापक है । उनके अमूल्य वचन हैं—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥

(गीता ४ । ११)

'जो जिस भावसे मेरी शरणमें आते हैं, मैं उसी भावसे उन्हें अङ्गीकार करता हूँ । क्योंकि मनुष्य सब ओरसे मेरे ही पथका अनुसरण करते हैं ।'

गीतामें सर्वत्र भगवान् श्रीकृष्णने अपनेको सनातन अन्तर्यामी पुरुष कहा है । परम तत्त्वके रूपमें वे समस्त भूत-प्राणियोंके हृदयमें निवास करते हैं । वे अपने भक्तोंको स्पष्ट आज्ञा देते हैं कि तुम मुझे सर्वत्र देखो और सबको मुझमें देखो (६ । ३०) ।

वे ही हमारे अस्तित्वके कारण हैं; उन्हींसे हम निकले हैं और उन्हींमें हम लीन हो जायँगे । श्रीकृष्ण कहते हैं—

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥

(७ । ७)

'हे अर्जुन ! मुझसे ऊँची वस्तु कोई भी नहीं है । जिस प्रकार सूतके मनिये सूतमें गुँथे हुए होते हैं, उसी प्रकार यह सब कुछ मुझमें गुँथा है ।'

भगवान् फिर कहते हैं—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।

(१० । ८)

'मैं सबका उत्पत्तिस्थान हूँ, मुझसे ही सारा जगत् चेष्टा करता है ।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रीकृष्ण ही परमेश्वर हैं; उनके उपदेश अत्यन्त उदार, वास्तवमें सार्वभौम एवं व्यापक हैं । जड-चेतन समस्त प्राणियोंके उत्पन्न करनेवाले होनेसे वे सबके भीतर निवास करते हैं और सबसे प्रेम करते हैं । उनके उपदेश बिना किसी भेद-भावके सबके लिये प्रयोजनीय हैं । भगवद्गीतापर बाहरवालोंका तथा अहिन्दुओंका उतना ही अधिकार है जितना किसी भारतीय अथवा हिन्दू कहलानेवाले-का है !

हमारे सनातन धर्मावलम्बी भाई यदि भगवद्गीताके इस सार्वभौम सिद्धान्तको पूर्णरूपसे हृदयङ्गम कर लें तो हमें निश्चय है कि वे लोग इस अन्धकारके युगमें जगत्भरको प्रकाश दे सकेंगे ।

गीतामें सर्वधर्मतत्त्व

श्रीकृष्णके उपदेशमें शास्त्रकथित प्रायः सभी धार्मिक विषयोंका तत्त्व आ गया है । उसकी भाषा इतनी गम्भीर एवं उत्कृष्ट है कि जिससे उसका भगवद्गीता अथवा ईश्वरीय संगीतके नामसे प्रसिद्ध होना उचित ही है ।

—जस्टिस के० टी० तैलंग

मैंने गीतासे क्या पाया ?

(लेखक—प्रिंसिपल आई० जे० एस्० तारापोरवाला, बी० ए०, पी-एच्० डी०)

बचपनमें मेरे पिताजी प्रायः मुझे संस्कृत पढ़नेके लिये कहा करते। वे कहते कि 'संस्कृत पढ़ लेनेपर तुम गीता-जैसे ग्रन्थका रसास्वादन कर सकोगे।' स्व० पिताजीकी इस कृपाका स्मरण कर मैं गद्गद हो उठता हूँ और मैं उन्हें अपना आध्यात्मिक पथप्रदर्शक मानता हूँ। मेरे पिताजी गीताको 'मानवमात्रकी बाइबिल' कहा करते थे और अब अपने जीवनमें, अवस्था तथा अनुभवमें मैं जितना ही आगे बढ़ता जा रहा हूँ, उनके कथनकी सत्यताको अधिकाधिक समझता जा रहा हूँ।

पहली बात जो गीताके सम्बन्धमें कही जा सकती है और जो सबका ध्यान आकृष्ट करती है, वह है भाषाकी सादगी। छन्द, स्वर, भाषा आदिकी क्लिष्टताका कहीं नाम भी नहीं है, थकानेवाले लंबे-लंबे समास नहीं हैं और न क्रियाओंके विलक्षण रूप ही हैं। छन्दोंका प्रवाह सरल, स्निग्ध और स्वाभाविक है और कहीं भी ऐसे कठिन शब्दोंका प्रयोग नहीं हुआ है जिन्हें समझनेके लिये माथापच्ची करनी पड़े। मानवजातिके समस्त उत्तमोत्तम धर्मग्रन्थोंकी यही विशेषता है। जनसाधारणके लिये जनसाधारणकी भाषामें ही भगवान्ने अपनी मधुर वाणी सुनायी है। भाषा सरल है, भाव गम्भीर। भाव इतने गम्भीर हैं कि हम जब-जब जितनी बार भी इसे पढ़ते हैं एक नया ही अर्थ, एक नया ही भाव खुलता है। धर्मके समस्त सनातन शास्त्रोंकी यही बात है—चाहे वह गीता हो, बाइबिल हो, कुरान हो या 'गाथा' हो।

हाँ, गीताके सम्बन्धमें मैं कह यह रहा था कि अपने स्कूल तथा कालेज-जीवनमें गीताका मेरा सारा ज्ञान कुछ यहाँ-वहाँके श्लोकोंमें ही सीमित था—विशेषतः दसवें और पंद्रहवें अध्यायके; क्योंकि मेरे पिताजीको ये ही अध्याय विशेष प्रिय थे। मेरे योरप-प्रवासके समय गीताका मेरा अध्ययन अधिकाधिक गम्भीर और आत्मीयतापूर्ण होता गया। बंबईमें एक बार मैंने एक मराठी महिलाको नवें अध्यायका सुन्दर सुमधुर पाठ करते सुना। तबसे वह मधुर स्वर मेरे कानोंमें, हृदयमें गूँजता रहा है और सच तो यह है कि गीताके साथ मेरे घनिष्ठ सम्बन्धका श्रीगणेश वहींसे हुआ। तबसे गीता मेरे जीवनका एक अङ्ग बन गयी, मेरे अध्यात्म-दर्शनका आधार बन गयी और मेरे सारे कार्योंका सञ्चालन गीताके प्रकाशमें ही होने लगा। मेरा यह विश्वास है कि मेरे लिये गीताके उपदेश कभी भी समाप्त नहीं हो सकते; क्योंकि उसमें चिरनवीनता है—न केवल मेरे इसी जीवनके लिये अपितु भावी अनन्त जीवनोंके लिये भी।

जैसे-जैसे मैं सयाना होता गया, गीताके गम्भीर रहस्य क्रमशः मेरे सामने खुलने लगे। संस्कृत पढ़कर और गीताकी सरल भाषाको बिना किसी मानसिक परिश्रमके अच्छी तरह समझते हुए अब मैं उसकी गहराईमें उतरने लगा। गीतामें मुझे जीवनकी वह व्याख्या, जीवनकी वह दार्शनिक मीमांसा मिली जिसने मुझे पूर्णतः परितुष्ट कर दिया और जिसने मेरे जीवनके विविध परिवर्तनों तथा हेर-फेरमें बराबर एक-सा साथ दिया है और कभी मुझे छोड़ दिया हो ऐसा स्मरण नहीं आता। गीताके सहारे मैं भगवान्की लोक-मङ्गल कामनाको, यत्किञ्चित् ही सही, हृदयङ्गम कर सका हूँ और जब-जब, जितनी बार भी मैं गीताके एक श्लोक, एक अध्यायका पाठ करता हूँ, उसमें एक अत्यन्त नवीन, एक अत्यन्त गम्भीर रहस्यका उद्घाटन होता है। गीता चिरनवीन है। समस्त आप्तग्रन्थोंकी यही मर्म-कथा है। इतना ही नहीं, यह चिरनवीनता, यह सनातन सत्यता प्रत्येक व्यक्तिके लिये, एक-एक प्राणीके लिये है। गीताका सन्देश, गीताका उपदेश प्रत्येक व्यक्तिके लिये है—उसका मानसिक तथा आध्यात्मिक विकास और दृष्टिकोण चाहे जो हो, चाहे जैसा हो। यही कारण है कि दर्शनके भिन्न-भिन्न परस्परविरोधी सम्प्रदाय अपने-अपने मतके समर्थनमें गीताका आश्रय लेते हैं और उसके श्लोक उद्धृत करते हैं। मैं तो जहाँतक समझता हूँ, गीताकी विभिन्न टीकाएँ, गीताकी सार्वभौम मान्यता, इसकी चिरनवीनताके ही प्रमाण हैं। गीतापर मेरी अपनी भी टीका है, जिसे मैंने कागजपर नहीं उतारा है, वरं जिसे मैं अपने जीवनमें उतार रहा हूँ। बात तो यह है कि गीताका अर्थ और भाव क्रमशः, जैसे-जैसे हमें जीवनमें अनुभव प्राप्त होने लगते हैं वैसे-वैसे बढ़ता जाता है; उसमें हेर-फेर भी होता रहता है और अधिकाधिक गहरा होता जाता है।

गीताने सबसे अधिक आश्वासन मुझे तब दिया जब मैं अपने धर्मगुरु ईरानके महर्षि भगवान् ज़रथुस्त्रकी दिव्य वाणीका अनुशीलन करने लगा। मेरी पहली कठिनाई प्राचीन ईरानकी भाषा—'अवस्ता' को लेकर थी। यहाँ भी संस्कृतने

बड़ी सहायता पहुँचायी और संस्कृत तथा अवस्ता इतनी निकटकी भाषाएँ हैं जितनी मैथिली और बंगाली हैं। भाषाकी कठिनाई हल हो जानेपर मैं ज़रथुस्त्रकी गाथाओंकी गहराईमें उतरनेकी चेष्टा करने लगा। 'गाथा' और 'गीता' में कितना साम्य, कितनी एकता है! गीता और गाथा—इन दोनों ही शब्दोंका मूल एक ही है। गीता मेरे जीवनका प्रधान अङ्ग बन गयी थी और जब मैंने यह जाना कि हमारी जातीय परम्परासे प्राप्त धर्मशास्त्रोंका आदेश ठीक वही है जो गीताका है, तब तो मेरे आनन्दका ठिकाना न रहा। वस्तुतः गाथाके प्रत्येक छन्दके समान भाववाला श्लोक मैं गीतासे उद्धृत कर सकता था। तब मैंने अनुभव किया और उस बातका अनुभव किया जिसे पहले कभी भी अनुभव नहीं किया था कि चाहे भाषाका जो भी परिच्छेद हो, भगवान्‌की वाणी सर्वत्र एक ही है। दुर्भाग्यकी बात है कि सन्देशवाहकको तो हम याद रक्खे रहे, परन्तु उनका सन्देश भुला बैठे। महत्त्वकी वस्तु तो सन्देश ही है। उपदेशककी महिमा इस बातमें है कि वह जो कुछ उपदेश करता है वैसा ही आचरण भी करता है, कथनी और करनीमें एक है। कितना सङ्कीर्ण तथा सङ्कुचित है हमारा दृष्टिकोण कि हम अपनेको कहते तो हैं कृष्णका, ईसाका, ज़रथुस्त्रका और बुद्धका अनुयायी; परन्तु हम यह भुला बैठे हैं कि ये सभी एक थे और सही अर्थमें एक थे और अज्ञानवश ही हम उनके एक-एक नामपर लड़ते फिरते हैं।

गीताने ही सर्वप्रथम मेरे जीवनमें एक दार्शनिक दृष्टिकोण प्रदान किया। बादमें जब मैं अपने धर्मग्रन्थोंकी ओर मुड़ा तो मुझे वहाँ भी गीताकी ही दार्शनिकता, वही गम्भीरता, वही चिरनवीनता मिली। इस प्रकार गीताने ही मेरी दृष्टि खोलकर मुझे यह बतला दिया कि ज़रथुस्त्रका सन्देश भी वही है जिसे हम पहलेसे पुनीत मानते आये थे अर्थात् जिसे हमने गीतामें प्राप्त किया था और इस सामञ्जस्य एवं एकताके कारण मेरा हृदय आनन्दसे भर गया। गीताने मुझे मेरे अपने विश्वासमें अधिक दृढ़ कर दिया और सबसे अनोखी बात तो यह है कि गीताके द्वारा ही सब धर्मोंकी एकता तथा आत्मीयताका रसास्वादन मैंने किया है। यह जान लेनेपर जीवनमें एक ऐसा आनन्द, एक ऐसी निश्चिन्तता आ जाती है जिसका बखान हो नहीं सकता और जिससे बढ़कर आनन्द तथा निश्चिन्तताका कोई साधन है ही नहीं।

सर्वशास्त्रमयी गीता

(लेखक—प्रोफेसर फिरोज कावसजी दावर, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०)

भगवद्गीतामें सभी धर्मोंके मूल तत्त्वोंका बहुत ही सुन्दर एवं हृदयग्राही विवेचन हुआ है। गीता किसी भी धर्मके किसी भी सिद्धान्तका खण्डन-मण्डन नहीं करती और न उसकी आलोचना ही करती है। भगवान्‌के पथमें चलनेवाले साधकके लिये साधनाक्रममें जिन-जिन बातोंकी आवश्यकता है, उनका निदर्शन गीतामें जैसा हुआ है वैसा अन्यत्र कहीं हुआ भी नहीं।

मैं संस्कृत बहुत नहीं जानता, परन्तु इस कारण गीताके रसास्वादनमें कोई बाधा पड़ती हो ऐसी बात नहीं है। गीतामें भाषाका सौन्दर्य और लालित्य तो जो कुछ है सो है ही, परन्तु गीताकी महिमा इसकी भाषाके सौन्दर्य या प्रसाद-गुणके कारण ही नहीं है। महिमा तो इस बातमें है कि केवल सात सौ श्लोकोंमें गीतामें समस्त मानव-जातिकी धर्मसाधनाका मार्ग निश्चित कर दिया है। मानवमात्रकी वह अध्यात्म-साधना क्या है और उसका निरूपण गीताने किस प्रकार किया है, इसी विषयपर यहाँ यत्किञ्चित् विचार-विमर्श करना है।

वैदिककालमें यज्ञ-यागोंकी बड़ी धूम रही और कर्मकाण्डको लेकर इतना सूक्ष्म और गहन विवेचन हुआ कि उसकी अतिशयतासे ऊबकर भगवान् बुद्धने उनकी दिशा ही पलट दी। गीता यज्ञ-यागोंका खण्डन नहीं करती, उन्हें एक और ही रूप देती है और कितना सुन्दर है वह रूप! गीता कहती है कि यह जीवन ही एक यज्ञ है; आदर्शकी वेदीपर, प्रभुकी इच्छापर सर्वात्मसमर्पण, सम्पूर्ण आत्म-बलिदान, निःशेष हृदय-दान ही मनुष्यके लिये सर्वश्रेष्ठ यज्ञ है। जगत्‌के कल्याणके लिये, जीवमात्रको सुख पहुँचानेके लिये, अपना कर्तव्य-कर्म—वह छोटा हो या बड़ा—करते जाना, अपने एक-एक क्षणको भगवत्कार्यमें निवेदित करते जाना भगवान्‌को प्रसन्न करनेके लिये सबसे बढ़कर उत्तम साधन है। इसलिये आसक्तिको छोड़कर, फलकी आशासे मुँह मोड़कर भगवत्प्रीत्यर्थ कर्म करते रहना ही भगवान्‌को प्रसन्न करनेका सबसे उत्तम साधन अथवा यज्ञ है। वेदोक्त यज्ञ तो किन्हीं विशेष मुहूर्तोंमें ही किये जा सकते थे, परन्तु गीतोक्त यज्ञ हम

अपने जीवनके एक-एक क्षणमें कर सकते हैं और गीताके यज्ञमें फलाशाका कहीं नाम नहीं। इस प्रकार गीताने वैदिक यज्ञोंको एक अत्यन्त हृदयग्राही एवं आध्यात्मिक रूप दे दिया।

यह भूलनेकी बात नहीं है कि उपनिषद् ही हिन्दूधर्मके गौरव-स्तम्भ हैं और मानवमात्रकी चेतनाको 'तत्त्वमसि' ने जितना जगाया है उतना संसारकी किसी भी बातने नहीं—इसे कौन अस्वीकार करेगा? 'तत्त्वमसि'की सरल, सङ्क्षिप्त परिभाषा यह है कि आत्मा और परमात्मामें कोई भेद नहीं है और जो कुछ, जितना कुछ भेद दीख रहा है, उसका मुख्य कारण है हमारा अज्ञान। अज्ञानका आवरण हटा नहीं कि इस परमसत्यका साक्षात्कार हमारे हृदय-देशमें ही हो जाता है और तब अपने-आप सारी ग्रन्थियाँ छूट जाती हैं, सारे संशय मिट जाते हैं। उसके अनन्तर जगत्के कण-कणमें हम प्रभुका साक्षात् दर्शन प्राप्त करते हैं—सब ठौर उसी नूरका जलवा—पशु-पक्षीमें, कीट-पतङ्गमें, जलमें, थलमें, अपने-आपमें, जहाँ भी दृष्टि जाती है सर्वत्र श्रीवासुदेव-ही-वासुदेवके दर्शन होते हैं। हमारे आहारमें, विहारमें, जलमें, स्थलमें, शयनमें, जागरणमें सर्वत्र वही भरे हैं। हम वायुमें उन्हींका श्वास लेते हैं, प्रकाशमें उन्हींसे अपने प्राणोंका पोषण करते हैं और तब हमारे सारे कार्य बस, भगवत्पूजन ही होते हैं—सर्वत्र भगवद्दर्शन, सर्वदा भगवत्पूजन! इससे बढ़कर मानवताका आदर्श हो ही क्या सकता है?

वही सर्वव्यापक, सर्वशासक प्रभु जीव-जीवकी हृदय-गुफामें बैठा है और ऐसा छिप रहा है कि कहीं कुछ पता ही नहीं चलता। परन्तु जिसे कुछ भी उस बेनिशाँका पता चल गया, जिसने उसके चरणोंसे निकली हुई हिम-किरणधाराका एक आलोकमात्र भी देख लिया और जान गया कि इन्हीं किरणोंसे जगत्का कोना-कोना ओतप्रोत है—कोई भी ऐसा स्थान नहीं जहाँ ये चरणयुगल न हों, कोई भी हृदय नहीं जो इन दिव्य किरणोंमें नहा न रहा हो—वह भला संसारके किसी भी व्यक्तिसे, किसी भी प्राणीसे वैर कैसे कर सकता है? हृदयको तोष और शान्ति देनेवाली इससे बढ़कर संसारमें और कोई बात हो सकती है? इतनी-सी बातको ठीक-ठीक जान लेनेपर क्या यह इच्छा नहीं होती कि सारे संसारको मैं अपने हृदयमें छिपा लूँ, चर-अचर सबके लिये अपना हृदय बिछा दूँ? गीतामें आदिसे अन्ततक यही अमृत लबालब भरा है। 'यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति'—मुझमें सबको, सबमें मुझको, जो देख लेता है, फिर उसके लिये देखने और जाननेकी बात रह ही क्या जाती है?

कुछ ईसाई मित्र यह कहते सुने जाते हैं कि गीतामें बन्धु-बान्धवोंके प्रति प्रेमकी चर्चा कहीं नहीं आयी है, इसलिये गीता बाइबिलकी बराबरी नहीं कर सकती। माना मैंने कि गीता इस प्रकारके प्रेमकी चर्चा विस्तारसे नहीं करती; क्योंकि वह जीवोंकी विविधता नहीं मानती, वह तो प्रेमाद्वैतके मतका प्रतिपादन करती है, वह घटघटव्यापक हरिकी सत्ताका सर्वत्र दर्शन कर सर्वदा भगवद्भावसे आचरण करनेका उपदेश करती है। स्वामी विवेकानन्दके शब्दोंमें, गीता हममेंसे प्रत्येक-से यही कहती है—'तुम आत्मा हो, तुम्हारी आत्मा और परमात्मामें कोई अन्तर नहीं है। प्रत्येक आत्मा तुम्हारी आत्मा है, प्रत्येक शरीर तुम्हारा शरीर। किसीको भी चोट पहुँचाकर तुम अपने ही शरीर, अपनी ही आत्माको चोट पहुँचा रहे हो; किसीको प्यार कर तुम अपने-आपको ही प्यार कर रहे हो।'

परन्तु एक बात तो ध्यानमें रहे ही और वह यह कि गीता कर्मयोगकी मार्गदर्शिका है और यह अर्जुन-जैसे बल-पराक्रमशाली योद्धाको युद्धके बीचोंबीच सुनायी गयी है। अर्जुन जन्मसे और कर्मसे क्षत्रिय है। वह मोहवश अपने क्षत्रियत्वको भुला बैठा है। भगवान् उसी क्षत्रियत्वको जगानेके लिये उसे ललकार रहे हैं 'क्यों कायर नपुंसककी तरह युद्धसे विमुख हो रहे हो? और इन स्वजनोंको मारनेका मोह? अरे! तुम क्या यह नहीं जानते कि एक ही परमात्मा-के सभी अङ्ग हैं, शरीरके नाश होनेपर भी आत्माका नाश नहीं होता, न यह जन्मता है, न मरता है; फिर व्यर्थकी यह कायरता क्यों? जो कुछ होनेको है वह तो हो चुका है, तुम तो केवल निमित्त बन जाओ।' मोह नष्ट हो जानेपर अर्जुनने भगवान्की इस वाणीका मर्म समझा।

सभी महान् धर्मोंने अध्यात्मके दो मार्ग बतलाये हैं, और वे हैं—प्रवृत्तिमार्ग तथा निवृत्तिमार्ग। प्रवृत्तिमार्ग विज्ञान, संस्कृति, उन्नति, विकासका मार्ग है और इसके एक बहुत बड़े उन्नायक हैं—महात्मा ज़रथुस्त्र। निवृत्तिमार्गमें शान्ति, त्याग, आत्मनिवेदन, वैराग्य मुख्य है और इसका सुन्दर विकास बौद्धधर्म, जैनधर्म तथा मध्यकालीन ईसाईधर्म-में हुआ। दोनों ही मार्गोंसे किसी एकपर, चाहे वह प्रवृत्तिका हो या निवृत्तिका, साधक सचाई और ईमानदारीसे चलता रहे तो आत्मसाक्षात्कार कर सकता है। और सच पूछिये तो दोनों ही आवश्यक हैं—ठीक उसी प्रकार जैसे अन्धकार और प्रकाश, कार्य और विश्राम। दोनोंमें एक ही सत्य प्रतिबिम्बित हो रहा है और देश-काल तथा परिस्थितियोंके अनुसार

भिन्न-भिन्न देशों और व्यक्तियोंके लिये भिन्न-भिन्न मार्ग निहित है। हिन्दूधर्म विशाल एवं अगाध समुद्रकी तरह है और इसमें प्रवृत्ति तथा निवृत्तिकी धाराएँ मिलकर एक हो गयी हैं। इस समन्वयका सबसे सुन्दर प्रतिपादन गीताने किया है और इसकी एक-एक बातसे ज्ञानकाण्ड और कर्मकाण्डकी एकता सिद्ध होती है। गीताके प्रथम छः अध्याय कर्मयोगपरक, दूसरे छः अध्याय भक्तियोगपरक और तीसरे छः अध्याय ज्ञानयोगपरक हैं; कर्ममें भक्ति और ज्ञानका अभाव नहीं है; भक्तिमें कर्म और ज्ञान अनुस्यूत हैं और ज्ञानमें कर्म तथा भक्ति समवेत हैं। कर्मको ज्ञानकी आगमें तपाकर भक्तिपूर्वक भगवान्‌के चरणोंमें निवेदन कर देना ही गीताका अभीष्ट है। गीतामें वस्तुतः उपनिषद् और भागवतका मधुर योग हो गया है। उपनिषद्का ज्ञान और भागवतकी भक्तिका सम्पादन कर जीवनके अन्तिम क्षणतक मनोयोगपूर्वक कर्म करते जाना चाहिये, संक्षेपमें यही गीताका उपदेश है।

गीता बुद्धिवादियों या तार्किकोंके शुष्क बौद्धिक मल्ल-युद्धका साधन नहीं है, वह तो योगमार्गमें प्रवृत्त साधकके लिये पथप्रदीप है। 'योग' से पतञ्जलिका अष्टाङ्गयोग नहीं समझ लेना चाहिये। योगका सरल और सीधा अर्थ है जीवका प्रभु-के साथ युक्त हो जाना, बिछुड़े हुओंका मिलना। पतञ्जलिने कर्मको गौण स्थान प्रदान किया है, परन्तु गीता कर्मका कभी भी तिरस्कार नहीं करती; वह सदा योगयुक्त होकर कर्म करते रहनेको प्रोत्साहन देती है। वह कर्मसंन्यासकी अपेक्षा कर्म-योगपर ही जोर देती है और उसकी कर्मयोगकी परिभाषा भी कितनी सुन्दर है---'योगः कर्मसु कौशलम्।'

वर्तमान सभ्यता (इसे 'सभ्यता' भी कैसे कहा जाय ?) आँधीकी तरह तूमार बाँधे चल रही है। नित्य नयी-नयी बातें, नित्य नये-नये अनुसन्धान। ऐसा प्रतीत होता है मानो धर्मके गढ़को गिरानेपर ही विज्ञान तुला हुआ है। परन्तु जहाँ एक ओर यह भाव है वहीं यह भी दीखता है कि अन्ततोगत्वा विज्ञान धर्मका बाधक न होकर साधक ही होगा और धर्मोन्मादके स्थानपर वास्तविक विश्वधर्मकी प्राणप्रतिष्ठा होगी, जिसमें सब धर्म समानरूपसे योग देंगे। उस समय, मानवमात्रके लिये जब एक अखिल विश्वधर्मकी प्राणप्रतिष्ठा होने लगेगी तब हमें एकमात्र गीताका ही सहारा रह जायगा; क्योंकि यह निःसङ्कोच कहा जा सकता है कि विश्वधर्मके मौलिक प्राण-तत्त्वोंका जितना सुन्दर समावेश गीतामें है उतना किसी भी अन्य धर्मके किसी भी धर्मग्रन्थमें नहीं है।

विश्वरूपकी उपासना

(लेखक—पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर)

श्रीमद्भगवद्गीता एक अनुपम ग्रन्थ है। इस छोटे-से ग्रन्थमें मानवधर्मका एक महान् तत्त्व स्पष्ट शब्दोंमें व्यक्त किया गया है। श्रीमद्भगवद्गीताका अवतार जिस सिद्धान्तका प्रतिपादन करनेके लिये हुआ है, वह सिद्धान्त है–'विश्व-रूप-दर्शन।'

श्रीमद्भगवद्गीताके पूर्व वेदोंमें भी विश्वरूपी परमात्माका वर्णन किया गया था, उपनिषदों और पुराणोंमें भी इस सिद्धान्तकी विशद व्याख्या हुई थी; परन्तु जितना स्पष्टरूपसे श्रीमद्भगवद्गीतामें इस विषयका प्रतिपादन हुआ है, उतना स्पष्टरूपसे अन्यत्र कहीं भी नहीं हुआ था। इसी कारण आधुनिक धर्मग्रन्थोंमें श्रीमद्भगवद्गीताका विशेष महत्त्व है।

विश्वरूपका दर्शन करो—

कुछ लोगोंका विश्वास है कि परमेश्वर तीसरे और सातवें आसमानमें रहता है; कुछ लोग समझते हैं कि वह मेघोंमें रहकर विश्वके क्रिया-कलापोंका निरीक्षण करता है। कुछ लोग कहते हैं कि ईश्वर सर्वव्यापक है और उसका दर्शन प्रायः असम्भव है। दूसरे लोग कहते हैं कि परमात्मा श्रीराम-कृष्णके रूपमें अवतीर्ण हुए थे और वैसा अवतार आजकल नहीं हो सकता; इसलिये अवतारी पुरुषोंकी मूर्त्तिकी उपासना करनी चाहिये—इत्यादि ईश्वरके विषयमें अनेक मतवाद प्रचलित हैं।

भगवद्गीताने स्पष्ट शब्दोंमें असन्दिग्ध रीतिसे कह दिया है कि प्रभुका रूप 'विश्वरूप' है, अतः प्रभुका इस विश्व-रूपमें साक्षात्कार करो और अपने जीवनको सार्थक करनेके लिये विश्वरूपकी उपासना करो।

अब विचारना यह है कि विश्वरूप है क्या वस्तु। इस दीखनेवाले चराचर विश्वका प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष जो कुछ भी है, वही अखण्डरूपमें 'विश्वरूप' है। वही प्रभुका अखण्ड स्वरूप है, प्रत्यक्ष रूप है। पाठको, जिसे आप आँखें खोलकर देखते हैं, जो आपके चारों ओर है, जिसमें आप स्वयं सम्मिलित हैं—आपके विपक्षी और सपक्षी सभी सम्मिलित हैं, जिसमें सर्वकालकी समस्त घटनाओंका और वस्तुओंका समावेश होता

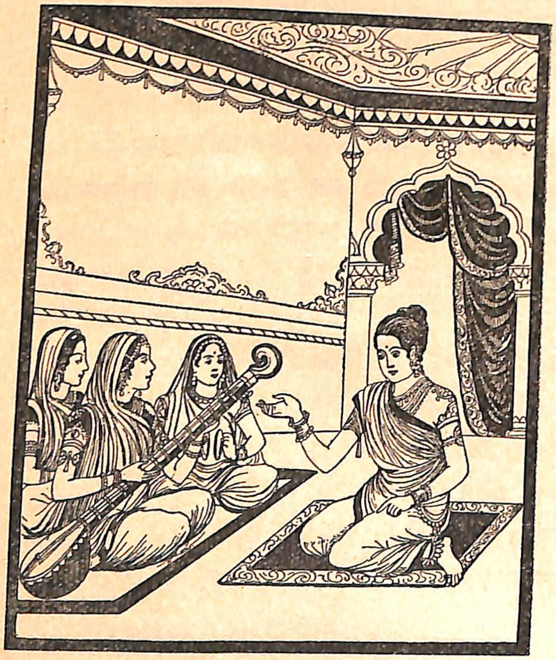
अर्जुन



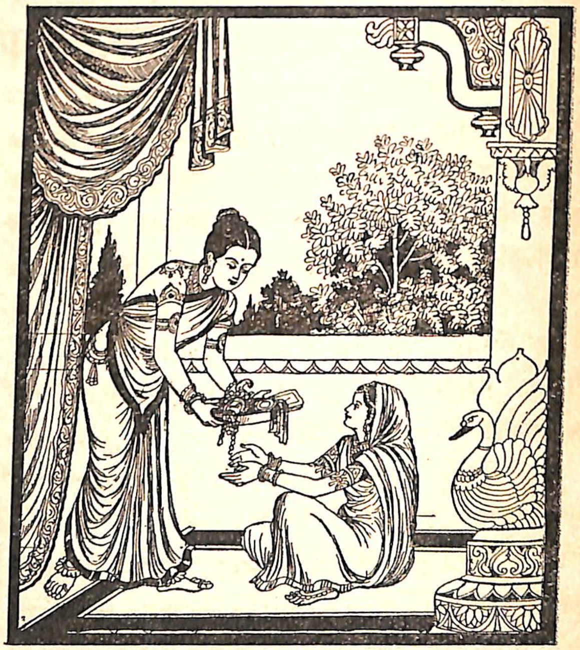
गन्धर्वोंसे युद्ध



गन्धर्वोंसे मेल



उत्तराको सङ्गीत-शिक्षा



उत्तराको आभूषणादि दान

है, वही विश्वरूपी परमेश्वर मनुष्यका उपास्यदेव है। इस प्रकार ईश्वर आपके लिये प्रत्यक्ष है, केवल उसके साक्षात्कार करनेकी चेष्टा करना आपका कर्त्तव्य है।

ईश्वरका दर्शन—

श्रीमद्भगवद्गीताने इस प्रकारके परमेश्वरका वर्णन किया है और उसका प्रत्यक्ष दर्शन कराया है। कोई भी अन्य ग्रन्थ आजतक परमेश्वरको इतना समीप नहीं ला सका था और न इतने स्पष्टरूपसे किसीने उसका साक्षात्कार ही कराया था। हम यहाँ विश्वरूप परमेश्वरको सिद्ध करनेके लिये शास्त्रार्थके प्रपञ्चमें नहीं पड़ना चाहते। श्रीमद्भगवद्गीताका ग्यारहवाँ अध्याय 'विश्वरूपदर्शन' है और वहाँ इसका बहुत ही स्पष्ट वर्णन किया गया है तथा यही हमारे लिये पर्याप्त है।

जिस प्रकार अर्जुन अपने सखा श्रीकृष्णमें परमात्माका साक्षात्कार करते थे और हनुमान् अपने स्वामी श्रीरामचन्द्रमें भगवान्का दर्शन करते थे तथा उनको अखिल विश्व ईश्वररूप दिखलायी देता था, उसी प्रकार सबको दीखना चाहिये। अर्जुनको अपने समयका अखिल विश्व तथा समरभूमिमें इकट्ठी हुई उभय पक्षकी सेनाएँ, सब कुछ परमेश्वरके विश्वरूपमें प्रत्यक्ष सम्मिलित दिखलायी दी थीं। उसी प्रकार हम सबको भी दीखना चाहिये। प्रयत्न करनेपर इस प्रकारका दर्शन सर्वथा सम्भव है, इसमें असम्भव कुछ भी नहीं है। समस्त शास्त्र किसी-न-किसी रूपमें इस विषयका प्रतिपादन करते हैं, परन्तु श्रीमद्भगवद्गीताने इसे स्पष्ट कर दिया है। इसलिये भगवद्गीताकी इसमें विशेषता है। सारांश यह है कि आपके समेत अखिल विश्वके रूपवाला परमेश्वर है और वही आपका उपास्यदेव है।

अनन्य बनो—

इस विश्वरूप ईश्वरमें श्रद्धा करनेसे आप उससे अनन्य (न+अन्य=जो अपनेसे अन्य नहीं) हो जाते हैं। इस अनन्यत्वको विविध प्रमाणोंसे सिद्ध करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। यह परमेश्वरका स्वरूप है।

'ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च' (गीता ११। ५४)

(१) ईश्वरको जानना, (२) ईश्वरको देखना और (३) ईश्वरमें प्रवेश करना—ये तीनों इस विश्वरूप ईश्वरमें ही शक्य हैं। यदि आपने एक बार ठीक-ठीक अनुभव कर लिया कि विश्वरूप ही ईश्वर है, तब तो उसको देखना और उसमें अपना प्रवेश हो चुका है—इसका अनुभव करना सहज-साध्य हो जाता है। क्या आप इस विश्वके रूपको नहीं देखते? क्या उसमें आपका प्रवेश नहीं है और क्या आपको यह रूप प्रत्यक्ष नहीं है? प्रभुने गीतामें कहा है—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥
(९। ११)

'मनुष्यशरीरका आश्रय लिये हुए मुझ ईश्वरका मूढ मनुष्य अपमान करते हैं, क्योंकि वे मुझ परमेश्वरके परम भावको नहीं जानते।' कितनी स्पष्ट बात है कि मनुष्योंके शरीरोंका आश्रय ईश्वरने किया है, परन्तु मनुष्य अपने व्यवहारमें मनुष्योंके शरीरोंमें आश्रित ईश्वरका अपमान करते हैं।

यह बात मनुष्य अपने व्यवहारमें देख सकता है। साहूकार ऋणी मनुष्यके साथ कैसा व्यवहार करता है? मालिक मजदूरके साथ और राजा प्रजाके साथ कैसा व्यवहार कर रहे हैं? क्या इस व्यवहारमें तनिक भी इस बातका ध्यान रक्खा जाता है कि मनुष्यके शरीरमें ईश्वर स्थित है या विश्वके रूपमें ईश्वर ही प्रत्यक्ष हो रहा है? यदि यह विचार मनमें हो कि सामने आनेवाला मनुष्य परमेश्वरका ही रूप है, तो मनुष्यके व्यवहारमें कितना सुधार हो सकता है? ऐसी अवस्थामें कोई छल-कपट कैसे कर सकता है? आज एक जाति दूसरी जातिको नष्ट करनेपर तुली हुई है! क्या विश्वरूप ईश्वरमें सब जातियोंका समावेश नहीं है? क्या कोई जाति ईश्वरसे पृथक् हो सकती है? परन्तु लोग यह समझते नहीं कि समस्त विश्व एक ईश्वरका ही रूप है, इसी कारण व्यवहारमें इतनी गड़बड़ी हो रही है!

ईश्वरकी पूजा—

इस विश्वरूप ईश्वरकी पूजा कैसे करनी चाहिये, इसके उत्तरमें प्रभु कहते हैं—

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।
(गीता १८। ४६)

'अपने-अपने कर्मोंके द्वारा इस ईश्वरकी पूजा करनेसे मनुष्य सिद्धिको प्राप्त होता है।' अपना-अपना कर्म—ब्राह्मणका ज्ञान, क्षत्रियका शौर्य, वैश्यका कृषि-गोरक्षा और शूद्रका परिचर्या तथा कारीगरी स्वकर्म हैं। सब मनुष्य इस

प्रकार अपने-अपने कर्मोंसे ईश्वरकी पूजा और उपासना करें और अपने जन्मको सफल बनावें। यह गीताका उपासना-मार्ग है।

ब्राह्मण ज्ञानका प्रसार करे, कोई विद्या-ग्रहण करने आवे तो उसे निष्कपटभावसे सत्य ज्ञान प्रदान करे, क्षत्रिय प्रजाकी रक्षा करे, वैश्य पर्याप्त धान्य उत्पन्न करे और शूद्र आवश्यक परिचर्या और विविध कारीगरीके द्वारा सुख-साधनकी वृद्धि करे। स्वकर्मसे ईश्वरकी पूजा करनेका यही अभिप्राय है; परन्तु यह सब निष्काम भावसे होना चाहिये।

उदाहरणके लिये एक ब्राह्मण आचार्यके पास शिष्य पढ़नेके लिये जाता है। उस आचार्यको समझना चाहिये कि शिष्यरूपमें ईश्वरांश ही मेरे पास आया है। ज्ञान-प्रदानके द्वारा मेरी सेवा ग्रहण करनेके लिये ईश्वर ही शिष्यरूपमें मेरे सामने उपस्थित हुआ है। क्षत्रिय यह समझकर प्रजापालनमें रत रहे कि अपने प्राणोंको अर्पण करके मुझे जनतारूपी जनार्दनकी ही सेवाका शुभ अवसर प्राप्त हुआ है। वैश्य यह विचार करता रहे कि अन्नाद प्रभु (अन्न ग्रहण करनेवाले ईश्वर) को अर्पण करनेके लिये ही मैं खेती कर रहा हूँ और शूद्र समझता रहे कि अपनी परिचर्या और कारीगरीसे मुझे स्वयं भगवान्‌को सन्तुष्ट करना है; परन्तु यह सब कार्य योगपूर्वक—'योगः कर्मसु कौशलम्'—अत्यन्त कुशलतापूर्वक होने चाहिये। कर्ममें कोई त्रुटि न रहने पावे। साथ ही समस्त कर्म निष्कामभावसे होने चाहिये और सबको अपना जीवन तथा अपने सब कर्मोंको पूर्णतया ईश्वरार्पण कर देना चाहिये।

इस सिद्धान्तके अनुसार मनुष्यका वैयक्तिक, सामाजिक, जातीय और राष्ट्रीय जीवन व्यतीत होना चाहिये। तभी मनुष्य सुखी हो सकता है। यही सन्देश गीताने ५००० वर्ष पूर्व दिया। वैदिक धर्म यही था, परन्तु उसका लोप होनेके कारण श्रीकृष्ण भगवान्‌ने उसका पुनरुद्धार गीताके द्वारा किया; परन्तु गीताके इस सन्देशको लोगोंने अबतक पूर्णरूपसे नहीं सुना। जब इस सन्देशका लोग पूर्ण व्यवहार करने लगेंगे, तब यह भूतल स्वर्गमें परिणत हो जायगा।

परमेश्वर विश्वरूप हैं, प्रत्यक्ष हैं, उन्हींकी सेवासे मनुष्यका उद्धार हो सकता है। विश्वरूप ईश्वरमें श्रद्धा रखनेसे सारे व्यवहार अपने-आप ही श्रेष्ठ हो जायँगे; परन्तु इसे लोगोंको किस प्रकार समझाया जाय, यह समझमें नहीं आता। गीताका पाठ सभी करते हैं, जानते भी हैं, परन्तु व्यवहार करते समय ईश्वरको भूल जाते हैं और प्रजाजनको ईश्वरसे पृथक् समझते हैं। मैं जो व्यवहार कर रहा हूँ (वह व्यवहार अपने घरमें, समाजमें, राष्ट्रमें या अन्य राष्ट्रोंके साथ क्यों न हो) वह प्रत्यक्ष ईश्वरके साथ हो रहा है—यदि हमारा यह दृढ़ और निश्चित भाव हो जाय तो व्यवहारके छल-कपट आदि सारे दोष अपने-आप ही दूर हो जायँगे; परन्तु ये विचार गीताके श्लोकोंमें ही भरे पड़े हैं। गीताके भक्तोंको इनपर सोचनेका और इस दिव्य उपदेशको व्यवहार-में लानेका प्रयत्न करना चाहिये।

यद्यपि यह कार्य है तो कठिन, परन्तु दुःखोंसे मुक्ति तभी होगी और विश्वमें सच्ची शान्तिकी स्थापना तभी होगी जब यह सफल होगा!

चमत्कारपूर्ण काव्य

(श्रीमती डॉ० एल्ज़े ल्यूडर्स)

भारतीय वाङ्मयके बहुशाख वृक्षपर भगवद्गीता एक अत्यन्त कमनीय एवं शोभा-सम्पन्न सुमन है। इस अत्युत्तम गीतमें इस प्राचीन-से-प्राचीन और नवीन-से-नवीन प्रश्नका विविध भाँतिसे विवेचन किया गया है कि 'मोक्षोपयोगी ज्ञान कैसे प्राप्त हो सकता है? क्या हम कर्मसे, ध्यानसे या भक्तिसे ईश्वरके साथ एकता प्राप्त कर सकते हैं? क्या हमें आत्माके शान्तिलाभके लिये आसक्ति और स्वार्थबुद्धि-से रहित होकर संसारके प्रलोभनोंसे दूर भागना चाहिये?' इस चमत्कारपूर्ण काव्यमय ग्रन्थमें हमें ये विचार बारम्बार नित्य नये रूपमें मिलते हैं। भगवद्गीताकी उत्पत्ति दर्शनशास्त्र और धर्मसे हुई है; उसके अंदर ये दोनों धाराएँ साथ-साथ प्रवाहित होकर एक दूसरेके साथ मिल जाती हैं। भारतीयोंके इस मनोभावका हम जर्मन देशवासियोंपर बड़ा प्रभाव पड़ता है और इसी कारण बार-बार हमारा मन भारतकी ओर आकर्षित होता है।

श्रीमद्भगवद्गीता और भारतीय समाज

(लेखक—श्रीयुत पं० धर्मदेव शास्त्री दर्शनकेसरी, दर्शनभूषण, सांख्य-योग-वेदान्त-न्यायतीर्थ)

श्रीमद्भगवद्गीताके कारण आज भी भारतीय धर्म और भारतीय संस्कृतिका संसार मान करता है । वस्तुतः भगवान्‌के समान भगवान्‌का ज्ञान भी सनातन होता है—सनातनका अर्थ पुरातन नहीं । नित्य-नूतनको ही 'सनातन' कहते हैं । जहाँ नित्यत्व और नूतनत्व दोनों धर्मोंका समन्वय होता है, वही धर्म—ज्ञान सनातन है । मेरा विश्वास है गीताका प्रतिपाद्य ज्ञान—सत्य—धर्म सनातन है । इसीलिये देश और कालकी सीमामें उसे बंद नहीं किया जा सकता अर्थात् वह सार्वभौम और सार्वकालिक है । यही कारण है कि गीताका प्रचार सभी देशोंमें है । संसारके इतिहासमें आजतक गीता ही ऐसा सर्वमान्य ग्रन्थ है जिसका विश्वकी समस्त जीवित भाषाओंमें स्वयमेव अनुवाद हुआ है । बाइबिल धर्म-ग्रन्थ भी प्रायः सभी भाषाओंमें अनूदित है, परन्तु उसका अनुवाद तत्तद् भाषाभाषियोंने स्वयं नहीं किया, ईसाईधर्मका सन्देश सर्वत्र फैलानेकी भावनासे ईसाई पादरियोंने अपना रुपया खर्च करके किया है । गीताके सम्बन्धमें यह बात नहीं । इन पंक्तियोंके लेखकका विश्वास है कि गीताका विराट्‌रूप अभीतक विश्वने नहीं देखा, जब गीताका वह दिव्य रूप दीखेगा तब विश्वका पुनर्निर्माण होगा ।

गीताका प्रत्येक अध्याय एक-एक योग है—योग अर्थात् अक्सीर दवा । इस प्रकारके १८ योगोंके नुस्खोंके रहते हुए भी आज भारत और विश्व रोगी हैं ! मेरा मतलब शारीरिक रोगसे नहीं । वस्तुतः स्वास्थ्य और अस्वास्थ्यका मुख्य स्थान विचार ही है । यही विचारशक्ति ही, चेतना ही जगत्‌का और पिण्डका नियन्त्रण कर रही है । जिस प्रकार रोगके कीटाणु बहुत शीघ्रतासे उत्पन्न होते हैं और फैलते हैं, इसी प्रकार बुरे विचारोंके कीटाणु भी फैला करते हैं । ब्रह्माण्डको शुद्ध करनेवाला यह नुस्खा ही गीतोपनिषद् है । यह ज्ञान है यद्यपि 'राजविद्या' और 'राजगुह्य', तथापि 'प्रत्यक्षावगम' भी साथ ही है । गीताका प्रभाव प्रत्यक्ष दीख सकता है । मेरे-जैसे अनेकों व्यक्तियोंके निर्माणका श्रेय गीताको ही है । सच्चे हृदयसे गीताका पाठ यदि किया जावे तो सारी गीताका मनन करनेके बाद पाठक अर्जुनके साथ यही कहेगा—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥

यदि यह उद्‌गार नहीं निकलता तो समझना चाहिये गीता-माताका दूध अभीतक हमने ध्यानसे नहीं पिया, गीता-माँका दूध भी पिया जावे और तृप्ति भी न हो यह असम्भव-सा लगता है । इन पंक्तियोंका लेखक ये शब्द यों ही नहीं लिख रहा है उसके जीवनमें गीतामृतके इन योगोंकी आज़माइश हो चुकी है और सदा उससे लेखकको स्वास्थ्य मिला है ।

गीतासे व्यक्तिके समान समाज, देश भी उत्प्राणित हो सकता है; क्योंकि समाज अथवा देश व्यक्तियोंके समुदायहीका तो नाम है । हम प्रस्तुत लेखमें भारतीय स्थितिके लिये गीताकी व्यावहारिकताका कुछ निर्देश करेंगे ।

आज विशेषतः भारतमें अकर्मण्यता, अवसाद—दैववादका साम्राज्य है । जो मनुष्य निकम्मा रहता है वह स्वप्न-जगत्‌में बहुत घूमा करता है और बड़े-बड़े मनोमोदक बनाया और खाया करता है; यही दशा देशकी भी होती है । भारतवर्षकी आज यही दशा है । भारतकी जनता कुछ किये-कराये बिना सांसारिक और पारलौकिक सभी सुखोंको एक साथ प्राप्त करना चाहती है—दूसरे शब्दोंमें कहा जाय तो भारतीय कर्म न करके फल प्राप्त करना चाहते हैं !

यही है अनधिकार चेष्टा । गीताका दर्शन इससे सर्वथा विपरीत है, वहाँ फलको मनमें भी न लानेकी और लगातार कर्म करते जानेकी बात है । गीताकारने कहा है—

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥

'जो कर्ममें अकर्म देखे और अकर्ममें कर्म, उसीको बुद्धिमान् समझना चाहिये । जिस मनुष्यको कर्ममें ही आनन्द मिलता है, बिना कर्मके जो रह ही नहीं सकता वही कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्मका दर्शन कर सकता है ।'

प्रायः समझा यह जाता है कि कर्म लाभके लिये करना; परन्तु गीताकार ऐसा नहीं कहते, वहाँ तो कर्म 'सर्वभूत-हिते रत' होकर सहजरूपसे करना है । नदी बहती है—लाभके लिये नहीं । सूर्य प्रकाश करता है—लाभके लिये नहीं । और तो क्या, स्वयं भगवान् चौबीसों घंटे काममें लगे रहते हैं, नींद भी नहीं; क्योंकि उनकी नींदका अर्थ है महाप्रलय ।

तब क्या यह सब काम भगवान् अपने लाभके लिये कर रहे हैं ? नहीं तो वे आप्तकाम और आत्मकाम हैं । तब यह क्यों करते हैं ? भगवान्के शब्द हैं—

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥

और फिर परमात्मा केवल फल चाहते नहीं, इतना ही नहीं; फलकी उनको इच्छा नहीं और वे लेते भी नहीं; परन्तु मनुष्य यदि 'सर्वभूतहिते रत' होकर कार्य करेगा तो उसका फल न चाहते हुए भी उसे मिलेगा और भी अधिक मिलेगा । इसलिये मनुष्य फलसंन्यास न करके 'फलसंकल्प-संन्यासी' बनता है ।

आजका युग 'यन्त्रयुग' है । भारतवासी भी अनेक यन्त्रोंके पक्षपाती हैं । गीताकारकी दृष्टिसे प्रकृतिको अधिक-से-अधिक सक्रिय करना अच्छा है; परन्तु जडकी सक्रियताका अर्थ चेतनकी निष्क्रियता नहीं । जिन यन्त्रोंसे मनुष्य-समाज श्रमका महत्त्व भूल जावे, वे अनुपादेय हैं । गीताकारका तो एक ही सन्देश है 'कुरु कर्मैव तस्मात्त्वम् ।' भारतके अधिकांश लोग किसान हैं, वे वर्षमें तीन महीनोंके लगभग निकम्मे रहते हैं; उस समयमें लोग ताश-चौपड़ खेलते हैं, मुकद्दमेबाजी करते हैं और चोरी, व्यभिचार आदि पापोंकी संख्यामें वृद्धि करते हैं । भगवान्ने इस शरीरको 'क्षेत्र'—खेत कहा है—

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।

जिस प्रकार जिस खेतमें आप कोई चीज—शाक, अन्न आदि न बोवें वहाँ घास, फूस और कँटीले वृक्ष अपने-आप पैदा हो जाते हैं, इसी प्रकार मनुष्य और मनुष्यसमाजरूपी खेतमें भी कुछ-न-कुछ बोये रखना चाहिये; क्योंकि निकम्मा होना ही सब पापोंकी जड़ है । मनुष्यका जीवन अमूल्य है । इससे परमार्थका जो भी काम बन पड़े, कर लो; फिर यह अवसर नहीं मिलेगा ।

हमारे देशके सार्वजनिक जीवनमें एक बुराई घर कर गयी है, उसका इलाज भी गीताकारने बताया है । हमारे देशके लोग सर्वजनहितकारी कार्योंमें भी कुछ पुरस्कार चाहते हैं—चाहे वह पुरस्कार धन हो, प्रतिष्ठा हो अथवा पद ही हो । इसका परिणाम बुरा होता है । मान लीजिये मैंने कोई सार्वजनिक कार्य किया । मैं उस कार्यकी कीमत यह समझता हूँ कि मुझे उसके एवज़में एसेंबलीकी सदस्यता अथवा म्युनिसिपैलिटीकी चेयरमैनी मिलनी चाहिये; परन्तु जनता उस मेरे कामकी कीमत कम आँकती है अथवा उतना नहीं समझती जितना मैं समझता हूँ । बस, यहींसे पार्टीबाजी शुरू होती है । मैं अपनेको नीलामपर चढ़ा देता हूँ और अपने कुछ साथी संगृहीत कर लेता हूँ, जिससे मेरी कीमत उतनी ही पड़े जितनी कि मैं समझता हूँ । यहींसे समाजमें दम्भका उद्गम होता है । गीताकारने इसीलिये कहा है—

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥

इसका भावार्थ यह है कि 'नेकी कर और कुएँमें डाल' । यदि ये भाव हमारे देशके शिक्षितोंमें आ जावें तो हमारा देश उन्नत हो सकता है और शीघ्र ही उन्नत हो सकता है । इस प्रकार और भी व्यावहारिक दृष्टिसे गीताके उपदेशोंकी उपादेयता बतलायी जा सकती है ।

मेरा तो विश्वास है भारतवर्ष यदि गीताके अमर उपदेश-का आचरण करे और सामूहिकरूपसे इसका प्रयोग करे तो वह शीघ्र स्वतन्त्र हो सकता है और आज भी संसारको अमर सन्देश दे सकता है । मृत्युके मुखमें पड़ा विश्व गीता-सुधाका पान करके अमर हो सकता है । ओम् शम् ।

साहित्यका सर्वोत्कृष्ट रत्न

आधुनिक कालमें सज्जनगण तत्परताके साथ भारतीय साहित्यके सर्वोत्कृष्ट रत्न गीताका प्रचार कर रहे हैं । यदि यह प्रगति इसी प्रकारकी रही तो आगामी सन्तान वेदान्त-सिद्धान्तोंके प्रति अधिक रुचि प्रकट कर उनका पालन करेगी ।

—सर जॉन वुडरफ

गीता और योगेश्वर श्रीकृष्ण

(लेखक—आचार्य श्रीचन्द्रकान्त, वेदवाचस्पति, वेदमनीषी)

संसारके इतिहासका आध्यात्मिक व्याख्यान (Spiritual interpretation) श्रीकृष्णचन्द्रके जीवनमें पर्यवसानको प्राप्त होता है । यदि व्यास, शङ्कर और जनक ज्ञानकी परोक्ष सरस्वतीके किनारेपर हैं; यदि श्रीरामचन्द्र, महावीर और बुद्ध कर्मकी किसी अपूर्व धवल जाह्नवीके तटपर हैं; यदि सूर, तुलसी, कबीर, मीरा, चैतन्य महाप्रभु तथा रामकृष्ण परमहंस भक्तिकी किसी मधुर नीलसलिला यमुनाके तटपर खड़े हैं तो श्रीकृष्णचन्द्र ज्ञान, कर्म, भक्तिकी त्रिवेणीके हृदयङ्गम प्रयाग-सङ्गमपर खेल रहे हैं । श्रीकृष्णचन्द्रने संसार-नाटकके एक अपूर्व नायक बनकर नाना प्रकारके अभिनय दिखाये हैं । पौराणिक-कालीन भक्तभावनाके श्रीकृष्ण गोपाल बनकर गोपियोंके रासमें रस लेते हैं, मक्खन चुराते हैं और नटखट नटवर कहे जाते हैं । अध्यात्मवादियोंके वही मन-आकर्षक—मोहक मोहन इन्द्रियरूपी गौओंके पालक बनकर वृत्तिरूपी गोपियोंके साथ रमण कर रहे हैं । श्रृङ्गाररसिक—

'मोर मुकुट कटि काछनी कर मुरली उर माल ।
यहि बानक मो मन बसौ सदा बिहारीलाल ॥'

—के मुरलीधर श्रीकृष्ण कैसे अपूर्व हैं ! भाव-समाधि-मग्न रसखान—

'या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर को तजि डारौं ।'

—की रट लगाकर जिनके लिये अपूर्व साध साधे बैठे हैं, वे श्रीकृष्ण कैसे भक्तवत्सल हैं ! बहुरूपिया श्रीकृष्णके अनेकों रूप हैं; परन्तु महाभारतकारने हमें योगेश्वर श्रीकृष्णका जो रूप प्रत्यक्ष कराया है, वह भक्त भावुकोंका ही नहीं, सबका पूजनीय है, विश्ववन्द्य है, परमोज्ज्वल है, सत्य तथा स्तुत्य है । शील एवं सदाचारके अवतार श्रीकृष्णके सम्बन्धमें दयानन्द सरस्वती लिखते हैं—'श्रीकृष्णका इतिहास भारतमें अत्युत्तम है; उनका गुण, कर्म, स्वभाव और चरित्र आप्त पुरुषोंके सदृश है । जिसमें कोई अधर्मका आचरण श्रीकृष्णजीने जन्मसे मरणपर्यन्त, बुरा काम कुछ भी किया हो ऐसा नहीं है' (सत्यार्थप्रकाश, १५ वीं बार, एकादश समुल्लास, पृष्ठ ३५६) ।

हमने महाभारतके जिन श्रीकृष्णकी ओर निर्देश किया है, उन्होंने भारतवर्षको जरासन्धके अत्याचारमूलक एक सत्तात्मक साम्राज्यसे मुक्त कर, अजातशत्रु युधिष्ठिरके आत्म-निर्णय (Self-determination) मूलक आर्यसाम्राज्य (Commonwealth) के सूत्रमें सूत्रित किया । इन्हीं भारतरक्षक श्रीकृष्णकी विभूतिके समक्ष समस्त भारतने सिर झुकाया और झुका रहा है । कविशिरोमणि माघने 'शिशुपाल-वध'में इन्हीं श्रीकृष्णको युधिष्ठिरद्वारा 'एतदूढगुरुभार ! भारतं वर्षमद्य तव वर्त्तते वशे' (शि० व० १४)—'ऊढगुरुभार' कहलाया है । हमें यही श्रीकृष्ण प्यारे हैं, क्योंकि ये योगेश्वर हैं । धनुर्धर पार्थको इन्हींकी कृपासे लक्ष्मी, विजय तथा ध्रुव नीतिका मार्ग मिला—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥

संसारके इतिहासमें सबसे अद्भुत तथा आकर्षक श्रीकृष्ण-का यही योगेश्वर-स्वरूप है । नेपोलियनका पराक्रम, वाशिंगटन-का स्वार्थत्याग, ग्लैडस्टन तथा बिस्मार्ककी नीतिमत्ता—सब-के-सब श्रीकृष्णचन्द्रमें केन्द्रित हैं । श्रीकृष्णमें मुहम्मदका निश्चय-बल, ईसामसीहका सौजन्य तथा बुद्धका बुद्धिवाद—सब एकाकार हो गये हैं । वेदोंका सार उपनिषद्, उपनिषदोंका सार गीता और गीताका निचोड़ कृष्णजीवन । गीताके उद्देश्य तथा तात्पर्यको जानकर श्रीकृष्णके योगेश्वरस्वरूपको भलीभाँति समझा जा सकता है ।

गीताका उपदेश न संन्यासधर्मी श्रेयार्थी युधिष्ठिरके लिये है, न प्रेयार्थी भीमके लिये, अपितु उस अर्जुनके लिये है जो—

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥

—धर्मसङ्कट (Casuistry) में पड़ा हुआ अध्यात्ममार्ग-का अति भक्त है । अर्जुन साधारण जीव नहीं प्रतीत होता, देवयान मार्गका राहगीर है । मोहवश स्वधर्मको भूलकर युद्धसे विमुख होते हुए अर्जुनको युद्धरूपी घोर कर्ममें प्रवृत्त कराना, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके अध्यात्म उपायोंसे व्यावहारिक राज्य-मार्गपर आरूढ करना किसी योगेश्वरका ही कर्म है । योगका तात्पर्य 'चित्तवृत्तिनिरोध' तथा ध्यान, धारणा, प्राणायाम आदि उपाय ही नहीं, अपितु 'योगः कर्मसु कौशलम्'—कर्ममें दक्षता (Dexterity) भी है । कर्मदक्ष महापुरुष ही धर्मसङ्कट

(Casuistry) के समयमें मार्ग निकाल सकता है। जहाँ लौकिक व्यावहारिक पुरुष असत्य, हिंसा, अन्धकार तथा मृत्युको देखता है वहाँपर पश्यन्मुनि—कर्मकुशल पुरुषको अपने 'दिव्यचक्षु' से सत्य, अहिंसा, प्रकाश और अमरत्वकी झाँकी होती रहती है।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

व्यामुग्ध अर्जुनको आत्मा और शरीरके नित्यानित्यके अध्यात्मवादकी उड़ानमें उड़ाकर 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः' की घोषणाके द्वारा यज्ञार्थ निष्काम कर्मके चतुष्पथ-पर लाकर भी जब श्रीकृष्णचन्द्र सफल न हुए तो विश्वरूप दिखाकर, युक्तिको भक्तिमें और तर्कणाको भावनामें बदलकर मोहित करते हैं। कैसी अजब मोहिनी है। जो अर्जुन—'एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन' की क्लीव पुकार कर रहा था, वह 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' तथा 'निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्' के आदेशको शिरोधार्य कर युद्धके लिये सन्नद्ध होकर, अपनेको श्रीकृष्णके हाथका यन्त्र बना देता है। गीतामें ज्ञानका कर्ममें विनियोग किया गया है, इसका यह कैसा सुन्दर दृष्टान्त है! योगेश्वर पुरुषका योग यही है। इसकी कसौटी जंगलोंमें नहीं होती; युद्धके मैदानों, राजमहलों और दुनियाके ऊँच-नीच क्षेत्रोंमें ही होती है। प्रभुकी प्राप्तिका स्थल यह संसार है, इसको पानेका रास्ता भी स्पष्ट और सरल है, ज्ञानपूर्वक निष्काम कर्म करना, अर्थात् ज्ञानपूर्वक किये गये कर्मको सर्वथा ब्रह्मके अर्पण कर देना। पातञ्जल-दर्शनका राजयोग-मार्ग इस रास्तेका पोषक अवश्य है। अर्जुनमें सारासार-विवेकशक्ति, कार्पण्य तथा स्वजनोंके प्रति आदरके भाव उमड़ रहे थे और सनातन सत्य उसकी आँखोंसे ओझल हो गया था। इस अवस्थामें योगेश्वर श्रीकृष्णने युद्धस्थलीमें ही 'तस्माद्युध्यस्व भारत' का युद्ध-घोष (Military order) अर्जुनको सुनाया; आत्मा, प्रकृति, पुरुष-सम्बन्धी ज्ञान दिया और ज्ञानको अनुप्राणित करनेके लिये 'यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वम्' के रूपमें भक्तिप्रदीप जगाया। योगकी परीक्षा सचमुच ऐसे ही समयोंमें होती है। महाभारत, शान्तिपर्व (६२-३२) में पितामह भीष्मने ठीक ही कहा है—'सर्वे योगा राजधर्मेषु चोक्ताः' अर्थात् राजधर्ममें सभी योग कहे हैं। योगका अर्थ है युक्ति, प्रयुक्ति, नीति, उपाय। जब कि बड़े-बड़े ज्ञानी लोग भी 'किं कर्म किमकर्मेति' करते रह जाते हैं, उस समय जो योग अर्थात् युक्तिसे—कार्यकी कुशलतासे—साध्यके पार पहुँच जाता है वह योगेश्वर होता है। निहत्थे होकर एक महान् साम्राज्यकी स्थापना कर देनेसे बढ़कर और योग हो ही क्या सकता है। योगेश्वरका योग कैसा अद्भुत है!

घायल युधिष्ठिर कर्ण-विध्वंसकी आशामें शिविरमें बैठे अर्जुनकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। अर्जुनको असफल आये देख कुछ अधीरता और कुछ रोषमें कह उठते हैं—'तुझे धिक्कार है! गाण्डीव धनुष किसी औरको सौंप दे।' यह सुन अर्जुनकी तलवार म्यानसे निकल आती है, किसलिये? कर्णके नाशके लिये नहीं, अपितु प्रणको पूरा करनेके निमित्त युधिष्ठिरका वध करनेके लिये। एक तरफ पितृतुल्य ज्येष्ठ भ्राताकी हिंसा करना अधर्म है, दूसरी तरफ गाण्डीवके अपमान करनेवालेकी हिंसा करनेकी मनस्विनी प्रतिज्ञा है। फिर अर्जुन किङ्कर्तव्यविमूढ है। इस धर्मसङ्कटसे बचनेका क्या योग है? अध्यात्मतत्त्वको व्यवहारमें पूरा-पूरा घटाना योग है—यह कितना कठिन कार्य है! योगेश्वर श्रीकृष्णने कहा—'न वृद्धाः सेवितास्त्वया।' 'अर्जुन! प्रतिज्ञा पालन अवश्य करो। मान्य पुरुषका अपमान प्राणघातसे—शिरश्छेदसे भी बढ़कर है। युधिष्ठिरको 'आप' की जगह 'तू' कहकर पुकार लो। धर्मका सार अहिंसा है। इस अहिंसाका साधन सत्य है। भाईकी हिंसा करना सर्वथा अनुपयुक्त है। प्रतिज्ञाकी रक्षा गौण वस्तु है। यदि किसी प्रकार इन दोनों धर्मोंकी रक्षा करनी ही हो तो यही मध्यम मार्ग है कि प्रतिज्ञा पूरी करनेके लिये 'तूकार' से युधिष्ठिरके यशःशरीरके प्रतिष्ठा-मस्तिष्कको काट लो। ज्येष्ठ स्वरूपमें सामने खड़े अजातशत्रु युधिष्ठिरके सिरको काटनेके हिंसारूपी अधर्मसे भी बच जाओगे और प्रतिज्ञा भी पूरी कर सकोगे।'

इधर अर्जुनकी उद्दण्डतासे अधिक खिन्न होकर वैराग्य-प्रधान युधिष्ठिर राज्य छोड़कर बनगमनकी तैयारी करते हैं, यह देख युधिष्ठिरपर अँगारा बरसाती अर्जुनकी आँखें वैराग्य-भेषधर अजातशत्रुको नयनजलसे अभिषिक्त करने लगती हैं। दोनोंका क्रोध आँखोंकी गंगाजमुनीमें बह जाता है। दो जुदा हुए हृदयोंको मिलाकर वैमनस्यपर प्रेमकी विजय स्थापित करके बन्धुत्वका कैसा अद्भुत योग श्रीकृष्णने रचा! अब गाण्डीवके अपमानका अपराधी युधिष्ठिर न रहा, कर्ण हो गया। यह है कृष्णका योगेश्वरपन।

गीतामें अखण्ड चेतन-तत्त्वको संसारसे भिन्न न बताकर,

इसके अणु-अणुमें रमा हुआ प्रतिपादित किया है। शशि-सूर्यमें विद्यमान प्रभा, जलोंमें रस, ऋतुओंमें कुसुमाकर, मासोंमें मार्गशीर्ष—क्या-क्या कहें, संसारमें जो-जो विभूतिमत्, श्रीमत् तथा ऊर्जित सत्त्व है ('यद् यद् विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा'), वह उसी विश्वशक्तिका अंश है। जगदाधारभूत ब्रह्म ही चातुर्वर्ण्य (चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्) के रूपमें भी संसारमें आविर्भूत है। यह गीता तथा वेदोक्त पुरुषसूक्तसे भी प्रतीत होता है। हृदयदेशमें अव्यक्त-रूपसे भी यही ब्रह्म ओतप्रोत है ('हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति') यह पुरुष—ब्रह्म संसारको बनाकर तटस्थ नहीं रहता। अर्थात् गीता तटस्थेश्वरवाद (Deism) का प्रतिपादन नहीं करती, प्रत्युत प्रभुको पिता, माता, सखा तथा पत्यादि सम्बन्धोंसे स्मरण करती है।

इस प्रभुको जाननेके लिये हमें दूर जानेकी ज़रूरत नहीं; इसी संसारमें कर्म, ज्ञान तथा भक्तिवाली एक-एक हरकतमें उस शिवका स्वरूप हमारे लिये प्रकट हो रहा है। इसलिये जो दैवी पुरुष संसारके व्यवहारोंमें संलग्न होकर ज्ञान, कर्म तथा भक्तिकी त्रिवेणीमें स्नान करते हैं वे सचमुच ब्रह्मलीन हो रहे हैं। परमार्थ और व्यवहारका जीवनमें सुन्दर समीकरण इसी मार्गसे हो सकता है। इस पथपर चलनेवालोंको अखण्ड तत्त्वका प्रत्यक्ष संसारकी एक-एक क्रियामें होता है, इसलिये उनका एक-एक कर्म विलक्षण होता है और तत्त्वतः सत्य होता है। यहाँ मस्तिष्क हृदयसे पृथक् न रहकर एक सूत्रमें सूत्रित हो जाया करता है। 'मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्' (अथर्व)—इस स्थितिको प्राप्त पुरुष अपनी अलौकिक चमत्कारिणी बुद्धि तथा भावनाके प्रबल वेगसे संसारका काया-कल्प कर देते हैं। श्रीकृष्णचन्द्रने संसारमें यही कर दिखाया। इसलिये वे योगेश्वर हैं, अतिमानव हैं और हमारे परम पूज्य हैं। आवश्यकता इतनी ही है कि हम अर्जुन बन सकें।

गीता और शक्तिवाद

(लेखक—प्रो० श्रीहरिहरनाथजी हुक्कू, बी-एस्०-सी०, एम्०ए०)

गीताके पात्र श्रीकृष्ण और अर्जुन तथा एक प्रकारसे सञ्जय भी हैं। स्थितिकी विशेषता और करुणामयकी स्वेच्छासे, जिसके कारण वह अज, अनामा कृष्णावताररूपसे प्रकट हुआ, गीताकाव्यमें पुँल्लिङ्गका ही अधिकतर प्रयोग हो पाया; लेकिन हिन्दूधर्मकी यह विशेषता है कि उसमें अनेक सम्प्रदाय होते हुए भी साम्प्रदायिकता नहीं है; क्योंकि अपने इष्टदेवके रूप, लीला, गुणसे मुग्ध होकर अनादि परात्पर कारणका अनुभव करना और सब भूतोंमें उसको पहचान पाना—उसकी सर्वव्यापकतासे उसकी महान् दया और अकथ प्रेमका अनुभव करना—यही सब सम्प्रदायोंका आदर्श रहा है। नीची श्रेणीके लोग, जिनको दयामयकी सर्वव्यापकता अनुभवगत नहीं हो पायी है, शिव और विष्णुमें विरोध देख सकते हैं। लेकिन उच्चकोटिके भक्तोंके लिये जो शिव हैं, वही विष्णु हैं; जो कल्याणकारी संहारक हैं, वही पालनकर्त्ता भी हैं; परन्तु प्रकृतिवश रुचिकी भिन्नता होनेके कारण एक ही रूप सबको आकर्षित नहीं कर पाता। कोई माँके रूपका ध्यान लगाता है, किसीके इष्टदेव 'बालरूप भगवान्' हैं, कोई रौद्ररूपका उपासक है, किसीको व्रजाङ्गना बननेकी लालसा है, ऊपरी अनेकताके भीतर अरूप अनामाकी लीलाका रहस्य भरा है, जिसको स्वीकार करनेकी वजहसे हमारे धार्मिक विचारको संसारमें इतनी श्रेष्ठता मिली। गीता पुरुष-कथित काव्य है; लेकिन हिन्दू-धर्मकी ऐक्य-प्रियताके कारण इसमें भी अनेक स्थानोंपर शक्तिकी महिमा पायी जाती है।

शक्तिवादका सिद्धान्त यह है कि वह सर्वस्याद्या—सबकी आदिरूपा है। वही एक शक्ति है, दूसरी किसी प्रकारकी शक्ति है ही नहीं।

एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा।

(दु० स० १० । ५)

और यही सृष्टिकी उत्पत्ति, पालन और संहार करती है।

······त्वं देवि जननी परा।

त्वयैतद्धार्यते विश्वं त्वयैतत्सृज्यते जगत्॥
त्वयैतत्पाल्यते देवि त्वमत्स्यन्ते च सर्वदा।
विसृष्टौ सृष्टिरूपा त्वं स्थितिरूपा च पालने॥
तथा संहृतिरूपान्ते जगतोऽस्य जगन्मये।

(दु० स० १ । ७५–७७)

तुम ही माता ईश्वरी हो, तुम ही सब विश्वको धारण

करती हो और तुम ही उत्पन्न करती हो, तुम ही पालन करती हो और हे देवि! अन्तमें तुम ही सदा इसका भक्षण (संहार) करती हो। हे जगन्मयि! इस संसारके रचनेके समय तुम सृष्टिरूपा हो, पालनके समय स्थितिरूपा हो और इस जगत्के नाश करनेके समय संहाररूपा हो। यही भाव गीतामें भी है। श्रीवासुदेवका वचन है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया॥
(४।६)

'मैं अजन्मा, अविनाशी और भूतमात्रका ईश्वर होते हुए भी अपने स्वभावको लेकर अपनी मायाके बलसे जन्म ग्रहण करता हूँ।' इस श्लोकको हमें सातवें अध्यायके ५-६ श्लोकोंके साथ पढ़ना चाहिये।

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥
(७।५)

'यह अपरा प्रकृति कही। इससे भी ऊँची परा प्रकृति है, जो जीवस्वरूपा है। हे महाबाहो! यह जगत् उसीने धारण कर रक्खा है।'

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥
(७।६)

भूतमात्रकी उत्पत्तिका कारण तू इन दोनों (प्रकृतिके विभागों) को जान। (जैसा ऊपर चौथे अध्यायके छठे श्लोकमें कहा है, वैसे उत्पन्न होकर) समूचे जगत्की उत्पत्ति और लयका कारण मैं ही हूँ।*

शक्तिवादका दूसरा सिद्धान्त यह है कि यह माया परम बलवान् है। 'मैं बड़ा ज्ञानी हूँ' ऐसा अहङ्कार करके कोई उसपर विजय नहीं पा सकता। जैसे देवीको अबला समझकर बलके अहङ्कारसे अन्ध चण्ड-मुण्ड और शुम्भ-निशुम्भ उसपर विजय न पा सके। देवीकी कठिन मायासे पार पानेका एक ही मार्ग है—विनम्र शरणागति।

विद्यासु शास्त्रेषु विवेकदीपे-
ष्वाद्येषु वाक्येषु च का त्वदन्या।
ममत्वगर्तेऽतिमहान्धकारे
विभ्रामयत्येतदतीव विश्वम्॥
(दु० स० ११।३१)

चौदह विद्याओंके और छः शास्त्रोंके तथा ज्ञानके दीपक वेदोंके होते हुए भी इस संसारको ममतारूपी गड्ढेमें तुम्हारे सिवा और दूसरा कौन घुमा सकता है?

तयैतन्मोह्यते विश्वं सैव विश्वं प्रसूयते।
सा याचिता च विज्ञानं तुष्टा ऋद्धिं प्रयच्छति॥
(दु० स० १२।३७)

वही देवी संसारको मोहित करती है और उत्पन्न करती है और जब उससे याचना करते हैं तब विशेष ज्ञान देती है तथा प्रसन्न होनेपर ऋद्धि देती है। यही भाव गीतामें भी पाया जाता है। भगवान् कहते हैं—

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं ....॥
(७।१३)

इन त्रिगुणमय भावोंसे सारा संसार मोहित हो रहा है। श्रीवासुदेवके वचनानुसार इस सर्वव्यापी मोहसे छुटकारा पानेका एकमात्र साधन शरणागति है।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥
(७।१४)

इस मेरी गुणोंवाली अलौकिक मायासे तरना बड़ा कठिन है; पर जो मेरी ही शरण ले लेते हैं, वे इस मायासे तर जाते हैं।

शक्ति-उपासकोंके विचारसे यह माया बड़ी प्रभावशालिनी है—

....।
यया त्वया जगत्स्रष्टा जगत्पात्यत्ति यो जगत्॥
सोऽपि निद्रावशं नीतः कस्त्वां स्तोतुमिहेश्वरः।
(दु० स० १।८३-८४)

---

* मायाके ऊपर निर्भरता और उसकी सर्वव्यापक शक्तिको भगवान् एक और स्थानपर स्वीकार करते हैं—

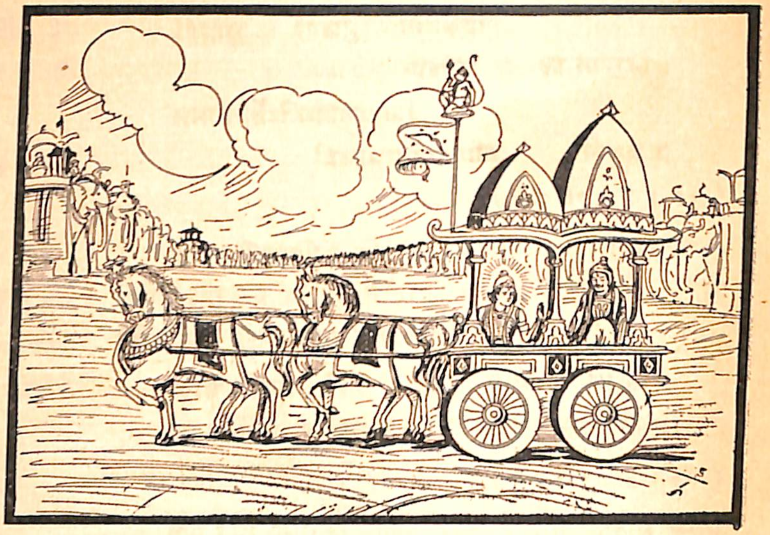
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्॥
(गीता ९।८)

'अपनी मायाके आधारसे प्रकृतिके प्रभावके अधीन रहनेवाले प्राणियोंके सारे समुदायको मैं बारंबार उत्पन्न करता हूँ।'

अर्जुन



शक्तिका वरदान



मोह



मोह-नाश



जयद्रथ-वधके दिन भगवान्‌का रथके घोड़ोंको धोना

आपने भगवान्‌को भी जो जगत्‌की उत्पत्ति, पालन और नाश करनेवाले हैं—निद्राके वश कर दिया ! तुम्हारी स्तुति करनेके लिये कौन समर्थ है !!

श्रीकृष्णभगवान् भी मायाके इस गहन प्रभावकी यों साक्षी देते हैं—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।

(७ । २५)

अपनी योगमायासे ढका हुआ मैं सबके लिये प्रकट नहीं हूँ ।

पुरुष-कथित काव्य होनेपर भी प्रकृतिके माहात्म्यको स्वीकार करनेका संकोच गीतामें नहीं पाया जाता । भिन्नताकी साक्षी देना अज्ञानसूचक है, क्योंकि भेद-भाव मोहजनित है और गीताका उद्देश्य तो मोहसंहार है ही । अर्जुनका भ्रम-नाश करके उसे धर्मकार्य-सम्पादन करनेमें अग्रसर करते हुए उसको अपने अलौकिक सखाके समान अच्युत बन जानेकी विधि बतलाना ही स्थितिकी आज्ञा थी । समयने काव्यका क्षेत्र संकुचित कर दिया और एक लक्ष्यका साधन ही प्रमुख बना दिया । परन्तु पुरुषोत्तम भगवान् श्रीवासुदेव शक्तिके गुह्यतम रहस्यकी ओर संकेत करनेसे न चूके; क्योंकि प्रकृतिके प्रभाव और उसकी महिमासे अनभिज्ञ रहनेसे उस परम सत्यका ज्ञान अधूरा रह जाता है जो एक और अद्वितीय है ।

गीता और सप्तशतीमें स्थान-स्थानपर ऐसे शब्द और भाव मिलते हैं जो एक-दूसरेकी याद कराते हैं ।

उदाहरणस्वरूप—बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि (७ । १० ; भूतानामस्मि चेतना (१० । २२); स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा (१०।३४) सप्तशतीके—सर्वस्य बुद्धिरूपेण जनस्य हृदि संस्थिते (११।८) चेतनेत्यभिधीयते (५।१७) स्मृतिरूपेण संस्थिता (५ । ६२) महामेधा महास्मृतिः (१ । ७७) क्षान्तिरेव च (१ । ८०) की याद दिलाते हैं ।

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥

(१० । ७)

इस मेरी विभूति और शक्तिको जो यथार्थ जानता है वह अविचल समताको पाता है, इसमें संशय नहीं है । श्रीवासुदेवके इस वचनसे देवताओंकी स्तुतिका यह श्लोक स्मरण होता है—

या मुक्तिहेतुरविचिन्त्यमहाव्रता त्व-
मभ्यस्यसे सुनियतेन्द्रियतत्त्वसारैः ।
मोक्षार्थिभिर्मुनिभिरस्तसमस्तदोषै-
र्विद्यासि सा भगवती परमा हि देवि ॥

(दु० स० ४ । ९)

हे देवि ! तुम मुक्तिका कारण हो और तुम ही अचिन्त्य ब्रह्मज्ञानरूपा हो; अतएव रागद्वेषको छोड़ देनेवाले और मोक्षकी इच्छा करनेवाले तथा इन्द्रियोंको वशमें कर लेनेसे तत्त्वको जाननेवाले मुनिलोग तुम्हारा अभ्यास करते हैं ।

सर्वाश्रयाखिलमिदं जगदंशभूत-
मव्याकृता हि परमा प्रकृतिस्त्वमाद्या ।

(दु० स० ४ । ७)

तुम सबको आश्रय देनेवाली हो और यह सम्पूर्ण जगत् तुम्हारा अंशरूप है । तुम विकारोंसे रहित हो, परम प्रकृति और आदिशक्ति हो ।

यह सप्तशतीका श्लोक गीताके नीचे लिखे श्लोककी याद दिलाता है—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥

(१० । ४१)

जो कुछ भी विभूतिमान्, लक्ष्मीवान् या प्रभावशाली सत्त्व है उसे तू मेरे तेजके अंशसे ही हुआ समझ ।

गीता शक्तिग्रन्थ नहीं है, फिर भी यह काव्य उस सर्वव्यापक ऐक्यको अंगीकार करता है जो सृष्टिमें सर्वथा उपस्थित है । और काव्यकी भाषाके संकेतद्वारा यह समर्थन करता है कि शक्ति सर्वस्याद्या है, उसका प्रभाव महान् है । उसकी माया बड़ी कठोर और अगम्य है तथा उसका माहात्म्य अकथनीय है ।

गीता और अहिंसा

(लेखक—श्रीताराचन्द्र पाण्ड्या)

श्रीमद्भगवद्गीताके प्रत्येक अध्यायमें विभिन्न प्रकारसे अहिंसाकी प्रशंसा और इसकी परम आवश्यकताका उल्लेख प्राप्त होता है। समता और साम्यावस्था, जिसपर गीताने बारंबार जोर दिया है, और जो गीताका अत्यन्त प्रिय प्राणस्वरूप विषय ज्ञात होता है, उसमें और अहिंसामें केवल नामका ही अन्तर है। श्रीभगवान्‌ने गीताके तेरहवें अध्यायके आठवें श्लोकमें अहिंसाको ज्ञान बतलाया है तथा सोलहवें अध्यायके प्रारम्भमें दैवीसम्पत्तिके छब्बीस गुणों या लक्षणोंका वर्णन करते हुए अहिंसा और इसके पर्यायवाची शब्दोंका बार-बार प्रयोग किया है। अहिंसा, अक्रोध, शान्ति, अपैशुन, दया, मार्दव, क्षमा और अद्रोह—ये प्रायः अहिंसाके ही पर्याय हैं। अठारहवें अध्यायके २५वें श्लोकमें बतलाया गया है कि हिंसाका विचार न करके जो कर्म किया जाता है, वह तामस है। छठे अध्यायके बत्तीसवें श्लोकमें लिखा है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

हे अर्जुन! जो मनुष्य सर्वत्र अपने दुःख-सुखके समान दूसरोंके दुःख-सुखको समझता है, वही श्रेष्ठ योगी है।'

पाँचवें अध्यायके पचीसवें श्लोकमें लिखा है कि 'जो सब प्राणियोंके हितमें लगे रहते हैं वे योगी निर्वाणपदको प्राप्त करते हैं।' इसी प्रकार—

निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव। (गीता ११।५५)

'हे अर्जुन! जो किसी प्राणीसे वैरभाव नहीं रखता, वह मुझ (ईश्वर) को प्राप्त होता है।'

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥

(गीता १२।४)

'अपनी इन्द्रियोंको वशमें करके सबको समान बुद्धिसे देखनेवाले और सब प्राणियोंके हितमें रत रहनेवाले ईश्वरको प्राप्त करते हैं।'

गीता ५।२९में लिखा है कि 'जो ईश्वरको सब प्राणियोंका मित्र जानता है उसको शान्ति मिलती है। श्रीभगवान् बारहवें अध्यायके तेरहवें और पंद्रहवें श्लोकमें लिखते हैं—'जो किसी प्राणीसे द्वेष नहीं करता, सबसे मैत्रीभाव रखता है, सबपर करुणा करता है, ममता और अहंकारसे रहित है, सुख-दुःखमें समबुद्धि रखता है, क्षमाशील है, वह भक्त मुझे प्रिय है।' और 'जिससे कोई प्राणी भयभीत नहीं होता और न वह किसीसे भयभीत होता है; जो हर्ष, क्रोध, भय और त्राससे रहित है—वह मुझको अत्यन्त प्रिय है।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि सांख्ययोग, कर्मयोग, भक्तियोग, तथा ज्ञानयोग—साधनावस्था और ब्रह्म-साक्षात्कारकी अवस्था—सभीमें अहिंसाकी आवश्यकता है। यही क्यों, श्रीभगवान्‌ने तो यहाँतक कह दिया है कि जो तपस्वी नहीं, वह गीता-ज्ञानका अधिकारी नहीं हो सकता (१८।६७)। और तपकी परिभाषामें अहिंसाका क्या स्थान है यह भी देख लें। अहिंसा शारीरिक तप है; किसीको दुःखित न करनेवाले प्रिय और हितकर वचन बोलना वाचिक तप है; चित्तकी प्रसन्नता, शान्ति और सौम्यता, तथा भावोंकी शुद्धि मानसिक तप है (१७।१४–१६) इस प्रकार तपके लिये तन, वचन और मनसे अहिंसाकी साधना आवश्यक है। अहिंसाको जो शारीरिक तपमें ग्रहण किया, इससे यह स्पष्ट है कि अहिंसाका सम्बन्ध केवल भावोंसे ही नहीं है, बाह्य क्रियाओं और शारीरिक कर्मसे भी है। इनमें भी हिंसा नहीं होनी चाहिये। ऐसा होनेपर ही यह अवस्था प्राप्त होती है जिसमें अहिंसाके साधकसे कोई त्रास नहीं पाता, भयभीत नहीं होता।

गीताके पहले अध्यायमें श्लोक ३८–४४ तक अर्जुनने जो कुल, जाति एवं राष्ट्रकी हानियाँ बतलायी हैं, वे युद्धके विरुद्ध लोक-हितकी दृष्टिसे भी बड़ी जबरदस्त दलीलें हैं। जिनका उत्तर गीतामें कहीं नहीं दिया गया है।

ऐसी अवस्थामें गीताके अहिंसा-सिद्धान्तकी और महाभारतके युद्ध करनेके उपदेशोंकी सङ्गति कैसे लगेगी? बहुतोंने तो अन्तःकरणमें होनेवाले धर्माधर्म-युद्धको ही महाभारत मानकर इस समस्याको हल करनेकी चेष्टा की है। परन्तु युद्धको रूपक माननेसे महाभारत और श्रीकृष्ण-अर्जुनादि पात्रोंके ऐतिहासिक अस्तित्वमें ही गम्भीर शङ्का

उत्पन्न हो जाती है। वस्तुतः अहिंसाकी साधना पूर्ण तभी हो सकती है, जब पूर्ण अपरिग्रह हो और सांसारिक प्रयोजनों और पदार्थोंके प्रति सच्ची निर्ममता और दृढ़ हार्दिक वैराग्य हो। सांसारिक जीवनमें रहते हुए अपने या दूसरोंके न्यायोचित लौकिक स्वत्वोंकी रक्षाके लिये ऐसी परिस्थितियाँ उपस्थित हो जाया करती हैं, जिनके वशमें हो जानेसे मनुष्यको हिंसामें अनौचित्य नहीं प्रतीत होता। मनमें संक्लेश भाव होकर हिंसात्मक परिणाम छिपे रहते हैं; और मनमें यदि वासनाएँ भरी हैं, क्रोधकी आग धधक रही है, तो वैराग्य या अहिंसाका दम भरना मिथ्याचार ही है। पाण्डवोंके साथ लौकिक दृष्टिसे अन्याय हुआ था, इससे अर्जुनका हृदय क्षुब्ध था। वनवासकालमें दिव्य शस्त्रास्त्रोंके लिये तपस्या करते समय उन्हें जब गुप्तवेषधारी शिवजीने तथा इन्द्रने वैराग्य और क्षमाका उपदेश दिया, तब अर्जुनने कहा था कि मेरे हृदयमें तो अपने छीने हुए राज्यको वापस लेकर कौरवोंसे बदला लेनेकी आग धधक रही है। ऐन मौकेपर अर्जुन जो युद्धसे विमुख हो रहा था, उसका कारण वैराग्य और दया नहीं, बल्कि भीष्मादि स्वजनोंके प्रति उसका मोह था। आजकल भी समाजमें बहुतेरे मनुष्य स्वजनोंके अन्याय-अत्याचारसे दिलमें कुढ़ते हुए भी उनके मोहसे जान-बूझकर कोई समुचित प्रतिकार नहीं करते, और इसको नीति समझते हैं। इसीसे लोकव्यवहारमें अनेकों वैयक्तिक और सामाजिक दुष्परिणाम होते हैं। ऐसे मोह, भय आदिको दूर करके अपनी स्थितिके अनुरूप धर्मानुकूल कर्म करनेके लिये गीताके उपदेश हैं। इसीलिये श्रीभगवान् कहते हैं—

> **तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।**
> **असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥**
> (गीता ३। १९)

आसक्तिको छोड़कर नित्य-निरन्तर कार्य (धर्मानुसार) कर्मोंको करो। क्योंकि पुरुष अनासक्त होकर कर्म करता हुआ परम पदको प्राप्त होता है।' इससे वासनाओंकी शान्ति और अन्तःकरणकी शुद्धिमें बड़ी सहायता मिलती है। अर्जुन उस समय राजसी प्रवृत्तिमें बँधे हुए थे। उसका फल तो होता ही! परन्तु इस प्रकार लोकव्यवहार करते हुए भी उसमें निष्कामता, निर्लिप्तता और विशुद्ध भावकी कैसी कठिन मर्यादाएँ गीताने बाँध दी हैं। इन मर्यादाओंका पालन कर सकनेके लिये सुदीर्घ कालतक कठोर साधन, आत्मिक और शारीरिक संयमकी आवश्यकता है। और उसके बाद भी इन मर्यादाओंके साथ लोक-व्यवहारके कर्म कर सकना बड़ा ही दुष्कर है, आगके साथ खेलना है। और अहिंसाका विचार तो फिर भी यथाशक्ति रखना ही पड़ता है (१८। २५)।

दूसरे अध्यायमें जो कहा गया है कि आत्मा न मारता है और न मारा जाता है—'नायं हन्ति न हन्यते', इससे भी हिंसाके स्थानमें अहिंसाका ही अधिक समर्थन होता है। क्योंकि ऐसा तर्क उसे ही शोभा देता है जो स्वयं दुःख-सुखके भयसे सर्वथा मुक्त हो गया हो। और ऐसी अवस्था अहिंसाके साधनकी पूर्णतासे ही उपलब्ध हो सकती है। जब आत्मा मृत्यु और सुख-दुःखसे परे है तब उसकी कोई क्या हानि कर सकता है? और उसको किसीके अत्याचार या अन्यायके प्रतिकारकी भी आवश्यकता क्यों हो सकती है? यदि इस तर्कको हिंसाका समर्थक मानें तो इससे लोकमें महान् अनर्थ हो जानेकी सम्भावना है। फिर तो खूनी, चोर, डाकू और बदमाश आदि सभी निरपराध और अदण्ड्य समझे जाने लगेंगे। महाभारतकारने युद्धके अन्तमें पाण्डवोंके पश्चात्ताप और दारुण शोकको प्रकट कर युद्धके परिणामका बड़ा ही करुण और बीभत्स चित्र खींचा है। वस्तुतः हिंसासे अहिंसा, मारनेसे सुधारना और सांसारिक अनात्म-पदार्थोंके अवलम्बनसे उनसे स्वाधीनता या आत्मनिर्भरता अधिक श्रेष्ठ है। इसलिये ये ही लक्ष्य या आदर्श भी हैं। और लोक-व्यवहारकी जो नीति इस ओर अग्रसर करती है वही प्रशस्त नीति भी है।

जिस प्रकार संन्यासवादियोंने गीताको केवल संन्यास-मार्गका प्रतिपादन करनेवाला और लोक-व्यवहारके सर्वथा अनुपयुक्त बतलाकर इसके लोकव्यवहार-प्रतिपादक शब्दोंके अर्थोंमें खींच-तान कर व्याख्या की है, उसी प्रकार कर्म-वादियोंने भी गीताको केवल सांसारिक कर्म करते रहनेका उपदेश देनेवाला ग्रन्थ बतलाकर इसके सर्वारम्भपरित्याग, विविक्त-सेवन, अनिकेतता, अपरिग्रह, असङ्गता, आत्मतृप्ति, आत्मतुष्टि, कर्मके दोष और कर्मसे नैष्कर्म्यकी श्रेष्ठता आदि शब्दोंद्वारा दिये जानेवाले उपदेशोंको खींच-तानकर उन्हें लोकव्यवहारका ही प्रतिपादक सिद्ध किया है; परन्तु गीता, वस्तुतः सर्वोच्च आदर्श और लोकव्यवहार दोनोंकी ही शिक्षा देती है। और यद्यपि अधिकांश लोगोंके लिये सुलभ होनेके कारण व्यवहार-पर बारंबार जोर दिया गया है, तथापि आदर्शकी पूर्णताकी उपेक्षा कहीं नहीं की गयी है! और न लोक-व्यवहारकी

अपूर्णता और महज साधन-स्वरूपताको ही छिपाया गया है। 'चित्तमें निर्लिप्तभाव रखकर संसारके सब कर्म करते रहनेसे ही मुक्ति मिल जायगी। अपरिग्रह, इन्द्रियभोग-त्याग आदि न तो सम्भव है, न इनकी आवश्यकता ही है।' ऐसी बातें विषयाभिलाषियों और उच्छृङ्खल आचारवालोंको खूब रुचती हैं, क्योंकि इनसे उन्हें स्वच्छन्द भोगादि करनेके लिये और उच्छृङ्खलताके समर्थनके लिये एक युक्ति—एक आत्मसमाधान-सी—मिल जाती है; परन्तु यह घोर आत्मवञ्चना—आत्मघात है। पूर्णताके लिये भाव और आचरणकी एकता आवश्यक है। जहाँ भाव सत्य और शुद्ध होंगे वहाँ शारीरिक कर्म यदि तत्काल पूर्णतया शुद्ध न भी होंगे तो वे उत्तरोत्तर शुद्ध होने शुरू हो जायँगे और अल्पाधिक कालमें सर्वथा शुद्ध और निर्दोष हो ही जायँगे। लोक-व्यवहारके कर्मोंको भी उत्तरोत्तर निर्दोष बनाते रहनेके लिये गीताने विभिन्न परिस्थितियोंसे युक्त मनुष्योंके लिये अनुकूल उपाय बतला दिये हैं।

गीता और राजनीति

(लेखक—श्रीभगवानदासजी केला)

श्रीमद्भगवद्गीता एक विलक्षण रत्नभंडार है, यह वस्तुतः गागरमें सागर है। अपनी-अपनी भावना और योग्यताके अनुसार पाठकोंने इससे पृथक्-पृथक् ज्ञान और प्रेरणा प्राप्त की है। तथापि सर्वसाधारणके लिये इसकी पृष्ठभूमि राजनैतिक ही है। इस अद्भुत कृतिने राजवंशके गृह-युद्धको अमर कर दिया है। इसके अभावमें कौरवों और पाण्डवोंकी लड़ाई इतिहासकी एक साधारण घटना होती। पर अब तो उसकी कथामें अपनी विशेषता हो गयी है। विशेषतया पाण्डवोंका महारथी अर्जुन तो निरन्तर चिन्तनका विषय बना हुआ है। अर्जुनके सामने कुरुक्षेत्रमें यह समस्या उपस्थित थी कि मैं लड़नेका कार्य करूँ या न करूँ। जीवन-संग्राममें प्रत्येक मनुष्यके सामने समय-समयपर ऐसे अवसर आते हैं, जब वह किसी-न-किसी कार्यके सम्बन्धमें इस दुविधामें होता है कि मैं उसे करूँ या न करूँ। ऐसे अवसरोंके लिये अनेक महापुरुषोंने शिक्षा और उपदेश दिया है। भगवान् श्रीकृष्णकी वाणी हमारी ध्रुव पथ-प्रदर्शिका है। गीता हमें जीवनमें पद-पदपर प्रकाश देनेवाली है। पर यहाँ राजनैतिक दृष्टिकोणसे ही विचार करें।

गीताकी शिक्षा है कि राजा, शासक या कर्मचारी सदैव अपना कर्तव्यकार्य करते रहें, कभी अकर्मण्य न रहें, साथ ही किसी कार्यमें लिप्त न हों, उसके फलकी आकाङ्क्षा न करें। जय हो या पराजय, सुख मिले या दुःख, निन्दा हो या स्तुति, धैर्य और स्थिरतापूर्वक अपने कर्तव्यका पालन करें। आज दिन कितने शासक हैं जो आराम या विलासिताका जीवन नहीं बिताते? कितने ऐसे अधिकारी हैं जो अपनी निन्दाकी बात तो दूर रही, अपने मतकी आलोचना भी शान्ति और सहनशीलतापूर्वक सुनते हैं? सबके 'दरबार' हाँ-हजूरी करनेवाले खुशामदियोंसे भरे रहते हैं। प्रत्येककी नीति अपने विरोधी दलके प्रत्येक व्यक्तिको पद-दलित करनेकी रहती है। दलबंदीमें कितनी उपयोगी शक्तिका भयङ्कर दुरुपयोग किया जाता है!

भगवान् श्रीकृष्णने बताया है कि आत्मा अमर है, इसे कोई मार नहीं सकता, यह कभी मर नहीं सकती। पर हम गीताके इस आशयके श्लोकोंको कण्ठ करके भी बात-बातमें अपनी जान बचानेकी फिकरमें रहते हैं। यदि राजनैतिक कार्य करनेवालोंका गीताके वाक्योंमें अटूट विश्वास हो तो वे सत्य और न्यायके पथसे कभी भी विचलित न हों—चाहे उनपर लाठी-वर्षा हो, चाहे उन्हें जेलकी यातनाएँ सहनी पड़ें और चाहे उन्हें सूलीके तख्तेपर ही क्यों न चढ़ाया जाय। जब कि आत्मा अमर है तो प्राणोंका क्या मोह? कोई राज्याधिकारी या कानून हमें भयभीत कैसे कर सकता है? हम फिर जन्म लेंगे और फिर जन्म लेंगे। शहीदोंके खूनकी एक-एक बूँदसे नये शहीद पैदा होंगे। क्यों न हम धर्म और न्यायके लिये अपने प्राण न्यौछावर करनेको तत्पर रहें?

अर्जुनको बताया गया था कि काम, क्रोध, लोभ, मोहको छोड़े; अपने और परायेका विचार न करे। अधर्म-पथपर चलनेवाले अपने आत्मीयको भी दण्ड देनेमें संकोच न करे। आज दिन कौन-सा सभ्यताभिमानी राष्ट्र है जो अपने मुँह लगे लाड़ले बेटोंकी बेजा हरकतोंपर यथेष्ट नियन्त्रण करता है। प्रत्येक साम्राज्यके अधिनायक दूसरे देशोंको हड़पनेकी फिकरमें हैं, उसके लिये नित्य नये दाव-घात खेले जा रहे हैं। संसारकी मानव-जनता प्रति घड़ी अनिष्टकी

आशङ्का कर रही है, न जाने कब कहाँ प्रलयका दृश्य उपस्थित हो जाय। आधुनिक कालमें राजनीतिका अर्थ कुटिल नीति हो चला है। शासकोंकी तृष्णापर कोई प्रतिबन्ध नहीं, उनकी आकाङ्क्षा और शोषण-कार्यपर कोई अंकुश नहीं। राजनीतिका अध्ययन छल, कपट, चालबाजियों और षड्यन्त्रोंका अध्ययन हो गया है। अनेक शान्तप्रकृति और सरल हृदयके व्यक्तियोंके लिये राजनैतिक कार्योंमें भाग लेना कठिन हो जाता है। क्या हम राजनीतिकी गंदगीको दूर नहीं कर सकते ? यदि संसारके सञ्चालनके लिये राजनीतिकी आवश्यकता और उपयोगिता है, तो राजनीतिको शुद्ध और सात्त्विक बनाना भी आवश्यक है। इसके लिये गीता हमारी महान् पथ-प्रदर्शिका है। क्या संसारके राष्ट्र-सूत्रधार इस ग्रन्थ-रत्नसे लाभ उठावेंगे और अपना वास्तविक कल्याण करनेकी ओर ध्यान देंगे ?

श्रीगीता-महिमा

(लेखक—श्रीकुँवर बलवीरसिंह, 'साहित्य-भूषण')

हरि-मुख-पङ्कज-प्रकट, पार्थ-उदबोधन-कारिणि।
व्यास महामुनि-रचित महाभारत-सञ्चारिणि॥
द्वैत-दैत्य-दल-दरणि, निखिल श्रुति-तत्त्व-प्रचारिणि।
ब्रह्मात्मैक्य-पियूष-प्रवाहिनि, भव-भय-हारिणि॥
जय दयामयी गीते ! जननि, महामोह-तम-नाशिनी।
जय जयति दास 'बलवीर' हिय ज्ञान-दिनेश-प्रकाशिनी॥

ब्रह्मानन्द-रसकी है विमल सरिता किधौं ?
कैधौं वर वाटिका है मुक्ति महारानीकी ?
कृष्णचन्द्र-हियकी कै मंजु चन्द्रकान्त मणि ?
कैधौं है सुहागबिन्दी व्यास मुनि-बानीकी ?
कैधौं शारदीय पूर्ण चन्द्र-चन्द्रिका है चारु ?
निधि है अमूल्य किधौं योगि-ऋषि-ज्ञानीकी ?
वेद-शीर्ष-सरकी कै सुन्दर सरोजिनी है ?
कैधौं 'बलवीर' गीता मूरति भवानीकी ?

गीते ! है प्रभाव तेरा विदित त्रिलोकी माहिं,
क्षणहीमें माया, मोह, लोभको मिटाती है।
ज्ञान-चक्षु खोलके, विकार सब दूर कर,
पावन परम मुक्ति-मार्ग दरसाती है॥
भाषै 'बलवीर' राग-द्वेषकी विनाशिनी तू,
जीव-ब्रह्म-भेद जन-चित्तसे हटाती है।
पूर्ण भक्ति-भावयुक्त पारायणकारी सदा
नरको तू नारायण सन्तत बनाती है॥

फिरता है तरुणी-कपोल-युग पल्लव पै, विभव-मालती पै मँडलाता निर्द्वन्द्व तू।
आशा-धन-तृष्णादिक-बकुल-गुलाब-रस-पानहेतु जाता जहाँ पाता दुख-फन्द तू॥
कहै 'बलवीर' मुँह मोड़ भोग-कुसुमोंसे, मान ले हमारी सीख, छोड़ छल-छन्द तू।
एरे मतिमन्द मेरे मानस-मिलिन्द ! चाख कृष्ण-अरविन्दका अपूर्व मकरन्द तू॥

गीतामें भगवान्‌के सुलभ होनेका एकमात्र उपाय

(लेखक—पं० श्रीरामनारायणदत्तजी पाण्डेय 'राम', व्याकरण-साहित्य-शास्त्री)

यों तो श्रीमद्भगवद्गीतामें मनीषी महात्माओंने अनेकों मननीय सिद्धान्तोंका अनुसन्धान किया है—किसीने कर्मयोग, किसीने ज्ञानयोग और किसीने एकमात्र भक्तियोगको ही गीताका मुख्य प्रतिपाद्य बताया है। कोई इनमेंसे दो या तीनों निष्ठाओंको समानरूपसे प्रधानता देते हैं। भिन्न-भिन्न आचार्योंकी साधनप्रणालियाँ विभिन्न प्रकारकी हैं, और सभी गीताद्वारा किसी-न-किसी रूपमें अनुमोदित हैं; तथापि इन सभी सिद्धान्तों, निष्ठाओं और साधनकी विभिन्न पद्धतियोंका जिस एक चरम साधनमें पर्यवसान होता है; जिस मुख्य साधनको ही साधनेके लिये ये सभी गौण और अवान्तर साधन काममें लाये जाते हैं—वही भगवान्‌के सुलभ होनेका सर्वप्रधान और एकमात्र साधन है। उसीका समस्त गीताशास्त्रमें विभिन्न प्रकारसे प्रतिपादन हुआ है और उसका ही आश्रय लेकर सभी श्रेणीके साधकोंको भगवान्‌की प्राप्ति होती है। जो इस रहस्यको समझकर शीघ्र-से-शीघ्र उसी चरम साधनको अपनाते हैं, उन्हें ही भगवान् सुलभ हैं। अन्यान्य साधनोंसे चलकर भी भगवत्प्राप्ति होती है, किन्तु उनमें उतनी शीघ्रता और सुलभता नहीं है। कारण कि वे सभी साधन इस गीतोक्त मुख्य साधनके ही अङ्ग हैं, उनके द्वारा इसीकी प्राप्ति होती है और इसका पूर्ण अभ्यास होनेपर भगवान् शीघ्र ही प्राप्त होते हैं। यह आवश्यक नहीं कि इस चरम साधनको प्राप्त करनेके लिये किसी खास तरहके मार्गका ही अवलम्बन करना पड़ेगा; भगवान्‌के वचनोंपर श्रद्धा और अटल विश्वास होनेपर प्रारम्भसे ही उस चरम साधनका अभ्यास किया जा सकता है। श्रद्धा-विश्वासकी कमी होनेपर तो किसी भी साधनमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती!

वह चरम साधन है अनन्यचिन्तन! भगवान् कहते हैं—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥
(८।१४)

'हे अर्जुन! जो अपने मनको कहीं और न लगाकर सदा-सर्वदा मेरा ही स्मरण करता है, उस नित्ययुक्त योगीके लिये मैं सुलभ हूँ।'

सम्पूर्ण गीतामें 'सुलभ' शब्दका प्रयोग केवल इसी श्लोकमें हुआ है। अनन्यचिन्तन करनेवालेको ही भगवान् सुलभ हैं, दूसरेको नहीं। गीतामें सर्वत्र इस अनन्यचिन्तनकी महिमा गायी गयी है। नवें अध्यायके तेरहवें श्लोकमें अनन्यचित्तसे भजन करनेवालोंको 'महात्मा' कहा गया है—

'महात्मानस्तु मां पार्थ……भजन्त्यनन्यमनसः।'

अन्यान्य वचनोंपर भी दृष्टिपात कीजिये—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
(९।३०)

'अत्यन्त दुराचारी होकर भी जो मुझे अनन्यभावसे भजता है, वह साधु ही मानने योग्य है; क्योंकि उसने बहुत उत्तम निश्चय कर लिया है।'

अनन्यभावसे भजन मनोयोगद्वारा ही होता है; अतः यहाँ भी अनन्यचिन्तनकी ही प्रशंसा की गयी है।

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
(८।२२)

'हे पार्थ! वह परम पुरुष अनन्यभक्ति (अनन्यचिन्तन) से ही प्राप्त होने योग्य है।'

'अनन्याश्चिन्तयन्तो माम्' (९।२२)। **'भक्त्या त्वनन्यया शक्यः'** (११।५४)। **'मत्परमः'** (११।५५)। **'मत्पराः। अनन्येनैव योगेन'** (१२।६)। **'मयि चानन्ययोगेन भक्तिः'** (१३।१०)। **'मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः'** (६।१४)। **'मच्चित्तः सततं भव'** (१८।५७)। **'मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि'** (१८।५८)। **'मच्चित्ता मद्गतप्राणाः'** (१०।९)। **'भावसमन्विताः'** (१०।८)। **'सततयुक्तानाम्'** (१०।१०)। **'मद्गतेनान्तरात्मना'** (६।४७)। **'नित्ययुक्त एकभक्तिः'** (७।१७)। **'अव्यभिचारेण भक्तियोगेन'** (१४।२६) —इत्यादि बहुत-से वचनोंद्वारा शब्दान्तरसे अनन्यचिन्तनपर ही जोर दिया गया है। अन्तःकरणकी वृत्तियाँ भगवान्‌में लगाये बिना भावसमन्वित, नित्ययुक्त, तत्पर, तच्चित्त अथवा तद्गतान्तरात्मा होना असम्भव है। तथा आन्तरिक वृत्तियोंका भगवान्‌में निरन्तर लगे रहना ही अनन्यचिन्तन है।

कर्म, ज्ञान और भक्ति—सभी निष्ठाओंमें अनन्यचिन्तन ही ओत-प्रोत है। किसी भी मार्गसे साधना करनेवाले अनन्यचिन्तनका ही अभ्यास करते हैं। इस प्रकार यद्यपि सभी साधकोंका वस्तुतः एक ही मार्ग है, तो भी प्रारम्भमें साधनाके बाह्य स्वरूपमें विभिन्नता देखकर भिन्न-भिन्न नाम रख लिये गये हैं। अनन्यचिन्तनकी दृष्टिसे सभी एक मार्गके पथिक हैं और सबकी एक ही मंज़िलपर पहुँचनेकी तैयारी है। इस तथ्यपर ध्यान न देकर हम एक दूसरेको विभिन्न मार्गावलम्बी—अन्य मतावलम्बी मानकर व्यर्थका मत-भेद बढ़ाते हैं। एक मार्गका आश्रय लेकर दूसरेको छोटा और अनुपयोगी सिद्ध करते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि तटस्थ व्यक्ति, जो किसी एक कल्याणमय साधनमार्गका जिज्ञासु है, सन्देहमें पड़ जाता है। उसे यह निश्चय नहीं हो पाता हम किस पथका आश्रय लें। सभी उसे अपनी ओर खींचते हैं, सभी दूसरोंको भ्रान्त सिद्ध करनेकी चेष्टा करते हैं। हमारा दृष्टिकोण संकुचित और साम्प्रदायिक होता जा रहा है। तथा इसी भेद-दृष्टिके कारण हम अपने ही साथ दूसरोंको भी परमार्थ-पथसे दूर लिये जा रहे हैं।

साधनाके बाह्य या स्थूल रूप एक-ही-दो नहीं, अनन्त हो सकते हैं, जितने साधक उतने हो सकते हैं; किन्तु उसका आन्तरिक या सूक्ष्म रूप एकसे अधिक नहीं होना चाहिये, जहाँ इन सभी बाह्य भेदोंका समन्वय हो सके। हम कर्म, ज्ञान या भक्ति—किसी भी पथका अवलम्बन करें, किसी भी सम्प्रदायके अनुसार हमारी रहन-सहन या पूजन-पद्धति हो—यह साधनाका बाह्य स्वरूप ही है। आन्तरिक रूप तो बस, वही एक है—भगवान्‌का अनन्यचिन्तन, जहाँ सभी ऊपरी भेदोंका समन्वय होता है। इस दृष्टिसे हम सभी एक पथपर, एक साथ हैं—हमारे बाह्य रूपोंमें भले ही भिन्नता दिखायी दे। ऐसी स्थितिमें हम क्यों किसीको अपनेसे छोटा या भ्रान्त समझें? हम सबका उद्देश्य तो एक ही है।

भोजन बनानेके लिये चूल्हेपर रक्खी हुई बटलोईके नीचे आँच लगानेकी आवश्यकता है। वह आँच लकड़ी जलानेसे हो या कोयला, अथवा मिट्टीके तेलसे हो। तेज आँच होनी चाहिये, फिर तो भोजन शीघ्र तैयार हो ही जायगा। इसी प्रकार हम सभी साधकोंको अपने हृदयमें अनन्यचिन्तनकी ज्वाला जगानी है; वह जिस तरह भी प्रज्वलित हो, इसके लिये प्रयत्न करना है। इसके बाद तो भगवत्प्राप्ति सुलभ है ही। कोयलेसे आग जलानेवाला व्यक्ति लकड़ी जलानेवालेको अयोग्य या भ्रान्त नहीं कह सकता। यही भाव हम सभीमें होना चाहिये। सभी पूज्य और महानुभाव आचार्योंने लोक-कल्याणके लिये ही अपने-अपने अनुभवमें आये हुए साधनोंका प्रचार किया है; अतः हमें उन सबका आदर करना चाहिये। किसीको छोटा-बड़ा या भ्रान्त कहनेका साहस करना उचित नहीं; क्योंकि उन सभीके द्वारा हम अनन्यचिन्तनके पथपर चल सकते हैं। साथ ही यह भी निश्चय नहीं कर लेना चाहिये कि अबतक साधनाके जितने बाह्य रूप आचार्योंद्वारा व्यक्त हो चुके हैं उनके अतिरिक्त दूसरा प्रकार हो ही नहीं सकता। क्योंकि बाह्य रूप व्यक्तिगत हैं, अतः उनकी संख्या या इयत्ता नहीं हो सकती।

कर्मयोगी, ज्ञानी और भक्त—ये सभी साधक किस प्रकार एक साथ अनन्यचिन्तनके पथपर चल रहे हैं! देखिये—कर्मयोगीके लिये भगवान्‌के अनन्यचिन्तनमें बाधक है फलकी कामना जबतक वह लोक या परलोकके भोगोंके लिये कर्म करता है, तबतक भोगोंका ही चिन्तन करता है, उससे परमात्माका चिन्तन नहीं हो सकता। इसीलिये गीता कर्मयोगीको यह आदेश देती है कि वह फलकी कामना त्याग कर भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार शास्त्रविहित कर्म करे। इस आज्ञाके अनुसार वह भोगोंकी इच्छासे नहीं, भगवान्‌की अनुज्ञासे उनकी प्रसन्नताके लिये कर्म करता है, उसके सारे विधान उसे भगवान् और उनके आदेशका स्मरण कराते रहते हैं। जिन कर्मोंसे वह भोगोंकी आराधना करता था उनसे भगवान्‌की आराधना होने लगती है। और इस प्रकार वह अनन्यचिन्तनपूर्वक कर्म करते हुए भगवान्‌को प्राप्त हो जाता है—

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।

कर्मयोगीके लिये अनन्यचिन्तनकी स्पष्ट आज्ञा भी है—'मामनुस्मर युध्य च'—मेरा निरन्तर स्मरण करते हुए युद्ध कर। 'युद्ध' शब्द यहाँ अपने-अपने वर्ण और आश्रमके लिये विहित समस्त शास्त्रीय कर्मोंका उपलक्षण है।

ज्ञान-मार्गमें भी अनन्यचिन्तनका ही आश्रय लिया जाता है। जीव अनादिकालसे अपने स्वरूपको भुलाये बैठा है। यह आत्मविस्मरण ही उसका अज्ञान है। संसार उसके समक्ष आवरण डाले खड़ा है; इसलिये वह अपने परमात्म-स्वरूपका अनन्य स्मरण नहीं कर पाता, संसारका स्मरण उसे बराबर बाधा दे रहा है। इसके अतिरिक्त मल और विक्षेप भी उसे अपने स्वरूपसे च्युत किये हुए हैं। इन सबको दूर

करके वह अपने स्वरूपमें प्रतिष्ठित होना चाहता है; अतः वह प्रमाणों और युक्तियोंसे जगत्का बाध करता है, ध्यानके द्वारा तत्त्व-साक्षात्कार करना चाहता है। उसका यह सारा प्रयत्न अपने स्वरूपभूत ब्रह्मके अनन्यस्मरणका ही है। जिसके लिये अनन्यचिन्तन स्वाभाविक हो गया है, वह सर्वत्र एकमात्र सच्चिदानन्दघन वासुदेवकी ही अखण्ड सत्ता देखता है; उसकी दृष्टिमें जगत्नामक कोई वस्तु नहीं रह जाती। गीतामें कहा है—

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥

'सब कुछ भगवान् वासुदेव हैं, वासुदेवके सिवा दूसरा कुछ है ही नहीं—ऐसा समझनेवाला महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।'

'सब कुछ वासुदेव ही है' ऐसा समझना भगवान्का अनन्य स्मरण ही है। अनन्य स्मरण करनेवालेको महात्मा कहकर अनन्यचिन्तनकी ही प्रशंसा की गयी है। 'महात्मानस्तु मां पार्थ' इस श्लोकमें भी अनन्य मनसे भजन करनेवालेको महात्मा कहा है।

भक्तिमार्गमें भी संसार बहुत बड़ा बाधक है, भोगोंमें आसक्ति मनको परमात्माकी ओरसे बरबस खींच लेती है। किसी शत्रुको देखकर मनमें उत्तेजना होती है, प्रतिहिंसाकी भावना जाग्रत् हो उठती है; ऐसी स्थितिमें विक्षिप्त चित्तसे भजन कैसे हो? इन बाधाओंको दूर करनेके लिये गीतामें विभूतियोग आदिके द्वारा सम्पूर्ण जगत्को भगवान्का ही स्वरूप बताया गया है। जो कुछ दृष्टिमें आता है, वह सब भगवान्का ही स्वरूप है, भगवान् ही सबमें व्याप्त और सबके आधार हैं। ऐसी धारणा होनेपर उपर्युक्त बाधाएँ नहीं ठहर सकतीं। जगत्में भोग्य-बुद्धि हटकर ईश्वर-बुद्धि हो जाती है। सारा विश्व अपने आराध्यदेवकी ही प्रत्यक्ष झाँकी कराने लगता है। ऐसी दशामें विरोध भी किसीसे कैसे हो?

निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध।

यह स्थिति हो जानेपर अपने-आप अखण्ड चिन्तन होने लगता है। गीता बारहवें अध्यायके तेरहवें-चौदहवें श्लोकोंमें जो प्रिय भक्तके लक्षण बताये गये हैं, उनमें 'मय्यर्पितमनोबुद्धिः' कहकर मन-बुद्धिको भगवान्में लगाये रखना अर्थात् केवल भगवान्का ही अनन्यचिन्तन करना अन्तिम लक्षण बताया गया है। इससे भी अनन्य स्मरणकी महत्ता स्पष्टरूपसे प्रतिपादित होती है। इस प्रकार गीताके उपदेशका सारभूत अंश यही है कि मनुष्य निरन्तर भगवान्का ही स्मरण करता रहे। अनन्यचिन्तन ही भगवान्के सुलभ होनेका एकमात्र साधन है। इसलिये प्रत्येक साधकका यह कर्तव्य है कि वह जैसे भी सम्भव हो, भगवान्के अनन्यचिन्तनका प्राणपणसे प्रयत्न करे; क्योंकि यही जीवनका चरम उद्देश्य है।

तन्मयता

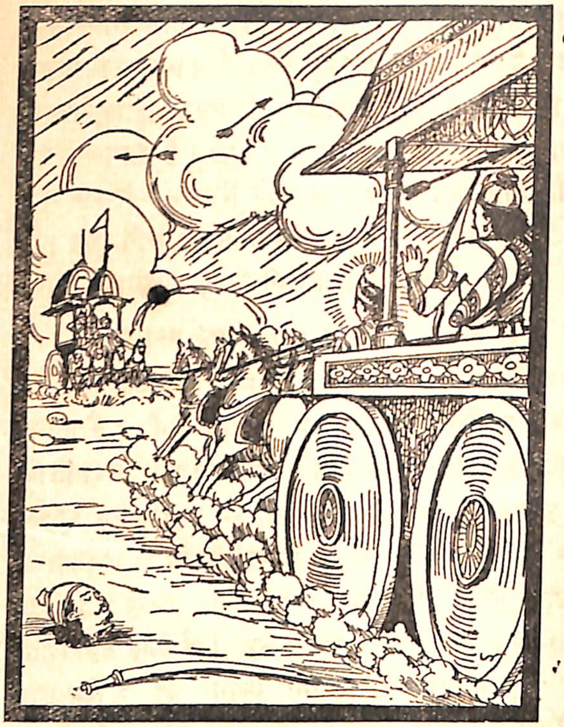
आँखें जब खोलूँ तब छटा ही तुम्हारी दिखे,
चाहे जिस ओरसे मैं दृष्टिको पसार लूँ।
कान जब सुने तो तुम्हारा कीर्त्ति-नाद एक,
भावनासे वस्तुओंमें तुमको विचार लूँ॥
बोल जब बोला करूँ तब हो तुम्हारी कीर्त्ति,
ध्यानमें तुम्हारी मञ्जु-मूर्त्ति उर धार लूँ।
यत्र-तत्र देखूँ तब तुम्हें ही सर्वत्र पाऊँ,
मित्र या कलत्रमें भी तुमको निहार लूँ॥

—प्रेमनारायण त्रिपाठी 'प्रेम'

अर्जुन



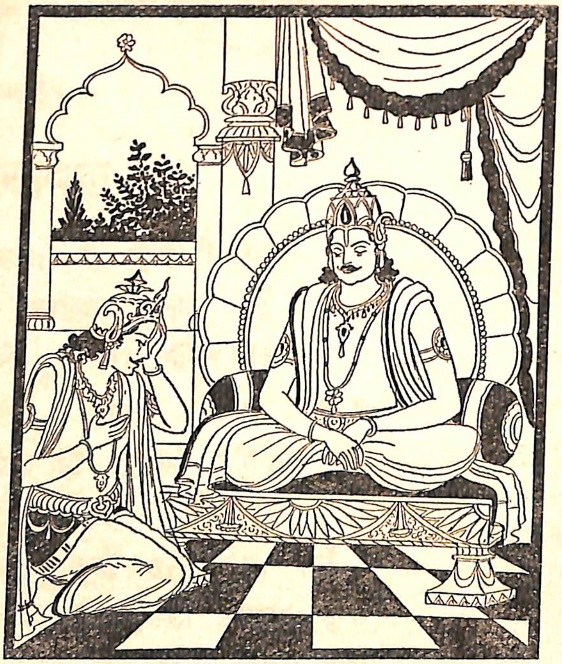
जयद्रथ-वध



कर्णके बाणसे रक्षा



अनुगीताका उपदेश



भगवान्‌के परमधाम-गमनपर अर्जुनका शोक

भगवद्गीता-समय-मीमांसा

(लेखक—पं० श्रीइन्द्रनारायणजी द्विवेदी)

गीतारहस्य-परिशिष्टप्रकरणके पृष्ठ ५२२में लोकमान्य तिलकने लिखा है कि 'भाषासादृश्यकी ओर देखिये या अर्थसादृश्यपर ध्यान दीजिये, अथवा गीताके विषयमें जो महाभारतमें छः-सात उल्लेख मिलते हैं उनपर विचार कीजिये; अनुमान यही करना पड़ता है कि गीता वर्तमान महाभारतका ही एक भाग है और जिस पुरुषने वर्तमान महाभारतकी रचना की है उसीने वर्तमान गीताका भी वर्णन किया है।'

आगे चलकर पृष्ठ ५४८ में लोकमान्यने लिखा है कि 'भागवत तथा विष्णुपुराणमें जो यह लिखा है कि परीक्षित् राजाके जन्मसे नन्दके अभिषेकतक १११५ अथवा १०१५ वर्ष होते हैं (श्रीमद्भा० १२।२।२६ और श्रीविष्णु० ४।२४।३८), उसीके आधारपर विद्वानोंने अब यह निश्चित किया है कि ईसवी सन्‌के लगभग १४०० वर्ष पहले भारतीय युद्ध और पाण्डव हुए होंगे।' इसके भी आगे पृष्ठ ५७० में उन्होंने वर्तमान गीताके विषयमें स्पष्टरूपसे लिखा है—'इन सब प्रमाणोंपर विचार करनेसे इसमें कुछ भी शङ्का नहीं रह जाती कि वर्तमान भगवद्गीता शालिवाहन शकके लगभग पाँच सौ वर्ष पहले ही अस्तित्वमें थी। डाक्टर भाण्डारकर, परलोकवासी तैलङ्ग, रायबहादुर चिन्तामणिराव वैद्य और परलोकवासी दीक्षितका मत भी इससे बहुत कुछ मिलता-जुलता है और उसीको यहाँ ग्राह्य मानना चाहिये।' इसी पृष्ठमें आगे चलकर लिखते हैं—'यह बात निर्विवाद है कि वर्तमान गीताका काल शालिवाहन शकके पाँच सौ वर्ष पहलेकी अपेक्षा और कम नहीं माना जा सकता। पिछले भागमें यह बतला आये हैं कि मूलगीता इससे भी कुछ सदियोंसे पहलेकी होनी चाहिये।

गीताका काल-निरूपण करते हुए रा० ब० चिन्तामणि वैद्यजीने गीताङ्कमें लिखा है—'जिस रूपमें आजकल हमें गीता प्राप्त है, उसके इस रूपका काल अनिश्चित है। परन्तु कई प्रमाण ऐसे हैं जिनसे स्थूल रूपमें यह अनुमान होता है कि ईसामसीहसे लगभग १४०० वर्ष पूर्व इसका निर्माण हुआ था।'

इससे अधिक हम इस विषयमें कुछ न लिखकर वर्तमान भगवद्गीताके कालकी मीमांसा करेंगे। जिन महापुरुषोंने अबतक वर्तमान भगवद्गीताके कालका निरूपण किया है, उनकी इस युक्तिका प्रमाण हमको अबतक नहीं मिलता कि 'मूलगीतासे भिन्न वर्तमान गीता है और इसकी रचना वर्तमान महाभारतकी रचनाके साथ हुई है। भाषा और अर्थ-सादृश्यकी दृष्टिसे भगवद्गीता और महाभारतकी रचनाके समय-का एकीकरण करना युक्तियुक्त नहीं और महाभारतमें जो गीताविषयक छः-सात उल्लेख मिलते हैं उनसे भी भगवद्गीता-का समय महाभारतके समयके पूर्वहीका प्रमाणित होता है, न कि समकालीन।

महाभारतयुद्धका समय ही भगवद्गीताका समय है, इसमें सन्देह नहीं। अवश्य ही इसका सम्पादन भगवान् वेदव्यासने अपने महाभारत, भारत अथवा जयनामक इतिहासके साथ किया—यह प्रमाणित है। अतएव इस वर्तमान भगवद्गीताका समय महाभारतयुद्धके पश्चात् और जनमेजयके यज्ञके प्रथमका है, क्योंकि जनमेजयके यज्ञके समय भारतकी कथा सुनायी गयी थी।

यद्यपि लोगोंने भ्रमसे यह लिख दिया है कि महाभारत-युद्धके ५१ वर्ष बाद पाण्डवोंका स्वर्गारोहण हुआ*, तथापि गान्धारीके शापसे भलीभाँति प्रमाणित है कि युद्धके ३६वें वर्ष यदुवंशका संहार हुआ और उसी समय पाण्डवोंका स्वर्गारोहण भी हुआ। अतएव महाभारतयुद्धके ३६वें वर्ष परीक्षित्‌का अभिषेक हुआ और अभिषेकके ३६वें वर्ष उनका परमपद हुआ और जनमेजयका राज्याभिषेक हुआ। ऐसी दशामें जनमेजयके यज्ञका समय, जिसमें व्यासकृत महाभारतकी कथा सुनायी गयी थी, महाभारतयुद्धके पश्चात् ७२ से १०० वर्षतकका मानना अनुचित न होगा और उससे पहले ही वर्तमान मूल भगवद्गीताका सम्पादन हो चुका था, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं।

अब हमको देखना चाहिये कि महाभारतका युद्ध कब हुआ। यद्यपि इस युद्धके समयके विषयमें ऐतिहासिक विद्वानोंमें बहुत बड़ा मतभेद है, तथापि महाभारतयुद्ध-कालके निश्चय करनेमें संस्कृतसाहित्य—विशेषकर पौराणिक साहित्य ही एकमात्र आधार है; अतएव यदि पक्षपातकी भावना त्याग

* म० म० पं० गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझारचित 'भारतीय प्राचीन लिपिमाला' पृ० १६२की टिप्पणी १को देखिये।

दें तो एक ही प्रमाणके आधारपर अनेक मतका होना कदापि सम्भव नहीं।

श्रीमद्भागवत (नवम और द्वादश स्कन्ध), श्रीविष्णुपुराण (चतुर्थ अंश), वायुपुराण (अध्याय ३७), मत्स्यपुराण (अध्याय २७३) और ब्रह्माण्डपुराण (म० भा० ३ पा०) में जो भविष्य राजावली और उनके राजत्वकालका वर्णन मिलता है, आधुनिक विद्वानोंकी दृष्टिमें उनमें परस्पर मतभेद दिखलायी देता है; किन्तु निष्पक्षदृष्टिसे देखें तो इन सभी पुराणोंके भविष्य वर्णन किसी एक ही स्थानसे लिये गये हैं और लेखक-प्रमादके अतिरिक्त उनमें इतनी शब्दशः और अर्थशः समता है कि कोई विद्वान् उनको भिन्न-भिन्न कहनेका साहस ही नहीं कर सकता। सविवरण राजत्वकालकी ओर ध्यान न देकर जो परीक्षित्के जन्मसे नन्दके अभिषेकतककी वर्षगणनाके पौराणिक श्लोकका मनमाना अर्थ करके युद्धके समयको आधुनिक सिद्ध करनेकी चेष्टा करते हैं, उनको देखना चाहिये कि सप्तर्षिके नक्षत्र-चारके आधारपर कितना स्पष्ट वर्णन है—जिससे प्रमाणित होता है कि महानन्दके अभिषेक और परीक्षित्के जन्म (युद्धकाल) के बीच १५०० वर्ष होते हैं।

यद्यपि 'कल्याण' (भाग ४ सं० २) में गीताङ्कके सम्बन्धसे जो भगवद्गीताका समय हमने लिखा था, उनमें सप्रमाण यह सिद्ध किया है कि महाभारतयुद्धका समय कलियुगारम्भका समय है और कलियुगारम्भका समय जो ज्यौतिषसिद्धान्तोंमें लिखा है वही यथार्थ है, तथापि इस प्रसङ्गमें हम इतना और बतला देना चाहते हैं कि हमारे मतसे बुद्धनिर्वाणकाल ई० सन्के पूर्व लगभग १५०० वर्ष सिद्ध होता है और मौर्य चन्द्रगुप्त मेगास्थनीज़का 'सैंड्राकोटस' किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं होता।

कृत्तिकादि-गणना और मार्गशीर्षादि मासगणनाके आधारपर तथा पाण्डवोंकी प्रतिज्ञाके १३ वर्षपर भीष्मव्यवस्थाको लेकर जो चान्द्रगणना-प्रचारका समय निकालनेकी चेष्टा करते हैं, उनका मत भी भ्रमपूर्ण है। वस्तुतः हमारी नवधा कालगणना बहुत प्राचीन है और व्यवहारमें आनेवाली चारों गणनाएँ तो वेदोंके समान ही अनादि हैं। पाण्डवोंने अपनी प्रतिज्ञा सर्वतोभावसे पूर्ण की थी। भीष्मव्यवस्थाके आधारपर चान्द्रगणनासे प्रतिज्ञापूर्तिका विषय भी ज्यौतिषज्ञान न होनेके कारण है।

सारांश यह है कि भगवद्गीताका उपदेशकाल इस विक्रम संवत् १९९६ में ५०४० वर्ष पूर्व प्रमाणित है और उसके वर्तमान रूपका सम्पादन व्यासजीने आजसे ४९४० और ४९६८ वर्ष पूर्वके बीचमें किसी समय किया है, ऐसा प्रमाणित होता है। भगवद्गीताके उपदेशका मास मार्गशीर्ष, पक्ष शुक्ल और तिथि त्रयोदशी थी—यह सर्वथा प्रमाणित है। अवश्य हमने इस समय समयाभावसे अधिक प्रमाणोंका उल्लेख इस छोटे-से लेखमें नहीं किया, अतएव सम्भव है लोगोंको हमारे मतसे सन्तोष न हो। इसलिये हम कल्याणप्रेमी विद्वानोंसे क्षमा चाहते हैं और साथ ही यह भी सूचित करते हैं कि उनकी सेवामें इस सम्बन्धमें हम स्वतः शीघ्र ही अपने सब प्रमाण भी उपस्थित करनेकी चेष्टा करेंगे।*

अमर ग्रन्थ

गीता केवल हिन्दुओंकी ही नहीं, अपितु संसारकी सभी जातियोंकी धर्मपुस्तक है। प्रत्येक मनुष्यको चाहिये कि वह इस अमर ग्रन्थको ध्यानपूर्वक एवं पक्षपातरहित होकर पढ़े, चाहे वह किसी धर्मको और किसी धर्मगुरुको मानता हो। गीताकी एक-एक पंक्ति, एक-एक शब्द पवित्र विचारोंसे सुरभित है। आध्यात्मिकता इसमें एक छोरसे दूसरे छोरतक हेमसूत्रकी नाईं ओतप्रोत है। गीताको यदि दिव्य-ज्ञानकी खानि कहें तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। इसलिये जो इसके तत्त्वको भलीभाँति समझना चाहे और इसके दार्शनिक विचारोंको अपने जीवनका एक अङ्ग बनानेकी इच्छा रखता हो, उसे चाहिये कि इसको बारंबार शुद्ध हृदयसे और अवहितचित्त होकर पढ़े।

—श्रीकैखुशरू जे० दस्तूर, एम्० ए०, एल्-एल० बी०

* इनका सविस्तर वर्णन हमने 'भारतीय ऐतिहासिक मीमांसा' के पूर्वभाग 'कालमीमांसा' में किया है, जो अभी अप्रकाशित है।

गीतावक्ता भगवान् श्रीकृष्ण

(लेखक—पं० श्रीगोविन्दनारायणजी आसोपा, बी० ए०)

श्रीकृष्णभगवान्‌के गुणोंका वर्णन करना इतना अशक्य है जितना विश्वभरकी रजके कणोंकी गणना करना है। कदाचित् ये रज-कण किसी प्रकार गिन भी लिये जा सकें, किन्तु भगवान्‌के गुणोंका अन्त पाना तो असम्भव ही है। क्योंकि भगवान्‌के गुण अगणित, अपरिमित, अतुलनीय और अनन्त हैं। जब हजार मुखवाले अनन्त (शेष) भगवान् ही भगवान्‌के गुणोंका पार नहीं पा सकते और वेद भी 'नेति-नेति' कहकर विराम लेते हैं तो अन्य कोई उनका अन्त कैसे पा सकता है ? फिर मेरे-जैसा अबोध, तुच्छ, अकिञ्चित्-कर, अज्ञ जन इस ओर साहस करे तो वह विफल ही है। तथापि भगवान्‌का गुण गानकर मैं अपनी जिह्वा और लेखनीको पवित्र करनेके लिये शास्त्रोंमें लिखे हुए अनेक गुणोंमेंसे कतिपय गुण नीचे लिखकर अपनी आत्माकी तुष्टि और जीवनकी कृतार्थता करनेका प्रयास करता हूँ।

श्रीकृष्णभगवान् अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंके रचयिता, पालक तथा संहारक हैं। वे संसारके समस्त प्राणिमात्रके अन्तरात्मा हैं। यह चर और अचररूप सब जगत् उन भगवान्‌का ही प्रत्यक्ष स्वरूप है! वे ही सबमें प्रवेश कर प्रत्यक्ष चेतनाद्वारा प्रत्यक्ष दिखायी देते हैं। वे सबके नियन्ता, प्रेरक, सञ्चालक और फलदाता हैं। वे निर्गुण-निराकार होकर भी सगुण-साकार हैं। वे ही समय-समयपर अवतार धार भू-भार हरते हैं। वे ही दुष्टोंका शासन, साधुओंकी रक्षा करते हैं। वे ही स्वयं धर्म हैं और इसीलिये धर्मकी रक्षाके वास्ते आकर अधर्मका नाश कर धर्मकी पुनः स्थापना करते हैं। वे ही एक, अद्वितीय, परब्रह्म, परमात्मा, पूर्ण-पुरुषोत्तम, सच्चिदानन्द-स्वरूप हैं। वे ही महात्मा, महापुरुष, योगेश्वर, योगीश्वर, धर्मोपदेशक, राजनीतिज्ञ, शासक, योद्धा, विजयी, कला-कुशल, तत्त्वज्ञानी, जगद्गुरु, अधर्म-निवर्तक, धर्म-निर्माता, धर्मप्रवर्तक, धर्म-संस्थापक, भूभारापहारक हैं। वे ही ईश्वर, महेश्वर, परमेश्वर, योगेश्वर, देवेश्वर, भूतेश्वर, सर्वेश्वर, ब्रह्मा-विष्णु-महेशस्वरूप हैं। वे ही सर्वान्तर्यामी, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, शरणागतवत्सल, पतितपावन, भक्तपराधीन, स्वयं-प्रकाश, स्वयम्भू, परम दयालु, दयानिधि, कृपासागर, कृपा-निधान हैं।

भगवान् श्रीकृष्णके ये ६४ गुण प्रसिद्ध हैं—

सुरम्याङ्ग, सर्वसल्लक्षणान्वित, रुचिर, तेजसायुक्त, बलीयान्, वयसान्वित (नित्यकिशोर), विविधाद्भुतभाषाविद्, सत्यवाक्य, प्रियंवद, वावदूक (चतुरवक्ता), सुपण्डित, बुद्धिमान्, प्रतिभान्वित, विदग्ध, चतुर, दक्ष, कृतज्ञ, सुदृढ़व्रत, देशकालसुपात्रज्ञ, शास्त्रचक्षु, शुचि, वशी (संयमी), स्थिर, दान्त (जितेन्द्रिय), क्षमाशील, गम्भीर, धृतिमान्, सम, वदान्य (उदार), धार्मिक, शूर, करुण, मान्यमानकृत्, दक्षिण, विनयी, ह्रीमान् (लज्जाशील), शरणागतपालक, सुखी, भक्तसुहृद्, प्रेमवश्य, सर्वशुभङ्कर, प्रतापी, कीर्तिमान्, रक्तलोक (जिनके प्रति सबका अनुराग हो), साधु-समाश्रय, नारीगणमनोहारी, सर्वाराध्य समृद्धिमान्, वरीयान्, ईश्वर, सदास्वरूपसम्प्राप्त (सदा अपने स्व-स्वरूपमें स्थित), सर्वज्ञ, नित्य-नूतन, सच्चिदानन्दसान्द्राङ्ग (सच्चिदानन्दविग्रह), सर्वसिद्धिनिषेवित (सारी सिद्धियाँ जिसके वशमें हों), अविचिन्त्यमहाशक्ति (अचिन्त्य महाशक्तियोंसे युक्त), कोटिब्रह्माण्डविग्रह (असंख्य ब्रह्माण्ड जिनका विग्रह हो), अवतारावलीबीज (सारे अवतारोंके अवतारी), हतारिगतिदायक (मारे हुए शत्रुओंको मोक्ष देनेवाले), आत्मारामगणाकर्षी (आत्माराम पुरुषोंके मनको भी बलात् आकृष्ट करनेवाले), सर्वाद्भुत-चमत्कारलीला-कल्लोलवारिधि (सम्पूर्ण अद्भुत लीला एवं चमत्कारोंको करनेवाले), अतुल्यमधुरप्रेममण्डितप्रियमण्डल (जिन्होंने असाधारण माधुर्ययुक्त प्रेमसे प्रेमीजनोंको परिपूर्ण कर रक्खा है), त्रिजगन्मानसाकर्षिमुरलीकलकूजित (मुरलीके मधुर रवसे तीनों लोकोंके निवासियोंके मनको आकर्षित करनेवाले), असमानोर्ध्वरूपश्रीविस्मापितचराचर (अपने असाधारण रूप-लावण्यसे चराचर जगत्‌को विस्मयाविष्ट करनेवाले)।

श्रीमद्भगवद्गीताके अनुसार श्रीकृष्णभगवान् समस्त प्राणियोंके पिता, पितामह, धाता, स्वामी, नियन्ता, प्रकृतिके नियामक और अध्यक्ष, कूटस्थ, अक्षर, अव्यय, पुरुषोत्तम, पर, परब्रह्म, परमात्मा, बीजप्रद, असङ्ग, अणु-से-अणु, महान्-से-महान्, चातुर्वर्ण्यके स्रष्टा, चतुराश्रमके विधाता, वर्णाश्रमधर्मके निर्माता, सर्वभूतमहेश्वर, शरणागतपालक, शरणागतवत्सल, यज्ञ-तप-दानके भोक्ता, सर्वलोक-महेश्वर, सर्वभूतसुहृद्, योगेश्वर, अपरा (जड) और

परा (चेतन) दोनों प्रकारकी प्रकृतियोंके स्वामी, जगत्के प्रभव और प्रलयकारक परात्पर, ओङ्काररूप, शब्द-ब्रह्म, अक्षर-ब्रह्म, परब्रह्म, अधियज्ञ, सर्वज्ञ, संहर्ता, शास्ता, सर्व-शक्तिमान्, सर्वरूप, सर्वगत, विराट्रूप, सर्वतोमुख, विश्वरूप, अनन्तरूप, क्रतु, यज्ञ, स्वधा, औषध, मन्त्र, आज्य, अग्नि, हुतरूप, जगत्की योनि—मातास्वरूप, जगत्के बीजप्रद पितारूप, सर्वप्रपितामहरूप, वेद्य, ज्ञेय, वेदकृत्, वेदान्तकृत्, ऋग्यजुःसामनामक वेदत्रयी, गति-भर्ता-प्रभु-साक्षी-निवास-शरण-सुहृद्रूप, जगत्के प्रभव-प्रलय-स्थिति-निधान-बीजरूप, अमृत और मृत्युरूप, सत्-असत्रूप, सत्-चित्-आनन्दस्वरूप, सर्वयज्ञोंके भोक्ता और प्रभु, शुभाशुभ फलप्रदाता, सर्वभूतसमरूप, चर-अचररूप, अगोचर, सर्वव्यापक, सर्वात्मा, सर्वान्तर्यामी, अज, अनादि, अनन्त, अनन्तस्वरूप, अनेक विभूतिस्वरूप, अनेकरूप, शाश्वतधर्म-गोप्ता, सनातन, अनादिमध्यान्त, अनन्तवीर्य, अनन्तबाहु, अनन्तशीर्षा, अनन्तमूर्ति, अनन्तपाद, अनन्तनेत्र, अनन्त-ऊरु, अनन्तोदर, जगन्निवास, कालरूप, देवेश, क्षर-अक्षर-रूप, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञरूप, आदिदेव, पुराणपुरुष, अमित-विक्रम, अप्रमेय, अधोक्षज, पूज्य, अप्रतिमप्रभाव, ईश्वर, ईड्य, चतुर्भुजस्वरूप, नित्यपूर्ण, वासुदेव, सौम्यरूप, सर्वात्मा, सर्वजीव, परमाराध्य, परमोपास्य, परम गति, परमाश्रय, आदि लोकशिक्षक, आदिगुरु, विश्वगुरु, योग-धर्म-पथप्रवर्तक, आदि उपदेष्टा, सर्वमय, सर्वातीत, सर्वोत्कृष्ट, सर्वपूज्य, पराशान्तिके आधार, मानवसमाजके गुरु, पथ-प्रदर्शक, आदर्श लोकशिक्षक, योगमायासमावृत, योगेश्वरेश्वर, एक, अद्वितीय, मायामहेश्वर, सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र, रसमय, भावमय, प्रेममय, भक्तपराधीन, भक्तिसुलभ, भोगमोक्षैकप्रदाता, हृषीकेश, हरि, विष्णु, सहस्रमूर्ति, सहस्र-बाहु, सहस्रपाद्, सहस्राक्ष, सहस्रशीर्षा, सहस्र-ऊरु, सहस्र-नाम, पुरुष, शाश्वत, सहस्रकोटियुगधारी, सर्व, विश्वेश्वर, माधव, मुकुन्द, मुरारि, नारायण, गोविन्द, कृष्ण, महाबाहु, महात्मा, मधुसूदन, भगवान्, भूतेश्वर, भूतभावन, देव, देववर, देवेश, सर्वभूतोंके आदि कारण, देवदेव, महादेव, जनार्दन, जगन्निवास, जगन्नाथ, जगत्पति, केशव, केशिनिषूदन, पुण्ड-रीकाक्ष, कमलपत्राक्ष, आद्य, आद्यकर्ता, हिरण्यगर्भ, अरिसूदन, अप्रतिमप्रभाव, अच्युत, प्रभु, विभु, लक्ष्मीकान्त, लक्ष्मीपति, श्रीनिवास, भूतेश, योगी, आत्मा, सर्वभूताशय-स्थित, सूर्य, चन्द्र, मरीचि, सामवेद, इन्द्र, मन, चेतना, शङ्कर, कुबेर, पावक, वसु, सुमेरु, बृहस्पति, स्कन्द, सागर, भृगु, ओम्, जपयज्ञ, हिमालय, अश्वत्थ, नारद, चित्ररथ, कपिलदेव, उच्चैःश्रवा, ऐरावत, राजा, वज्र, कामधेनु, सन्तानोत्पत्तिकारक कामदेव, वासुकि, वरुण, अनन्त (नाग), अर्यमा, यमराज, प्रह्लाद, काल, सिंह, गरुड़, पवन, राम-चन्द्रजी, मकर, गङ्गाजी, सृष्टिके आदि-मध्य-अन्त, अध्यात्म-विद्या, वाद, अकार, द्वन्द्व-समास, अक्षय काल, सर्वकर्म-फलप्रदाता, कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति, क्षमा, बृहत्साम, गायत्री छन्द, मार्गशीर्ष मास, वसन्त-ऋतु, द्यूत, तेज, जय, व्यवसाय, सत्त्वगुण, व्यास, शुक्राचार्य, दण्ड, नीति, मौन, ज्ञान, सर्वभूतबीज, कमलपत्राक्ष, आदित्य, वसु, रुद्र, अश्विनीकुमार, मरुत्देवता, सचराचर जगत्, महायोगेश्वर, हरि, अनेकवक्त्रनयन, अनेकाद्भुतदर्शन, अनेक-दिव्याभरण, अनेकदिव्यायुध, दिव्यमाल्याम्बरधर, दिव्य-गन्धानुलेपन, सर्वाश्चर्यमय, विश्वतोमुख, ईश, कमलासनस्थ, ऋषि, उरग, अप्रमेय, दीप्तानलार्कद्युति, किरीटी, गदी, चक्री, तेजोराशि, दीप्तिमान्, दुर्निरीक्ष्य, अनन्तरूप, शशिसूर्यनेत्र, दीप्तहुताशवक्त्र, अद्भुत, उग्र, साध्य, ऊष्मपा, दीप्तविशालनेत्र, जगन्नियन्ता, लोकक्षयकृत् काल, हृषीकेश, आदिकर्ता, सदसत्तत्पर, पुराण, विश्व-निधान, वेत्ता, परधाम, वायु, यम, अग्नि, प्रजापति, अनन्त-मुख, अमितविक्रम, यादव, चराचर लोकपिता, गुरु, गरीयान्, अप्रतिमप्रभाव, चतुर्भुज, तेजोमय, विश्व, आद्य, सौम्यवपु, महात्मा, सौम्य, अनिर्देश्य, सर्वत्रग, कूटस्थ, अचल, ध्रुव, मृत्युसंसारसागरसमुद्धर्ता, उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्ता, भोक्ता, पर, सर्वभूतसमभावस्थित, सर्वत्रावस्थित, क्षेत्री, महत्, ब्रह्म, योनि, महद्योनि, परब्रह्म-प्रतिष्ठा, अमृत-प्रतिष्ठा, अमृत, शाश्वतधर्म-प्रतिष्ठा, ऐकान्तिकसुख-प्रतिष्ठा, धरणी-धारक, औषधपोषक, प्राणिभोजन-पाचक, वैश्वानर, सर्वहृदय-सन्निविष्ट, स्मृति-ज्ञान-अपोहनकर्ता, वेदवेद्य, वेदवित्, पुरुषोत्तम, लोकविभर्ता, अन्तःशरीरस्थ, ॐ, तत्, सत्, विभक्तोंमें अविभक्त, अनेकमें एक, सर्वगुहाशय, इत्यादि-इत्यादि हैं ।

गीताका स्वाध्याय

(लेखक—श्रीवेणीराम शर्मा गौड, न्याय-वेदशास्त्री)

आज गीताको सारा संसार सम्मान और श्रद्धाकी दृष्टिसे देखता है। वास्तवमें गीता साधारण वस्तु नहीं है। यह कहना अनुचित न होगा कि गीताके समान ग्रन्थ 'न भूतो न भविष्यति' न हुआ, न होगा।

गीताका ज्ञान पूर्णरूपसे नहीं तो साधारणरूपसे प्रत्येक मनुष्यको अवश्य होना चाहिये। किन्तु गीताका ज्ञान कोई खेल-तमाशा नहीं है जो बिना परिश्रमके केवल कुछ पैसे खर्च कर देनेसे ही हर एक प्राणीको प्राप्त हो सके। इसको प्राप्त करनेका यदि सीधा और सरल मार्ग कोई है, तो वह गीताका मनन और स्वाध्याय है।

गीताका अविच्छिन्नरूपसे मनन करना ही इसका स्वाध्याय है। जिस मनुष्यने केवल गीताका ही अच्छी तरह अभ्यास कर लिया है या करता है, तो उसे अन्य शास्त्रोंके विस्तार एवं परिशीलनकी आवश्यकता ही क्या है ? उसके कल्याणके लिये तो गीताका स्वाध्याय ही पर्याप्त है। जो मनुष्य गीताका केवल पाठमात्र ही करता है उसका भी कल्याण हो सकता है, क्योंकि भगवान्ने स्वयं प्रतिज्ञा की है—

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः॥
(गीता १८। ७०)

इससे उत्तम वह है जो अर्थ और भावोंको समझकर इसका पाठ करता है। जो मनुष्य सम्पूर्ण गीताका प्रतिदिन स्वाध्याय करता है एवं रात-दिन मनन करता रहता है उसके ज्ञानका भंडार अवश्य खुल जाता है।

संसारमें सब कार्य भावनापर निर्भर हैं, जिसकी जैसी भावना होती है उसे वैसा ही फल मिलता है।

'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी'

जो व्यक्ति गीतामें श्रद्धा-भक्ति रखकर एक ही बार गीताका स्वाध्याय करता है, उसे एक बारके पाठ करनेसे ही भावनाके महत्त्वसे प्रचुर फलकी प्राप्ति हो जाती है। और जो व्यक्ति हृदयमें श्रद्धा-भक्तिकी भावना न रखकर पाठ करनेवाला है, वह चाहे गीताका अनेकों बार स्वाध्याय कर जाय, किन्तु उससे उसको उतना लाभ नहीं हो सकता। जो मनुष्य गीताका स्वाध्याय अर्थ समझकर सम्यक् रूपसे करता है और गीताके अमूल्य सारगर्भित श्लोकोंको भलीभाँति अपने तुच्छ जीवनमें कार्यान्वित कर लेता है तथा उन्हींके अनुसार चलता भी है, उसीका 'गीता सुगीता' कर लेना है और वही स्वाध्याय गीताका 'उत्तम स्वाध्याय' है।

गीतावक्ताके प्रति

(लेखक—पं० श्रीबद्रीदासजी पुरोहित)

(१)

पृथ्वीपै पाप पापी जन सब जगमें, नाथ ! फैला रहे हैं
भारी भोगी भ्रमोंके, भयहर हरिके दुष्ट द्वेषी रहे हैं।
त्यागी योगी नहीं ये, इस समय हमें कोसते हैं कृपालो !
प्रार्थी हैं दीनबन्धो ! हम, दुख हरके दर्श देना दयालो !॥

(२)

स्वामिन् ! हैं आज ऐसे अतिशय हमको कष्ट कंसादिकोंसे
काटो फाँसी हमारी, जगत जनमयी, कृष्णद्वेषी बकोंसे।
आशा-तृष्णा हटाओ, क्षय अघ सब हों भक्ति पाके कृपालो !
कर्मी-धर्मी बनेंगे हम सब, इससे दर्श देना दयालो !॥

(३)

क्लेशोंसे मुक्ति पाके, जब जन लगते आपके ध्यानमें हैं,
जो जानें आपको ही, प्रभु ! तब लगते आत्मके ज्ञानमें हैं।
वे होते हैं सबोंके परम प्रिय, प्रभो ! पूज्य, प्रेमी, कृपालो !
ऐसे भक्तादिकोंको, हरदम खुश हो, दर्श देना दयालो ! ॥

(४)

रागी संसारमें हैं, हरदम रहते मग्न मोहादिकोंमें,
भोगी रोगी न होते प्रभु सनमुख हैं जन्म-जन्मान्तरोंमें।
योगी हैं साधु सच्चे, हरिशरण हुए, भक्त वे ही कृपालो !
खोते अध्यासको हैं सतत बुध, उन्हें दर्श देना दयालो ! ॥

(५)

थे प्राणी गर्भमें ही, प्रियतम प्रभुसे की प्रतिज्ञा यही थी
हो जावेंगे विभो ! जो हम इस तमसे मुक्त, मेधा सही थी।
भूलेंगे आपको यों क्षणभर न कहीं, कामना की कृपालो !
ऐसे प्राणी प्रभो ! हैं शिवशरण, उन्हें दर्श देना दयालो ! ॥

(६)

भूमन् ! भूतादिकोंमें रमण नित करें आप सर्वात्म होके,
पालें-पोसें सबोंको, स्थिर रख करते नष्ट कालात्म होके।
विश्वात्मन् ! आपको हैं, हम सब नमते, नित्य ध्यावें कृपालो!
पर्वोंमें पूजते हैं हरदम, इससे दर्श देना दयालो ! ॥

(७)

विष्णो ! वर्णाश्रमी ही हम सब जन हैं, धर्म-कर्मादिकोंकी
सच्ची रक्षार्थ प्रार्थी इस समय हुए, टेक रक्खो उन्हींकी।
मर्यादा नष्ट होती, अहह ! अब उसे, आप रक्खो कृपालो !
आओ श्रीकृष्ण ! भूपै, फिर हम सबको दर्श देना दयालो ! ॥

(८)

ये सारे कृष्णकी ही स्तुति सतत करें जीव कल्याणकारी,
गाते हैं गीत-गीता, सुयश सब सदा भक्त, हो भीतिहारी।
जीते जी मुक्त मानी, यदुपति-यशके हो रहे हैं कृपालो !
प्रार्थी, प्रेमी उन्हींको हरदम 'बदरी' दर्श देना दयालो ! ॥

ॐतत्सत्

गीताकी सर्वश्रेष्ठता

(लेखक—पं० श्रीरामनिवासजी शर्मा 'सौरभ')

गीता ही विश्व-साहित्यमें सर्वश्रेष्ठ वस्तु क्यों है ? इसके एक नहीं असंख्य कारण हैं, परन्तु उनमें कुछ मुख्यतम निम्नलिखित हैं—

क. १. भारत और गीता २. भगवान् व्यासदेव और गीता ३. भगवान् श्रीकृष्ण और गीता ।

ख. १. त्रिकाण्ड और गीता २. समन्वय और गीता ३. सामञ्जस्य और गीता ।

ग. १. सत्य और गीता २. शिव और गीता ३. सौन्दर्य और गीता ।

घ. १. त्रिकाल और गीता २. सार्वभौम-भाव और गीता ३. सार्वजनीन-भाव और गीता ।

ङ. १. द्वैत-भाव और गीता २. अद्वैत-भाव और गीता ३. द्वैताद्वैत-भाव और गीता ।

क. अपनी जन्म-भूमि भारतवर्षके कारण भी गीता विश्व-साहित्यकी सर्वश्रेष्ठ वस्तु है । इसकी सर्वश्रेष्ठताका केवल यह एक कारण ही पर्याप्त है; क्योंकि वह भारतीय आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक पूर्ण प्रकृतिकी उपज है । कौन विज्ञ इस बातसे इन्कार कर सकता है कि भारतीय विराट् प्रकृति उक्त तीनों प्रकृतियोंका पूर्ण सुविकसित रूप नहीं है ? भारतीय भौतिक ऋतुओंकी सुन्दरता, देवतावादकी वैज्ञानिकता और अध्यात्मवादकी दार्शनिकता इस पूर्णताका ज्वलन्त प्रमाण है । साथ ही संसारके भौतिकवादी, भूतत्त्व-विशारद और प्रकृति-प्रेमी भारतीय प्राकृतिक सुषमापर लट्टू हैं, विज्ञानवादी नास्तिक भारतीय देवता-विज्ञानका लोहा मानने लगे हैं और भूमण्डलका सम्पूर्ण दार्शनिक संसार तो भारतीय अध्यात्मवादपर पहलेसे ही मुग्ध है । इसके सिवा भारतीय प्राकृतिक दृश्योंकी सुषमाके गीत, मंत्रवादके नव-नव्य परीक्षण और शङ्करके वेदान्त-तत्त्वका अधिकाधिक प्रचार-प्रसार इसी त्रितत्त्वात्मिका विराट् प्रकृतिका फल है ।

भारतीय प्राकृतिक विभिन्नता, दैविक प्रभुता और सामाजिक आध्यात्मिक प्रकृति भी इसीकी विशेषताका सबूत है । भारतीय भौतिक सौन्दर्य, आधिदैविक सत्य और आध्यात्मिक शिव भी क्रमशः भारतीय भौतिक, दैविक और आत्मिक प्रकृतिकी पूर्णताके ही चिह्न हैं । कम-से-कम भारतीय प्राकृतिक ऋतुसम्बन्धी पूर्णता और आध्यात्मिक दर्शनसम्बन्धी अजेयता तो इसके अकाट्य, अक्षुण्ण और अजर-अमर प्रमाण हैं । और आज इस दीनावस्थामें भी भारतीय भौतिक प्रकृतिके अद्भुत प्रदर्शनों और आध्यात्मिक लोकोत्तर चमत्कारोंके गीतोंसे संसारका साहित्य मुखरित और ध्वनित हो रहा है । यही कारण है कि भारतकी लोकोत्तर उपज गीता-विज्ञानकी मर्मस्पर्शिताका अनुभव भी मानव-विश्वको आज अधिकाधिक हो रहा है । गीता-विज्ञानका अधिकाधिक प्रचार-प्रसार भी इसका आनुषङ्गिक प्रमाण है ।

इस तरह हम देखते हैं कि भारतीय प्रकृति-त्रयकी कारणता ही मुख्यतः गीता-साहित्यकी सर्वश्रेष्ठताका कारण है । साथ ही इसकी सर्वश्रेष्ठतामें कार्य और कारणात्मक भावकी तार्किक सदनुभूति भी एक शास्त्रीय रहस्य है ।

सम्पूर्ण ज्ञानकी खान वेदोंके विस्तारकर्ता, वेदान्त-जैसे जगन्मान्य दर्शनके निर्माता, महाभारत और पुराणोंके रचयिता कृष्णद्वैपायन और कृष्ण वासुदेवकी रचना और प्रेरणाका होना भी गीताकी सर्वश्रेष्ठताका एक प्रबल हेतु है ।

ख. संसारके गणनातीत भौतिक, दैविक और आत्मिक तत्त्वोंका प्रतिनिधित्व करनेवाले ज्ञान, कर्म और उपासनाका समन्वय होनेसे भी गीता अपनी अद्वितीयताका एक अन्यतम उदाहरण है । और म० एस्० बी० के शब्दोंमें तत्त्वत्रयका सामञ्जस्य तो गीताकी सर्वश्रेष्ठताका विद्वन्मान्य प्रमाण है । फिर क्या साहित्य-संसारमें गीताका-सा एक भी ऐसा ग्रन्थ है, जिसमें ज्ञान, कर्म और उपासनाका 'शरणागति' आदि तत्त्वोंके द्वारा कर्मप्रधानपूर्ण सामञ्जस्य स्थापित हो सका हो । साथ ही सामाजिक दृष्टिसे भी इन तत्त्वोंका इतना विश्लेषण हो सका हो । सच तो यह है कि इन तीनों तत्त्वोंका ऐसा ऐक्य और समीकरण तो अबतक कहीं सम्भव ही नहीं हुआ । इस असम्भवताके अनेक कारण हैं, जिनका समझना-समझाना यहाँ स्थानाभावसे सम्भव नहीं ।

ग. गीता सत्य, शिव और सौन्दर्यकी भौतिक और आत्मिक मूर्ति है । इसका बाह्य प्रभाव और आन्तरिक चमत्कार इसके परिचायक हैं । इसकी ज्ञानप्रधानता, कर्मठता और भावुकता क्रमशः इसके सत्य, शिव और सौन्दर्यका द्योतक है और इन तीनोंका ऐक्य इसकी ज्ञान, कर्म और भावनाका सामञ्जस्य है । गीताकी प्रसिद्ध दार्शनिकता, संसारमान्य

कर्मठता और शरणागतिप्रधान जगत्प्रसिद्ध भावुकता अपना उदाहरण आप ही है। यही कारण है कि इसके व्यष्टिवादकी अनन्य-भावना और समष्टिवादका ऐक्य दोनों ही एक-दूसरेसे बढ़े-चढ़े हैं।

घ. गीताकी ऐतिहासिकता एक निमित्त है। अन्यथा गीता मानवीय मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तोंका जीवन-स्थापक एक सार्वदिक प्रयोग है, योग है; यही कारण है कि यह दिक्कालानवच्छिन्न है और सार्वभौम तथा सार्वजनीन-भाव ही उसकी दिक्कालानवच्छिन्नताका कारण है।

ङ. संसारमें दार्शनिक-मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तोंके कारण ही असलमें ईश्वर, जीव, अजीव और सृष्टिविषयक अनेक सिद्धान्तोंका उद्भव हुआ है। उनमें कुछ द्वैत हैं और कुछ अद्वैत और कुछ द्वैताद्वैतसमन्वित हैं। परन्तु इन सिद्धान्तोंकी भिन्नताका कारण मानवीय प्रकृतिका ज्ञान, कर्म और भावनामय होना ही है। किन्तु ईश्वरकृपासे गीताके ज्ञान, कर्म और भावनाप्रधान होनेसे वह सम्पूर्ण दार्शनिक सिद्धान्तोंसे ओतप्रोत है। वह द्वैताद्वैत आदि सभी सिद्धान्तोंसे युक्त है। सच तो यह है कि गीता गणनातीत सिद्धान्तों, वादों और तत्त्वोंकी रङ्गस्थली—रङ्गभूमि है। विचार करनेपर इसकी प्रत्येक वस्तु आपको अपना अद्भुत अभिनय दिखाती हुई मिलेगी और यह इसीलिये भी कि गीता कर्तव्यशास्त्र और व्यावहारिक प्रवचन है; उसमें सम्पूर्ण दशा, देश और समयोपयोगी तत्त्वोंका समाजोपयोगी सुन्दर प्रदर्शन है।

इन बातोंके ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक कारण ये हैं कि भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको प्रत्येक प्रकारसे समझाना चाहा है। और भगवान् व्यासने इसी रहस्यको सार्वजनीन और सार्वभौम बनानेका प्रयत्न किया है। पहले मतके समर्थक अनेक आचार्य, ग्रन्थ और स्वयं गीता है, दूसरे मतके समर्थकोंमें महात्मा गांधी-जैसे महानुभाव हैं। इस तरह गीता दार्शनिक दृष्टिसे भी प्रायः अंशतः और पूर्णतः सम्पूर्ण दार्शनिक सम्प्रदायकी वस्तु है।

म० के० डी० के शब्दोंमें गीताके द्वैतभावका कारण मनुष्य-प्रकृतिकी भावुकता, अद्वैतका कारण मनुष्य-प्रकृतिकी विशाल वैज्ञानिकता और द्वैताद्वैतभावका कारण मनुष्य-प्रकृतिकी द्वैध-वृत्ति और आपत्ति भी है।

इस तरह हम देखते हैं कि गीता व्यष्टि-समष्टिगत भाव-भावनाकी एक अपूर्व, अद्वितीय और सर्वश्रेष्ठ पुस्तक है।

ज्ञान-गीता

(लेखक—पं० श्रीदामोदरजी उपाध्याय)

श्रीमद्भगवद्गीतामें ज्ञानयोग और कर्मयोग प्रधान हैं। मानव-शरीर स्वभावसे ही कर्मशील है, इसलिये कर्मयोगियोंके लिये गीता गुरु है—यदि कहा जाय कि गीता ज्ञानियोंकी चीज है तो भी अनुचित न होगा।

जिन महर्षि व्यासजीने गीताद्वारा ज्ञानयोग और कर्मयोगका 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' मार्ग दिखलाया है, उन्हीं प्रातःस्मरणीय व्यासजीने श्रीमद्भागवतद्वारा भक्तियोगका निर्गुण मार्ग दिखलाया है। ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोगके उपदेशक एक ही आचार्य हैं; इसलिये इन तीनों योगोंका केवल एक लक्ष्य है, और वह है—भिन्न-भिन्न मार्गद्वारा श्रीभगवान्‌की आज्ञाका पालन करना।

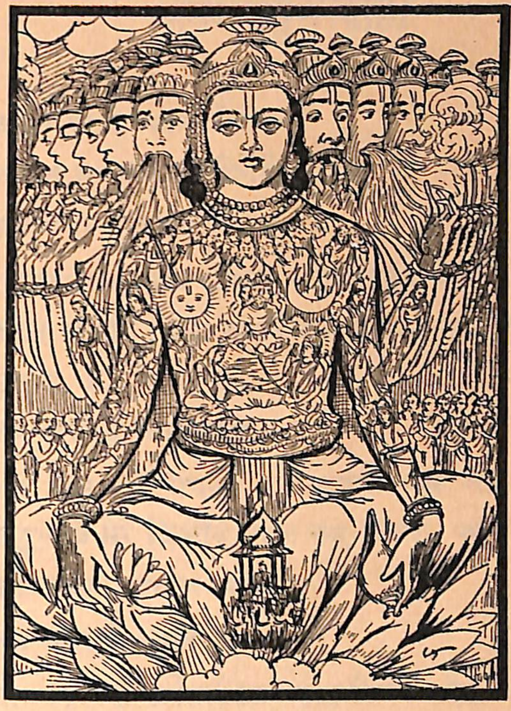
यदि मैं पूछूँ कि गीता पढ़नेवाले और सुननेवाले सज्जन क्या अर्जुन बन रहे हैं, तो शायद मेरी ढिठाई समझी जायगी। वास्तवमें गीता पढ़-पढ़ाकर जो कर्मबन्धनसे छूट जाते हैं, उन्हींका पढ़ना-पढ़ाना सार्थक है।

आज घोर कलियुगका चक्र चल रहा है। सत्ययुग, त्रेता, द्वापरसे यह कलियुग श्रेष्ठतामें कम नहीं है—कारण यह कि यह कर्मयुग है, आज दिन जो कर्मकी कसौटीपर खरा उतरता है वही धन्य है।

समय ही सदा साक्षी रहा है, आज भी है, आगे भी रहेगा। समय कह रहा है—जो गीताका सहारा ले लेगा, वह भवसागरसे पार हो जायगा—भारतवर्ष ही नहीं, संसारका कोई भी प्राणी गीताकी शरणमें पहुँचकर अपूर्व शान्तिका अनुभव कर सकता है—यह निर्विवाद सत्य है।



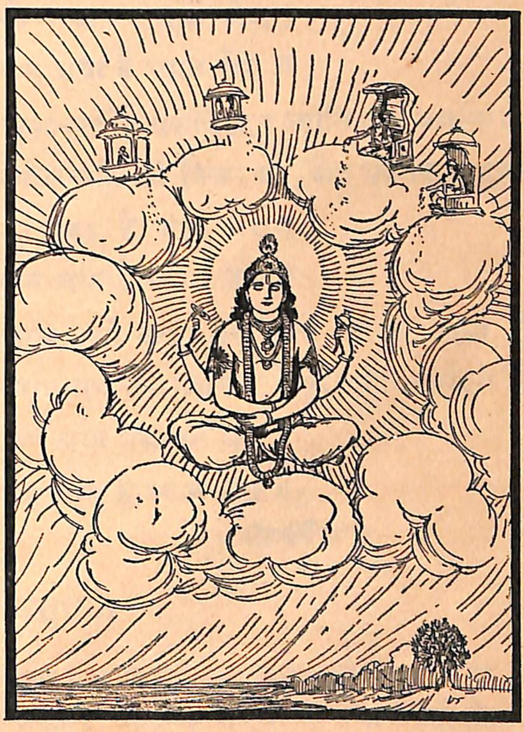
परीक्षित्-संरक्षण



उत्तङ्कपर कृपा



व्याधको आश्वासन



परमधाम-प्रयाण

गीता-गान

(रचयिता—श्रीजगदीशजी झा 'विमल')

पावन गीता-गान,
जहाँ धर्म है वहीं विजय है,
जहाँ सत्य है वहाँ न भय है,
धर्म-कर्मका होता इससे जगको सच्चा ज्ञान ॥
मोह न सम्मुख आने पाता,
संशय जोड़ न पाता नाता,
काया करती निर्मल गीता पावन यश निर्माण ॥
किसपर जीना, किसपर मरना,
किसके रिक्त भवनको भरना,
कौन जगत्‌में सच्चा अपना, हो किसका सम्मान !
जो आते वे निश्चय जाते,
व्यर्थ औरपर दोष लगाते,
माता-पिता, सहोदर, दारा, को किसकी सन्तान ॥
अपनी करणी पार उतरनी,
माया-ममता नद वैतरणी,
फूँक-फूँककर पाँव उठानेसे होता कल्याण ॥
झूठी प्रभुता, झूठा वैभव,
आकर जाते जैसे शैशव,
झूठे ही नर दिखलाते हैं जगमें अपनी शान ॥
गिरे हुएको दौड़ उठाना,
भूखेको दे पानी-दाना,
सच्चे मनसे देश दुखी हित देना अपनी जान ॥
होती हानि धर्मकी जब-जब,
आते हैं हरि दौड़े तब-तब,
विश्व-धर्मकी रक्षा करके करते हैं उत्थान ॥

अव्याप्ताभिव्याप्ति

(रचयिता—श्रीब्रह्मदत्तजी शर्मा 'नवजीवन')

जम गया है ध्यान मेरा।
ललित नव नन्दनविपिनमें जा रहा है यान मेरा ॥
जम गया है ध्यान मेरा ॥

रश्मिदलपर विश्व-सुषमा अरुणरञ्जित धार अञ्चल,
प्रकृत वीणामें मिला स्वर छेड़ती हृत्तन्त्र मृदु कल।
झूमता है प्राण मेरा।
जम गया है ध्यान मेरा ॥

जड़ गये मेरे भवनमें जगमगाते रत्न तारे,
इन्दु-रवि मेरे खिलौने, नील नभ अञ्चल पसारे।
बन गया आधान मेरा।
जम गया है ध्यान मेरा ॥

था गुरुत्वोत्कर्षणाश्रित पञ्चभौतिक देह धारे।
पर, परा सौन्दर्यको लख, खुल गये हैं बन्ध सारे।
हो गया उत्थान मेरा।
जम गया है ध्यान मेरा ॥

शुभ्र-स्वर्णिल पक्षविस्तृत ज्योति-खग आसीन होकर।
व्योम-सरितामें निखर वह, शेष भौतिक धूल धोकर—
जा रहा है गान मेरा।
जम गया है ध्यान मेरा ॥

आज उरमें चन्द्र मेरे, स्वयं उसके अङ्कमें हूँ।
विश्व-मधु मेरे अधरपर मधुर निधि-पर्यङ्कमें हूँ।
घिर गया प्रभमान घेरा।
जम गया है ध्यान मेरा ॥

गीतामें समर्पण

श्रीमद्भगवद्गीताको लाखों मनुष्योंने सुना, पढ़ा तथा पढ़ाया है और आत्माको प्रभुकी ओर अग्रसर करनेमें यह पुस्तक अत्यन्त आशाजनक सिद्ध हुई है। उसकी धारणा सर्वथा निराधार नहीं है, क्योंकि गीताका सुन्दर सन्देश अनन्त प्रेमके अभिलाषियोंके लिये प्रत्येक स्थान एवं समयपर अपनी असीम दयाकी वर्षा करना तथा जीवनके सभी कार्योंका परमात्माकी निःस्वार्थ सेवाके निमित्त समर्पण करना है।

—डा० लीओनेल डी० बैरेट

करुणासागरसे एक बूँद हेतु विनय

(रचयिता—साहित्यरत्न पं० श्रीशिवरत्नजी शुक्ल 'सिरस')

सिरसको अपनायो आपुही सरस मानि,
कहिबो निरस ताहि हँसी करिबोई है।
कूरो काँच भयो साँच हीरा जाँच जौहरीकी,
ताको तौ बजार माहिं रत्न कहिबोई है॥
बेंचनो बिचारौ औ प्रचारौ चौदहों भुवन,
लेगो कौन वाहि, नाथको निबाहिबोई है।
नीके औ नकारोकी परख अब काह करौ,
बस्तु जो बेसाह्यो गाँठि बाँधि राखिबोई है॥

अमित अपार भव-सागर न पार मिले,
बूड़ उतराते जीव बहे जाते धार हैं।
बार-बार जन्म धार करें माया-मोह प्यार,
बनते गवाँर सिर धरे भारी भार हैं॥
दीनानाथ-दरबार लें उबार इस बार,
हर दुख सरकार करुना अधार हैं।
कर है करम-तार, फेरो लिपि हरतार,
'सिरस' को तार प्रभु तू तो करतार है॥

गीता-गौरव

(रचयिता—पं० श्रीतुलसीरामजी शर्मा 'दिनेश')

कौन जाह्नवी जिसकी लहरें धो देती हैं पाप अपार?
कौन कमलिनी जिसपर करते रहते संत-भ्रमर गुंजार?
कौन गली वह जिसमें करते प्रेमी पथिक सतत संचार?
कौन ज्योत्स्ना सुधामयी, जो छिटक रही जगपर कर प्यार?
गीता है वह, गीता है वह, गीता है वह सर्वाधार॥ १॥
कौन सुरा वह जिसका मद कर देता निर्मद यह संसार?
कौन भारती जिसकी वीणा करती मुक्तिमयी झनकार?
कौन विपंची जिसपर खिँचे अलौकिक सुन्दर यौगिक तार?
कौन अग्नि वह कर देती जो पाप-पुंजको पलमें क्षार?
गीता है वह, गीता है वह, गीता है वह सर्वाधार॥ २॥
कौन घटा वह जिससे झरती रहती संतत मुक्ति-फुँहार?
कौन शुक्ति वह जिसकी गोदीमें प्रसुप्त हैं मुक्तापार?
कौन तरणि वह, जो कर देती पार पलकमें पारावार?
कौन कुंज वह जिसमें संतत करता है गोविन्द विहार?
गीता है वह, गीता है वह, गीता है वह सर्वाधार॥ ३॥
कौन सिंहिनी कर्म-गजोंको कम्पाती जिसकी हुंकार?
कौन त्रिवेणी जिसमें योगत्रयकी बहती निर्मल धार?
कौन तालिका जो देती है खोल ज्ञानके सब भंडार?
कौन राधिका जिसके उरमें बसते हैं श्रीनन्दकुमार?
गीता है वह, गीता है वह, गीता है वह सर्वाधार॥ ४॥
कौन कालिका करती शुंभ-निशुंभ शुभाशुभका संहार?
कौन भुजगिनी भेद-भाव-भ्रम-भेकोंपर भरती फुंकार?
कौन मोहिनी जिसने मोहन हेतु धरे मोहक शृंगार?
कौन ऋचा वह जिसकी ध्वनिमें बसते हैं सब विहिताचार?
गीता है वह, गीता है वह, गीता है वह सर्वाधार॥ ५॥

कौन मातृ वह जिससे बढ़कर माता और न एक उदार ?
कौन तुलसिका जिसका रस है देता संसृति-ताप उतार ?
कौन राशि वह धनकी जिसका भगवत-लाभ-युक्त व्यापार ?
कौन मार्जनी कर देती जो मार्जन मनके कलुष विचार ?
गीता है वह, गीता है वह, गीता है वह सर्वाधार ॥ ६ ॥
कौन सुभेषज जो हर लेती भयकारक भव भूरि विकार ?
कौन चातकी वासुदेवकी सिखलाती जो 'पीव' पुकार ?
कौन वायु वासंती करती सुमनों बीच सरस संचार ?
कौन मालिनी लुटा रही जो पारिजात-पुष्पोंके हार ?
गीता है वह, गीता है वह, गीता है वह सर्वाधार ॥ ७ ॥
कौन पुरी वह जिसमें बसते सकल तीर्थ, काशी-केदार ?
कौन रुक्मिणी बुला रही जो द्वारकेशको अपने द्वार ?
कौन भामिनी भूरिभागिनी है अभिन्न जिससे भर्त्तार ?
कौन गोपिका जिसके पीछे-पीछे डोल रहा कर्त्तार ?
गीता है वह, गीता है वह, गीता है वह सर्वाधार ॥ ८ ॥

कर्मयोगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णके प्रति

(रचयिता—डाँगी सूरजचन्दजी 'सत्यप्रेमी')

हे कृष्ण ! ज्ञानकी ज्योति जगा दो मनमें ।
हो कर्म-योग-व्यवहार सदा जीवनमें ॥
वंशीकी मीठी तान मुकुन्द ! सुना दो ।
हँसकर गीताका गान मनोहर गा दो ॥
भर दो उमंग, उत्साह नाथ ! नर-तनमें ।
हो कर्म-योग-व्यवहार सदा जीवनमें ॥ १ ॥
सीधोंमें सीधे और सरल बन जायें ।
छलियोंमें छलकी सकल कला बतलायें ॥
पर सत्य, अहिंसा भरी रहे चितवनमें ।
हो कर्म-योग-व्यवहार सदा जीवनमें ॥ २ ॥
दुखियोंके दुखको देख दया दिखलावें ।
छूटे करुणाकी धार अश्रु बरसावें ॥
पर रहे न ममता, मोह न्यायके रनमें ।
हो कर्म-योग-व्यवहार सदा जीवनमें ॥ ३ ॥
हम बन धीर गंभीर आत्मविज्ञानी ।
मायामें अन्धे हो न करें नादानी ॥
पर मुखपर हो मुस्कान, प्रेम पलकनमें ।
हो कर्म-योग-व्यवहार सदा जीवनमें ॥ ४ ॥
सुख-दुखमें हो समभाव, कष्ट सब झेलें ।
जग है पात्रोंका मेल, खेल सब खेलें ॥
पर भूल न जायें भान मनोरंजनमें ।
हो कर्म-योग-व्यवहार सदा जीवनमें ॥ ५ ॥
जगके द्वन्द्वोंमें बनें समन्वयकारी ।
पक्के योगी हों कर्म-कुशलता-धारी ॥
पर तजें नहीं आनन्द शुष्क दर्शनमें ।
हो कर्म-योग-व्यवहार सदा जीवनमें ॥ ६ ॥
है यह अनन्त ब्रह्माण्ड प्रकृतिकी छाया ।
इसका न आजतक पार किसीने पाया ॥
पर मौलाना बन मस्त रहें हर फ़नमें ।
हो कर्म-योग-व्यवहार सदा जीवनमें ॥ ७ ॥
दुनिया विरोधकी खान, विपदकी खाई ।
हो कठिन जहाँ कर्तव्य, करें चतुराई ॥
पर रंच मात्र हिल जायँ न सच्चे पनमें ।
हो कर्म-योग-व्यवहार सदा जीवनमें ॥ ८ ॥
चमके जबतक यह 'सूर्य-चंद' तम-हारी ।
हृदयोंमें खेलो रास निकुंजविहारी ॥
कर दो स्वतन्त्र, हम पड़े हुए बन्धनमें ।
हो कर्म-योग-व्यवहार सदा जीवनमें ॥ ९ ॥

तत्त्वोंका तत्त्व

(रचयिता—पु० श्रीप्रतापनारायणजी 'कविरत्न')

(१)

'छोड़ वंशकी शूरवीरता,
कायरतासे नाता जोड़—
हे अर्जुन ! तुम वनमें जाओ,
युद्धभूमिसे मुखको मोड़।
इस दुनियामें क्या रक्खा है,
एक ढोलकी-सी है पोल।
तुम एकाकी करो तपस्या,
राम-नाम लो या अनमोल॥

(२)

यह सारा संसार झूँठ है—
झंझट है, कर यह विश्वास—
सच्चा क्षत्रिय-धर्म त्यागकर
ले लो तुम पूरा संन्यास।
जय पानेकी इच्छा करके
क्यों खोते हो अपने प्राण ?
इस अकालमृत्यूसे तुमको
नहीं मिल सकेगा निर्वाण॥

(३)

निज कायाकी रक्षा करना
सबसे पहला धर्म ललाम।
शस्त्र डालकर रथमें तुमने,
किया बहुत ही अच्छा काम--
यह उपदेश नहीं दे सकते
वे वरवीर कृष्ण घनश्याम—
जिनकी लीलासे भारतमें
हुआ महाभारत-संग्राम॥

(४)

वे न्यायी, नीतिज्ञ, निपुण बन
कैसे कहते ऐसी बात ?
जो अर्जुन-से परम मित्रको
दे देती कलङ्क अचिरात।
किन्तु महायोगीश्वर होकर
हरिने जान कर्मका मर्म—
अर्जुनको बातों-बातोंमें
बतलाया है मानव-धर्म॥

(५)

सत्य कर्मयोगी होना ही
उनकी वाणीका है सार।
गीता क्या है, हरिका मत है,
कर्मयोग है यह साकार।
बनमें जाकर जप-तप करना
कभी नहीं है पूरा योग।
सच्चा योगी वही, नहीं जो
लिप्त हुआ भोगोंको भोग॥

(६)

दुनियाके कामोंको करके
जो है सब कामोंसे दूर।
कर्मवीरतामें जो संतत
अनासक्ति रखता भरपूर।
ज्वालामुखी, हिमालयको भी
चीज़ एक ही मनमें मान—
सभी काम जो करता रहता,
तेरा-मेरा तज अज्ञान॥

(७)

होकर जनक कई शिशुओंका
जो रहता है 'जनक'-समान।
बुरा-भला, सुख-दुःख, रात-दिन
हैं जिसके रज-कनक समान।
कामोंमें आसक्त नहीं वह
सबसे अलग, सभीके साथ।
कर्मवीरता उसके करमें,
फल देना ईश्वरके हाथ॥

(८)

सजल पंकसे पंकज निकला,
पर वह नहीं पंकसे सिक्त।
जलमें रहता, जलज कहाता;
पर वह है जलमयता-रिक्त।
जलचर पक्षी क्रीडा करते
डूब-डूब जल बीच सदेह—
गीले कभी न वे होते हैं
सलिलगेहसे रखकर स्नेह॥

(९)

चिकने घट बन, सत्य-मार्गमें
खेते जाओ अपनी नाव।
दुनियाकी बातें, जल-बूँदें
डाल सकेंगी नहीं प्रभाव।
रखकर निज कर्त्तव्य-धर्ममें
अनासक्ति, बल, साहस, सत्त्व,
काम करो निष्कामभावसे—
यह गीता-तत्त्वोंका तत्त्व॥

गीताका माहात्म्य

(लेखक—श्रीलालचन्दजी)

गीताका उद्देश्य कर्तव्य-विमुख मनुष्यको कर्तव्यपथपर निर्विघ्न बढ़ाकर—साधनाके मार्गपर ठीक-ठीक चलाकर उसे जीवन-संग्राममें विजयी बनाना है ।

साधन-मार्गमें जितनी विघ्न-बाधाएँ आती हैं, उनको स्पष्टतः साधकके सामने रखकर समस्त आधि-व्याधियोंका साहसपूर्वक सामना कराते हुए उन्हें दूर कराना, जीवन-ज्योतिको लक्षित कराकर उसीके सहारे-सहारे आगे बढ़ाना एवं इस प्रकार एक दिन साधकको पूर्णता प्राप्त करा देना ही गीताका ध्येय है ।

जीव किस प्रकार ऐश्वर्यवान्, मतिमान्, धीमान् और सर्वथा सुयोग्य होकर विनम्रतापूर्वक गुरुजनोंका आदर-सत्कार करता हुआ सच्चे ज्ञानकी उपलब्धि कर सकता है, यह दरसाना ही गीताका अभिप्राय है ।

भगवान् सबके हृदय-विहारी हैं और जगत्भरमें व्यापक भी हैं । उनके साक्षात्कारकी विधि बताना गीताका लक्ष्य है । संसारमें जनार्दन-पूजा, निःस्वार्थ जन-सेवा एवं यज्ञमय जीवन-को स्पष्ट करना गीताकी शिक्षा है । और मनुष्य सर्व-हितके लिये किस प्रकार कर्म-फलका त्याग करे, यह आवश्यक उपदेश करना गीताका काम है ।

गीतामें परम योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णने कर्म-कुशलता, समता, ऋजुता, सरलता, निर्भयता, भगवत्परायणता आदिका अपनी प्रेममयी दिव्य वाणीसे सुन्दर उपदेश दिया है । गीतामें भगवान् यह इच्छा प्रकट करते हैं कि मनुष्य पूर्ण मनुष्यत्व प्राप्त करके देवता बन जाय, तीनों गुणोंका रहस्य जानकर त्रिगुणातीत एवं स्थितप्रज्ञ हो जाय, अपने कर्तव्योंको निष्कामभावसे दृढ़ता और स्थिरतापूर्वक निभाये, सदा अदीन और स्वतन्त्र रहकर समर्पणकी भावनासे निःसङ्कोच अपने-आपको सर्वहितमें लगा दे और यह कर्तव्यपरायणताकी शक्तिमयी लगन उसके हृदयमें भगवत्सेवाकी कल्याणमयी भावनाके साथ सदा बनी रहे ।

गीतागायक भगवान् श्रीकृष्ण यह चाहते हैं कि मनुष्य अपनी अहंता-ममताका परित्याग कर दे, भगवान्का भरोसा करके सदा निश्चिन्त हो जाय, अपने समस्त कर्मोंको भगवान्के ही अर्पण कर दे और स्थिरभावसे दिनों-दिन उन्नतिके मार्ग-पर अग्रसर होता हुआ परमात्म-तत्त्व परम गतिको प्राप्त कर ले ।

गीता मनुष्यके लिये माताके दूधके समान परमावश्यक और उपादेय अमृत है । गीताकी शिक्षामें स्वस्थता है, प्रगति है, उन्नति है और है अमरत्व । गीता इस पृथ्वीतलपर मनुष्योंके कल्याणार्थ वेदों, उपनिषदों और शास्त्रोंके समुच्चय तथा निचोड़के रूपमें आयी है । मनुष्यका परम हित इसीमें है कि वह परम श्रद्धा और विश्वासके साथ भगवच्चिन्तन करता हुआ भगवान्के ही भरोसे गीताके एक-एक अक्षरका—शब्दका मनन करे । उससे मनुष्यके हृदयमें ज्योति जाग्रत होगी, जीवनमें उत्साह बढ़ेगा, शक्तिका पूर्ण विकास होगा, भगवान्में अटल विश्वास होगा और उसे भगवान्का साक्षात्कार होगा जो मनुष्य-जीवनका चरम लक्ष्य है ।

गीताके द्वारा हृदयमें तथा जगत्में भगवान्का साक्षात्कार करके मनुष्य जिस स्थितिको प्राप्त होता है, वह केवल अनुभवसे ही सम्बन्ध रखती है, वह वाणीका विषय नहीं है ।

गीता असाधारण ग्रन्थ है

मानसिक विकासके निमित्त गीताका अध्ययन कर रुक जाना ठीक नहीं है, अपितु उसके सिद्धान्तों-को कुछ अंशतक कार्यरूपमें परिणत करना आवश्यक है । गीता कोई साधारण संगीत अथवा ग्रन्थ नहीं है । भगवान् श्रीकृष्णने इसका उपदेश उस समय दिया था, जिस समय उनका आत्मा अत्यन्त प्रबुद्ध था ।

—डाक्टर बीसेंट

सम्पादकोंका निवेदन

श्रीभगवान् कब क्या कराना चाहते हैं इस बातको पूर्णरूपसे कोई नहीं जानता । परन्तु यदि यह विश्वास हो जाय कि सब कुछ भागवती शक्तिकी सत्ता और उसीकी प्रेरणासे हो रहा है तो, मनुष्य अपने अज्ञान और अभिमानसे छूटकर पद-पदपर भगवत्कृपाके और भगवान्की आनन्दमयी लीलाके दर्शन कर सहज ही परमानन्दको प्राप्त हो सकता है ।

इस बार 'कल्याण' का 'साधनाङ्क' निकालनेकी बात निश्चित हो गयी थी और उसके लेखोंके लिये विषयसूची भी बना ली गयी थी । परन्तु दो-एक सम्मान्य बन्धुओंकी प्रेरणासे अकस्मात् मत बदल गया और 'गीतातत्त्वाङ्क' निकालनेकी बात निश्चित हो गयी । जिस समय यह निश्चय किया गया, उस समय बहुत थोड़े दिन हाथमें थे, परन्तु ऐसा अनुमान हुआ कि इन थोड़े-से दिनोंमें ही सब कार्य भलीभाँति हो जायँगे । इसी निश्चयके अनुसार सूचना निकाल दी गयी; परन्तु कार्य आरम्भ करनेपर अनुभव हुआ कि समय बहुत ही थोड़ा है और इस बीचमें कार्य सम्पन्न होना कठिन है । कठिनाइयाँ भी कम नहीं आयीं; परन्तु भगवत्कृपा और संत-महात्माओंके आशीर्वादसे किसी तरह काम हो गया । जल्दीके कारण कुछ जानमें और बहुत-सी अनजानमें भूलें भी रह गयीं जो यदि अवसर आया तो किसी दूसरे संस्करणमें सुधारी जा सकती हैं ।

'कल्याण' पर, यह उसका सौभाग्य है कि भारतवर्षके और बाहरके बड़े-बड़े संतों, महात्माओं, विद्वानों और सम्मान्य सत्पुरुषोंकी अहैतुकी कृपा है । अवश्य ही इसमें मूल कारण भगवत्कृपा ही है और जहाँतक 'कल्याण' भगवत्कृपापर किसी अंशमें भरोसा रक्खेगा, वहाँतक यदि किसी अज्ञात अमङ्गलमय कारणसे भगवान्का विधान न बदला, तो उसपर उपर्युक्त सबकी कृपा बढ़ती ही रहेगी । इसी कृपाके कारण 'कल्याण' को बहुत अच्छे-अच्छे लेख प्राप्त होते रहते हैं । इस बार भी लेख बहुत अधिक आये । बड़े सङ्कोचके साथ अपने कृपालु लेखक महोदयोंसे क्षमा माँगनी पड़ती है कि 'गीतातत्त्वाङ्क' का कलेवर बहुत अधिक बढ़ा दिये जानेपर भी सब लेख नहीं दिये जा सके और स्थितिको देखते दूसरे और तीसरे खण्डमें अर्थात् सितम्बर और अक्टूबरके अंकोंमें भी सब नहीं दिये जा सकेंगे । लेखोंमें काट-छाँट और परिवर्तन-परिवर्द्धन भी किया ही गया है । इन सारे अपराधोंके लिये हमारी परिस्थितिको समझकर लेखक महोदय अपने शील और सौजन्यकी ओर देखते हुए हमें क्षमा करें ।

इस अङ्कके सम्पादनमें कुछ त्यागी महात्माओंके अतिरिक्त हमपर सदा कृपा रखनेवाले सम्मान्य विद्वानों और बन्धुओंके द्वारा भी बड़ी सहायता मिली है । सम्पादकीय विभागके तो सभी सज्जनोंने यथासाध्य पूरा सहयोग दिया ही है । इसके लिये हम उन सभीके हृदयसे कृतज्ञ हैं ।

विनीत,

सम्पादक

चित्र-परिचय

भगवती गीता–(ऊपरका टाइटल) पाँच अध्यायोंके पाँच मुख, दस अध्यायोंके दस हाथ, दो अध्यायोंके दो चरण और एक अध्यायका उदर—इस प्रकार अष्टादशाध्यायी—श्रीगीताजीकी मूर्ति है।

जगद्गुरु श्रीकृष्ण—(मुख-पृष्ठ) भगवान् श्रीकृष्ण जगद्गुरुके रूपमें विराजमान हैं।

भक्तवर अर्जुन–(पृष्ठ १) अर्जुन दिव्य रथपर सवार होकर युद्धक्षेत्रकी ओर जा रहे हैं, भक्तवत्सल भगवान् सारथी बनकर लगाम हाथमें लिये घोड़े हाँक रहे हैं। धनुष और नक्षत्रोंके चिह्नोंसे सुशोभित ध्वजा फहरा रही है और महावीर हनुमान्‌जी ध्वजापर विराजमान हैं।

योद्धावेशमें भगवान् श्रीकृष्ण–(पृष्ठ १३७) परिचय प्रत्यक्ष है।

देवताओंद्वारा अर्जुनको अस्त्रदान–(पृष्ठ १४३) लोकपाल और देवता अर्जुनको अस्त्र दे रहे हैं।

गुणातीत जडभरतकी समता–(पृष्ठ ८०५) जडभरत ज्ञानी अवधूत महात्मा थे। राजा रहूगणकी पालकीका एक मजदूर बीमार हो गया। पालकीवालोंने जडभरतको उसकी जगह लगा दिया। वे बिना किसी अपमान-बोधके पालकी उठाकर चलने लगे, परन्तु चलते समय वे राहमें पड़े हुए चींटी आदि जीवोंको बचा-बचाकर चलते थे। इससे पालकी हिलती थी। राजाने उनको डाँटा। इसपर जडभरतने जो कुछ कहा, उसे सुनकर राजा रहूगण चकित हो गये और पालकीसे उतरकर उनके चरणोंमें प्रणाम करते हुए उनसे तत्त्व पूछने लगे। जडभरतकी स्थिति अपमान और सम्मान दोनोंमें एक-सी रही।

इनके अतिरिक्त जितने सुनहरी और बहुरंगे चित्र हैं, उनका संक्षिप्त परिचय गीताकी टीकामें चित्रोंपर छपे हुए विवरणमें या श्लोकोंमें आ गया है।

श्रीकृष्ण-लीलाके और अर्जुनके जीवनके सब चित्रोंका वर्णन पृष्ठ १३७ में 'भगवान् श्रीकृष्ण और भक्त अर्जुन' शीर्षक लेखमें संक्षेपसे दिया गया है और पितामह भीष्म-सम्बन्धी चित्रोंका वर्णन गीताकी टीका पृष्ठ-संख्या १८२ और ९२१ से ९२५ तक देखना चाहिये।

आरती

जय भगवद्गीते, जय भगवद्गीते।

हरि-हिय-कमल-विहारिणि सुन्दर सुपुनीते॥

कर्म-सुमर्म-प्रकाशिनि कामासक्तिहरा।
तत्त्वज्ञान-विकाशिनि विद्या ब्रह्म परा॥ जय०

निश्चल-भक्ति-विधायिनि निर्मल मलहारी।
शरण-रहस्य-प्रदायिनि सब बिधि सुखकारी॥ जय०

राग-द्वेष-विदारिणि कारिणि मोद सदा।
भव-भय-हारिणि तारिणि परमानन्दप्रदा॥ जय०

आसुरभाव-विनाशिनि नाशिनि तम-रजनी।
दैवी सद्गुण दायिनि हरि-रसिका सजनी॥ जय०

समता, त्याग सिखावनि, हरि-मुखकी बानी।
सकल शास्त्रकी स्वामिनि, श्रुतियोंकी रानी॥ जय०

दया-सुधा बरसावनि मातु! कृपा कीजै।
हरि-पद-प्रेम दान कर अपनो कर लीजै॥ जय०

श्रीगीता-परीक्षा

हमारे देशमें इन दिनों हलके साहित्यका प्रचार बड़े जोरोंसे हो रहा है और उससे जो बुरा फल मिल रहा है, वह किसीसे छिपा नहीं है। इस दुरवस्थाका कारण यही है कि हम जन-समाजमें सुविचारणीय एवं सुसंस्कृत ग्रन्थोंका प्रचार करनेकी ओरसे उदासीन हैं। फलतः जन-समाजमें जैसा साहित्य प्रचलित हो रहा है, वैसी ही उसकी मनोवृत्ति हो रही है। आजकलके अधिकांश लोगोंमें विद्यमान निराशाभाव, अधैर्य, अनुत्साह, आलस्य तथा मानवीय उन्नतिकी जड़ सात्त्विकताको छिन्न-भिन्न करनेवाले अन्यान्य अवगुणोंका प्राधान्य जन-समाजकी वर्तमान अधोगतिका प्रमाण है। इसी परिस्थितिको सुधारनेके उद्देश्यसे कई वर्षों पूर्व श्रीगीता-परीक्षा-समितिकी स्थापना की गयी थी। हमने सोचा था कि श्रीगीता-परीक्षाके द्वारा श्रीगीता-जैसा अलौकिक ग्रन्थ विशेषकर नवयुवकोंके हाथोंमें पहुँच सकेगा और वे उससे शिक्षा प्राप्त करके अपना तथा समाजका कल्याण करेंगे। परन्तु खेद है कि अपने इस प्रयत्नमें हमें जैसी सफलता मिलनी चाहिये, वैसी अभी नहीं मिली है। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि हमें इस कार्यमें देशके सभी बड़े-बड़े विद्वान् एवं धार्मिक पुरुषोंका आशीर्वाद और सहयोग उचितमात्रामें प्राप्त नहीं है। अवश्य ही इसमें हमारी त्रुटियाँ भी कारण होंगी। अतएव हम अपनी त्रुटियोंके लिये सबसे क्षमा माँगते हैं और यह प्रार्थना करते हैं कि हमारी त्रुटियोंकी ओर ध्यान न दिया जाय। श्रीगीताके प्रचारका कार्य ऐसा है, जिनमें सभी विद्वान् महानुभावोंकी कृपापूर्ण सहायताकी बड़ी आवश्यकता है। यदि सभी धर्मप्रेमी विद्वान् महानुभाव अपने-अपने यहाँकी सभा-संस्थाओंमें श्रीगीता-जैसे उपयोगी ग्रन्थ-रत्नको प्रचलित करके इसे छात्रों और अन्य पुरुषोंके हाथोंतक पहुँचानेके कार्यमें हमारी सहायता करेंगे तो सचमुच देशका बड़ा उपकार होगा। गीताका अध्ययन और तदनुसार आचरण तो महान् लाभकारक है ही, उसका कण्ठाग्र करना भी बहुत उपकारी है।

आजसे कुछ समय पहले श्रीगीता-परीक्षाके सम्बन्धमें श्रीगीताके प्रख्यात प्रेमी महात्मा गांधीजीसे सम्मति ली गयी थी। उस समय जिन सज्जनने महात्माजीसे पूछा था उन्होंने हमें इस प्रकार लिखा था--

'बापूजीका (महात्माजीका) दृढ़ मत है कि पाठ्यक्रममें गीताके कुछ अध्यायों या अधिकांश अध्यायोंको कण्ठाग्र करने-करानेपर जोर देना, उसे अनिवार्य बनाना अत्यन्त आवश्यक है। विकल्प रखनेकी कल्पना तो उन्हें जरा भी पसंद नहीं। विकल्प बनाना गीताको ही विकल्प बनाने-जैसा है।.......हरेक धर्म और सम्प्रदायमें उस-उस धर्मके धर्म-ग्रन्थोंके कुछ या अधिक भागको कण्ठाग्र करनेकी परम्परा चली आयी है और मूलतः यह परम्परा बड़ी उपयोगी तथा संस्कारदायिनी है, अतः गीता-परीक्षा-समितिके लिये यह आवश्यक है कि वह संशोधित नियमावलीमें गीताको कण्ठस्थ करना अनिवार्य ही रक्खे।'

श्रीगीताको अनिवार्यरूपसे कण्ठाग्र करानेके सम्बन्धमें भी पूज्य महात्माजीका यह मत है। तब उसकी शिक्षाके प्रचारके लिये तो कहना ही क्या है? क्या ही अच्छा हो कि भारतका उपकार चाहनेवाले सभी प्रभावशाली एवं विद्वान् पुरुषोंकी ओरसे हमें ऐसा ही क्रियात्मक प्रोत्साहन मिले। श्रीगीताकी शिक्षाओंद्वारा ही जन-समाजके वर्तमान निराशापूर्ण एवं निष्क्रिय जीवनको सहारा मिल सकता है। गीता और रामायण-परीक्षाओंकी नियमावली पत्र लिखकर मँगवानेकी कृपा करें।

राघवदास

संयोजक, श्रीगीता-परीक्षा-समिति,

बरहज, (गोरखपुर)

पुस्तकें मँगानेवालोंके लिये कुछ ध्यान देने योग्य बातें—

(१) हर एक पत्रमें नाम, पता, डाकघर, जिला बहुत साफ देवनागरी अक्षरोंमें लिखें। नहीं तो जवाब देने या माल भेजनेमें बहुत दिक्कत होगी। साथ ही उत्तरके लिये जवाबी कार्ड या टिकट आना चाहिये।

(२) अगर ज्यादा किताबें मालगाड़ी या पार्सलसे मँगानी हों तो रेलवे स्टेशनका नाम जरूर लिखना चाहिये। आर्डरके साथ कुछ दाम पेशगी भेजने चाहिये।

(३) थोड़ी पुस्तकोंपर डाकखर्च अधिक पड़ जानेके कारण एक रुपयेसे कमकी वी० पी० प्रायः नहीं भेजी जाती, इससे कमकी किताबोंकी कीमत, डाकमहसूल और रजिस्ट्रीखर्च जोड़कर टिकट भेजें।

(४) एक रुपयेसे कमकी पुस्तकें बुकपोस्टसे मँगवानेवाले सज्जन ।) तथा रजिस्ट्रीसे मँगवानेवाले ।≈) (पुस्तकोंके मूल्यसे) अधिक भेजें। बुकपोस्टका पैकेट प्रायः गुम हो जाया करता है; अतः इस प्रकार खोयी हुई पुस्तकोंके लिये हम जिम्मेवार नहीं हैं।

(५) 'कल्याण' रजिस्टर्ड होनेसे उसका महसूल कम लगता है और वह कल्याणके ग्राहकोंको नहीं देना पड़ता, कल्याण-कार्यालय स्वयं बरदास्त करता है। पर प्रेसकी पुस्तकों और चित्रोंपर ।।) सेर डाकमहसूल और ≈) फी पार्सल रजिस्ट्रीखर्च लगता है, जो कि ग्राहकोंके जिम्मे होता है। इसलिये 'कल्याण' के साथ किताबें और चित्र नहीं भेजे जा सकते, अतः गीताप्रेसकी पुस्तक आदिके लिये अलग आर्डर देना चाहिये।

कमीशन-नियम

ग्राहकोंको कमीशन १२।।) सैकड़ा दिया जायगा। ३०) की पुस्तकें या ३०) के चित्र लेनेसे ग्राहकोंके रेलवे स्टेशनपर मालगाड़ीसे फ्री डिलीवरी दी जायगी। ३०) की पुस्तकें लेनेवाले सज्जनोंमेंसे यदि कोई जल्दीके कारण रेलपार्सलसे पुस्तकें मँगवावेंगे तो उनको केवल आधा महसूल बाद दिया जायगा। फ्री डिलीवरीमें बिल्टीपर लगनेवाला डाकखर्च, रजिस्ट्रीखर्च, मनीआर्डरकी फीस या बैंकचार्ज शामिल नहीं होंगे, ग्राहकोंको अलग देने होंगे। फ्री डिलीवरीके योग्य पुस्तकोंके साथ भी ३०) से कमके चित्रोंकी फ्री डिलीवरी नहीं दी जा सकेगी। पुस्तकोंके साथ चित्र मँगानेवालोंको चित्रोंका और चित्रोंके ही कारण पुस्तकोंपर जो विशेष भाड़ा लगेगा वह देना होगा। पुस्तक-विक्रेताओंको विशेष कमीशनके लिये पत्र देकर पूछना चाहिये।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, गोरखपुर**

नोट—जहाँ हमारी पुस्तकें बुकसेलरोंके पास मिलती हों वहाँ उन्हींसे खरीदनेमें थोड़ी पुस्तकें यहाँसे मँगवानेपर जो खर्च पड़ता है उससे कममें या उतनेमें ही मिल जाती हैं। अतः थोड़ी पुस्तकें बुकसेलरोंसे ही लेनेमें सुविधा होनेकी सम्भावना है।

श्रीहरिः

चित्र-सूची

गीताप्रेस, गोरखपुरके सुन्दर, सस्ते, धार्मिक दर्शनीय चित्र

सभी चित्र बढ़िया आर्ट पेपरपर सुन्दर छपे हुए हैं।

कागज-साइज १५×२० इञ्चके बड़े चित्र

सुनहरी-नेट दाम प्रत्येकका -)।।।

१ युगलछवि
२ राम-सभा
३ अवधकी गलियोंमें आनन्दकंद
४ आनन्दकंदका आँगनमें खेल
५ आनन्दकंद पालनेमें
६ कौसल्याका आनन्द
७ सखियोंमें श्याम
८ दशरथके भाग्य
९ भगवान् श्रीराम
१० रामदरबारकी झाँकी

रंगीन-नेट दाम प्रत्येकका -)।

११ श्रीराधेश्याम
१२ श्रीनन्दनन्दन
१३ गोपियोंकी योगधारणा
१४ श्याममयी संसार
१५ वृन्दावनविहारी श्रीकृष्ण
१६ विश्वविमोहन श्रीकृष्ण
१७ श्रीमदनमोहन
१८ भगवान् श्रीकृष्णरूपमें
१९ श्रीव्रजराज
२० श्रीकृष्णार्जुन
२१ चारों भैया
२२ भुवनमोहन राम
२४ रामदरबार
२५ श्रीरामचतुष्टय
२६ श्रीलक्ष्मीनारायण
२७ भगवान् विष्णु
२८ श्रीश्रीमहालक्ष्मीजी
२९ कमला
३० सावित्री ब्रह्मा
३१ भगवान् विश्वनाथ
३२ श्रीशिवपरिवार
३३ शिवजीकी विचित्र बरात
३४ शिव-परिछन
३५ शिव-विवाह
३६ प्रदोषनृत्य
३७ श्रीजगज्जननी उमा
३८ श्रीध्रुव-नारायण
३९ श्रीमहावीरजी
४० श्रीचैतन्यका हरिनामसंकीर्तन
४१ महासंकीर्तन
४२ नवधा भक्ति
४३ जडयोग
४४ भगवान् शक्तिरूपमें
४५ कौसल्याकी गोदमें ब्रह्म
४६ सच्चिदानन्दके ज्योतिषी
४७ भगवान् नारायण
४८ ब्रह्माकृत भगवत्स्तुति
४९ मुरलीका असर
५० लक्ष्मी माता
५१ श्रीकृष्ण-यशोदा
५२ भगवान् शंकर
५३ बालरूप श्रीरामजी
५४ दूल्हा राम
५५ कालिय-उद्धार
५६ जटायुकी स्तुति
५७ पुष्पकविमानपर
५८ मुरलीमनोहर

कागज-साइज ७।।×१० इञ्च

सुनहरी चित्र, नेट दाम)॥ प्रतिचित्र

२०१ श्रीरामपञ्चायतन
२०२ क्रीडाविपिनमें श्रीरामसीता
२०३ युगलछबि
२०४ कंसका कोप
२०५ बँधे नटवर
२०६ वेणुधर
२०८ मातङ्गी
२०९ दुर्गा
२१० आनन्दकंदका आँगनमें खेल
२११ भगवान् श्रीराम
२१२ जुगल सरकार
२१३ दशरथके भाग्य
२१४ शिशु-लीला-१
२१५ श्रीरामकी झाँकी
२१६ श्रीभरतजी
२१७ श्रीभगवान्

बहुरंगे चित्र, नेट दाम)।¼ प्रतिचित्र

२५२ कमललोचन राम
२५३ त्रिभुवनमोहन राम
२५४ भगवान् श्रीरामचन्द्र
२५५ श्रीरामावतार
२५६ कौसल्याकी गोदमें ब्रह्म
२५७ भगवान् श्रीरामकी बाललीला
२५८ भगवान् श्रीराम और काकभुशुण्डि
२५९ अहल्योद्धार
२६० गुरुसेवा
२६२ स्वयंवरमें लक्ष्मणका कोप

१०३२ शिवपरिवार
१०३३ चन्द्रशेखर
१०३४ कमला
१०३५ भुवनेश्वरी
१०३६ श्रीजगन्नाथजी
१०३७ यम-नचिकेता
१०३८ ध्यानयोगी ध्रुव
१०३९ ध्रुव-नारायण
१०४० पाठशालामें प्रह्लादका बालकोंको राम-राम जपनेका उपदेश
१०४१ समुद्रमें पत्थरोंसे दबे प्रह्लादका उद्धार
१०४२ भगवान् नृसिंहदेवकी गोदमें भक्त प्रह्लाद
१०४३ पवन-कुमार
१०४४ भगवान्‌की गोदमें भक्त चक्कि भील
१०४५ शंकरके ध्येय बालकृष्ण
१०४६ भगवान् श्रीशंकराचार्य
१०४७ श्रीश्रीचैतन्य
१०४८ चैतन्यका अपूर्व त्याग
१०४९ भक्त धन्ना जाटकी रोटियाँ भगवान् ले रहे हैं
१०५० गोविन्दके साथ गोविन्दका खेल
१०५१ भक्त गोपाल चरवाहा
१०५२ मीराबाई (कीर्तन)
१०५३ भक्त जनाबाई और भगवान्
१०५४ भक्त जगन्नाथदास भागवतकार
१०५५ श्रीहरिभक्त हिम्मतदासजी
१०५६ भक्त बालीग्रामदास
१०५७ भक्त दक्षिणी तुलसीदासजी
१०५८ भक्त गोविन्ददास
१०५९ भक्त मोहन और गोपाल भाई
१०६० परमेष्ठी दर्जी
१०६१ भक्त जयदेवका गीत-गोविन्द-गान
१०६२ ऋषि-आश्रम
१०६३ श्रीविष्णु भगवान्
१०६४ कमलापतिस्वागत
१०६५ सूरका समर्पण
१०६६ माँका प्यार
१०६७ प्यारका बन्दी
१०६८ बाललीला
१०६९ नवधा भक्ति
१०७० ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म
१०७१ श्रीमनु-शतरूपा
१०७२ देवता, असुर और मनुष्योंको ब्रह्माजीका उपदेश

चित्रोंके साइज, रंग और दाम

१५×२०, सुनहरी	-)॥।	७॥×१०, सुनहरी	)॥	५×७॥, रंगीन	१।) सै०	×	×
१५×२०, रंगीन	-)।	७॥×१०, रंगीन	)।¼				

१५×२० साइजके सुनहरे १०, रंगीन ४७ चित्रोंके सेटकी नेट कीमत ४॥।)। पैकिङ्ग)॥। डाकखर्च १≡) कुल लागत ६) लिये जायँगे ।

७॥×१० साइजके सुनहरे १६, रंगीन २१८, कुल २३४ चित्रोंके सेटकी नेट कीमत ४॥)½ पैकिङ्ग -)॥½ डाकखर्च १)। कुल ५॥=) लिये जायँगे ।

५×७॥ साइजके रंगीन ७० चित्रोंका नेट दाम ॥।=) पैकिङ्ग)॥। डाकखर्च ।=)। कुल १।-) लिये जायँगे ।

१५×२०, ७॥×१०, ५×७॥ के तीनों सेटकी नेट कीमत १०।=)।½ पैकिङ्ग -)॥½ डाकखर्च १॥।≡) कुल १२।≡) लिये जायँगे ।

रेलपार्सलसे मँगानेवाले सज्जनोंको १०।=)।½ चित्रका मूल्य, पैकिङ्ग ≡)½ रजिस्ट्री ।)॥ कुल १०॥।=) भेजना चाहिये । साथमें पासके रेलवे स्टेशनका नाम लिखना जरूरी है ।

नियम—(१) चित्रका नम्बर, नाम जिस साइजमें दिया हुआ है वह उसी साइजमें मिलेगा, आर्डर देते समय नम्बर भी देख लें । समझकर आर्डरमें नम्बर, नाम अवश्य लिख दें । (२) पुस्तकोंके साथ मालगाड़ीसे चित्र मँगानेपर कुल मालका चित्रोंकी क्लासका किराया देना पड़ता है, इसलिये जितना किराया अधिक लगेगा वह ग्राहकोंके जिम्मे होगा, आर्डर देते समय इस नियमको समझ लें । (३) ३०) के चित्र लेनेसे ग्राहकके रेलवेस्टेशनपर मालगाड़ीसे फ्री डिलीवरी दी जायगी । रजिस्ट्री वी० पी० खर्चा ग्राहकोंको देना होगा । (४) केवल २ या ४ चित्र पुस्तकोंके साथ या अकेले नहीं भेजे जाते, क्योंकि रास्तेमें टूट जाते हैं । (५) 'कल्याण' के साथ भी चित्र नहीं भेजे जाते ।

नोट—सेट सजिल्द भी मिला करती है । जिल्दका दाम १५×२० का ।॥), ७॥×१० का ॥), ५×७॥ का ≡) अधिक लिया जाता है । सजिल्द सेटका डाकखर्च ज्यादा लगता है ।

स्टाकमें चित्र समय-समयपर कम-अधिक होते रहते हैं, इसलिये सेटका आर्डर आनेपर जितने चित्र स्टाकमें उस समय तैयार रहेंगे उतने ही चित्र भेज दिये जायँगे ।

जिन चित्रोंके नम्बर और नाम उठा दिये गये हैं, वे चित्र अब स्टाकमें समाप्त हो गये हैं । उनके छपनेकी आशा अब कम है ।

* कल्याणके नियम *

उद्देश्य—भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचार-समन्वित लेखोंद्वारा जनताको कल्याणके पथपर पहुँचानेका प्रयत्न करना इसका उद्देश्य है।

नियम

(१) भगवद्भक्ति, भक्तचरित, ज्ञान, वैराग्यादि ईश्वर-परक, कल्याणमार्गमें सहायक, अध्यात्मविषयक, व्यक्तिगत आक्षेपरहित लेखोंके अतिरिक्त अन्य विषयोंके लेख भेजनेका कोई सज्जन कष्ट न करें। लेखोंको घटाने-बढ़ाने और छापने अथवा न छापनेका अधिकार सम्पादकको है। अमुद्रित लेख बिना माँगे लौटाये नहीं जाते। **लेखोंमें प्रकाशित मतके लिये सम्पादक उत्तरदाता नहीं हैं।**

(२) इसका डाकव्यय और विशेषांकसहित अग्रिम वार्षिक मूल्य भारतवर्षमें ४≋) और भारतवर्षसे बाहरके लिये ६॥=) नियत है। बिना अग्रिम मूल्य प्राप्त हुए, पत्र प्रायः नहीं भेजा जाता।

(३) 'कल्याण' का वर्ष अंगरेजी **अगस्त** माससे आरम्भ होकर जुलाईमें समाप्त होता है, अतः ग्राहक अगस्तसे ही बनाये जाते हैं। वर्षके किसी भी महीनेमें ग्राहक बनाये जा सकते हैं, किन्तु अगस्तके अङ्कसे। कल्याणके बीचके किसी अङ्कसे ग्राहक नहीं बनाये जाते; छः या तीन महीनेके लिये भी ग्राहक नहीं बनाये जाते। 'कल्याण' **प्रतिमास अंगरेजी महीनेकी पहली तारीखको निकलता है।**

(४) इसमें व्यवसायियोंके विज्ञापन किसी भी दरमें स्वीकारकर प्रकाशित नहीं किये जाते।

(५) कार्यालयसे 'कल्याण' दो-तीन बार जाँच करके प्रत्येक ग्राहकके नामसे भेजा जाता है। यदि किसी मासका 'कल्याण' न पहुँचे तो अपने डाकघरसे लिखा-पढ़ी करनी चाहिये। वहाँसे जो उत्तर मिले, वह हमें भेज देना चाहिये। डाकघरका जवाब शिकायती पत्रके साथ न आनेसे दूसरी प्रति बिना मूल्य मिलनेमें बड़ी अड़चन होगी।

(६) पता बदलनेकी सूचना कम-से-कम १५ दिन पहले कार्यालयमें पहुँच जानी चाहिये। **लिखते समय ग्राहक-संख्या, पुराना और नया नाम-पता साफ-साफ लिखना चाहिये।** महीने-दो-महीनोंके लिये बदलवाना हो तो अपने पोस्टमास्टरको ही लिखकर प्रबन्ध कर लेना चाहिये।

(७) अगस्तसे बननेवाले ग्राहकोंको रंग-बिरंगे चित्रों-वाला अगस्तका अङ्क (चालू वर्षका विशेषांक) दिया जाता है। विशेषांक ही **अगस्त तथा वर्षका पहला अङ्क** होता है। फिर जुलाईतक महीने-महीने नये अङ्क मिला करते हैं। 'कल्याण' के सातवें वर्षसे ग्यारहवें वर्षतक भाद्रपद-अङ्क परिशिष्टांकरूपमें विशेषाङ्कके अन्तमें प्रतिवर्ष दिया गया है।

(८) चार आना (एक संख्याका मूल्य) मिलनेपर नमूना भेजा जाता है। ग्राहक बननेपर वह अङ्क न लेवें तो ।) बाद दिया जा सकता है।

आवश्यक सूचनाएँ

(९) 'कल्याण' में किसी प्रकारका कमीशन या कल्याणकी किसीको एजन्सी देनेका नियम नहीं है।

(१०) पुराने अङ्क, फाइलें तथा विशेषाङ्क कम या रियायती मूल्यमें प्रायः नहीं दिये जाते।

(११) ग्राहकोंको अपना नाम-पता स्पष्ट लिखनेके साथ-साथ **ग्राहक-संख्या** अवश्य लिखनी चाहिये।

(१२) पत्रके उत्तरके लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजना आवश्यक है।

(१३) **ग्राहकोंको चन्दा मनीआर्डरद्वारा भेजना चाहिये,** क्योंकि वी०पी० के रुपये प्रायः देरीसे पहुँचते हैं।

(१४) ग्राहकोंको **वी० पी० मिले, उसके पहले** ही यदि **वे हमें रुपये भेज चुके** हों तो तुरंत हमें एक कार्ड देना चाहिये और हमारा (फ्री डिलेवरीका) उत्तर पहुँचने-तक वी० पी० रोक रखनी चाहिये, नहीं तो हमें व्यर्थ ही नुकसान सहना होगा।

(१५) प्रेस-विभाग और कल्याण-विभाग अलग-अलग समझकर अलग-अलग पत्र-व्यवहार करना और रुपया आदि भेजना चाहिये।

(१६) सादी चिट्ठीमें टिकट कभी नहीं भेजना चाहिये।

(१७) मनीआर्डरके कूपनपर रुपयोंकी तादाद, रुपये भेजनेका मतलब, ग्राहक-नम्बर, पूरा पता आदि सब बातें साफ-साफ लिखनी चाहिये।

(१८) प्रबन्धसम्बन्धी पत्र, ग्राहक होनेकी सूचना, मनीआर्डर आदि **'व्यवस्थापक "कल्याण" गोरखपुर'** के नामसे और सम्पादकसे सम्बन्ध रखनेवाले पत्रादि **'सम्पादक "कल्याण" गोरखपुर'** के नामसे भेजने चाहिये।

(१९) स्वयं आकर ले जाने या एक साथ एकसे अधिक अङ्क रजिस्ट्रीसे मँगानेवालोंसे कुछ कम नहीं लिया जाता।

(२०) 'कल्याण' गवर्नमेण्टद्वारा यू० पी०, आसाम, बिहार, उड़ीसा, बम्बई प्रेसीडेन्सी और सी० पी० आदि प्रान्तीय शिक्षा-विभागके लिये स्वीकृत है। उक्त प्रान्तोंकी संस्थाओंके सञ्चालकगण (तथा स्कूलोंके हेडमास्टर) संस्थाके फण्डसे 'कल्याण' मँगा सकते हैं।

Regd. No. A. 175.

श्रीहरिः

गीताका सन्देश

प्रत्येक विचारशील व्यक्तिके जीवनमें ऐसे अवसर आते हैं जिनमें प्रकृतिके विधान और भगवान्‌के विधानमें कहीं कोई मेल नहीं दीखता; और इससे भी आगे चलकर, मनुष्यके बनाये हुए नियम जिन्हें बलात् हमपर लाद दिया जाता है उनसे और प्रकृतिके नियमोंमें घोर वैषम्यका मुकाबला होता है । ऐसे ही अवसरोंपर हमें अपनी दयनीय दशाका दुःखद बोध होता है और हम ऐसा समझने लगते हैं कि कर्म करनेकी स्वतन्त्रता देकर भगवान्‌ने हमें दुःखोंसे जकड़ दिया है । इस समस्याको लेकर हमारा चित्त इतना उद्विग्न हो उठता है कि हम चाहने लगते हैं कि अच्छा होता हमें कर्म करनेकी यह स्वतन्त्रता न मिली होती । प्रकृतिसे प्राप्त कर्म और विचारकी स्वतन्त्रतामें आनन्द माननेकी अपेक्षा हम यह जाननेके लिये अधिक लालायित हैं कि हमारा निश्चित कर्तव्य क्या है, हमें करना क्या है । कभी-कभी तो संवेदनप्रधान व्यक्ति जीवन और इस जगत्‌की अत्यन्त स्पष्ट विरोध और अनिश्चिततासे इतने घबड़ा जाते हैं कि वे आत्महत्याका आश्रय लेकर इससे अपना पिण्ड छुड़ा लेते हैं । दूसरे कुछ ऐसे हैं जो अन्धकारमें टटोलते फिरते हैं और मारे-मारे फिरते हैं । कुछ ऐसे हैं जो अपने प्रेमी मित्रों तथा बुद्धिमान् नेताओंसे राय-सलाह लेते हैं और अपनी इच्छा तथा विचारकी स्वतन्त्रताको उनके हाथ सौंपकर निश्चिन्त-से हो जाते हैं, क्योंकि उनका यह विश्वास है कि इन मित्रों तथा नेताओंकी छायामें वे सर्वथा सुरक्षित रहेंगे । कुछ थोड़े ही ऐसे हैं जो इन प्रश्नोंका उत्तर अपनी आत्मासे अथवा अपने भीतर छिपे हुए भगवान् श्रीवासुदेवसे पूछते हैं ।

श्रीमद्भगवद्गीता—भगवान्‌के कण्ठसे निकली हुई यह गीति इस सनातन प्रश्नका मानवमात्रके लिये एक सनातन, सर्वकालीन उत्तर प्रस्तुत करती है । यही कारण है कि संसारके कोने-कोनेमें और सब प्रकारके लोगोंमें, चाहे वे किसी जातिके हों, किसी भी वर्णके हों, किसी मत-पन्थ-सम्प्रदायके हों, गीताकी ख्याति तथा सर्वमान्यता अक्षुण्ण बनी हुई है । गीता इस बातका बड़े ही सुन्दर ढंगसे निर्देश करती है और सच पूछिये तो गीताका मुख्य मार्मिक तत्त्व यही है भी कि संसारमें बाह्यतः चाहे जितना भी विरोध, विषमता, असम्बद्धता दीख पड़ती हो परन्तु इन सारी विषमतामें एक अखण्ड 'एकता', एक नित्य 'पूर्णता' है, कर्तव्य और भावमें जो विरोध दीखता है वह बस दीखनेभरको ही है, मूलतः दोनों एक ही हैं । गीता इसी महान् तत्त्वका बड़े ही सुन्दर और प्रभावशाली ढंगसे प्रतिपादन करती है ।

—लाला लाजपतराय